दृष्टि
और
दिशा :
साहित्यिक निबन्ध

लेखक :

डा० चन्द्र भान रावत

एम. ए., पी-एच. डी.

रीडर–हिन्दी-विभाग

श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरूपति (आ. प्र.)

मीतल प्रकाशन मन्दिर, मथुरा

समर्पण

पूज्य पिताजी ['भैयाजी']

पं० बाँकेलाल नम्बरदार

को सादर समर्पित

जिनको शायद मैं कभी कुछ न दे सका !

—चन्द्रभान

...दो-शब्द

'दृष्टि और दिशा' में ४२ निबन्ध हैं—कुछ में दृष्टि है, शेष में दिशा संकेत !

इस शताब्दी ने हमें सोचने-समझने की व्यापक दृष्टि और वैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है। न जाने कितने अनुशासनों ने दृष्टि को नियंत्रित और प्रभावित किया है। दृष्टि कभी 'आधुनिक' होती है, कभी 'नई'।

नई दृष्टि 'नवलेखन' या साहित्यिक सृजन की प्रक्रिया में प्रखर रूप में प्रकट होती है। 'नई' दृष्टि में परम्परा का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। परम्परा को नकार कर ही यह दृष्टि दिशा ग्रहण करती है। 'नया' परम्परा से कट कर ही स्वतंत्र अस्तित्व और दर्शन ग्रहण कर पाता है। अन्यथा, परम्परा का कुहासा नई दृष्टि को धूमिल कर देता है। नव-चिंतन, नव-लेखन चाहे, परम्परा को नकारता हो, पुराने से उसका संघर्ष नहीं। पुराने सूत्रों पर नव-सृजन भी होता देखा जाता है और नये प्रयोगों में भी पुराने उपकरण विविध प्रभावों से संयुक्त हो जाते हैं।

आधुनिक' दृष्टि की प्रतिक्रिया इससे भिन्न होती है। यह दृष्टि परम्परा को नकारती नहीं है। कालगत सातत्य और परम्परागत नैरन्तर्य इस दृष्टि को स्वीकृत हैं। इस दृष्टि से पुनर्लेखन, पुनराख्यान, पुनर्मूल्यांकन जैसी बौद्धिक विधाएँ जन्म लेती हैं। ये विधाएँ परम्परा से चिपके रहने की विश्वासपरक एवं भावात्मक कड़ियों को समाप्त कर देती हैं। उससे बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। पुनर्लेखन आंशिक रूप से नवीन परिवेश को लेकर, नवीन आदर्शों के आरोपण के द्वारा सृजन में संलग्न होता है। पुनराख्यान पुराने सिद्धान्तों की आधुनिक प्रश्नों के बीच व्याख्या है, कि क्षयशील उपयोगिता नवीन सम्भावनाओं से मुक्त हो सके। पुनर्मूल्यांकन मान-दण्ड के आधुनिकीकरण से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार परम्परा की विवेक-विशिष्ट स्वीकृति, 'आधुनिक' दृष्टि की मूल विशेषता है। 'नई' दृष्टि जहाँ परम्परा से संघर्ष करती है, वहाँ 'आधुनिक' को भी वह परम्परा की स्वीकृति का ही एक प्रवंचनापूर्ण प्रकारान्तर मानती है। पर 'आधुनिक' दृष्टि की व्यापकता बाधित नहीं हो पाती। उसकी वैज्ञानिक विधि, सृजन और समीक्षा के अनेक पूर्वाग्रह जन्य विकारों का परिमार्जन करती है और नये और पुराने को न्याय्य स्थिति प्रदान करती है।

यों, प्रस्तुत निबन्धों में 'आधुनिक' दृष्टि ही प्रमुख है। फिर भी नयी दृष्टि कहीं-न-कहीं घुस ही बैठी है। उसका जो दुर्द्धर्ष और नग्न रूप सृजन की प्रक्रिया में प्रकट होता है, वह विचार प्रधान निबन्धों में नहीं। 'नये' की सारग्राही व्याख्या भी कहीं-कहीं मिल जायेगी।

अनुपाततः इन निबन्धों में चिन्तन की अपेक्षा अध्ययन ही अधिक है। फलतः ये कुछ लम्बे भी हो गए हैं और प्रमाण-टिप्पणियाँ भी आ गई हैं। पर, अध्ययन भी आधुनिक दृष्टि से ही हुआ है। टिप्पणियों का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन नहीं है, आगे के अध्ययन के लिए प्रेरणा और दिशा-संकेत देना मात्र है।

किसके लिए ? यह प्रश्न व्यापक है। सभी सम्भावित पाठकों का कथन सम्भव नहीं। इनको स्वांतःसुखाय कहना, पुराना, रहस्यवादी उत्तर बन जायेगा। यदि कहूँ कि इनको विद्वान् पढ़ेंगे, तो शायद अहंमन्यता होगी। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रबुद्ध अध्ययन के क्षणों की अनिवार्यता लेखन भी है। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि साहित्य का उच्चस्तरीय विद्यार्थी वर्ग भी दृष्टि से ओझल नहीं है। वह एक ऐसा ग्राहक-वर्ग है, जो विकासशील है : नवीन सामग्री, नवीन दृष्टि, नवीन दिशा चाहिए, उसे। चेष्टा की गई है कि इन निबन्धों में उसे यह सब मिले। नवीन शोधों के निष्कर्षों से भी उसे परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। शैली तो प्रसन्न और स्पष्ट है ही, विचारतन्तुओं को सघन बनाया गया है।

शैली को जानबूझ कर न सरल ही बनाया गया है और न जटिल ही। विषय-सापेक्ष स्वाभाविकता ही इसमें मिलेगी। विश्लेषण और व्याख्या को उचित सीमाओं में समग्र बनाने की चेष्टा की गई है।

बस, यही दृष्टि है और यही दिशा !

दीपावली
२०२३ वि०

-चन्द्रभान रावत

विषय–सूची

साहित्य : सिद्धान्त-समालोचना

हिन्दी साहित्य : अतीत एवं विकास

हिन्दी साहित्य की विधाएँ

(शैली एवं वाद)

कवि-निकष

(विशिष्ट अध्ययन)

हिन्दी : भाषा एवं लिपि

१

काव्य-पुरुष : काव्याङ्ग रूपक

१. भारतीय चिन्तन-पद्धति में रूपक का महत्त्व
२. विभिन्न काव्यरूपक : ऋग्वेद–वृषभ, जयदेव–लता, अभिनवगुप्त पादाचार्य–प्रासाद, दण्डी–सागर आदि
३. राजशेखर का काव्यपुरुष रूपक
४. राजशेखर की प्रेरणा : ऋग्वेद, पाणिनि, भरत मुनि, वायु पुराण, महापुराण, काव्य मीमांसा, प्रसन्न राघव, अभिनवभारती, तंत्रवार्तिक आदि
५. काव्य-पुरुष—स्वरूप-विस्तार
६. छन्दोमयी वाणी की उत्पत्ति–विभिन्न आख्यान
७. कवि शब्द की व्याप्ति
८. काव्य-पुरुष का परिभ्रमण, साहित्य की उत्पत्ति, गुण-दोष, प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति का चित्रण

भारतीय चिन्तन-धारा की एक विशिष्ट शैली है : रूपक-पद्धति । एक ओर यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में परम पुरुष और उसकी शक्तियों को रूपक-शैली में व्यक्त किया जाता रहा है तो दूसरी ओर काव्य के विविध अङ्गों उपाङ्गों का वर्णन भी विविध रूपकों के माध्यम से होता रहा है । फलतः काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के निमित्त अनेक रूपकों की सृष्टि हुई है । ऋग्वेद ने वृषभ के रूपक से, गीतगोविन्दकार जयदेव ने 'लता' के रूपक से, अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'प्रासाद' और काव्यादर्श प्रतिष्ठापक दंडी तथा गद्यस्वरूप संस्थापक 'बाणभट्ट' ने सागर के रूपक से काव्य एवं 'आख्यायिका' का विश्लेषण किया । कश्मीर के प्रसिद्ध मनीषी कवि राजशेखर ने काव्य को 'पुरुष' के रूप में चित्रित कर इस परम्परा को चरमोत्कर्ष प्रदान किया । जयदेव ने कविता का लता के रूप में जो वर्णन किया है[1] उसका विश्लेषण इस प्रकार है—

शरीर	—	लता	—	कविता
उत्पत्ति स्थान	—	भूमि	—	मानस
कारण	—	बीज	—	सरस्वती-पादपद्म-पराग-कणिका
कार्य	—	किसलय	—	सूक्त (काव्य)
कर्ता	—	मेघ	—	कवि

अभिनवगुप्त ने काव्य को 'प्रासाद' के रूपक से स्पष्ट किया है[2] । इसकी रूपरेखा यों है—

---

१. प्रसन्न राघव १।८ तथा चन्द्रालोक प्रथम मयूख ।
२. अभिनव भारती, बड़ौदा-संस्करण, पृ० २९२ ।

भूमि	—	शब्द; छन्दोविधि
भित्ति	—	लक्षण
चित्रकर्म	—	अलंकार
गवाक्ष	—	गुणयोजना

'दंडी' ने काव्य-सागर की कल्पना की है। इसे पार करने के लिए छन्द-विद्या ही नौका है।[१] कालिदास ने सूर्य-वंश-वर्णन को सागर-तरण के समान दुष्कर कहा है। जिनसेन ने भी कहा है कि एक महान् विषय पर काव्य-रचना करना तरंगोन्मत्त-काव्य-वारिधि का उल्लंघन करने के समान है।[२] बाणभट्ट ने अपनी आख्यायिका को समुद्र के समान बताया है : जिह्वा ही वह नौका है जो पार लगा सकती है। कुछ आचार्यों ने काव्य को दर्पण के समान कहा है। कहीं-कहीं कविता-कामिनी कह कर रूपक को सम्पन्न किया गया है। पर इस रूपक परम्परा में सबसे अधिक विशद रूपक काव्य-पुरुष का है।

काव्य-पुरुष : प्रेरणा-स्रोत—इस रूपक को पूर्ण विस्तार देने का श्रेय राजशेखर को है।[३] इस रूपक में काव्य और छन्दोमयी वाणी की उत्पत्ति की कथा है। साथ ही इसमें शुक्राचार्य, वाल्मीकि एवं वेदव्यास को कवित्व की प्राप्ति के प्रसंग भी आये हैं।[४] काव्य-पुरुष का वास्तविक नाम 'सारस्वतेय' है। काव्यपुरुष और सारस्वतेय समान रूप से इस प्रसंग में व्यवहृत हैं।[५] सारस्वतेय ही लाक्षणिक रूप से काव्य पुरुष है।[६] राजशेखर की दृष्टि में काव्य-पुरुष, ब्रह्म का ही विवर्त है। काव्य पर पुरुष-कल्पना आरोपित है : काव्यरूपी पुरुष। इस रूपक की सांग-योजना प्रस्तुत की गई है। इससे काव्य एवं काव्याङ्गों का क्रमिक और समुचित ज्ञान हो जाता है।

'पुरुष' शब्द वैदिक वाङ्मय में परमेश्वर के लिए बहुधा प्रयुक्त है। वायु-पुराण में भी परमात्मा को 'पुरुष' कहा गया है।[७] इस प्रकार 'पुरुष' की आध्यात्मिक पारिभाषिकता प्राप्त होती चली आई है। वेदों में विराट्पुरुष, वेद-पुरुष, वेद शरीर, वेदशिरस्, वेदात्मा, तथा यज्ञपुरुष जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। हो सकता है राजशेखर को इन समासयुक्त शब्दों से 'काव्यपुरुष' की प्रेरणा मिली हो। पुरुष-सूक्त में 'पुरुष' के विविध अङ्गों का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। 'चत्वारिश्रृंगा' 'विराजो अधि-पूरुषः', 'पुरुष एवेद सर्वम्' आदि मंत्रों को काव्यपुरुष की कल्पना का प्राण माना जा सकता है।' 'विराट्पुरुष' की स्तुति में ब्रह्माण्ड को 'पुरुष' की देह माना गया है,[८]

१. काव्यादर्श १।१२
२. महापुराण १।६३
३. काव्यमीमांसा, बड़ौदा संस्करण।
४. "वही", प्रथम अध्याय का उपसंहार
५. " ", अध्याय १
६. " ", अध्याय ३
७. वायुपुराण, अध्याय ७–८
८. "यस्य भूमिःप्रमा: अन्तरिक्षमुतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्"

सभी प्राणियों के अङ्ग, उसी के अङ्ग हैं। पाणिनीय शिक्षा में पुरुषसूक्त से अधिक स्पष्ट रूपक मिलता है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[1]

इसमें 'पुरुष' शब्द तो नहीं आया है, पर वेद-पुरुष का सांग परिचय दिया गया है। राजशेखर ने पुरुषसूक्त के एक मंत्र का उद्धरण देकर अपने स्रोत का कुछ आभास दिया है। पर पाणिनि का उक्त रूपक भी उसकी दृष्टि में हो तो आश्चर्य नहीं। वेद भी वाङ्मय है। नाट्य भी पञ्चम वेद है। अतः केवल 'काव्यपुरुष' कहना शेष रह जाता है। राजशेखर ने वेद-पुरुष को ही काव्य-पुरुष कह दिया। इस प्रकार काव्य-पुरुष की कल्पना का प्रेरणा-स्रोत वैदिक साहित्य में प्रतीत होता है।

राजशेखर ने ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा उद्धृत की है —

'चत्वारिश्शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।।'

टीकाकारों ने इस मंत्र के अनेक अर्थ किये हैं।[2] कुमारिल भट्ट ने इसमें सूर्य स्तुति मानी है।[3] सायण ने इसका यज्ञपरक अर्थ किया है और सूर्यपरक भी।[4] शाब्दिकों के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार है :

चार शृङ्ग	=	४ प्रकार के शब्द : नाम-आख्यात, उपसर्ग-निपात। उद्योत के अनुसार—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी
तीन 'पाद'	=	तीन काल—भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन सवन—प्रातः, मध्य एवं सायम्
दो शीर्ष	=	दो प्रकार के शब्द : नित्य-अनित्य; व्यंग्य-व्यञ्जक दो लोक : इह लोक, परलोक
सात हाथ	=	सात विभक्तियाँ तथा सप्त स्वर
त्रिधाबद्ध	=	हृदय, कण्ठ, मूर्धा—इन तीनों स्थानों में बद्ध
	=	तीन प्रकार आह्वात : स्तुति, उपासना, प्रार्थना
वृषभ	=	वर्षण करने वाला (बैल का प्रतीक)
रोरवीत	=	शब्द करता है।

इस प्रकार 'महादेवो' अर्थात् शब्द-ब्रह्म का रूपक पूरा किया गया है। इसने मनुष्यों में प्रवेश किया : 'मर्त्यान् आविवेश।' भरतनाट्य शास्त्र में रूपक इस प्रकार

१. पाणिनीयशिक्षा, श्लोक ४१-४२
२. कवि रहस्य, गंङ्गानाथ झा, पृ० ७-८
३. तंत्रवार्तिक १।२।४६
४. इनमें पतंजलि ने इसका विस्तार किया है।

है : 'सप्त स्वरा : त्रीणि स्थानानि (कंठ-हृदय-मूर्धा), चत्वारोवर्णाः, द्विविधाकाकुः, षड्लङ्काराः, षड्ङ्गानि ।[१] इस प्रकार राजशेखर से पूर्व शाब्दिकों और नाट्याचार्यों में भी इस प्रकार रूपक-प्रयोग की पद्धति चल रही थी ।

राजशेखर का काव्य-पुरुष : जन्म—शिष्यों के आग्रह पर बृहस्पति ने उन्हें सारस्वतेय काव्य-पुरुष की कथा सुनाई । हिमालय पर पुत्र-कामना से सरस्वती ने तपस्या की । विधाता ने वरदान दिया—'पुत्रं ते सृजामि' पुत्र की प्राप्ति हुई । नवजात शिशु ने माता का चरण-स्पर्श किया । साथ ही एक प्रौढ़ व्यक्ति की भाँति छन्दोमयी वाणी में कहा : मातः ! यह जो समस्त वाङ्मय अर्थ के रूप में प्रतिभासित हो रहा है, मैं वही काव्य-पुरुष, तुम्हारे चरणों की वंदना करता हूँ ।'[२] इस प्रकार राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति दिव्य कही है । उसकी सृष्टि स्वयंभू, ब्रह्मा से हुई है । अन्य प्रसङ्गों से यह ज्ञात होता है कि राजशेखर के अनुसार ऋग्वेद भी काव्य है । यों ऋग्वेद ने तो स्वयं को काव्य कहा है ।[३] शेखर के मत में अलंकार-शास्त्र सप्तम वेदाङ्ग है । कारण यह कि छः वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष) की भाँति अलंकार-शास्त्र भी काव्य के आस्वाद में सहायक होता है । काव्य-पुरुष काव्य का प्रतीक तो है ही, छन्दमयी वाणी ऋग्वेद का प्रतीक भी माना जा सकता है । माता सरस्वती ने पुत्र की वन्दना सुनकर इस प्रकार कहा : वत्स ! तुम छन्दोमय वाणी के प्रणेता हो । तुमने अपनी वाङ्मय-माता मुझे-जीत लिया । पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र के जन्म के समान महोत्सव होता है । पूर्व विद्वान् गद्य से ही अवगत थे, पद्य उनके निकट अप्रकट था । तुम्हारे द्वारा छन्दोवती वाणी का प्रवर्तन होगा । तुम प्रशंसनीय हो ।

काव्यपुरुष के जन्म के साभिप्राय संकेत अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं । पर उन स्रोतों में काव्यपुरुष नाम नहीं मिलता । रामायण में क्रौंच-वध का करुण प्रसंग है । प्रथम श्लोक के प्रस्फुटन होते ही ब्रह्माजी आदि कवि के निकट आये और कहा : मेरी इच्छा से ही तुम्हारे मुँह से यह श्लोक[४] उद्‌बुद्ध हुआ है । अब तुम रामचरित-प्रबंध लिखो ।[५] इस प्रकार छन्दोमयवाणी के जन्म और उसमें ब्रह्मा की प्रेरणा की बात कही गई है । महाभारत में भी दो संकेत-कथाएँ मिलती हैं । प्रथम इस प्रकार है : ब्रह्मा ने सरस्वती से एक पुत्र प्राप्त किया । उसे उन्होंने वेदाध्ययन और वेद-प्रचार में तत्पर किया ।[६] दूसरा प्रसंग यों है : ऋषि दधीचि का एक पुत्र हुआ । वह

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १७

२. यदेतद्वाङ्मयं विश्वम्, अर्थमूर्त्या विवर्तते ।
   सोऽस्मि काव्यप्रमान् अम्ब ! पादौ वन्देय तावकौ ॥

३. पश्यदेवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति ॥

४. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
   यत्क्रौंच मिथुनादेकंमवधीः काममोहितम् ॥ वाल्मीकि रामायण ॥

५. वाल्मीकि रामायण १।२।१८-३६

६. महाभारत : शान्तिपर्व, अध्याय ३५६

सरस्वती नदी में मिला। सरस्वती ने उसे दधीचि के आश्रम में छोड़ दिया। उसने वहाँ वेदाध्ययन किया। जब वेद-विद्या लुप्त होने लगी, तो सारस्वतेय ने पुनः वेदाध्ययन की प्रतिष्ठा की।[१] इस प्रकार ब्रह्मा ने ही वाणी का प्रवर्तन किया। रामायण में सारस्वतेय के स्थान पर वाल्मीकि है।

वायुपुराण में यह कथा कुछ भिन्न होने पर भी विस्तृत है।[२] ब्रह्मा के अग्नि से उत्पन्न पुत्र कवि (भृगु) का पौलौमी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम च्यवन था। च्यवन की पत्नी सुकन्या ने दो पुत्रों को जन्म दिया : दधीचि और आत्मवान्। दधीचि ने सरस्वती से विवाह करके एक पुत्र प्राप्त किया। यही सारस्वत था। सारस्वत ने समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। वायुपुराण में अन्यत्र एक कथा है[3] : शुक्राचार्य ने अपनी तपस्या से शंकर को प्रसन्न किया। उन्होंने कहा : तुम अपने ज्ञान और पराक्रम से देवताओं को पराजित करो। शुक्राचार्य को भृगुनंदन कहा गया है।

इस प्रकार महाभारत और वायुपुराण दोनों में ही सारस्वतेय दधीचि का पुत्र है। महाभारत की अन्य कथा में वह ब्रह्मापुत्र है। राजशेखर का काव्यपुरुष भी ब्रह्म-पुत्र है। राजशेखर से पूर्व भरत ने भी नाट्य की उत्पत्ति की कथा पौराणिक शैली में कही है। भरत ने भी नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी है। पर भरत के 'ब्रह्मा' का अभिनवगुप्त ने कवि अर्थ किया है।[४] नाट्शास्त्र के एक और प्रसंग के अनुसार, सरस्वती ने नाट्य को 'श्राव्य' होने का वर दिया—"श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्थ ददौ देवी सरस्वती।"[५] अश्वघोष ने आंगिरस, सरस्वती-पुत्र सारस्वत का उल्लेख किया है। इसने विनष्ट वेद-विद्या का फिर से प्रसार किया।[६] बाणभट्ट के एक पूर्व पुरुष वत्स ने सारस्वतेय से संपूर्ण ज्ञान-राशि प्राप्त की [हर्ष चरित]।

छन्दोमयी वाणी और सरस्वती के वरदान के संबंध में भी संकेत मिलते हैं। रामायण में भी इसका उल्लेख है। उत्तर रामचरित में भवभूति ने इस प्रसंग में सर्वप्रथम काव्य में छन्द-प्रयोग की घटना पर बल दिया है। क्रौंच-घटना से वाल्मीकि के मुख से सर्व प्रथम छन्दोमयी वाणी का जन्म हुआ : 'आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्द सामवतः।'[७] फिर ब्रह्माजी ने वरदान दिया और रामायण लिखने का आदेश भी। इस वरदान और आदेश से प्रेरणा पाकर वाल्मीकि ने रामायण का प्रणयन किया।[८]

१. महाभारत : शल्यपर्व, अध्याय ५२
२. वायुपुराण, अध्याय ६५ (आनन्दाश्रम संस्करण)
३. वही, अध्याय ६७
४. अभिनवभारती, बड़ौदा संस्करण, भाग १, पृ० १६
५. नाट्यशास्त्र, १।६०
६. सौन्दरानन्द, ७।३१
७. उत्तर रामचरित, अंक २
८. वही : 'शब्द ब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।'

भवभूति के अनुसार छन्दोमयी वाणी के प्रवर्तक वाल्मीकि हैं। यहाँ राजशेखर के अनुसार काव्य-पुरुष ही प्रथम कवि है।

काव्य-पुरुष का शरीर और आत्मा—सरस्वती ने काव्य-पुरुष के इन अङ्गों की सूचना दी :

१. शरीर — शब्दार्थ	२. मुख — संस्कृत ;
३. बाहु — प्राकृत ;	४. जघन — अपभ्रंश ;
५. चरण — पैशाच ;	६. हृदय — मिश्र [अनेक भाषाओं का मिश्रण]
७. गुण — गुण ;	
८. वाणी — उक्ति ;	९. आत्मा — रस ;
१०. रोमावली— छन्द समूह	११. वाक्क्रीड़ा—प्रश्नोत्तर पद्धति ;
१२. अलंकरण— अलंकार ;	१३. वेषविन्यास—प्रवृत्ति ;
१४. विलासविन्यास—वृत्ति	१५. वचनविन्यास—रीति ।

राजशेखर की इस काव्यांग कल्पना का प्रेरणा स्रोत वायुपुराण को भी माना जा सकता है[1] जहाँ छठे अध्याय में भगवान वाराह के अंग-प्रत्यंग की कल्पना यज्ञ-पुरुष के रूपक के द्वारा की गई है। समस्त यज्ञीय उपकरण वाराह के साङ्ग निरूपण के आधार बने हैं। वायुपुराण के सप्तम तथा अष्टम अध्यायों में प्रकृति-पुरुष, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त, प्रजापति पुरुष, महापुरुष, तथा आदि-पुरुष की रूपकात्मक चर्चा मिलती है।[2] साहित्य शास्त्रीय परम्परा में भी काव्य-शरीर संबंधी स्पष्ट संकेत मिलते हैं। भरत ने इतिवृत्त और वाक् को शरीर कहा है। भामह और वामन के 'शब्दार्थौ' और दण्डी आदि की 'पदावली' में वाक् का ही समावेश है। पर इन्होंने इतिवृत्त की चर्चा नहीं की। रुद्रट ने इतिवृत्त को 'पञ्जर' कहा है। वामन के टीकाकार गोपेन्द्र-त्रिपुरहर भूपाल ने वस्तु (इतिवृत्त) को शिर नाम से अभिहित किया है। हो सकता है राजशेखर ने 'शब्दार्थौ' में इतिवृत्त का भी अन्तर्भाव कर लिया हो। दण्डी ने विशिष्ट पदावली को काव्य का शरीर कहा है और उसके तीन रूप बतलाए हैं : 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।'[3] भामह ने अलंकार के रूपकात्मक निरूपण के लिए पुरुष को नहीं, नारी को उपमान बनाया है। उनके अनुसार अलंकार से युक्त वाणी, विदग्ध मण्डना नारी की भाँति सुशोभित होती है।[4] काव्य की आत्मा का निरूपण वामन ने किया है। भरत मुनि ने 'लक्षण' को भी एक काव्य-तत्त्व के रूप में ग्रहण किया है। अभिनव गुप्त की मान्यता इस प्रकार है : काव्य एक महा-पुरुष है। लक्षण : पद्मादि रेखाएँ हैं। उपमादि उसके आभूषण हैं। उसके गुण धैर्य के समान हैं।'[5]

१. रामनिहालसिंह शर्मा, 'मेधा' (१९६२-६३) रायपुर, पृ० १२३
२. वायुपुराण, आनन्दाश्रम संस्करण ६-८ अध्याय।
३. काव्यादर्श १।११
४. अनेन वागर्थविदामलंकृता।
विभाति नारीव विदग्ध मण्डना ॥ काव्यालंकार ३।५८
५. अभिनवभारती, बड़ौदा संस्करण, पृ० ३२१, ३४८

राजशेखर ने रस को काव्य की आत्मा कहा है। विश्वनाथ ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया है। विद्यानाथ ने भी काव्य-पुरुष का रूपक बनाया है। विद्यानाथ के अनुसार 'रीति' उसका स्वभाव है। राजशेखर ने 'रीति' को वचन-विन्यास-क्रम माना है परन्तु विश्वनाथ ने इसे अवयव-संस्थान। राजशेखर ने 'शय्या' और 'पाक' की चर्चा ही नहीं की। विद्यानाथ के शय्या और पाक को लौकिक शय्या और पाक के समान बताया है।[1] विद्यानाथ का रूपक यों है—

शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम्।
हारादिवदलंकारस्तत्र स्युरुपमादयः ॥
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादिय इव स्थिताः।
आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतयः ॥
शोभामाहार्यकीं प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा।
पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता ॥
रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसम्पदः ॥

आचार्य विश्वनाथ का काव्य-पुरुष रूपक इस प्रकार है[2]—

'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवद्, दोषाः काणत्वादिवद्, रीतयोऽवयवसंस्थानादिवद् अलंकाराश्च कटककुण्डलादिवत्।'

इस निरूपण में विश्वनाथ ने दोष को भी स्थान दिया है। पर दोष कोई अंग नहीं है। राजशेखर ने दोष का उल्लेख नही किया। सम्भवतः उनकी दृष्टि में दोषयुक्त काव्य, काव्य ही नहीं है। हिन्दी के आचार्यों ने अंग-वर्णन मे दोषों की चर्चा की है। केशव ने मनुष्य के अनेक दोषों से काव्य दोषों की तुलना की है[3] :

अन्ध बधिर अरु पगु तजि नग्न मृतक मति सुद्ध।
अन्ध बिरोधी पंथ को, बधिर सु सबद बिरुद्ध ॥
छन्द बिरोधी पंगु गनि, नगन जु भूषण हीन।
मृतक कहावै अर्थ बिनु, केसव सुनहु प्रवीन ॥

पर राजशेखर को अपने दिव्य काव्य-पुरुष की इस प्रकार की दुर्दशा अनुचित प्रतीत हुई। काव्य-पुरुष को उन्होंने चरम आदर्शपुरुष माना है। राजशेखर के परवर्ती आचार्यों ने दोष की चर्चा की है। पर दोष काव्य का अंग नहीं हो सकता। राजशेखर ने काव्य के इस निषेधात्मक पक्ष को छोड़ दिया है। दोष त्याग पर अधिक बल दण्डी ने किया था। पर इनसे पूर्व भामह ने दोष के संबंध में कहा था कि दुष्ट कृति

१. विद्यानाथ का रूपक, प्रतापरुद्रीयम्, २।२५
२. साहित्यदर्पण, १।१३
२. कविप्रिया, ३।६, ७

से कवि उसी प्रकार निन्दित होता है, जिस प्रकार दुष्ट पुत्र की प्राप्ति से पिता।[१] दोष का सर्वथा त्याग कवि का प्रथम कर्तव्य है।

वामन के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल ने कविता पर बधू का आरोप किया है। उसके अङ्गों की रूपक-योजना इस प्रकार है —[२]

कृति	—	वधू
वाक्य	—	अङ्ग
गुम्भ	—	मूर्ति
वस्तु	—	शिर
अलंकार	—	परिष्कार
रीति		प्राण
गुण		गुण

वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा कहा है परन्तु टीकाकार ने रीति को प्राण स्वीकार किया है।

कवि : व्युत्पत्यर्थ—राजशेखर ने 'कवि' शब्द पर भी विस्तृत विचार किया है।[३] उनकी मान्यता के अनुसार कवि का कर्म (कृति) ही काव्य है।[४] राजशेखर ने कवि शब्द की व्युत्पत्ति 'कव्' (कवृ या कव्र) धातु से मानी है। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और मत है : 'कुङ' (शब्दे) धातु से (इ) प्रत्यय[५] करके यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'कवृ' धातु का अर्थ है 'वर्ण'। वर्ण रंगवाची है। वर्ण से वर्णन अर्थ हो सकता है। राजशेखर ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। वर्ण के ये अर्थ हो सकते हैं : रंग, रंगना, विस्तार, गुण, कथन, वर्णन, स्तुति, अक्षर, स्वरूप आदि।[६] वैसे कवि के लिए शब्दार्थक 'कु'—धातु और वर्णार्थक 'कवृ'—दोनों ही उपयुक्त हैं। शब्द की अपेक्षा वर्णन वाला अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

कवि : प्रयोग-परम्परा—ऋग्वेद में 'कवि' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है।[७] वैदिक 'कवि' ऋषि था, आप्त था, मेधावी था। स्वयंभू परमेश्वर मनीषी और

---

१. तदल्पमति नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥ काव्यालङ्कार, १।११

२. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति की टीका : प्रस्तावना।

३. 'कवि शब्दश्च 'कवृ वर्णे' इत्यस्य धातोः काव्य कर्मणो रूपम्।
काव्यैक रूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुज्यते।'

४. कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते। जिनसेन, महापुराण, १।९४

५. उणादि प्रकरण के 'कच् इः' (४। १३८), इस सूत्र से 'इ' प्रत्यय। कुङधातुम्वादि-गण में पठित है। अदादि तथा तुदादि गण में क्रमशः कु तथा कुङ धातु 'शब्द' अर्थ में पठित है।

६. सिद्धान्त कौमुदी, धातु पाठ तथा अमरकोष, नानार्थवर्ग, श्लो० ४८।

७. कविं शशासुः कवयोऽदब्धाः। ऋक्. ४।२।१२
कविः कवित्वा दिवि रूपमासजत्। १०।१२४।७
कविमिव प्रचेतसं यं देवासः। ८।८४।२
इन्द्रमग्निं कविच्छदा। ३।१२।३

परिभू के साथ ही कवि भी है ।[1] वेद में यह शब्द प्राय: इन अर्थों में व्यवहृत हुआ है : मेधावी, प्राज्ञ, क्रान्त-कर्मा, क्रान्त-दृष्टा, क्रान्त-प्रज्ञ, ऋषि, देव, परमात्मा, ब्रह्म, स्तोता—स्तुति करने वाला । निरुक्तकार ने अर्थ का कुछ संकोच किया : 'कवि: क्रान्तदर्शनो भवति ।'[2] कवि क्रान्तदर्शी होता है । वैदिक ऋषि कवि था । ऋषि मंत्र-दृष्टा होता है—'ऋषयो कवयोर्मन्त्रदृष्टार: ।' इस प्रकार कवि का संबंध दर्शन-शक्ति से माना गया । आगे अर्थ में और भी संकोच हुआ । कोशकारों ने दो अर्थ किए : प्राज्ञ, काव्यनिर्माता ।[3] इसमें द्वितीय संकुचित अर्थ है । आगे दोनों अर्थों में समन्वय हुआ । राजशेखर के अनुसार ऋषि भूत-पूर्व मंत्रों के दृष्टा हैं और कवि नवीन गुम्फ या अर्थ के ।[4] पर दर्शन का तत्त्व दोनों में विद्यमान है । दोनों की दर्शन प्रणाली से सुख होता है : प्रथम से अदृष्ट सुख और दूसरे से सद्य: सुख । इस दृष्टि से कवि ऋषि से भी बढ़ जाता है ।[5] यह समन्वय की भावना का परिणाम है । भट्ट तौत ने एक पग आगे बढ़ कर कहा कि 'कवि' की सार्थकता दर्शन और वर्णन दोनों में ही है ।[6] केवल स्वच्छ दर्शन आदि कवि को कवि नहीं बना सकता था । 'वर्णन' की शक्ति के बिना स्वच्छ दृष्टि कविता के रूप में परिणित नही हो सकती थी । अत: कवि की चरितार्थता वर्णन-कुशल होने में ही माननी चाहिए । 'दर्शन' कवि की आभ्यंतर शक्ति है । वर्णयिता ही कवि होता है ।

कवि शब्द का प्रयोग, परम्परा में, ऐसे व्यक्तियों के लिए भी होता रहा है, जिनकी कोई काव्यकृति नहीं है । कालिदास ने विष्णु को कवि कहा है ।[7] यहाँ 'पुराणकवि' शब्द विष्णुवाची है । पृथ्वीराज विजयकार ने 'विश्वरूप' को ही 'कवि-प्रथा' का कारण माना है : "यो विश्वरूपो विवुधेषुधुर्य: स एव हेतुर्हि कवि प्रथाया: ।"[8] विश्वरूप ब्रह्मा को भी कहा जाता है । वायुपुराण में शंकर को भी कवि कहा गया है ।[9] इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश को कवि कहा गया है । इसके पीछे उनकी सृष्टि-क्रिया ही लक्ष्य है । वायुपुराण में ही भृगु और भृगुपुत्र, उशना या

---

१. कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भू: । ईशावास्य०
 कविं पुराणमनुशासितारम् । गीता ।
२. निरुक्त १२।१३।६
३. 'प्राज्ञ-काव्यकृतौ कवि: । वैजयंती कोश ।
४. भूतपूर्वस्य मंत्रस्य दर्शनाद् ऋषयो यथा ।
 नवगुम्फार्थयोस्तद्वद् दर्शनात् कवयोऽभवन् ॥
५. आर्ष शब्दाद्श्रुतं यत्तददृष्टसुख साधनम् ।
 कवे: सातिशयो गुम्फ: सद्योनिर्वृतिमावहेत् ॥
६. तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुने: ।
 नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥ भट्टतौत ।
७. रघुवंश, १०।३६
८. पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, सर्ग १
९. वायुपुराण, अध्याय ६८

शुक्र, को कवि कहा गया है ।[1] राजशेखर ने इसी उशना को वाल्मीकि का पूर्ववर्ती कवि माना है । सूर्य, कल्किदेव के बड़े भाई तथा वैराज प्रजापति की कन्या और चाक्षुप-मनु के एक पुत्र का नाम 'कवि' था ।[2] सन्दिग्ध ऐतिहासिकता के कारण इसको राजशेखर ने छोड़ दिया है । राजशेखर ने वर्णन के कारण ही शुक्र को कवि कहा है । 'वर्णन' से पूर्व वे केवल मुनि थे । यही स्थिति वाल्मीकि की थी ।

काव्यमीमांसा में रूपक-संदर्भ में, उशना और वाल्मीकि को समकालिक कहा गया है । वाल्मीकि के अनन्तर महामुनि व्यास कवि हुए । कवि का एक अर्थ स्तोता (स्तुति करने वाला) भी है । पुराण रचयिताओं को भी कवि कहा गया है । अब प्रत्येक मेधावी कवि नहीं रहा । पुराणकाल तक काव्य की परिभाषा दी जाने लगी थी । काव्य साहित्य के अन्य प्रकारों से पृथक हो गया था । इस अर्थ में मनु, पाराशर आदि को कवि नहीं कहा जा सकता था । अतः वाल्मीकि ही आदि कवि माने गये । 'वेद' काव्य की सीमा से बाहर हो गए । इस प्रकार राजशेखर के अनुसार कवि शब्द पहले काव्यपुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ । फिर शुक्राचार्य कवि हुए । तीसरी परम्परा में वाल्मीकि कवि-संज्ञक हुए । इसके पश्चात् व्यास आदि कवियों के लिए यह अभिधेय प्रयुक्त हुआ ।

वाल्मीकि की भेंट सरस्वती से हुई । सरस्वती देवी स्नान करके वापस आई । वहाँ उसे अपना पुत्र नही मिला । वह पुत्र-शोक से व्याकुल हुई । वाल्मीकि ने उनके पुत्र सारस्वतेय का सारा वृत्तान्त सुनाया और उशना का आश्रम भी दिखा दिया । वहाँ, उस आश्रम में सरस्वती ने अपने पुत्र को देखकर सुख माना । वाल्मीकि से प्रसन्न होकर सरस्वती ने उन्हें छन्दोमयी भाषा का वरदान दिया । लौटने पर क्रौंच के प्रसंग में वाल्मीकि के मुख से प्रथम छन्द निर्गत हुआ । सरस्वती ने उस श्लोक के संबंध में कहा कि जो उसे पढ़ेगा, वह भी कवि होगा । राजशेखर के अनुसार वाल्मीकि के उस श्लोक को पढ़कर ही व्यास ने महाभारत की रचना की । राजशेखर के 'प्रचण्ड पाण्डव' में इस प्रकार का उल्लेख है : ब्रह्मपारायण वेदविद्या के प्रतिनिधि व्यास रामायण का रसास्वादन करते हुए अपनी कविता की रचना करते थे । रामायण का पुनरुज्जीवन व्यास ने अपनी वाणी द्वारा किया ।[3]

काव्य-पुरुष का भ्रमण और साहित्य विद्या की उत्पत्ति—रूपक यहीं समाप्त नहीं हुआ । राजशेखर ने काव्य-पुरुष के भ्रमण की भूमिका तैयार की । ऋषियों और देवताओं के बीच उठे एक विवाद का निर्णय करने के लिए, सरस्वती ब्रह्मलोक को जाने लगी । 'काव्य-पुरुष' ने भी उसके साथ जाने का आग्रह किया । सरस्वती ने उसे रोका : ब्रह्मलोक यात्रा से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा । ब्रह्मा की इस संबंध में अनुमति भी नहीं है । काव्य-पुरुष इस पर घर से निकल गया । गौरी-पुत्र कुमार को

---

१. वायुपुराण अध्याय, ६५
२. हरिवंश पुराण, अ० २
३. प्रचण्ड पाण्डव १।१६ तथा १।१७

इस स्थिति से दुःख हुआ। माता गौरी ने काव्य-पुरुष को रोकने का वचन दिया। गौरी ने प्रेम का बन्धन उत्पन्न करने के लिए, एक साहित्य-विद्या-बधू को प्रकट किया। उसे गौरी ने आदेश दिया कि तुम अपने धर्मपति काव्य-पुरुष का अनुवर्तन करो और उसे लौटा लाओ। मुनियों से उन्होंने काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या बधू के चरित्र गायन की आज्ञा दी। मुनियों ने वैसा ही किया।

वास्तव में काव्य का घर से निकलना निर्विचार कविता करने का प्रतीक है। जयदेव ने इसे अपने एक वक्तव्य में व्यक्त किया है।[1] काव्यशास्त्र ही कुकाव्य या निर्विचार कविता को सुकाव्य बनाता है। गौरी के द्वारा साहित्य-विद्या-वधू की सृष्टि का यही अभिप्राय है। ब्रह्मलोक को काव्यपुरुष को न जाने देना, लौकिक काव्य की भूमिका में उपयुक्त है। काव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसके शास्त्र की उत्पत्ति हुई। प्रथम की सृष्टि ब्रह्मा ने की और द्वितीय की गौरी ने। दोनों की सृष्टि पूर्ण हैं। साथ ही गौरी ने जो प्रेम-वन्धन की कल्पना की उसमें शृङ्गार की भी ध्वनि है। बन्धन काव्य में आकर्षण या चमत्कार का चिन्तन है।

इस प्रकार साहित्य-विद्या पर बधू का आरोप हुआ। इसकी उत्पत्ति भी दिव्य है। भगवान श्रीकण्ठ ने इस विद्या का उपदेश परमेष्ठी, बैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को दिया था। परमेष्ठी से इस विद्या को उनके मानसपुत्रों (ऋषियों) ने प्राप्त किया। इनमें एक पुत्र सारस्वतेय काव्य-पुरुष भी था। ब्रह्मदेव ने इस त्रिकालज्ञ और भविष्य अर्थों के द्रष्टा काव्य-पुरुष को भू, भुवः और स्वर्ग की प्रजा में काव्यविद्या का प्रवर्तन करने का आदेश दिया। काव्य-पुरुष ने काव्यविद्या को अठारह अधिकरणों में विभक्त किया और ज्ञानार्थियों के लिए इनका कथन किया। राजशेखर ने इन्हीं लुप्त अधिकरणों के उद्धार के लिए काव्यमीमांसा का प्रणयन किया। काव्यविद्या के प्रथम प्रवर्तक श्रीकण्ठ शिव थे और साहित्य-विद्या-बधू की जननी, गौरी।[2] कालिदास ने शब्द और अर्थ के मर्म-ज्ञान के लिए शिव और पार्वती की स्तुति की है।[3] हो सकता है काव्य विद्या की उत्पत्ति कथा में राजशेखर को यहीं से प्रेरणा मिली हो। 'संम्पृक्तौ' में भामह के 'सहितौ' का भाव है। कालिदास के अनुसार वागर्थ-संपर्क और भामह के अनुसार शब्दार्थ-साहित्य ही काव्य के उपयोगी हैं। राजशेखर ने दोनों का ही उपयोग किया है।

राजशेखर ने कहा कि काव्य पन्द्रहवी विद्या है क्योंकि चौदह विद्याओं में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अलंकार सप्तम वेदांग है। साहित्य विद्या पाँचवीं विद्या है। यह चारों विद्याओं का सार है। इसमें काव्य और काव्यशास्त्र दोनों ही अन्तर्युक्त हैं।

प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति—काव्य-पुरुष का वेशविन्यासक्रम 'प्रवृत्ति' है। इसके

---

१. रे रे स्वैरिणी निर्विचार कविते ! मास्मत्प्रकाशीभव', चन्द्रालोक : प्रस्तावना।

२. काव्यमीमांसा, अध्याय ३।

३. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपन्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥

चार भेद हैं : ओड्रमागधी, पांचालमध्यमा, आवन्ती और दाक्षिणात्या। उसका विलास-विन्यासक्रम 'वृत्ति' है। इसके भी चार भेद है : भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी। 'रीति' वचन-विन्यास क्रम है। इसके गौड़ी, पांचाली, और वैदर्भी तीन भेद हैं। बाल रामायण में एक चतुर्थ रीति 'मैथिली' का भी उल्लेख है। इन सबको भी राजशेखर ने पौराणिक रूप दिया है। भरत ने प्रवृत्ति और वृत्ति पर तो स्पष्टतः लिखा है क्योंकि इनका संबंध दृश्य काव्य से है। रीति का स्पष्ट उल्लेख भरत ने नहीं किया। पर भरत ने भारत के चार भागों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है : पश्चिम भाग की आवन्ती, दक्षिण की दाक्षिणात्या, पूर्व भारत की ओड्र-मागधी और पांचाल की पांचाली।[1] बाणभट्ट ने भी भौगोलिक प्रदेशों के आधार पर काव्य शैली का निर्देश किया है :

श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः॥[2]

इस प्रकार सातवीं शती तक प्रदेशों के आधार पर विशिष्ट शैलियाँ प्रवर्तित हो चुकी थीं। भामह ने वैदर्भ और गौड, काव्य के दो भेदों का निर्देश किया है। दण्डी ने काव्य शैली के अर्थ में मार्ग शब्द का प्रयोग किया। यही वामन की 'रीति' है। 'रीति' की धारणा ही आनन्दवर्धन की संघटना में है। कुन्तक ने रीति को मार्ग मान-कर उसे कवि-प्रस्थान हेतु माना है। भोज ने रीति की उत्पत्ति 'री'- (रीङ् गतौ) धातु से मानी है, जिसके अर्थ हैं : मार्ग, वर्त्म, प्रस्थान आदि। राजशेखर ने **समास और अनुप्रास** को रीति का **मूलतत्त्व** माना है। रीतियों का **एक और आधार है :** वैदर्भी का योगवृत्ति, पांचाली का उपचार, और गौडीया का योगवृत्ति परम्परा।

राजशेखर के काव्यपुरुष का पीछा साहित्यविद्या वधू करती गई। मुनिजन भी उसके साथ थे। अंग, वंग, सुम्ह, ब्रह्म, एवं पुण्ड्र जनपदों वाले पूर्व देश में वे पहुंचे। वहाँ के स्त्री-पुरुषों ने पुरुष-वधू वेश का अनुसरण किया। यह विन्यास ओड्र-मागधी है। इस प्रवृत्ति की स्तुति मुनियों ने की। चन्दन, सूत्रहार, दूर्वा आदि को इस प्रवृत्ति की सज्जा के उपकरण रूप में ग्रहण किया गया। साहित्य-विद्या-बधू ने इस क्षेत्र में जो नृत्य-गान आदि किया वह 'भारतीवृत्ति' है। इस प्रवृत्ति और वृत्ति से 'बधू' ने 'पुरुष' को आकर्षित करने की चेष्टा की, पर व्यर्थ। इस क्षेत्र की वाणी लम्बे समास, अनुप्रास, और योगवृत्ति परम्परा से युक्त थी। इस वाणी को गौडीया रीति कहा गया।

फिर वे पांचाल की ओर गए। यहाँ पांचाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, वाह्लीक आदि जनपद थे। यहाँ की वेशभूषा 'पांचालमाध्यम प्रवृत्ति' है। कानों में आभूषण, गले में नाभिपर्यन्त झूलने वाले हार, और श्रेणी से एड़ी तक के लहँगे आदि इस प्रवृत्ति में हैं। कन्नौज (महोदय) की स्त्रियों का भी यही विन्यास

१. नाट्यशास्त्र, १४।३६
२. हर्ष चरित, प्रस्तावना।

है। यहाँ का नृत्य-गीत-वाद्य-विलास 'सात्वती वृत्ति' से जाना जाता है। इसका अन्य-नाम 'आरभटी' है। यह नाम गति की मन्थरता के कारण पड़ गया है। 'पांचाली-रीति' यहाँ की बोलचाल की शैली में मिलती थी। इस रीति में अल्प-समास, अल्प-अनुप्रास और उपचार मिलते हैं। इसी उपचार के आधार पर 'उपचार-वक्रता' नामक एक वक्रोक्ति-प्रकार बनता है। पर ये प्रवृत्ति आदि भी काव्यपुरुष को आकर्षित नहीं कर सकीं। हाँ, पूर्वोक्त प्रवृत्तियों से इनमें अधिक आकर्षण था।

अब वे अवन्ती की ओर गए। उधर के जनपद ये हैं: अवन्ती, विदिशा, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि। इस क्षेत्र की विशेषताऐं इस प्रकार हैं: प्रवृत्ति=आवन्ती। स्थिति–पांचाल मध्यमा और 'दाक्षिणात्य.' के बीच; पांचाल का वेश पुरुषों ने ग्रहण किया और दाक्षिणात्य का स्त्रियों ने; बोलचाल और आचार—मिश्रित; वृत्तियाँ—सात्वती और कैशिकी। ये भी काव्यपुरुष को आकर्षित करने में असमर्थ रहीं।

तत्पश्चात् वे सब दक्षिण की ओर चले। यहाँ की प्रवृत्ति 'दाक्षिणात्या', वृत्ति-कैशिकी, रीति वैदर्भी थीं। इस क्षेत्र में मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मंजर, महाराष्ट्र, गंग और कलिंग आदि जनपद आते हैं। यहाँ की रीति में स्थान, अनुप्रास, समासहीनता और योगवृत्ति मिलती है। यहाँ भी आकर्षण नहीं हुआ।

अन्ततः विदर्भ देश की ओर गए। यहाँ कामदेव का क्रीड़ावास वत्सगुल्म नामक नगर है। यहाँ साहित्यविद्या बधू ने काव्यपुरुष को आकर्षित कर लिया। वहाँ दोनों ने गान्धर्व विवाह कर लिया। यहाँ से वे फिर उन्हीं प्रदेशों में यात्रा करते हुए चले। अन्ततः वे हिमालय पर लौट आए। यहाँ पर गौरी और सरस्वती परस्पर (सम्बन्धिनी) समधिन थीं। दोनों का आशीर्वाद इस नव युग्म पर प्राप्त हुआ। अन्त में उन्होंने उन दोनों को कवि-मानस का निवासी बना दिया। यह कवि-लोक उनके लिए नवीन स्वर्ग था।

इस प्रकार राजशेखर ने एक दीर्घ रूपक-योजना के माध्यम से काव्य के सभी उपकरणों का सुन्दर विवेचन किया है साथ ही कवि, काव्य आदि की परम्परा और उनके प्रयोग की ओर भी संकेत किया। इस रूपक में उन्होंने वेदों से लेकर ध्वन्यालोक तक की समस्त तत्सम्बन्धी विचार-धाराओं और सिद्धान्तों को समेटने की चेष्टा की है। काव्यपुरुष को जो विराटता अपेक्षित थी, वह भी इस रूपक से उनको मिलती है। प्रत्येक स्थान पर प्रतीक-योजना बड़ी ही सार्थक और सटीक है।

२

साधारणीकरण

१. साधारणीकरण की आवश्यकता—सामान्य एवं विशेष
२. भावन-व्यापार, विभावन-व्यापार एवं वीत-विघ्न-व्यापार
३. संस्कृत आचार्यों की मान्यताएं : भट्टनायक-भट्ट लोल्लट, भट्ट तौत, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ
४. भट्टनायक अभिनव गुप्त एवं परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का मौलिक अन्तर
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सिद्धांत
६. डा० नगेन्द्र एवं आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के अभिमत का निरूपण
७. संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों का तुलनात्मक विवेचन
८. निष्कर्ष

मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति है : विशिष्ट से सामान्य की ओर अग्रसर होना। इसी लोकवृत्ति से प्रेरित वैज्ञानिक विशिष्ट पदार्थों के प्रयोगात्मक निरीक्षण से सामान्य सिद्धान्तों की उपलब्धि एवं स्थापना करता है। यही प्राकृत प्रवृत्ति साहित्य के रसास्वादन के लिए भी आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करती है। काव्य के रसास्वादन की यह एक आवश्यक कड़ी बन जाती है। साहित्य शास्त्र में सामान्य की ओर जाने की प्रवृत्ति साधारणीकरण के सिद्धान्त में अपनी परिणति प्राप्त करती है। सामान्य को विशिष्ट रूप प्रदान करने में देश-काल की परिस्थितियाँ सर्वाधिक प्रभावकारिणी सिद्ध हुई हैं। देश-काल के बन्धनों से जब विशिष्ट मुक्त हो जाता है तो वह सामान्य रूप में उपस्थित होता है। विशिष्ट के साथ होने वाली प्रतिक्रिया भी सीमित क्षेत्र में आवद्ध रहती है। उसके साथ होने वाले राग-द्वेषात्मक सम्बन्ध भी एक व्यक्ति, या व्यक्ति समूह तक परिसीमित रह जाते हैं। 'विशेष' सभी के आनन्द-संबंधों का आलंबन नहीं हो सकता। सामान्य[१] होने पर वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ बहुधा सम्बद्ध हो सकता है। इसी प्रक्रिया को रस-शास्त्र के व्यवहृत स्वरूप में साधारणीकरण कहते हैं। इसमें विशेष को सामान्य-साधारण बनाने का उद्योग समाविष्ट रहता है। भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि सर्वत्र विशिष्टों के अन्तरंग में व्याप्त सामान्य सूत्र के उद्घाटन की ओर रही है। भेद में अभेद—अनेक में एक—की खोज मानव की चिर साधना रही है। कवि की प्रातिभ-साधना विशेष के चित्रण की सामान्य भूमिका की ओर संकेत करके वर्ण्य या अलंकार्य को देश-काल की शृङ्खला से मुक्त कर सार्वजनीन बनाने की ही साधना है। इस प्रकार साधारणीकरण शब्द का व्यवहार

१. सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक् पृथक् (अग्निवेश चरक संहिता)

व्यक्तित्व-लय, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध-विशेष-परित्याग, तथा असामान्य के सामान्यीकरण के अर्थ में किया जाता रहा है। साधारणीकृत अनुभव में व्यक्ति एवं वस्तु निर्वैयक्तिक रूप में प्रस्तुत होकर सबके आनन्द का विधान कर सकने में समर्थ होती है।

साधारणीकरण की इस प्रक्रिया को भट्टनायक ने 'भावन-व्यापार', साहित्य दर्पणकार ने 'विभावन-व्यापार', अभिनव गुप्त ने 'वीत-विघ्न-प्रतीति-व्यापार' शब्दों से अभिहित किया है। रसास्वादन की भूमिका में यही प्रक्रिया रहती है।

१. रस परम्परा में संस्कृत के आचार्य—

भट्टनायक इसके आविष्कारक हैं। पर भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में भी कुछ विचार बीज रूप में हैं, भरत ने लिखा है : "एभिश्च सामान्य गुणयोगेन रसाः निष्पद्यते।" अर्थात् भाव सामान्य गुण सम्पन्न होते हैं और सामान्य गुण योग विभावादि में रहता है। इस प्रकार भरत के अनुसार विभावादि का लोकधर्मी स्वरूप ही, साधारणीकरण का कारण है। काव्य सौन्दर्य, काव्य गुण, काव्य शक्ति आदि से भावकत्व व्यापार उत्पन्न होता है। भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण व्यापार सम्भव होता है। इससे विभावादि का रूप साधारणीकृत होता है।[1] आलंबन, आश्रय, उद्दीपन, स्थायीभाव, अनुभाव, संचारीभाव का साधारणीकरण होता है। भावना-व्यापार का संबंध कविकर्म से है। भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि कर्म का साधारणीकरण निहित है। भट्टनायक ने विभावादि, विशेष रूप से, आलंबन के साधारणीकरण पर बल दिया है। विभावादि कवि के कर्म के द्योतक हैं। अतः प्रकारान्तर से कविकर्म का साधारणीकरण सिद्ध हो जाता है।

मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में भट्टनायक के साधारणीकरण संबंधी विचार को स्पष्ट किया है। उसमें साधारणीकरण का स्वरूप उपस्थित करने वाले ये शब्द हैं—

'विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी।'

इस पर वामनाचार्य ने यह टिप्पणी दी है—

'अन्य—सम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्ति विशेषाशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणम् तदात्मना।'

इसका तात्पर्य यह है : साधारणीकरण भावकत्व व्यापार में सन्निहित है। यही भावकत्व का स्वरूपाधायक है। भावकत्व व्यापार से स्थायी का साधारणीकरण (भाव्यमानः—साधारणीक्रियमाणः) होता है। भावकत्व व्यापार का स्वरूप है विभाव, अनुभाव और संचारी का साधारणीकरणात्मक रूप (विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण) अर्थात् साधारणीकरण विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी—चारों का होता है। इनमें से विभाव, अनुभाव, संचारी का साधारणीकरण पहले सम्पन्न हो जाता है। अन्ततः स्थायीभाव का साधारणीकरण

१. निबिड़निज मोह संकट तानिवारण कारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मक, अभिधातों द्वितीये नांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसः। [अभिनव भारती : भट्टनायक संबंधी विवेचन]

हो जाता है। स्थायी भाव का साधारणीकरण प्रथम तीन के साधारणीकरण का ही फल है। विभावादि की संयोजना कवि-कर्म में सम्मिलित है। इसीलिए साधारणीकरण में **आलंबन** पर अधिक बल देकर भट्टनायक कवि की 'कारयित्री प्रतिभा' पर विशेष बल देते हैं।[1]—भट्टनायक ने यह भी कहा है कि सहृदय कवि-निरूपित विभावादि के सामान्यीकृत रूप को अपनी अनुभूति का विषय बनाता है। उसी समय उसके हृदय में सत्वोद्रेक होता है। इस प्रकार सहृदय भी साधारणीकरण के व्यापार में सम्मिलित है। सहृदया को सम्मिलित करके भट्टनायक ने साधारणीकरण के क्षेत्र को विस्तृत किया है। इस प्रकार कवि, सहृदय, और विभावादि का साधारणीकरण होता है। परन्तु भट्टनायक ने विभावादि के साधारणीकरण पर विशेष बल दिया है।

१ २. अभिनव गुप्त—

भट्टतौत अभिनव गुप्त के गुरु थे। उन्होंने भी साधारणीकरण पर विचार किया। साधारणीकरण में इन्होंने सहृदय, आलंबन, कवि के साधारणीकरण को स्वीकार किया है।[2] अभिनव गुप्त का भी यही मत है: विभावादि के साथ सहृदय, कवि का भी साधारणीकरण माना गया है। एक अन्तर भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त में है: भट्टनायक ने सामाजिक के ऊपर विशेष बल दिया है। भट्टनायक के साधारणीकरण के तात्विक स्वरूप में तो इन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया। पर दोनों की प्रक्रिया में सामान्य सा अन्तर है। भट्टनायक के अनुसार, सहृदय-सामाजिक को विभावादि की प्रतीति साधारणतया होती है। न तो वह यही समझता है कि इनके साथ मेरा या किसी का सम्बन्ध है और न यही समझता है कि सम्बन्ध नहीं है। यही 'वीत विघ्न प्रतीति व्यापार' का रहस्य है। अभिनव गुप्त के अनुसार रस "सर्वथा बीत विघ्न प्रतीति ग्राह्यः" है। साधारणीकरण को बाधित करने वाले विघ्नों का संबंध उन्होंने सहृदय से माना है।[3] विभावादि के साधारणीकरण के उपरान्त सामाजिक के हृदय का स्थायीभाव भी वैयक्तिक सीमा में निबद्ध नहीं रहता: वह भी व्यक्तित्व-सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। जब सामाजिक का रत्यादि स्थायी भाव व्यक्तिगत नहीं रहता तब सांसारिक लज्जा और संकोच जैसी बाधक वृत्तियाँ भी तिरोहित हो जाती हैं। व्यक्तिगत सीमाओं से बाहर निकल कर भाव असीम और सात्विक हो जाता है। सामाजिक इसी रूप में उसका अनुभव करता है। ब्रह्मास्वाद सहोदर रस

---

१. 'तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनंनाम्'
[सटीक लोचन, द्वितीयोद्योत]

२. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्येत।
नायकस्य कवेः श्रोतु समानुभवस्तथा॥ भट्टतौत॥

३. अत्र तु स्वात्मैक गतत्व नियमासंभवात (नविषयावेश वैवश्यम) स्वात्मानु प्रवेशात् परगतत्व नियमाभावात् (न ताटस्थ्यस्फुट त्वम्) तेद्विभावादि साधारणीवेश संप्र बुद्धोचित् निज रत्यादि वासना वेश वशाच्चन विघ्नान्तरादीनां संभवः इत्यवोचामबहुशः"
[अभिनव भारती]

का लक्ष्य ही मानव-मन में सत्त्वोद्रेक करके उसे सात्त्विक बनाना ही है। इस प्रकार प्रथम विभावादि का तथा परिणामतः स्थायीभाव का साधारणीकरण यद्यपि भट्ट-नायक और अभिनव गुप्त दोनों को स्वीकार्य है फिर भी भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व व्यापार को अनावश्यक मानकर उनका निराकरण अभिनवगुप्त ने किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यापार शब्द के न होकर सामाजिक के हैं। अर्थ की दृष्टि से ये विभावादि में ही निष्ठ हैं। उदाहरण के लिए सामाजिक शकुन्तला रूप विभाव की भावना करता है, इसलिए भावकत्व का अर्थ स्वयं ही उसमें उपस्थित है। इसी प्रकार जब सामाजिक का स्थायी भाव अलौकिक आनन्द के रूप में परिणत होता है, तो वह सामाजिक के लिए उपभोग स्वरूप है। अतः भोजकत्व व्यापार मानना भी अना-वश्यक ही है। इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि जहाँ भट्टनायक का साधारणी-करण सामाजिक के भावकत्व व्यापार के भीतर समाविष्ट था, वहाँ अभिनव गुप्त ने उसे विभावादि के स्वरूप में प्रतिष्ठित कर दिया। विभावादि, कविकर्म और शब्द-व्यापार के अन्तर्गत है। अतः साधारणीकरण शब्द-शक्ति या व्यञ्जना की सीमा में चला गया। यही दोनों में मौलिक अन्तर है।

१· ३. अन्य परवर्ती आचार्यों का–मत—

दशरूपककार धनञ्जय ने भी विभाव, अनुभाव, सञ्चारी तथा स्थायी सभी का सामान्य होना बतलाया है [१] कवि कर्णपूर भी सभी के संश्लेषण पर बल देते हैं। मम्मट ने सम्बन्ध-विशेष के त्याग, निर्वैयक्तीकरण अथवा असाधारण का साधारणी-कृत होना ही साधारणीकरण माना है। मम्मट भी विभावादि के साधारणीकरण पर विशेष बल देते हैं।

विश्वनाथ ने विभावादि[२], स्थायीभाव[३] तथा सामाजिक के साधारणीकरण की चर्चा की है। साथ ही उन्होंने आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की भी चर्चा की है।[४] विश्वनाथ ने भी अभिनवगुप्त-सम्मत साधारणीकरण-प्रक्रिया को ग्रहण किया है। उसको इन्होंने और भी स्पष्ट किया है। पहले विभावादि और तत्पश्चात् स्थायी भाव के साधारणीकरण का क्रम इन्होंने भी स्वीकार किया है। मेरे और तेरे के अभाव से विलक्षण विभावादि अलौकिक हो जाते हैं। इससे रस भी अलौकिक होता है।[५] विभावादि में संलग्न 'आदि' अनुभावों का भी बोधक है। पर अनुभाव के साधारणीकरण पर इन्होंने स्वतंत्र विचार व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह भी है कि आश्रय का भी साधारणीकरण होता है। आश्रय की चेष्टाएँ ही तो अनुभाव

---

१. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादि प्रतिपादकः। विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्यते। किं तर्हिसर्वलोक साधारणीः स्वोत्पेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रय-मात्रदायिनी नीर्विदधति [दशरूपक, श्लोक ४० एवं कारिका]

२. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।

३. साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।

४. प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। [साहित्य दर्पण]

५. 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदा स्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।

हैं।[1] वीर रस प्रेरित होकर समुद्रोल्लंघन करते हुए हनुमान (आश्रय) के साथ सामाजिक का साधारणीकरण होता है। अन्तर केवल इतना है कि यह अनुभाव का साधारणीकरण तादात्म्यमूलक या अभेदमूलक होता है (तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते)। विभाव के साधारणीकरण की भाँति विषयमूलक नहीं।

शंका समाधान : स्पष्टीकरण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्य प्रायः विभावादि के अन्तर्गत आश्रय, आलंबन, उद्दीपन, स्थायी तथा सहृदय सभी का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। वे लोग समाज-रक्षक पात्रों के उचित क्रोध तथा रावण, परशुराम, कुम्भकर्ण आदि के भावों में भी रौद्र और वीररस के परिपाक की शक्ति मानते हैं। मम्मट ने हनुमन्नाटक के मेघनाद की 'क्षुद्राः संत्रासमेते' उक्ति को वीर रस के अन्तर्गत स्वीकार किया है। तुलसी के हनुमान से आतंकित राक्षसों के पलायन में आलोचक भयानक रस मानते हैं। भानुदत्त ने रावण से संत्रस्त देवताओं में भयानक रस की स्थिति मानी है। इस प्रकार परपक्ष में भी क्रोध और वीर रस का परिपाक आचार्यों को स्वीकार्य है। यदि यहाँ साधारणीकरण नहीं होगा, तो विपक्षियों के कारण रस की सृष्टि भी सम्भव नहीं।

अब प्रश्न सामाजिक का है। क्या भिन्न जाति, वय, लिङ्ग, देश, काल के सामाजिकों को—किसी नाटक या काव्य-विशेष से एक सा रस प्राप्त हो सकेगा ? किसी मुसलमान बादशाह के हिन्दुओं पर अत्याचार के कर्म से क्या हिन्दू और मुसलमान एक सा ही भाव-रस प्राप्त करेंगे ? भक्त पर नास्तिक असुर का अत्याचार देखकर क्या नास्तिक और आस्तिक सामाजिक एक सा ही अनुभव करेंगे ? उत्तररामचरित में राम शूद्र मुनि का हनन करते हैं। क्या इसमें शूद्र और ब्राह्मण को एक सा रस मिलेगा ? रसवादी इन प्रश्नों का उत्तर यही देगा कि भेद में अभेद सिद्ध करने वाले साधारणीकरण की शक्ति से सभी सामाजिक एक-सा ही अनुभव करेंगे। यदि ये भेद बने रहे और सामाजिकों के भाव में अन्तर आ गया, तो काव्य-रस की अलौकिकता सिद्ध नहीं होगी। इन सभी प्रश्नों का समाधान संस्कृत के आचार्य चार आधारों पर करते हैं : वासना, सत्वोद्रेक, सहृदय की योग्यता तथा औचित्य। सभी प्राणियों में समान रूप से वासनाएँ तथा मूलवृत्तियाँ प्रकृतिबद्ध हैं। इन समान प्रवृत्तियों के आधार पर सभी एक भाव-भूमि पर आ सकते हैं। हाँ, इनमें से वृत्तियों की प्रमुखता या गौणता हो सकती है। इस अंतर के कारण भूमियों में अन्तर आ सकता है। स्वभावगत विरोध का निराकरण सत्व के द्वारा होता है। सत्वोद्रेक से विरोधों का समाहार हो जाता है। सत्व प्रकृति-प्रदत्त भी है, तथा अभ्यास से अर्जित भी किया जा सकता है। यहीं सहृदय की योग्यता का तत्त्व आ जाता है। उसकी योग्यताओं में काव्यानु-

१. व्यापारोस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधि प्लवनादयः प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादि समुद्बोधः साधारण्याभिमानतः। नृणामपि समुद्रादि लंघनादौ न दुष्यति।

शीलन, अभ्यास आदि आते हैं। सत्व से हृदय का कलुष धुल जाता है। तत्पश्चात् सामाजिक औचित्य की भूमि पर जाता है। "सत्वशील व्यक्ति किसी को अपना शत्रु या मित्र नहीं मानता, अपितु उचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले सभी व्यक्तियों के साथ एक रस हो जाता है और कष्ट पाते हुए सभी प्राणियों पर अपनी दया-करुणा और ममता की वर्षा करता है। मानवीय स्वभाव को भली प्रकार देखेंगे तो कह सकते हैं कि सत्वोद्रेक और साधारणीकरण की यह कथा उदात्त मानवता की कथा है।"[1] इस प्रकार सत्व सामाजिक को औचित्य तक ले जाता है। रसास्वाद के विघ्नों पर विचार करते हुए संस्कृत के आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि पर्याप्त संस्कार के पश्चात् भी रसास्वाद को बाधित करने वाले कुछ विघ्न कवि या पाठक में रह जाते हैं। क्षेमेन्द्र ने वैयाकरणों और दार्शनिकों को रसास्वाद में अक्षम बताया है। धार्मिक कथाओं में यदि कुछ आदर्श-विरोधी परिवर्तन कर दिया जाय, तो परम्परा-निष्ठ सामाजिक विघ्न से पीड़ित होकर रसास्वाद में असमर्थ रहेगा। भरत मुनि ने इसी मानवीय सत्य को ध्यान में रख कर लिखा है कि भिन्न शील और प्रकृति के व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न रूप में रसास्वाद होता है। शूर, वीभत्स, रौद्र तथा वीर का; बालक, मूर्ख एवं स्त्रियाँ हास्य का, तरुण या कामी शृङ्गार का, तथा विरागी शान्त के आस्वादन में समर्थ होंगे।[2] इससे रसास्वाद में न्यूनाधिकता आ सकती है, पर प्रदर्शित भाव के विपरीत रस नहीं आ सकता। न्यूनाधिकता को अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार किया है।[3] तमस-प्रधान व्यक्ति राक्षसादि के क्रोध का भी आस्वाद लेने लगते हैं। उसे भी आस्वाद ही कहना चाहिए।[4] किन्तु यह प्रकृति संस्कृत व्यक्तियों की नहीं होती।

इस प्रकार हम साधारणतः किसी कार्य के औचित्य को ध्यान में रखकर ही भाव को आस्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं। कवि काव्य के प्रधान पात्र के गुणादि के द्वारा ही रस का पोषण करना चाहता है। यह एक केन्द्र है जिसकी ओर काव्य के सभी भाव और रस प्रेरित होते हैं। प्रतिपक्षी के भाव भी कभी-कभी रस-दशा तक पहुँचते हुए प्रतीत होंगे परन्तु वे क्षणिक होंगे और दूसरे ही क्षण मुख्य पात्र के किसी भाव से निष्पन्न रस के संचारी मात्र रह जायँगे। प्रभाव और स्थिति दीर्घकालिक न

---

१. डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० १२२
२. नाट्यशास्त्र : भरत मुनि [२७।५५–६२ चौखम्बा प्रकाशन]
३. न ह्न्येतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्त-वृत्तिः काचिदूना, कस्यचिदुचित विषय नियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा। तत्कदाचिदेव-पुमर्थो पयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभागकृतश्च उत्तमादिप्रकृत्यादि व्यवहारः। [अभिनव भारती, १]
४. 'ननु सामाजिका नाम् तथा भूत राक्षसादि दर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः। उच्यते... हृदय संवाद आस्वादः। क्रोधे च हृदय संवादः तामस प्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति मानवादिसदृशाः तन्मयीभूताः एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किंचिद वद्यम्' [अभिनव भारती]

होने से आस्वाद नहीं हो सकता । ये क्षणिक प्रभाव प्रधान पात्र पर आधारित रस के आस्वाद के सहायक साधन मात्र बन जायँगे । अनौचित्य के कारण रस-दशा को प्राप्त न होकर भी वे मुख्य रस के सहायक ही होंगे । किसी उत्कृष्ट पात्र द्वारा प्रतिपक्षियों में उत्पन्न करुणा, सुसंस्कृत प्रेक्षकों को विकल नहीं बना सकती । इससे आनन्द में ही वृद्धि होती है ।[1]

इस प्रकार साधारणीकरण समस्त विभावादि का होता है । आलम्बन और आश्रय विशिष्ट व्यक्तित्व के केंचुल को उतार कर सामान्य पुरुष या स्त्री बन जाते हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं कि राम के भाव की आलंबन सीता सभी की पत्नी हो जाती है । इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसे देखकर सहृदय को पत्नीत्व का बोध होता है । सहृदय के मन में एक ऐसा सामान्य भाव उत्पन्न हो जाता है कि पत्नी का रूप यह है । अतः तादात्म्य नहीं साधारणीकरण होता है । तादात्म्य मानने पर सीता को पत्नी रूप में देखना होगा । इस प्रकार तादात्म्य और साधारणीकरण को एकार्थक नहीं मानना चाहिए । यहाँ एक और रस-संकट उपस्थित हो सकता है । तादात्म्य होने पर राम की रति सीता के प्रति और सीता की रति राम के प्रति क्रमशः पुरुष और स्त्री को आनन्दित कर सकती है । 'सकल-सहृदय-संवादभाजा रति' की स्थिति नहीं रह सकती । इस प्रकार स्वयं सामाजिक भी साधारणीकृत रूप में उपस्थित होता है ।

विभावादि के वर्णन में कवि को सावधान रहना चाहिए । यदि वर्णन में कवि-कर्म असावधान रहा तो विघ्न उपस्थित हो जायगा और साधारणीकरण नहीं हो सकेगा । किसी भी प्रकार का विघ्न रसास्वाद को बाधित कर सकता है । सहृदय के मन के सुदृढ़ पूर्वाग्रह भी रसास्वाद में बाधक बन सकते हैं ।

२. हिन्दी के आचार्य

२·१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्ल जी कवि, सहृदय , पात्र और भाव सभी का साधारणीकरण स्वीकार करते हुए भी आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं और उसी को महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वे आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं । आश्रय के साथ तादात्म्य की भी वे चर्चा करते हैं । उनका कहना है कि काव्य में वर्णित आलम्बन तो विशेष ही होता है । पर कवि उसे ऐसे रूप में चित्रित करता है कि आश्रय के भाव के आलंबन के समान ही वह सहृदय के भाव का भी उसी रूप में आलम्बन बन सके । कभी-कभी ऐसी स्थिति नहीं आती फिर भी उस स्थिति के अभाव में एक प्रकार का साधारणीकरण होता है : इसमें कवि के भाव से हमारा तादात्म्य होता है । ऐसे स्थल पर कवि शील-निरूपक के रूप में रहता है । इसलिए आश्रय के लिए जो आलम्बन है, वही सहृदय का भी आलम्बन नहीं बनता । आश्रय के प्रति ही हमारा कोई न कोई ऐसा भाव उदय होता है जो उसके प्रति कवि में रहता

१. आनन्द वर्धन, हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ३०६

है। यह रस की मध्यम कोटि है। काव्य में इसका भी महत्त्व है। कवि सदैव ही विभावादि की पूर्ण योजना करके पूर्ण रस-परिपाक का ही प्रयत्न नहीं करता : वह चरित्रों को स्फुट रूप में भी प्रस्तुत करता है। शुक्ल जी के साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों की यही संक्षिप्ति है।

साधारणीकरण के स्वरूप को उन्होंने इस प्रकार समझाया है : "विभावादि-सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि ये आलम्बन मेरे हैं या दूसरे के। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"[१] रस की अनुभूति का एक लक्षण उन्होंने दिया है—अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार।[२] इसी को पाश्चात्य समीक्षा में अहं का विसर्जन या निःसंगता (Impersonality या detachment) कहा जाता है। इसी अवस्था में रस का लोकोत्तरत्त्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व संभव है। 'अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से संबंध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं है।[३] "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं रहती।"[४] "इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"[५]

"साधारणीकरण स्वरूप का होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं।"[६] उन्होंने यह भी माना है कि "साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।"[७] विशेष और सामान्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है : "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, सामान्य नहीं। वह व्यक्ति को सामने लाता है, 'जाति' को नहीं।"[८] इस प्रसंग में काव्य के धर्म एवं कवि-कर्म को भी उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है — निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिंब' (Image) या मूर्ति-भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं। बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा। सामान्य या जाति का नहीं।"[९] भारतीय परम्परा भी यही रही है : "भारतीय काव्य-

१. रस मीमांसा, पृ० २६६-६७
२. वही, पृ० २७०
३. वही, पृ० २६६
४. वही, पृ० २७०
५. वही, पृ० ३१२
६. वही, पृ० २६८
७. वही, पृ० २६६
८. वही, पृ० ३१०
९. वही, पृ० ३१०

दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ काव्यों में आते रहे हैं।"[1] इस दृष्टि से साधारणीकरण का रूप यह होगा : "विभावादि साधारण-तया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यत: व्यक्तिमात्र या वस्तुमात्र-जाति-के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"[2] वे एक और स्थिति की ओर संकेत करते है : "कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पनाओं में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है।"[3]

शुक्ल जी ने रस को दो कोटियों में विभक्त कर दिया है : "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता या पाठक और आश्रय—भावव्यंजना करने वाला पात्र—के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है। ......पर रस की एक नीची अवस्था और है, जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। ......किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता या दर्शक के किसी भाव का......आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यञ्जना पात्र अपने आल-म्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यञ्जना करने वाले पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी रस-दशा ही है। ......पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"[4]

"इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है।"[5]

कवि कर्म के विषय में उनकी मान्यता है कि : "विशेष का चित्रण करने में भी 'भाव' के विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधा-रणीकरण हो सकता है।"[6] "पात्र द्वारा भाव की व्यञ्जना करने में कवि के दो

१. रस मीमांसा, पृ० ३२२
२. वही, पृ० ३११-३१२
३. वही, पृ० २६६
४. वही, पृ० ३१४
५. वही, पृ० ३१४
६. वही, पृ० ६०

रूप होते हैं—सहज और आरोपित। यदि व्यञ्जित किये जाने वाले भाव का आलम्बन सामान्य है—तो समझना चाहिए कि कवि उसे अपने सहज रूप मे प्रकट कर रहा है—जसे रावण के प्रति राम का क्रोध। यदि व्यञ्जित किया जाने वाला भाव ऐसा नही है, तो समझना चाहिए कि वह उसे आरोपित रूप में प्रकट कर रहा है, जैसे राम के प्रति रावण का क्रोध। आरोपित भाव कवि अनुभव नहीं करता, कल्पना द्वारा लाता है।"[1] यही आरोपित दशा की अनुभूति मध्यम रस-दशा है। यह भी आवश्यक नहीं कि कवि सदा पूर्ण रस की योजना करे। पर "जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय होना चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में, और फिर श्रोता या पाठक में।"[2] इसके लिए कवि को कला-निपुण और सहृदय होना चाहिए।"[3]

आलोचना—

श्री रामदहिन मिश्र ने 'काव्य दर्पण' में शुक्ल के उक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है: "आलंबन पर इतना अधिक वल ही शुक्ल जी के विचारों की उलझन का कारण है। क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब? ......अतः केवल आलम्बन का ही नहीं, सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।"[4] पर यह आलोचना अपूर्व और एकाङ्गी है। शुक्ल जी ने सभी का साधारणीकरण मानते हुए भी आलम्बन पर मात्र बल दिया है।[5]

दूसरी आपत्ति आश्रय के साथ तादात्म्य की है। यहाँ तादात्म्य शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त है। इसके आधार पर तो राम-प्रिया, विश्व-प्रिया बन जायँगी। यदि कल्पना में अपनी प्रेयसी आ जाती है, तो भी साधारणीकरण बाधित होगा: उसके साथ स्व-सम्बन्ध अलौकिक स्थिति को उत्पन्न नहीं होने देगा। व्यक्ति-विशिष्टता यहाँ नष्ट नहीं होती। आरम्भिक स्थिति में व्यक्ति-वैशिष्ट्य का ध्यान अवश्य रहता है, पर यह स्थिति क्षणस्थायी होती है।

कवि के सम्बन्ध में उनकी धारणा सर्वमान्य है। कवि अपनी अनुभूति को सामाजिक तक प्रेषित करके ही आत्म-प्रसारण का सुख अनुभव करता है। अपने कर्तृत्व के कारण वह कवि है: अन्यथा वह सहृदय ही है—'कविस्तु सामाजिक तुल्य एव। कवि को 'लोकहृदय की पहचान' भी आवश्यक है।

नट के संबंध में शुक्ल जी ने कोई विचार उपस्थित नहीं किया। प्रसाद जी ने कहा है कि नटों में भी रसानुभूति मानी जाती है और वह सम्भव भी है। पर यह

---

१. रस मीमांसा, पृ० ६१

२. वही, पृ० ६६

३. वही, पृ० ६६

४. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृ० १७१

५. "भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामञ्जस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।" रस मीमांसा, पृ० २६७

विषय विवादास्पद । कवि, नट और सहृदय में अन्तर है। कवि और सहृदय तो उद्देश्यतः समान हैं। नट अपने को उसी पात्र में ढाल लेता है । चाहे नट अपने व्यक्तित्व से निरपेक्ष हो जाय, पर वह एक पात्र विशेष से बँध जाता है। वह दूसरे पात्र के भावों का उन्मुक्त आस्वादन नहीं कर सकता।

आश्रय के साधारणीकरण का शुक्ल जी खण्डन तो नहीं करते, पर अपने विवेचन में इसको उन्होने स्थान नहीं दिया। वास्तव में आलम्बन के विषयमूलक साधारणीकरण होने पर आश्रय के साथ सामाजिक का तादात्म्यमूलक साधारणीकरण अनिवार्य रूप से स्वयं ही सम्पन्न हो जाता है। अतः उसका पृथक् से अनुमोदन करना या न करना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

जो नवीन बात शुक्ल जी ने कही है, वह है आश्रय के आलम्बन के रूप में बदल जाने की। यह परिस्थिति आश्रय के साथ सामाजिक का तादात्म्य न हो जाने पर होती है। आश्रय सामाजिक के किसी भाव का आलम्बन बन जाता है। जब आश्रय स्वयं आलम्बन बन गया, तो आश्रय के लिए किसी अन्य पात्र की वह प्रतीक्षा करेगा। इसका कारण यह है कि रस-प्रक्रिया में सामाजिक को आश्रय की सदैव आवश्यकता रहती है। शुक्ल जी ने इसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया है। एक निर्दय व्यक्ति एक निरपराध पर क्रोध की व्यञ्जना कर रहा है। इस अवस्था में सामाजिक आश्रय के साथ तादात्म्य करके, उस निरपराध को अपने क्रोध का आलम्बन नहीं समझ सकता। स्वयं आश्रय सामाजिक के क्रोध का आलम्बन बन जायगा। यदि कोई अन्य पात्र आकर सामाजिक के क्रोध की व्यञ्जना कर देगा तो सामाजिक का तादात्म्य उसके साथ होगा। यदि कोई दूसरा पात्र आकर क्रोध की व्यञ्जना नहीं करता, तो कवि की भावना के साथ सामाजिक का तादात्म्य होगा। इस प्रकार की स्थिति हमारे यहाँ भाव अथवा भावाभास के अन्तर्गत रखी गई हैं। पर साधारणीकरण के साथ इसकी चर्चा करना शुक्ल जी के मौलिक चिन्तन का परिणाम है। यह चर्चा मौलिक होते हुए भी अशास्त्रीय नहीं है। इस विचार के स्रोत के सम्बन्ध में डा० रामलाल सिंह ने लिखा है : "साधारणीकरण की मध्यम स्थिति के आविष्कार में शुक्ल जी के ऊपर दो मान्य ग्रंथों, विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शैन्ड के 'फाउन्डेशन आफ कैरेक्टर' का प्रभाव जान पड़ता है। भाव विवेचन में शील, दशा की बात उन्हें शैन्ड की पुस्तक से प्राप्त हुई। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात उन्हें 'साहित्य-दर्पण' से मिली। 'साहित्य-दर्पण' में वर्णित आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य वाली बात पर गम्भीरता से सोचने के कारण उसकी अपवादीय स्थिति का आविष्कार उन्होंने किया। आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली इस स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति मात्र के साथ सहृदय के तादात्म्य होने पर भाव-विवेचन में शैन्ड की शील-दशा का उपयोग करने के कारण उक्त स्थिति में सहृदय को शीलद्रष्टा के रूप में निरूपित कर उन्हें साधारणीकरण के मध्यम कोटि की बात सूझी।" शुक्ल जी के

इस विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उन्होंने तादात्म्य मूलक साधारणीकरण को स्वीकार किया है।

डा० नगेन्द्र—

'रस-सिद्धान्त' से पूर्व डा० नगेन्द्र ने 'रीति काव्य की भूमिका' में साधारणीकरण पर विचार किया है। उन्होंने संस्कृत के आचार्यों और शुक्लजी का कुछ बातों में खण्डन भी किया है और अपने विचारों की स्थापना भी की है।

डा० नगेन्द्र ने स्वीकार किया है कि साधारणीकरण से शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है। यह कथन सत्य है। आश्रय के साथ तादात्म्य की बात भी नगेन्द्र जी ने स्वीकार की है : "इसका अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है।" शुक्ल जी के अनुसार इसी तादात्म्य पर पुराने आचार्यों ने विचार किया है। यहाँ शुक्ल जी ने पुराने आचार्यों से पृथक् रस की एक नीची कोटि की चर्चा प्रस्तुत की है। डा० नगेन्द्र ने इस कथन से यह तात्पर्य लिया है कि शुक्ल जी के मत में संस्कृत के आचार्यों ने केवल तादात्म्य मूलक साधारणीकरण माना है। इसीलिए उन्होंने कहा : 'इसका संकेत 'विश्वनाथ' में मिलता है।' पर यह सत्य नहीं है। शुक्ल जी यह कहना चाहते हैं कि संस्कृत के आचार्यों ने आश्रय के साथ तादात्म्य वाली एक ही स्थिति की चर्चा की है। दूसरी नीची रस-स्थिति की उन्होंने चर्चा नहीं की।

डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के इस कथन की भी आलोचना की है : "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रह कर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आएगी।" शुक्ल जी के इस कथन का भी नगेन्द्र जी खण्डन करते हैं : "......भट्टनायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते है कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं, क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाश लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आएगा, किन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति का रूप है।" वास्तव में साधारणीकरण में आलम्बन के साथ निज-पर सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। डा० नगेन्द्र को एक विद्वान् का उत्तर यह है : "यहाँ इतना समझना है कि प्रचीन आचार्यों ने रस-प्रक्रिया के भीतर 'इदानींतनी' और 'प्राक्तनी' दोनों प्रकार की वासनाएँ मानी हैं। और वासना को संस्कार भी कहा है। आखिर वासना-रूप से संस्कारों में स्थित कोई भाव जब प्रबुद्ध होता है, उसी को तो रस कहा जाता है। 'इदानीतनी' वासना के भीतर वह संस्कार हमारे इसी जन्म का हो चाहे वह हमारे किसी व्यक्ति-विशेष के साथ प्रेम के

रूप में हो या लोक एवं काव्य-कथाओं के रूप में हो। ......शुक्ल जी भी यही कह रहे हैं और पहले वाक्य में उन्होंने सावधानी से 'संस्कार' और 'कल्पना' शब्द का प्रयोग कर दिया है।"[1]

डा० नगेन्द्र ने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया है। उनके अनुसार साधारणीकरण न आश्रय का हो सकता है और न आलम्बन का। आश्रय के साधारणीकरण का खण्डन करने के लिए वे सीता पर क्रोध प्रदर्शित करते हुए रावण का उदाहरण देते हैं। इस स्थिति में रावण के साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। यह शङ्का शुक्ल जी ने भी उठाई थी। रस के एक नवीन पक्ष (रस की नीची कोटि) का उद्घाटन करके उन्होंने इसका समाधान भी कर दिया था।

आगे उन्होंने किसी पूँजीवादी नायक के साधारणीकरण का खण्डन किया है। उसके साथ भी यही बात लागू होती है। जिस प्रकार रावण सामाजिकों के क्रोध का आलम्बन होता है, आश्रय नहीं, उसी प्रकार पूँजीवादी नायक भी सामाजिक के क्रोध का आलम्बन बनता है।

इस प्रकरण में डा० नगेन्द्र की स्थापनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। आलम्बन के साधारणीकरण को कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते है। सीता-राम का ही उदाहरण देकर उन्होंने कहा है कि जगज्जननी सीता को सामाजिक प्रिया के रूप में नहीं कल्पित कर सकता। नगेन्द्र जी ने इसके लिए एक मार्ग निकाला : "हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसीलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूतियों का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है। ......काव्य में वर्णित सीता वह सीता नहीं है जो हमारी परम्परा-गत पूज्य बुद्धि का प्रतीक है बल्कि वह कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से तादात्म्य कर पायेंगे। ......यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्ट नायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उनके पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए थे।" यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि यदि आलम्बन कवि की अनुभूति का प्रतीक है, तो आश्रय

१. शङ्करदेव अवतरे, 'प्रज्ञा' भाग ३ (१९५९) पृ० १०४-१०५

भी है। अतः आश्रय के साथ साधारणीकरण का भी तात्पर्य कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण ही हुआ।

इसके साथ ही शुक्ल जी भी इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके थे। "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ भाव अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का प्रायः आलम्बन होता है।" हाँ, इतना अवश्य है कि शुक्ल जी कवि के अव्यक्त भाव का साधारणीकरण उसी परिस्थिति में मानते हैं जब कि कवि को स्वयं आश्रय का पद ग्रहण करना पड़ता है। नगेन्द्र जी ने एक नवीन तथ्य दिया कि विषयमूलक साधारणीकरण भी कवि की अनुभूति का ही होता है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि रौद्र, करुण और वीभत्स जैसे रसों में विरोधी आलम्बन होता है जिसके साथ सामाजिक का तादात्म्य नहीं हो सकता, पर विषयमूलक साधारणीकरण होता ही है। सीधी सी बात यह है कि साधारणीकरण दो प्रकार का होता है: विषयमूलक और तादात्म्य मूलक। प्रथम आलम्बन का और द्वितीय आश्रय का साधारणीकरण है। आलम्बन सदा कवि-निबद्ध होता है। आश्रय कवि-निबद्ध कोई पात्र भी हो सकता है और कभी-कभी स्वयं कवि भी। 'आँसू' में प्रसाद जी की प्रेयसी आलम्बन है और आश्रय स्वयं कवि है। इसमें तादात्म्य मूलक साधारणीकरण होगा। कुछ नवीन परिस्थितियों और नायकों के नवीन रूप को ध्यान में रखकर डा० नगेन्द्र ने कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण का मार्ग निकाला है। पर आलम्बन और आश्रय का साधारणीकरण अधिक शास्त्रीय है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—

वाजपेयी जी ने 'नया साहित्य, नये प्रयोग' में एक अनुच्छेद दिया है। उसमें उनका विचार नगेन्द्र जी से भिन्न प्रतीत होता है। उन्होंने साधारणीकरण को यों समझाया है: "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच की भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।" इसके साथ ही उन्होंने पूज्य के प्रति रति-भावना के बहुचर्चित प्रश्न पर लिखा है: "साधारणीकरण के साहित्यिक सिद्धान्त के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। पर प्रश्न यह है कि रचयिता या कवि के लिए भी तो ये देवता या पुण्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दर्शक या श्रोता के लिए। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति

कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती, क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है।"[1]

डा० नगेन्द्र ने कवि की अनुभूति मात्र का साधारणीकरण माना है : वाजपेयी जी ने कवि-कल्पित समस्त व्यापार का साधारणी माना है। वास्तव में सभी पात्रों की संरचना में कवि की मूल प्रवृत्ति और तज्जन्य व्यापार के साथ सहृदय का तादात्म्य होता है। वाजपेयी जी के अनुसार किसी पात्र विशेष के साधारणीकरण पर भी बल देना व्यर्थ है। एक प्रकार से वाजपेयी जी संस्कृत के आचार्यों का ही समर्थन करते हैं। शुक्ल जी और वाजपेयी जी में एक मौलिक अन्तर है : शुक्ल जी सामाजिक की दृष्टि से विचार करते हैं और वाजपेयी जी कवि की दृष्टि से। शुक्ल जी की दृष्टि पहले विषय पर पड़ती है और वाजपेयी जी की कवि-व्यापार पर। शुक्ल जी विषय-मूलक साधारणीकरण को लेकर चले हैं, वाजपेयी जी कवि-व्यापार को। वाजपेयी जी ने जिसे असाहित्यिक दलील माना है, वह समझ में नहीं आती। पूज्य-भाव वाले व्यक्तियों के शृङ्गार पर कुछ आपत्तियाँ की जाती रही हैं। यदि ऐसी रति भावना आती है, तो साधारणीकरण में कुछ बाधा होती ही है। इसीलिए रसाभास की स्थितियाँ मानी जाती हैं। यह सब असाहित्यिक नहीं। यह भी आवश्यक नहीं कि सामाजिक और कवि में किसी पात्र के प्रति समान पूज्य-भाव हो। देश, काल, संस्कार-गत भेद भी हो सकता है। किसी विदेशी सामाजिक में राम-सीता के प्रति इतना पूज्य भाव नहीं हो सकता। सूर अथवा मीरा का कृष्ण के प्रति तथा तुलसी का राम के प्रति जो पूज्य भाव है वह आज के पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित पाठक के मानस पर सम्भव ही नहीं है। कवि का जैसा संस्कार है, उतना ही पाठकों का होना आवश्यक नहीं। भेद के अनुसार साधारणीकरण की भी कोटियाँ हैं।

अंत में हम यही कह सकते हैं कि संस्कृत के आचार्यों ने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है। उनके सिद्धान्त की नवीन व्याख्याएँ भी हुई, पर घूम-फिर कर सब उन्हीं सिद्धान्तों के परिकर में आ जाते हैं। मूल-सिद्धान्तों की व्याख्या तो होती रह सकती हैं, पर इस क्षेत्र में कोई सर्वथा नवीन एवं आधुनिक विचार नहीं दे सका है। संस्कृत के आचार्यों के सिद्धान्तों की संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है। "साधारणीकरण विभाव, अनुभाव और स्थायी का होता है। विभाव के दो पक्ष हैं : आलम्बन और उद्दीपन। उद्दीपन विभाव में आलम्बन की चेष्टाएँ और आलम्बन-बहिर्भूत प्राकृतिक दृश्य आदि आते हैं। वैसे विभाव के इन तीनों रूपों का ही चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि सामाजिक में उद्दिष्ट भाव को उद्दीप्त कर सकें पर अधिक महत्त्व आलम्बन के साधारणीकरण का है। आलम्बन के विपरीत चित्रण होने पर उसकी चेष्टाओं और प्रकृति का चित्रण निरर्थक हो जाता है। अनुभावों का कार्य आश्रय की भावना को प्रदर्शित करना है और आश्रय और सामाजिक के बीच साधारणीकरण सिद्ध करना है। यही अनुभावों का तादात्म्यमूलक साधारणीकरण है।

---

१. नया साहित्य : नये प्रयोग, श्री नन्द दुलारे वाजपेयी

सामाजिक की दृष्टि से आलम्बन और आश्रय का रूप यह बनता है : जिसके प्रति सामाजिक को आकर्षण या विकर्षण हो, वह आलम्बन है। जिसके द्वारा सहृदय को समर्थन प्राप्त हो, वह आश्रय है। आश्रय कभी-कभी पात्र होता है और कभी स्वयं कवि ही आश्रय रहता है। आलम्बन अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही दशाओं में हो सकता है। आश्रय केवल अनुकूल ही होता है। वह आकर्षणात्मक ही होता है, विकर्षणात्मक नहीं। सामाजिक का तादात्म्य आश्रय के साथ ही होता है। तादात्म्य प्रतिकूल से नहीं हो सकता। आश्रय और आलम्बन से साधारणीकरण होने पर स्थायी-भाव भी साधारणीकृत होता है। यह साधारणीकरण स्वात्ममूलक या विषयमूलक होता है। स्थायी भाव भी व्यक्ति-सीमा का अतिक्रमण करके असीम हो जाता है। इस प्रकार (i) आलम्बन का साधारणीकरण विषयमूलक, (ii) आश्रय का तादात्म्य-मूलक और (iii) स्थायी भाव का विषयीमूलक होता है।

काव्य में अलङ्कार

१. अलङ्करण एवं संस्करण वृत्तियाँ
२. अलङ्कार की परिभाषा एवं अर्थोत्कर्ष
३. अलङ्कारों के प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रयोग
वेद-ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, रामायण, महाभारत
४. संस्कृत के अलङ्कार वादी आचार्य
भामह – दण्डी – वामन – उद्भट – रुद्रट – कुन्तक – रुय्यक – जयदेव
५. आचार्यों के सिद्धान्तों का परीक्षण
६. अलङ्कार स्वरूप निर्णय
७. अलङ्कार एवं रस
अलङ्कार एवं गुण
शृङ्गार का रसराजत्व
८. काव्य में अलङ्कारों का औचित्य

भाषा मनुष्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी आविष्कार है। सौन्दर्योपासक होने के कारण मनुष्य में भाषा के प्रति स्वभावतः दो प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है : संस्करण और अलङ्करण। 'संस्करण' का सम्बन्ध भाषा की साधुता, शुद्धता

प्रयोग-वैशिष्ट्य, अर्थगाम्भीर्य एवं भावाभिव्यञ्जन से है और 'अलङ्करण' का सम्बन्ध भाषा की शब्दसामर्थ्य, शक्ति-विकास और सौन्दर्य-व्यवस्था से है। इन दोनों ही प्रतिक्रियाओं को व्यवस्थित और शामित करने के लिए शास्त्रों की रचना हुई। अलंकृत शैली में लिखे पद्यों को पतंजलि ने व्याकरण में उदाहरणों के रूप में दिया है। पर इनके रचयिताओं का नाम नहीं मिलता।[1] वररुचि-रचित काव्य की ओर भी पतंञ्जलि ने संकेत किया है।[2] इससे अलंकृत काव्य शैली की दीर्घ भारतीय परम्परा सिद्ध हो जाती है। वेदों में भी अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ है वैदिक अलङ्कारों का विद्वानों ने गम्भीर परिशीलन भी किया है।[3] ब्राह्मण-साहित्य के कर्त्ता भी अलंकृत शैली की ओर आकर्षित हुए हैं।[4] उपनिषद् साहित्य में भी पर्याप्त अलङ्कार मिलते हैं।[5] पुराण और महाकाव्यों की शैली तो काव्यालङ्कारों से परिपूर्ण ही हैं। अभिजात-संस्कृत-साहित्य में छन्द और अलङ्कारों का प्राधान्य होता गया। इस प्रकार अलङ्कार साहित्य का एक प्रमुख काव्योपकरण होता गया। पुराणों में तो इनका प्रयोग स्वाभाविक था अर्थोद्‌बोध की दृष्टि से ही ये प्रायः प्रयुक्त होते थे। पीछे के साहित्य में सौन्दर्यात्मक उद्देश्य से इनका प्रयोग होने लगा। इनकी व्यवस्था ही कहीं-कहीं लक्ष्य बन गई। इस स्थिति में अलङ्कार से संबद्ध शास्त्र बनना आवश्यक हो गया। वैसे पहले यास्क[6] और पाणिनि[7] ने भी काव्य के उपकरणों पर विचार किया। पीछे इस शास्त्र को सुनिश्चिति मिली और अलङ्कारों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। 'अलङ्कार' शब्द के अर्थ में भी विकास हुआ। अलङ्कारों के वर्गीकरण की दृष्टियाँ भी बदलती गई।

१. परिभाषा और अर्थ विकास—

अलङ्कार एक संयुक्त शब्द है: 'अलम्+कार'। इसमें द्वितीय अंश प्रत्ययवत् प्रयुक्त होकर कर्तृत्व का द्योतन करता है। 'अलम्' शब्द के व्यावहारिक अर्थ में भी परिवर्तन होता रहा है। दण्डी ने अलङ्कार को काव्य-शरीर से भिन्न माना है और काव्य-शरीर का रूप यह है: 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।' काव्य-शरीर उन शब्दों का क्रम-संयोजन है जो काव्यार्थ को अभिव्यक्त करता है। काव्य के 'धर्म' में सौन्दर्य-वर्द्धक तत्त्वों का समावेश उन्होंने किया है। वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य ही कह दिया।[8] आनन्दवर्द्धन के अनुसार 'गुण' काव्यात्मा के सौन्दर्य-विधायक हैं। अलङ्कार

---

१ पातंजल महाभाष्य; नवाह्निक

२ वाररुचं काव्यम्, महाभाष्य ४।३।१०१

३. द्रष्टव्य: Abel Bergaigne, Syntax of the Vedic comparison, (A B O R G, Vol. X N, P. 232-36); H. D. Velankas, Rig-Vedic Sinilos, g BBRA.S Vol, 14, 1938, आदि।

४. कुछ उदाहरण, राजशेखर, काव्य मीमांसा, अध्याय ६।

५. उदाहरण के लिए, छन्दो० ६।८।२; काठक उपनिषद् १।१।३ आदि।

६. वैदिक निघण्टु ३।१३; निरुक्त ३।१३, ३।१८

७. अष्टाध्यायी २।१।५५-५६; २।३।७२; ३।१।१०; ३।४।४५; ४।१।६६; ५।४।९७;

८. काव्यालङ्कार सूत्र, १।२

काव्य के निजी सौन्दर्य की उसी प्रकार वृद्धि करते हैं, जिस प्रकार आभूषण मनुष्य के सौन्दर्य की। साहित्यदर्पणकार ने भी इसी प्रकार की उपमा दी है। इस प्रकार सभी प्रमुख काव्य-शास्त्रियों ने अलङ्कार का सम्बन्ध काव्य-सौन्दर्य से माना है: अलम्=सौन्दर्य। परन्तु आरम्भ में विषय-विचार को सुबोध बनाने के उद्देश्य से अलङ्कार का प्रयोग होता था।[१] पर इसके अन्य अर्थ भी हैं। वैदिक ऋषि ने सम्भवत: अपने कथन को विशद् बनाने के लिए ही अलङ्कार का प्रयोग किया था। शैली की शुद्धता, विशदता, सुबोधता और सुन्दरता के अतिरिक्त प्राचीन धार्मिक साहित्य में 'अलम्' का भिन्न अर्थ भी था।

'अलम्' का एक रूपांतर 'अरम्' भी धार्मिक साहित्य में मिलता है। अलम् के ये अर्थ और मिलते हैं: अलम्=पर्याप्त, (जैसे 'अलम् अतिविस्तरेण'), अलम्=वर्जन (जैसे 'अलम् विषादेन्'), अलम्=क्षमता, सामर्थ्य (अलम् भल्लोमल्लाय) अथवा दैत्येभ्योऽलम् हरि:। इसमें उपयुक्तता का भाव भी है। पालि में भी अलम्-एव =युक्तम्एव मिलता है। वैदिक साहित्य में युक्तता या पर्याप्तता वाला अर्थ ही अधिक लोकप्रिय दीखता है। देवता अग्नि को होतृपद पर अधिष्ठित करते समय कहते हैं: तू वीर्यवान् है, तू अलम् है। उसके पैर नहीं हैं, फिर भी चलने में समर्थ है: 'अलम् एव प्रतिक्रमणाय भवति।' इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे 'अलम्' के योग्यता, क्षमता अथवा उपयुक्तता आदि अर्थ सिद्ध होते हैं।

धर्म के क्षेत्र में इस शब्द की एक और अर्थ-दिशा सामने आती है। प्रत्येक अनुष्ठान से सम्बद्ध मौखिक स्तुतियों का महत्त्व था। शक्ति-गर्भित शब्दों या एक विशिष्ट क्रम में नियोजित शब्द-क्रम अभीष्ट देवता की शक्ति का वर्द्धन करते हैं, यह विश्वास अनुष्ठानिक प्रार्थनाओं के साथ बद्धमूल हो गया। इस शक्ति-वर्द्धन के विश्वास का विकास हुआ और यह भी माना जाने लगा कि देवता इन प्रार्थनाओं से प्रसन्न होता है। साथ ही 'स्तोत्र' के साथ यह भावना भी निबद्ध हो गई कि देवता के शौर्य-कार्यों का व्याख्यान करने से उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। हमारी कामनाएं भी पूर्ण होती हैं। मंत्रों के साथ देवता तथा ऋषि का समायोजन इसी प्रकार होता गया।[२] भारतीय धार्मिक साहित्य में प्रवचन की शक्ति को महान् माना गया है: 'यां कामये तंतम् उग्रं कृणोमि।' देवता वाक्-शक्ति पर जीवित (स्तुति जीवी) बतलाए गए हैं। अथर्व वेद में जादू-टोने से सम्बन्धित प्रसंङ्गों में 'अरंकृत' का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी इसमें शक्तिशाली बनाने का अर्थ ही सन्निविष्ट है। मनुष्य देवों को 'अरंकृत' हवि प्रदान करते हैं। मृत से सम्बन्धित क्रियाओं और मंत्रों में भी अरंकृत का प्रयोग मिलता है। मृत-शरीर को पुष्पादि से 'अरंकृत' किये जाने का विधान है। इसके साथ यह विश्वास था कि उसे यमराज्य में प्रवेश करने की योग्यता इस

१. 'Syntax of the Vedic comparison, A B O R J, XVI, PP. 232-36

२. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां आर्थं पत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः समंत्रो भवति—यास्क-निरुक्त

अलङ्करण से प्राप्त होती है। छान्दोग्य उपनिषद् का एक उदाहरण लिया जा सकता है: 'प्रेतस्य शरीरंभिक्षया वसने ना लङ्कारेणेति सत्कुर्वन्ति, एतेनह्न्य अमं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।' मनुस्मृति में एक अनुज्ञा मिलती है: दो वर्ष का होने से पूर्व ही यदि किसी बालक की मृत्यु हो जाय तो सम्बन्धी उसे बाहर ले जायँगे। उसे पुष्प मालाओं से सजायेंगे तथा पवित्र-भूमि में गाड़ देंगे। पर मनुस्मृति में ही सौन्दर्योपकरण के रूप में भी 'अलङ्कार' का प्रयोग मिलता है: स्त्रियाँ आभूषणों से प्रेम करती हैं। महाभारत में भी 'कन्या: स्वलंकृत;' (५।१७३।१२) तथा 'गणिका: स्वलंकृता:, (४।७८।२०६) जैसे उल्लेखों में सौन्दर्य वाला ही अर्थ व्यक्त है।

शब्दों के साथ भी 'अलङ्कार' का प्रयोग मिलता है। रामायण में 'वाच: संस्कारालंकृत शुभम्' जैसे प्रयोग मिलते हैं। इसमें भाषा के दोनों विशेषण 'संस्कृत' और 'अलंकृत' मिलते हैं। आरम्भ में काव्य या प्रगीत देवों को समर्पित होते थे। इसलिए भाषा को देवता द्वारा स्वीकृत कराने की योग्यता का भाव भी इसमें हो सकता है। अनलंकृत भाषा देव को स्वीकार्य नहीं, यह भी विश्वास था। धार्मिक क्षेत्र वाला यह अर्थ पीछे काव्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गया तथा मात्र सौन्दर्योपकरण के रूप में इस शब्द का अर्थ संकुचित हो गया। जब तक काव्य धार्मिक अनुष्ठानों से विच्छिन्न नहीं हुआ था, तब तक काव्य के साथ भी 'अलङ्कार का प्रयोग सम्मोहन और देवता द्वारा ग्रहण किए जाने की योग्यता प्रदान करने वाले उपकरणों के रूप में ही होता था। कालान्तर में देवता के स्थान पर 'सामाजिक' आगया। उसके आस्वाद के योग्य भाषा को बनाने वाले उपकरण ही अलङ्कार हो गए।

काव्य के लिए अलङ्कारों की अपेक्षा—

काव्य के लिए एक विशेष प्रकार की 'भाषा' की आवश्यकता होती है जिसमें सामान्य दैनन्दिन प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा चमत्कार हो। भाषा जब विशेष तर्क-पूर्ण और सुनिश्चित रूप में विकसित हो जाती है, तो काव्य के लिए अपनी उपयुक्तता खो बैठती है। उसकी कल्पना के पङ्खों पर तर्क और परिनिष्ठित व्यवस्था के बोझिल पत्थर लटक जाते हैं। भाषा की आरंभिक स्थिति में काव्य के लिए उपयुक्तता अधिक रहती है। 'शेली' ने इसीलिए कहा था, अपने मल स्रोत के निकट हर भाषा एक कविता है। जब भाषा विकसित अवस्था में होती है तो उसे काव्य के लिए उपयुक्त बनाने के लिए अलङ्करण की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। कवि विस्तृत अर्थ में भाषा को अलंकृत किए बिना अपने कवि-कर्म में सफल नहीं हो सकता। भाषा की दृष्टि से कवि की प्रक्रिया आदिम-स्थिति की ओर जाने की होती है। सूक्ष्म अर्थों के के स्थान पर बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान, चित्रात्मकता और मूर्तता की स्थापना करके कवि, भाषा को कविता के उपयुक्त बनाता है। मानवीकरण भी एक आदिम प्रक्रिया ही है। इसका सम्बन्ध 'एनीमिज्म' से है। मानवीकरण आदिम अवस्था में एक यथार्थ कल्पना थी। वह आज एक अलङ्कार बन गया है।

भाषा के अलङ्कार की अनुभूति मूलक आवश्यकता भी है। कवि की अनुभूति

कुछ विशिष्ट क्षणों में उत्तेजित अहं की तीव्र हलचल से सम्बद्ध है। इस अनुभूति के विस्तार और इसकी गहराई के साथ साथ इसमें अभिव्यञ्जना के लिए एक उद्दाम लालसा रहती है। पर अभिव्यञ्जना सामान्य व्यावहारिक भाषा के द्वारा सम्भव नहीं होती। तब, कवि को भाषा और शब्दों की शक्ति और उनकी स्फीति की सम्भावना की खोज करनी होती है। इन शक्तियों के द्वारा शब्दों की व्यञ्जना की क्षमता बढ़ जाती है। शब्दों के नवीन संयोगों के द्वारा अनुभूत्यात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। इसी आवश्यकता में अलङ्करण का महत्त्व अन्तर्निहित है। इसके साथ ही प्रेषण के साधन की सौन्दर्यात्मक आवश्यकता भी संलग्न है। 'अलम्' को पूर्णता के रूप में ग्रहण करके किसी संस्कृत आचार्य ने अलङ्कार का निरूपण नहीं किया। पर हिन्दी में ग्वालकवि ने इसी अर्थ में ग्रहण करके अलङ्कार की महिमा का गायन किया है—

कविता भूषन कहत है, अलङ्कार बहु जान।
अलम् भापियत पूर्न को, पूरि रह्यौ अषरान॥
हेमादिक भूषनन को, ग्रहन उतारन होत।
ये भूषन तन-मन दिपत, होत न जुदौ उदोत॥

अलङ्कारों की लोक-प्रियता लगभग आदि काल से चली आ रही है। संस्कृत-साहित्य में तो अलङ्कारवादी सम्प्रदाय ही बन गया जिसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी साहित्य के रीतिकाल पर परिलक्षित होता है।

संस्कृत के अलङ्कारवादी आचार्य—

अलंकारवादी विशिष्ट आचार्यों की सूची इस प्रकार है—

भामह	काव्यालङ्कार	छटवीं शती
दण्डी	काव्यादर्श	सातवीं शती
वामन	काव्यालङ्कार सूत्र	आठवीं शती
उद्भट	काव्यालङ्कार सारसंग्रह	आठवीं शती
रुद्रट	काव्यालङ्कार	नवीं शती
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित	११ वीं शती
रुय्यक	अलङ्कारसर्वस्व	१२ वीं शती
जयदेव	चन्द्रालोक	

भामह को संस्कृत-काव्य-शास्त्र का पितामह कहा जाता है। इन्होंने ही सर्व प्रथम नाट्शास्त्र से स्वतंत्र काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठा की। रस-सिद्धान्त नाट्यशास्त्र का मूल सिद्धान्त था। भामह ने काव्य का अनिवार्य तत्त्व अलङ्कार ही माना। भामह ने कहा : कान्त-वनिता-मुख भूषणों से रहित पूर्ण शोभित नहीं होता, उसी प्रकार काव्य भी अलङ्कारों से रहित शोभा नहीं पाता।[1] दण्डी ने भी अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व माना। इन्होंने 'गुण' को भी अलङ्कार माना[2] और रस, भाव आदि को भी

१. काव्यालङ्कार, १।१३; ३।५८
२. काव्यादर्श, २।३; ५,३६७

अलङ्कारों के अन्तर्गत रखा।[1] यही नहीं ४ वृत्तियों, नर्मतत् आदि १६ वृत्यङ्गों, भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा अन्य नाट्यालङ्कारों को भी इन्होंने अलङ्कार की संज्ञा दी।[2] इस प्रकार भामह ने जिसको सिद्धान्त रूप में घोषित किया था, दण्डी ने उसको अधिक व्यापक और व्यवस्थित बनाया। इन दो आचार्यों ने नाट्य के तत्त्वों को अपने उद्योग से काव्य के उपयुक्त बनाकर एक नवीन रूप प्रदान किया।

वामन ने अलङ्कार को समस्त काव्य-सौन्दर्य का पर्याय बना दिया। उनकी 'सौन्दर्यमलङ्कारः' तथा 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' उक्तियों से यही बात प्रकट हो रही है। प्रथम उक्ति में उन्होंने इनको सौन्दर्य-प्रदायक माना है और दूसरी उक्ति में अलङ्कार के उपयोगी पक्ष की ओर संकेत है। इस प्रकार इन्होंने भी दण्डी के मत का सबलता से संवर्द्धन कर समर्थन किया है। साथ ही अलङ्कार के काव्यशास्त्रीय अर्थ को भी विकास-विस्तार प्रदान किया है। इनका अलङ्कार शब्द उपमा आदि अलङ्कारों का पर्याय नहीं है।[3] उन्होंने अलङ्कार को काव्य का नित्यधर्म स्वीकार नहीं किया।[4] इनकी विचार-धारा यह बनी : अलङ्कार सौन्दर्य है : सौन्दर्य, दोषों के बहिष्कार और गुणों के समावेश से प्राप्त होता है। गुण नित्य है, अलङ्कार अनित्य। केवल गुण ही काव्य में सौन्दर्य-वि ान करने में शक्य हैं, पर केवल अलङ्कार नहीं। इस प्रकार वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुण को महत्त्व दिया। इनके अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार बनी : अनिवार्यतः गुण युक्त, अलङ्कारों से साधारणतः युक्त तथा दोष रहित शब्द-अर्थ ही काव्य है।[5] ध्वनिवादी मम्मट ने इसी काव्य-परिभाषा को अपनाया।[6] इसमें उन्होंने इस पर बल दिया कि शब्द-अर्थ कभी अनलंकृत भी हो सकते हैं। वस्तुतः भामह की काव्य-परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौकाव्यं' की वामन ने सुस्पष्ट व्याख्या की है। हो सकता है 'सहितौ' की व्याख्या को ही इन्होंने विस्तार दिया। वैसे मम्मट ने वामन का विरोध किया है, पर परिभाषा की आत्मा दोनों में प्रायः समान है। भामह ने शब्द-अर्थ के सामञ्जस्य (=साहित्य) को काव्य कहा था। दण्डी ने 'साहित्य' या सामञ्जस्य की आवश्यकता इष्टार्थ की सिद्धि के लिए मानी थी। इसीलिए उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी : "इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।" शब्द-अर्थ का सामञ्जस्य ही उनकी दृष्टि में अलङ्कार है। इस प्रकार : अलङ्कार=शब्दार्थ सामञ्जस्य। इसी में सौन्दर्य के तत्त्व विद्यमान हैं। भामह और दण्डी अलङ्कार और गुण में अभेद मान कर ही चले थे। शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य आज के तात्त्विकों को भी इसी रूप में स्वीकार है। प्रयुक्त शब्द यदि अनुभूत्यात्मक काव्यार्थ के साथ मैत्री नहीं रखते तो अभीष्ट प्रेष्य पूर्णरूपेण प्रेषित नहीं हो सकता। अप्रेषित

१, २. काव्यादर्श, २।३; ५,३६७

३ सदोष गुणालङ्कार हानादानाभ्याम ॥ ३ ॥

४. पूर्वे नित्याः ३।१६

५. काव्य-शब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

६. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

तीव्र अर्थ कवि को भी तुष्टि प्रदान नहीं कर सकता और ग्राहक भी काव्यार्थ-ग्रहण की असफलता पर असन्तुष्ट ही रहेगा। इस मनोवैज्ञानिक असन्तुष्टि में सौन्दर्य तत्त्व खो जायगा। इस प्रकार भामह और दण्डी ने परम व्यावहारिक और भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्त दिया।

वामन के पश्चात् उद्भट ने अलङ्कारवाद का समर्थन किया। उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह' में केवल अलङ्कारों का ही निरूपण किया। दण्डी का अनुकरण करते हुए उन्होंने भी अङ्गीभूत रस, भाव को रसवत्, प्रेयस अलङ्कार के नाम से अभिहित किया।[1] सर्व प्रथम उन्होंने ही अङ्गभूत, रस, भाव आदि को उदात्त अलङ्कार के अन्तर्गत माना।[2] उन्होंने गुण और अलङ्कार में अन्तर नहीं माना। जो इनमें अन्तर मान कर चलते हैं, उनका उन्होंने उपहास किया।

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में रस का भी विवेचन किया है। पर वह अत्यन्त सामान्य और आनुषङ्गिक है। मुख्यतः इनको अलङ्कार वादी ही माना जाता है। इन्होंने अलङ्कारों का स्पष्ट विवेचन किया। कुन्तक ने अलङ्कारवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया और एक नवीन दिशा भी प्रदान की। उनके अनुसार वक्रोक्तियुक्त बन्ध या पद-रचना में सहभाव से नियोजित शब्द-अर्थ ही काव्य है। —"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्......।" कुन्तक ने स्पष्ट रूप से भामह के कथन को पहले बल दिया : रमणीयता-विशिष्ट न अकेला शब्द और न अकेला अर्थ काव्य हो सकता है :[3] इन दोनों की सहिति :—'साहित्य' ही काव्य है। एक पद आगे बढ़ कर कुन्तक ने सहित-भाव को वक्रोक्ति से प्रष्ट किया। वक्रोक्ति के बिना शब्द और अर्थ का सहिति-भाव 'काव्य' संज्ञक होने का अधिकारी नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ अलङ्कार्य हैं। वक्रोक्ति के द्वारा ये अलंकृत होते हैं। कवि-कौशल-जन्य चमत्कारपूर्ण कथन का प्रकार ही वक्रोक्ति है।[4] उन्होंने काव्य-लक्षण करते हुए कहा : सहित शब्द-अर्थ काव्य हैं। ये कवि के वक्रव्यापार (=वक्रोक्ति= कविकौशल-जन्य-चमत्कार युक्त कथन विशेष) से युक्त पद बन्ध में व्यवस्थित होने चाहिए। यह पद-व्यवस्था सहृदयजनों को आह्लादक होती है। ;—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १।७

इस प्रकार कुन्तक ने सहृदयों के आह्लाद का तत्त्व पद-रचना के साथ स्पष्ट रूप से जोड़ा। कुन्तक ने भामह की परिभाषा को और भी पूर्ण और स्पष्ट बनाने की चेष्टा

---

१. काव्यालङ्कार सारसंग्रह ४।१,८
२. वही ४।८
३. न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति। वक्रोक्ति जीवितम्, आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी भाष्य, पृ० २४
४. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते॥ व० जी० १।१०

की । विश्वनाथ ने कुन्तक के ऊपर आक्षेप किया है : वक्रोक्ति एक अलङ्कार मात्र है, वह काव्य का जीवित् कैसे हो सकता है । पर कुन्तक की वक्रोक्ति मात्र उपमादि के समान अलङ्कार नहीं है । यह तो चमत्कारपूर्ण एक अपूर्व अलङ्कार है—

लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये ।
काव्यस्याऽयमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ व० जी० १।२

कुन्तक की वक्रोक्ति काव्य के समस्त बाह्याभ्यंतर सौन्दर्य को अपने में समेटती है । इसके इन्होंने छः भेद माने हैं : वर्ण-विन्यास, पद-पूर्वार्द्ध, प्रत्यय, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध । वर्णविन्यास और वाक्य की वक्रता में शब्द, अर्थ और अलङ्कारों को समाविष्ट किया गया है । इस प्रकार अलङ्कार और रीति का सामञ्जस्य कुन्तक की वक्रोक्ति में हो जाता है । साथ ही उन्होंने वक्रोक्ति को विचित्रा:अभिधा भी कहा है ।[1] इस प्रकार ये सिद्धान्त ध्वनि के समीप भी पहुँच जाता है । इस प्रकार वक्रोक्ति को एक मात्र अलङ्कार मानना भ्रम है ।

इस प्रकार अलङ्कारवादियों ने काव्य में अलङ्कार की स्थिति को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है : प्रथम कोटि के (भामह, दण्डी आदि) आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है : दूसरी कोटि के आचार्यो (वामन आदि) ने गुण पर बल देते हुए और रीति का समर्थन करत हुए, अलङ्कार को काव्य में वाञ्छित माना, अनिवार्य नहीं । कुन्तक ने वक्रोक्ति के द्वारा अलङ्कार-दर्शन को व्यापक बनाया तथा इसमें रीति और ध्वनि को भी समेटने की चेष्टा की । उनके अनुसार शब्द और अर्थ में मात्र वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए । उसमें वक्रता-वैचित्र्य तथा गुणालङ्कार सम्पदा रहनी चाहिए । मात्र वाचक-वाच्य सम्बन्ध वाले शब्द-अर्थ आह्लादक नहीं बन सकते ।

मम्मट ने अलङ्कार को काव्य में अनिवार्य स्थान नहीं दिया । क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि में ध्वनिवादी आचार्यो के सिद्धान्त हैं । ध्वनिवादियों ने अलंकार-निबन्ध को चित्रकाव्य कहा है । मम्मट, अप्पयदीक्षित और नरेन्द्र प्रभसूरि ने ध्वनिकार का अनुसरण किया है । आनन्दवर्द्धन के अनुमोदन में मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' उक्ति को अपनी काव्य परिभाषा में स्थान दिया । विश्वनाथ ने अलङ्कारों को 'स्वरूपाधायक' न मान कर 'उत्कर्षमात्राधायक' कहा है ।[2] पर ध्वनिवादियों के सामने अलङ्कारवादियों ने घुटने नहीं टेके । कुन्तक और जयदेव ने अलङ्कार की फिर से स्थापना की । कुन्तक ने कहा : अलङ्कार सहित शब्दार्थ ही काव्य है । काव्य में अलङ्कार की स्थिति अनिवार्य है । उनका योगदान मात्र ही पर्याप्त नहीं, उसकी स्थिति ही अनिवार्य है ।[3] जयदेव ने मम्मट पर इस प्रकार प्रहार किया—

---

१. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । व० जी० १।१० (वृत्ति)
२. सा० दर्पण, प्रथम परिच्छेद
३. तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता × × × तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालङ्कार योग इति । व० जी० पृ० १७

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।[१]

इस प्रकार संस्कृत आचार्यों के अलङ्कार के प्रश्न पर दो दल हैं : एक ओर भामह, दण्डी, उद्भट और कुन्तक हैं दूसरी ओर वामन, आनन्दवर्द्धन और उनके समर्थक हैं । प्रथम, अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानता है तथा दूसरा अलङ्कारों को शोभाधायक आभूषणों के समान काव्य-शरीर से सम्बद्ध मानता है ।

अलङ्कार : स्वरूप-निरूपण—

दण्डी, वामन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने अलङ्कार-निरूपण मौलिक रूप से किया है । अन्य अलङ्कार-निरूपक आचार्यों पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है । दण्डी ने काव्य (=शब्दार्थ) की शोभा करने वाले उपकरणों को अलङ्कार की संज्ञा दी है ।[२] वामन ने शोभा करने वाले उपकरण गुण माने हैं । अलङ्कार का धर्म अतिशय शोभा करना माना है ।[३] आनन्द-वर्द्धन ने अलङ्कार को अङ्ग (शब्दार्थ) के अधीन कहा है । शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर की शोभा के जनक अलङ्कार हैं ।[४] आनन्द-वर्द्धन ने रस के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया । मम्मट[५] और विश्वनाथ[६] ने इस कार्य को पूरा किया । इन्होंने अलङ्कार को रस का उपकारक भी माना है । जिस प्रकार शरीर और आभूषणों का अनित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार अलङ्कारों का भी शरीर से सम्बन्ध अनित्य है । परन्तु परम्परा-सम्बन्ध से अलङ्कार रस के उपकारक अवश्य हैं । इसी प्रकार जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयता प्रयोजक धर्म के रूप में अलङ्कारों को स्वीकार किया है : "काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता प्रयोजका अलङ्काराः ।"

निष्कर्ष : एक बात पर सभी आचार्य एक मत हैं कि अलङ्कार काव्य की शोभा के जनक हैं । साथ ही सभी ने अलङ्कार को शब्दार्थ का ही शोभाकारक धर्म माना है । अलङ्कारवादी शब्दार्थ की शोभा पर आकर अटक जाते हैं, पर रस-ध्वनि-वादी आचार्य शब्दार्थ की शोभा के द्वारा रस का भी उपकार मानते हैं ।

अलङ्कारवादी आचार्य और रस—

अलङ्कारवाद के आद्याचार्य भामह और दण्डी ने रस की महत्ता को भी स्वीकर किया है । पर इन्होंने 'रस' की पृथक् सत्ता न मान कर रस, भाव आदि को रसवत् आदि अलङ्कारों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है । उद्भट भी इसी मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं । रुद्रट एक ओर तो अलङ्कार-सम्प्रदाय का समर्थन करते हैं,

---

१. चन्द्रालोक १।८

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । काव्यादर्श, २।१

३. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥ [काव्यालङ्कार सूत्र, ३.१।१,२]

४. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत् । ध्वन्यालोक २।६

५. का० प्रकाश, ८।६७

६. साहित्य दर्पण १०।१

दूसरी ओर ध्वनि और रस से प्रभावित हैं। उन्होंने 'रसवत्' आदि रस-भाव-अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। रसवादियों का अनुसरण करते हुए, रस का ही चार अध्यायों (१२-१५) में गम्भीर निरूपण किया है। इससे प्रतीत होता है कि अलङ्कारवादी आचार्य रस-ध्वनि-सिद्धान्तों की ओर कालान्तर में झुकने लगे थे।

भामह और दण्डी दोनों ने ही 'रस' को महाकाव्य के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना है।[1] भामह ने यहाँ तक कहा कि रस प्रयोग से शुष्क शास्त्रीय चर्चा भी सरल और ग्राह्य बन सकती है।[2] दण्डी ने माधुर्य गुण को रस पर आधारित ही माना है। माधुर्य गुण की रसवत्ता सहृदयों को मत्त बना देती है।[3] माधुर्य दो प्रकार का होता है। वागाश्रित और वस्तु-गत। वागाश्रित माधुर्य श्रुत्यनुप्रास है और वस्तु-गत माधुर्य अग्राम्यता। अग्राम्यता ही काव्य में रस-सेचन के लिए सबसे शक्तिशाली अलङ्कार है।[4] अग्राम्यता के भी दो रूप हैं : शब्दगत और अर्थगत। ये दोनों ही उपरूप रस पर अवलम्बित हैं।[5] रुद्रट तो स्पष्टतः 'रस' के पक्षपाती हैं ही। रुद्रट ने भी महाकाव्यों के लिए रस को अनिवार्य माना है।[6] इन्होंने प्रथम बार वैदर्भी आदि रीतियों, मधुरा-ललिता-आदि वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का पक्ष-समर्थन किया है।[7]

इस प्रकार एक प्रवृत्ति अलङ्कारवादियों में दीखती है : उन्होंने महाकाव्य के लिए 'रस' को आवश्यक माना है। महाकाव्य में रसोपकरणों के 'संयोग' और उनकी विस्तृत प्रक्रिया के लिए अवकाश रहता है। पर मुक्तक और गीत के लघु कलेवर में रस-पाक की पूर्ण व्यवस्था सम्भव नहीं होती है। आज के प्रगीत-युग में रस-परिपाक आलोचक नहीं मानते। इस सम्बन्ध में भावोन्नयन और भाव-स्फीति की ही चर्चा सुनाई पड़ती है। भारत में आरम्भ से गीतिमुक्तक की परम्परा वैदिक-लौकिक धरातल पर चली आई है। अभिजात साहित्य में यदि महाकाव्य की परम्परा रही है, तो पुराण की परम्परा भी रही है, जिसमें प्रबन्ध के साथ भावमय गीतों के तत्त्व अनुस्यूत हैं। प्राकृत तो मुक्तक-गीत शैली में समृद्ध ही हुई थी। नाटक के क्षेत्र में तो रस की प्रतिष्ठा थी और रस परिपाक के लिए वहाँ पर्याप्त अवकाश भी था, पर भारतीय नाटकों में भी गीत-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में रहता था। भारत की गीत-प्रियता एवं

---

१. भामहः 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्' : काव्यालङ्कार १।२१
दण्डी : अलंकृतम संक्षिप्तं रसभाव-निरन्तरम्। काव्यादर्श १।१८

२. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु औषधिम्। काव्यालङ्कार ५।३

३. मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः। काव्यादर्श १।५१

४. काव्यादर्श १।६२

५. काव्यादर्श १।६४, ६५

६. काव्यालङ्कार १६।१, ५

७. ,, १४।३७; १५।२०

संगीतात्मकता को सभी स्वीकार करते हैं।[१] इस प्रकार गीत भारतीयकाव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। उसमें 'रस' का पूर्ण परिपाक हो भी सकता है और भावपूर्ण रूप से रस में परिणत हुए बिना भी रह सकता है। इस दृष्टि से अलङ्कारवादियों ने महाकाव्य में तो रस की स्थिति अनिवार्य मानी ही है अन्यत्र भी उसकी महत्ता अलङ्कार, वृत्ति, रीति आदि के संदर्भ में ही स्वीकार की गई है। यह एक परिकल्पना ही है जिसकी सिद्धि के लिए अभी शोध अपेक्षित है।

अलङ्कारवादियों की रस-सम्बन्धी दूसरी प्रवृत्ति शृङ्गार को रसराज मानने की ओर रही। रुद्रट ने नायिका-नायक-भेद के प्रकरण पर भी लिखा है[२] और शृङ्गार रस की प्रधानता के सम्बन्ध में भी स्पष्ट कथन किया है।[3] आगे चल कर यही प्रवृत्ति शृङ्गार के रसराजत्व में परिणत हुई। दूसरी ओर नायिका-भेद का विस्तार भी होता गया। जिस समय अलङ्कार का प्राधान्य रहा, उस युग में नायिका-भेद का विस्तार भी हुआ और शृङ्गार के रस-राजत्व की मान्यता भी रही। उदाहरण के रूप में रीतिकाल को लिया जा सकता है। रीतिकाल में भी अलङ्कारों, नायिका-भेद और शृङ्गार का प्राधान्य रहा।

अलङ्कारवादियों की तीसरी प्रवृत्ति रस का अलङ्कार में अन्तर्भाव करने की ओर रही है। भामह, दण्डी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत, और ऊर्जस्वि अलङ्कारों के नाम से अभिहित किया। उद्भट ने 'समाहित' को भाव शान्ति का पर्याय माना।

गुण और अलङ्कार—

भरत ने स्पष्ट शब्दों में गुण और अलङ्कार की तुलना नहीं की। उन्होंने 'समता' गुण का लक्षण दिया है। इसमें उन्होंने गुण और अलङ्कार को 'अन्योन्य सदृश' कहा है और अन्योन्यभूषण भी।[४] उपमा-अलङ्कार तथा समाधि गुण में इन्होंने पोषक-पोष्य या साधन-साध्य सम्बन्ध स्वीकार किया है।[५] इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने गुण और अलङ्कारों में निकट सम्बन्ध माना है। दण्डी ने गुणों को अलङ्कार ही माना है। इन्होंने पुनरुक्ति और संशय के अभाव को 'गुण' न कह कर अलङ्कार

---

१. "Especially Indian Poetry with its preference for lyrics (lyric is predominent even in the so called dramatic art of India) is concerned chiefly with emotion roused in the poet himself and conferred through the medium of his creation to his audience." [Betty Heimann, The Significance of Prefixes in skt. Philosphy, P. 77]

२. काव्यालङ्कार १२ वाँ, १३ वाँ अध्याय।

३. ,, १४।३८

४. नाट्य शास्त्र १७।१००

५. ,, ,, १७।१०२

कहा है।[१] प्रसादादि दस गुणों को भी इन्होंने अलङ्कार ही माना है।[२] इस प्रकार दण्डी ने समस्त गुणों को अलङ्कारों में समाविष्ट कर दिया। इससे अलङ्कार का ही गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व ज्ञापित होता है। उद्भट ओज आदि गुणों और अनुप्रासादि अलङ्कारों में कोई भेद नहीं मानते। उनके मतानुसार ये काव्य में समवाय सम्बन्ध से ही स्थिर रहते हैं। इन्होंने लौकिक गुणों और अलङ्कारों के समान काव्यगत गुणों और अलङ्कारों में भी भेद समझना भ्रम माना है। गुण और अलङ्कार चारुत्व या सौन्दर्य के कारण हैं। अतः इनमें विषय और आश्रय का भेद तो रहता है पर, महत्त्व में दोनों समान हैं।

वामन ने सबसे पहले गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया। इन्होंने अपने रीति-सिद्धान्त में गुणों को अनिवार्य माना। अलङ्कार की अपेक्षा इन्होंने काव्य में गुणों को अधिक महत्त्व दिया।[३] इनके अनुसार अलङ्कार नहीं, गुण ही काव्य की शोभा के उत्पादक हैं।[४] अलङ्कार गुण-जन्य शोभा के वर्द्धक हैं।[५] साथ ही उन्होंने गुणों को नित्य और अलङ्कारों को अनित्य माना।[६] अकेले गुण से तो शोभा हो सकती है, पर केवल अलङ्कार से नहीं।[७] उनकी इन मान्यताओं की आलोचना मम्मट ने की थी।

रुद्रभट्ट ने अलङ्कार और गुणों को समान ही महत्त्व प्रदान किया। गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य-शोभा के जनक हैं। आगे आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने गुण और अलङ्कार में भेद की स्थापना की और अधिक महत्त्व गुणों को प्रदान किया। इनकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं: गुण रस (अङ्गी) के आश्रित हैं और अलङ्कार शब्दार्थ (अङ्ग) के; गुण 'रस' के स्थिर धर्म हैं; और अलङ्कार शब्दार्थ के अस्थिर धर्म। गुणों से रसोत्कर्ष होता है और अलङ्कार शब्दार्थ के शोभा-विधान द्वारा अव्यक्त रूप से रस का उत्कर्ष करते हैं। सरस रचना सगुण तो होगी, पर उसका सालङ्कार होना अनिवार्य नहीं। वैसे अलङ्कारों के होने से काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। गुण सदा ही रसोपकारक होते हैं, पर अलङ्कार कभी-कभी रसोपकार नहीं भी करते।[८] नीरस रचना में अलङ्कार उक्ति-वैचित्र्य के विधायक हो सकते हैं,[९] पर नीरस रचना में गुणों का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार अलङ्कार की काव्य में अनिवार्य स्थिति अमान्य रही और गुणों का होना काव्य में अनिवार्य हो गया। फलतः रस-ध्वनिवादी सिद्धान्तों के प्रकर्ष ने अलङ्कार की अपेक्षा गुण को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया।

---

१. काव्यादर्श, ३।१३७, १४१
२. ,, २।३
३. काव्यालङ्कार सूत्र, १।२।६,७,८
४, ५, ६, ७. ,, ३।१।१,२,३
८. क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। काव्य प्रकाश ८
९. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्ति मात्रपर्यवसायिनः। काव्य प्रकाश

काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग : औचित्य—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलङ्कार चाहे काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं भी हो, पर उससे काव्य में शोभा-वृद्धि होती है और अव्यक्त रूप से वह रस का उपकारक भी है। पर यदि रसहीन या व्यंग्यार्थ-रहित काव्य में इनका प्रयोग हो, तो चमत्कार ही उत्पन्न हो सकता है आनन्द नहीं। केवल चमत्कार के लिए अलङ्कार-प्रयोग उचित नहीं।[1] वास्तव में अभ्यासार्थी कवियों की प्रतिभा के अभाव में अलंकृत और चमत्कार-युक्त काव्य की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। इससे रसास्वाद तो नहीं होता, पर चमत्कार का विधान होता है। अतः यह अधम काव्य है।[2] आगे के आचार्यों ने काव्य में अलङ्कार-प्रयोग के औचित्य पर अधिक बल दिया। अलङ्कार का अधिकारी सुपात्र है। इनसे न निर्जीव शरीर ही शोभा पा सकता है और न वीतराग यति का ही शरीर और न यौवन-वन्ध्य नारी ही इससे सुशोभित हो सकती है।[3] निश्चय ही अञ्जन बड़ी आँखों को ही सुन्दर बना सकता है और मुक्ताहार पीन पयोधरों पर ही सुशोभित होते हैं।[4] कण्ठ में मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर, पैरों में केयूर धारण करना कुरूप और हास्यास्पद होता है।[5] इस प्रकार अलङ्कार-प्रयोग स्वस्थ-सजीव शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ उनका औचित्य भी एक अनिवार्य तत्त्व है। काव्यगत अलङ्कारों के साथ भी ये दोनों बातें समझनी चाहिए। अलङ्कारों का नीरस काव्य में प्रयोग निरर्थक है और उनका काव्य में अनुचित प्रयोग असङ्गत। नीरस काव्य में इनका प्रयोग मात्र चमत्कार-विधायक होता है। "यत्र तु नास्ति रसः तत्र [अलङ्काराः] उक्ति वैचित्र्य मात्र पर्य वसायिनः।'[6] वियोग शृङ्गार में यमक आदि का आडम्बर उचित नहीं है।[7] **क्षेमेन्द्र ने तो और स्पष्ट** कहा है।[8] 'रकार' का अनुप्रास यदि वियोग शृङ्गार में रस का उपकारक होता है, तो 'टकार' का अनुप्रास उसमें बाधक।

शब्दालंकारों के औचित्य पर और भी अधिक चर्चा हुई है। दंडी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति उदासीनता प्रकट की है।[9] रुद्रट ने अनुप्रास के प्रयोग

१. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक ३।४२ (वृत्ति)

२· तच्चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादि तात्पर्य मन पेक्ष्यैव काव्य प्रवृत्ति दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। ध्वन्यालोक ३।४३ (वृत्ति)

३. काव्यालंकार सूत्र ३।२।२

४. दीर्घापांग नयन-युगलं भूषयत्यञ्जन श्री-
स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितं हारयष्टिः ॥ सरस्वती कण्ठाभरण १।१६०

५. औचित्य विचार चर्चा, चौखम्भा, पृ० १

६. काव्य प्रकाश, ८

७. ध्वन्यालोक ३।१५

८. काव्यस्यालम लङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवित मौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ औचित्यविचारचर्चा, पृ० ४
तथा
उचित स्थान विन्यासा दलंकृतिरलंकृतिः। वही पृ० ६

९. काव्यादर्श १।४३,४४,६१

के औचित्य पर बड़ा बल दिया है।[1] आनन्दवर्द्धन के अनुसार अनुप्रास शृङ्गार के सभी रूपों में उचित नहीं होता। वियोग शृङ्गार में यमक का प्रयोग करना ही नहीं चाहिए।[2] कुन्तक ने भी अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता का विरोध किया है।[3] पर अर्थालङ्कारों के अनौचित्य और निषेध का उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने किसी न किसी रूप में रस-भाव को मुख्य मानते हुए, अलङ्कारों के उनके अनुरूप प्रयोग का समर्थन किया है। शब्दालङ्कारों के वर्जन और नियन्त्रण के मूल में भी यही बात है कि कुछ स्थलों पर शब्दालङ्कार जटिलता प्रस्तुत कर देते हैं और वियोग आदि की अनुभूतियों तक पाठक की पहुँच को विलम्बित कर देते हैं। इसलिए इनके बहुल प्रयोग के सम्बन्ध में चेतावनी दी गई है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि अलङ्कार भाषा की शक्ति को भी बढ़ाते हैं और काव्य में वे सौन्दर्य विधायक भी हैं। नाट्य के उपकरणों को अलङ्कारों के रूप परिणित करके ही सबसे पहले काव्यशास्त्र का आरम्भ हुआ। आरम्भ में अलङ्कारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना गया। पर रस-ध्वनि-गुण की सिद्धान्त-त्रयी से अलङ्कार की इस स्थिति का सामना हुआ और इनकी अपेक्षा अलङ्कार का काव्य में गौण स्थान हो गया। वैसे व्यापक अर्थ में यदि अलंकार को लिया जाय तो अनुभूति के उपयुक्त भाषा को बनाने में अलङ्कारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

४

शृङ्गार का रसराजत्व

१. आद्य रसाचार्य नन्दिकेश्वर एवं रूपकाचार्य भरतमुनि की परम्परा
२. शृङ्गार का महत्त्व, स्वीकृति एवं शास्त्रीय स्वरूप
३. अहंकार और जीवन, अहंकार और शृङ्गार एवं आग्नेपुराण
४. मूलरस एवं मूलरसों का समाहार
५. रस की तीन कोटियाँ एवं "प्रेमन्"
६. शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता पर – हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदानन्द
७. शृङ्गार और भक्ति तथा मनोविज्ञान
८. हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का रसराजत्व तथा रीतिकाल

---

१. काव्यालङ्कार २।३२
२. ध्वन्यालोक २।१४; ३।१५
३. व० जी० २।४

शृङ्गार का रस राजत्व—

रस के आद्याचार्य नन्दिकेश्वर माने जाते हैं।[1] भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र के 'रसविकल्प' और 'भावव्यञ्जक' नामक अध्यायों में रस और भाव का निरूपण किया है। इन अध्यायों में भरतमुनि ने रस-सम्बन्धी प्रायः सभी सामग्री प्रस्तुत की है। भरत के पश्चात् रस-सिद्धान्त की उपेक्षा कोई भी आचार्य नहीं कर पाया। सात सौ वर्षों तक अलङ्कारवादियों का काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अधिराज रहा, पर आज इन आचार्यों ने भी रस का महत्त्व स्वीकार किया। भट्ट लोल्लट आदि महान् आचार्यों ने रस की दार्शनिक और व्यावहारिक, गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत करके इसके आधार को सुदृढ़ बनाया। ध्वनिवादियों ने भी रस को ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकार किया। भरतमुनि ने मूलरस चार माने हैं :—शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे ही क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।[2] फिर रसों के भेदोपभेदों की चर्चा की गई है।[3] शृङ्गार के दो प्रसिद्ध भेद हैं :—सम्भोग और विप्रलम्भ। कालान्तर में शृङ्गार के महत्त्व की स्वीकृति शास्त्रीय रूप ग्रहण करती गई। यह महत्त्व-स्वीकृति यद्यपि प्राचीनकाल से ही आरम्भ हो गई थी, पर इसकी रसराज संज्ञा बहुत समय पश्चात् हुई। अतः महत्त्व-स्वीकृति काल से शृङ्गार के रस-राजत्व तक की विकास-विधि का पर्यवेक्षण कर लेना समीचीन होगा।

१. शृङ्गार की महत्त्व-स्वीकृति—

भरतमुनि ने कहा है : संसार में जो कुछ शुचि, शुद्ध और दर्शनीय है, उसकी उपमा शृङ्गार से दी जा सकती है।[4] रुद्रट ने शृङ्गार की व्यापकता की ओर दृष्टि-पात किया। उनके अनुसार कोई रस ऐसी रस्यता उत्पन्न नहीं कर सकता। आबाल-वृद्ध, पशु-पक्षी तथा समस्त जीवधारी तथा लता-गुल्मादि भी इस रस से आप्लावित एवं समाविष्ट हैं। इस रस से हीन काव्य निम्नस्तरीय होता है। कवि को सायास इस रस का समावेश अपनी कृति में करना चाहिए।[5] आनन्दवर्द्धन जैसे महान् आचार्य ने भी शृङ्गार के महत्त्व को स्वीकार किया। उनके अनुसार शृङ्गार ही

---

१. रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। राजशेखरः काव्यमीमांसा, अनु० पं० केदारनाथ, प्रथम अध्याय, पृ० ४

२. नाट्यशास्त्र ६।३९-४१

३. 'वही' ६।३९-४१

४. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणानुमीयते। ना० शा० ६।४५ (वृत्ति)

५. सर्वरसेभ्यः शृङ्गारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिपुराह—
अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः।
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबाल वृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्,
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्। रुद्रट, काव्यालङ्कार (निर्णयसागर) १४।३८

सर्वाधिक मधुर आह्लादक रस है।[१] इस प्रकार प्रारम्भिक उद्भावक आचार्यों ने शृङ्गार-रस के महत्त्व की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। पर यह घोषणा का एकपक्षीय भावात्मक रूप ही रहा। इसके महत्त्व को शास्त्रीय और वैज्ञानिक रूप नहीं मिला। इसके लिए कुछ आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तर्कों की आवश्यकता थी। ये तर्क आगे के आचार्यों ने प्रस्तुत किये और शृङ्गार के महत्त्व को शास्त्रीय रूप प्रदान किया।

२. शृङ्गार का महत्त्व : शास्त्रीय रूप—

शृङ्गार के महत्त्व को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय मुख्यतः भोजराज और अग्निपुराणकार को है। भोज ने 'रस' की संज्ञा केवल शृङ्गार को दी। अन्य तथाकथित रस उनकी दृष्टि में रस ही नहीं हैं।[२] इन्होंने शृङ्गार को 'अहङ्कार' का पर्याय माना है।[३] परन्तु यह 'अहङ्कार' सामान्य लोकधर्मी अहमन्यता से भिन्न अपनत्व की अनुभूति है। मनुष्य का अपने प्रति सहज प्रेम ही भोज की दृष्टि से 'अभिमान' (=अहंकार) है यही विश्व की गतिशीलता का मूल हेतु है। इसी के आधार पर मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। इसकी जागृति के क्षण जीवन में आते रहते हैं। किसी सुन्दरी के अपने ऊपर कटाक्ष-पात होने पर मनुष्य में आत्म-बोध (व्यक्तित्वज्ञान) होता है। उसे अपने ऊपर एक मधुमय विश्वास सा अनुभव होने लगता है और वह आत्मानुराग से स्नात हो जाता है। यही उसके आत्मानुराग की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भूमिका है। वह अपने को किसी के स्नेह के अवलम्ब के रूप में पाकर कृतार्थ हो जाता है।[४] यही जागृत-अहंकार रस की कोटि में आता है। मनोनुकूल दुःखादि भावों में भी सुखद 'अभिमान' की प्रतीति रहती है। यही भोज के अनुसार रस है।[५] रमणी को रति-गत उत्पीड़क क्रियाएँ भी रस-मय प्रतीत होती है।[६] 'शृङ्ग' का तात्पर्य है सुख की पराकाष्ठा। जागृत अहंकार की स्थिति में सामाजिक, सुख की चरम-स्थिति में होता है। अतः जागृत अहंकार

१. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादलनो रसः। ध्वन्यालोक २।७

२. शृङ्गार वीर करुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सल भयानक शान्तनाम्नः।
आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयं तु,
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः। शृङ्गार प्रकाश।

३. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते। सरस्वती कण्ठाभरण ५।१

४. अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंग तरलायत नेत्रया। शृङ्गार प्रकाश।

५. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः। ,, ,,

६. दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितनखदूयमानयोः विवर्धते स्तनयोः रोमांचः। ,, ,,

ही शृङ्गार है।[1] इस प्रकार भोज के अनुसार जागृत 'अभिमान' ही शृङ्गार है और शृङ्गार ही एक मात्र रस है। अन्य प्रचलित रस वास्तव में रस नहीं हैं।[2]

अहंकार एक मूल, मानवीय वृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तराल में अनायास इसका जागरण (उत्पत्ति) नहीं होता। यह संचित सुकृतों के फल स्वरूप सौभाग्य-शालियों को प्राप्त होती है। इससे श्रेष्ठ मनुष्योचित गुणों का उदय होता है।[3] जिस व्यक्ति में इस अहंकार का उदय हो जाता है वही सहृदय, रसिक अथवा 'सामाजिक संज्ञक हो सकता है। इसका जिसमें अभाव होता है वह रसास्वादन करने में अक्षम रहता है : वह नीरस-अरसिक होता है।[4] अग्निपुराण में भी 'रसिक' और 'शृङ्गारी' समानार्थक हैं। शृङ्गारी कवि स्वयं तो रसस्नात होता ही है, वह अपनी रसमय-कृति से समस्त जगत् को रसमग्न कर देता है।[5] समस्त रस-भावों का उदय उसी के हृदय में होता है, जिसके हृदय में अहंकार उच्छलित रहता है। भरतमुनि ने रत्यादि वृत्तियों से रस के उदय की जो बात कही है, भोज के अनुसार यह भ्रम है। वस्तुतः मनुष्य को अहंकार से ही रत्यादि की उत्पत्ति माननी चाहिए।[6]

भरतमुनि ने भावों की संख्या ४६ मानी है : ८ स्थायी भाव + ३३ व्यभिचारी भाव + ८ सात्त्विक भाव।[7] भोज ने इनको भी स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने कहा है कि परिस्थिति के अनुसार सभी स्थायी और सभी संचारी भी बन सकते हैं। साथ ही सभी का जन्म मन (सत्त्व) से है। इसलिए सभी को सात्त्विक कहा जा सकता है। भोज के अनुसार ये सभी भाव मूलतः अहंकार से आविर्भूत होते हैं। इनसे अहंकार भाव ही प्रकाशित होता रहता है। अहंकार की शक्तियों के रूप में ही विभिन्न भावों का उदय होता है और सभी का कार्य अहंकार की परिधि में स्थित होकर

---

१. ये न शृङ्ग रीयते (गम्यते) स शृङ्गारः। — शृङ्गार प्रकाश

२. (क) स शृङ्गारः सोऽभिमानः स रसः।
(ख) रसः शृङ्गार एव एकः। — ,, ,,

३. सत्त्वात्मनाममल धर्म विशेष जन्मा,
जन्मान्तरानुभव निर्मित वासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयाति शयै क हेतुः
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः। — ,, ,,

४. शृङ्गारोहि नाम × × × आत्मनोऽहंकार विशेषः सचेत सा रस्यमानो रस इत्युच्यते, यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति। — शृङ्गार प्रकाश

५. शृङ्गारी चेत कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
सचेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्। — अग्निपुराण ३३६।८

६. 'न हि रत्यादि भमा रसः' किं तर्हि शृङ्गारः। शृङ्गारो हि नाम × × × आत्मनोऽहंकार विशेषः × × ×। रत्यादीनामयमेव प्रभवः इति। शृङ्गारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न शृङ्गरिणः।' — शृङ्गार प्रकाश।

७. नाट्यशास्त्र ७६ (वृत्ति)

केन्द्र (अहङ्कार) को प्रकाशित करना है।[१] अहङ्कार एक राजा के समान है अन्य सभी भाव उसके सामन्त हैं। जिस प्रकार चतुर्दिक खड़े राजा की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार अहङ्कार की शोभा-वृद्धि अन्य भाव करते हैं। भरतमुनि के अनुसार स्थायी भाव विभावादि के द्वारा प्रकृष्ट अवस्था को प्राप्त होते है। स्थायी भावों की यही प्रकृष्टावस्था आनन्द-विधायिका होती है। भोज ने इस मत में भी संशोधन किया। इनका मत है कि मात्र स्थायी भाव नहीं, सभी भाव प्रकृष्टावस्था को प्राप्त होकर आनन्दप्रद बन सकते हैं। साथ ही भोज इनको 'रस' संज्ञक नहीं मानते : इनको 'रस' नाम से पुकारना मात्र औपचारिक है। ये तो यथार्थतः भाव ही हैं। क्योंकि ये सभी भाव अपनी व्यापार-प्रक्रिया से 'अहङ्कार' रूप रस को ही प्रकाशित करते हैं। अतः 'अहङ्कार' (शृङ्गार) ही एक मात्र रस के रूप में भोज को स्वीकार्य है। यदि आनन्द प्रदान करना ही इसका लक्षण कहा जाय तो रसों की संख्या ४६ होगी[२]। भोज का यह मत रस-विवेचन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी मत है। शृङ्गार के रसराजत्व की इसमें दृढ़ दार्शनिक भूमि प्रदान नहीं की जा सकती।

भोज ने तीन रस-कोटियों को स्वीकार किया है : 'रूढ़ाहंकारता' : मानव-मन में अहङ्कार की मूल स्थिति; रत्यादि ४६ भावों की आनन्द-दायक स्थिति के कारण औपचारिक रूप से 'रस' संज्ञक मानना या कहना दूसरी कोटि है; तीसरी कोटि में रति, हास, उत्साहित भावों की प्रेम रूप में परिणति आती है। यही 'प्रेमन्' रस है।[३] यही 'प्रेमन्' आगे के अनेक कवि-आचार्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया। कवि कर्णपूर ने भी 'प्रेमन्' में सभी रसों का अन्तर्भाव कर दिया।[४] हिन्दी के आचार्यों में देव ने भी यही बात कही—

> भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिङ्गार।
> तेहि उछाह निरवेद लै वीर सान्त संचार॥[५]

---

१. रत्यादयोऽर्धशतमेक विवर्जिता हि
　　भावाः पृथग्विध विभावभुवो भवन्ति।
　शृङ्गार तत्त्वमभितः परिवारयन्तः
　　सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति। [शृङ्गार प्रकाश]

२. [क] यच्चोक्तम् 'विभावानुभाव व्यभिचार संयोगात् स्थायिनो रसत्वम्' इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादयः सर्वं एवैते भावाः। शृङ्गार एव एको रस इति। तैश्च सविभावानुभावैः प्रकाशमानः शृङ्गारः विशेषतः स्वदते। [शृङ्गार प्रकाश]
　[ख] 'यद्यपि शृङ्गार एव एकोरसः, तथापि तत्प्रभवा ये रत्यादयः तेऽप्युद्दीपन विभावै-रुद्दीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते।' [वही]

३. 'रसन्त्विह प्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामपि हि रत्यादि प्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रियः परिहास प्रियः इति प्रेम्णएदेव पर्यवसानात्। [शृङ्गार प्रकाश]

४. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
　सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ। [अलङ्कार कौस्तुभ]

५. भवानी विलास, १०

इस प्रकार मानव मन का 'अहङ्कार' ही मूल भाव है। विभावादि से यही प्रकाशित होता है। अहङ्कार 'रस' और 'शृङ्गार' दोनों का पर्याय है। यह एक दार्शनिक पद्धति है। उपनिषद् के अनुसार सभी भाव मानव मन के सन्तोष के लिए होते हैं।[1] भोज का 'अहङ्कार' पारिभाषिक रूप से इसी सन्तोष या आत्मानुराग का वाचक है। 'अहङ्कार' भावों का जनक भी है और इनसे पोष्य-प्रकाश्य भी। काव्य का लक्ष इसी अहङ्कार को जागृत और तृप्त करना है।

इसी सिद्धान्त के समान अग्निपुराण का मत है। 'आनन्द' ब्रह्म का सहजात है। आनन्द की अभिव्यक्ति ही रस है : इसे 'चैतन्य-चमत्कार' भी कहा जा सकता है। 'रस' का विकार ही अहङ्कार है। अहङ्कार से ही अभिमान का जन्म होता है और अभिमान से ही 'रति' की उत्पत्ति। रति ही व्यभिचारी आदि से पुष्ट होकर 'शृङ्गार' बनती है। अपने-अपने स्थायीभावों पर आधारित हास्यादि इसी रत्याश्रित शृङ्गार के भेद मात्र हैं।[2] अग्निपुराणकार ने भरतोक्त चार मूल रसों को तो माना है : शृङ्गार, रौद्र, वीर और अद्भुत। पर रति को इन चारों का मूल माना गया है। 'रति' के चार रूप हैं : राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ, और सङ्कोच। इन्हीं चारों से उक्त चार मूल रसों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक का उदय होता है।[3] भोज और अग्निपुराणकार के रस-विकास-क्रम में अन्तर है : भोज ने अहङ्कार से ही ४९ भावों की उत्पत्ति मानी है और अग्निपुराण के अनुसार क्रम इस प्रकार है : आनन्द → अभिव्यक्ति (अहङ्कार) → अभिमान → रति → अन्यभाव। साथ ही अग्निपुराण में अहङ्कार और अभिमान में तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। भोज ने अहङ्कार, अभिमान और शृङ्गार को पर्याय माना है तथा प्रकारान्तर से अहङ्कार और शृङ्गार में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध भी स्वीकार किया है। भोज ने 'शृङ्गार' को व्यापक अर्थ में 'रस' का पर्याय माना है। अग्निपुराण के अनुसार यह रस का एक प्रमुख भेद है : हास्यादि इसके अन्य भेद हैं। रतिभाव से सभी रसों की उत्पत्ति भरत मुनि ने भी अभीष्ट मानी थी। मूलतः इन दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं दिखलाई देता। इस प्रकार भोज और अग्निपुराण ने शृङ्गार को सभी रसों का मूल और सर्वोत्कृष्ट रस स्वीकार किया है।

आगे कुछ आचार्यो ने शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता अन्य आधारों पर भी सिद्ध की। हेमचन्द्र, विद्याधर और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसकी सृष्टिगत व्यापकता पर बल दिया : यह केवल मानवजाति की ही थाती नहीं है, अपितु यह समस्त-जीव-जाति-सामान्य है।[4] इस प्रकार भोज और अग्निपुराण के दार्शनिक आधार के साथ इन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सकल-जाति-सामान्यता का तत्त्व भी संयुक्त होगया। विश्वनाथ ने इसकी

---

१. आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। वृहदारण्यक, २।४।५

२, ३. अग्निपुराण ३३९।१-८

४. तत्र कामस्य सकलजाति सुलभतयाऽत्यन्त परिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। [काव्यानुशासन, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ८१; एकावली; नाट्यदर्पण]

पुष्टि काव्यशास्त्रीय पद्धति से की । इनके अनुसार शृङ्गार ही ऐसा एकमात्र रस है जिसमें उग्रता, मरण, और आलस्य को छोड़कर सभी सञ्चारियों तथा जुगुप्सा को छोड़ कर शेष सभी स्थायी भावों का समय के अनुसार समावेश हो जाता है ।[१] यह शृङ्गार की काव्यशास्त्रीय व्यापकता का ही अनुकथन है । "वस्तुत: देखा जाय तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृङ्गार रस के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध-स्थापन हो ही जाता है ।"[२] शारदातनय के अनुसार सभी सञ्चारियों का शृङ्गार से सम्बन्ध है ।[३] स्थायी-सञ्चारियों की स्थिति तो शृङ्गार में है ही, अनुभाव और सात्त्विक भाव भी सबसे अधिक शृङ्गार में ही समाविष्ट होते हैं । वियोग शृङ्गार के पाँच भेद हैं : पूर्व राग, मान, प्रवास, करुण और शाप हेतुक ।[४] काम की चक्षु:-प्रीति आदि १२ अवस्थाएँ तथा अभिलाष आदि १० अवस्थाएँ शृङ्गार की रागात्मक परिणतियों की परिधि को बहुत विस्तृत कर देती हैं । आलम्बन विभाव में नायक और उनके भेद, नायिकाओं का विस्तृत तन्त्र-विधान, नायिका की दूती-सखी आदि सहायिकाएँ तथा सखा-पीठमर्द आदि नायक-सहायक शृङ्गार के काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय विस्तार को और भी व्यापक कर देते हैं । नायक-नायिका के हाव-भाव-हेलादि सत्वज अलङ्कार भी शृङ्गार के अन्तर्गत आ जाते हैं । "रसों में केवल यही एक रस है जिसमें दोनों आलम्बनों (तथाकथित आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं । दूसरे शब्दों में, अन्य रसों के आलम्बन-युगल परस्पर शत्रु अथवा उदासीन हैं, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर अनुकूल घनिष्ट मित्र हैं । और फिर, समय समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द्र, भक्ति, कार्पण्य आदि तथाकथित भावों का भी शृङ्गार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो जाता है ।"[५]

३. भक्ति और शृङ्गार—

शृङ्गार के रसराजत्व को पुष्ट करने में मधुरा या प्रेमाभक्ति तथा उसके निरूपण करने वाले आचार्यों का भी महत्त्वपूर्ण योग है । मधुराभक्ति का शास्त्रीय विवेचन चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्य-भक्तों ने किया है । इनकी सूची इस प्रकार है : रूपगोस्वामी : 'भक्ति रसामृतसिंधु'; 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'लघु भागवतामृत'; सनातन गोस्वामी : 'श्रीमद्भागवत् दशम स्कन्ध की टीका,' 'षटसन्दर्भ' तथा'गोपाल चम्पू' । इनसे पूर्व भी 'भक्ति-सूत्र' साहित्य के सिद्धान्तों ने शृङ्गार के रस राजत्व की आध्यात्मिक भूमिका प्रस्तुत कर दी थी । भक्ति-शास्त्र और भक्ति साहित्य में प्रेम या शृङ्गार का सूक्ष्म और उदात्त रूप मिलता है । इसके सभी छोर अध्यात्म में लीन होते

१. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः । साहित्यदर्पण ३।१८६
२. डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी रीतिपरम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३३७
३. समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते । भावप्रकाश ।
४. काव्यप्रकाश, ४।४४ (वृत्ति)
५. डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३३७-३३८

दिखलाई देते हैं। पर उसके समस्त उपकरण सामान्य शृङ्गार-शास्त्र से ही गृहीत हैं। प्रसङ्ग, लीला, और लौकिक दृष्टि से वैपरीत्य आदि से भी उनकी आध्यात्मिकता ही सिद्ध होती है। नारद ने इस प्रेम को अनिर्वचनीय कहा है।[1] यह भी स्पष्ट किया गया है कि सामान्य लौकिक प्रेम में स्व-सुख प्रमुख होता है। आध्यात्मिक प्रेम में प्रियतम का सुख ही लक्ष्य होता है और प्रियतम के सुख से ही प्रेमी को सुख मिलता है।[2] भक्ति-सम्प्रदायों में इसी को अपनाया गया है। नारद ने इस प्रेम को गुण-रहित, कामना-रहित, प्रतिक्षण वर्धमान, विच्छेद-रहित, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, तथा अलौकिक कहा है।[3] इसकी प्राप्ति होने पर इसके अतिरिक्त न कुछ इन्द्रिय गोचर होता है और न अनुभव में ही आता है।[4] सर्वत्र-चतुर्दिक इसी का प्रसार और विस्तार हो जाता है। इस प्रेम या रति को लौकिक से पृथक् बतलाने के लिए इसका नाम 'उज्ज्वल' बताया गया। रूपगोस्वामी ने इसी 'उज्ज्वल रस' का निरूपण किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पार्थक्य पर अपना अभिमत इस प्रकार दिया है : "वस्तुतः जिसे लौकिक रस कहते हैं, वह गौड़ीय वैष्णवों की दृष्टि में रसाभास-मात्र है। जो रति जड़ोन्मुख होती है वह मोह है, प्रेम नहीं; वह बन्धन का कारण होती है। जो रति चिन्मुख होती है उसी को केन्द्र करके सच्चा प्रेम प्रकट होता है। मनुष्य जब जड़-शरीर की ओर आसक्ति दिखलाता है तो वस्तुतः वह मोह के वशीभूत बना रहता है। उसकी इस जड़ विषयक आसक्ति को 'काम' कहा जाता है, 'प्रेमा' नहीं। 'प्रेम' (प्रेमन् शब्द का पुल्लिङ्ग रूप) भगवद्विषयक प्रेम को कहा जाता है। अवश्य ही ब्रजरामाओं के 'काम' और 'प्रेमा' में कोई अन्तर नहीं था, यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वैसी ही प्रीति दिखाई थी जैसी प्राकृत स्त्री प्राकृत पुरुष के सम्बन्ध में दिखाती है। परन्तु श्रीकृष्ण प्राकृत पुरुष थे नहीं। उनका शरीर चैतन्य की घनीभूत मूर्ति-चिद्घन विग्रह-था। इसीलिए रूपगोस्वामी पाद ने कह दिया है कि ब्रजरामाओं की 'प्रेमा' ही लोक में 'काम' कही गयी है : —'प्रेमैव ब्रजरामाणां काम इत्य गमत् प्रथाम्।' गौड़ीय वैष्णवों ने मुक्त कण्ठ से घोषित किया था कि यह 'प्रेमा' ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष या कैवल्य अथवा अपवर्ग आदि नहीं प्रेमा पुमर्थो महान् ,'[5] चैतन्य सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में सिद्ध-तन्त्र सहज शृङ्गार दर्शन की अन्तर्धारा थी। साथ ही चण्डीदास, जयदेव और विद्यापति का अमर साहित्य भी इसी भूमिका में पनपता रहा। अलौकिक शृङ्गार का भी काव्यशास्त्रीय शैली में निरूपण हुआ और आधारभूत लौकिक उपकरणों की स्वीकृति ने शृङ्गार को लौकिक और अलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में रसराज बना दिया।

---

१. 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' – नारद भक्तिसूत्र, ५१
२. 'नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुख सुखित्वम्'। नारदभक्ति सूत्र, २४
३. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवम्। नारदभक्ति सूत्र, ५४
४. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। नारदभक्ति सूत्र, ५५
५. 'आलोचना' वर्ष ३, अङ्क १ (अक्टूबर, १९५३) पृ० ८६

रूपगोस्वामी का उज्ज्वल नीलमणि वैष्णव-सम्प्रदाय और काव्यशास्त्रियों दोनों में हैं। रूपगोस्वामी ने मधुर को 'भक्ति रसराट्' कहा है।[1] इसके गम्भीर विवेचन के साथ नायक-नायिका-भेद पर भी विस्तार के साथ लिखा गया है। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में शृङ्गार या 'मधुर' का रसराजत्व घोषित किया गया।

४. मनोविज्ञान और शृङ्गार—

मनोविज्ञान की दृष्टि से 'रति' मनुष्य की काम-वृत्ति का ही रूप है। यह मनुष्य की मूल-वृत्तियों में प्रबलतम है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के आचार्य सिग्मंड फ्रायड के अनुसार 'काम' मनुष्य के प्रत्येक कर्म की मूल सञ्चालिका वृत्ति है। सभ्यता, संस्कृति आदि इसी उन्नयन और रूपान्तरण की साधना के परिणाम हैं। विलड्यूरण्ट ने भी संयोगेच्छा को मूलेच्छा स्वीकार किया है। वह अपने अर्द्धांश की ओर जाने-अनजाने आकर्षित होकर उसी की खोज और उससे मिलने की साधना में रत रहती है। ऋग्वेद तो संसार का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है उसने भी काम को मन का प्रथम विकार माना है।[2] इसी संयोगेच्छा और कामवृत्ति पर शृङ्गार का भवन खड़ा है। 'रति' इसी काम-प्रेम से जन्य वृत्ति है।[3] इस वृत्ति के संतोष के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की साधनाएँ करता है। इसकी संतुष्टि के मार्ग में आने वाली बाधाओं से मनुष्य दुर्द्धर्ष संघर्ष करता आया है। इसकी संतुष्टि एक अपूर्व मानसिक सन्तुलन और लय को जन्म देती है। इसका कारण यह है कि इसके सन्तोष से अन्य वृत्तियाँ भी अव्यक्त रूप से सन्तोष प्राप्त करती हैं। इसके असन्तुष्ट या बाधित होने पर मनुष्य इसका उदात्तीकरण और उन्नयन करता आया है। इसी साधना में मनुष्य ने अमर साहित्य की अमराइयों की रचना की है, जिनकी शीतल छाया में उसे अपने आहत मन की आध्यात्मिक तृप्ति मिलती रही है। "रिचर्ड्स का कथन है कि जिस मनोवेग की तुष्टि से अधिकाधिक अन्य मनोवेगों को भी संतोष लाभ होता है, वही मूल्यवान है तथा उसी का चित्रण काव्य में ग्राह्य है।"[4] संसार के साहित्य में इसी के उन्नयन और उदात्तीकरण की प्रातिभ-साधना के सुरभित कुसुमों का सघन सौरभ व्याप्त है। काव्यशास्त्र में, शिष्ट साहित्य में और लोकगीतों में इसी मूल तार की झङ्कार अनुगुञ्जित है। सर्जक ही रति की साहित्यिक परिणति में अपनी असन्तुष्ट या बाधित

---

१. मुख्य रसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्य त्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥
शान्त प्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु मुख्येषु यः पुरा रसामृतसिंधौ संक्षेपेणोदितः। स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः पुनरत्र × × × × उच्यते।
[उज्ज्वलनीलमणि, १.२ तथा टीका भाग]

२. 'कामस्तदग्रे समवर्त्ततोधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत।'

३. 'स्त्री पुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो रतिः स्थायिभावः।' (रसगङ्गाधर, निर्णयसागर प्रेस, १९३९) पृ० ३८

४. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७७१

काम भावना की सुरम्य विकास नहीं पाता, श्रोता की कामवृत्ति भी एक सूक्ष्म गुद-गुदी का अनुभव करती है, जिससे पुलकित कामवृत्ति स्फूर्तिदायक बन जाती है। इस प्रकार मनुष्य की मूलवृत्ति की तुष्टि से सम्बद्ध होने के कारण व्यावहारिक जीवन तथा साहित्य के क्षेत्र में इस भाव-वृत्ति और शृङ्गार को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहा।

इसका द्वितीय पक्ष पतनोन्मुख भी है। यदि इसकी साधना में असावधानी बरती जाय तो सामाजिक दृष्टि से अनेक उत्पातों की सृष्टि हो सकती है। क्योंकि साहित्य का लक्ष्य जन-रुचि और जन-भावना को प्राञ्जल और परिष्कृत बनाना है। यदि कवि इस वृति की कुरुचिपूर्ण और सामाजिक दृष्टि से च्युतिपूर्ण परिणति करता है, तो अमङ्गल और अव्यवस्था की परिस्थिति उत्पन्न होती है। इसीलिए ध्वन्यालोक-कार आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि इसके वर्णन में कवि को अत्यन्त सावधानी से प्रवृत्त होना चाहिए।

५. हिन्दी में शृङ्गार के रसराजत्व की भूमिका—

संसार के सरस-साहित्य में शृङ्गार की सरल-तरल वीचियों का लास-नृत्य ही सबसे अधिक मिलता है! हिन्दी साहित्य में आरम्भ से ही शृङ्गार के प्राधान्य की स्थिति मिलती है। आरम्भ में जैन मुनियों और सन्त-सिद्धों के साहित्य में शम-शान्त भाव के प्राधान्य की ही आशा की जाती है।[1] पर जीवन तो गतिशील ही है। इसका शृङ्गार-पक्ष इतना सहज आक्राम्य नहीं होता। इसलिए दर्शन-तत्त्व में चाहे 'शान्त' का ही अधिराज्य रहा हो, पर साधना और साधना की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में शृङ्गार के तन्तु अनुस्यूत हो जाते हैं। बौद्ध धर्माश्रित साधना में तो तन्त्राश्रित शृङ्गार उच्छलित है ही, जैन मुनियों में भी शृङ्गार के छींटे—चाहे विरल ही हों—अवश्य मिलते हैं। राहुलजी ने लिखा है: "भूत-प्रेत, जादूमन्तर और देवी-देवतावाद में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल बाम मार्ग का, शायद उसका उतना जोर नहीं हुआ। लेकिन यह बिल्कुल ही नहीं था, यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चन्द्रे-श्वरी देवी यहाँ भी विराजमान हुई और हमारे मुनि-कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिङ्गन के गीत गाने लगे।"[2] जैन साहित्य में रूप-सौन्दर्य का चित्रण अत्यधिक मिलता है। शमन की शक्ति और रूपाकर्षण में प्रतियोगिता सी चलती रहती है। रूप का उद्दाम आकर्षण निर्वाण-मार्ग की बाधा है। यद्यपि उसका भी उद्देश्य विरक्ति ही है। जड़गत रूप की ओर मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ठ होगा, उससे उतनी ही तीव्र विरक्ति भी होगी। "नारी के शृङ्गारिक-रूप, यौवन, तथा तज्जन्य कामोत्ते-जना आदि का चित्रण उसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।"[3] सिद्ध-साहित्य

---

१. 'साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है। सन्त के हृदय में शृङ्गार कैसा?' डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १००

२. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३७

३. डा० शिव प्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २८२

की अभिव्यक्ति में तो प्रतीकात्मक शृङ्गार का प्रचुर प्रयोग है ही। स्वकीया, परकीया, सामान्या, अभिसारिका आदि नायिकाओं, संयोग-वियोग शृङ्गार के दोनों पक्षों का योगी-योगिनी की साधना और प्रतीकों को स्पष्ट करने की दृष्टि से पूर्ण नियोजन मिलता है।[१] रासो की वीररस-धारा में शृङ्गार के रङ्ग इन्द्रधनुष से प्रतिबिम्बित मिलते हैं। रासो काव्य में वर्णित युद्ध की पृष्ठभूमि में नारी-सौन्दर्य और युद्ध-विरत स्थिति में शृङ्गार-चित्रण, इसकी विशेषताएँ है।[२]

इसके पश्चात् भक्ति-गत शृङ्गार की उच्छलित धारा समस्त हिन्दी-साहित्य को हराभरा बना देती है। भक्त कवियों ने शृङ्गार की महत्ता और उसके रसराजत्व को भी पुष्ट किया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने वात्सल्य-भाव को महत्ता अवश्य दी थी, पर उनके निकट माधुर्य भी उपेक्षित नहीं था। उनके पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गार-मंडनम्' लिख कर दाम्पत्य-भाव को सर्वोत्कृष्ट घोषित किया। इसी भाव से पुष्ट भक्ति उनकी दृष्टि में सर्व श्रेष्ठ भक्ति है। रस-हीन व्यक्तियों को इस ग्रन्थ के अवलोकन का भी अधिकार उन्होंने दिया।[३] डा० दीनदयालु गुप्त ने इस विकास को यों व्यक्त किया है : "वल्लभाचार्य जी ने पहले माहात्म्यज्ञान पूर्वक वात्सल्य भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तरजीवनकाल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० बिट्ठलनाथ जी ने किशोर-कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।"[४] चैतन्य ने सङ्कीर्तन, नामस्मरण और लीलासक्ति को घनीभूत उज्ज्वल रस की भूमिका में प्रस्तुत किया था। इसी को शास्त्रीय आधार प्रदान करके रूप और सनातन गोस्वामियों ने ब्रज को ही इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र समझ कर अपनी साधना-स्थली बनाया। श्रीहित-हरिवंश जी ने प्रेमाभक्ति को ग्रहण किया और इनके सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने उज्ज्वल रस-सिक्त साहित्य का सृजन किया।[५] निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्तों में श्री भट्ट तथा हरिव्यास देवाचार्य जैसे भक्त कवियों ने माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता का उद्घोष किया।[६] स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में भी माधुर्य का ही प्राधान्य रहा। इनके शिष्यों में विहारिनदेव, बीठलविपुल, सहचरिशरण आदि अष्टाचार्यों ने अपने साहित्य के द्वारा माधुर्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। निर्गुणिया सन्तों की वाणी में शृङ्गार-रूपक सज गए। जायसी तो प्रेम की पीर के ही कवि थे। उनकी प्रेम-परम्परा आकाश और धरती को मिला रही है। सूर के भ्रमरगीत एवं तुलसी के मानस ने

---

१. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २४५–२५२
२. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० ५०
३. प्रार्थ ये रसिका स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञः माद्राक्षीदपि वैष्णवः॥ शृङ्गार मण्डन।
४. 'अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ० ५२७
५. डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य। पृ० ३६
६. दृष्टव्य श्रीभट्ट का 'युगल-शतक' तथा व्यासदेवाचार्य की 'महावाणी।'

अलौकिक प्रेम की लौकिक गङ्गा ही बहा दी। मीरा प्रेमदिवानी हो गई। वस्तुतः रीतिकाल में जिस शृङ्गार की अविरल वृष्टि हुई, उसकी भूमिका मधुर भाव शृङ्गार के स्वर्णसूत्रों से विनिर्मित है। सूरदास, और नन्ददास ने नायक-नायिका को मधुर रस की शास्त्रीय रूपरेखा में जोड़ कर जो बीज-वपन किया, उसने दो युगों को आच्छादित किया : भक्तिकालीन समाज इसी वृक्ष की शीतल छाया में बैठ-सका और रीतिकालीन परिस्थितियों में इस रस-वृक्ष ने नव पल्लव-सम्भार से अपना विलास-संकुल शृङ्गार किया।

६. रीतिकाल में शृङ्गार का रसराजत्व—

रीतिकाल की पृष्ठभूमि में भक्ति-रस का अतल-अनन्त सागर था। कृष्णभक्त कवियों की प्रतिभा ने मधुर-शृङ्गार को नवीन भूमिकाएँ और नवीन चरम-विन्दु प्रदान किये। इस रस का प्रतिनिधित्व करने वाली गोपियों की पुराणोक्त रूपरेखा में ब्रज की स्थानीयता प्राप्त हुई और वे एक नवीन शृङ्गार के साथ उपस्थित हुई। सूर ने गोपियों के द्वारा प्रतिपादित और साधित प्रेम की महिमा का पूर्ण कण्ठ से गायन किया—

प्रेम-प्रेम ते होइ प्रेमते पारहि पइये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहिते मिलें गोपाल।[1]

कृष्ण के साथ होने वाला प्रेम लौकिक मर्यादा को विच्छिन्न करके प्रवाहित होने वाला **प्रेम है। अतः इसमें परकीया प्रेम की** सी तीव्रता और अभिसारिका की सी अन्ध क्षिप्रता प्राप्त होती है। यद्यपि हिन्दी-भक्त कवियों ने परकीया भाव का समर्थन नहीं किया, फिर भी उनके स्वकीया प्रेम में लोकोल्लंघन की तीव्रता और क्षिप्रता वर्तमान है। साथ ही इस रस के विभाव-निरूपण में नायक-नायिका-भेद भी समाविष्ट हो गया। कृष्ण का दक्षिण नायकत्व सिद्ध ही था। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वकीया के रूप में और चन्द्रावली परकीया के रूप में ही मान्य थीं।[2] सूरदास ने इन दोनों के अनेक भेदों का निरूपण साहित्य-लहरी में किया है, पर लक्षण न देकर एक विलक्षण शैली में उदाहरणों का संग्रह किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नायिका-भेद और शृङ्गार की इस अलौकिक धारा को रीतिकालीन कवियों ने लोकाश्रित करके अत्यन्त समृद्ध किया। रीतिकाल ने समस्त विभाव-पक्ष भक्त कवियों से राधा-कृष्ण और गोपियों के रूप में लिया।

केशव ने इस धारा को सर्व प्रथम रीतिकालीन मोड़ दिया। अग्निपुराण और भोज वाली काव्यशास्त्रीय धारा से इसका सङ्गम करा के रीतिकाल में मान्य शृङ्गार के रसराजत्व की सुदृढ़ भूमिका उन्होंने ही प्रस्तुत की। सबसे पहले केशव ने ही शृङ्गार का रस-राजत्व घोषित किया—

---

१. सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० ५६३

२. डा० हरवंशलाल, सूर और उनका साहित्य, पृ० ३३१

नवहू रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार ।
सबको केशवदास हरि नायक है सिङ्गार ।। [रसिक प्रिया]

केशव ने इस घोषणा को एक विलक्षण पद्धति मे सिद्ध किया । उन्होंने अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव शृङ्गार में किया । केशव ने रतिभाव की परिभाषा में भी विस्तार किया । उन्होंने रतिभाव की चातुर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति को शृङ्गार माना है । रतिभाव की अभिव्यक्ति में अवश्य ही कामशास्त्रीय चातुर्य भी सम्मिलित है—

रति मति की अति चातुरीं, रतिपति मंत्र विचार ।
ताही सों सब कहत हैं, कवि कोविद शृङ्गार ।।[१]

यद्यपि नायिका-भेद और शृङ्गार-निरूपण का प्रमुख उपजीव्य कामशास्त्र रहा था पर केशव ने स्पष्टतः उस चातुर्य को सम्मिलित करके रीतिकाल के कवियों के लिए एक नूतन सामग्री-स्रोत निर्दिष्ट किया । इस प्रकार शृङ्गार को उन्होंने मूल स्थिति तो प्रदान की ही, उसकी आधारभूत सामग्री को भी उन्होंने प्रचुर विस्तार दिया । इस स्थिति के लिए शृङ्गार के एक ऐसे नायक की आवश्यकता थी, जो इस स्थिति के उपयुक्त है । उन्होंने सर्व-रसाश्रय कृष्ण को नायक के रूप में ग्रहण किया । इनमें सभी रस अन्तर्भूत है ।[२] 'रसिकप्रिया' में 'नवरसमय ब्रजराज' की ही वन्दना की गई है ।

केशव के पश्चात् 'देव' ने भी शृङ्गार के रसराजत्व की स्थापना का समर्थन किया । भक्त कवियों की भाँति देव ने प्रेम का महत्त्व-गायन किया । उन्होंने काम की महिमा का गायन इस प्रकार किया—

युक्ति सराही मुक्ति हित, मुक्ति-मुक्ति को धाम ।
युक्ति, मुक्ति औ, भुक्ति कौ, मूल सो कहिए काम ।।
बिना काम पूरन भए लगै परमपद क्षुद्र ।
रमनी राका ससि मुखी, पूरे काम समुद्र ।।[३]

पर यह कामुकता नहीं है । यह काम की आधार भूत विस्तृति है, काम की विधात्री और निर्मात्री दशा की अभिव्यक्ति है । यह वस्तुतः प्रेम का पर्याय है । प्रेम के आदर्श रूप का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

यह विचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाँहि ।
विषय बिकाने जनन की, प्रेमी छियत न छाँहि ।।

केशव की भाँति इन्होंने भी राधा-हरि के विभाव-पक्ष को ग्रहण किया—

---

१. रसिक प्रिया १।१७
२. "रस विषय में आचार्यों की अनेक बौद्धिक स्फुरणाएँ हैं... केशवदास जी अपनी बुद्धि के अनुरूप उन सभी विवेक विलासों को शृङ्गार की स्थायी वृत्ति रति की गति के अन्तर्भूत करके प्रदर्शित करना चाहते हैं ।" डा० विजयपाल सिंह, केशव और उनका साहित्य, पृ० १४४
३. रस विलास ।

सब सुखदायक नायिका-नायक जुगल अनूप ।
राधा-हरि आधार जस रस-सिङ्गार स्वरूप ।।[1]

फिर देव ने भी सभी रसों को शृङ्गार के अन्तर्गत सिद्ध किया है—

सो संजोग वियोग भेद, शृङ्गार दुविध कहु ।
हास्य, वीर, अद्‌भुत सँयोग के, सङ्ग अङ्ग लहु ।।
अरु करुना, रौद्र, भयान भये, तीनों वियोग अङ्ग ।
रस वीभत्सऽरु सांत होत, दोऊ दुहून सङ्ग ।।
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक जिनके अनुभव सब रसनि ।
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृङ्गार तनि ।।[2]

डा० नगेन्द्र ने शृङ्गार रस की प्रमुखता की परम्परा का संक्षेप में उल्लेख करते हुए लिखा है :[3] "शृङ्गार रस को प्रधानता देने वाला यह सिद्धान्त संस्कृत रस-शास्त्र में बहुत पुराना है। भोजराज ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसका प्रतिपादन किया है। हिन्दी में भी देव से पूर्व केशव, चिन्तामणि और मतिराम आदि इसकी घोषणा कर चुके थे। आधुनिक मनोविश्लेषण में भी इसकी चर्चा जोर से हो रही है।" देव ने यहाँ तक कह दिया कि नव रस मानना एक भ्रम ही है। सभी भावों और रसों का मूल तो शृङ्गार ही है—

भूंलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिङ्गार ।
तेहि उछाह, निरवेद लै, वीर, सान्त संचार ।। [भवानी विलास]

अन्य कवि-आचार्यों ने यह घोषणा मात्र की। पर केशव और मतिराम ने शृङ्गार को रसराज सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय प्रयास भी किया। लक्षण और उदाहरण दोनों के द्वारा इस सिद्धान्त को पुष्ट करने की चेष्टा दोनों आचार्यों ने की है। सोमनाथ ने भी इनके स्वर में स्वर मिला कर शृङ्गार को राज-सिंहासन पर पर अभिषिक्त किया है—

नव रस को पति सरस अति रस सिङ्गार पहिचान ।[4]

पीछे अन्य आचार्यों ने भी शृङ्गार के रस राजत्व की प्रतिष्ठा की। कुछ ने शृङ्गार पर ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना की। शेष रसों का सामान्य परिचय भी इन्होंने अपने ग्रन्थों में सम्मिलित नहीं किया। केवल शृङ्गार का निरूपण करने वाले प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

सुन्दर कवि	सुन्दर शृङ्गार
मतिराम	रसराज
देव	भवानी विलास

---

१. भवानी बिलास।
२. शब्द रसायन।
३. देव और उनकी कविता, पृ० १४५-१४६
४. रसपीयूषनिधि; ८।१

सोमनाथ	शृङ्गार विलास
भिखारी दास	शृङ्गार निर्णय

कालान्तर में यह सूची अधिक विस्तृत होती चली गई और यह शैली एक परम्परा ही बन गई।[1] जिन्होंने सब रसों पर भी लिखा है, उन्होंने भी शृङ्गार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

निष्कर्ष—शृङ्गार के रसराजत्व की परम्परा पर विचार करते हुए हमने देखा है कि शृङ्गार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए किन-किन पद्धतियों को अपनाया गया है। शृङ्गार के विस्तार के लिए कामशास्त्र ने सामग्री प्रदान की। मानव-मन के प्राचीन और नवीन विश्लेषण ने इसे मनुष्य का मूल भाव सिद्ध किया। सृष्टि और सृष्टिक्रम को बनाए रखने के मूल अभिप्रायों से सम्बद्ध होने के कारण यह जीव-मात्र की गतिविधि का नियामक और सञ्चालक है। इसीलिए अन्ततः सभी भाववीचियों की अन्त में इसी महाभाव में परिणति हो जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से सभी सञ्चारियों को इसके साथ सम्बद्ध दिखालाने में यही सिद्धान्त और प्रवृत्ति कार्य कर रहे हैं। वैसे सभी भावों में इसकी केन्द्रीय स्थिति मानने में विद्वानों को सङ्कोच नहीं रहा। पर, सभी रसों को एक विधान के साथ इसमें अन्तर्भाव करने के प्रयत्न के औचित्य को शङ्का की दृष्टि से देखा गया है। शृङ्गार-विरोधी रस और भावों को इसमें समाविष्ट करना विद्वानों को हास्यास्पद लगा है। फिर भी इस रस का जितना गहन अध्ययन किया जाय, उतना ही इसका रसराजत्व सिद्ध होता जाता है। केशव और देव की खींचातानी में अवश्य ही कुछ शिथिलता दृष्टिगत होती है। देव के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है : "......पहले तो मूलतः ही यह वर्गीकरण असङ्गत है, फिर यदि कोई आधार रखा भी गया है तो उसका अच्छी तरह निर्वाह नहीं किया गया।" अन्त में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काम मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इसकी एक सीमा लौकिक है तो दूसरी अलौकिक। जीवन-व्यापारों का यही मूल प्रेरणा-स्रोत है। साहित्य में और शास्त्र में इसकी महत्ता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की गई है। पर इसको रसराज सिद्ध करने के रीतिकालीन प्रयत्नों में तर्कगत शिथिलता है और औचित्य की कमी है। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने कह दिया : "शृङ्गार की प्रधानता तो ठीक है, परन्तु उसकी एकमात्रता सर्वथा मान्य नहीं है। ऐसा करने से करुण, भयानक, वीभत्स, रौद्र आदि विरोधी रसों को शृङ्गार में ठूँसने की खींचातानी करनी पड़ेगी और यह प्रयत्न सफल नहीं होगा। केशव और देव दोनों ने यही चेष्टा की है, कि सभी रसों के शृङ्गारपरक वर्णन किए जाएँ; परन्तु वे बुरी तरह असफल हुए हैं।"[2] अतः यह मानना चाहिए कि शृङ्गार रसों में श्रेष्ठ होने, क्षेत्र, विस्तार एवं सर्व मानव-भावगत होने के कारण रसों का शिरोमणि रसराज तो माना जा सकता है, परन्तु मात्र-रस के रूप में रसराजत्व की परिकल्पना असङ्गत है। सभी का अस्तित्व रहने पर 'राजत्व' की सफलता भी है।

---

१. दे० हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, [खण्ड ३, अध्याय ४] पृ० ३८७-३८८
२. देव और उनकी कविता, पृ० १४६

५

एको रसः करुण एव

१. भवभूति की स्थापना— एको रसः करुण एव
२. नारायण-अद्‌भुत, अभिनवगुप्त-शान्त एवं भोज-शृङ्गार की मात्र मान्यता
३. भारतीय करुण एवं अरस्तू के त्रासद में साम्य-वैषम्य, शापेन हावर-नीत्से, आचार्य शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र
४. मानव जीवन में करुणा की व्यापकता
   वाल्मीकि—वैष्णव, बौद्ध, ईसाई धर्म
५. करुण रस की परिभाषा एवं स्वरूप विस्तार
   —भरत, दण्डी, धनञ्जय, भोज, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भामह, चिन्तामणी, कुलपति मिश्र, केशव, देव, हरिऔध, एवं आधुनिक विचारक
६. करुणा की उत्पत्ति, क्षेत्र एवं उपकरणों का शास्त्रीय विवेचन
   —भरत, व्यास, शारदातनय, भोज
   आलम्बन-उद्दीपन-सात्विक-सञ्चारी-स्थायी
७. करुणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
   फायड-एडलर-मार्शल-काल्विन-जुङ्ग
८. निष्कर्ष

भवभूति ने करुण रस के सम्बन्ध में लिखा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त बुद्‌बुद् तरङ्गमयान विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥[1]

तात्पर्य यह है कि करुण रस ही मूल रस है। अन्य सभी रस इसी मूल रस से उद्‌बुद्ध होते हैं। पर यह कथन 'उत्तर रामचरित' की अश्रु विगलित भूमिका में कहा गया है। इसकी पुष्टि में भवभूति ने कोई शास्त्रीय तर्क प्रस्तुत नहीं किया। शृङ्गार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले आचार्यों ने अनेक तर्कों से उसके रसराजत्व को सिद्ध किया है। साहित्यदर्पणकार के प्रपितामह नारायण ने अद्‌भुत को,[2] अभि-

---

१. उत्तर रामचरित ३।४७
२. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यदनुभूयते ।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः ।
   तस्मादद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥ [साहित्य दर्पण]

नव गुप्त ने शान्त को,[1] और भोज ने शृङ्गार को[2] एक मात्र रस माना है। नारायण ने अद्भुत को मूल रस इसलिए स्वीकार किया है कि उनकी दृष्टि में चमत्कार ही रस का प्राण है। चमत्कार का मूल विस्मय है जो अद्भुत का स्थायी भाव है। शान्त को मूल रस मानने का कारण यह हो सकता है कि इसका सम्बन्ध मानव के चरम लक्ष्य मोक्ष से है और इसमें सत्व का उद्रेक भी सर्वाधिक रहता है। शृङ्गार की प्रधानता उसकी व्यापकता, और सभी संचारी आदि रसोपकरणों को अपने में समेटने की विस्तृत क्षमता पर आधारित है। एक रस को प्रधान मानने की परम्परा में सबसे अधिक तर्क प्रस्तुत करने का उद्योग शृङ्गार के सम्बन्ध में ही हुआ है। करुण रस को मुख्य मानने के तर्क तो प्रस्तुत नहीं किए गए, पर सामान्य दृष्टि से इसकी मुख्यता का कथन अत्युक्ति नहीं प्रतीत होता। इस भाव का महत्त्व यह है कि इसके द्वारा मनुष्य की चित्तवृत्ति उदात्त हो जाती है। उसके अहं की स्वार्थ-सीमाएँ समष्टि-विस्तार में लीन होने लगती हैं। निष्ठुर से निष्ठुर हृदय भी इसके प्रभाव से द्रवीभूत हो जाता है—इतिहास में इसके अनेक प्रमाण—असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं। शुक्ल जी ने तो इसके लोक-पक्ष पर बल देकर, सामाजिक जीवन में इसकी महत्ता प्रदर्शित की है।[3] भगवान बुद्ध के करुणाश्रित दर्शन और सन्तों के सेवा-सिद्धान्त की सुदृढ़ पृष्ठभूमि भी इस रस को प्राप्त है। वैष्णव दर्शन में 'पराई पीर' को जानना ही उच्चतम आदर्श माना गया है। यूनानी काव्यशास्त्रियों का त्रासदी और विरेचन सिद्धान्त भी इससे साम्य रखता है। यह सब इसकी व्यापकता को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार चाहे करुण रस को प्रधानता देने वाले सिद्धान्त को शास्त्रीय तर्कों का बल न मिला हो, पर साधारण जीवन की गतिविधि में इसकी महत्ता स्वतः सिद्ध है। सम्भवतः यही कारण है कि भवभूति की घोषणा का प्रतिवाद प्रायः नहीं किया गया।

डा० नगेन्द्र ने त्रासदी और करुण रस के सम्बन्ध में लिखा है : "अरस्तू-(ई. पू. ४ शती) प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय काव्यशास्त्र के करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग हैं करुणा और त्रास और इन दोनों में ही पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है। उधर करुण रस का स्थायीभाव है शोक...करुण रस के परिपाक में शोक स्थायीभाव के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र भी करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है।......परन्तु अरस्तू और भारतीय आचार्य के दृष्टिकोण में कदाचित् एक मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र भाव है; परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र का शोक स्थायीभाव मूलतः अमित ही रहता है।......जहाँ तक इष्टजन के वध का सम्बन्ध है उसमें तो त्रास अनिवार्य है; किन्तु करुण के लिए वध तो अनिवार्य नहीं है—केवल मृत्यु ही अनिवार्य है, जो त्रास उत्पन्न किए बिना भी घटित हो सकती है। उदाहरण

१. 'सर्वे रसानां शान्त प्रायः एवास्वादः' [अभिनव भारती, प्रथम भाग]

२. शृङ्गार प्रकाश, वी० राघवन् , पृ० ४२७

३. चिन्तामणि : करुणा।

के लिए सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नहीं है। अरस्तू भी ऐसी स्थिति से अनभिज्ञ नहीं है; परन्तु वे त्रासहीन करुण प्रसङ्ग को आदर्श त्रासद स्थिति नहीं मानते। भारतीय आचार्य इस विषय में उनसे सहमत नहीं हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में सीता की कथा से अधिक 'करुण' प्रसङ्ग कदाचित् और कोई नहीं है।"[1] इस प्रकार सिद्धान्ततः अरस्तू के त्रासदी-सिद्धान्त और करुण-रस में मौलिक अन्तर अवश्य है। परन्तु जहाँ तक स्थायी भाव का सम्बन्ध है, दोनों में पर्याप्त साम्य है। इष्टजन का किसी अप्रत्याशित संकट में पड़ जाना भी करुण-प्रसङ्ग होता है। इष्टजन की निर्दोषिता में विश्वास रखने वाला पाठक, परिस्थिति के व्यंग्य से आकुल होकर करुणा में प्रवाहित होने लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्य परम्पराओं में करुणा का किसी न किसी रूप में महत्वाङ्कन किया गया है। इनको संसार के मानवतावादी दर्शन का भी आधार प्राप्त है। साथ ही मानव-मन की निम्नोन्मुखी वृत्तियों को उदात्त और परिष्कृत करने की अभूतपूर्व शक्ति करुणा में ही निहित है। वास्तविकता तो यह है कि ट्रैजिडी : त्रासद को लेकर योरोपीय समीक्षकों ने जो समाधान प्रस्तुत किये हैं विशेषकर करुण दृश्यों के प्रभाव के सम्बन्ध में उन सबके मूल में अरस्तू का "कैथार्सिस-सिद्धान्त ही विभिन्न स्वरूपों में प्रयुक्त हुआ है। शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ ई०) के प्रसिद्ध सभी दुःखान्त नाटकों की व्याख्या इसी रूप में हुई है। आगे चल कर हीगेल (१७७०-१८३१ ई०) ने मनुष्य एवं ईश्वर के सम्बन्ध की रहस्यात्मकता और मानव के आचरण की नैतिक भावना को इसका मूल माना है। शापेन हावर (१७७८-१८६० ई०) नीत्शे (१८४४-१९६० ई०) आदि दार्शनिकों ने इस पर पर्याप्त विवेचन किया है।[2] इसी दृष्टि से करुण-रस की शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

करुण रस की परिभाषा—

अन्य रसों की भाँति करुण-रस की भी आचार्यों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के आद्याचार्य भरत मुनि (ई० ३ शती) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है : इष्ट-वध के दर्शन अथवा प्रतिकूल वचनों के श्रवण आदि से करुण की उत्पत्ति होती है।[3] करुण के अभिनय में उन्होंने इन चेष्टाओं का परिगणन किया है : अश्रु, रोदन, मोह-प्राप्ति, विलाप, दैवनिन्दा आदि।[4] आगे भरत मुनि ने इसके विभावों की संख्या को और भी बढ़ा दिया है : शाप, क्लेश, इष्टनाश, वैभवनाश, वियोग, बध, बन्धन, विप्लव, विनाश, दुःख प्राप्ति आदि से यह उत्पन्न होता है। अश्रु-पात, विलाप, मुख सूखना, विवर्णता, अङ्गों का शैथिल्य, दीर्घ निःश्वास, विस्मृति,

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ६३-६४
२. डा० जगदीश गुप्त—करुण रस
३. अथ करुणो नाम शोक स्थायि भावप्रभमवः। शापजन्य क्लेशविनियात इष्टजन विप्रयोग, विभवनाशः॥ नाट्य शास्त्र, ६।६२
४. नाट्य शास्त्र, ६।६३

आदि को अनुभावों के अन्तर्गत रखा गया है। सञ्चारियों में निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, स्तम्भ, वेपथु, विवर्णता, अश्रु, स्वरभेद आदि आते हैं। इन सूचियों से करुण के शास्त्रीय विस्तार का परिचय मिल जाता है। विस्तार की दृष्टि से शृङ्गार के उपरान्त करुण ही आता है। दण्डी ने भी शोक का कारण इष्ट-नाश ही माना है। इष्टनाश से उत्पन्न व्याकुलता ही शोक है।[1] धनञ्जय ने (ई० १० शती) इष्टनाश के साथ-साथ अनिष्ट की प्राप्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इनसे उत्पन्न शोक से सन्तप्त आत्मा ही करुण रस का अनुभव करती है। निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन, स्तम्भ, प्रलाप, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि धनञ्जय के अनुसार करुण के सञ्चारी हैं।[2] भरत की भाँति इन्होंने भी व्यभिचारियों की एक लम्बी सूची दी है। भोज ने एक अन्य ही प्रकार से करुण की परिषाभा दी है। जो मूर्च्छा, विलाप और मृत्यु की प्रेरणा को उत्पन्न करता है तथा चित्त को दुःखमय कर देता है, वही करुण है।[3] इस परि-भाषा में अनुभावों के कारण के रूप में करुण की प्रतिष्ठा की गई है। हेमचन्द्र के अनुसार इष्टनाशादि विभाव, दैवनिन्दा आदि अनुभाव तथा दुःखमय व्यभिचारियों से उत्पन्न शोक ही करुण है।[4] विश्वनाथ ने धनञ्जय की भाँति, इष्टनाश एवं अनिष्ट-प्राप्ति दोनों को ही विभाव माना है। साथ ही इसके देवता, वर्ण आदि पर विचार करते हुए, इन्होंने लिखा है : इसका वर्ण कपोत जैसा होता है और इसके देवता यम हैं। शोक इसका स्थायी भाव है। शोच्य-आलम्बन, दाहादि-उद्दीपन, दैवनिन्दा, पतन, क्रन्दन, आदि अनुभाव हैं। सञ्चारियों में : वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप, निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, विस्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि आते हैं।[5] पण्डितराज जगन्नाथ ने पुत्र आदि प्रियजनों के वियोग या मृत्यु से उत्पन्न व्याकुलता को शोक माना है।[6] वाग्भट्ट ने करुण की उत्पत्ति शोक से मान कर स्थायी भाव की ओर संकेत किया है। व्यभिचारियों में इन्होंने केवल भूपात, रोदन, वैवर्ण्य, मोह, निर्वेद, प्रलाप और अश्रु को लिया है।

संस्कृत के आचार्यों की भाँति हिन्दी के आचार्यों ने भी अपना अभिमत दिया है। हिन्दी के अधिकांश काव्याचार्यों ने भी संस्कृत पद्धति को स्वीकार करते हुए करुण रस का लक्षण रूढ़िगत रूप में प्रस्तुत किया है। चिन्तामणी ने अपने कविकुल कल्पतरु

---

१. 'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैकल्व्यं शोकः उच्च्यते,' काव्यादर्श।

२. दशरूपक, ४।८१

३. सरस्वती कण्ठाभरण, ५।७६

४. काव्यानुशासन, २।१२

५. साहित्य दर्पण, २५२-२५५

६. पुत्रादि वियोगमरणादि जन्मा,
वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्ति विशेषः शोकः। रस गङ्गाधर।

में : "इष्टनास कि अनिष्ट की, आगम ते जो होई दुःख सोग भाई जहाँ भावकर कह सोई" द्वारा अपना अभिमत व्यक्त किया है। कुलपति मिश्र 'रस रहस्य' में भरत के नाट्यशास्त्र के ही अनुरूप उल्लेख किया है। केशव ने 'प्रिय के विप्रिय करन' को करुण रस का कारण माना है। उनके अनुसार सुख के समस्त उपायों के निरस्त हो जाने पर करुणा उत्पन्न होती है—

छूटि जात केशव जहाँ, सुख के सबै उपाय।
करुणा-रस उपजत तहाँ, आपुन ते अकुलाय॥

[रसिक प्रिया]

महा कवि देव ने इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्ति के आधार पर निराशा की स्थिति के साथ करुण की परिभाषा इस प्रकार मानी है—

बिनसे ईठ, अनीठ सुनि, मन में उपजत सोग।
आसा छूटे चारि बिध, करुन बखानत लोग॥

[शब्द रसायन]

इन परिभाषाओं में कुछ असमानता भी है। पर यदि इनके सामान्य तत्त्वों को लिया जाय तो करुणा के निरूपण में सभी आचार्यों ने समान तत्त्वों को लिया है। अन्तर केवल सूचियों के विस्तार या सङ्कोच का हो सकता है। किसी रस के देवता के द्वारा उस रस का प्रतीकात्मक परिचय दिया जाता है। 'यम' मृत्यु का देवता है। हरिऔध जी का मत इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है : "जिस रस का जो गुण, स्वभाव और लक्षण होता है, उसका देवता प्रायः उन्हीं गुणों और लक्षणादि का आदर्श होता है। क्योंकि उसी के आधार से उस रस की कल्पना होती है।"[1] इस दृष्टि से यम के गुण और स्वभाव करुण से सम्बन्ध रखते हैं। डा० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव ने करुण के देवता यम को ब्रह्मज्ञानी औपनिषदिक ऋषि के गुणों वाला माना है : "भौतिक जगत में मानव अपनी असहायावस्था तथा प्रकृति के नियमों के समक्ष अपनी कटु विवशता का अनुभव उस समय करता है जब वह देखता है कि इष्टनाश तथा अनिष्ट प्राप्ति के सम्बन्ध में वह कुछ भी व्यतिक्रम नहीं कर पाता।......इस विवशता एवं कातरता की स्वानुभूति के कारण अन्य प्राणियों के साथ उनके इष्ट नाश तथा अनिष्ट प्राप्ति के समय उसकी सहानुभूति हो उठना अति स्वाभाविक है। उसकी यह दशा यम (उपनित्कालीन, ब्रह्मज्ञानी) के इस प्रथम रूप से पूर्ण मेल खाती है। साथ ही यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि घटना कालक्रम में नाट्यशास्त्र की रचना पौराणिक काल से पूर्व हो चुकी थी। अतएव यम के उपनिषद् काल के रूप की ही प्रतिष्ठा नाट्यशास्त्र में हुई होगी।"[2] इस तर्क में ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य ही बल है। पर यम का सम्बन्ध कठोपनिषद् के नचिकेता-उपाख्यान से है। उस आख्यान का सम्बन्ध मृत्यु से भी हो जाता है। इसलिए 'वध' या मृत्यु का कुछ न कुछ

---

१. रस कलस, पृ० ७४

२. डा० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव, 'करुण रस की मनोविज्ञानाश्रित शास्त्रीय समीक्षा', 'भारतीय साहित्य' [अक्टूबर, १९५७] पृ० ३९

गुण करुण-रस की योजना में माना जाना चाहिए। साथ ही उपनिषद् में 'यम' एक आचार्य के रूप में आता है, देवता के रूप में नहीं। 'यम' का देव रूप वैदिक साहित्य में तो मिलता है। ऋग्वेदीय यम प्रत्येक आनन्द का प्रदाता और कामद है।[१] पर उसका मृत्यु रूप भी सम्भवतः किसी न किसी परम्परा में अवश्य चला आ रहा था। वही रूप पौराणिक युग में उभर कर ऊपर आ गया है। पौराणिक साहित्य में मिलने वाले तत्त्व पुराणों के सङ्कलन-काल या सम्पादन-काल से सम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। अतः एक ओर जहाँ हृदय की सात्विक उदात्तता की दृष्टि से करुण का सम्बन्ध ऋग्वेदीय या उपनिषत्कालीन यम से जोड़ा जा सकता है, वहाँ मृत्यु से भी उसका सम्बन्ध यदि जोड़ दिया जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि यम का यही रूप मनुष्य की विराट् विवशता का सनातन प्रतीक हो सकता है, परन्तु हिन्दी के अधिकांश उत्तरकालीन कवियों ने करुण का देवता यम के स्थान पर वरुण को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार भरत से लेकर विश्वनाथ तक की परम्परा के विरुद्ध नूतन मान्यता का अनुसरण किया है।[२]

करुण-रस का वर्ण कपोत-वत् माना गया है। इसमें करुणा के आश्रय की बाह्य मलिनता ही द्योतक है। भरत ने करुणा के आश्रय की शोक-पूर्ण दृष्टि का चित्र इस प्रकार दिया है :—

> अवस्रस्तोत्तरपुटा
> रुद्ध तारा जलाविला
> मन्द सञ्चारिणी दीना
> सा शोकेष्टि रुच्यते।[३]

अर्थात् शोकापन्न व्यक्ति के पलक शिथिल होते हैं। उसके नेत्र साश्रु होते हैं। नेत्र-तारे अवरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उसकी दृष्टि मन्द सञ्चारिणी और दैन्य को प्रकट करने वाली होती है।

करुण-रस के भेदों की चर्चा प्रायः संस्कृत के आचार्यों ने नहीं की। शृङ्गार के अन्तर्गत एक 'करुण विप्रलम्भ' भेद अवश्य मिलता है। इन दोनों का अन्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार किया है : "करुण विप्रलम्भ में किसी शक्ति के द्वारा मृत प्रिय के फिर से जीवित होने की आशा रहती है। यदि कहीं इस प्रकार की आशा न हो, तो करुण रस हो जाता है।"[४] हिन्दी के आचार्यों में देव ने इसके पाँच भेद स्वीकार किये हैं :

> करुना, अतिकरुना, अरु महाकरुन लघु हेत।
> एक कहत हैं पाँच में, दुख में सुखहि समेत॥

---

१. Dr. Muir, Hindi Mythology., by W. J. Wilkins.
२. डा० जगदीश गुप्त, हिन्दी साहित्य कोश—करुण रस
३. नाट्य शास्त्र, ८।५६
४. रस मीमांसा : करुण-विवेचन।

रस के चरम रूप में इस प्रकार का भेद करना कठिन है। देव के भेदों में से प्रथम तीन (करुणा, अतिकरुणा और महाकरुणा) भाव की तीन उत्तरोत्तर स्थितियों का ही बोध कराते हैं। महाकरुण की स्थिति पर मृत्यु घटित हो जाती है। लघु करुण और सुख-करुण करुणा-सिक्त दिनों की स्मृतियों पर आश्रित है। दु:ख के दिनों की स्मृति वर्तमान सुख को प्रियतर बना देती है।

करुण की उत्पत्ति—

भरत के अनुसार करुण-रस की उत्पत्ति रौद्र से होती है।[1] भरत के अनुसार रसास्वाद के समय रसिक के हृदय की चार अवस्थाएँ होती है : विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप।[2] इन्हीं अवस्थाओं से शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र सम्बद्ध हैं। इन चार मूल रसों से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण की उद्भावना होती है। इस कथन को इस तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—
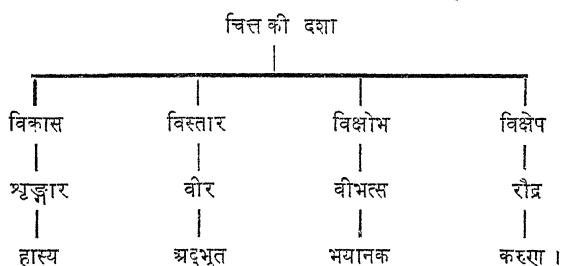
शारदा तनय ने उक्त मूल चार रसों का उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार माना है : साम से शृङ्गार, ऋग्वेद से वीर, अथर्व से रौद्र और यजुः से वीभत्स। रौद्र की क्रूर क्रिया ही करुण रस है।[3] व्यास के अनुसार करुणोत्पत्ति की कथा इस प्रकार है : जगत् के संहार के पश्चात् शिव ने ब्रह्मा को बनाया। ब्रह्मा ने पिछले कल्प की शिव-लीलाओं को देखना चाहा। शिव प्रकट हुए। उनसे ब्रह्मा को नाट्यवेद की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् त्रिपुर-वध रूपक रचा और खेला गया। उसमें वीरभद्र के द्वारा दक्ष-यज्ञ का विध्वंस कराया गया। दीन तथा विलपते स्त्री-पुरुषों को देखकर करुण और रौद्र की उत्पत्ति हुई।[4] सामान्यतः करुण-रस की उत्पत्ति इच्छा से मानी जाती है। राग और द्वेष, या काम और क्रोध इच्छा के ही रूप हैं। रागात्मक प्रीति का शृङ्गार से, सम्मान का अद्भुत से तथा दया का सम्बन्ध करुण से है। सत, रज, तम में से करुण का सम्बन्ध 'रज' से माना गया है।

उत्पत्ति सम्बन्धी विचार को भोज का योगदान है। उन्होंने

१. नाट्य शास्त्र, ६।३६
२. ,, ,, ४।४३
३. भाव प्रकाश, तृतीय अधिकरण।
४. ,, ,,

'अहङ्कार' से सभी रसों को सम्बद्ध माना है। बाह्य जगत् से सम्पृक्त अहं की त्रिगुणात्मिका प्रतिक्रिया हो सकती है। तीनों गुणों में से वह किसी से भी अभिभूत हो सकता है। नायक-नायिका के अहङ्कार का अनुरूप प्रभाव ही दर्शक पर होता है। आठ प्रकार के भावों का अनुभव अहं के ही आठ रूपों में परिवर्तन की प्रक्रिया है।

'इच्छा' को केन्द्र मान कर भी करुण-रस पर विचार किया जा सकता है। इच्छा विपमान्वयों में व्यक्त हो सकती है : कहीं वह राग है और कहीं द्वेष। एक स्थान पर वह 'काम' के रूप में व्यक्त होती है तो दूसरे स्थान पर क्रोध में। 'राग' का सम्बन्ध प्रीति, सम्मान और दया से है। इन तीनो से क्रमशः शृङ्गार, अद्‌भुत और करुणा सम्बद्ध हैं। गुणों की दृष्टि से इसका सम्बन्ध 'रज' से माना गया है। 'अहं' इन गुणों से अभिभूत होता है। 'रज' के अतिरिक्त 'तम' से भी करुण का सम्बन्ध मानना युक्ति-युक्त है क्योंकि 'रौद्र' से उत्पन्न यह रस 'तम' से असम्बद्ध नहीं हो सकता। दया भी तो करुणा से ही सम्वद्ध है।

करुण-रस के उपकरणों की शास्त्रीय व्याख्या—

करुण-रस का प्रथम आलम्बन जिसने साहित्य में स्थान पाया, क्रौञ्च था। क्रौञ्च काम-सम्मोहित था। क्रौञ्च-पक्षी के आनन्द स्फीत क्षणों पर वज्राघात हुआ। कामातुर मिथुन में से एक का बध हो गया : दूसरा करुण चीत्कार कर उठा। वाल्मीकि की करुण वाणी से क्रुद्ध हो वधिक को शाप दिया। इस प्रकार प्रथम काव्य-वाणी का प्रादुर्भाव हुआ।[1] वाल्मीकि की प्रतिभा ने इस आलम्बन-आख्यान को अमर बना दिया। उस काल में मानव-मन की करुणा की परिधि में जीव मात्र था। आलम्बन के स्रोत अनन्त और विविध थे। वाल्मीकि की शोकानुभूति की भाव-भूमि उदात्ततम है। समस्त विश्वभावना ने प्रतिभा के साथ सन्धि करके लौकिक काव्य का पथ प्रशस्त किया। यह भावना वैदिक अनुष्ठानों के जञ्जाल में लुप्त सी हो गई थी। वाल्मीकि रामायण का रचना-काल प्रायः ५०० ई० पू० से पूर्व माना जाता है। वाल्मीकि की करुणासिक्त वाणी चाहे आगे के समय में करुण-रस की एकान्त प्रतिष्ठा न कर पाई हो, पर उसमें कवि के सुप्त संस्कारों को जागृत और सक्रिय करने की प्रेरणा आज तक मानी जाती है। कवि के सुप्त भावों को शृङ्गार-मिश्रित करुण ही जागृत कर सकता है। शृङ्गार का संस्पर्श करुणा को अधिक मार्मिक और व्यापक बना देता है। इस प्रकार वाल्मीकि की आलम्बन-कल्पना की पृष्ठभूमि शृङ्गार की है और वह मानवतावादी धरातल पर ही नहीं, विश्व-भावना में अपनी परिणति पा रहा है।

महाभारत के आदिपर्व में भी करुण का एक आलम्बन सामने आता है। महाराज पाण्डु मृगया के लिए गए। काम-चेष्टारत हरिण-युग्म में से एक को उन्होंने मार दिया। हरिणी के मरने पर, हरिण भी कुछ ही क्षणों तक जीवित रह सका। उसने शाप भी दिया। वस्तुतः कर्दम ऋषि और उनकी पत्नी ही हिरण-युग्म के रूप में

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा,
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।

काम-रत थे। ऋषि ने राजा से कहा कि साधारण व्यक्ति भी इस प्रकार काम-रत युग्म को नहीं मारता।[1] इसकी भूमिका में भी बाधित शृङ्गार-भावना है। बाधित शृङ्गार-भावना जहाँ विद्रोह बन सकती है, वहाँ करुणा के आलम्बन को भी मूर्त कर सकती है। इस भूमिका में शाप का तत्त्व समाविष्ट है। शाप इस सन्दर्भ में आहत प्रेम की ही प्रतिक्रिया है। यह शाप एक और करुणाख्यान की भूमिका प्रस्तुत कर देता है। वह उस आलम्बन-परिवेश की भावी घटना को निश्चित कर देता है। प्रस्तुत घटना को अभिशप्त होते हुए देख कर एक सन्तोष भी मिलता है। शाप का तत्त्व वैसे वाल्मीकि में भी है। पर उस शाप के परिणाम स्वरूप अभिशप्त की भावी कथा की सम्भावना वहाँ नहीं है। वाल्मीकि का आलम्बन राम बना और महाभारत का पाण्डु। इस प्रकार दोनों आलम्बनों की पृष्ठभूमि में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

कालान्तर में आलम्बन-गत भावना का इतना विस्तार न रह सका। आचार्यों ने सम्भावित आलम्बन इस प्रकार माने हैं: इष्टनाश—बन्धु-बान्धव एवं पुत्रादि का मरण अथवा वियोग। धन-वैभव का नाश भी आलम्बन-विधान के अन्तर्गत स्वीकार्य है। पराजय, पराभव आदि भी करुण-रस के आलम्बन की सृष्टि कर सकते हैं। धर्म-अपघात या शाप भी इसके अन्तर्गत हैं। क्लेश अथवा दुःख की प्राप्ति भी आलम्बनों में है। 'इष्टनाश' में मनुष्य के सभी पारिवारिक एवं रागात्मक अतीत सम्बन्ध आ जाते हैं। इनमें पुत्र-नाश या पुत्र-वियोग सबसे अधिक दारुण है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी आलम्बन का अधिक विस्तार किया है। धन-वैभव के नाश से मनुष्य असहाया-वस्था को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवन-यापन का साधन कभी-कभी जीवन से भी अधिक प्रिय होता है। विजित-पक्ष का शोक-सन्ताप भी विश्व-विश्रुत है। धर्मापघात में करुण के आलम्बन का आध्यात्मिक पक्ष स्पष्ट होता है। आदर्श धर्म-निष्ठा के कारण इससे भी दुःख होता है। धर्मवीर में इसका उत्कर्ष देखा जा सकता है। शाप एक क्षुब्ध आत्मा की अशुभ वाणी है। इसकी भूमिका में कोई नैतिक या धार्मिक वैषम्य प्रायः रहता है। अभिशप्त व्यक्ति करुण रस का आलम्बन होता है। शाप के दुष्परिणाम की कल्पना से ही वह कातर हो उठता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शाप 'कुत्सित संवेदन' के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि करुण-रस का आलम्बन-विचार अत्यन्त व्यापक है। उसमें चतुर्वर्ग भी समाहित हो जाता है।

उद्दीपन समवेत रूप से उस समस्त उपकरण-सामग्री का नाम है, जो आलम्बन द्वारा प्रस्तुत समस्त भाव-भूमि को उद्दीप्त करती है। इस उद्दीप्त स्थिति में सामाजिक के लिए भी रसास्वाद का पथ प्रशस्त और सरल-स्वाभाविक होता जाता है। जिस सामग्री के साथ वियुक्त या नष्ट इष्ट या प्रिय का सम्बन्ध था और जो

१. महाभारत के आदिपर्व का सभापर्व अध्याय ११७ श्लोक ५-३३

२. वासुदेव जराकष्टं कष्टं निर्धन जीवितम्
पुत्र कष्टं महद्दुःखम्......... महाभारत

सामग्री एक विशेष प्रकार की भावना को उस समय उद्दीप्त करती थी, वही प्रतिकूल प्रभावापन्न होकर करुण के लिए उद्दीपन बन जाती है। वाणीगत और क्रियागत उद्दीपन सामग्री इष्ट-नाश या इष्ट हानि के समय उतनी नहीं रहती, जितनी वातावरणगत। समानता या सादृश्य की वृत्ति स्मृति सञ्चारी को उद्बुद्ध करके उद्दीपन अधिक उपस्थित करती है।

अनुभाव, भाव के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध है। सभी सात्त्विक भाव तो करुण के साथ सम्बद्ध हो ही सकते है, गुण-कथन, प्रलाप, छाती पीटना, आदि क्रियाएँ भी करुणावेश की बाह्य चेष्टाएँ बन जाती है। एक विशेष मुद्रा के साथ मौन, शून्य-निरीक्षण आदि अद्भुत अनुभाव भी इस रस के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक शोक की पृष्ठभूमि में एक क्षति रहती है। जब क्षति की पूर्ति असम्भव या दूरवर्ती हो जाती है तो वास्तविक शोक होता है। इस स्थिति में शारीरिक विकारों की योजना प्रो० मार्शल के शब्दों में कुछ इस प्रकार की होती है :[१] रक्त-संचार का शिथलीकरण; मुख-मण्डल का पीला पड़ जाना; स्नायु मण्डल में शैथिल्य; पलकों, सिर, ओष्ठ, कपोल तथा नीचे के जबड़े का नीचे को झुक जाना आदि। 'रुकमिक' ने अपने 'आउट लाइन आव फेशियल एक्सप्रेशन (Outline of facial expression) में शोकाकुल मुखाकृति का और भी विस्तृत विवरण दिया है। इन सभी के मूल में शरीर के स्नायु तन्तुओं, शिराओं और अनुबन्धों के शैथिल्य की चर्चा है। उत्तर रामचरित में भवभूति ने अश्रु और प्रलाप को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का रक्षक बतलाया है :—

स्वयं कृत्वा त्यागं विलपन विनोदोऽप्यसुलभ ।
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम् ॥[२]

ये दोनों सामाजिक की रसानुभूति में भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

जहाँ तक सञ्चारी भावों का सम्बन्ध है, करुण रस के साथ मुख्यतः ये सञ्चारी आते है : निर्वेद, ग्लानि, विषाद, चिन्ता, मोह, स्मृति, भ्रम, दैन्य, आलस्य, शङ्का, औत्सुक्य, भय, आवेग, त्रास, व्याधि, अपस्मार, उन्माद, जड़ता, मरण आदि। इन सब की विशद व्याख्या विस्तार भय से यहाँ अपेक्षित नहीं है।

करुण का स्थायी भाव 'शोक' है। मनोविज्ञान शोक को आर्त्त-प्रकार (Appeal) और अधीनता-स्वीकृति (Submission) की वृत्तियों के साथ रखता है। आर्त्त-पुकार की स्थिति जन्मकालीन स्थितियों में ही मिल जाती है। शिशु असहायावस्था में माता की अधीनता का भी अनुभव करता है। यह मूल भाव है। मूलभावों में हर्ष और शोक दोनों ही आते हैं। पर, साहित्य में केवल शोक गृहीत है। सम्भवतः इसलिए कि शोक का आलम्बन मनुष्य-मात्र को क्षुब्ध कर सकता है, पर आनन्द में यह बात नहीं।[3] कालकिन ने शोक के वैज्ञानिक आधारों और उसकी

१. Encyclopeadia of Psychology, 1946, p. 138
२. उत्तर रामचरित ३-३०
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ० १९७ (सं. २००७)

शारीरिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया है। हेगेल ने स्वीकार किया है कि कला या साहित्य का सबसे अधिक द्रावक भाव शोक है।[1] उसके विचार से मानव के मानस जगत की परिशुद्धि और परिष्कृति शोक से ही सबसे अधिक हो सकती है। इस प्रकार करुण के स्थायी भाव शोक के विस्तार और व्यापकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत साहित्य एवं हिन्दी साहित्य इसके प्रमाण हैं।

हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल करुण रस के अनुकूल नहीं था। वहाँ कहीं-कहीं मृत्यु तथा अनिष्ट के रूप में करुण की परिस्थितियाँ आई हैं परन्तु वह वस्तुतः रसाभास का स्वरूप है। मान कवि के 'राजविलास'[2] में कहीं भी करुण का अच्छा परिपाक तो नहीं है, फिर भी आभास तो मिलता ही है। भक्ति साहित्य के आशा एवं उल्लासमय स्वरूप में करुण के लिए अवकाश ही कहाँ था तो भी सूफी कवियों में जायसी का नाम ही वियोग करुण के अन्तर्गत स्वीकार्य है तथा सगुणभक्ति में कृष्ण के मथुरा जाने का प्रसङ्ग करुण ही है। अधिकांश कवियों ने इसे करुण विप्रलम्भ के रूप में चित्रित किया है। कुछ आधुनिक कवि[3] शुद्ध करुण के रूप में भी अङ्कित करने में सफल रहे हैं। सूर की राधा का चित्र अपनी मौन व्यथा में करुण ही ठहरता है। तुलसी के कथाकाव्य में कैकेयी के वर माँगने पर दशरथ की दशा, राम वन-गमन और दशरथ की मृत्यु, सुमंत्र का अयोध्या लौटना, भरत प्रकरण प्रायः करुण ही है। कवितावली एवं गीतावली में अनेक करुण प्रसङ्ग तुलसी ने अङ्कित किये हैं। वर्तमान काल में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र' नाटक में इसकी सफल अवतारणा की है। देश की पराधीनता के कारण दुर्दशा में भी अनेक कवि करुण के निदर्शन में सफल रहे हैं। छायावादी परम्परा में महादेवी के काव्य में करुण सफलता के साथ अवतरित हो हो गया है।[4]

करुण का मनोवैज्ञानिक विवेचन—

फ्रायड और एडलर की खोजों ने साहित्य-सिद्धान्तों को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है। फ्रायड ने कामवासना पर बल दिया और एडलर ने 'विजय-कामना' और 'हीनता-ग्रन्थि' के सिद्धान्तों को प्रकाश दिया। फ्रायड के अनुसार 'अहं' की स्थिति चेतन और अचेतन के बीच है। अहं इन दोनों के बीच समझौता कराना चाहता है। पर इसके कार्यों पर 'आत्मालोचक'[5] का नियन्त्रण-निरीक्षण रहता है। आत्मालोचक जगत् या समाज के 'आदर्शों' का प्रतिनिधि होता है। इस सारी जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में इष्टनाश, कुण्ठा, हनन जैसे तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं, जो करुण' के मूल में रहने वाले तत्त्व हैं। इस परिस्थिति में मनुष्य को समाज या

---

१. Hegel, Philosophy of fine Arts, P. 310
२. राजविलास १–३७
३. हरिऔध–प्रियप्रवास
४. सत्येन्द्र–साहित्य कोश (१६८)
५. Super ego

'आत्मालोचक' के सम्मुख एक कटु विवशता का भी अनुभव होता है। विवश होकर वह अपनी आहत इच्छाओं की घुटन को सहन करता रहता है। इस प्रकार संक्षेप में फ्रायड के अनुसार करुण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का विश्लेपण किया जा सकता है।

एडलर के विवेचन के अनुसार रसानुभूति के दो रूप हैं : आलम्बन, आश्रयगत तथा सामाजिकगत। आश्रय का मन भी विजय-कामना से उद्वेलित रहता है। कभी-कभी भाग्य या परिस्थिति के वैपम्य और व्यंग्य के कारण उसकी विजय-कामना आहत हो जाती है। वह अपने को विवश और असहाय पाता है। इस दशा में इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्ति की प्रतिक्रिया में वह दैव या भाग्य की निन्दा में प्रवृत्त होता है। ये दोनों करुणा के अनुभावों या प्रकाशकों में हैं। इस निन्दा में प्रवृत्त होकर वह अपने महत्त्व को गिरने से बचाता है। कोई उसके महत्त्व या बल पर आक्षेप न कर सके, इसके लिए वह दैव या भाग्य-निन्दा का आश्रय लेता है। यह उसकी क्षत-विक्षत या आहत-चेतना के लिए कवच बन जाता है। इस प्रकार एडलर ने अभाग्य के मूल में भी मनुष्य के गर्व को ही देखा है। उनकी दृष्टि से अभाग्यशाली बनना महत्त्वपूर्ण होने का एक मार्ग है।[1]

सामाजिक-गत करुण की पृष्ठभूमि पृथक् है। एक कातर प्राणी के प्रति दया और सहानुभूति का प्रदर्शन इसके अन्तर्गत आता है। यह करुण-प्रदर्शन भी 'विजय-कामना' का ही एक रूप है। इसमें सामाजिक को अपनी महत्ता और अपनी तत्कालीन सुरक्षित स्थिति के गर्व के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। इसमें मनुष्य की हीनता-ग्रन्थि सन्तुष्ट होती है।[2]

जुङ्ग ने जातीय अचेतन का उद्घाटन एवं विस्तृत विवेचन करके फ्रायड के सिद्धान्त को बल दिया है और उसकी नवीन व्याख्या भी प्रस्तुत की। जुङ्ग का जातीय अचेतन वासना या संस्कार से अधिक भिन्न नहीं है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'करुण' को समझा जा सकता है।

निष्कर्ष—

अतः निर्विवाद रूपेण यह कहा जा सकता है कि करुण-रस साहित्य की आदि अभिव्यक्तियों से लेकर आज तक के साहित्य में समान रूप से व्याप्त है। बुद्ध,

१. 'Vanity is at the root of their misfortune. Being unlucky is one way of being important.'
[A. Adler, Understanding Human Nature, 1937, P. 262]

२. Professional sympathizers and alms-givers are not to be divorced from their activity for they are actually creating a feeling of their own superiority over the miserables and poverty-stricken victims whom they are alleged to the helping." वही, पृ० 276

ईसा आदि की करुणा ने दलित मानव के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ और मानवीय धर्म के आधार के रूप में इसे स्वीकृत कर, इसके महत्त्व में वृद्धि की है : महापुरुष के आवश्यक गुणों में करुणा का स्थान अनिवार्य है। इसकी व्यापकता और मानसिक जीवन के सन्तुलन करने की इसकी शक्ति को मनोविज्ञान ने भी स्वीकार किया है। साथ ही इसे मूलभावों में स्थान दिया है। समाज शास्त्री करुणा में सामाजिक जीवन की सहयोग-भावना और सहानुभूति के बीज देखते हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह मानस-पटल को परिशुद्ध कर देता है। करुणोज्वल मन पर बड़े से बड़े नैतिक उपदेश अमर अक्षरों में लिखे जा सकते हैं। साहित्य शास्त्र में इसको ऊँचा स्थान प्राप्त है। रसराज शृङ्गार भी किन्हीं स्थितियों मे करुणा से सम्पृक्त होकर ही रसराजत्व की सिद्धि प्राप्त करता है। इसकी सामाजिक उपयोगिता पर बहुत विस्तार से विचार हो जाने पर भी कुछ और कहा-सुना जा सकता है। यही भाव वाल्मीकि की छन्दोमयी वाणी का प्रेरक रहा जिसकी परिणति रामायण में हुई जिसे आदि काव्य स्वीकार किया जाता है। करुणा रामकथा का मूलाधार है। इसका एक प्रबल, उज्ज्वल और अभूतपूर्व आवेश 'उत्तर रामचरित' में मिलता है। कृष्ण-कथा का मूलाधार चाहे शृङ्गार हो, पर विरहाश्रित गोपियों की करुणा का अनिन्द्य उत्स उसे भी सजल बना रहा है।

६
काव्य की परिभाषा

१. प्राच्य एवं नूतन विचारकों का दृष्टिकोण
२. काव्य की परिभाषाओं का वर्गीकरण
३. भारतीय विद्वानों की परिभाषाएँ एवं उन पर विचार—भामह-दण्डी-वामन-राजशेखर-कुन्तक-मम्मट-विश्वनाथ-जगन्नाथ
४. भारतीय विचारकों के अनुसार काव्य की आत्मा-विश्लेषण : रस-अलङ्कार-रीति-ध्वनि-वक्रोक्ति-औचित्य
५. पाश्चात्य परिभाषाएँ—अरस्तू-सिडनी-डेनिस
६. आधुनिक परिभाषाएँ—रवीन्द्रनाथ ठाकुर-रामचन्द्र शुक्ल-भगवान दास-सम्पूर्णानन्द-प्रसाद
७. आधुनिक पाश्चात्य परिभाषाएँ—एस जान्सन-वर्ड्सवर्थ-कालरिज-शैली-लेहंट-आर्नल्ड मैथ्यू-रस्किन
८. निष्कर्ष

प्रेम, जीवन आदि बहुधा प्रयुक्त दैनन्दिन विषयों की परिभाषा बद्ध करना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार काव्य की भी पूर्ण सर्वमान्य परिभाषा देना प्रायः असम्भव रहा है। "परिभाषा किसी शब्द का उचित, स्पष्ट, निश्चित और पूर्ण निर्धारण करना होता है।" [1] आइ० ए० रिचर्ड के अनुसार परिभाषा का लक्ष्य ज्ञात के आधार पर अज्ञात की ओर चलना होता है। इसलिए सम्बन्धित विषय का कोई एक पक्ष न लेकर सामान्य रूप का परिचय दिया जाना चाहिए। साथ ही उसमें सूच्य विषय के ऐसे लक्षणों का निरूपण हो जाना चाहिए जो स्वयं स्पष्ट हों और जिनकी व्याख्या की आवश्यकता न हो परन्तु जो भाव-विस्तृति के सम्पूर्ण क्षेत्र की अभिव्यक्ति मे समर्थ हो। साथ ही यह भी नितान्त आवश्यक है कि परिभाषा अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से सर्वथा मुक्त हो। इन सभी का निर्वाह करने वाली काव्य की परिभाषा नहीं मिलती। फिर भी इतिहास के आरम्भ से अब तक, धरती के इस छोर से उस छोर तक के विद्वानों ने काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है, पर कुछ ऐसी बातें छूट ही गई हैं जिनको परिभाषा की पूर्णता की दृष्टि से रहना चाहिए था। जिस प्रकार देव-सृष्टि में देवलोक के समस्त सौन्दर्य-सार से तिलोत्तमा की रचना मानी गई है, उसी प्रकार सभी तत्त्वों को जोड़कर संयुक्त वाक्य के माध्यम से काव्य के सम्बन्ध में सूत्रात्मक कथन किया जा सकता है। पर, प्राचीन और नवीन कवियों या लेखकों ने इस प्रकार के प्रयत्न बहुत कम किये हैं। उन्होंने एक भावाविष्ट क्षण में परिभाषा देने का प्रयास किया है। उस समय उन्होंने काव्य के किसी तत्काल विवेच्यमान मुख्य अङ्ग की ओर संकेत करके ही सन्तोष-लाभ किया है। परिभाषा को सावयव-पूर्ण बनाने की चेष्टा प्रायः नहीं मिलती।

१. काव्य की परिभाषाओं का वर्गीकरण—

परिभाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है : एक तो देश और काल के अनुसार परिभाषा देने वाले विद्वानों का विभाजन किया जा सकता है जैसे भारतीय एवं पाश्चात्य, अतः उनमें प्राचीन एवं नवीन; दूसरे परिभाषाओं का विभाजन उनमें वर्णित मुख्य तत्त्वों के आधार पर भी किया जा सकता है, जैसे कुछ परिभाषाओं का आधार रूप, और कुछ का काव्य की आत्मा हो सकता है। दोनों ही प्रकार से परिभाषाओं को देखा जा सकता है।

१. अ देश काल के अनुसार परिभाषाओं पर विचार—

इस वर्गीकरण के अनुसार यहाँ केवल प्राचीन आचार्यों को भारतीय और पाश्चात्य शीर्षकों में बांट कर विचार किया गया है।

१. अ, भारतीय विद्वानों की परिभाषाएँ—

काव्य की भारतीय परिभाषा की परम्परा भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक चलती रही। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ लेकर ही परम्परा को स्पष्ट किया जा सकता है।

---

१. Dictionary of world Literary terms, Shipley, p. 92

"शब्द और अर्थ का सहित स्वरूप ही काव्य है।"[1] —भामह

"इष्ट अर्थ से विभूषित पद रचना ही काव्य-शरीर है।"[2] —दण्डी

"काव्य गुण तथा अलङ्कार से संस्कृत शब्द और अर्थ की ही संज्ञा है।"[3]
—वामन

"गुण और अलङ्कारों से युक्त वाक्य ही काव्य है।"[4] —राजशेखर

"काव्य वक्रोक्ति के सूत्र में संग्रहीत शब्द और अर्थ का समन्वित रूप है।"[5]
—कुन्तक

"काव्य ऐसे शब्द और अर्थों का समूह है जो दोष से रहित, गुण से मण्डित और भले ही कभी-कभी अलङ्कार शून्य भी हो।"[6] —मम्मट

"रसपूर्ण उक्ति या वाक्य ही काव्य होता है।"[7] —विश्वनाथ

"रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य कहा जा सकता है।"[8]
—जगन्नाथ

भारतीय आचार्यों की प्रस्तुत कतिपय प्रतिनिधि परिभाषाओं के अतिरिक्त रुद्रट, धनञ्जय, भोज, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, बाणभट्ट, जयदेव आदि आचार्यों ने भी सामान्य भाषागत परिवर्तन के साथ इन्हीं मान्यताओं को परिभाषा के अन्तर्गत अपने शब्दों में उपस्थित किया है। इन समस्त परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (१) अलङ्कार को प्रधानता देने वाली परिभाषाएँ (२) गुण को प्रधानता देने वाली परिभाषाएँ और (३) रस को प्रधानता देने वाली परिभाषाएँ। शब्द और अर्थ की सभी परिभाषाओं में काव्य का मूलाधार स्वीकृत किया गया है। साथ ही सुन्दर या रमणीय अर्थ पर भी कुछ आचार्यों ने बल दिया है। भामह ने इन तीनों तत्त्वों को छोड़ कर शब्दार्थ के सहित भाव को ही काव्य कहा है। इस परिभाषा में "साहित्य" (सहितौ) शब्द सार-गर्भित है, जिस प्रकार भरत के रस-सूत्र में "निष्पत्ति" शब्द है। "सहितौ" से भामह का तात्पर्य शब्द और अर्थ के परम ऐक्य से है। इस स्थिति में आने पर शब्द और अर्थ को अलग नहीं किया जा सकता। जब यह अभेद स्थापित हो जाता है तब काव्य की सिद्धि होती है। अनेक विचारकों ने इस परिभाषा के तत्त्व को न समझकर इसका उपहास-सा किया है। डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने इस परिभाषा के सम्बन्ध में लिखा है: "भामह की परिभाषा.........

१. "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" (भामह), काव्यालङ्कार, १।१६
२. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श
३. सदोष गुणालङ्कारहानादानाभ्याम्, काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति, १।१।१
४. काव्य मीमांसा
५. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनी।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यम्..................... ॥ वक्रोक्तिजीवितम्, १।७
६. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि॥ काव्य प्रकाश १।४
७. वाक्यं रसात्मकम् काव्यं — साहित्य दर्पण, २।१
८. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। — रसगङ्गाधर

जितनी काव्य पर लागू होती है उतनी ही शास्त्र, इतिहास, भूगोल या मौखिक वार्तालाप पर भी। जहाँ भी सार्थक भाषा का प्रयोग होता है वहाँ शब्द और अर्थ दोनों का मेल या साहचर्य देखा जा सकता है। अतः इस परिभाषा के आधार पर काव्य और अकाव्य का कोई निर्णय नहीं हो सकता।"[१]

दण्डी ने भामह की परिभाषा को विशिष्ट बनाते हुए "अर्थ" से पहले "इष्ट" विशेषण का प्रयोग किया है। "इष्ट" से तात्पर्य कवि के उस अनुभूत्यात्मक अर्थ से है, जो कवि का कथ्य होता है। जो शब्द-योजना इस इष्टार्थ की अविकल अभिव्यक्ति में प्रयुक्त हो वही काव्य कहला सकती है। तत्त्वतः भामह की परिभाषा से यह भिन्न नहीं है। उसी का स्पष्टीकरण मात्र है। आज के शैली-तत्त्वज्ञ भी इस परिभाषा से सहमत हैं।

वामन और राजशेखर ने गुण और अलङ्कार को जोड़कर पूर्वोक्त भामह एवं दण्डी कृत काव्य की परिभाषाओं को ही विषद किया है। गुण और अलङ्कार स्वयं पारिभाषिक शब्द हैं। अतः परिभाषा को समझने के लिए इन शब्दों की व्याख्या आवश्यक होगी। परिभाषा-तत्त्व की दृष्टि से इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोषपूर्ण कहा जा सकता है। साथ ही गुण और अलङ्कार के प्रयोग से ही कोई रचना काव्य नहीं हो सकती। अलङ्कार सौन्दर्यवर्द्धक तत्त्व हैं। सौन्दर्य एक प्रकार की आकर्षण शक्ति है जो काव्य की ओर ग्राहक को आकृष्ट करती है। गुण काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य से सम्बद्ध होते हैं। इन दोनों का समन्वय सौन्दर्य की पूर्ण-परिणति कर देता है। आज के सौन्दर्यवादियों की परिभाषाओं के समकक्ष इस परिभाषा को रखा जा सकता है।

कुन्तक ने शब्द और अर्थ के सन्तुलन पर बल दिया है और कथन-वैचित्र्य को आवश्यक माना है जिसको वह सम्भवतः काव्य और अकाव्य का निर्णायक तत्त्व मानता है। कथन-वक्रता रूप विशेषतः कवि का साध्य अवश्य है। पर ग्राहक पक्ष इसमें उपेक्षित हो जाता है। कवि कर्म पर ही उक्त परिभाषाओं ने बल दिया है। मम्मट ने दोष के राहित्य और गुण के साहित्य पर आधारित शब्दार्थ को काव्य माना है। पर अलङ्कारों की अनिवार्यता स्वीकार न करके एक प्रतिक्रिया का भी परिचय दिया है। सम्भवतः अलङ्कारों के बाहुल्य ने काव्य को चित्र-काव्य बना दिया था। कवियों ने अलङ्कार-चमत्कार को ही सर्वस्व मान लिया था। इसी की प्रतिक्रिया मम्मट की परिभाषा में ध्वनित है। आगे चलकर जयदेव ने इस प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया की।

ऊपर जिन परिभाषाओं पर विचार किया गया है उनमें रस का तत्त्व नहीं आया है। विश्वनाथ ने रस को परिभाषा में प्रमुखता दी है। जगन्नाथ की रमणीयता भी रसात्मकता के समकक्ष रखी जा सकती है। विश्वनाथ ने वाक्य में रसात्मकता मानी है और पण्डितराज ने अर्थ की रमणीयता पर बल दिया। एक प्रकार से पूर्वागत शब्दार्थ परम्परित परिभाषाओं के साथ रस या रमणीयता का समावेश करके

१. साहित्य विज्ञान – पृ० २४

परिभाषा को पूर्ण बनाने की चेष्टा इन आचार्यों ने की है। वैसे कुछ अन्य आचार्यों ने भी रस को समाविष्ट करके परिभाषा को पूर्ण बनाया है। भोज ने निर्दोष, सगुण, अलंकृत और रसान्वित कथन को ही काव्य कहा है।[1] इसी प्रकार वाग्भट ने भी परिभाषा को वर्णनात्मक बनाया। भोज ने "शब्दार्थ" का उल्लेख नहीं किया है। वाग्भट ने इनको भी जोड़कर परिभाषा दी है। "साधु" विशेषण जोड़कर उन्होंने सुसंस्कृत, या व्याकरण-सम्मत शब्दार्थ के प्रयोग की ओर संकेत किया है, यद्यपि दोष के राहित्य का उल्लेख इनकी परिभाषा में नहीं है। इस परिभाषा में रीति को भी सम्मिलित किया गया है।[2] जयदेव ने अपनी परिभाषा में निर्दोष, सगुण, रीति-युक्त, सालङ्कार, सरस और वृत्तियुक्त वाक्य को काव्य की संज्ञा दी है।[3] इस पर्य-वेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्याचार्यों के काव्य-चिन्तन के सम्बन्ध में क्रमशः विकास हुआ है। अन्ततः काव्य के सभी आवश्यक तत्त्वों को लेकर एक विस्तृत परिभाषा विकसित हुई है।

१. अ$_2$ भारतीय विद्वानों के अनुसार काव्य की आत्मा—

यहाँ उन परिभाषाओं पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा जिनमें काव्य की आत्मा का कथन किया गया है। आत्मा से तात्पर्य विश्व के उस सार तत्त्व से है जिसका अस्तित्व सभी प्राणियों में होता है और जिसके अभाव में जीवन असम्भव हो जाता है। साहित्य में इस प्रकार की शक्ति की खोज की गई। इसी सार तत्त्व का कथन करके काव्य की पूर्ण परिभाषा मान ली गई।

(क) काव्यात्मा रस—रस-सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है।[4] भरत ने आस्वादन से रस का सम्बन्ध जोड़ा है।[5] आस्वादन आनन्द रूप होता है।[6] सामान्यतः काव्यास्वादन से पाठक जिस आनन्द की प्राप्ति करता है वही रस है। इस आनन्द की स्थिति सहृदय पाठक में मानी गयी है। इस प्रकार रस को काव्यात्मा मानने वाले आचार्यों ने सहृदय की सापेक्षता में काव्यात्मा का कथन किया है। भरत ने काव्यात्मा के रूप में रस पर विचार नहीं किया। अग्निपुराण में सबसे पहले इस प्रकार का प्रयास मिलता है। विश्वनाथ और महिम-भट्ट ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है।[7] इन आचार्यों को प्रेरणा विभिन्न सम्प्रदायों के काव्यात्मा सम्बन्धी विचारों से प्राप्त हुई।

---

१. निर्दोषम् गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् रसान्वितम्......... ।
सरस्वती कण्ठाभरण, १।२

२. साधु शब्दार्थ सन्दर्भम् गुणालङ्कार भूषितम्। स्फुट रीति रसोपेतम् काव्यम् कुर्वीत कीर्तये ॥ वाग्भटालङ्कार, १।२

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणा भूषिता।
सालङ्कार रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यानामभाक ॥ चन्द्रालोक, १।७

४. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, डा० नगेन्द्र, पृ० ३४७

५. नाट्यशास्त्र, ६।२६

६. डा० नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका,

७. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र,

(ख) **अलङ्कार-सिद्धान्त**—अलङ्कारवादियों ने काव्यात्मा, अलङ्कार को ही माना। भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना।[१] दण्डी ने काव्य के शोभा-कारक धर्म रूप में अलङ्कारों को स्वीकार किया है।[२] इस दृष्टि से अलङ्कार साधन और सौन्दर्य साध्य हो जाता है। वामन ने इस व्यवधान को समाप्त करने के लिए अलङ्कार और सौन्दर्य में अभेद स्थापित किया—"सौन्दर्यमलङ्कारः"। इस प्रकार अलङ्कारवादियों के सिद्धान्त का सार सौन्दर्य को काव्य की आत्मा मानना है।

(ग) **रीति काव्यात्मा के रूप में**—वामन ने "रीतिरात्मा काव्यस्य"[3] कहा। रीति एक विशेष प्रकार की पद-रचना ही है—"विशिष्ट पद रचना रीतिः"। उनके अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं। 'रीति' सम्प्रदाय में गुणों की मान्यता इसीलिए अधिक है। यह एक मिश्रित सिद्धान्त है। इसके अनुसार भी सौन्दर्य ही काव्य की आत्मा ठहरता है।

(घ) **ध्वनि**—ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि के अन्तर्गत व्यञ्जना शक्ति से सम्बन्धित सभी तत्त्व आ जाते हैं। ध्वनि, व्यञ्जना-शक्ति के माध्यम से चारुत्व का प्रकाशन ही है। इस दृष्टि से प्रकाशक व्यञ्जना शक्ति है और प्रकाश्य चारुत्व। इससे आनन्द वर्द्धन का प्रतिपाद्य चारुत्व ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से वे भी सौन्दर्य को काव्य की आत्मा कहे जाने वाले कहे जा सकते हैं।

(ङ) **काव्यात्मा वक्रोक्ति**—कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन कहा। वक्रोक्ति विचित्रोक्ति है। विचित्रता से तात्पर्य वैदग्ध्य-पूर्ण होना है। वैदग्ध्य कवि-कौशल की शोभा या चारुता है। कुन्तक ने भी अनेक स्थलों पर सौन्दर्य को ही अभीष्ट माना है। इससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि कुन्तक भी अन्ततः साध्य के रूप में सौन्दर्य को ही स्वीकार करते हैं।

(च) **औचित्य-सिद्धान्त**—आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का जीवन घोषित किया है : "जो जिसके योग्य हो, अनुरूप हो आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं।"[४] औचित्य के अभाव में सुन्दरता की सृष्टि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र ने अनेक शोभा के साधन के रूप में औचित्य को माना है। अन्ततः क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त को भी सौन्दर्यवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

काव्य की आत्मा के विचार को लेकर चलने वाली उक्त परिभाषाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : सौन्दर्यवादी और रसवादी। सौन्दर्यवादी परिभाषाएँ कवि-कर्म की उपेक्षा नहीं करती। काव्य के भाषा आदि सभी उपकरणों का विस्तृत विवेचन भारतीय सौन्दर्यवादियों ने किया है। कृति के मूल्याङ्कन का

---

१. काव्यालङ्कार, १।३६
२. काव्यादर्श, २।१
३. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति, १ २।६
४. औचित्य विचार चर्चा, अनुवादक० मनोहर लाल गौड़।

आधार ये सभी तत्त्व हैं। अव्यक्त रूप से सौन्दर्य वह कड़ी है जो कृति और ग्राहक को जोड़ती है। रसवादी परिभाषाएँ ग्राहक की प्रमुखता देकर चलती हैं।

१. (आ) पाश्चात्य परिभाषाएँ :

पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने ढङ्ग से काव्य की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। यह परम्परा अरस्तू से आरम्भ होती है। अरस्तू ने भाषा के मध्यम से होने वाली अनुकृति को ही काव्य कहा है।[1] सिडनी ने अनुकरण को काव्य का मूल स्वीकार किया और इसका लक्ष्य शिक्षा और आनन्द माना। इन्होंने चित्रात्मकता को भी काव्य में मुख्य स्थान दिया है।[2] डेनिस ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है: काव्य प्रकृति की अनुकृति है। इसका माध्यम भावात्मक और विस्तृत भाषण है।[3] इस प्रकार पुराने आचार्यों ने अनुकृति पर ही विशेष बल दिया है। यह अनुकृति विशद भाषा द्वारा होती है। सिड्नी ने काव्य के लक्ष्य की ओर ध्यान दिलाया।

आधुनिक युग में जिन विद्वानों ने काव्य की परिभाषाएँ दी हैं उनमें से कुछ ने रूप को और कुछ ने भाव को महत्त्व दिया। इन पर आगे विचार किया गया है।

२. आधुनिक परिभाषाएँ :

काव्य की आधुनिक परिभाषाओं में स्वर कुछ बदल गया। इस युग में मनोवैज्ञानिक खोजें हुई और मनुष्य में समाज-भावना का अभूत पूर्व विकास हुआ। मनुष्य सामाजिक व्यवस्था को तर्क-पूर्ण और क्रान्तिकारिणी दृष्टि से देखने लगा। समाज की सभी संस्थाओं की प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियाशीलता पर बौद्धिक चिन्तन इस युग की विशेषता होगई। प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्य स्थापित होने लगे। अनेक दृष्टियों ने काव्य की परिभाषा को प्रभावित किया। काव्य और कला पर सामाजिक दायित्वों का आरोप होने लगा। काव्य की वैयक्तिक भूमिका का विश्लेषण भी नवीन दृष्टि से हुआ। अतः आधुनिक परिभाषाओं पर इसी परिप्रेक्ष्य में विचार किया है।

२. (अ) आधुनिक भारतीय परिभाषाएँ ; एक संक्षिप्त सूची—

क—"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

1. "We may gather ...... that according to Aristotle Poetry is to be defined as an art, the fundamental principle of which is imitation, that imitation being through the medium of language."

   Psychological Studies in. Rasa. P. 14 पर उद्धृत

2. "Poesy is an art of imitation ... ... to speak metophorically, a speaking picture; with this end to teach and delight."

३. वही, पृष्ठ १५.

४. कविता क्या है ?—निबन्ध "चिन्तामणि"

इस परिभाषा के अनुसार कविता एक साधन है, साध्य नहीं है। मनुष्य का साध्य है—समस्त प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना। रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना सामाजिक दृष्टि से भी विवेचित हो सकती है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। सामाजिक दृष्टि से मानवीय सम्बन्धों को अधिक आत्मीय बनाने का कार्य कविता करती है। 'चिन्तामणि' के निबन्धों में शुक्ल जी ने स्थान-स्थान पर मानवतावादी सम्बन्धों की चर्चा की है। इस माध्यम से आध्यात्मिक उन्नयन भी सम्भव है मनुष्य अपने सामान्य स्वार्थों से ऊपर उठकर एक बृहत्तर अस्तित्व प्राप्त करता है। यही हृदय की मुक्तावस्था है, जिसकी सिद्धि के लिए कविवाणी शब्द-विधान करती है।

ख—"कविता मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रकाशन है।"[1] रवीन्द्रनाथ टैगोर

टैगोर की दृष्टि में व्यक्तित्व का प्रकाशन ही कविता का उद्देश्य है। व्यक्तित्व एक अर्थ गर्भित शब्द है। इसमें मनुष्य का समस्त रागात्मक विकास, सांस्कृतिक उन्नयन, और आध्यात्मिक उदात्तीकरण आ जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं, जिनमें उसका सार-तत्त्व स्फीत होकर अभिव्यक्ति के लिए विकलता उत्पन्न कर देता है। उन क्षणों की अभिव्यक्ति उसकी विवशता बन जाती है। कला व्यक्तित्व की इन्हीं गर्भित स्थितियों का प्रकाशन है।

ग—'कला वह क्रिया है जो रस देने के लिए उद्दिष्ट होती है। यह रस ग्राहक को प्राप्त होता है।'[2] डा० भगवान दास

यह परिभाषा रसवाद पर आधारित है। काव्य का ग्राहक आनन्द-प्राप्ति की मूल वृत्ति को लेकर ही कविता की ओर आकृष्ट होता है। व्यक्त या अव्यक्त रूप से रस-सृष्टि और रस विस्तार कवि का भी उद्देश्य होता है। आत्म-तुष्टि का भी इस सिद्धान्त में निषेध नहीं है। पर केवल आत्मतुष्टि की दृष्टि स्वार्थ-पूर्ण होती है। अतः आनन्द-कामना का विस्तार ही कला के क्षेत्र में श्रेयस्कर है।

घ—"अशिव की क्षति साहित्य का बड़ा, पुनीत अनुष्ठान है। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता उसे सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है।"[3]
सम्पूर्णानन्द

इस दृष्टिकोण में सामाजिक उद्देश्य निहित है। 'शिव' तत्त्व में सामाजिक उपयोगिता का समावेश है। इसकी आधार भूमि मम्मट के 'शिवेतरक्षतये' में है। लोक व्यापी कल्याण भावना से नियोजित काव्य एक महान् यज्ञ

---

1. 'What is Art, in Personality' से। "The principal object of Art being the expression of personality."
2. ... ... Art, or artistic activity, is that activity which is consciously and deliberately intended to produce and produces, Rasa, sympathetic enjoyment in the mind of the witness"—The Science of Eludition.
३. 'जीवन और साहित्य', निबन्ध से।

ङ—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।"[१] —प्रसाद

इस परिभाषा का विधि-पक्ष भी सबल है और निषेध पक्ष भी। विधि रूप में काव्य-संकल्प, संश्लेषण और पूर्ण है। इसमें विकल क्षणों की वाणी नहीं रहती। भेद-प्रभेद की धात्री बौद्धिकता का काव्य में निषेध है। विश्लेषण की प्रक्रिया सौन्दर्य-बोध को क्षुब्ध कर देती है। विकल्प संशयात्मक बुद्धि का परिणाम है। संशय अनुभूति की स्थिरता और तज्जन्य भाव-परिपाक का विरोधी होता है। इस परिभाषा के द्वारा काव्य और अकाव्य का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। संकल्प, अविकल और आत्मस्थ होने के कारण सौन्दर्य-सृष्टि का साधक तत्त्व है।

उक्त परिभाषाओं में 'प्राचीन' की छाया भी मिलती है और नवीन प्रेरणा भी। नवीन शब्दावली का भी नियोजन है। इन पर सबसे अधिक प्रभाव मनोविज्ञान और सामाजिक उद्देश्यवाद या उपयोगिता का पड़ा है। उपयोगिता का वैयक्तिक पक्ष भी है और सामाजिक भी। वैयक्तिक दृष्टि से काव्यगत अभिव्यक्ति व्यक्ति के रागात्मक और स्नायविक तनाव को मृदु बनाती है और सामाजिक दृष्टि से उसमें व्यापक कल्याण-कामना प्रतिफलित होती है।

२. (आ) आधुनिक, पाश्चात्य परिभाषाएँ :

क—एस० जोन्सन ने कई प्रकार से कविता की परिभाषा दी है। एक स्थान पर उन्होंने कविता को छन्द-बद्ध रचना कहा है।[२] एक अन्य प्रसङ्ग में उन्होने परिभाषा इस प्रकार दी है : कविता आनन्द और सत्य को समन्वित करने की कला है। इस योजना में बुद्धि कल्पना से सहायता लेती है।[३] उनकी दृष्टि से कविता का सार अन्वेषण है।[४] यहाँ अन्वेषण से तात्पर्य मौलिकता है। इसके साथ ही कवि आत्मगत अन्तर्हित सत्यों का अन्वेषण भी करता है। उनकी दृष्टि में कविता का लक्ष्य आनन्द-पद्धति से शिक्षा देना है।[५]

ख—"कविता सशक्त भावनाओं का अनायास प्रवाह है जो आत्मनिष्ठ क्षणों में बह जाता है।"[६] वर्ड्सवर्थ।

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।'
2. Poetry is metrical composition (Dictionary)
3. "Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason."—'Lives of the Poets.' (Milton)
4. 'Its essence is invention.' (Walter)
5. "The end of writing is to instruct; the end of poetry is to instruct by pleasing." (Preface to Shakespeare)
6. (Poetry) is the spontaneous overflow of powerful feelings... ... (and) emotion recalled in tranquillity. (Preface to Lyrical Ballads)

इस परिभाषा में भाव को केन्द्र माना गया है। कुछ विशिष्ट क्षणों में भाव का उमड़ता हुआ अतिरेक होता है। अतिरेक में बाह्योन्मुख प्रवाह होने लगता है। कवि इसके लिए कोई बौद्धिक प्रयास नहीं करता। अभिव्यक्ति की विवशता और स्वाभाविकता पर इसमें बल दिया गया है। उमड़ते हुए भावों की की अनायास-अभिव्यक्ति ही काव्य है। अनायास का तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति के लिए कवि को खींच तान नहीं करनी पड़ती। भावों का स्वतः स्फुरण एवं शब्द-माला का जागरण हो उठता है।

ग—कालिरिज की परिभाषा इस प्रकार है : कविता वह रचना है जो विज्ञान के कार्यों से भिन्न होती है। इसका उद्देश्य सत्य नहीं, आनन्द है। अन्य रचनाओं का भी यह उद्देश्य हो सकता है, पर इसका आनन्द समग्र रचना का आनन्द है जो रचना के उपकरणों से अलग-अलग प्राप्त नहीं हो सकता।[1]

इस परिभाषा में कविता को विज्ञान से इस आधार पर अलग किया गया है कि कविता का उद्देश्य आनन्द है और विज्ञान का सत्य। विज्ञान विश्लेषण-प्रिय है और कविता समग्र रह कर आनन्द देती है। इस परिभाषा का केन्द्र भी कविता का लक्ष्य है।

घ—"एक दृष्टि से कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। इसके साथ सदैव ही आनन्द का तत्त्व सम्बद्ध होता है।"[2]

शैले

इस परिभाषा में कल्पना को मुख्यता दी गई है। कवि की सृष्टि कल्पना पर आधारित रहती है। सामान्य या प्रकृत सृष्टि आनन्द का उद्देश्य नहीं रखती है। यदि प्रकृत सृष्टि में आनन्द का उद्देश्य रहता भी है, तो प्रच्छन्न। कवि की मौलिक सृष्टि का उद्देश्य आनन्द होता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर कवि-कल्पना मौलिक कृति को जन्म देती है। इस प्रकार 'शैले' की दृष्टि से कल्पना और आनन्द कविता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

ङ—"कविता के उपकरण वे सब हैं जो सृष्टि में हैं। इसका लक्ष्य आनन्द और आत्मोन्नयन है।"[3]

लेहन्द

1. "A poem is that species of composition, which is opposed to works of science; by proposing for its immediate object pleasure and not truth; and from all other specics (having this object in common with it) it is discriminated by proposing to itself such delight from the whole as is compatible with a distinct gratification for each component part."

(Biographia Literaria)

2. "Poetry, in a general sense, may be defined to be the expression of imagination ... ... poetry is ever accompanied with pleasure."

(A Defence of poetry)

3. "Its means are whatever the universe contains; and its ends, pleasuse and exaltation." (What is Poetry)

च—"कविता सबसे अधिक सुखद और पूर्ण वक्तव्य है, जो मानवीय भाषा की चरम परिणति है।"[1]

"कविता जीवन की समालोचना है। यह समालोचना काव्यगत सत्य और काव्यगत सौन्दर्य के नियमों से परिचालित होती है।"[2] मैथ्यू आर्नल्ड

इस परिभाषा में कविता को जीवन के सन्दर्भ में देखा गया है। सौन्दर्य के काव्यगत सत्य की ओर भी संकेत किया गया है। जीवन से असम्पृक्त कविता वस्तुतः गतिशील नहीं हो सकती। जीवन की समालोचना से तात्पर्य है जीवन के यथार्थों और आदर्शों को स्वीकार करना। साथ ही यदि जीवन की गति अधोमुख हो, तो एक ऐसा विवेक जागृत करना भी कविता का कार्य है जो उन्नयन की ओर गतिशील हो। वस्तुतः जीवन की समालोचना एक विस्तृत व्यापार है। पर, यह बौद्धिक व्यापार किसी प्रकार भी नहीं है। काव्यगत सत्य और सौन्दर्य इस व्यापार के विधायक तत्त्व हैं।

छ—"कविता, कल्पना के द्वारा अभिव्यञ्जित उदात्त भावों के लिए उदात्त क्षेत्र है।"[3] रस्किन

इस परिभाषा में कल्पना, व्यञ्जना, और उदात्त भावनाओं की चर्चा की गई है। व्यञ्जना की परिणति पाठक या श्रोता में दिखलाई देती है। इस में श्रेष्ठतर सामाजिक जीवन का उद्देश्य निहित है।

निष्कर्ष—इस प्रकार से परिभाषाओं की सूची अत्यन्त विस्तृत हो सकती है। यहाँ कतिपय प्रमुख परिभाषाएँ ही दी गई हैं। इन्हीं से काव्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और परिभाषाओं का विकास भी। इनके विश्लेषण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

१. कविता क्या है—शब्द+अर्थ; शब्द+विचार; वाक्य+रस; छन्दबद्ध रचना; अनुकृति पर आधारित कला; सत्य+आनन्द; श्रेष्ठ शब्द+श्रेष्ठ क्रम; मानव की पूर्णतम भाषा; सङ्गीत+सुखद विचार; अन्तर्ज्ञान[4]; अनुभूत भाव की कवि में जाग्रति और उसका दूसरों तक प्रेषण[5]; इन सबकी संक्षिप्ति करके यह कहा जा सकता है

---

1. (Poetry) "is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach."
2. (Poetry is) "a criticism of life under the conditions fixed for such criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty."
3. (Poetry is) "the suggestion, by the imagination, of noble grounds for the noble emotions." (Modern Painters)
4. क्रोचे के अनुसार : "Art ... ... is intuition."
   (The Essence of Aesthetics)
5. टाल्स्टाय की परिभाषा का यह सार है : "To evoke in oneself a feeling one has once experienced, and having evoked it in oneself, then, by means of movements, lines, colours, sounds, or forms expressed in words, so to transmit that feeling that others may experience the same feeling—this is the activity of art."—What is Art ?

कि कविता वह भाषा-रचना है जिसके माध्यम से कवि अपने भाव-विचार दूसरों तक पहुँचाना चाहता है और इस व्यापार का उद्देश्य आनन्द है।

२. **कविता का लक्ष्य**—यश [काव्यं कुर्वीत कीर्तये]; आनन्द; शिक्षाआनन्द-पद्धति से उपदेश [कान्तासम्मितोपदेश]; उन्नयन; नैतिक उन्नति और प्रेरणा; व्यक्तित्व का प्रकाशन; रसोत्पत्ति। मम्मट ने कई लक्ष्यों की ओर संकेत किया है। इनमें यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, कान्ता सम्मति उपदेश, और सद्यः परिनिवृत्ति। इस सूची में भौतिक से लेकर अध्यात्मिक तक सभी लक्ष्य आगए है। परिभाषाओं में ये सभी लक्ष्य संलक्ष्य हैं।

३. **आवश्यक उपकरण**—सुन्दर भाषा; पूर्ण भाषा; श्रेष्ठ शब्द; सरलता; कल्पना; पुष्ट तर्क; नाट्यगत एकताएँ; सङ्गीत; रस-भाव; गुण; अलङ्कार; विशिष्ट पद-रचना; वक्रता; कल्पना; आदि। प्रायः इन्ही उपकरणों का उल्लेख परिभाषाओं में हुआ है।

४. **निषेधात्मक**—दोष-साहित्य; नियतिकृत नियम साहित्य, नग्न सत्य या नग्न विचार; नैतिक शिक्षा भी नहीं आदि।

५. **आत्मा**—रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस, औचित्य, अन्वेषण, आदि।

६. **विषय वस्तु**—कोई भी वस्तु जो आनन्द दे सके।

इस प्रकार की काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। उनमें विभिन्न तत्त्व आए हैं। कुछ परिभाषाओं में सूचियाँ ही मिलती हैं। वैसे इन परिभाषाओं में सभी आवश्यक तत्त्व समन्वित हो गए हैं। पर आवश्यक तत्त्वों में से कुछ पर कुछ विद्वानों ने बल दिया है और कुछ पर अन्यों ने। सभी पर सभी एकमत नहीं हैं। सभी को जोड़ कर समग्र चित्र बनता है। वास्तव में कविता मनुष्य की एक सृजनात्मक प्रक्रिया है, जो निर्दोष, सगुण और अलंकृत भाषा के माध्यम से स्वानुभूति को दूसरों तक प्रेषित करके, साधारणीकरण के मार्ग से आनन्द प्रदान करती है।

७

कला, कला के लिए

१. मध्ययुग की समाप्ति, नवयुग का उन्मेष, १६ वीं शती।
२. जन्मभूमि फ्रान्स, जनक-विक्टर कज़िन तथा थियोफील गोतिये के सिद्धान्त
३. सौन्दर्यवाद—पारनेशियन सिद्धान्त के प्रतीकवाद का स्पष्टीकरण
४. इंग्लैंड के साहित्यकारों पर प्रभाव—रस्किन, ह्विस्लर, हाल ब्रुक, पेटर, वाइल्ड के अभिमत
५. नैतिकता का प्रश्न—जे० ई० स्पिंगर्स, क्लाइव बेल, एम० सी० ब्रेडले की मान्यताएँ
६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आंशिक स्वीकृति एवं इलाचन्द्र जोशी, श्यामसुन्दर दास, निराला का समर्थन
७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सतर्क विरोध एवं भारतीय "शिव" सिद्धान्त की प्रतिष्ठा
८. निष्कर्ष—पुरोहितवाद एवं जनवाद का संघर्ष

१६ वीं शती मानव विकास के इतिहास में एक प्रतीकात्मक स्थिति रखती है। सच्चे अर्थ में इस शताब्दी ने ही मध्ययुग को विदा दी थी और नव-युग का स्वागत किया था। इस शताब्दी के स्मरण के साथ फ्रान्स के महान् समाज विज्ञानी और जर्मनी के महान् वैज्ञानिक दृष्टि के समक्ष घूम जाते हैं। योरुप अपनी उन उपलब्धियों पर गर्व कर सकता है—जो इस शताब्दी में उसने कीं। फ्रान्स ने क्रान्ति करके समस्त योरुप का बौद्धिक परिष्कार किया और भावी युग-परिवर्तन के लिए उसे तैयार कर दिया। योरुप ने जो नवीन काव्य-सिद्धान्त विश्व को दिए, उनका भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से फ्रान्स से सम्बन्ध रहा। इन्हीं समीक्षा-सिद्धान्तों में 'कला, कला के लिए' का सिद्धान्त है। इस प्रकार 'काल' की दृष्टि से १६ वीं शती और 'देश' की दृष्टि फ्रान्स इस नवोदित सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं।

एक विहङ्गम दृष्टि इस सिद्धान्त के उद्‌भव और विकास पर डाल लेना समीचीन होगा। सम्भवत: विक्टर कजिन (Victor Cousin 1792-1867) ने सर्व प्रथम इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया। थीयोफ़ील गोतिये (Theophile Gautier) ने इस सिद्धान्त का समर्थन और पोषण किया। गोतिये की कलाकृतियों की रचना रोमांसवाद के प्रति एक सक्रिय प्रतिक्रिया की भूमि प्रस्तुत करती हैं। मूलत: गोतिये एक चित्रकार था। रोमांसवाद से ही प्रेरणा ग्रहण करके उसने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में चित्रकला और काव्य के बीच, दोनों

की प्रविधियों और परिणति में जो संघर्ष था, उसमें चित्रकला की विजय ही होती रही : प्रगीति तत्त्व जो रोमांचवाद का प्राण था, पराजित होता रहा। चित्रकला ने तूली छोड़ कर लेखनी का सहारा लिया : विविध रङ्ग-विन्यास का स्थान वर्णार्थ-विन्यास ने। उसने प्रगीति-तत्त्व के आत्म-पक्ष से निरपेक्ष काव्य-रूपों की उद्भावना करने का प्रयत्न किया : इसमें स्वयं के निजी अनुभवों के लिए स्थान नहीं था। उसकी कविताओं में बाह्य सौन्दर्य, वातावरण के चित्र, रूप, वर्ण, आकार, शब्द आदि समा गए। 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में गोतिये का व्यक्तित्व, उसकी तथा-कथित व्यक्ति निरपेक्ष, चित्र-विचित्र कविता-कृतियाँ और आत्मतत्त्वाश्रित प्रगीतात्मक काव्यरूपों की प्रतिक्रिया का समावेश है।

उसके सिद्धान्त का स्पष्टीकरण संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है : सामान्यतः प्रत्येक कला के मूल में साधक, साधन और साध्य की त्रयी मानी जाती है। इनमें से कला को साधन मानना उसकी दृष्टि से भ्रम है। वह स्वयं ही अपना साध्य है। इस प्रातिभ-साधना के साथ किसी अन्य उद्देश्य या लक्ष्य को समाविष्ट करना कला के स्तर को नीचा करना और उसके साथ अन्याय है। उसका कोई उपयोगितावादी, नैतिक या धार्मिक लक्ष्य नहीं हो सकता। उसका घनिष्ट सम्बन्ध विषय-वस्तु से न होकर अपने बाह्य स्वरूप से है। सौन्दर्यवाद की स्थापना के पश्चात् ही १९ वीं शती के अन्तिम दशकों में इस सिद्धान्त ने प्रबल समर्थन प्राप्त किया। इस सिद्धान्त के अनुसार कला की प्रकृति निराचार (Amoral) अथवा आचार-निरपेक्ष है। जीवन और जगत से उसे तटस्थ रखना ही श्रेयस्कर है। परन्तु उसका प्रयत्न जीवन और जगत से तो कला को तटस्थ न रख सका; क्योंकि समाज धीरे-धीरे सापेक्ष मानवीय मान और मूल्यों की अस्वीकृति के द्वारा, कला को इनसे तटस्थ करता गया। इस प्रक्रिया से कला में अनाचार (Immorality) ही सघन से सघनतर होता गया। आचारगत मूल्यों की अवहेलना का यही परिणाम होना था। उसके 'मदाम-माजले दे मॉपिन' (Mademoiselle de Maupin) में अनाचार का ही विस्फोट है। वैसे सौन्दर्यवादी तत्त्वों का प्रयोग काव्य में ही किया गया था। पर गद्य-रूप भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। लेखक सामाजिक व्यवस्था को चीर कर आदिम प्राकृतिक व्यवस्था की ओर आकर्षित होने लगा। प्रकृतिवादी उपन्यासकारों की कल्पना सौन्दर्यवादी तत्त्वों और बाह्य चित्रणों में उलझ गई। उनकी दृष्टि में जैसे समस्त आचार-मूल्य प्रकृतिवादी प्रवृत्ति के सबसे बड़े शत्रु थे। फ्लाबेयर, ज़ोला आदि के उपन्यासों में आचरण सम्बन्धी मान-मूल्यों की पूर्ण अवहेलना मिलती है। फ्लाबेयर के अनुसार महान् कलाकार का कर्त्तव्य निष्कर्ष निकालना नहीं है। उनकी कला-साधना किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं है। ज़ोला के अनुसार कला अपने आप में एक महान् धर्म है। उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं।

१९ वीं शती के सातवें दशक में गोतिये के उक्त सौन्दर्यवादी सिद्धान्त ने पारनेशियन सिद्धान्त (Parnassian doctrine) का रूप ग्रहण किया। इसके अनुसार

कला स्वयं अपना ध्येय है। काव्य में चित्रकला और मूर्तिकला के तत्त्वों और विशेषताओं का समावेश होने लगा। सन् १८६६ में 'ले पारनेश कन्टेम्परे' (Le Parnase Contemporain) का प्रकाशन हुआ। इसमें पारनेशियन कवियों की कृतियाँ संग्रहीत थी। इस नयी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा इस प्रकाशन के साथ हुई।

सौन्दर्यवादी विचार-धारा के विकास का तृतीय चरण फ्रान्सीसी प्रतीकवाद की स्थापना है। पारनेशियन आन्दोलन के प्रति यह एक प्रतिक्रिया थी। इसने प्रकृतिवाद को भी ललकारा।[1] पारनेशियन-कवि वस्तु का याथातथ्य चित्रण करने के पक्ष में था। प्रतीकवाद इसके विपरीत काव्य में रहस्य-प्रवृत्ति का समर्थक रहा था। वस्तु का स्थान 'संकेत' ले लेता है। बावरा के अनुसार प्रतीकवाद सौन्दर्यवाद का रहस्यात्मक सस्करण था।[2] प्रतीकवादी विचारधारा के पोषक और संस्थापकों में बोदलेयर (Baudelair), मलार्मे (Mellarme), वर्लेन (Verlaine), वेलरी (Velary) आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। बोदलेयर पारनेशियन सिद्धान्त और प्रतीकवाद के बीच की कड़ी था। वस्तुतः बोदलेयर सौन्दर्यवादी था : उसके अनुसार काव्य का कोई बाह्य ध्येय नहीं है। यदि उसका ध्येय कुछ अन्य मान लिया जाय तो काव्य क्षयोन्मुख हो जाता है : इसका परिणाम बुरा होता है।[3] बोदलेयर का जीवन स्वयं चरित्र हीन था। गोर्की ने उसकी रचना के विषय में एक बार कहा था कि उसकी कविताएँ विषमयी हैं। अपने जीवन-काल में उनके कारण वह पागल और दीवाना ही कहलाया : मृत्यु के पश्चात् कवि कहलाया और फिर विस्मृत कर दिया गया। बोदलेयर और मलार्मे पर एडगर पो का विशेष प्रभाव पड़ा था। बोलेयर के प्रतीकवाद का विकास मलार्मे और वर्लेन आदि ने किया।

मलार्मे ने प्रतीकवाद का शास्त्र भी रचा। इनके अनुसार काव्य का उद्देश्य सूचना देना नहीं अपितु संकेत करना है। वस्तुओं का परिगणन न करके, वह उनका वातावरण प्रस्तुत करता है। ये प्रतीकवादी दृश्य जगत के परे, एक पारलौकिक जगत में विश्वास रखते थे। पारलौकिक अनुभवों को प्रतीकों के सहारे लौकिक भाषा में वे व्यक्त करना चाहते थे। इनकी शैली में 'शब्द' का स्थान 'प्रतीक' लेने लगे : वह दृश्य जगत से परे के संकेत देता था। जो प्रतीक परम्परित थे, उनको छोड़ा गया। ये प्रतीक धीरे-धीरे नवीनता की झोंक में अधिक से अधिक व्यक्तिगत होते गए। अतः उनका विधान सामान्य पाठक के लिए दुरूह हो गया। इस प्रतीक विधान का उद्देश्य

---

१. 'In its origin the movement was a revolt against Naturalism as being too concrete, and against Parnassianism as being too clear cut'—एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, vol-21, P. 301

२. सी. एम बावरा 'हेरीटेज आव् सिम्बोलिज्म (लन्दन, १९४७) पृ० ३

३. उसने एक स्थान पर लिखा है 'Poetry has no end beyond itself...... if a poet has followed a moral end, he has dismissed his poetic force and the result is most likely to be bad.'

उनकी दृष्टि से रोमाञ्च (Sensation) उत्पन्न करना ही था। अनुभूति के प्रेषण के लिए वे रोमाञ्च को नितान्त आवश्यक समझते थे।

प्रतीकवाद पर सङ्गीत का प्रभाव भी पड़ा। वैलरी ने सङ्गीत के उन तत्त्वों को फिर से काव्य में ग्रहण करने पर बल दिया, जिन्हें वह छोड़ चुका था। सङ्गीत के साथ मलार्मे ने रहस्य के स्वरों का भी समन्वय किया। इस प्रकार मलार्मे ने प्रतीकवाद को रहस्यवादी आधार तो प्रदान किया पर प्रतीकवादी विचारधारा में अनैतिक और अनाचारी भी थे। इनका प्रतिनिधित्व वर्लेन, रिम्बाद आदि करते हैं। वर्लेन को दुष्टता ही प्रिय थी। सन् १८७० में जब प्रशा की सेना पेरिस की ओर बढ़ रही थी, उस समय वर्लेन ने कहा था : अब कुछ अच्छा सङ्गीत सुनने को मिलेगा। वह व्यक्तिगत जीवन में भी असज्जन था। उसने एक बार स्वय कहा था कि मुझे 'डेकाडेन्स' या ह्रास शब्द बहुत प्रिय हैं। लूकस ने इस सबका सार यों दिया है : मैं कला में उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता, जिससे मैं आत्म-पीड़न, परपीड़न आदि न्यूरोसिस के सब लक्षणों का प्रदर्शन कर सकूँ। स्नायु-व्यतिक्रम के रोगी की भाँति मैं वयस्क जीवन के उत्तरदायित्व को अत्यन्त कठोर समझता हूँ तथा एक दूसरी बाल्यावस्था में पलायन पसन्द करता हूँ।[1]

'कला, कला के लिए' की पराकाष्ठा हमें जे० के० हिज़्मेन (J. K. Huysmans) के प्रसिद्ध उपन्यास 'ए रेब्रर्स' (A. Rebours) में मिलती है। इसमें समस्त वातावरण और पात्रों द्वारा अभिव्यक्त विचारधारा में दुष्कर्म, दुष्टताएँ और अनाचार भरे पड़े हैं। इस प्रकार जब इस फ्रान्सीसी सौन्दर्यवाद ने इंग्लैंड की यात्रा की तो ह्रासोन्मुखी साहित्य का प्रभाव वहाँ के कवियों और लेखकों पर भी पड़ा। पर वहाँ फ्रान्स के समान अतिवाद नहीं मिलता। इंग्लैंड में साहित्य इतना अधिक क्रान्तिप्रिय नहीं हुआ। इंग्लेंड में 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त को लाने का श्रेय ह्विसलर को है। ह्विसलर से पूर्व रस्किन की विचार-धारा वहाँ चल रही थी : जिसका अभिप्राय था कला का उद्देश्य स्वयं का सन्तोष न होकर लोक-सेवा है। ह्विसलर ने कला के द्वारा उपदेश देने की प्रवृत्ति का घोर विरोध किया। आस्कर वाइल्ड ने भी इस प्रतिक्रिया में योगदान दिया। इनके अनुसार कला स्वयं अपना ध्येय है। वाइल्ड ने एक बार कहा था : नैतिक दृष्टि से किसी भी पुस्तक को भला या बुरा नहीं कहा जा सकता। पुस्तकें या तो भलीभाँति लिखी जाती हैं या बुरी तरह यही कहा जा

---

१. एफ० एल० लूकस : लिट्रेचर एण्ड साइकोलोजी, पृ० २३४

"Which means, in effect, 'I wish art to be irresponsible in order that I may indulge without reproach my sadism, my masochism and my antiparental neurosis. For like all neurotics I find adult responsibility too harassing and prefer a second child-hood."

सकता है।[1] नैतिक समवेदना के वशीभूत होना कलाकार का अक्षम्य अपराध है।[2]

हालब्रुक के अनुसार इस सौन्दर्यवादी-ह्रासोन्मुखी कला की चार मूल विशेषताएँ हैं अ—अप्राकृतिक जीवन के प्रति आकर्षण (Perversity), आ—कृत्रिमता (Artificiality) इ—अतिवैयक्तिक प्रवृत्ति (egoism) तथा ई—कौतूहल (curiosity)।[3] वाइल्ड का जीवन भी अत्यन्त अप्राकृतिक था। समाज में इसीलिए वह घृणा का पात्र बन गया था। कृत्रिमता से भी उसे बड़ा मोह था। वाइल्ड के 'ए पिक्चर आव डोरियन ग्रे' में पतनोन्मुख दर्शन तथा समस्त आचार-आदर्शों का पूर्ण तिरस्कार मिलता है।

इस प्रवाह के विरुद्ध वाल्टर पेटर ने 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त, को इंग्लैंड में शास्त्रीय पृष्ठभूमि प्रदान की। कवि, उपदेशक, नियामक, आदर्श कर्म के लिए प्रेरक आदि कुछ नहीं। वह हमारे यान्त्रिक जीवन को क्षणभर के लिए लीक से हटा कर, जीवन के महान् तथ्यों से साक्षात्कार करता है। इनको परिवर्तन की कोई क्रिया नियंत्रित नहीं कर सकती।[4]

पेटर ने 'मेरियस द एपेक्यूरियन' की कहानी में कलाकार के लिए वाञ्छनीय जीवन का चित्रण करते हुए स्वीकार किया है कि कलाकार के मस्तिष्क को पूर्णतः परम्परा-मुक्त या रूढ़ विचारों से रहित होना चाहिए। सौन्दर्य के छोटे से छोटे कम्पन-स्पन्दन के प्रति उसे संवेदनशील होना चाहिए। यही दृष्टिकोण एपीक्यूरियज्म के दर्शन में भी है। इसके अनुसार जीवन का एक मात्र ध्येय आनन्दोपार्जन है। मेरियस तीव्र से तीव्रतर रोमांचों [Sensations] की खोज में रहता है। पर पेटर का भोगवाद नितान्त अनियंत्रित नहीं था। उस पर नियंत्रण भी था। नियंत्रण परिष्कृत स्वभाव द्वारा ही सम्भव माना गया है।—कोई बाह्य नियंत्रण अपेक्षित नहीं है। पेटर ने अपनी विचार-धारा को 'स्टडीज इन द हिस्ट्री आव-द रेनासां' में स्पष्ट किया है। पेटर कलाकार के आध्यात्मिक जीवन में ही कला-सिद्धान्तों की स्थिति मानता है, इनका कोई स्रोत अन्यत्र स्वीकृत नहीं करता। वह मानता है यदि कला विषयक-सिद्धान्तों की खोज करनी है, तो किसी सच्चे

1. There is no such thing as moral or immoral book. Books are well written or badly written, that is all. "
2. "No artist has ethical sympathies. An ethical sympathity of the artist is an impardonable mannerism."
3. 'द एयटीन नाइंटीन' (Penguin series, 1950) पृ० ६२
4. 'The work of great poets is not to teach lessons, or enforce rules, or even to stimulate us to noble ends; but to withdraw the thoughts for a while from the mere machinary of life, to fix them, with appropriate emotions, on the spectacle of those great facts in man's existance which no machinary affects.'

[वर्ड्सवर्थ पर लिखा गया लेख]

कलाकार के आध्यात्मिक जीवन का उद्घाटन करना होगा। भोगवाद पर परिष्कृत स्वभाव का यह नियंत्रण एक नवीन आयाम का सूचक बना।

इस प्रकार वाइल्ड और पेटर ने फ्रांसीसी सौन्दर्यवाद को परिवर्तित रूप में अपनाया। फ्रांसीसी सौन्दर्यवाद का रहस्यवादी पक्ष और उसकी विस्तृत व्याख्या इनको आकर्षित नहीं कर सकी। पेटर और वाइल्ड 'स्व' से ही इतने सम्बद्ध रहे कि किसी पारलौकिक सत्ता से अपना सम्बन्ध स्थापित न कर सके। आगे चलकर विलियम बटलर यीट्स [W. B. Yeats] ने सौन्दर्यवाद के साथ रहस्यात्मकता संलग्न की। यीट्स और टैगोर दोनों ने ही सौन्दर्यवाद के साथ रहस्यवादिता का समावेश किया।

'कला, कला के लिए' का समर्थन जे० ई० स्पिगर्न, क्लाइव, बेल और ए० सी ब्रैडले ने भी किया। स्पिगर्न ने भी नैतिक-अनैतिक के प्रश्न को कला-क्षेत्र में अनुचित कहा। इनका दृष्टिकोण पेटर और वाइल्ड के अनुरूप ही है। वे भी रोमाञ्चों को महत्त्व देकर आचरणगत आदर्शों या मूल्यों का पूर्ण बहिष्कार करने के पक्ष में हैं। समीक्षक को भी कृति के विषय में अपने रोमाञ्चों को ही व्यक्त करना चाहिए। समीक्षक को कृति से जो आनन्द प्राप्त होता है, वही कृति का यथार्थ मूल्याङ्कन है।[1] स्पिगर्न को ज्ञात था कि इस कथन पर यह आरोप किया जा सकता है कि यह तो कृति का मूल्याङ्कन नहीं, आलोचक की अपनी अभिव्यक्ति है। उसने कहा कि कोई भी समीक्षा ऐसी नहीं हो सकती जो कृति से नहीं हटे। कोई भी समीक्षा कलाकृति तक सीमित नहीं रह सकती। स्पिगर्न के अनुसार इतिहास, मनोविज्ञान, जीवनी आदि के मानदण्डों को छोड़कर, रोमाञ्चों को ही ग्रहण करना श्रेष्ठ है। इस प्रकार हम एक कलाकृति के स्थान पर दूसरी कलाकृति की स्थापना करते हैं। यही समीक्षा का दायित्व है।

क्लाइव बेल ने भी किसी आचार-गत या समाज-गत मूल्य या आदर्श को स्वीकार नहीं किया। साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की धारणा इनकी दृष्टि में एक भ्रम है। कला-समीक्षा के लिए जीवन के आदर्श या उसकी घटनाएँ या आन्तरिक भावनाएँ अनावश्यक हैं।[2]

ब्रैडले ने 'कला, कला के लिए सिद्धान्त' का सन्तुलित रूप प्रतिष्ठापित किया।[3] इन्होंने इसके स्पष्टीकरण में कहा : 'एस्थेटिक अनुभव साधन न होकर साध्य है। उसके साथ किसी भी अन्य प्रयोजन की मान्यता अवाञ्छित है। साहित्य स्वयं मूल्य है : उसे किसी बाह्य मूल्य के प्रकाश की अपेक्षा नहीं। किसी भी बाह्य

१. जे० ई० स्पिगर्न 'द न्यू क्रिटिसिज्म' (१९११) पृ० ३-६

2. To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions."

३. ए० सी० ब्रैडले, 'आक्सफर्ड लेक्चर्स आन पोइट्री' (मैकमिलन), १९५०, पृ० ४-५

मूल्य का आरोप अनुचित है। जब यह कहा जाता है कि 'एस्थेटिक', अनुभव के अन्तर में निहित मूल्य उसका काव्यगत मूल्य है, न कि कोई बाह्य-आरोपित मूल्य, तब यह आशय नहीं समझना चाहिए कि काव्य का कोई प्रयोजन नहीं होता। काव्य स्वयं साध्य तो है, पर वह साधन भी हो सकता है। काव्य से संस्कृति का प्रसार होता है। धर्म की स्थापना और मनोवेगों का परिष्कार भी सम्भव है। वह कवि को प्रशंसा प्राप्त करा सकता है, उसे चरित्रवान् भी बना सकता है। स्वयं साध्य होते हुए भी यदि ये कार्य भी सम्पादित हो जाते हैं तो, कलाकृति का मूल्य बढ़ता ही है, घटता नहीं। परन्तु यह सब बाह्य प्रयोजन-गत मूल्य हैं। ये आन्तरिक मूल्यों को नियंत्रित नहीं करते और करना भी नहीं चाहिए। काव्यगत मूल्याङ्कन की कसौटी तो काव्य के अन्तर में ही निहित है। उसका निर्धारण बाह्य मूल्यों पर नहीं होना चाहिए। यदि कलाकार अपनी सृष्टि के समय बाह्य मूल्यों से अवगत रहता है, तो वह काव्यगत मूल्य को घटा देता है। यही बात समीक्षक पर भी लागू होती है। 'काव्य प्रकृतितः न तो इस वास्तविक जीवन का कोई अङ्ग है और न उसकी अनुकृति ही। काव्य का अपना जगत् है पूर्ण स्वतंत्र और स्वयं में पूर्ण।

कालान्तर में भारत में भी इस सिद्धान्त का आगमन हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर [टैगोर] ने आंशिक रूप से इसे स्वीकारा। उनके अनुसार शुद्ध कला नैतिकता के सिद्धान्तों से नियंत्रित और परिचालित नहीं होती। उसमें अन्ततः शिव और सुन्दर का स्वत. तादात्म्य हो जाता है। यह विचारधारा अरस्तू के 'रिटारिक' में मिलती है। "सौन्दर्य, शिव है जो कल्याणकारी होने से आनन्ददायक होता है। रवीन्द्र का स्वर भी ऐसा ही है: सौन्दर्य-मूर्ति ही मङ्गल की पूर्ण मूर्ति है और मङ्गल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।" रविबाबू की मान्यताओ को ही रूपान्तर में स्वीकार करते हुए हिन्दी साहित्यकार इलाचन्द्र जोशी ने 'कला, कला के लिए सिद्धान्त को बहुत कुछ स्वीकार किया। "विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति-तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झङ्कार से बज उठती है। यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अङ्ग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।"[१] इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी 'कला, कला के लिए सिद्धान्त' के मूल रूप के अधिक समीप हैं। निराला जी भी इस मत को स्वीकृति देते हैं: "सूक्तियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।[२]" छायावादी कवि न्यूनाधिक रूप से इस सिद्धान्त से अवश्य ही प्रभावित हुए।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस सिद्धान्त का पूर्ण खण्डन किया: "कुछ लोगों का यह ख्याल है कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है। उसका प्रत्यक्ष

१. साहित्य सर्जना
२. निबन्ध प्रतिमा

या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध ही नहीं, यह गलत है। काव्यानुभूति (Aesthetic mode or taste) एक निराली ही अनुभूति है, इस मत के कारण योरोपीय समीक्षा-क्षेत्र में बहुत सा अर्थशून्य वाग्विस्तार बहुत दिनों से चला आ रहा है। इस मत की असारता आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने 'प्रिंसिपल्स आव् लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' में अच्छी तरह दिखाई है।" (काव्य में रहस्यवाद, प्रथम संस्करण, पृ० ७-८)। शुक्ल जी ने इस सिद्धान्त के फ्रान्सीसी रूप और उसके अंग्रेजी संस्करण, दोनों का ही विरोध किया है। अपने निबन्ध 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' में उन्होंने इसका पूर्ण खण्डन किया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का पुष्ट तर्कों से साङ्गोपाङ्ग और आद्यन्त विरोध शुक्ल जी ने किया। अन्त में शुक्लजी ने लिखा : "हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र की अन्तः प्रकृति की छानबीन कर जाइये, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों पर और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य हृदय का गूढ़ सामञ्जस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्रियों का मत लीजिए तो जैसे सम्पूर्ण जीवनधर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अङ्ग काव्य भी।"[1]

बाबू श्याम सुन्दर दास जी ने 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का प्रकारान्तर से समर्थन किया है : "तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझ कर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदेशों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का सहज सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते हैं, जो उसमें प्रस्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव-व्यञ्जना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार-विचारों की कसौटी में कसते हैं।"[2] आगे चलकर बाबूसाहब लिखते हैं : "प्रत्येक कलाकार अपनी रुचि अथवा शक्ति के अनुसार सत् तथा असत् की धारणायें रखता है, जिन्हें वह अपनी कला-कृति में प्रकट करना चाहे तो प्रकट कर सकता है। पर इसके लिए वह बाध्य नहीं है।......यह तो निश्चय है कि प्रत्येक कलाकृति के निर्माण का कुछ रहस्य होता है। पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की झलक उस काव्य में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है और काव्य के लिए यही लोक-हित है।"[3] इस प्रकार 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त को आंशिक रूप से मान्यता देते हुए भी बाबू साहब शिव का पल्ला पकड़ कर ही रहते हैं। डा० नगेन्द्र ने शुक्लजी और बाबू श्यामसुन्दर दास के इस मतभेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है : "श्यामसुन्दरदास ने (Art for Art's Sake) को अपेक्षाकृत अधिक मान्यता दी है। शुक्ल जी में लोकधर्म के प्रतीक शिव

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; सं. २००५, काशी, पृ०५६८
२. साहित्यालोचन, सं. २००६, पृ० ७२
३. साहित्यालोचन, पृ० ७४

का प्रभुत्व है। वहाँ नीति के बन्धन अत्यन्त सुदृढ़ और कठोर हैं। दास जी ने भी काव्य और आचार का सम्बन्ध स्वीकार किया है—पर वह दृढ़ और अनिवार्य नहीं—शिव की अनिवार्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। (Didacticism) की रुचि को निकृष्ट माना है। वे 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त को व्यापक और विवेक-सम्मत रूप देकर स्वीकार कर लेते हैं। हाँ Bradley और Clive Bell की तरह कला की दुनिया को एक नई, पूर्ण एवं स्वतन्त्र सृष्टि नहीं मानते—पर वे कला पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोप करने के विरुद्ध है।"[1] बाबू गुलाबराय जी ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं। पर वे भी दास जी के पक्ष के नहीं : वे जीवन और कला का सम्बन्ध मानकर वे चलते हैं।

निष्कर्ष—

इस प्रकार कला-कला के लिए सिद्धान्त एक प्रकार से स्वान्तः सुखायवादी है। धर्म, नैतिकता आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। "चाहे जैसा विषय हो—असत्य हो, अनैतिक हो, हानिकारक हो—यदि कलाकार विषय को ऐसा रूप देने में समर्थ होता है कि उसमें निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की, अर्थात् सौन्दर्य की अनुभूति होती है, तो वह कला का उत्पादन करता है। कला रचना-कौशल से ही सिद्ध होती है, उसकी सिद्धि किसी बाहर के उद्देश्य तक नहीं जाती, उपकरणों को कौशल से रूप देना ही कला का प्रयोजन है।"[2] वास्तव में किसी न किसी स्थिति में तो जीवन और कला का सम्बन्ध स्वीकार करना ही पड़ता है। वस्तुतः आचारवादी और नैतिकता-वादी मूल्यों के अतिवाद के प्रति यह सिद्धान्त एक सशक्त प्रतिक्रिया का परिचय देता है। इस सिद्धान्त को जिन सामाजिक परिस्थितियों ने जन्म दिया था। उनका सर्वेक्षण भी रुचिकर होगा।

फ्रान्स की स्थिति उस समय ह्रासोन्मुख थी। जैसा कि सर्वत्र देखा जाता है, फ्रान्स का समाज अभिजात और सामान्य वर्गों में बँट गया था। अभिजातवर्ग अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए धार्मिक-पौरोहित्य से सहायता ले रहा था। दूसरी ओर नवजागरण के उन्मेषों के प्रति प्रबुद्ध और पुरोहितवर्ग की विकृतियों से अवगत जन समुदाय था। नवीन, जनतंत्रीय स्कूलों के अध्यापक और विद्यार्थी बुर्जुआवर्ग के विरुद्ध होते जा रहे थे। साथ ही अभिजात वर्ग के धार्मिक स्कूलों (Lcoles litires) में अध्यापक और विद्यार्थी जागृत जनसमुदाय के प्रति द्वेष का वातावरण प्रस्तुत करते रहे। इस प्रकार फ्रान्स में आन्तरिक विद्वेष के बीज जमते जा रहे थे। जिस समय उक्त सिद्धान्त जन्म ले रहा था, फ्रान्स का आन्तरिक जीवन विभाजित द्वेषपूर्ण और कलुषित था।

राजनैतिक जनतंत्रवाद और पुरोहितवाद की साहित्यिक परिणति 'प्रकृतवाद' और 'प्रतीकवाद' के रूप में हुई। जोला और मलार्मे इस परिणति के नेता थे। जोला

१. 'काव्य चिन्तन' (द्वितीय संस्करण, १९५१) पृ० ८३
२. प्रो० लीलाधर गुप्त, 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त', पृ० २३१

ने साहित्य में भौतिक-विज्ञान को ढाला और मलार्मे ने सौन्दर्यशास्त्र की प्रतिष्ठा की। यदि एक ओर स्थूल, यथार्थवादी, प्रकृतवादी प्रवृत्तियों को बल मिला, तो दूसरी ओर सूक्ष्म, रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। प्रकृतवाद तो फ्रान्स की भूमि से ही जन्मा। 'इतना ही नहीं, तत्कालीन शरीर-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण सम्बन्धी नये अनुसन्धानों, विकासवाद के सिद्धान्तों, प्रतिष्ठापनाओं, भौतिक-विज्ञान के नव-नव अन्वेषणों और कुछ अंशतः कतिपय इतिहासकारों की नवीन शोधों ने प्रकृतवाद की प्रवृत्ति के पोषण में यथेष्ट योग भी दिया।"[1] प्रतीकवाद को जर्मनी के आदर्शोन्मुख दर्शन ने अनुप्राणित किया। इस दर्शन को सर्वप्रथम विक्टर कजिन ने अपने लेखों में [१८१६-१९] में ग्रहण किया। 'पारनेशन' धारा के गातिया प्रभृति लेखक ऐतिहासिक वृत्त और प्रकृत-रूपों को यथावत् व्यक्त करने में प्रवृत्त थे। मलार्मे ने इसमें रहस्यवादी संकेतों को लाने का आग्रह किया। इन रहस्य संकेतों के समावेश ने ही प्रतीकवाद को जन्म दिया।

प्रतीकवाद में भी आचारगत मूल्यों की अवहेलना थी। अभिव्यञ्जना के नवीन मार्ग, नवीन शिल्प-प्रविधियों, नवीन बिम्ब-योजना, और नवीन प्रतीकविधान की माया-छाया के नीचे व्यक्तिगत संवेदना और अनुभवों की धारा प्रवाहित होने लगी। फलतः अनुभूत विषय अग्राह्य, अनुपम और अकथनीय होते गए। भाषा की नवीन शक्तियों की साधना में सङ्गीत आदि अन्य कलाओं का भी काव्य में संयोग किया गया। इस प्रकार 'रोमाञ्चों' के वहन के लिए भाषा और शिल्प के नवीन रूपों की खोज होती रही। पर इस विधान में भी बाह्य-मूल्यों की अस्वीकृति में 'कला-कला के लिए' ही मान्य रहा।

इस सिद्धान्त को आगे अधिकांश विचारकों ने अमान्य ठहराया। ज्यों-ज्यों व्यक्तिवाद से समाजवादी दर्शन की ओर प्रवृत्ति एवं प्रगति होती गई यह सिद्धान्त खोखला सिद्ध होता गया। कलाकार जीवन को पूर्णतः विस्मृत करके या उससे विमुख होकर अपने कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि कला को शिक्षा या धर्म-प्रचार का माध्यम समझ लिया जाता है, तब भी कला के लिए यह श्रेयस्कर नहीं होता। कलाकार को जीवन के उद्देश्यों को इस प्रकार सांकेतिक रूप से ध्वनित करने का प्रयास करना चाहिए कि कला विकलाङ्ग न हो। कला को धर्म या उपदेश के हाथों बिक नहीं जाना चाहिए। पर सभी सामाजिक मूल्यों से निरपेक्ष होकर भी कला स्वस्थ और जीवन्त चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकती। उसमें मानवीय मन की कुत्साएँ और अनाचार, विद्वेष और विकृतियाँ भर उठते हैं। अनेक दुष्ट और अभूतपूर्व अनुभूतियाँ कला के नाम पर चलने लगती हैं। इस प्रकार एक अतिवाद से बचने के लिए कला दूसरे अपवाद में जा उलझती है।

---

१. राजनारायण बिसारिया, आलोचना, वर्ष [illegible] अङ्क १, पृ० १७१.

८

सत्यं शिवं सुन्दरं

१. उत्पत्ति एवं ऐतिहासिकता
२. तत्त्रमयी की भारतीय पद्धति
३. सत्यं शिवं सुन्दरं एवं सच्चिदानन्द
४. तीन तत्त्वों की एकात्मता
५. सत्य के विभिन्न रूप--दार्शनिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक
६. साहित्य में शिवतत्त्व 'शिवेतरक्षये'
७. साहित्य एवं जीवन में सुन्दरं की प्रतिष्ठा एवं सौन्दर्य की विभिन्न परिभाषाएं
८. निष्कर्ष

साहित्य के क्षेत्र का यह एक अत्यन्त लोकप्रिय सूत्र है। इन तीन शब्दों में समस्त जीवन को नाप लेने की व्यापकता और शक्ति है। भारत में त्रिगुणात्मक चिन्तन-पद्धति लोकप्रिय अवश्य रही—त्रिदेव इसी चिन्तन पद्धति का प्रतीक है—पर इस त्रिकोणात्मक सूत्र का उदय सम्भवतः भारत में नहीं हुआ। स्वतत्र रूप से इन तीनों पर तत्त्वचिन्तन तो हुआ पर इस सूत्र की इस रूप में प्रतिष्ठा यहाँ नहीं हुई। दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में सच्चिदानन्द जैसे सूत्र-प्रतीक की प्रति ही यहाँ थी। इस सूत्र में सत् मूल तत्त्वाधार का प्रतीक है। चित् में गति का भाव सन्निहित है। और समस्त गत्यात्मक अस्तित्त्व का लक्ष्य है आनन्द। अन्ततः तीनों एक है—अभिन्न हैं। 'आनन्द' की स्थिति अभेद और अद्वैत की स्थिति है। वेदों मे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का एक सूत्र में प्रयोग नहीं मिलता। वेदों में तो अलग-अलग भी इन प्रतीकों का प्रयोग सम्भवतः नही है। तै-तरीय और मांडूक्य उपनिषदों में अवश्य सत्य और शिवं का प्रयोग हुआ है। सुन्दरं का प्रयोग वहाँ भी नहीं है। वैसे सुन्दर शब्द प्राचीन साहित्य में अवश्य प्रयुक्त मिलता है। अमर कोषकार ने चारु एवं रुचिर के अर्थ में सुन्दर का प्रयोग किया है।[1] पर सूत्रवत् प्रयोग तो इन शब्दों का नहीं मिलता है। शिवं और सुन्दरं का शब्दान्तर से प्रयोग हमें भारवि के 'किरातार्जुनीय' में प्राप्त होता है : 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः," गीता में सत्य, प्रिय, हितकर और अनुद्वेग कर शैली में बोलने का आदेश है। इसमे सत्यं और शिवं की छाया मानी जा सकती है। इस प्रकार आंशिक रूप से समानार्थक शब्दावली और सिद्धान्त-तत्त्व भारतीय दर्शन में मिल जाते हैं, पर यह स्वीकार करने में

१. अमरसिंह ने कोष में सुन्दर के प्रतिशब्द इस प्रकार दिए हैं :—
सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्॥

तनिक भी सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' का सूत्र हमने बाह्य या पाश्चात्य स्रोतों से लिया। वस्तुतः सत्य-शिवं-सुन्दरं एवं सच्चिदानन्द की प्रतीति एवं व्याप्ति में समानता होते हुए भी दोनो मे दो भावनाओं की मौलिकता का अन्तर है। यह अन्तर पाश्चात्य जीवन-दर्शन एवं भारतीय जीवन दर्शन में है। हमारे सूत्र की समासात्मकता यहां की जीवन धर्म की सामासिक पद्धति है।

अधिकांश आलोचक एव विचारक यह स्वीकार करते है कि इस सूत्र की आत्मा तो इस यूनानी सूत्र The truth, the good and the beautiful में है परन्तु इसका विकास योरुप में हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस सूत्र का सर्व प्रथम प्रयोग भारत में रवीन्द्रनाथ ठाकुर टैगोर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ब्राह्मसमाज की आदर्श-प्रतिष्ठा के निमित्त किया था। पर इसका प्रयोग किस आधार पर किया गया, यह अज्ञात ही है। कतिपय विद्वान मानते है कि राजा राममोहन राय ने इसका प्रथम प्रयोग किया। पीछे बँगला से हिन्दी में यह सूत्र गृहीत हुआ। इस प्रकार इस सूत्र का भारत में सबसे पहले बँगला मे हुआ।

माना जा सकता है कि यह सूत्र भारत में यूरोप से आया। विक्टर कज़िन की एक पुस्तक है : दि ट्रू, दि गुड, ऐंड दि ब्यूटीफुल। फ्रांसीसी और जर्मन दर्शन साहित्य में भी इस शब्दत्रयी का साथ-साथ प्रयोग मिलता है। इन तीनों शब्दों का संस्कृत रूपान्तर इतना पूर्ण और उपयुक्त हुआ है कि समस्त सूत्र बाह्यतः भारतीय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन तीनों शब्दों मे द्योतित विचारधारा किसी भी देश के लिए विदेशी नहीं है : किसी न किसी रूप में इन तत्त्वों का समावेश सभी दर्शनो में हैं। यह बतलाना कठिन है कि यूरोप में कभी किस विद्वान से सीधे-सीधे यह सूत्र भारतीय विचारकों ने लिया। इसकी खोज-बीन सम्प्रति अभीष्ट नहीं है। संक्षेप में इस सूत्र का तत्त्वान्वेषण ही उपयुक्त होगा।

काव्य, साहित्य तथा समस्त ललित कलाओं का मूल आधार, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सौन्दर्य है।[1] इस प्रकार ललित कलाओं की सृष्टि-प्रक्रिया और उनका लक्ष्य किसी प्रकार के प्रयोजन या उपयोगिता की दासता स्वीकार नहीं करते। सौन्दर्य के माध्यम के विश्लेषण में सौन्दर्य शास्त्र [Aesthetics] का जन्म हुआ।[2] सौन्दर्य शास्त्र के सभी विचारक इसे कलाओं का सर्वस्व मानते हैं। सामान्यतः सौन्दर्य किसी भी वस्तु के एक विशेष गुण के वाह्य पक्ष से सम्बन्धित है। इस गुण का बोध आँखों के माध्यम से होता है। किसी वस्तु को देखकर आकर्षण या विकर्षण का अनुभव होने पर हम उस वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहते हैं। अर्थविस्तार की दृष्टि से 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तुगत विशेषताओं के लिए भी होने लगा है जिनका ग्रहण मात्र चक्षुरिन्द्रिय से नहीं होता। ऐसे स्थलों पर 'सुन्दर' लक्ष्यार्थ के रूप में ही गृहीत होता है। काव्य के सन्दर्भ में भी सौन्दर्य लक्ष्यार्थ के रूप में ही लिया जाता है। सौन्दर्य का लक्ष्यार्थ है : मन को आकर्षित करने की शक्ति। और सुन्दर

1. R G Collingwood, Principles of Art, P. 37
२. अठारहवी शती में इस शास्त्र का जन्म माना जाता है।

का अर्थ है—इस शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति या वस्तु। आकर्षक या सुन्दर वस्तु का सान्निध्य, या उपभोग आह्लादकारी होता है।

आकर्षण सृष्टि-सञ्चालन की एक प्रमुख शक्ति है। दर्शन या साहित्य में जिसे 'आत्मा' कहा जाता है। विज्ञान के सन्दर्भ में वही 'शक्ति' है। मनोविज्ञान में भी 'शक्ति' को सार तत्त्व माना गया है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी प्रत्येक अणु में अमित 'शक्ति' का निवास है। एक प्रकार से वस्तु [Matter] शक्ति [Energy] का ही व्यक्त रूप है। साथ ही वस्तु या द्रव्य के प्रत्येक अंश को शक्ति के रूप में परिणत किया जा सकता है। इस प्रकार आज शक्तिवाद [Energism] की स्थापना हो गई है।[१] साहित्य की शक्ति सौन्दर्य ही है। इस रूप में यही साहित्य की आत्मा है।

भारतीय दर्शनों के अनुसार मानव-जीवन का ध्येय आनन्द-प्राप्ति ही है। योगी समाधि में, साधक-साधना में, भक्त-भक्ति-प्रक्रिया में, विचारक-चिन्तन में आनन्द की ही संसिद्धि का प्रयत्न करते हैं। इस आनन्द की भी चरम परिणति 'परमानन्द' में होती है। परमानन्द ब्रह्म का पर्यायवाची है तथा पुरुषार्थ चतुष्टय को मोक्ष-कैवल्य परमपद इसी परमानन्दलीनता का प्रतीक है।

भारतीय दार्शनिक सुन्दरता को भी मानता है। परन्तु सुन्दर केवल भौतिक वस्तु ही है। सौन्दर्य का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन तक ही है। अतः वह स्थूल है। भारतीय चिन्तकों के अनुसार स्थूल को क्षण-क्षण में परिवर्तमान रूप ही सौन्दर्य की कसौटी है। मन की सीमा तक प्रभातिमान यह सौन्दर्य भारतीय दार्शनिक के अनुसार भौतिक-सुख मानसिक तृप्ति तो प्रदान कर सकता है। जीवन की समुन्नति के मूल रूप आनन्द की अवाप्ति में असमर्थ है आनन्द आत्मा का धर्म है। आत्मा का परम रूप परमात्मा है और आनन्द का परमस्वरूप परमानन्द। दोनों ही आध्यात्मिक क्षेत्र तक जाते हैं। इहलोक की परिणति भी परलोक में ही स्वीकार की गई है। भारतीय दार्शनिक की मान्यता में परमात्मा-परलोक एवं परमानन्द ही जीवन की परमगति है। भारतीय काव्यमत के अनुसार 'रस' काव्य की आत्मा है।[3] आस्वादन की प्रक्रिया 'रस' है। और यह रसास्वादन आनन्द रूप है। इस प्रकार काव्यास्वादन ही 'रस' है। भारतीय विचारधारा सौन्दर्य की अपेक्षा रस अथवा आनन्द की ओर विशेष रूप से झुकी रही है। 'रस' या 'आनन्द' काव्य का फल है, उद्देश्य है।[४] काव्य 'शक्ति' की सफलता रस या आनन्द प्रदान करने में है। काव्य के केन्द्र में स्थित आकर्षण-शक्ति ही सौन्दर्य है। विभिन्न साधक उपकरणों से इस शक्ति की सिद्धि की जाती है। सौन्दर्य को आकर्षण-शक्ति का समानार्थक माना जा सकता है।

---

1. Cosmology : Volume 1, by D. Nys, P. 246-7
२. डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा; पृ० ३४७
३. नाट्यशास्त्र; ६।२६
४. अभिनव भारती (६।१५) हिन्दी अनु० पृ० ४२८; रामदहिन मिश्र. काव्यदर्पण, पृ० ५६

मन अपनी समस्त ऐन्द्रिय-वृत्तियों के साथ इसी शक्ति के द्वारा आकर्षित होता है और आनन्द का भोग करता है।

विकास की दृष्टि से सौन्दर्य-बोध का उदय मानव-हृदय में सभ्यता के आरम्भ मे ही मानना चाहिए। यह सत्य है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में आवश्यकताओं की वृद्धि की है और उनकी पूर्ति का उद्योग किया है : पूर्ति के लिए सामग्री का अन्वेषण और संग्रह किया है। पर इन प्रयोजन-मूलक प्रक्रियाओं के साथ सौन्दर्य-बोध की वृत्ति भी कार्यशील रही है। यही जन्मजात सौन्दर्य-बोध वृत्ति समस्त मानवीय शिल्प और साहित्य के लिए उत्तरदायी है। यह समस्त प्रपञ्च एक ओर प्रयोजन और दूसरी ओर सुख अथवा आनन्द की सामग्रियों से भरपूर है। समस्त सृष्टि का मूल कारण भी आनन्द ही है।[1] सर्वदा यह सृष्टि प्राचुर्य में जन्म लेती है, अभाव में नहीं।[2] आनन्द और रस को समानार्थक भी माना जाता है। परमात्मा को सच्चिदानन्द के साथ ही रस भी कहा गया है।[3] आनन्द चाहे प्रयोजन से पूर्ण रूपेण असम्बद्ध न हो, पर उसमें प्रयोजन की दासता नहीं है। मनुष्य की साहित्य-सृष्टि भी प्राचुर्य की देन है। साहित्य में अरूप को रूपायित किया जाता है। इस मूर्तीकरण या सृष्टि के मूल में सौन्दर्य और आनन्द की अभिव्यक्ति की भावना है। साहित्य का कार्य आनन्द देना है। आनन्द रस-सृष्टि के बिना आता नहीं। अतः कवि को रसस्रष्टा कहा जाता है। रस की सृष्टि से धीमान् व्यक्ति आनन्दित होते हैं।[4] तात्पर्य यह कि सौन्दर्य-वृत्ति मनुष्य सृष्टि में आदिमयुग से है। इसका क्रमिक विकास हुआ है। सौन्दर्य वृत्ति ही अरूप को रूप और अमूर्त को मूर्तता प्रदान करती है। यही प्रक्रिया रस-सृष्टि कहलाती है। रस आनन्ददायक होता है। साथ ही यह भी मानना चाहिए कि सौन्दर्य-बोध सबमें समान नहीं होता क्योंकि वह आधारगत वस्तु नहीं भाव है, एक मानसिक अवस्था है। आकृतिगत सौन्दर्य में भिन्नता पाई जाती है—किसी को एक प्रकार की आकृति सुन्दर लगती है, किसी को दूसरे प्रकार की। भावगत-सौन्दर्य में सार्वदेशिकता अवश्य मिलती है—क्षमा, करुणा, प्रेम, बलिदान आदि का सौन्दर्य सार्वदेशिक रहा है। ये वे मानवीय भावनाएँ हैं, जिन्होंने विकासक्रम में अपना सौन्दर्य प्रतिष्ठित किया है। इनका सौन्दर्य सामाजिक और वैयक्तिक सन्दर्भों में स्थापित हो गया है।

साहित्य में भाव का सौन्दर्य आकृति के सौन्दर्य से प्रमुख हो जाता है। साहित्य-सृष्टि का वैचित्र्य यह है कि वहाँ सुखानुभूति ही हमें आनन्द प्रदान नहीं करती : दुःख और शोक की अनुभूति भी आनन्द प्रदान करती है। साहित्य में रूप और आकृति का जो आकलन होता है, वह हमारे सौन्दर्य-बोध की स्वाभाविक प्रक्रिया से

१. 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

२. आनन्द प्राचुर्यात् सृष्टिः न तु अभावात्।'

३. 'रसो वै सः।'

४. मधुरं रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनैव मधुव्रताः॥ —दण्डी : काव्यादर्श।

भिन्न भी पड़ सकता है। वास्तविक-जीवन का असुन्दर और वीभत्स भी साहित्य-सामग्री के रूप में, प्रचुर सौन्दर्य का आभास दे सकता है। इस प्रकार साहित्य मे सौन्दर्य को भावगत उदात्तता प्राप्त है।

इस प्रकार प्रसङ्गतः हमने देखा कि सौन्दर्य का वास्तविक जीवन और साहित्य-सृष्टि में क्या स्थान है। सौन्दर्य की कुछ परिभाषाओं पर विचार कर लेना समीचीन होगा। मनुष्य की किसी भी कृति के साथ जब सौन्दर्य का संयोग हो जाता है, तो कृति कलासंज्ञक हो जाती है। अहं बोध की परिपूर्णता और अहन्ता को साकार करने की क्रिया में मनुष्य सौन्दर्य का अनुभव करता है। भारतीय दर्शन के अनुसार अहन्ता की कारणभूत सत्ता अखण्ड, चेतनसत्ता है। जब भिन्न प्रतीत होने वाली चेतना अभिन्न-स्थिति प्राप्त करती है, तो असुन्दर की सत्ता समाप्त होती है और सुन्दर की अखण्ड स्थापना हो जाती है। इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए कला की परिभाषा देते समय राष्ट्र कवि स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त कहते है—

"सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला"

—साकेत

पाश्चात्य विद्वानों ने अरूप को रूप देने की प्रक्रिया में सौन्दर्य देखा है। बासंके की परिभाषा इस प्रकार है: कोई विचार जब इन्द्रियगम्य उपकरणों के माध्यम और आधार से प्रकाशित हो जाता है, तो वही सुन्दर हो जाता है। शापेनहावर ने कहा: जब अरूप इच्छा कोई आकार ग्रहण कर लेती है, उसी को सुन्दर कहते हैं। प्लाटिनस का स्वर कुछ दार्शनिकता के साथ इसी तथ्य को प्रकट करता है: जब आत्मा किसी रूप या दशा में प्रकाशित होती है, वही सुन्दरता है। हर्बर्ट स्पेन्सर की परिभाषा यों है: जब अनन्त, सान्त या परिमित हो जाता है, तब वह सुन्दर कहलाता है। इन सभी परिभाषाओं में किसी बाहरी आकार में निराकार का प्रकट हो जाना ही सौन्दर्य-विधान है। भारतीय मत में उपनिषद् का "एकोऽहम् बहुस्याम्" भी सम्भवतः यही है।

प्लेटो ने अपनी परिभाषा को एक भिन्न चिन्तन प्रदान किया है। उनके मत में सापेक्ष स्थिति में सौन्दर्य नहीं है; निरपेक्ष स्थिति में ही सुन्दर का उदय होता है: समग्र प्रकृति निरपेक्ष रूप से सुन्दर है। निरपेक्ष सुन्दरता से ही सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। काँटे और फूल दोनो ही सुन्दर है। पर जब फूल से काँटे की तुलना करते हैं, तो सापेक्ष स्थिति उत्पन्न हो जाती है और विभाजन आरम्भ हो जाता है।

उक्त परिभाषाओं में विषयीगत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान है। विषयगत सौन्दर्य की इनमें चर्चा नहीं है। भारतीय दार्शनिक भी विषयगत सौन्दर्य की उपेक्षा करता रहा है। पश्चिम के दार्शनिकों ने बहुधा विषयगत और विषयीगत सौन्दर्य का समन्वय ही किया है। अरस्तू ने विषयगत सौन्दर्य को मान्यता दी है: जिस वस्तु की रचना में समुचित क्रम, सानुपातिक-सुडौलपन, सौष्ठव और अवयवों की सङ्गति हो, वह सुन्दर है। पर इस विषयगत सौन्दर्य का परीक्षक या ग्राहक तो चेतन मन ही होता है।

पश्चिम के कुछ कवियों ने भी सौन्दर्य की परिभाषाएँ दी है। शेक्सपियर की परिभाषा का सार इस प्रकार है : सौन्दर्य सन्दिग्ध और व्यर्थ है। यह अकस्मात् फीका पड़ जाता है। यह एक ऐसा फूल है, जो मुकुलित होना आरम्भ करते ही मुरझा जाता है।[१] सम्भवतः यहाँ कवि का अभिप्राय विषयगत सौन्दर्य से है। यह भौतिक उपकरणों पर आधारित होता है और यह आधार शाश्वत नही है। अहन्ता के प्रतिबिम्ब और मूर्तीकरण के तत्त्वों को 'शेली' की परिभाषा आत्मसात् करती प्रतीत होती है : अपने ही स्वाभाविक रङ्ग के सारभूत तत्त्व से सौन्दर्य अनुप्राणित होता है। मानव के विचार के आकार पर जितनी ही तेरी झलक पड़ती है, उतना सब सुन्दर है।[२] एक फ्रेन्च लेखक के अनुसार सौन्दर्य के लिए बाह्य अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं है।[३]

उक्त परिभाषाओं के आधार पर सौन्दर्य के तीन तत्त्व माने जा सकते हैं। (i) सौन्दर्य विषयगत भी होता है और विषयीगत भी; (ii) सौन्दर्य अमूर्त को मूर्त रूप देते हैं—अमूर्त का सौन्दर्य मूर्त उपादानों के माध्यम से निखरता है; तथा (iii) अहन्ता को प्रतिबिम्बित करना ही सौन्दर्य की सृष्टि है। एक और तत्त्व निरपेक्ष स्थिति का है : इस स्थिति में सब कुछ सुन्दर है।

माघ ने शिशुपाल बध में विषयीगत और विषयगत दोनों का सन्तुलन करते हुए, सौन्दर्य की परिभाषा दी है। नवीन के प्रति सभी का आकर्षण होता है। कालगति से यह आकर्षण क्षीण होता जाता है। माघ की दृष्टि से जहाँ यह लौकिक क्रम पलट जाता है, वहीं सौन्दर्य है—जो रूप क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करे वही सुन्दर है—

> दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद् विस्मय मात तान।
> क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥
>
> —शिशुपाल बध।

इस प्रकार मन का किसी वस्तु से रागात्मक सन्तुलन ही सौन्दर्य का विधायक है। विषय और विषयी का सन्तुलन बिगड़ना नहीं चाहिए। जब यह सन्तुलन बिगड़ता है तो दो स्थितियाँ सम्भव है : एक तो मन का उद्दीप्त हो जाना और वस्तु का हलका हो जाना; दूसरे वस्तु का पक्ष भारी हो जाना और मन का उसकी ओर सहज आकृष्ट होना। पहली स्थिति में घृणास्पद कुरूपता का बोध होता है और दूसरी में सुन्दरता का। सौन्दर्य के लिए रागात्मक सन्तुलन नितान्त आवश्यक है।

---

१. "Beauty is but a vain and doubtful good; a shining gloss that fadeth suddenly; flower that dies when it begins to bud."

२. "Spirit of beauty, that does consecrate with thine own hues, all thou dost shine upon human thought or form......"

३. 'Loveliness needs not the aid of foreign ornament, but is when unadorned, adorned the most.'

सौन्दर्य की कुछ परिभाषाएँ सत्य और शिव के साथ भी सम्बद्ध हैं। कीट्स ने कहा सुन्दर ही सत्य है और सत्य ही सुन्दर है।[1] इसमें कीट्स ने सत्य और सुन्दर के अभेद को स्वीकार किया है। टैनीसन ने सत्य, शिव और सुन्दर को तीन बहनों के रूप में स्वीकार किया है।[2] इमर्सन के अनुसार सत्य, शिव और सुन्दर एक ही परमेश्वर की विभिन्न दशाएँ हैं। वामगार्टन ने कहा : सत्य, शिव, सुन्दर परमात्मा के गुण हैं। रवीन्द्र ने भी एक स्थान पर लिखा है : मैं सुन्दरं और सत्यं को एक मानता हूँ। गुलाबराय जी ने और स्पष्ट करते हुए कहा : "हमारे विचार में कर्त्तव्य-पथ पर आकर सत्य शिव बन जाता है और भावना से समन्वित होकर सुन्दरं के रूप में दर्शन देता है।" कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक-सेवा में शिव अविकार॥

इन कतिपय परिभाषाओं के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्य, शिव और सुन्दर के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचीं जा सकती। वस्तुतः एक ही तत्त्व का इन तीन रूपों में परिचय दिया जाता है। जो वास्तव में सुन्दर होता है वह सत्य और शिव से विच्छिन्न नहीं हो सकता। इन तीनों के सम्मिलन में ही पूर्णता है।

सत्य विभिन्न रूपों में ग्राह्य है। दार्शनिक दृष्टि से जो अटल, अखण्ड, और शाश्वत है, वही सत्य है। वैज्ञानिक सत्य वस्तुगत सत्य है। इसका दर्शन निरपेक्ष रूप में किया जाता है। इतिहासकार सत्य को समय-चक्र के परिवेश में देखता है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य में कल्पना के लिए स्थान नहीं होता। वैज्ञानिक सत्य को जीवन-सन्दर्भ से अलग करके देखता है। वह सत्य को सुन्दर या शिव के साथ देखना नहीं चाहता है। अथवा यों कहना चाहिए कि एक ही तत्त्व के सत्य पक्ष का वैज्ञानिक उद्घाटन करता है। धर्म-प्रवर्तक शिव को महत्त्व देते आए हैं। कलाकारों ने सौन्दर्य के अन्वेषण और उसकी अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। कलाकार ने वैसे सत्य और शिव की उपेक्षा नहीं की है। पर इन दोनों तत्त्वों को कल्पना की शक्ति से उसने सुन्दर से आवृत करके प्रकट किया है। ऐतिहासिक भी सत्य की सुन्दरता की परवाह नहीं करता। गान्धीवादी प्रयत्नों का देश की स्वतंत्रता के इतिहास में जो वर्णन मिलता है उसमें दृष्टि ऐतिहासिक है। उसी सत्य का उद्घाटन प्रेमचन्द ने कहानी-उपन्यासों और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भी मिलता है। इतिहासकार तटस्थ है, साहित्यकार मानव-भावों के सार से सत्य को सम्पृक्त कर देता है। इतिहास का सत्य विशिष्ट व्यक्ति या घटना के आश्रय में चलता है और काव्य का सत्य सामान्य मानव के भाव-

१. Beauty is truth, truth beauty, that is all, ye ought to know.
२. Beauty, good and knowledge are three sisters.

संघटन का सन्दर्भ ग्रहण करके व्यापक हो जाता है। यही ऐतिहासिक सत्य की सुन्दर परिणति है। ऐतिहासिक सत्य कङ्कालवत नग्न होता है; साहित्यकार उसमें सजीवता फूँक कर ग्रहण करता है। गुप्त जी ने साकेत में कहा है : कला का धर्म सुन्दर को सजीवता प्रदान करना ही है।

वैज्ञानिक का सत्य भी कलाकार का उपजीव्य नहीं हो सकता। विज्ञान का स्थूल, और वस्तुगत सत्य साहित्य की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता। जब यह सत्य मनुष्य के जीवन से सम्पृक्त हो तो वह साहित्यिक अनुभूति बन जाता है। अनुभूति विषय की नहीं होती, वह विषय के द्वारा होती है। विषय तो माध्यम है। अनुभूति एक प्रकार का उद्घाटन (Revelation) है। किसी विषय के सम्पर्क में आने पर मानव-प्रतिक्रिया के रूप में अनुभूति प्रकट हो जाती है। पुष्प और ओस की बूँदें विषय हैं। इनका परिज्ञान वैज्ञानिक को, दार्शनिक को और साहित्यिक को समान रूप में होता है। परन्तु सबकी अनुभूति-प्रतिक्रिया पृथक् है। वैज्ञानिक उस विषय के वस्तुगत-सत्य की खोज में लग जाता है। उसकी प्रतिक्रिया वस्तून्मुख होती है। दार्शनिक उसी विषय में से संसार की नश्वरता के सत्य को खोज सकता है। उसकी प्रतिक्रिया बौद्धिक जागरूकता के एक रूप को प्रकट करती है, पर साहित्यिक उस विषय को भावोन्मुख कर देता है। विषय और अनुभव छूटता जाता है और उसका भावगत सौन्दर्य अनुभूति बनता जाता है। वह अनुभूति अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया में प्रकट होती है। सत्य अपने नग्न रूप में मानव-वृत्तियों को ग्राह्य नहीं। उसको संग्राह्य बनाने के लिए ही कवि की साधना है, साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि है।

इस साधना में कल्पना का सम्बल कलाकार को प्राप्त होता है। सत्य और कल्पना में तात्त्विक अन्तर नहीं है। कल्पना अनुभव-जन्य सत्य को एक नवीन आकार में प्रस्तुत करती है। काव्य का मूल-अभिप्राय सुन्दर है। उसके अनुकूल सत्य को बनाने का कार्य कल्पना का है। कल्पना सत्य को नवीन आकार देकर उसे ग्राह्य बनाती है। सत्य की शुष्क शिराओं में कल्पना रागात्मकता सञ्चरित कर देती है। सत्य कल्पना से इस प्रकार राग-संस्कृत होकर अनुभूति का विषय बनता है। स्थूल, वास्तव—सत्य किसी समय में तिरस्कृत हो सकता है, पर कल्पना द्वारा संस्कृत अनुभूति-प्रवण सत्य काल के अनुशासन को इस प्रकार स्वीकार नहीं करता।

कवि चाहे निरंकुश होता हो (निरंकुशयो हि कवयः), पर सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता। निरंकुशता का तात्पर्य यह है कि कवि अनावश्यक दमन को स्वीकार नहीं करता है। कवि सत्य की यथार्थ सीमाओं को तो स्वीकार करता है, पर खण्ड सत्य को, कल्पना और भावुकता को विस्तृत करके उसे अखण्ड बना देने के अधिकार को भी वह नहीं छोड़ता है। सत्य की भावात्मक विस्तृति में सत्य का तिरस्कार नहीं, उसकी अन्तर्मुख व्यापकता की ही प्रातिष्ठा है। लौकिक, अलौकिक, प्रत्यक्ष, परोक्ष का समन्वय करके कवि एक वृहत्तर सत्य की स्थापना करता है।

भावात्मक विस्तृति का अधिकार न ऐतिहासिक को है और न वैज्ञानिक को। इसी अधिकार के उपभोग के कारण कवि को निरंकुश कहा जाता है।

शिव एक सामाजिक तत्त्व है। समाज में अशिव भी है और शिव भी: अन्धकार भी है, प्रकाश भी। साहित्य का लक्ष्य है 'शिवेतरक्षतये।' यहीं आदर्श और यथार्थ का प्रश्न आ जाता है। यथार्थ जगत् में अशिव, दुःख, पीड़ा, निराशा आदि का साम्राज्य दिखलाई पड़ता है। शिव कहीं-कही लुप्त, दुर्बल या पराजित भी मिलता है—चाहे यह सब क्षणिक ही हो तो भी कवि को यथार्थ का ही चित्रण करना है। 'प्रत्यक्ष विनश्वर में जो परोक्ष अविनश्वर की खोज करता है, वह दार्शनिक आत्म-प्रवञ्चक है।' ऐसे स्वर कभी-कभी सुनाई पड़ते है। पर परोक्ष का तिरस्कार करने का अर्थ होगा, भविष्य का भी तिरस्कार करना। "प्रत्यक्ष की प्रगति इसी विश्वास पर है कि परोक्ष में भविष्य भी है और वह अतीत के एक सूत्र से आबद्ध भी है।" इसी परोक्ष-भविष्य के चित्रण में कल्पना एक शिवमय आदर्श की सृष्टि करती है, जो प्रत्यक्ष या यथार्थ चाहे न हो, पर मनुष्य के भावात्मक और सम्भावना-सत्य के विपरीत नहीं। बिना इस परोक्ष सत्य के प्रत्यक्ष अपना अर्थ ही खो देता है। 'आदर्श' को पलायनवाद कह कर ठुकरा देना उचित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य देखना होगा कि वह आदर्श वास्तव में ही पलायन, मिथ्या या प्रगतिविरुद्ध तो नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो जो 'आदर्श' जितनी ही पूर्णता का चित्र उपस्थित करेगा, वह उतना ही श्लाघ्य होगा। यही आदर्श दर्शन को धर्म की और साहित्य को 'शिव' की ओर ले जाता है। इस आदर्श की विजय और उपलब्धि में शिवत्व की स्थापना है।

इस 'शिव' की स्थापना और प्रतिपादन उपदेश बन कर नहीं रह जाने चाहिए। सत्य और सदाचारगत शिवत्व को साहित्य में सुन्दर से समन्वित रहना चाहिए। उपदेश भी हो तो कान्ता की मधुर मुस्कराहट से छलकता हुआ। सुन्दर से विच्छिन्न शिव सम्बन्धी शब्द-विधान प्रचार का साधन बन जाता है। साहित्य को शिव बनना है जो यथार्थ के विष से दूर नहीं भागता, पर जो अमृतमय चन्द्रमा और सर्वहिताय सुरसरि को धारण करता है। वह यदि ताण्डव भी करे तो उसका लक्ष्य नवनिर्माण होना चाहिए।

तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों में अन्तर नहीं है। लौकिक जीवन में इनकी अभेद स्थिति प्रायः नहीं मिलती। तीनों में भेद दृष्टिगत होता है। पर कलाकार अपनी कल्पना और भावना के द्वारा इन तीनों के समन्वय की चेष्टा करता है। इन तीनों के न मिलने पर जीवन की विडम्बना ही हाथ लगती है। उस विडम्बना का रूप कुछ ऐसा होता है—

> ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
> एक दूसरे से न मिल सकें,
> यह विडम्बना है जीवन की।
>
> —**प्रसाद** (कामायनी)

कलाकार इस विडम्बना को दूर करने के लिए एक 'श्रद्धा' की सृष्टि करता है जो सत्यं, शिवं, सुन्दरं की प्रतीति होने वाली भेद-स्थिति को अभेद में बदल देती है। यद्यपि लोक सुन्दर व्यक्ति की रुचि की सापेक्षता में आता है और युग-रुचि भी उसे प्रभावित करती है। इस बात को तुलसी ने यों कहा है—

कहहि काह कवि नीक जो भावइ।[1]

बिहारी ने भी रुचि की सापेक्षता को माना है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥[2]

परन्तु सुन्दर की वह स्थिति भी हो सकती है जो सर्व सामान्य रुचि को संतुष्ट कर सकती है। सुन्दर की इतनी घनीभूत विजय भी हो सकती है कि असुन्दर का अस्तित्व ही—कुछ क्षणों के लिए ही सही—तिरोभूत हो जाय। सत्य, शिव और सुन्दर को संकुचित सीमाओं में ग्रहण करने से समन्वय कठिन हो जाता है। इनकी सीमाएं जितनी ही विस्तृत होती जायँगी, इनकी अभेदता सिद्ध होती जायगी। इन तीनों मूल्यों की अभेदता की स्थापना ही सच्चे कलाकार का लक्ष्य है। इसीलिए उपनिषदों ने 'प्रेय' से 'श्रेय' की ओर चलने का आदेश दिया है।[3] कलाकार जब श्रेय की साधना में कृतकार्य होता है, तब सत्यं, शिवं, सुन्दरं में अभेद प्रतीत होने लगता है।

मूलतः साहित्य सौन्दर्य का साधन-क्षेत्र है। जब सौन्दर्य रूप लेता है तो सत्य और शिव की भी उसमें स्वाभाविक स्थिति होती है। वास्तविक, श्रेयपरक सौन्दर्य सत्य और शिव से विच्छिन्न नहीं हो सकता। मूलतत्त्व के सौन्दर्य-पक्ष को ही कलाकार पहले प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सौन्दर्य के उद्घाटन के समय सत्य और शिव का अभाव हो जाता है। इन दोनों की छवि सौन्दर्य के माध्यम से ही स्पष्ट होती है। यदि विभाजन सम्भव भी हो, तो भी हम इनको विभाजित रूप देखना नहीं चाहते। इनका इतना घनिष्ठ सम्मिलन है कि उसके विच्छिन्न स्वरूप का अनुमान भी नहीं हो सकता। रवीन्द्र ने एक बार कहा था कि संसार में सत्, चित्, आनन्द मिले हुए ही कार्यशील हैं। ज्ञान की लेबोरेटरी में इनको विश्लिष्ट करके देखा जा सकता है, पर वास्तव में वे विच्छिन्न हैं। लकड़ी जो चीज है, वह गाछ (वृक्ष) नहीं है। उसमें रस लेने और प्राण धारण करने की जो शक्ति है वह भी गाछ नहीं है। वस्तु और शक्ति को समग्रता में लपेटे हुए जो एक अखण्ड प्रकाश है वास्तव में गाछ वही है। वही वस्तुमय, शक्तिमय और सौन्दर्यमय है। इसीलिए वह आनन्द भी दे सकता है। साहित्य में भी इसी प्रकार सभी की स्थिति है। उसकी वस्तु और शक्ति समन्वित होकर आनन्द दे सकती हैं।

---

१. पार्वती मङ्गल।
२. बिहारी सतसई।
३. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषंसिनीतः।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते॥ कठोपनिषद्।

मनुष्य में तीन प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य है : सौन्दर्य वृत्ति [एस्थेटिक], शिव [विलमोरल फैकल्टी] तथा सत्यान्वेषण वृत्ति [इन्टेलेक्चुअल फैकल्टी]। पहली वृत्ति गुण से आरञ्जित रहती है। दूसरी का विषय शिव या कल्याण है। तीसरी शक्ति गुण और कार्य का सम्यक् निरीक्षण करती है। उन पर यही विचार भी करती है। ये अलग-अलग होने पर भी, अलग-अलग देखने में नहीं आती। इनमें से किसी को न्यूनाधिक महत्त्वपूर्ण भी नही कहा जा सकता। जहाँ एक का अस्तित्व है, वहाँ दूसरी वृत्तियाँ भी स्वतः स्थित मान लेनी चाहिए : चाहे किसी समय सक्रिय एक ही प्रतीत हो। सत्य, शिव, सुन्दर का भी आधार इन्ही वृत्तियों में है। इनमें भी इसी प्रकार का अङ्गाङ्गी-सम्बन्ध है। यह एकत्व मानव की वृत्तियों को ध्यान में रख-कर स्थापित किया गया है। इसी आधार पर अभेद-एकता को मानव-धर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। यही जीव का स्वरूप है।

उपनिषद् में ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं : सत्यं, ज्ञानं और अनन्तं।[1] मानवात्मा में भी यही तीन रूप प्रतिच्छायित है। सत्यं का तात्पर्य है सत्-सत्ता अस्तित्व—हम है।[2] ज्ञानं का तात्पर्य यह है कि हम जानते हैं। अनन्तं का तात्पर्य यह है कि हम व्यक्त करते है। पहले रूप का सम्बन्ध आत्मरक्षा की भावना से है। यह आकांक्षा सर्वत्र व्यापक है। रक्षा-विधान में मनुष्य की बुद्धि और शक्ति प्राणपण से सलग्न रहती है। यही प्राणैषणा है। दूसरी प्रवृत्ति ज्ञानार्जन से सम्बद्ध है। ज्ञानार्जन को स्वरक्षा-विधान से नितान्त भिन्न नही कहा जा सकता है। अपने अन्तर्जीवन के प्रकाश-प्रसार की कामना तीसरे रूप में निहित है। यह भी पूर्व रूपों से भिन्न नहीं है। यह मनुष्य का वह रूप है जो अन्यों को भी अपने से एक और सम्बद्ध करने की साधना करता है। यह अस्तित्व-रक्षा और अस्तित्व एवं परिवेश के परिज्ञान से उच्चतर साधना है। इसमें अहन्ता का विकास सन्निहित है। यह अस्तित्व विस्तार की कामना सौन्दर्य और साहित्य की साधना में प्रकट होती है। कला-साधना अस्तित्व-विस्तार की ही एक विपुल योजना है।[3] आत्म-प्रकाश और आत्म-विस्तार की कलात्मक साधना एक वृहत्तर अस्तित्व की स्थापना करती है। इस वृहत्तर अस्तित्व स्वार्थ की सङ्कीर्णता को त्याग कर ही समाज-व्यापक बनता है। इस समाज-व्यापक अस्तित्व की रक्षा और उसके अभ्युदय के आयोजन में ही शिव का विकास है। सौन्दर्य वह शक्ति है जो अन्यों को आकर्षित करके एक वृहत्तर अस्तित्व के विधान को सम्पन्न करती है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी इस मूल्य-त्रयी की एकता स्थापित हो जाती है।

---

१. सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म

२. कामायनी का मनु इसी को यों कहता है : 'मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में।'

३. कामायनी का मनु रक्षा और विस्तार की कामना को यों व्यक्त करता है : 'मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ शाश्वत नभ के गानों में।'

मनुष्य परम सत्य है। उसमें चरम का निवास है। सामयिक अपूर्णता अथवा सत्य का आवरण उसकी गति का कारण है। मनुष्य-जीवन का प्रत्येक प्रयास जीवन की पूर्णता के लिए है। यह उसका निरन्तर प्रयास है। मिथ्या से सत्य, मृत्यु से अमृत, अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ना ही पूर्णता की ओर गति है। यही जीवन की नित्य गति भी है। प्रत्येक साधना का अन्त पूर्णता में है। मनुष्य की सौन्दर्य-साधना का लक्ष्य भी इससे भिन्न नहीं है। हेगेल के अनुसार जड़ द्वारा चेतन को व्यक्त करना, मूर्त के द्वारा अमूर्त को प्रकट करना सौन्दर्य-शास्त्र का मूल है। पर वह साध्य चेतन या अमूर्त क्या है? वह आनन्द है। वह रस है। सौन्दर्य की सिद्धि उस रसलोक की वस्तु है जहाँ : 'न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं।' 'अमृतं शाश्वतं नित्यं मनन्तं परमं पदम्।'[1] यही परमपद है, साहित्यिक का यही रस है। समाधि का यही आनन्द है। इसी को 'रसो वै सः' कहा गया है। इसी के लिए 'रसम् ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' कहा गया है। मनुष्य की सौन्दर्योपासना और कला-साधना का चरम लक्ष्य इसी रस या आनन्द का मूर्तीकरण है।

पूर्ण सौन्दर्य ही सत्य और शिव भी है। रवीन्द्र ने इसी स्थिति की ओर इस प्रकार संकेत किया है : सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है, वहाँ अपनी प्रगल्भता छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपने वर्ण तथा गन्ध की अधिकता को अपनी गम्भीरता और मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में सौन्दर्य और मङ्गल का मिलाप हो जाता है।

परम सत्य जीवन का लक्ष्य है। सत्य ज्ञान-साधित होता है। सत्य की जब खोज होती है ज्ञान के आलोक में उसके नये-नये रूप प्रकाशित होते हैं। इसीलिए सत्य अनन्त है पर अनन्त सत्य का मानव मन इस विचित्रता में ग्रहण नहीं कर पाता। शिव को भी वह पूर्ण रूप में नहीं पकड़ पाता। इसी प्रकार चाहे पूर्ण सौन्दर्य भी उससे दूर रहता हो, पर सत्य, शिव और सुन्दर के जिस रूप का उसे आभास मिलता है, उसी की साधना में वह लग जाता है। भारत में सौन्दर्य की प्रेरणा सदैव ही आध्यात्मिकता से मिलती रही। मनुष्य और प्रकृति का सौन्दर्य भी आध्यात्मिक सौन्दर्य का ही आभास कराता रहा। उसे भारतीय मनीषी ने कभी अन्तिम नहीं माना। प्रकट सौन्दर्य के मूल-केन्द्र की ओर उसकी साधना गतिशील रही। भक्ति साधना में आध्यात्मिक साधना अपने चरम विकास को पहुँच गई। वैष्णव कवियों ने अनन्त सौन्दर्य के रूप में ईश्वर को देखा। यह सौन्दर्योपासना धीरे-धीरे सत्य और शिव का उद्घाटन भी करती हुई साध्य के अन्तिम रूप को प्रकट कर देती है।

निष्कर्ष—

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य की सभी प्रवृत्तियाँ और साधना आनन्द की ओर अग्रसर हैं। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति सुन्दर को, अनन्त चेतन को, अमूर्त को रूपायित करने से सन्तुष्ट होती है। उसकी ज्ञान-पिपासा सत्य के

---

१. उपनिषद्

आभास-दर्शन से ही शान्ति पाती है। उसकी कामनाओं का या उसकी क्रियाओं का आनन्द शिव में निहित है। तीनों के समन्वित रहने पर मनुष्य अन्तर्बाह्य अविकल रहता है। इस अविकलता से उसे प्यार है। विकलता उक्त तीनों मूल्यों की विकर्षित अवस्था है। साहित्य का लक्ष्य भी मनुष्य के सामान्य लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। रस-सिद्ध कवि की प्रातिभ-साधना तीनों मूल्यों को लेकर चलती है। वस्तुतः ये तीनों अपने मूल रूप और अन्तिम परिणति में एक ही है। काव्य में तीनों की स्थिति तो अवश्य रहती है, पर वहाँ सुन्दर ही प्रमुख रूप से साध्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में : "सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर।"[1] सौन्दर्य की विस्तृति की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है : "कविता केवल वस्तुओं के ही रूप-रङ्ग की सौन्दर्य की छटा ही नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।"[2] वास्तव में सौन्दर्य की यह कर्मगत और भावगत विस्तृति ही शिव और सत्य के समकक्ष हो जाती है।

९

ध्वनि-सिद्धान्त

१. ध्वनि-सिद्धान्त का मूल
२. आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट तथा प्रो० जैकोबी, डा० बुल्हर एवं डा० कीथ के मत
३. काव्य की आत्मा—शब्द अर्थ एवं भाषा
४. ध्वनि के प्रेरणा स्रोत—वैयाकरण, मीमांसक–नैयामिक
५. ध्वनि–व्युत्पत्ति एवं अर्थ विकास
६. स्फोट—परिशीलन
७. काव्य सौन्दर्य—वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ; डा० नगेन्द्र, आचार्य शुक्ल, रामदहिन मिश्र
८. निष्कर्ष

---

१. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १६७
२. चिन्तामणि, पृ० १६६

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में ध्वनि-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की स्थापना कारिका और उसकी 'आलोक' नामक वृत्ति के कर्ता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने की। आनन्दवर्द्धनाचार्य का मुख्य ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है यद्यपि उन्होंने 'विषम-बाण लीला', 'अर्जुन-चरित', 'देवीशतक' एवं 'तत्त्वालोक' ग्रन्थों की भी रचना की थी फिर भी उन्हें प्रसिद्धि 'ध्वन्यालोक' में संस्थापित ध्वनि-सिद्धान्त से ही मिली। 'ध्वन्यालोक' के तीन भाग हैं। एक मूलकारिका भाग, द्वितीय वृत्ति भाग एवं तृतीय उदाहरण भाग। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने जिनमें डा० बुल्हर, प्रो० जैकोबी तथा प्रो० कीथ प्रमुख है। कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्द्धन से पूर्व किन्हीं 'सहृदय' नामक आचार्य को माना है परन्तु यह नितान्त भ्रान्त धारणा है। सहृदय नाम का न तो कोई आचार्य हुआ है न इस नाम के किसी व्यक्ति का किसी पूर्ववर्ती अथवा पश्चात्वर्ती ग्रन्थ में वर्णन है, न उनकी किसी रचना की ही चर्चा मिलती है। वस्तुतः सहृदय का अर्थ रसिक है, 'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपं' तथा 'तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो' पंक्तियों का अर्थ भी रसिकार्थी सहृदय मानने से पूर्ण होता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य काश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा के समय में थे। अतः इनका समय ९वीं शताब्दी है। ये ही मूलतः ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। 'आलोक' की 'लोचन' नामक टीका अभिनव गुप्त ने की है। अभिनव की पांडित्यपूर्ण टीका से आनन्दवर्द्धन के सिद्धान्त को पर्याप्त बल मिला। कहीं-कहीं अभिनव गुप्त और ध्वनिकार के सिद्धान्त में स्वल्प अन्तर भी लक्षित होता है: अभिनव गुप्त रस को काव्याधार मानते हैं और ध्वनिकार ध्वनि को। फिर भी मूलतः इनमें कोई भेद नहीं है। ध्वनि सिद्धान्त की परवर्ती काल में जो आलोचना-प्रत्यालोचना हुई, इस पर जो आक्षेप लगाए गए और इसके खण्डन के लिए जो तर्क दिये गये, उनका युक्तियुक्त निराकरण मम्मटाचार्य ने किया। इस प्रकार मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त को दृढ़ आधार और समर्थन प्रदान किया। संक्षेप में यही इस सिद्धान्त का परम्परा-सूत्र है।

ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय साहित्य शास्त्र का एक व्यापक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की महत्ता विदेशी विद्वानों ने भी स्वीकार की है।[1] साथ ही ध्वनि जो अर्थ का सूक्ष्मतम रूप है। की महत्ता भी सभी स्वीकार करते हैं।[2] ध्वन्यार्थ के महत्त्व की पूर्ण स्वीकृति

१. "I suggest that it would be worth the while of those who are interested in literary aesthetics to read something of what the Hindus say about Dhvani."

—Prof. Edgerton

"Hindoo philosophy recognised 'Dhvana' or hidden meaning of words as characteristic of poetry."

— Candwell

२. 'Meaning itself can never be conveyed from one pesson to another : words are not bottles, every individual must intuit a meaning for himself and the function of the poetic is to mediate such intuition by suitable suggestion.'

—Barfield

भारतीय विद्वानों में तो मिलती है।[1] फिर भी ध्वनि का रूप-निरूपण और परिभाषा करना कठिन है। आगस्टाइन ने काल के विषय में कहा था कि "यदि इसके विषय में मुझसे पूछा न जाय, तो मैं जानता हूँ कि यह क्या है। यदि कोई पूछे कि यह क्या है, तो मैं कुछ नहीं जानता। "काव्य में आने वाली ध्वनि के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। आर्नोल्ड ने भी एक बार कहा था कि ध्वनि (Suggestion) अनुभवगम्य है। पाश्चात्य आचार्यों में से क्विंटीलियन (Quintilian), डायोनीसियस (Dionysious) अरस्तू, या होरेस (Horace), किसी ने भी 'ध्वनि' का विश्लेषण और तत्त्व-कथन नहीं किया। ध्वनि क्या है ? ध्वनि की प्रक्रिया क्या है ? ध्वनित अर्थ क्या है ? ध्वन्यार्थ के मुख्य प्रकार कौन-कौन से है ? इन समस्याओं का पूर्ण और स्पष्ट अनुकथन पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों मे प्रायः नहीं मिलता। हमें अवश्य ही इस बात का गर्व है कि आनन्द-वर्द्धन का 'ध्वन्यालोक' इस क्षेत्र का अद्वितीय आलोक-स्तम्भ बना हुआ है। पश्चिम के जिन विद्वानों ने ध्वनियुक्त काव्य को श्रेष्ठ माना है,[2] उन्होंने भी इस समस्या पर दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विचार नहीं किया है। हम ध्वनि-काव्य को क्यों चाहते हैं ? इसके उत्तर में कालिरिज का कथन जो उसने शेक्सपियर के विषय में किया था : याद कर लेने योग्य है : शेक्सपियर का मूल्य-महत्त्व इस बात में है कि वह पाठक को भी एक सीमा तक कवि बना देता है। जो ध्वनि का सफल प्रयोक्ता है, वह पाठक की कल्पना-लता को पुलकित करके, बहुत कुछ उससे ले सकता है। इन क्षणों मे पाठक भी सक्रिय और सर्जक बन जाता है। कवि एक वृत्तांश सुझा देता है। पाठक उसे पूर्ण वृत्त बना लेता है। इस प्रकार ध्वनि वाले काव्य में कवि और पाठक के बीच एक सक्रिय-सहयोग रहता है। इस सहयोग के परिणाम स्वरूप सर्जन और आस्वाद युगपद् चलते है। सर्जन में जो एक आनन्द है, उसका आस्वाद भी पाठक करता रहता है। पण्डितराज का कथन है कि काव्य पाठक के एक आवरण को भङ्ग कर देता है। यह आवरण अहं की ज्योतिर्मान, आनन्दमय शिखा को आवृत रखता है। इस कथन का रहस्य भी यही है। जो काव्य पाठक की सुप्त सृजन-शक्ति को जाग्रत करता है, वही ध्वनि काव्य कहला सकता है।[3]

---

१. ऋषीनाम् पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति (भवभूति)
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः॥ कालिदास।

२. "To understand English Literature, to acquire any sort of taste for it one must really be able to appreciate this gentle art of suggestion. One must learn to read the thing that is not said and to see how important it is that it should not be said." [Barfield, Romanticism Comes of Age, P. 75)

३. "The mind of man is peopled like some silent city with a sleeping company of reminiscences, associations, impressious attitudes, emotions to be awakened into fierce activity at the touch of words." [Walter Raleigh]

काव्य का अध्येता उस कुत्ते के समान है, जो अस्थि-खण्ड का चर्वण करते समय अपने ही रक्त का आस्वाद लेकर प्रसन्न होता है और यह सोचता है कि आनन्द अस्थि-खण्ड से आ रहा है। हम अपने अन्तराल की काव्य-धारा को तब तक नहीं समझते, जब तक कि कोई कुशल कवि आवरण-भङ्ग न करदे। हनुमान को उसके बल का स्मरण कराने वाला कोई जामवन्त चाहिए। इस सक्रिय और जाग्रत अहं के बिना काव्य का पूर्ण आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही ध्वनि-काव्य की शक्ति और लोकप्रियता का रहस्य है। इस सिद्धान्त को सुदृढ़ भूमिका और विस्तृति देने का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। दूसरे आचार्य भी इस तत्त्व से अवगत थे, पर इसे एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आनन्दवर्द्धनाचार्य को ही है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम 'उद्योत' में ही (**अ**) ध्वनि को न मानने वाले, (**आ**) ध्वनि को गौण मानने वाले तथा (**इ**) ध्वनि को अनिर्वचनीय तत्त्व कहने वाले; ध्वनि-सिद्धान्त विरोधियों के मत का प्रबल तर्कों से खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है।

आधार—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के आचार्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कथन को 'भाषा' और 'अर्थ' के विश्लेषण तथा सिद्धान्तों के सोदाहरण प्रतिपादन पर आधारित करते हैं।[1] आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का आधार भी व्याकरण है। उसके अनुसार वैयाकरण ही विद्वानों में अग्रगी हैं। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर बड़ा गहन अध्ययन किया है। उन्होंने शब्दार्थ, वाक्यार्थ तथा सामान्यार्थ की श्रेणियों और सरणियों का अन्तिम विश्लेषण करने की चेष्टा की है। मीमांसा, न्याय और सांख्य जैसे दर्शन-क्षेत्रों में भी इस शब्दार्थ-समस्या पर पर्याप्त विचार हुआ है। मीमांसकों में शब्दार्थ-विचार के सम्बन्ध में दो वर्ग मिलते हैं : एक भट्ट का, दूसरा प्रभाकर का। इनमें से पहले वर्ग का कथन है कि पहले हम शब्दों का अर्थ समझते है। इसके पश्चात् 'तात्पर्य' नामक शक्ति से वाक्यार्थ को अवगत करते हैं। इस स्थिति पर हम शब्द के पृथक् अर्थों का सामञ्जस्य करते हैं। इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद एवं इसके अनुयायियों को 'अभिहितान्वयवादी' भी कहा जाता है। दूसरे वर्ग की मान्यता है कि शब्द पृथक्-पृथक् कुछ अर्थ नहीं रखते : वे साथ-साथ समन्वित ही अर्थ की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। अतः 'तात्पर्य' तत्त्व अनावश्यक है। इसका आशय यह हुआ कि हम वाक्य को पहले समझते हैं; तदनन्तर शब्दों के अर्थ को प्राप्त करते हैं। यह सिद्धान्त अन्विताभिधान है और इसके समर्थक 'अन्विताभिधानवादी' कहे जाते हैं। मम्मट सम्भवतः इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। 'रिचर्ड्स' भी इसी पक्ष में प्रतीत होते हैं। वाक्यार्थ-बोध प्रतिभा से होता है।

१. "One important point which I should like to stress is the realization of the Sanskrit rhetoricians of the need for an explicitly formulated theory of language meaning as a basis for a theory of poetics." (T. P. S. 1953; Prof Brough)

प्रतिभा शिक्षण पर आश्रृत नहीं है। मीमांसकों के उक्त दोनों ही वर्ग ध्वनि को स्वीकार करते थे। ध्वनि-सिद्धान्त का मुख्य आधार शब्द शक्तियाँ हैं।

प्रेरणास्रोत—

वैयाकरणों के शब्द शास्त्र ग्रन्थों में प्रासङ्गिक रूप से कुछ काव्यसिद्धान्त विषयक व्याख्यान मिलते हैं। दर्शन-शास्त्रों में भी इस प्रकार के व्याख्यान मिल जाते है। लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त आदि काव्य-शास्त्रियों पर क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य, और वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। शब्द-शास्त्र के क्षेत्र में यास्क ने निघंटु में भावविकारों, शब्दों के नित्यत्व, तथा छन्दों का अवान्तर रूप से सामान्य व्याकरण-सम्मत निरूपण किया है। पाणिनि और पतञ्जलि में भी 'उपमित' 'उपमान' और सामान्य का उल्लेख, इस ओर निर्देश करता है। जिन आचार्यों ने अपने सिद्धान्त को शब्द और अर्थ के सूक्ष्म विवेचन पर आधारित किया, उन पर तो वैयाकरणों की विचारधारा और विचार-शैली का प्रभाव अवश्य ही पड़ा।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रेरणा का मूल स्रोत वैयाकरणों की विचारधारा में है। 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग भी सर्व प्रथम व्याकरण के क्षेत्र में ही मिलता है। महाभाष्य में भी इसका प्रयोग है: 'प्रतीत पदर्थको लोके ध्वनि शब्द उच्यते।' ध्वनिकार ने अपनी मूल प्रेरणा का स्रोत 'सूरिभिः कथितः' कह कर वैयाकरणों में ही माना है। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में लिखा है: 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरित व्यवहार कृतः।' वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों के साथ ध्वनि का व्यवहार करते थे। यही ध्वनि-सिद्धान्त की प्रेरणा का स्पष्टतः मूल स्रोत है।

ध्वनि : व्युत्पत्ति और अर्थ-विकास—

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ध्वन्' धातु मे इ प्रत्यय करने पर ध्वनि शब्द सिद्ध होता है। ध्वनि शास्त्र में यह पांच भिन्न-भिन्न परस्पर सम्बन्ध अर्थों में प्रयुक्त होता है: [१] व्यञ्जक शब्दों के लिए (ध्वनित यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः); [२] व्यञ्जक अर्थ द्योतन के लिए (ध्वनित ध्वनयति वाः सः याः व्यंजकों अर्थः ध्वनि); [३] व्यंग्य अर्थ के लिए (ध्वन्यते इति ध्वनिः)। व्यंग्यार्थ में रस, अलङ्कार, वस्तु तथा व्यंग्यार्थ समाविष्ट हो जाते है। [४] व्यञ्जना के लिए (ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः)। यहाँ तात्पर्य व्यञ्जना-व्यापार से है और [५] व्यंग्य प्रधान काव्य के लिये (ध्वन्यतेऽस्मिन्नितिध्वनिः)। जिस काव्य में वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हों वह काव्य ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि शब्द एक व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। वस्तुतः वाच्यार्थ के तिरस्कार और व्यञ्जना के आधार पर ही ध्वनि सिद्धान्त आधारित है। वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि की संज्ञा दी गई है। साहित्य दर्पणकार ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है—वाच्यादिशायिनि व्यंग्ये ध्वनि। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ का वाच्यातिशायी होना अनिवार्य है। वाच्य में

रमणीयता नहीं होती और ध्वनि वह काव्य है जो आत्मा को रमा सके। वाच्यार्थ से आतिशय्य का तात्पर्य रमणीयता अथवा चारुत्व ही है। जहाँ शब्द अथवा अर्थ अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है उस काव्य-विशेष को ही ध्वनि काव्य कहा जाता है :—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्त काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[१]

'शब्द' ध्वनियंत्र के निश्चित प्रयत्नों से उत्पन्न ध्वनियों का संघात मात्र है। इनका वैज्ञानिक अध्ययन ध्वनि-प्रयोग शाला मे पूर्णतः सम्भव है। शब्द-साधना का मात्र साध्य है अर्थ। अर्थ ही शब्द की चेतना या प्राण है। यह चेतना विविध स्तरीय है। अर्थ-चेतना के स्तरों का उद्घाटन शब्द की त्रिविध शक्तियों के द्वारा सम्भव होता है। शब्द-चेतना ऊपरी स्तर या परम्परागत विचारधारा से सुनिश्चित होती है। यही अर्थ का कोश-व्याकरण-स्तर है। सामान्य जीवन-व्यापार में अर्थ की सांस्कृतिक परम्परा का आश्रय लेना पड़ता है। पर कवि का लक्ष्य मात्र अर्थ-उद्बोधन नहीं है। कवि अपने रागात्मक अनुभूति-जगत् को स्पष्ट करके श्रोता को राग-स्तरों में रमाना चाहता है। इस असामान्य परिस्थिति मे परम्परामुक्त अभिधार्थ अथवा वाच्यार्थ अपेक्षाकृत सूक्ष्म अर्थ-स्तर की ओर संकेत करके अपनी सीमाओं में समा जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ अर्थ-बोध संवेदना के क्षेत्र में व्यञ्जना के सहारे संक्रमण कर जाता है।

स्थूल बोध के समस्त स्तरों को निमज्जित करती हुई संवेदना और व्यञ्जना की धारा उमड़ पड़ती है। यही ध्वनि का क्षेत्र है जो समस्त काव्योपकरणों पर आधारित है, पर है सबसे भिन्न, सबसे विचित्र। वाच्यार्थ-बोध तो कोश-व्याकरण के माध्यम से सम्भव है। पर ध्वन्यर्थ की प्रतीति के लिए एक सुसंस्कृत-हृदय सहृदय चाहिए —

शब्दार्थ शासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते सतु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥[२]

इस प्रकार व्यंग्यार्थ या ध्वन्यर्थ निश्चित रूप से व्यञ्जना पर आधारित और वाच्यार्थ से पृथक् होता है।

ध्वनि विज्ञान की आत्मा स्फोट शब्द में है। यह स्फोट पारिभाषिक शब्द है अतः इसका सम्यक् परिज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

स्फोट—

ध्वनि का आधार स्फोट है। 'स्फुट' शब्द के साथ अचानक घटित होने, बलात् घटित होने तथा तात्कालिकता का भाव निहित है। इस धातु से व्युत्पन्न अन्य शब्द भी इसी सबल गत्यात्मकता के द्योतक हैं। इस शब्द में एकत्वरा, झटका,

१. ध्वन्यालोक, १।१३
२. ध्वन्यालोक, १७

विस्फोटात्मक गति आदि का भाव समाया हुआ है। परमाणु बम एवं उद्जन बम जैसे विनाशक पदार्थों का अन्तर-विध्वंस इसी आधार पर 'विस्फोट' कहा जाता है। काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा भी एक विद्युत् रङ्ग है। लेनकूपर ने सभी ज्ञानों को त्वरित माना है। बोध के पश्चात् आनन्द का स्फोट होता है।[1] ध्वनि का प्रयोग व्याकरण के क्षेत्र में भी होता है और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी। पर दोनों क्षेत्रों में इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। वैयाकरण की ध्वनि का 'साउंड' (Sound) शब्द-तरङ्ग अथवा आवाज है। इससे स्फोट प्रकट होता है। स्फोट काल-निरपेक्ष और अविभाज्य है। इसका ठीक उच्चारण भी नहीं हो सकता। स्फोट से अर्थ फूट पड़ता है। अतः स्फोट एक सार्थक प्रतीक है। हम किसी एक शब्द को लेलें, इसके ध्वनि-तत्त्व का तीन स्तरों पर विचार किया जा सकता है : [१] घट : स्फोट, [२] घट : प्रकृति ध्वनि (Sound pattern of the norm) तथा [३] घट : वैकृत ध्वनि (Individual instance)। नैयायिकों के अनुसार शब्द का अर्थ शब्द की अन्तिम ध्वनि से स्पष्ट होता है। इस अन्तिम ध्वनि को शब्द की पूर्वोच्चरित ध्वनियों के स्मृति-संस्कार से अर्थाभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। वे इस विचारणा में स्मृति-चिह्नों के क्रम के तत्त्व की उपेक्षा करते हैं। तथा 'अर्थ' को भी भुला देते हैं। यह सिद्धान्त स्फोटवाद कहलाता है। वैयाकरण की ध्वनि (Sound of the last utterance) स्मृति-अङ्कों से मिलकर स्फोट को प्रकट करती है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार शब्द, प्रसङ्ग-परिवेश की सहायता से एक विशिष्ट अर्थ को प्रकट करता है : यही रस है। वैयाकरण की ध्वनि एक रेडियो सेट के समान है जो आकाश-स्थित गृहविहीन सुखद ध्वनि को आश्रय और रूप देता है। काव्य शास्त्री की ध्वनि एक बाँसुरी है, जो अगणित भावों की व्यञ्जना करती है।

इस प्रकार अन्ततः ध्वनि का रूप यह हुआ कि वैयाकरण की ध्वनि तो शब्द स्फोट को व्यक्त करती है पर काव्य की ध्वनि वह है जो एक ऐसे अर्थ की व्यञ्जना करती है जो सामान्य अर्थ (Literal meaning) से परे होता है। इस व्यञ्जित अर्थ का सौन्दर्यात्मक मूल्य भी होता है। अतः कहा जा सकता है कि [अ] व्यञ्जक [शब्द तथा अर्थ], [आ] व्यंग्यार्थ, [इ] व्यञ्जना की प्रक्रिया, तथा [ई] कविता, । जिसमें व्यञ्जना मुखर है, मिलकर 'ध्वनि' का निर्माण करते हैं। ध्वनि को अन्य नामों से भी पुकारा जाता है : ध्वनन (echoing) गमन (implication), प्रत्ययन (acquainting) द्योतन (Illuminating), व्यञ्जन (revealing)। इस प्रकरण में यह जान लेना आवश्यक है कि सामान्य शब्द और अर्थ को अपने स्थूल अस्तित्व का विशिष्ट सौन्दर्य के लिए परित्याग करना पड़ता है। अतः ध्वनि का विलयन अभिधा या लक्षणा में नहीं हो सकता। यह महत् सौष्ठव है।

---

1. "All learning is essentially rapid; the recognition dawns then comes as a flash of pleasure" (An Aristotelian Theory of Comedy P. 294)

इस स्फोट की प्रेरणा के स्रोत भी वैयाकरण ही है। शब्दार्थ-ग्रहण-क्रम नैयाम्यकों ने इस प्रकार निश्चित किया : शब्द के प्रारम्भिक वर्ण अपना सस्कार श्रोता पर छोड़ते चलते है। अन्तिम वर्ण के साक्षात् अनुभव के साथ ये सस्कार संयुक्त होकर शब्द रूप खड़ा कर देते हैं। इनका नाम पद-प्रतीति है। इसी पद-प्रतीति से अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकरण मे वैयाकरण ने एक शङ्का प्रस्तुत की : तथा उसका समाधान भी। शङ्का है कि : इस क्रम में अनुभव, सस्कार, स्मृति के पूर्वापर सम्बन्ध में व्याघात प्रस्तुत हो सकता है। पुनः समाधान यह दिया कि स्थूल वैखरी वाणी से उच्चरित शब्द क्षणिक हैं। इनके द्वारा किसी शब्द का आकार खड़ा नही हो सकता। एक सूक्ष्म मध्यमावाणी है। इसी के शब्द से नित्य मानस-शब्द स्फुटित होता है। यही शब्द-बोध में समर्थ है। क्षणस्थायी वर्णों से व्यञ्जित मानस-स्फोट अनश्वर है। इस स्फोट की अभिव्यक्ति के लिए वैयाकरणों को व्यञ्जना-वृत्ति शब्द-व्यापार के रूप में ग्रहण करनी पड़ी। उनके अनुसार 'स्फोट' ही 'ध्वनि' है। जिस प्रकार वैयाकरण वर्णों के द्वारा अभिव्यञ्जित स्फोट को ध्वनि कहते है, उसी प्रकार ध्वनिकार शब्दों या अर्थों के द्वारा अभिव्यञ्जित अर्थ को ध्वनि कहने लगे। इस प्रकार ध्वनिकार की विश्लेषण और निरूपण-पद्धति वैयाकरणों के समान है।

व्याकरण, तर्क, मीमासा केवल दो ही शब्द-शक्तियों को मानते थे : अभिधा और लक्षणा। आनन्दवर्द्धन ने तीसरी शक्ति 'ध्वनि' की स्थापना की। जिन शब्दों में यह शक्ति रहती है और निष्पन्न अर्थ, पारिभाषिक रूप से इस प्रकार स्पष्ट किए जा सकते हैं—

शक्ति	शब्द	अर्थ	
अभिधा	वाचक	वाच्य	(Denotion)
लक्षणा	लक्षक	लक्ष्य	(Indication)
व्यञ्जना	व्यञ्जक	व्यंग्य	(Suggestion)

अभिधा लोक-प्रसिद्ध कोशार्थ को व्यक्त करती है। इसकी प्राप्ति व्याकरण, उपमान (Comparison) तथा आप्तवाक्य (Elders), व्यवहार (Usage), विवरण (Definition) तथा अन्य शब्दों के साहचर्य से होती है। एक शब्द में अनेक अर्थों का समावेश हो सकता है। तब, संयोग (Conjunction), विप्रयोग (Disjunction) साहचर्य आदि चौदह तत्त्वों के द्वारा अर्थ की निश्चिति होती है। लक्षणा रूपकात्मक अर्थ से सम्बद्ध है। अभिधा के बाधित होने पर इस शक्ति से अर्थान्वेषण किया जाता है पर अभिधा से लक्षणार्थ पूर्ण विच्छिन्न नहीं होता। इसका एक विशेष 'प्रयोजन' होता है। लक्षणा के दो मुख्य प्रकार हैं : 'जहल्ल क्षणा' तथा 'अजहल्ल क्षणा। प्रथम में अभिधा को छोड़ दिया जाता है, दूसरे में नहीं। फिर इसके सारोपा और साध्यवसाना भेद किए जाते हैं।

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की स्थापना की। पर अलङ्कार, गुण और रीतिवादी आचार्य कविता के बाह्य पक्षों से ही बँधे रहे। अलङ्कार के साथ अलङ्कार्य पर भी

विचार होना ही चाहिए। 'अलङ्कार' किसी निर्जीव देह के साथ सुशोभित नहीं हो सकते। रीति पद-वाक्य-संरचना से सम्बद्ध है। ये काव्य के 'विशेष' या सुन्दरता को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाए। भरत का रस-सिद्धान्त तो लोकप्रिय रहा और है। पर इससे प्रेम आदि की (नाटक में) अभिव्यक्ति-प्रक्रिया पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ा। ध्वनि-सिद्धान्त ने भाव की उत्तेजना को शब्द की शक्ति से सम्बद्ध माना है। रस-सिद्धान्त ने 'भाव' को केन्द्र में रखा। 'ध्वनि' वस्तु की व्यञ्जना पर बल देती है। काव्य या तो भावात्मक रूप से तोषक हो सकता है, या बौद्धिक-रूप से प्रेरक। बौद्धिक रूप से प्रेरक का तात्पर्य है : अलङ्कार तथा वस्तु सम्बन्धी एक नवीन मस्तिष्क की परिकल्पना। अन्ततोगत्वा जो बौद्धिक रूप से प्रेरक है, उसे भावात्मक रूप से परितोषक भी होना चाहिए। हृदय की पवित्रता और प्रीति ही अन्तिम सत्य है जो भावानुभूति कराती है, क्योंकि 'भाव' अर्थ में नहीं है। यदि कोई किसी से कहे 'तुम्हारे पुत्र-जन्म हुआ है' तो परिणाम स्वरूप प्रसन्नता का भाव होगा। पर यह प्रसन्नता उक्त वाक्य का अर्थ नहीं है। इसलिए ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार भाव की व्यञ्जना (Suggestion) होती है।

ध्वनि-सिद्धान्त की सामान्य बातें ये हैं :[1]

१. इस सिद्धान्त में वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया

२ यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।

३ प्रतीयमान अर्थ व्यंग्यार्थ का पर्याय है।

४ इस अर्थ से युक्त काव्य ही ध्वनि-काव्य है।

इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि व्यञ्जना-शक्ति का ही नवीन नामकरण है। व्यंग्यार्थ की महत्ता प्रत्येक स्थिति में स्वीकार की गई है। यह उच्चस्तरीय ध्वनि के रूप में भी हो सकती है और गुणीभूत व्यंग्य के रूप में भी।

सौन्दर्य विधान—वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ में—

ध्वनि काव्य में दोनों अर्थ रहते हैं—वाच्यार्थ भी, व्यंग्यार्थ भी। इस स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि काव्य का सौन्दर्य इन दोनों में से किसमें निहित है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "काव्य की रमणीयता प्रत्येक स्थिति में वाच्यार्थ में ही रहती है चाहे वह योग्य हो या उत्पन्न हो अथवा अयोग्य।" इसके विपरीत पं० रामदहिन मिश्र और डा० नगेन्द्र व्यंग्यार्थ में काव्य के सौन्दर्य का निवास मानते हैं।[2] डा० नगेन्द्र की युक्तियाँ इस प्रकार हैं : [१] रमणीयता या सौन्दर्य का सम्बन्ध रस से है और रस व्यंग्य होता है। [२] वाच्यार्थ स्वयं व्यंग्यार्थ का साधन या माध्यम है जबकि व्यंग्यार्थ साध्य है। यदि वाच्यार्थ को ही महत्त्वपूर्ण मान लिया जाय तो ध्वनि-सिद्धान्त की आवश्यकता ही

१. मूल विवरण के लिए देखिए—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका २, ४, ८

२. हिन्दी ध्वन्यालोक : डा० नगेन्द्र, भूमिका : पृ० ३५-३६।

क्या है ? ध्वनिवादियों के अनुसार भी ध्वनि की सत्ता वहीं है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुन्दर होता है। अतः आचार्य शुक्ल का मत स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता। पर यह भी विचारणीय है कि यदि व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से अलग हो जायगा तो क्या स्थिति होगी ? वस्तुतः सारा अर्थ इस स्थिति में सौन्दर्य हीन ही बन जायगा। अर्थ की व्यञ्जकता का सारा गौरव ही समाप्त हो जायगा। बिना वाच्यार्थ की ओट लिए व्यंग्यार्थ प्रत्यक्ष रूप से जब समक्ष होता है, तो वह सौन्दर्य-विहीन हो जाता है। इस स्थिति में सौन्दर्य-विधान का सारा श्रेय व्यंग्यार्थ को ही दे देना उचित प्रतीति नहीं होता। जब दो भिन्न कोटियों के तत्त्वों के संयोग से कोई नई वस्तु अस्तित्व ग्रहण करती है तो निर्मित का श्रेय किसी एक को देना उचित नहीं। वस्तुतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के संयोग से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है। पृथक् होने पर दोनों ही श्री-हीन हो जाते हैं। ध्वनि का सौन्दर्य वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की सहस्थिति पर निर्भर करता है।

ध्वनि के प्रकार—

नीचे की तालिका से ध्वनि के मुख्य प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं :

ध्वनि

अ—विवक्षितान्य पर वाच्य	आ—अविवक्षित वाच्य
[अभिधा पर आधारित]	[लक्षणा पर आधारित]
(१) असलक्ष क्रम	(३) अर्थान्तर संक्रमित
[अस्पष्ट क्रम]	[Modified]
(२) संलक्ष क्रम	(४) अत्यन्त तिरस्कृत
[स्पष्ट क्रम]	

व्यंग्य के आधार पर इसके तीन और भेद हो सकते हैं—

क—'वस्तु' :

ख—अलङ्कार

ग—रस

इनमें से (वस्तु) तथा (अलङ्कार) काव्य के बौद्धिक रूप से प्रेरक पक्ष से सम्बद्ध हैं। (एवं रस) का सम्बन्ध 'भाव' से है।

कुछ ऐसे काव्य भी हो सकते हैं जिनमें ध्वनि तो हो, पर सर्व प्रमुख न हो। यह स्थिति उस रानी की सी है, जो दुर्भाग्य से चेरी बन गई है। ध्वनि इस प्रकार आसन-च्युत तो है, फिर भी एक सौन्दर्य बना रहता है। इस प्रकार के काव्य को गुणीभूत व्यंग्य के नाम से पुकारा जाता है। इसका तात्पर्य है, अधीन व्यञ्जना। ध्वनि-शून्य काव्य चित्रकाव्य होते हैं : इनकी कोटि अत्यन्त हीन मानी जाती है।[1]

1. "The calligrams of Apollinaire presenting poems in the shape of smoking cigar, necktie, watch, fountain pen or rain, as poets in Alexandria did, come under adhama."
(Viswanatham, Poetic Suggestions and verbal renunciation, A B O R J. Vol. X L I 1960, Parts I—iv, P. 21)

कभी-कभी रस की अभिव्यक्ति उपयुक्त पद्धति से होती है। इसको 'रसाभास' कहा जाता है। जिस प्रकार एक पंगु भी मनुष्य तो है ही, उसी प्रकार यह भी रस तो ही है। कभी-कभी रस 'भाव' के सेवक के रूप में भी आ सकता है। सामान्यतः रस की स्थिति राजा की है और भाव की एक सामन्त जैसी। कभी-कभी 'भावशबलता' की स्थिति होती है। इसमें कई भावों का समन्वय हो जाता है। कुछ आचार्य भाव-सम्मिलन में कुछ सौन्दर्य नहीं देखते, पर जगन्नाथ ने इसमें सौन्दर्य बतलाया है। कभी-कभी भावाभास की स्थिति भी आ सकती है। इस प्रकार रस-ध्वनि के कई प्रकार हैं।

ध्वनि के भेदों का दो दृष्टियों से वर्गीकरण दो आधारों पर किया गया है: शब्द-शक्तिओं के आधार पर और विषय-वस्तु या कथ्य के आधार पर।

शब्द शक्तियों की दृष्टि से ध्वनि के पहले दो भेद होते हैं: लक्षणामूलक एवं अभिधामूलक। जिसके मूल में लक्षणा हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहा गया है, जबकि मूल में अभिधा होने से अभिधामूलक ध्वनि कहलाती है।[1] इन दोनों के दो-दो उपभेद हैं। लक्षणामूलक के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद होते हैं। अभिधामूलक के असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम भेद होते हैं। जहां मुख्यार्थ के बाधित होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय [जैसे—'अबलायें सदैव ही अबलायें हैं बेचारी'] वहां अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि मानी गई है। वाच्यार्थ के पूर्ण तिरस्कार होने पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि की सत्ता स्वीकार की गई है।[2] ये भेद लक्षणा के ही सूचक हैं क्यों कि मुख्यार्थ के बाधित होने पर जिस अर्थ की प्राप्ति होती है, वह लक्ष्यार्थ ही होता है, व्यंग्यार्थ नहीं। अभिधामूलक उपभेद भी एक भ्रम को जन्म देते हैं। व्यंग्यार्थ के मूल में सदा व्यञ्जना शक्ति रहती है, अतः उस अर्थ को 'अभिधामूलक' कैसे माना जा सकता है। यदि व्यंग्यार्थ के साथ वाच्यार्थ के रहने के कारण ऐसा माना जाता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यंग्यार्थ के साथ वाच्यार्थ रहता है—वाच्यार्थ की सहस्थिति के बिना कोई भी अर्थ व्यग्यार्थ बन ही नहीं सकता। अतः व्यंग्यार्थ या ध्वनि से पूर्व 'अभिधामूलक' जैसा विशेषण अनावश्यक एवं अनपेक्षित है।[3] फिर आगे इन्हीं भेदोपभेदों की शाखाएँ होती हैं।

जैसा कि ऊपर की तालिकाओं से स्पष्ट है, बिषय-वस्तु की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद किए गए हैं।[4] [१] रसध्वनि, [२] अलङ्कार तथा [३ [वस्तु ध्वनि। जहाँ भाव, भावोदय, रस आदि की व्यञ्जना होती है उसे 'रसध्वनि' कहा गया है। अलङ्कार और वस्तु ध्वनि में क्रमशः अलङ्कार और तथ्यों की व्यञ्जना

---

१. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृ० २२६
२. वही, पृ० २२६-२३५
३. डा० गणपति चन्द्र गुप्त, साहित्य विज्ञान, पृ० ३०३
४. बल्देव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २७४

होती है। इनमें रस-ध्वनि श्रेष्ठ मानी गई है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस प्रकार का वर्गीकरण भी असङ्गत है। ध्वनि-सिद्धान्त मुख्यतः शैली पक्ष से सम्बन्धित है। अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण करना समीचीन नहीं है। साथ ही विषय-वस्तु के तीन ही नहीं अधिक भेद भी किए जा सकते हैं। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाला यह सिद्धान्त जैसे अलङ्कार और रस को भी अधिकृत कर लेना चाहता है। ध्वनि के मुख्य भेदों के अनेक प्रभेद हो जाते हैं। रामदहिन मिश्र के अनुसार संख्या लक्षाधिक हो जाती है।

ध्वनि-सिद्धान्त का मूल आधार तो व्यञ्जना ही है। इस मत के अभाववादी आलोचकों के अनुसार व्यञ्जना का अन्तर्भाव अभिधा और लक्षणा में ही हो जाता है। उसका पृथक् अस्तित्व मानना अनावश्यक है। पर अभिधार्थ के बाधित या विफल हो जाने पर लक्षणा-शक्ति पर आधारित होकर ही अविवक्षित वाच्य ध्वनि सिद्ध होती है। विवक्षितान्य-पर वाच्य ध्वनि भेद में लक्षणा का भी पूर्ण तिरस्कार हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि के कुछ भेदों में अभिधा और लक्षणा की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्यकाल, आश्रय और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। स्वरूप की दृष्टि से वाच्यार्थ के विधिमय होने पर भी व्यंग्यार्थ निषेध-मय हो सकता है। शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता मानी है। व्यंग्यार्थ की प्रतिच्छाया वक्ता, श्रोता और प्रकरण-भेद से बहुसंख्यक हो सकती है, वाच्यार्थ बहुसंख्यक नहीं होता। वाच्यार्थ की प्रतीति के लिए प्रतिभा अपेक्षित नहीं है, पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभावान् को ही होती है। वाच्यार्थ की सिद्धि वस्तु-बोध तक ही सीमित है, व्यंग्यार्थ से आनन्दास्वादन होता है। वाच्यार्थ पदारूढ़ रहता है। व्यंग्यार्थ पद के अतिरिक्त पदांश या अर्थ पर भी आधारित हो सकता है।

यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त अपने से पूर्व सिद्धान्तों से अधिक व्यापक और पूर्ण है, फिर भी रस-ध्वनि के प्रति इसका विशेष पक्षपात है। वस्तु और अलङ्कार-ध्वनि के प्रति कुछ उपेक्षा सी मिलती है। इनके समुन्नत रूप को भी काव्य में रस के समान ही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी। वस्तु, अलङ्कार और रस के बीच हीनता और उच्चता का विचार नहीं होना चाहिए। डे महोदय ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस प्रकार की है।[1] अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त साधारण और अलंकृत में भेद करना तर्क और व्याकरण की प्रक्रिया कही जा सकती है, सौन्दर्यमूलक आलोचना नहीं। यदि कोई कवि अलंकृत या सामान्य, अभिव्यक्ति या व्यञ्जना शैली को अपनाता है, तो इसीलिए कि उस स्थिति में वही उपयुक्त अभिव्यक्ति है। हम बहुत अच्छी वस्तु से भी पीड़ित हो सकते हैं। आक्सीजन का आतिशय्य हमारी मृत्यु का भी कारण बन सकता है : यह उसी प्रकार घातक हो सकता है, जिस प्रकार उसका अभाव। इसके उत्तर में यह

---

१. Indian Antiquary, vol. Q. ; P. 82

कहा जा सकता है कि वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि रस-निलय हो जाती हैं। रसध्वनि के द्वारा ही 'औचित्य' का निर्णय होता है। औचित्य रसध्वनि का निर्णय नहीं करता। अन्ततः काव्य में भाव या रस की केन्द्रीय स्थिति माननी ही पड़ती है। ध्वनिकार ने भी यही किया।

इस सिद्धान्त के प्रति दूसरा यह आक्षेप किया जाता है कि इसमें कवि के व्यक्तित्व की उपेक्षा है। यह आक्षेप तो भारतीय साहित्य-शास्त्र के विरुद्ध सामान्यतः लगाया जता है। वास्तव में भारतीय दृष्टि यह रही कि काव्य की संरचना विषय-वस्तु (Theme) के अनुसार होनी चाहिए, कवि के व्यक्तित्व के अनुसार नहीं। प्रत्येक स्थान पर व्युत्पत्ति से प्रतिभा को तो उच्च बतलाया गया है। पर यह भी कहा गया है कि पाण्डित्य के द्वारा प्रतिभा के अभाव की आंशिक रूप से पूर्ति हो सकती है। कुन्तक ने 'कविस्वभाव' के विवेचन के द्वारा, कवि के आहत-उपेक्षित व्यक्तित्व को सहलाया है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि कवि के व्यक्तित्व की उपेक्षा इस ध्वनि-सिद्धान्त में भी हुई है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण से कवि व्यक्तित्व की सामान्य सीमाओं का परित्याग कर एक विशिष्ट विधातृ शक्ति बन जाता है।

निष्कर्ष—

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा अपने पूर्ववर्ती काव्य-सम्प्रदायों का अपने सिद्धान्त में अन्तर्भाव कर दिया। अतः निष्कर्ष यह है कि रस वाच्य नहीं हो सकता वह व्यंग्य ही है। असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि में रस अन्तर्भूत हो जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस अभिव्यञ्जित होता है। इसलिए ध्वनिकार ने लिखा है: "तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्य सामार्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द व्यापार इति।" जब अङ्गी [रस] का ही अन्तर्भाव हो गया तो अङ्गी के आश्रित गुण भी उसमें लीन हो गये। शब्दार्थ रूप काव्याङ्ग के आश्रित अलङ्कार आत्मा से असम्बद्ध रहे, तो निर्जीव, निरर्थक हो जायँगे। रस, गुण, रीति, अलङ्कार और वक्रता आदि सभी ध्वनि के समान व्यंग्य ही हैं। न वाचक शब्दों के द्वारा इनका कथन हो सकता है और न वाच्यार्थ द्वारा ये आह्लादक ही हो सकते हैं। ध्वन्यालोक की निम्न कारिका द्रष्टव्य है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[2]

ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त को प्राचीन घोषित करके भी उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहा है। उनके अनुसार बुद्धिमानों ने उसे काव्य की आत्मा कहा है।[3] वे पूर्वविद्वान् वैयाकरण ही हैं—'प्रथमेहि विद्वांसो वैयाकरणाः।' काव्य के क्षेत्र में वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के आधार पर बने इस ध्वनि-सिद्धान्त की वैज्ञानिक स्थापना

१. P C. Lahiri, Concepts of Riti and Guna, P. 148

२. ध्वन्यालोक २।६

३. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्व—ध्वन्यालोक १।१

सम्भवतः सर्व प्रथम आनन्दवर्द्धन ने ही की है। काव्य-पुरुष की आत्मा की खोज में इस सिद्धान्त से पूर्व रसवादी ही अग्रणी रहे हैं। अलङ्कार तथा रीति और परवर्ती वक्रोक्ति-सम्प्रदाय काव्य के बाह्याङ्गों में आत्मबुद्धि रखकर दार्शनिक अज्ञान या भ्रम के ही भागी रहे। मौलिक होते हुए भी नितान्त नूतन सत्य का साक्षात्कार वहाँ नहीं है, साथ ही रस-सिद्धान्त और ध्वनि सिद्धान्त परस्पर विरोधी नहीं हैं। अभिनव गुप्त ने दोनों को एकाकार कर दिया। डा० नगेन्द्र ने दोनों को अन्योन्याश्रित कहा है: "ध्वनि रस के बिना काव्य नही बन सकतो और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ध्वनि को सरस, रमणीय होना पडेगा और रस को व्यंग्य होना पड़ेगा।"[१] फिर भी अन्त में रस को तत्त्व पद का अधिकारी मानकर सापेक्षिक रूप से रस को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। ध्वनि की रमणीयता का आधार रस-तत्त्व ही है। पर यदि रस-विधान की यांत्रिक गतिविधि और विभावानुभाव व्यभिचारमय उपकरण-साध्यता में ही रस को सीमित कर दिया जाय तो रस के सभी उपकरणों के संयोजन पर भी सभी काव्यों में समान रस-सृष्टि नहीं हो पाती। समस्त नायिकाओं के बाह्य, शास्त्र-सिद्ध लक्षणों की प्राप्ति पर भी 'वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान' वाली बात रह ही जाती है। ध्वनि वस्तुतः काव्य की यही 'औरै कछू' लावण्य ही है। अतः दोनों का ही महत्त्व मानना पड़ेगा।

१०

स्थायी सत्य और आधुनिकता

१. स्थायी सत्य एवं प्रगति
२. विश्व साहित्य में स्थायी सत्य
   वेद, उपनिषद्, फारसी, बंगला एवं हिन्दी
३. स्थायी सत्य एवं जीवन-दर्शन
४. सौन्दर्य-बोध की मौलिक-प्रवृत्ति
५. स्थायी-अस्थायी का द्वन्द्व
६. पुरातन में नूतन दृष्टि एवं समन्वयकारी कवि-कर्म
७. साहित्य में आधुनिकता
८. निष्कर्ष

१. हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका, पृ० ६६

साहित्य के शाश्वत-सत्य और सिद्धान्त को इस युग में आधुनिकता और 'प्रगति' के सबल थपेड़े झेलने पड़े है और आज भी झेलने पड़ रहे हैं। काव्य की रसात्मक अनुभूति के कुछ स्थायी स्तम्भ मानने ही पड़ते है। शाश्वत सत्यों पर आधारित दर्शन, भावात्मक परिणति की स्थिति में ढलता-पिघलता हुआ रसात्मक अनुभूति का रूप ग्रहण करता है। क्षणिक आवेशों और क्षणिक—भावस्फीतियों का अपना छविजाल होता है—झीना और स्वर्णिम। पर उसमें स्थायी रसात्मक अनुभूति नहीं होती। कवि अपने चिन्तन के क्षणों को भावात्मक प्रक्रिया से ही स्थायित्व प्रदान करता हैं।

संसार के साहित्य से एक स्थायी भावना का उदाहरण लिया जा सकता है। भावात्मक रहस्यवाद की धारा में एक भावना मिलती है : 'मैं' और 'तू' एक हो जायें। वेद की ऋचा है : 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा स्थामहम्।' 'तू' मैं हो जाऊँ और मैं तू हो जाऊँ। रवीन्द्र के शब्दों मे यह सत्य कितना सुन्दर बन पड़ा है : 'सीमार माझे असीम तुमि।' फारसी का एक कवि इस प्रकार कहता है—

> मन तू शुदम, तू मन शुदी, मन तन शुदम, तू जा शुदी।
> तो कस न गोयद बाद अज़ी, मन दीगरम, तू दी गरी॥

मैं देह बनूँ, तुम प्राण। ऐसा होने पर कोई नहीं कह सकेगा कि मैं और तुम पृथक्-पृथक् हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी यह भाव व्यक्त किया है : 'देहे आर मने प्राणे हये एकाकार।' इस प्रकार विश्व काव्य मे, आत्मा के विश्वात्मा में लीन हो जाने की मधुमय व्याकुलता के स्वर गूँज रहे हैं। इस आध्यात्मिक मिलन की अभिव्यक्ति कभी प्रिया-प्रियतम के मिलन के सांसारिक भाव और कभी सख्य-भाव के अप्रस्तुत-विधान से होती आई है। जब आध्यात्मिक विलय के संकेत-स्वर डूब जाते हैं तो लौकिक काव्य की रचना होती है। जब ये स्वर केवल धीमे हो जाते हैं, तो रहस्यवादी काव्य की सृष्टि होती है। जब लौकिक प्रेमातिशय्य और मिलन के अप्रस्तुत का अञ्चल छूट जाता है, तो काव्य नहीं, दर्शन जन्म लेता है। लौकिक प्रेम और मिलन मात्र अप्रस्तुत नहीं, यह अलौकिक प्रेम को ज्वलनशील आवेश और अप्रतिहत आवेग भी प्रदान करता है। साथ ही यह लौकिक भाव ही आध्यात्मिक विलय की मूल प्रेरणा का स्रोत भी हो सकता है। दर्शन-शास्त्र को भावनात्मक सरसता भी इसी से मिलती है। वेद के एक मत्र में आत्मा को हंस माना गया है। वह अपने अनन्त मिलन की यात्रा में उड़ा जा रहा है—उड़ा जा रहा है।

> सहस्राण्यं वियुतावस्य पक्षौ
> हरे हंसस्य पततः स्वर्गम्
> स देवान्सर्वान् रस्यु पदत्यं
> सपश्यत् याति भुवनानि विश्वा

विश्वात्मा से वियुक्त हंस अपने परम सखा से मिलने के लिए अनन्तकाल से उड़ रहा

है। यह है सत्य के आधार पर स्थायी सत्य की अभिव्यक्ति। आत्मा और परमात्मा परम सखा हैं। उपनिषद् का यह वाक्य द्रष्टव्य है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्व जाते
ततोरन्यः पिप्पलं स्वादयत्य
नश्ननन्यो अभिचाक शीति

दो पक्षी जो सुपर्ण एवं समवयस्क होने से सखा है, एक ही वृक्ष की डाल पर बैठे हैं। इनमें से एक भोग्य पदार्थ का आस्वादन करता है दूसरा दर्शन मात्र से [बिना चखे ही] उसका आनन्द ले लेता है। यह दोनों पक्षी आत्मा और परमात्मा है, जो संसार रूपी वृक्ष पर विराजमान है। यह सख्य की साहित्यिक परम्परा का आध्यात्मिक बीज है। साहित्य में सख्य अनेकधा, अनेकत्र व्यक्त हुआ है। सूर ने तो इस भाव को अमर ही बना दिया है। प्रिया-प्रियतम के प्रेम और मिलन के आधार पर तो आध्यात्मिक विलय की अभिव्यक्ति अत्यधिक हुई है। यही शृङ्गारात्मक रहस्यवाद की परम्परा है। प्राचीन काव्य में ही नहीं, अद्युनातन काव्य में भी यह स्थायी सत्य प्रायः व्यक्त हुआ है। शमशेर बहादुरसिंह की एक कविता देखिए—

लौट आ ओ धार
टूट मत ओ साँझ के पत्थर
हृदय पर।
(मैं समय की एक लम्बी आह
मौन लम्बी आह)
लौट आ ओ फूल की पङ्खड़ी
फिर
फूल में लगजा
चूमता है धूल को फिर फूल
कोई, हाय !

लौकिक प्रेम के अप्रस्तुत के साथ प्रकृति के उपकरण सम्बद्ध होकर अनुभूति और अप्रस्तुत का विस्तार भी करते है। प्रकृति अचेतन तो अवश्य है, पर अमृत-ज्योति-किरण के संस्पर्श से वह आत्मरूप हो जाती है। उपनिषद् के अनुसार प्रकृति भी आत्म-प्रसूत है। उसका आत्मतत्त्व ही, उसका स्थायी सत्य है। उसका अनात्य रूप है, माया-जन्य क्षणिक, जड़ीभूत अवसाद। मनुष्य के आत्म-तत्त्व से विकीर्ण किरणें इसका नवीन शृङ्गार कर सकती हैं। मानव-चेतना के संस्पर्श से प्रकृति से प्राप्त जड़ 'अप्रस्तुत' विस्मृत आत्म-स्पन्दनों का अनुभव करने लगता है। यही मानवीकरण की भारतीय पृष्ठभूमि है। शैली बदलती है। काव्य रूप बदलते हैं पर यह स्थायी सत्य यों ही बना रहता है। श्री सत्यकाम विद्यालङ्कार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : "केवल पृष्ठभूमि बदली है या उपमान बदले हैं। नये कवियों ने

शैली में नये प्रयोग अवश्य किये हैं, किन्तु मूल भावना वही रही है, जो हजारों वर्ष पहले थी। कहने की शैली में कुछ अस्पष्टता आगयी तो छायावाद बन गया और शैली में अटपटे और बेतुके प्रतीत होने वाले उपमानों का सहारा ले लिया गया तो प्रयोग-वादी कविता बन गयी। मुख्यतः कविता की विषय-वस्तु वही है जो हमारे आद्य कवियों की थी।" [गन्धदीप, १९६३, पृ० १२]

वास्तव में जीवन के कुछ मूल भूत स्थायी सत्य हैं जो परिवेश के अनुसार अपनी अभिव्यक्ति के नवीन उपकरणों के आश्रय से युग के स्वरों को जन्म देते हैं। आज के कुछ विचारक शाश्वत सत्यों के सिद्धान्त में गतिरोध और अगति के लक्षण देखते हैं। पर आज की अधुनिक कही जाने वाली कृतियों में भी मानव-जीवन के आदिम प्रश्नों की गूँज विद्यमान है। प्रश्नों की दिशाएँ और उनके हल आधुनिक हो सकते हैं—होने चाहिए। मूल स्थायी सत्य है—विघटन और विकर्षण से उत्पन्न मानव मन की विकलता और उससे मुक्ति पाने के लिए सङ्घटन और आकर्षण (मिलन) की शक्ति की खोज और पुनर्स्थापना। इसी सत्य की परिणति भिन्न-भिन्न रूप में सर्वत्र होती है। सत्य की अभिव्यक्ति भी एक अनिवार्य तत्त्व है। साहित्य उस सत्य की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें व्यंग्य और प्रेषण के माध्यम के बीच एक अवि-च्छेद्य सम्बन्ध रहता है। कवि की साधना इसी सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए है। काव्य के स्थायी सत्य और उसके शाश्वत मूल्यों में अविश्वास व्यक्तिवादी दर्शन की देन है। सामाजिक परिणति की दृष्टि से मार्क्स ने भी मानव-जीवन के किन्हीं शाश्वत मूल्यों को स्वीकार नहीं किया था। वे साहित्य और संस्कृति को केवल बाह्य उपलब्धियों के रूप में मानते थे। इतना होते हुए भी मार्क्स, एंजिल्स तथा एक सीमा तक लेनिन भी साहित्य के स्थायी तत्त्व को स्पष्टतः और पूर्णतः अस्वीकृत न कर सके। यह उनके सिद्धान्त के अन्तर्विरोध का ही परिचायक है। इस प्रकार के अन्तर्वि-रोध में पड़ कर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद साहित्य में मूल्यों की स्थापना के प्रयत्न में असफल रहा। यूरोप में तथा उससे प्रभावित समीक्षा-सिद्धान्तों में भी मूल्यगत अनि-श्चय ही मिलता है। सर्वथा अभाव नहीं।

इतिहास की शाश्वत धारा मे मानव के विचारों में आन्दोलन होते रहे हैं। पर सभी आन्दोलनों में एक आंशिक सत्य ही रहता है। एक सीमा तक ही ये मानव के जलते हुए प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करते है। जब उस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तथा उसे मानव-जीवन के सन्दर्भ में अन्तिम शब्द के रूप में घोषित किया जाता है, तब उसकी गत्यात्मक शक्ति का ह्रास होता है। वह प्रगति का सहायक न होकर उसका बाधक बन जाता है। इस स्थिति में एक संक्रान्ति-युग मानव की सर्वतोमुखी व्यवस्था की सम्भावनाएँ लेकर प्रस्तुत होता है। साहित्य और जीवन के मूल्यों में कुछ अन्तर रहता है। साहित्य जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करता है। इसीलिए इसमें सत्य की देशकाल-गत सीमाओं से निरपेक्ष स्थिति आजाती है। वैसे उसमें युगीन जीवन की सीमाएँ भी अव्यक्त नही रहती। पर जीवन के सन्तुलन का

जो आधार साहित्य में ग्रहण किया जाता है, वह युग-युग से मानव के जीवन में समान होता है। इसी सन्तुलन का नाम है सौन्दर्य-बोध। सौन्दर्य बोध ही समीक्षा और साहित्य का स्थायी मूल्य है। इस मूल्य को भी रूढ़ नहीं मानना चाहिए। यह भी सतत विकासशील एवं परिवर्तमान होता है। साहित्य अन्तर-बाह्य, व्यक्ति और समाज का ऐसा समुचित सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है और जीवन को इतनी पूर्णता के साथ ग्रहण करता है कि देश-काल-गत सीमाओं के होते हुए भी, उसका सामञ्जस्यमय सत्य सार्वदेशिक, सार्वकालीक और सार्वजनीन बन जाता है। यहाँ स्थायी को स्थिर समझने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। स्थायी सत्य भी अपनी बाह्य परिणति और सज्जा में सतत विकासशील है। उसकी आत्मा देशकाल की सीमाओं से निरक्षेप रहती है।

एक और दृष्टि से साहित्य के स्थायी सत्य को समझा जा सकता है। जीवन और चेतना का विकास परम्परा से पूर्ण विच्छिन्न नहीं हो सकता। साहित्य जीवन के जिस अंश को ग्रहण करता है वह अपने आप में निस्सङ्ग, असम्पृक्त अथवा निरपेक्ष नहीं होता। उस सामाजिक या वैयक्तिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में एक क्रमिक और दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा चली आ रही होती है। इस प्रकार साहित्यकार एक ओर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति और समकालीन समाज से सम्बद्ध है तथा दूसरी ओर उसके द्वारा गृहीत जीवन एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी के रूप में भी रहता है। कोई भी साहित्य या साहित्यकार इतिहास की चिरन्तन प्रवहशील धारा से असम्बद्ध होने की बात नहीं कह सकता। सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में प्राप्त जीवन-मूल्य युग-युग में मूलतः परिवर्तित नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस अविच्छिन्न प्रवाह में जीवन का कोई-न-कोई समान आधार बना रहता है, जो देशकाल की विकासशील परिस्थितियों में समान रूप से अन्तर्निहित होता हुआ मानव के अन्तर्मन को समान रूपेण प्रभावित करने में सक्षम रहा है और भविष्य में रहेगा।

क्या वास्तव में साहित्य में स्थायी नाम की कोई वस्तु है? यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। प्रगतिवादी या मार्क्सवादी सिद्धान्त स्थायी साहित्य के सिद्धान्त को मान कर नहीं चलता। सौन्दर्यवादी या शास्त्रीय आलोचना साहित्य के स्थायी और अस्थायी स्वरूपों को स्वीकृत कर चलती है। यह सत्य है कि प्रत्येक युग-परिवर्तन साहित्य को भी प्रभावित करता है और युग परिवर्तित प्रायः होते ही रहते हैं। अतः साहित्य भी गतिशील रहता है। पर निरन्तर गतिशील जीवन की कुछ ऐसी आधार भूमियाँ भी हैं, जो परिवर्तन में भी अपरवर्तित रहती हैं। ये पुरातन नहीं चिर-नवीन हैं। इसी प्रकार साहित्य की साधना में भी सामयिकता के साथ-साथ कुछ अनश्वर तत्त्व भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध जीवन की स्थायी आधार भूमियों से है। जीवन की आधार भूमियों से तात्पर्य कुछ ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्तियों से है जो अपने व्यावहारिक पक्ष को युग के अनुसार परिवर्तित करती है पर अपने में चिर नवीन हैं।

ये ही मनुष्य के क्रिया कलाप के शाश्वत स्रोत हैं। इन्हीं में सृजन और विनाश की प्रेरणा निहित है। अपने सृजन को स्थायित्व प्रदान करना भी मानव मन की एक विकल आकांक्षा रही है। अपने सृजन में मानव अपने अहन्ता की परिणति देखता है। अहन्ता के आधारभूत भौतिक तत्त्वों के विकर्षित हो जाने पर भी वह उसे ऐसे उपकरणों से बाँध कर जाना चाहता है, जो अविनश्वर स्रोत से ग्रहण किये जाते हैं। सृजन को इस प्रकार संयोजित करके उसे अपने अमरत्व की आकांक्षा-लता के विस्तार की सूचना मिलती है। मनुष्य की स्थायित्व सम्बन्धी आकांक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न यह है: क्या साहित्य में स्थायी और अस्थायी को पृथक् करने वाली कोई स्पष्ट रेखा खीची जा सकती है? क्या निरन्तर गतिशील सामाजिक जीवन के कारणों और प्रेरणाओं पर रचा हुआ साहित्य अस्थायी है? और मानव-मन के नैसर्गिक स्तरों से सम्बन्धित कारणों से रचा हुआ साहित्य स्थायी? इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः सामाजिक कारणों से प्रेरित साहित्य युग के परिवर्तन के साथ स्वर मिलाता है। इसी लिए सामाजिक विश्लेषण करने वाले विचारक समाज की गतिशीलता में विश्वास रखते हैं और स्थायी साहित्य के नाम से बिचक जाते हैं। स्थायी साहित्य की चर्चा विचारकों का वही वर्ग करता है जो मानवीय मूल्यों की महत्ता और उनकी शाश्वतता में विश्वास रखता है और मानव-मन के वैयक्तिक पक्षों को नकार कर नहीं चलता है। वह मानव मन के स्थायी पक्षों की स्वीकृति के साथ-साथ उनकी युगानुकूल परिणति में विश्वास करता है। इस प्रकार स्थायी के साथ आधुनिकता का भी वह साथ लेकर चलता है। महान् साहित्यकार उच्चतम मूल्यों में विश्वास भी जाग्रत करता है और अपने चतुर्दिक दृश्यमान् जगत् की हलचलों से भी असम्पृक्त नहीं रहता। इस प्रकार महान् कलाकार सोद्देश्य होता है। उसका उद्देश्य समर्थन या विरोध दोनों ही हो सकते हैं। प्रेमचन्द जी ने इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है: "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"[१] प्रगतिवादी अथवा क्रान्तिकारी कहे जाने वाले विचारक का यह कथन अपने आप में एक सत्य चिन्तन को समेटे है। इसकी सत्यता संसार की महान् प्रतिमाओं के उदाहरणों से पुष्ट है। चाहे अपने देश के वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, भास, भारवि, सूर, कालिदास, तुलसी, रवीन्द्र और प्रसाद को लिया जाय, चाहे विदेश के शेक्सपियर, मिल्टन, शेली, कीट्स, पुश्किन, टाल्स्टाय गोर्की, तुर्गनेव, ज्विग, दास्तोवस्की आदि को लिया जाय, सभी में देशकाल विशेष के अन्तर्गत ही सार्वभौमिकता विद्यमान मिलेगी:

१. उपन्यास—निबन्ध, प्रेमचन्द

सभी में अस्थायी सामाजिक प्रकृति या विकृति के चित्रों के बीच ही अविनश्वर तत्त्वों की झलक विहसित होगी।

साहित्य की व्यापकता या उसके व्यापक प्रभाव के मूल में स्थायी जीवन-भूमियों की स्थिति माननी चाहिए। किसी रचना को व्यापक बनाने में मानवीय प्रकृति मे सामान्य रूपो में मिलने वाली विशेषताओ की प्रातिभ परिणति का हाथ रहता है। यह स्थायी केन्द्र बिन्दु-ध्रुव-कभी लोक-मङ्गल की संज्ञा पाता है कभी शिव की और कभी सौन्दर्य की। वास्तव में इनमें कोई मौलिक अन्तर नही है। तुलसी साहित्य का स्थायी केन्द्र-बिन्दु लोक-मङ्गल था और सूर का सौन्दर्य। सुमित्रानन्दन पन्त लोकमङ्गलकारी साहित्य की चर्चा करते हुए मानते है: "मांगल्य, जो बहुमुखी मानव-सत्य की एक मात्र कसौटी है।" दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी विचारक कला की चरम सार्थकता सौन्दर्य में मानते हैं। महाकवि गेटे और कीट्स विश्व के सृष्टा और चरम सत्य के रूप में सौन्दर्य को देखते थे। इस प्रकार लोक-मङ्गल और सौन्दर्य दोनों ही यहाँ साहित्यकार के स्थायी केन्द्र बिन्दु के प्रतीक है।

साहित्य के स्थायित्व पर विचार करते हुए, अखण्ड या खण्डित—सम्पूर्ण एवं विभाजित—सत्य की भी बात उठाई जाती है। कुछ विचारकों का कहना है कि स्थायी साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्ण सत्य को उद्घाटित करे। खण्डित सत्य को प्रस्तुत करने वाली रचना, चाहे और सब कुछ हो, स्थायी साहित्य नहीं हो सकती। वास्तव में इस जगत् में सत्य खण्डों में ही व्यक्त होता है। पर वह विभाजित सत्य भी समग्र सत्य का प्रतिनिधि ही हो होता है। कवि खण्डित सत्य का भी चित्रण करे तो भी कुछ हानि नही। साहित्यिक खण्ड सत्य का उद्घाटन करके अखण्ड सत्य की व्यञ्जना करता है। खण्ड से अखण्ड की ओर अग्रसर होना ही लोक-धर्म है। चन्द्रमा की एक-एक कला वृद्धि से ही पूर्णिमा-पूर्णिमा की सरसता की स्थिति सम्भव है। इस सत्य-विधान वाला साहित्य भी स्थायी हो सकता है। परन्तु शर्त यह है कि जिस खण्ड या अखण्ड सत्य का उद्घाटन साहित्य करता है, वह वास्तव में मौलिक सत्य होना चाहिए। उसको व्यक्त करने के सन्दर्भ मानव की मूल भूमिकाओं से चुने गए हों, या उनका पूर्ण स्पर्श करते हो।

साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने में कवि के व्यक्तित्व का बहुत बड़ा हाथ होता है। उसका व्यक्तित्व विश्व-चिन्तन से एक हो जाना चाहिए। उसका विशाल हृदय, उदात्त दृष्टिकोण और उद्देश्य के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। साधारण कोटि का कलाकार विश्व-चिन्तन के स्वरों के साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता। टाल्स्टाय ने स्थायी साहित्य में वस्तु, रूप, और निष्ठा की उदात्तता को आवश्यक माना है। जो कलाकृति मनुष्य की दृष्टि-परिधि को विस्तीर्ण करे, वही महान् कृति है। जिसमें नितान्त नूतन और श्रेष्ठ का दर्शन हो वही सच्ची कृति है। वही कृति स्थायित्व प्राप्त कर सकती है। यह एक आदर्शवादी विचारक का कथन कह कर टाला नहीं जा सकता। सौन्दर्यवादी, प्रगतिवादी या आभिजात्यवादी

आलोचक भी कला को मानवोत्कर्ष से विच्छिन्न करके नहीं देख सकता। चरम व्यक्तिवादी आलोचना भी सामाजिक उपयोगिता का पूर्ण तिरस्कार नहीं कर सकती। वास्तव में मानवीय सत्य को अपनी पूर्णता में कलाकार ग्रहण करता है। सामाजिक दायित्व को भुलाकर कोई कला स्थायी नहीं हो सकती।

क्या वही साहित्य स्थायी होगा जो किसी विशेष राष्ट्र, जाति या धर्म से निरपेक्ष हो? यदि इनसे साहित्य सम्बद्ध होगा तो निश्चय ही उसकी व्यापकता प्रभावित होगी। पर केवल इन्हीं कारणों से किसी साहित्य के स्थायित्व को नहीं समाप्त किया जा सकता। प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार अपने देशकाल के अनुसार कुछ सीमित सन्दर्भों को ग्रहण करता ही है। हिन्दू तुलसी, ब्राह्मण तुलसी और वैष्णव तुलसी की मान्यताएँ विश्व की पीठिका पर मान्य हों, यह आवश्यक नहीं है। इस व्यक्तित्व वाले तुलसी के काव्य में सम्पूर्ण मानव-सत्य का उद्घाटन हो, यह भी आवश्यक नहीं है। पर ऐसे स्थलों पर भी कवि का कौशल द्रष्टव्य होता है। साथ ही विचारणीय है कि कवि ने मानव-सत्य को सभी खण्ड सत्यों के माध्यम से व्यञ्जित किया है अथवा नहीं। सत्य की यह व्यञ्जना देश-काल की सीमाओं का तिरस्कार करती है। यहीं तुलसी-साहित्य के स्थायित्व के बीज विद्यमान हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि समूचा साहित्य ही स्थायी हो। समूचा अथवा उसके अंश भी स्थायी हो सकते हैं। डा० दशरथ ओझा ने सत्य ही कहा है: "किसी भी ग्रन्थ का सम्पूर्ण भाग उत्तम एवं स्थायी काव्य नहीं होता। उसके कतिपय अंश सामान्य एवं अस्थायी साहित्य के रूप में दिखाई देते हैं। तथापि उत्तम काव्य का स्थायी अंश ऐसा सशक्त होता है और उसकी प्रबन्धात्मकता का प्रवाह ऐसा वेगमय होता है कि उसमें घुल-मिल कर अस्थायी साहित्य भी स्थायी गरिमामय बन जाता है।"

इस प्रकार स्थायी साहित्य एक श्रेष्ठ कलाकार की सतत साधना का परिणाम होता है। स्थायी साहित्य विशिष्ट सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी मानव-मन की परतों का उद्घाटन करता है। वह मनुष्य की दृष्टि-परिधि का विस्तार करता है उसमें सीमाओं में विराट् को, मूर्त मे अमूर्त को बाँधने का कौशल मिलता है। ऐसी रचनाएँ विश्व के सभी मनुष्यों को आकृष्ट करती है—चाहे वे किसी वर्ग और देश के हों। "संक्षेप में, यदि स्थायी साहित्य के तत्त्वों पर हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि उसके लिए उदात्त जीवन-दृष्टि, उद्देश्य की महत्ता, अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता और सार्वभौमिकता की अपेक्षा ही नहीं, अनिवार्य आवश्यकता है; उदात्त जीवन दृष्टि के अभाव में सार्वजनीनता नहीं आ सकती और उद्देश्य की महत्ता के बिना कृति गौरवपूर्ण नहीं बनती। अनुभूति की तीव्रता में कलाकार की संवेदना-निहित है और अभिव्यक्ति की मार्मिकता में शिल्प-कौशल का परिचय मिलता है। सार्वभौमिकता के अन्तर्गत मानव-मन का विशाल क्षेत्र, वातावरण और उन सभी भावनाओं का समावेश होता है जो मानवीय राग-विराग पर अवस्थित है। कोई

भी महान कृति युग-युग तक प्रभावित करने वाली तभी बनती है जब उसमें मानव मात्र के लिए कोई सन्देश प्रेरणा और जीवन की दृष्टि रहती है।"[1]

साहित्य में आधुनिकता—

'आधुनिक' शब्द का परम्परीत अर्थ है : समकालीन के साथ समन्वित होना। इसका भाव हुआ समकालीन विचारो, अनुभूतियों, सम्वेगों और भाषा में उनकी अभिव्यक्ति के तरीकों के स्वर में स्वर मिलाना और उससे कुछ आगे भी होना। यह शब्द निरन्तर परिवर्तनशील विषय के केन्द्र-विन्दु की ओर संकेत करता है। यह एक प्रक्रिया की विधि से सम्बन्धित धारणा है, जो काव्य-चेतना को नियंत्रित करती है।

कवि की अपनी चेतना होती है। वह अपनी अनुभूति और चेतना के बीच एक सम्बन्ध स्थापित करता है। इन दोनों में घनिष्टता विलयन का रूप ग्रहण करती है। चेतना और अनुभूति के परस्पर विलयन से तीव्र और घनीभूत काव्यात्मक अनुभूति का जन्म होता है। कवि इनमें से एक को लेकर भी अपने कर्म में प्रवृत्त हो सकता है और दोनों को लेकर भी। वह अपने समय से भिन्न समय की अनुभूति को ग्रहण करके, उसके द्वारा समकालीन चेतना को अभिव्यक्ति दे सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि वह अपने समय की अनुभूति को, अन्य युग की चेतना के माध्यम से व्यक्त करे। तीसरा मार्ग यह है कि अनुभूति और चेतना दोनों ही समकालीन हों। इन सभी स्थितियों में कवि के मनोभाव तो आधुनिक ही होंगे। उक्त तीनों स्थितियों में से अन्तिम अवस्था पूर्णतः 'आधुनिक' साहित्य की स्थिति है।

इन तीनों ही स्थितियों में नवीन चेतना और अनुभूति में सम्बन्ध स्थापित करना समाविष्ट है। कवि हमें अनुभूति के नये प्रकार देता है, नूतन पद्धति प्रदान करता है। अनुभूति के नये तरीकों का तात्पर्य है नये प्रतीको, रूपकों, समकालीन लोकोक्तियों, भाषा-संरचना तथा रूपान्तरो का बोध और प्रयोग। इसमें पुराने प्रतीकों या रूपकों के नवीन प्रकार से प्रयोग की प्रविधि भी सम्मिलित है। पर पुराने प्रतीकों के नवीन प्रयोग के सम्बन्ध में कवि को विशेष सजग-सचेष्ट रहना होता है। आधुनिकता की चिनगारी पर छाई हुई परम्परित राख कहीं उस चिनगारी की जीवन्त दाहकता को ही न समाप्त करदे। शैली की आधुनिकता अपने आप में बड़ी मूल्यवान वस्तु है। अनुभूति के आधुनिक प्रभावों के लिए यही उत्तरदायी होती है। शैली की आधुनिकता में आधुनिक मानव का व्यक्तित्व झलकता रहता है। नवीन भाषा और शैली का प्रयोग अपने परिवेश के प्रति उसकी नवीन प्रतिक्रिया को ही द्योतित करता है।

निष्कर्ष—

आधुनिकता का सम्बन्ध दृष्टिकोण और विचार-धारा से भी है। दृष्टिकोण कवि के अन्तर्प्रकाश से सम्बद्ध है। यह प्रकाश अनुभवों पर जमी हुई युगों की काई का भेदन करके उनको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। हमारे विचार करने के पुराने

१. साहित्यालोक, वर्ष १, अङ्क २, सम्पादकीय।

अभ्यास वस्तु के आन्तरिक और अनजान तथ्यों के उद्‌घाटन में बाधक बनते हैं। उन अभ्यासों के जड़ीभूत बन्धन से ग्राहक की दृष्टि को मुक्त करके साहित्यकार अनुभवों की नवीन आकृतियों और नवीन स्फूर्तियों से उसका सम्पर्क स्थापित कराता है। वस्तु का यही नूतन स्वरूप है। नवीन आकृतियाँ नवीन अनुभवों और अनुभूतियों को जन्म देती है। इस दृष्टि से एक कुशल कवि सदैव ही आधुनिक है।

आधुनिकता में अन्धता किसी भी दशा में नहीं होनी चाहिए। आधुनिकता की झोंक में हम हर चीज़ का अन्धाधुन्ध अनुकरण न करने लगें। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य को देखा जा सकता है। यह सच है कि मध्यकालीन स्वर्ण-शृङ्खलाओं से भारतीय साहित्य को योरुपीय साहित्य और संस्कृति के आधुनिक उन्मेषों ने मुक्त किया। योरुप ने विज्ञान की नवीन शक्तियों का आविष्कार किया। पर शक्ति के प्रयोग की दिशा अन्धी ही रही। उषा की मुस्कानों का वरदान उसे नहीं मिल सका। आधुनिक योरुप का मन और मस्तिष्क स्वस्थ नहीं कहे जा सकते। औद्योगिक क्रान्ति ने जिन आर्थिक और वर्गीय-समस्याओं को जन्म दिया था, वे अभी तक सुलझाई नहीं जा सकी हैं। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की जटिलता बढ़ती ही जाती है। इस परिस्थिति में मध्यवर्गी बुद्धिजीवी एक घुटनभरी पराजय का अनुभव कर रहा है। इसी के परिणाम स्वरूप वहाँ का साहित्यिक जीवन के स्वस्थ रूप को नहीं दे पा रहा है। वहाँ शैली का उच्छृङ्खल बिखराव भावी स्वप्नों को व्यवस्थित नहीं होने देता। दृष्टिकोण में पराजय का दूषित एवं निर्मम घोष भरा है जो मनोविश्लेषण की पूरी-अधूरी साहित्यिक परिणतियों के परिणाम स्वरूप अवचेतन कला और शिल्प में एक विवशता और विशृङ्खलता को उत्पन्न कर रहा है। इस प्रकार आधुनिक योरुपीय साहित्य में रुग्ण, कुण्ठा-ग्रस्त और पराजित मन का ही प्रतिबिम्ब मिल रहा है। जीवन के मूल्यों के अभाव में वहाँ का लेखक कला-शिल्प के नवीन प्रयोगों की खोज में अपनी प्रातिभ-साधना की इयत्ता समझ रहा है। जीवन के मूल्यों में न उसकी आस्था है और न विश्वास ही। पश्चिम से हमने प्रेरणा ग्रहण की; हमने उसके प्रभाव को वरदान माना; साहित्य उस प्रभाव से 'आधुनिक' भी बना। पर, हमें अपने भारतीय जीवन के नवीन उन्मेषों को भी नहीं भुला देना है। उसके आज के जागृत और विकासशील जीवन से प्रेरणा और प्राण ग्रहण करने हैं। आज आधुनिकता की परिभाषा में योरुपीय साहित्य का अन्धानुकरण ही नहीं आयगा। भारतीय जीवन की आधुनिक गतिविधि को आधुनिक साहित्य अपने में उतारेगा। इस प्रकार भारतीय साहित्य सच्चे अर्थ में आधुनिक साहित्य बन पायेगा। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में स्थिति यह होगी : "आधुनिकता हमारे लिए पश्चिम के किसी पुराने और जूठे फैशन की नकल नहीं होगी। हमारे साहित्य की आधुनिकता हमारे जीवन के स्रोत से प्रभावित होगी। आज अवसाद और उदासी के कुछ विलीन होते पलों को छोड़ कर भारतीय जीवन में कुण्ठा, पराजयवाद और विफलता की भावना के कोई कारण हम नहीं देखते।"

इस प्रकार जब आधुनिकता और नवीनता के लिए पुकार उठती है, तब हमें

सावधान होकर यह देख लेना पड़ेगा कि आधुनिकता के नाम पर कहीं मृत-तत्त्व, रुग्ण-मनोवृत्तियाँ, या शिल्पगत-उच्छृङ्खलाएँ तो नहीं आ रहीं और वस्तुतः आधुनिक जीवन का चित्रण भावी संकेतों के साथ हो रहा है या नहीं ? आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि शिल्प-का जञ्जाल इतना नहीं बढ़ जाय कि पाश्चात्य प्रभाव से तथा नागरिक सभ्यता से दूर ग्रामों में निवसित जनता उसकी छवियों से और प्रेरणाओं से वञ्चित रह जाय। इसके लिए वस्तु और शिल्प दोनों में ही एक क्रान्ति चाहिए। यही आधुनिकता की सार्थकता होगी। इसकी सफलता के लिए हमें पुनः युगानुमोदित चिरन्तन स्थायी सत्यों की ओर दृष्टिपात करना होगा।

११

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के तीन युग
२. प्राचीन विचारक—प्लेटो, अरस्तू
३. अरस्तू का अनुकृति-सिद्धान्त, लोंजाइनस का उदात्त-तत्त्व सिद्धान्त तथा होरेस का औचित्य-सिद्धान्त एवं अन्य आचार्य
४. मध्य काल तथा दान्ते, कामदी एवं त्रासदी की मान्यताएँ
५. आधुनिक काल—ड्राइडन, सिडनी, पोप, जॉनसन, लेसिंग, शिलर तथा गेटे के विचारों का विश्लेषण
६. स्वच्छन्दतावाद, रोमान्टिज्म तथा आभिजात्य साहित्य, अभिव्यञ्जनावाद तथा प्रतीकवाद का स्वरूप
७. क्रोचे के विचार तथा अन्य आलोचक
८. निष्कर्ष

प्रस्तावना—भारतीय काव्यशास्त्र की भाँति पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरम्भ भी ईसा से कई शताब्दी पूर्व हुआ था। पर प्राचीन युग और मध्यकाल में भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा जितनी समृद्ध और गतिशील रही, उतनी पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा नहीं। पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक युग में साहित्य-चिन्तन को अवश्य ही नवीन वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रदान की हैं, जिन्होंने समस्त विश्व की

समीक्षा और संरचना को प्रभावित भी किया है। समाज-विज्ञान की अनेक शाखाओं ने साहित्य-चिन्तन को विस्तृति और गरिमा दी है। यहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विकास-क्रम अभिप्रेत है।

इस समस्त विकास-क्रम को तीन युगों में विभाजित करके देखना सुविधा-जनक होगा :

१—प्राचीनकाल : ई० पूर्व ५वीं शती से ई० ४वीं शती तक
२—मध्यकाल : ई० ५वीं शती से १५वीं शती तक
३—आधुनिक काल : १६वीं शती से अब तक

१. प्राचीन काल—

पाश्चात्य जगत में प्राचीन काल का चिन्तन और सांस्कृतिक उत्थान ग्रीस और रोम में विशेष रूप से केन्द्रित रहा। इस काल के विचारकों का सम्बन्ध भी विशेष रूप से ग्रीस और रोम से रहा। इस युग के प्रमुख काव्य शास्त्रीय विचारकों में : प्लेटो (४२७ ई० पू० से ३४७ ई० पू०), अरस्तू (३८४ ई० पू० से ३२२ ई० पू०) लोंजाइन्स (पहली शती), होरेस (६५ ई० पू० से ८ ई० पू०), सिसरो (१०६ से ४३ ई०), क्विटिलियन (४० से ११८ ई०) एवं डिमैट्रियस (प्रथम शती) इनमें कुछ ने साहित्य पर मुख्य रूप से विचार किया और कुछ ने प्रासङ्गिक रूप से।

१. [अ] प्लेटो : प्रथम उन्मेष—

प्लेटो ने मुख्यतः राजनैतिक सिद्धान्तों का विश्लेषण किया। इनके विचार इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'Republic' (गणतंत्र) में समाविष्ट हैं। प्रासङ्गिक रूप से ही इन्होंने काव्य-साहित्य पर भी कुछ कहा है। काव्य के सम्बन्ध में उन्होंने उदारता भी प्रकट नहीं की। उनकी दृष्टि में काव्य सत्य से दुगुनी दूर है क्योंकि वह "मिथ्या संसार की मिथ्या अनुकृति है। साथ ही उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए भी काव्य को अनावश्यक ही नहीं हेय भी बतलाया है। इसका कारण यह है कि काव्य मनुष्य की भावनाओं को उद्वेलित कर देता है। उद्वेलित भावनाओं वाला व्यक्ति चरित्र और आचार के आदर्श से गिर जाता है। आदर्श राज्य-व्यवस्था में, इसीलिए काव्य को कोई भी स्थान नहीं है। प्लेटो सम्भवतः भावनाओं के उद्वेलन को मनुष्य की दुर्बलता का कारण मानता था। प्लेटो के अनुसार "...हमारे लिये यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशासित रखनां है, उसमें कवि का प्रवेश निषिद्ध करदें क्योंकि वह आत्मा के इस (दुर्बल) अंश को जाग्रत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक-अंश का क्षय करात है।"[1]

प्लेटो ने काव्य का विरोध तो किया, पर इस विरोध में दो सिद्धान्त-बीज दिए। उन्होंने कहा काव्य प्रकृति की अनुकृति है और काव्य हमारी भावनाओं का

१. डा० नगेन्द्र : पाश्चात्य काव्यशास्त्र को परम्परा, पृ० २०

उद्वेलन करता है। इन दोनों ही आधारों पर प्लेटो ने काव्य का विरोध किया और इन्हीं आधारों पर आगे के विचारकों ने काव्य शास्त्रीय-चिन्तन को प्रौढ़ता प्रदान की। भावात्मक जागरण मनुष्य के विवेक को क्षुब्ध और ज्ञान को कुण्ठित कर देता है—इसलिए प्लेटो की दृष्टि में काव्य हेय है।

१. [आ] अरस्तू : अनुकृति-सिद्धान्त : विरेचन-सिद्धान्त–

अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरू की दोनों मान्यताओं को स्वीकार कर तो लिया, पर इन के आधार पर कविता का विरोध नहीं किया। उनकी दृष्टि से कविता का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो की मान्यताओं को अरस्तू ने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा प्रदान की। इन दो मान्यताओं पर दो सिद्धान्त खड़े हुए : अनुकृति-सिद्धान्त और विरेचन-सिद्धान्त।

[आ]१. अनुकृति सिद्धान्त—

प्लेटो के अनुसार अनुकृति-जन्य आनन्द मिथ्या पर आधारित है। अरस्तू ने इसे "ज्ञानार्जन से प्राप्त आनन्द" माना। उनके मत की संक्षिप्ति इस प्रकार है : "जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत् अनुकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से प्राप्त आनन्द अत्यन्त प्रबल होता है। केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी—जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता भी अपेक्षाकृत सीमित होती है। अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे, यह तो अमुक है'—क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य नहीं हो सकेगा। वह अङ्कन, वर्ण-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"[1] इस प्रकार अरस्तू ने काव्य-जन्य आनन्द को मिथ्या आनन्द नहीं कहा—जैसा कि प्लेटो ने कहा था। उस आनन्द को अरस्तू ने एक उदात्त स्थिति प्रदान की।

अरस्तू ने सर्व प्रथम अनुकृति-सिद्धान्त का विश्लेषण किया और इस सिद्धान्त को साहित्य में एक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित भी किया। उनकी दृष्टि से महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, रौद्र-स्तोत्र आदि सभी साहित्य रूपों में अनुकरण के ही विभिन्न प्रकार रहते हैं।[2] कवि छन्दोबद्ध रचना के कारण कवि नहीं है, अनुकृति के आधार पर ही कवि रूप में उसकी स्थिति स्वीकरणीय है।[3] अरस्तू के अनुसार कविता का सृजन ही नहीं, उसका आस्वादन भी अनुकृति की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही होता है। अनुकृति को इस प्रकार अरस्तू ने काव्य में केन्द्रीय या आत्म-स्थानीय स्थिति प्रदान की।

---

१. डा० नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २७
२. Poetics 1, 1.
३. वही १, २

'अनुकृति' की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। बूचर महोदय के अनुसार, अनुकृति का अर्थ है 'सादृश्य-विधान' या 'पुनरुत्पादन।'[१] पाट्स महोदय ने इसे यों समझा—"ऐसे प्रभाव का उत्पादन जो कि प्रकृत या मूल रूप के प्रभाव जैसा हो"[२] अनुकृति कहलाता है। एकक्रिन्स के अनुसार अनुकृति 'पुनर्सृजन' है और स्काट जेम्स के अनुसार 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' है। डा० नगेन्द्र के अनुसार अनुकृति है="भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनः सृजन।"[३] यह अर्थ दृश्य-काव्य से ही विशेष सम्बद्ध है। काव्य के प्रसङ्ग में इसका वाच्यार्थ ठीक नहीं बैठता। श्रव्य-काव्य के सम्बन्ध में इसका अर्थ 'अनुरूप वर्णन' लिया जा सकता है।

अरस्तू ने अनुकृति-सिद्धान्त की स्थापना करके प्लेटो के आक्षेप का निराकरण कर दिया। पर उनके मत में भी कई असङ्गतियाँ आ गईं। उन्होंने कला के आनन्द को ज्ञानार्जन-जन्य माना है। साथ ही उन्होंने यह भी स्थापना की है कि इस आनन्द की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि काव्य या कला में प्रस्तुत वस्तु को पहले देखा हो। पर देखी हुई वस्तु का फिर से देखना ज्ञानार्जन नहीं प्रत्यभिज्ञा मात्र है। साथ ही ज्ञानार्जन से आनन्द की प्राप्ति की बात कुछ अटपटी सी लगती है। ज्ञान देने वाले शास्त्रों से प्रायः आनन्द नहीं, ज्ञान ही मिलता है। जो सन्तोष शास्त्राध्ययन से प्राप्त होता है, वह निश्चित ही काव्यानन्द से भिन्न होता है।

प्लेटो के दूसरे आक्षेप का निराकरण करते हुए अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त की स्थापना की। विरेचन-सिद्धान्त के अनुसार त्रासदी का महत्त्व प्रत्येक साहित्य-रूप से अधिक है। त्रासदी का निरूपण अरस्तू ने इस प्रकार किया है: "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है...... जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।[४] विरेचन-सिद्धान्त की महत्ता और उपयोगिता व्यक्ति तक सीमित नहीं है। उसका सम्बन्ध सामाजिक जीवन के परिष्कार से है। सङ्गीतकला का विवेचन करते हुए अरस्तू ने लिखा है: 'करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति—इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी, अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः वही अनुभव करते हैं। जो इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक-राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"[५] इस प्रकार प्लेटो के विपरीत अरस्तू ने दूषित भावों के विरेचन के द्वारा समाज को शुद्ध करने वाली संस्था के रूप में काव्य को स्वीकार किया। अरस्तू ने एक और बात कही है। भय का अतिरेक मनुष्य को कायर बना देता है और दया के अतिरेक से वह दृढ़ कर्तव्य-निश्चय से च्युत हो जाता

१. डा० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्य-शास्त्र
२. ,, ,,
३. ,, ,,
४. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृ० ८७
५. डा० नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० ४८

हैं। इसीलिए इनका विरेचन आवश्यक है। दुखान्त-दर्शन से दया और करुणा के भाव उद्दीप्त होते हैं। पर उनके अतिरेक के निवारणार्थ उनका पुनर्स्थापन भी होना चाहिए।

अरस्तू के इस सिद्धान्त के विषय में आगे के विचारकों में पर्याप्त मतभेद रहा। प्रश्न है कि त्रासदी से उत्पन्न कथार्सिस (Catharsis) अभिनेता के मन में होता है या पाठक के मन में ? गेटे ने इसकी स्थिति यदि अभिनेता में मानी है तो 'लेसिंग' ने पाठक-दर्शक में। मिल्टन के अनुसार विरेचन का अर्थ भावनाओं की योग्य मर्यादा पर सन्तुलन का निर्माण है। पर विरेचन-सिद्धान्त की एक अपूर्णता है : यह कामदी के प्रभाव पर विचार नहीं करता। यदि त्रासदी से दूषित भावों का विरेचन होता है तो क्या कामदी से नैतिक हानि होती है ? इस प्रश्न पर अरस्तू ने विचार नहीं किया। वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात अभिनव गुप्त ने भी कही है। पर, उनका विचार-मात्र त्रासदी पर आधारित नहीं है। आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार भय से हम भागते हैं। करुणा हमें खींचती है। इन दोनों के तनाव का सन्तुलन ही विरेचन का आनन्द देता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अरस्तू का काव्य-सिद्धान्त अत्यन्त प्रौढ़ है। उन्होंने जिन सिद्धान्तों पर विचार किया है, उन पर स्पष्टता के साथ, वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया है। इस दृष्टि से अरस्तू को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का आद्याचार्य माना जा सकता है।

१. इ. लोंजाइनस (Longinus) : उदात्त तत्त्व सिद्धान्त—

इनके ग्रन्थ का नाम है—'ऑन द सबलाइम।' इनके अनुसार उदात्त-तत्त्व ही काव्य की आत्मा है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है : "सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना है वह स्वयं अपनी ही कृति हो।"[१] इनके अनुसार काव्यानन्द का आस्वादन औदात्य पर ही निर्भर है। औदात्य के पाँच स्रोतों की चर्चा लोंजाइनस ने की है : (i) विचारों का उदात्त स्वरूप, (ii) भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन, (iii) अलङ्कारों की समुचित योजना, (iv) उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और (v) गरिमामय रचना-विधान। कहने की आवश्यकता नहीं कि लोंजाइनस ने काव्य के अनुभूतिपक्ष, कलापक्ष और संग्रहणपक्ष—तीनों को ही अपने सिद्धान्त में समेटा है। कवि के व्यक्तित्व की महत्ता उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार इस आचार्य ने व्यक्तित्व को केन्द्र माना और कृति का उससे अविच्छिन्न सम्बन्ध घोषित किया। उदात्त तत्त्व की प्रतिष्ठा धर्म, दर्शन या नीति-शास्त्र के क्षेत्र में तो थी ही : लोंजाइनस ने उसको काव्य या कला के मूल्याङ्कन में व्यवहृत किया। इस तत्त्व के आधार पर ही कवि या कलाकार

१. डा० नगेन्द्र, काव्य में उदात्ततत्त्व, पृ० ५२

स्थायी कीर्ति और अमरत्त्व के भागी होते हैं।[1] काव्य के सभी तत्त्वों और अङ्गों की उचित योजना से इसी तत्त्व का पोषण होता है। इस औदात्य के तत्त्व के अभाव में काव्यास्वादन सम्भव ही नहीं है।

लोंजाइनस के सिद्धान्त की लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि इनके अनन्तर काण्ट, हेगेल, ब्रेडले, सैंतायन जैसे विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस तत्त्व की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। सभी ने इस तत्त्व की महत्ता को भी स्वीकार किया है। शब्द-कोश की दृष्टि से उदात्त का अर्थ है उन्नत–श्रेष्ठ–महान्। काण्ट ने भी इसी अर्थ को ग्रहण किया है। उसने अतुलनीय महत्ता की बात कही है। हीगल ने इसका सम्बन्ध अलौकिक सत्ता के साथ स्थापित किया है। बर्क के अनुसार जो करुण से मिश्रित भय की भावना को उद्दीप्त करे वही उदात्त है। इस मत में करुण के द्वारा सामाजिक कल्याण और भय के द्वारा अलौकिक और नैतिक की ओर संकेत है। जार्ज सैंतायन ने उदात्त की अनुभूति के लिए त्रास या आतङ्क को आवश्यक माना है। इसमें एक प्रकार से करुण मिश्रित भय का समावेश हो जाता है। सैंतायन ने आगे एक महत्त्व की बात कही : स्वयं आतङ्क या त्रास उदात्त नहीं है। काव्यगत त्रास की प्रतिक्रिया में हमारा हृदय एक चेतन उद्बोधन का अनुभव करता है। साथ ही निर्वेद की अनु-भूति भी सञ्चरित होती है। यह निर्वेद की अनुभूति उदात्त की अनुभूति है। त्रास का चित्रण मात्र उदात्त नहीं कहा जा सकता। उदात्त का सम्बन्ध उन्होंने इन्द्रियगोचर आलम्बन से न जोड़ कर कार्य से भी जोड़ा है : इसी को शुक्लजी ने कर्म-सौन्दर्य कहा है। उदात का संकेत निवृति की ओर होता है प्रवृत्ति की ओर नहीं। साथ ही यह उदात्त-भावना हमें निर्वैयक्तिकता भी प्रदान करती है। भारतीय रस-सिद्धान्त का शान्तरस इसके निकट आता है। अभिनव गुप्त ने शान्तरस को मूलरस घोषित किया था। इस प्रकार लोंजाइनस का सिद्धान्त वैज्ञानिक व्याख्याओं से मिलकर एक सुदृढ़ सिद्धान्त बन गया। इसमें विचार, आत्मा और भाषा की श्रेष्ठता भी समाविष्ट हो गई और एक व्यापक सिद्धान्त बन गया।

१ ई. होरेस : औचित्य—

रोम भी उस समय संस्कृति का एक केन्द्र था। रोमन आचार्यों में होरेस का स्थान महत्त्वपूर्ण है। साहित्य के विभिन्न पक्षों पर इन्होंने प्रकाश डाला है। साथ ही औचित्य की स्थापना भी बड़ी दृढ़ता के साथ की है। उनके अनुसार प्रत्येक कृति परि-स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। "यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं तो सम्पूर्ण रोमवासी, उच्चवर्ग के हों या निम्न वर्ग के, उस पर जी खोल कर हँसेंगे।"[2] इस प्रकार साहित्य को समाज-सापेक्ष-औचित्य की दृष्टि से होरेस ने देखा।

---

१. "......It is by this (Sublime) and this only, that the greatest poets and prose—writers have gained eminence and won themselves a lasting place in the temple of fame." On the Sublime, 1. P, 272

२. डा० नगेन्द्र, काव्यकला, पृ० ६

इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य के सभी अङ्गों में उचित अन्वय होना चाहिए। विषय का प्रतिपादन उचित सङ्गति के द्वारा होना चाहिए।[१] साहित्यकार में उचित-अनुचित की विवेक शक्ति होनी चाहिए। यही सजग विवेक-शक्ति उत्कृष्ट-साहित्य-सर्जन के मूल में रहती है।[२]

भारतीय आचार्यों में क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना की थी। यह सिद्धान्त होरेस के मत से प्रायः मिलता-जुलता है। पर क्षेमेन्द्र ने अधिक दृढ़ता से अपने मत की स्थापना की थी। उन्होंने औचित्य को काव्य का जीवन माना है। प्रत्येक वस्तु का उचित रूप में वर्णन ही औचित्य है। औचित्य के अभाव में सुन्दर की भी कल्पना नहीं की जा सकती। होरेस का औचित्य सिद्धान्त भी लचीला बन गया। अन्त में इसी औचित्य को उन्होंने सौन्दर्य अथवा आकर्षण का पर्याय मान लिया है।

१. उ. प्राचीन युग के अन्य आचार्य—

ऊपर जिन आचार्यों का उल्लेख हुआ है, उनके संक्षिप्त परिचय से यह ज्ञात होता है कि प्रायः सभी आदर्शवादी दृष्टिकोण रखते थे। वे विचार या अनुभूति पक्ष को या तो सामाजिक कल्याण की दृष्टि से देखते थे या व्यक्तित्व की उदात्तता के प्रकाश में। सामान्य रूप से काव्य के बाह्याङ्ग पर भी विचार हुआ तथा औचित्य सिद्धान्त ने काव्य के सभी अङ्गों के उचित नियोजन की भी बात कही। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस जैसे आचार्यों ने काव्य के शैली-पक्ष अथवा कलापक्ष पर अधिक बल दिया। इन्होंने अलङ्कार, गुण, दोष आदि की विस्तृत विवेचना की है। क्विण्टिलियन और डिमैट्रियस ने अलङ्कार-विवेचन बहुत ही सूक्ष्मता और पूर्णता के साथ किया है। इनका यह विश्लेषण भारतीय आचार्यों के विवेचन से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्राचीन युग में कवि के व्यक्तित्व, उसकी सर्जन-प्रक्रिया, आस्वादन-प्रक्रिया, अनुभूतिपक्ष, विचारपक्ष और शैलीपक्ष सभी पर विचार किया गया। इनके सम्बन्ध में नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए। फिर भी परिमाण की दृष्टि से प्राचीनकाल में भारतीय काव्य-शात्र का जो विशद् रूप मिलता है, पाश्चात्य काव्य-शात्र की गति वहाँ तक नहीं हो सकी।

२. मध्य काल—

पाश्चात्य क्षेत्र में मध्यकाल बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से अन्धकार युग कहा जा सकता है। डा० केसरी नारायण शुक्ल ने इस युग की परिस्थितियों का विवरण इस प्रकार दिया है : "ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के बाद व्यापक अराजकता का समय आया। इस बीच रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो टुकड़ों में टूट गया।...... इस उथल-पुथल के फलस्वरूप रोम का महत्त्व लुप्त हो गया और पश्चिमी योरुप पर पाँचवीं शताब्दी के बाद अन्धकार का अभेद्य पर्दा पड़ गया जिसके साथ राजनीतिक

---

१. होरेस : काव्यकला, (हिन्दी अनु०) पृ० १

२. " पृ० २६

अस्त-व्यस्तता और मानसिक पक्षपात का आगमन हुआ। और विद्या का ह्रास होता चला गया, प्राचीन ग्रंथ लुप्त हो गए और रोमन शैक्षिक-विधान का, जिसने कि पश्चिम में प्राचीन अध्ययन के क्रम को बनाए रखा था, सहसा अन्त हो गया। ज्ञानार्जन की पूर्व-परम्पराएँ प्रायः नष्ट हो गईं और बौद्धिक कार्यकलाप से लोगों के मन विरत हो गए।"[1]

इस अन्धकार युग में एक ही प्रकाश-बिन्दु दर्शनीय है—दान्ते। दान्ते ने अपने 'डिवाइन कामेडी' ग्रन्थ में अन्योक्ति पद्धति की स्थापना की। इसके साथ ही काव्य के अन्य पक्षों पर भी गम्भीर विचार किया। उनकी सबसे बड़ी देन उनका यह कथन माना जा सकता है कि "परम्परागत, शास्त्रीय-भाषा के स्थान पर काव्य में प्रचलित, जीवित भाषा का प्रयोग होना चाहिए।" हिन्दी के मध्यकालीन कवियों ने भी इसी प्रकार के स्वरों से प्रभावित होकर संस्कृत के स्थान पर 'भाषा' को प्रतिष्ठित करना चाहा था। जनभाषा का समर्थन उनके नवीन दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। जहाँ तक काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, उन्होंने तीन व्यापक वर्गों में काव्य के विषय को बाँटा : युद्ध, प्रेम और नैतिक सौन्दर्य। काव्य की शैली के सम्बन्ध में भी उन्होंने गम्भीर विचार किया और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। पर मध्यकाल में किसी बहुत बड़े साहित्य-सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ।

३. आधुनिक काल—

आधुनिक युग का आरम्भ सर फिलिप सिडनी से माना जा सकता है। इन्होंने काव्य को कई आक्षेपों से बचाने की चेष्टा की। कविता के विषय में यह विचार चल पड़ा था कि कविता से अनाचार और अनैतिकता का विस्तार होता है। कथित सुधारवादियों के इस आक्षेप का उन्होंने दृढ़ता से उत्तर दिया। प्लेटो के आक्षेप के सम्बन्ध में इन्होंने कहा कि उनका आक्षेप केवल अनैतिक साहित्य पर है। साथ ही उन्होंने काव्य की सामाजिक उपयोगिता की भी स्थापना की जिससे मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत बनता है। यह १६ वीं शती की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि लेखक है।

सत्रहवीं शती में ड्राइडन का व्यक्तित्व सबसे आकर्षक है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में कई सिद्धान्त स्थापित किए। कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं : कवि का कार्य जीवन को उसके स्वाभाविक रूप में ही चित्रित करना है। उसका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना होना चाहिए, शिक्षा देना नहीं। कवि-कर्म में कल्पना का महत्त्व भी इन्होंने आँका। परन्तु अरस्तू के सङ्कलन-त्रय के निर्वाह को आवश्यक नहीं माना। इस प्रकार ड्राइडन ने अनेक पुरानी मान्यताओं को अमान्य ठहराया और काव्य के सम्बन्ध में स्वस्थ सिद्धान्तों की घोषणा की।

अठारहवीं शती में पोप, जान्सन, लेसिंग, शिलर और गेटे जैसे विचारक हुए। पोप ने पुराने सिद्धांन्तों के प्रति पूर्ण असहिष्णुता तो व्यक्त नहीं की, फिर भी अपना नवीन दृष्टिकोण उन्होंने स्थापित किया। कविता में सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन्होंने

१. पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त, पृ० ११६-११७

लिखा : "प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है। उसके पृथक्-पृथक् अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते—सौन्दर्य उन सब की सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।"[१] पोप के अनुसार काव्यानन्द का आधार भाव-व्यञ्जना ही है। "...ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा; जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन हैं : जो एक ही रीति से मन्द-मन्द प्रवाहित होती हैं; जो दोषों में बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाये रहती है—हम उन पर दोष भले न लगायें, परन्तु (उससे ऊब कर) सो तो सकते हैं।"[२] सहजता की बात कहते हुए भी पोप ने काव्याभ्यास का समर्थन किया। पोप की दृष्टि कुल मिला कर समन्वयवादी कही जा सकती है।

डा० जान्सन का व्यक्तित्व बड़ा सशक्त था। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों की नई तर्कसम्मत व्याख्या की। उनके अनुसार साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव का उद्घाटन होता है तो दर्शक और पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं।[३] उन्होंने काव्य के उद्देश्य में आनन्द और शिक्षा दोनों को रखा। प्राचीन और नवीन में भी उन्होंने समन्वय किया। उनके मत का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है : "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है। इन दोनों का भेद उसे हृदयङ्गम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आये हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो।"[४] साथ ही जॉनसन ने त्रासदी-कामदी के सम्बन्ध में प्रचलित मतों का भी खण्डन किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक सर्जक भी थे। लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये। गेटे ने काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया और काव्य-रूपों का वर्गीकरण किया। गेटे ने क्लासिकल साहित्य का समर्थन किया। उसे उन्होंने स्वस्थ और आनन्ददायी माना। उनकी दृष्टि में रोमांटिक काव्य रुग्ण, दुर्बल और विकृत है। उनके अनुसार परम्परागत या ऐतिहासिक विषय वस्तु ही अधिक उपयुक्त होती है। कल्पित सामग्री उतनी उपयुक्त नहीं रहती। "उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढङ्ग से निष्पन्न हो जाता है। तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० १०२
२. ,,
३. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के सिद्धान्त, पृ० [illegible]
४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० १९८-१९९

MEMORIAL LIBRARY

प्राण-सञ्चार करना होता है।... वस्तुतः मैं तो उन्हीं विषयों के चयन का परामर्श दूंगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो। ... हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्मतत्त्व महत्त्वपूर्ण नहीं होता।"[1]

शिलर ने सौन्दर्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या की। इस युग के अन्य लेखकों की भाँति इन्होंने भी प्राचीन और नवीन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया। उन्होंने दोनों युगों की परिस्थितियों की तुलना करते हुए लिखा है : "प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी। उनके समय में सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह अतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुँची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद आवश्यक हो जाता। उनके सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ढाँचा किसी कृत्रिम अवधारणा में विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति में विश्रान्ति पाता था। ....अतः यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव होता था जिसके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सकें। ... लेकिन हम अपने आप में सामञ्जस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किए हैं, उनसे हम असन्तुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के अतिरिक्त कोई रुचि उसके प्रति नहीं रख पाते—हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते है।"[2] इस प्रकार जर्मन विचारकों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं पर परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया।

१९वीं शती से पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में बौद्धिकता का विशेष रूप से आगमन हुआ। मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व और सम्बन्धों पर नया विश्लेषण आरम्भ हुआ। साहित्य में विविध वादों का प्रवर्तन १९वीं और २०वीं शती में मिलता है। इन वादों पर संक्षेप में विचार किया जा सकता है। १९वीं शती में स्वच्छन्दतावाद का बोलबाला रहा। बीसवीं शती में कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणवाद, प्रगतिवाद, आदि का जन्म हुआ। इन वादों ने साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार किया। फलतः अनेक भ्रान्तियों ने भी जन्म लिया और समीक्षा के क्षेत्र में एक सीमा तक अराजकता सी भी आगई। इस काल में मूल्यों की संक्रान्ति तो मिलती है, पर उनकी पूर्ण स्थापना का अभाव है। इन शताब्दियों के कुछ प्रमुखवाद संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

३. (अ) स्वच्छन्दतावाद : स्वैरवाद—

अंग्रेजी के (Romanticism) रोमान्टिसिज्म शब्द के लिए हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद प्रयुक्त होता है। पर कुछ लोग यह कहते हैं कि यह शब्द रोमैंटिसिज्म की समस्त प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ प्रकट करने में समर्थ नहीं है। अतः रोमांटिक शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।

---

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १२६
२. ,, पृ० १३५-१३६

वस्तुतः रोमान्टिसिज्म एक विशेष प्रवृत्ति है। प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी रूप में यह प्रवृत्ति मिलती है। इसकी चर्चा ने योरुप में विशिष्ट रूप धारण किया। वहाँ इससे द्योतित कविता का युग सन् १७९८ से १८३२ तक माना जाता है। इस वाद का जन्म आभिजात्य साहित्य के विरोध में हुआ। इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन और काउपर है। इस वाद का सम्बन्ध फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से भी जोड़ा जाता है। इसके प्रवर्त्तक के रूप में रूसो की प्रसिद्धि है। इस प्रवृत्ति ने योरुप के सामान्य जीवन को बहुत प्रभावित किया।

आभिजात्य का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ—अद्वितीय—गम्भीरतम। सामन्तवादी व्यवस्था में अभिजात वर्ग समाज का कुलीन और उच्चतम वर्ग माना जाता है। इस वर्ग में प्रायः धनिक या राजपरिवार ही आते हैं। सर्वप्रथम ईसा की दूसरी शती में लातीनी वैयाकरण औलस जेलियस ने 'अभिजात' शब्द का प्रयोग महत्त्व-पूर्ण और उत्कृष्ट लेखक के लिए किया था। रूढ़ रूप में इस शब्द का प्रयोग यूनान और रोम के साहित्य के लिए होता था। इस वर्ग के विचारकों की एक धारणा बद्धमूल है: जो साहित्य-सृष्टि देश-काल की सीमाओं से मुक्त मानव-मन की शाश्वत संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करती है, वही आभिजात्य या क्लासिकल होती है। सामान्यतः इसी धारणा का विरोध रूसो ने किया और एक विशाल क्रान्ति की भूमिका उपस्थित हुई। रोमान्टिसिज्म भी प्रायः इसी आभिजात्यवाद की प्रतिक्रिया में आया।

रोमान्टिक विचारकों ने साहित्य के क्षेत्र में रूढ़िवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध किया। नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा हुई। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है: "रोमैंटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से सश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार निविड़ आवेग और कल्पना का अविरल प्रवाह दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।" लेग्वी और कजामिया की परिभाषा का सार यह है: "स्वच्छन्दतावादी काव्य वह काव्य है जिसमें उस भावुकतामय जीवन की प्रधानता हो जो कल्पना की दृष्टि से उद्दीप्त अथवा निर्दिष्ट हुआ हो और जिसमें स्वयं कवि की आत्मा इस कल्पना-दृष्टि को सशक्त बनाती एवं निर्देश करती रहती हो।" यह प्रवृत्ति साहित्यिक-उदारवाद से सम्बद्ध है। इस प्रवृत्ति की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं: आध्या-त्मिक स्तर का गहरा प्रकृति-प्रेम, उदात्त और व्यापक मानवतावाद में विश्वास, तथा मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की प्रणाली।

इस युग के कवियों ने भी काव्य पर विचार किया। वर्ड्सवर्थ ने सामान्य भाषा को काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत किया। सामान्य और साहित्यिक भाषा का अन्तर करना अस्वाभाविक और अहितकर है। इनके अनुसार काव्य अभ्यास और

कौशल से जन्म नहीं लेता । यह तो जीवन के शान्त क्षणों का सहज भावोद्रेक है। कवि पर शिक्षा, नैतिकता आदि का दायित्व लादना अस्वाभाविक और अनुचित है। काव्य का मूल लक्ष्य आनन्द है। कालिरिज ने कहा कि काव्य का विरोध गद्य से नहीं, विज्ञान से है। प्रायः सबने अनुकृति-सिद्धान्त पर भी कुठाराघात किया और कल्पना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। कल्पना-जन्य होने के कारण काव्य एक नूतन सृष्टि है। इस प्रकार परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन, संशोधन या उनका खण्डन करके इस आन्दोलन ने सच्चे अर्थों में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे आलोचक दिखलाई देते हैं, जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना चाहा। साथ ही इन्होने स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता और आनन्दवादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। इन समीक्षकों में मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन और टॉल्स्टॉय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए जीवन के उच्चादर्शों और मूल्यों की स्थापना पर बल दिया। जीवन की सहवर्ती धारा के रूप में ही इन्होने साहित्य को स्वीकार किया। आर्नल्ड के विचारों की एक झाँकी इन शब्दों में की जा सकती है : "समस्त राष्ट्रों में सदा-सर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं ? कार्य व्यापार, मानव के कार्य व्यापार। उनमें एक निहित रोचकता होती है।......यदि कवि समझता है कि सब कुछ उसी की शक्ति में है, वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट कार्य-व्यापार को उत्कृष्ट कार्य व्यापार के समान आनन्ददायक बना सकता है, तो उसका यह विचार मिथ्या है। असङ्गत है......अतः सर्व प्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य व्यापार कौन से होते है ? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होते हैं। ये भाव स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं और इनके अनुरञ्जन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील ही होते हैं।"[1] इसी प्रकार रस्किन और टॉल्स्टॉय ने भी कला और साहित्य को जीवन के आदर्शों और मूल्यों के सन्दर्भ में देखा। रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। टॉल्स्टॉय ने कहा कि साहित्य हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति रखता है। इस प्रकार काव्य में लोकहित और उपयोगिता के सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए।

३. आ. अभिव्यञ्जनावाद

यह पाश्चात्य विद्वान् क्रोचे के 'एक्सप्रेशनिज़्म्' का हिन्दी रूपान्तर है। एक प्रकार से जर्मनी के लेसिंग, विंगलमैन, तथा कांट और गेटे जैसे दार्शनिकों के काव्य-सिद्धान्त एक प्रकार से इस सिद्धान्त की पृष्ठ-भूमि तैयार कर चुके थे। लेसिंग के

१. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० १६४

अनुसार अभिव्यञ्जना में सौन्दर्य की समन्विति भी होती है। विंगलमैन ने भी कला में अभिव्यञ्जना को प्रधान स्थान दिया और उसके बाह्य तथा आन्तरिक सन्तुलन पर बल दिया। गेटे और कालिरिज ने अभिव्यञ्जना को समष्टि-क्षेत्र में स्थापित करके इस सिद्धान्त को एक व्यापक क्षेत्र प्रदान किया। क्रोचे ने इसको पूर्ण दार्शनिक और शास्त्रीय रूप प्रदान किया।

क्रोचे ने कला मे रूप (Form) को ही एक मात्र महत्त्व प्रदान किया।[1] भारतीय काव्य-शास्त्र में रस का केन्द्र रसिक है : उसी के लिए उसी केन्द्र पर काव्य-शास्त्रीय ऊहापोह हुई है। क्रोचे ने अपनी विचारधारा में कवि को केन्द्र माना। विचारणा के इस सूत्र में यह एक भावना स्वतः समा जाती है कि काव्य में ऐसा क्या होता है जो रसिक को आनन्द-विभोर कर देता है। दूसरा यह खोज करता है कि कवि में कौनसी मूलवृत्ति रहती है जो उसे कला-सृष्टि के लिए विवश कर देती है।

अभिव्यञ्जना का आधार कवि की सहज अनुभूति है। इसके उदय के पश्चात् वस्तु 'बिम्ब' (Image) और 'रूप' (Form) की ओर चलती है। यह भी सत्य है कि सहज अनुभूति इन दोनों के बिना नहीं होती। वस्तुतः दोनों की परस्पर अन्वय-व्यतिरेकी व्याप्ति है : दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। वस्तु से बिम्ब और बिम्ब से रूप, यही अभिव्यञ्जना की प्रक्रिया है। इस प्रकार "सहज-प्रज्ञा, अभिव्यन्जना, रूप और सौन्दर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते है और उन्हें एक दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं।"[2]

सहज प्रज्ञा से अभिव्यन्जना अभिन्न है। अभिव्यन्जना ही कला का अंतरङ्ग और केन्द्रीय तत्त्व है। यही संश्लिष्ट सौन्दर्य का धायक है। उसी अभिव्यन्जना के संश्लिष्ट रूप को कवि-वाणी व्यक्त करती है। कवि-वाणी में पद-वर्ण आदि तत्त्वतः अभिन्न होते हैं। यह अनेकत्व यदि विश्लेषण भी करता है तो संश्लिष्ट अभिव्यन्जना का ही। तात्पर्य यह है कि स्थूल शाब्दिक अभिव्यक्ति भी संश्लिष्ट ही रहती है।[3]

क्रोचे ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में वस्तु (Object) की वही प्रतीति सहज अनुभूति है जो गुण, क्रिया, नाम, रूप आदि के पार्थक्य और विश्लेषण से रहित, एकात्मक होती है। यह प्रसाद के 'सङ्कल्पात्मक अनुभूति' सिद्धान्त के अधिक समीप । उसी सहजानुभूति की अनेक-रूप-अभिव्यक्ति होती है। पन्तजी ने लिखा है :

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।

१. 'The aesthetic fact is form, and nothing but form.'
२. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ८२
३. Speech is unity, not multiplicity of images, and multiplicity does not explain, but indeed presupposes the expression to be explained.'—Croce, Aesthetic, P. 144.

लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार।

यह सहज प्रज्ञा ही सत्य है जो 'शिव' और 'सुन्दर' के रूप में अभिव्यक्त होता है। शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति, आन्तरिक और वास्तविक अभिव्यक्ति की छाया मात्र है। सदैव ही शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति होना अनिवार्य नहीं है। बिना इस बाह्य अभिव्यक्ति के भी, आन्तरिक और वास्तविक अभिव्यक्ति के आधार पर भी किसी को कवि कहा जा सकता है। इसे आचार्य राजशेखर ने 'हृदय कवि' कहा है।

शब्दार्थ पर आधारित बाह्य अभिव्यक्ति तर्क लक्षणा बौद्धिक प्रक्रिया की देन हैं। यह सहज अनुभूति का अत्यन्त स्थूल रूप है। बाह्य और स्थूल अभिव्यक्ति कवि के प्रथम, आन्तरिक काव्य का आंशिक प्रतिनिधित्व ही करती है। भाषा की संश्लिष्टता को व्याकरण का विश्लेषण आहत कर लेता है और आन्तरिक काव्य की एकात्मक या संश्लिष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।[१] क्रोचे ने आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्ति को समान दृष्टि से नहीं देखा। उसने आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही सर्वांश में महत्त्वपूर्ण माना। "क्रोचे का कथन है कि मन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, और समस्त जीवन या जगत् का उसमें समाहार हो जाता है। मन-जगत् से छाप ग्रहण करता है और वही उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। जगत् भी क्या है? वह मन का ही विवर्त है।"[२] तुलसी ने भी इसी प्रकार मन को सभी सृजनात्मक कार्यों का उपादान स्वीकृत किया है—

बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कञ्चुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए॥[३]

शब्दार्थ मात्र को काव्य मानना शारीरिक चेष्टा मात्र को मनुष्य कहने जैसा असङ्गत है।[४] क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। इस सिद्धान्त ने योरुप की समीक्षा को बहुत दिनों तक प्रभावित किया। आधुनिक युग का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है।

३. इ. प्रतीकवाद—

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग होता है। समीक्षा-क्षेत्र में प्रतीक एक वाद का भी रूप धारण कर लेता है। सर्वत्र इसके दोनों ही रूप मिलते हैं। काव्य-साधना

---

१. The grammatical and logical articulation of intellectualized language are no more fundamental to language as such than the articulations of bone and limp are fundamental to living issue.

R. G. Collingwod, The Principles of Art, P. 236.

२. नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ० ८३

३. विनय पत्रिका, १२४

४. Speech is after all only a system of gestures.

Principles of Art, P. 243

का लक्ष्य सौन्दर्य का उद्घाटन और उसको आस्वाद्य बना देना है। प्रतीक इस साधना में आकर्षण और चमत्कार पूर्ण पद्धति से सौन्दर्य को अपने में बाँधता है और उसके प्रेषण का माध्यम बन जाता है। अनन्त सौन्दर्य को सान्त में बाँधने का यह प्रयास अपने आप में एक महान् साधना है। सौन्दर्य प्रतीक में खण्ड रूप से व्याप्त होता है, पर प्रतीक की प्रकृति यह है कि वह पूर्ण सौन्दर्य की ओर संकेत करता है।

प्रतीक दो प्रकार के माने जाते हैं। एक तो बौद्धिक श्रम से प्रसूत प्रतीक होते हैं, दूसरे प्रतीक वे होते है जो रचनाकार की रचना की भावात्मक स्थिति में—और सम्भवतः रचनागत अत्यधिक तल्लीन मनोस्थिति में—अनजान में ही, अभिव्यक्त होते हैं। ये प्रतीक कवि की अचेतन प्रक्रिया के परिणाम हैं।

कोश के अनुसार प्रतीक अवयव या अङ्ग (अमर कोश) और प्रतिरूप (मेदिनी कोश) के अर्थ में मिलता है। प्रतीक प्रतीकी का अवयव या उसका प्रतिरूप होता है। किसा अवयवी या अङ्गी के अथवा किसी रूप के अवयव का अङ्ग अथवा प्रतिरूप में उसके ही तत्त्व होने स्वाभाविक है। प्रायः प्रतीकी अदृश्य होता है और प्रतीक दृश्य। इस प्रकार अरूप को रूपायित करने की पद्धति में प्रतीक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतीक लोक-रुचि एवं अपनी शक्ति के अनुसार अल्पजीवी और दीर्घजीवी होते हैं। इसी प्रकार प्रतीकों की व्यापकता की भी श्रेणियाँ और सरणियाँ निश्चित की जा सकती है। प्रतीक का सम्बन्ध परम्परा से भी है। इनका प्रयोग रहस्यवादी साधना की स्थितियों की अभिव्यक्ति में भी होता है और काव्य के क्षेत्र में भी। प्रतीकों के सम्बन्ध में यह सामान्य विचार है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इसको बिम्ब से पृथक् माना गया है और एक इकाई को प्रकट करने वाला कहा गया है।[1] साहित्यिक प्रतीक का स्वरूप और संकेत अनिश्चित और सन्दर्भ सापेक्ष होता है। इसके विपरीत गणित के प्रतीक सुनिश्चित होते हैं। साहित्यिक प्रतीक नवीन सन्दर्भों में नवीन अर्थों की उद्भावना में सक्षम होते हैं। प्रतीक प्रकट अर्थ के साथ-साथ सूक्ष्म संकेत भी देता है।

हेगेल ने कलाओं का वर्गीकरण करते हुए क्लासीकल और रोमांटिक कलाओं के साथ तीसरी कला को प्रतीकात्मक कला कहा है। प्रतीकात्मक कला के मूल में

---

१. 'An image is the opposite of a symbol. A symbol is denotative; it stands for one thing only as the figure 1 represents one unit.

C. Day Lewis, the Poetic Image, P. 40

उन्होंने भी अस्पष्टता मानी यहाँ प्रतीक के अर्थ के सम्बन्ध में इससे अधिक कहना अपेक्षित नहीं है।

योरुप में 'प्रतीक' एक वाद का आधार बना। कुछ विद्वानों ने प्रतीक को ही समस्त काव्य-सौन्दर्य का आधार माना। इस प्रकार के विद्वानों को प्रतीकवाद के प्रवर्तक और उन्नायक के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। फ्रांस के कवि 'जीन-मोरेआज' ने अपनी पत्रिका 'फिगारो' (१८ सितम्बर, १८८६) के अङ्क में सर्वप्रथम 'प्रतीकवाद' की घोषणा की। प्रतीकवाद का उदय प्राकृतवाद (Naturalism) के विरोध में हुआ।

प्राकृतवाद के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की समस्त क्रिया-प्रक्रिया इन्द्रिय-जन्य हैं। प्राकृतवाद में अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता की, आदर्श के स्थान पर यथार्थ की, सौन्दर्य के स्थान पर अरूपता की और अलङ्कारिता के स्थान पर स्वाभाविकता को महत्त्व दिया जाता था। इस वाद का उन्नायक एमिली जोला (१८४०–१९०२) था। इस वाद के समर्थकों और मानने वालों की दृष्टि में सामाजिक मर्यादाओं और बन्धनों की कोई महत्ता नहीं थी। लेखक अपनी समस्त निजी अनुभूतियों को निर्बन्ध रूप से, प्रकृत शैली में अभिव्यक्त कर देते थे।

इसी वाद की प्रक्रिया में प्रतीकवाद आया। जीनमोरे ने इसकी घोषणा की। उनके पश्चात् अलबर्ट ओरिएट ने अपने एक लेख में प्रतीकवाद का स्पष्टीकरण किया। कुछ लोगों की यह धारणा थी कि प्रतीकवाद कोई आध्यात्मिकवाद है। पर यह भ्रम ही है। केवल रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन प्रतीक अवश्य है। प्रतीकवाद फ्रान्स की सीमाओं का अतिक्रमण करके अन्य देशों में भी पहुँचा। मलार्मे ने अपनी रचनाओं से इस वाद को पर्याप्त पुष्ट किया। इन्होंने प्रतीकवादी कवियों की सौन्दर्य भावना को सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। इन कवियों ने इतिवृत्तात्मक और कलागत वक्रता से शून्य काव्य-धाराओं को काफ़ी ठेस लगाई।

ओरिएट के अनुसार प्रतीकवादी काव्य की ये विशेषताएँ हैं। (i) प्रतीकवादी कला को भावात्मक मान कर चलता है। (ii) सूक्ष्मतम भावों को प्रतीकों के माध्यम से सुन्दर अभिव्यक्ति दी जा सकती है। (iii) इस अभिव्यक्ति का सौन्दर्य संश्लिष्ट होता

१. "Matter (embodiment) predominates over spirit (content). The spiritual content here struggles to find its adequate expression but fails to do so. It fails clearly to shine through. It has not mastered its medium. It is overwhelmed by matter. This gives us the symbolic type of art.

...On account of this difference the symbol is always ambiguous. This ambiguity explains the sense of mystery which pervades all symbolic art."

The Philosophy of Hegel—W. T. Stace, Page 452-53

है। (iv) प्रतीकात्मक साहित्य में कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता प्राप्त होती है। (v) शैली अलंकृत होती है। वैसे (vi) प्रतीकवादी विचारधारा को अध्यात्मवाद ने भी पर्याप्त सहायता दी। (vi) प्रतीकार्थ की प्रतीति अधिकांश लक्षणा और व्यञ्जना पर आधारित होती है। इस वाद की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसने प्रतीक को साधन रूप में नहीं साध्य के रूप में ग्रहण किया। दूसरी दुर्बलता यह है कि कला की सहज-अभिव्यक्ति को अत्यधिक प्रतीकों में जकड़ कर उसे दुर्बोध और दुरूह बना दिया।

निष्कर्ष—

इस प्रकार उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती में अनेक वादों ने पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में जन्म लिया। उक्त वादों के अतिरिक्त फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद भी साहित्य की सृष्टि और समीक्षा को प्रभावित करता रहा। दूसरी ओर मार्क्सवादी दृष्टि ने समीक्षा को प्रभावित किया। ये वाद वास्तव में साहित्य के क्षेत्र के नहीं थे। फिर भी साहित्य पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। वादों की इस भीड़ ने साहित्य के क्षेत्र में एक अराजकता सी उत्पन्न करदी। परस्पर विरोधी विचारधाराएँ परस्पर टकराने लगीं। इस अराजकता के बीच कुछ व्यवस्थापक उत्पन्न हुए। आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्युकस जैसे मनीषी उत्पन्न हुए। इन्होंने साहित्य-शास्त्र को वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। पाश्चात्य काव्य-शात्र को इन्होंने व्यवस्थित और सुनिश्चित रूप प्रदान किया। हरबर्ट, डिंगले तथा उनके अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान की नवीन खोजों का भी इस क्षेत्र में व्यवहार होने लगा है। इस पद्धति से साहित्य का शैली तात्त्विक अध्ययन किया जाता है। शैली और भाषा के आधार पर ही साहित्य के समस्त सौन्दर्य का उद्घाटन किया जाता है। आज की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य-समीक्षा का वस्तून्मुख अध्ययन स्वाभाविक ही है। आज साहित्य-शास्त्र को देश-काल की सीमाओं से मुक्त करके एक व्यापक धरातल देने की आवश्यकता है। सभी देशों के साहित्यकार इस उद्घोष से सहमत हैं फिर भी अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित हैं। विश्व साहित्य ही विश्व कल्याण कर सकेगा।

१२

भारतीय काव्य-शास्त्र : विकास-क्रम

१. काव्य की उत्पत्ति, वेद-वेदाङ्ग—काव्य-शास्त्र
२. काव्य-शास्त्र एवं रस-सम्प्रदाय
३. काव्य-शास्त्र एवं अलङ्कार-सम्प्रदाय
४. ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय एवं औचित्य-सम्प्रदाय
५. संशोधन या पुनरावृत्ति-काल (११ वीं से १७ वीं शती)
६. हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य
७. आधुनिक नवोत्थान-काल—
भारतेन्दु-द्विवेदी युग, शुक्ल युग, शुक्लोत्तर युग
८. निष्कर्ष

प्रस्तावना—काव्य मनुष्य की आनन्दमूलक सर्जनात्मक प्रवृत्ति और प्रक्रिया का, शब्दार्थ में रूपायित फल है। अहं के आकर्षण मूलक विस्तार और विकास का प्रयोजन भी इस साधना में बद्धमूल रहता है। जहाँ काव्य कवि के भावामूलक एवं आत्मिक तनाव तथा तज्जन्य पीड़ा के निवारण के अभिप्राय से प्रभावित होता है, वहाँ एक समाज-सुलभ माध्यम में अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने पर अभिव्यञ्जना की एक बौद्धिक साधना और अहं के सामाजिक सन्दर्भ की चेतना आरम्भ हो जाती हैं। कवि और उसकी कृति सामाजिक परिवेश में आकर्षण-केन्द्र बन जाते हैं। इन केन्द्रों की ओर प्रभावित समाज के विस्तृत क्षेत्र से यश और अर्थ अनायास खिंचने लगते हैं। जब काव्य, परिवेश का एक साधन मात्र बनने लगता है और उसके साथ 'आनंदेतेर' प्रयोजन रञ्जन, सुरक्षा आदि संलग्न होने लगते हैं तो उसके नियमन के निमित शास्त्र की आवश्यकता होती है।

भारत सदैव धर्म एवं दार्शनिक सिद्धांतों की जन्मभूमि रहा है अतः यहाँ काव्य का आरम्भ भी आधि दैविक स्तर पर आरम्भ हुआ था। उसकी विषय-वस्तु, सज्जा और उसका माध्यम मानव की नैमित्तिकता ही स्वीकार करते थे। उनकी चेतना और सक्रियता के स्रोत लोकोत्तर माने जाते थे। काव्य वस्तुतः दर्शन और अनुष्ठान का सहचर, माध्यम या उनमें से एक था। इस दैविक काव्य की रचना, अर्थ और उसकी विषय-वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए शास्त्र-रचना हुई। सामूहिक रूप से इस शास्त्र-साहित्य को वेदांङ्ग के नाम से जाना जाता है। क्योंकि वेद स्वयं काव्य है अतः उनके सांगोपांङ्ग सहित अध्ययन की विधि "षडंगोवेदोऽध्येयो ज्ञेयञ्चेति"[१]

[१] पातञ्जल महाभाष्य

आदिष्ट हुई। वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष। छन्द शास्त्र की गणना तो वेदाङ्गों में है, पर काव्य-शास्त्र का नाम इनमें नहीं है। पुराण या पुराण शैली के महाकाव्यों की धारा इतनी सहज-सरल थी और उसके उद्देश्य इतने जनवादी या लोकोन्मुख थे कि काव्य की रचना-प्रक्रिया और आस्वादन-प्रविधि के सम्बन्ध में किसी शास्त्र की आवश्यकता का सम्भवतः अनुभव नहीं किया गया हो। इस धारा के काव्य में अत्यधिक अलंकृत माध्यम या जटिल प्रतीकों का प्रयोग नहीं था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य-धारा में सौन्दर्योपकरणों का प्रयोग नहीं होता था। वह था प्रभूत एवं प्रचुर मात्रा में परन्तु उसका स्वरूप अपना था 'अलौकिक'। अलङ्कारों के प्रयोग का उद्देश्य भी बोधगत सरलता थी अथवा उस सीमा तक सौन्दर्य-विधान करना भी था, जिस सीमा तक वह हमें सामान्य जीवन में मिलता है। इन प्रविधियों की उलझनें इतनी नहीं थीं कि उनके लिए एक पृथक् शास्त्र की रचना अपेक्षित हो। प्रतीक-विधान के आदिदैविक अर्थ को व्यक्त और सुस्पष्ट करने के लिए जिन शास्त्रों की रचना हुई, वे काव्यशास्त्र के समकक्ष नहीं थे।

इतना सब होते हुए भी निरुक्तकार यास्क और वैयाकरण पाणिनि जैसे शास्त्रीय मनीषियों ने उपमा आदि काव्याङ्गों पर स्फुट कथन किए हैं। पतञ्जलि ने कुछ अलंकृत काव्यों के उदाहरण भी दिए हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि अलंकृत काव्य की एक धारा कुछ वर्गों में चली आ रही थी। उनको देखते हुए कुछ मनीषियों ने इस पक्ष पर यदा-कदा कुछ कहा भी लगता है जैसे एक भावी शास्त्र-विधान की पीड़ा का अनुभव भारतीय मनीषा को होने लगा था। वास्तव में भाषा का एक विशिष्ट व्यापार और रूप ही तो साहित्य बन जाता है। अतः काव्यशास्त्र का बीजारोपण भी भाषा-शास्त्रियों ने ही किया—प्रथम बीज निरुक्तकार यास्क और पाणिनि में ही मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का विकास एक विशिष्ट प्रश्न को लेकर हुआ कि काव्य की आत्मा क्या है? आज से लगभग बीस शताब्दियों पूर्व यह प्रश्न भारतीय मनीषियों के सामने उपस्थित हुआ था। 'आत्मा' का सामान्य अर्थ है—विश्व का वह सार तत्त्व जो सभी प्राणियों के जीवित रहने के लिए आवश्यक है। आत्मा बाह्य भेदों के भीतर भी, सभी में एक रूप होती है। लाक्षणिक रूप से आत्मा का आरोप साहित्य पर कर दिया गया। इससे तात्पर्य है साहित्य के सारभूत तत्त्व की खोज जो उसकी जीवनी शक्ति है। इसके बिना साहित्य मृत या निर्जीव हो जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देने वाले विभिन्न सम्प्रदाय संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में विकसित हुए : रस-सम्प्रदाय, अलङ्कार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। यह क्रम कालक्रमानुसार है। यदि क्रमशः इन सभी पर विचार कर लिया जाय तो भारतीय काव्यशास्त्र का विकास-सूत्र स्पष्ट हो जायगा।

१. रस-सम्प्रदाय—स्थापना-काल—

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भरत मुनि थे। अधिक सम्भव है भरत से पूर्व भी साहित्य शास्त्र के कुछ आचार्य हुए हों, जिनकी रचनाऐं सुरक्षित नहीं रह सकीं। उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे प्राचीन भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र ही है। इस ग्रन्थ की भूमिका में दिव्य परम्परा का भी उल्लेख है और इसकी सामग्री के अलौकिक स्रोतों की भी चर्चा की गई है। भरत को यह ज्ञान सम्भवतः देवताओं से ही प्राप्त हुआ था। ब्रह्मा और विश्वकर्मा का नाट्य-तंत्र से सम्बन्ध माना जाता है। साथ ही कथानक, संवाद, सङ्गीत और रस को वैदिक साहित्य से ग्रहण किया गया। इस पराप्राकृतिक कथन में सत्य इतना ही है कि प्राचीन काल में किसी विशिष्ट ज्ञान की भूमिका इसी प्रकार दी जाती थी। सभी ज्ञान दिव्य प्रेरणाओं से प्रसूत माने जाते थे। मुनि या ऋषि उस ज्ञान का द्रष्टा और संग्राहक था।

ऐतिहासिक दृष्टि से भरत का समय ईसा के लगभग या उनसे दो शताब्दी पूर्व तक माना जाता है। इन्हीं भरत मुनि को भारतीय काव्यशास्त्र का आदि पुरुष स्वीकार किया जाता है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य-कला के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का साङ्ग विश्लेषण किया है। इससे प्रतीत होता है कि सर्वाङ्गीण वर्णन का शास्त्र पहले-पहल दृश्य काव्य का बना। नाट्य कला के विश्लेषण साहित्य या काव्य के भी कुछ तत्त्वों और अवयवों पर चर्चा की गई है। आगे के काव्यशास्त्र ने जहाँ दार्शनिक और वैय्याकरण स्रोतों से पारिभाषिक शब्दावली और सिद्धान्तों के सूत्र ग्रहण किए, वहाँ भरत के नाट्य शास्त्र से उसने मौलिक सामग्री भी ली और एक स्वतंत्र साहित्य-शास्त्र की परम्परा का उदय होने लगा।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अलङ्कार, वृत्ति, सन्धि आदि अनेक तत्त्वों का विश्लेषण किया, पर उनकी प्रमुख देन रस-सिद्धान्त है। रस-सिद्धान्त का लक्ष्य है—पाठक या श्रोता की मूल भाव-प्रवृत्तियों को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना। यही काव्यानन्द शास्त्रीय शब्दावली में 'रस' है। इसकी साधना है कि समस्त साहित्य-सामग्री को, मनुष्य की एक मूल भावना (स्थायी भाव) से सम्बद्ध कर दिया जाय। समस्त काव्य-विधान का केन्द्र यही स्थायी भाव होता है। काव्य के अन्य अङ्ग इसी केन्द्र के उन्नायक, उद्धारक या सहयोगी हैं। स्थायी भाव के तीन घटक तत्त्व है : विभाव, अनुभाव, सञ्चारी। इन्हीं के माध्यम से स्थायी भाव आस्वाद्य बनता है।

रस-सम्प्रदाय के आचार्यो के अनुसार काव्य की आत्मा 'रस' है।[1] भरत के अनुसार आस्वाद्य होना ही 'रस' है।[2] आगे के आचार्यों में से धनञ्जय अभिनव गुप्त, मम्मट और विश्वनाथ ने भी इसका सम्बन्ध आस्वादन से ही माना है।[3]

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, डा० नगेन्द्र, पृ० ३४७

२. रस इति कः पदार्थः ? आस्वाद्यत्वात्' . . . नाट्यशास्त्र, ६।२६

३. धनञ्जय, दशरूपक, ४।१

आस्वादन को आनन्दरूप माना गया है।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि काव्य के आस्वादन से पाठक को जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, वही रस है।

रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध वस्तुतः कवि की भावयित्री प्रतिभा से है। भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध सृजन से नहीं, आस्वादन या ग्रहण से है। वास्तव में रस काव्यास्वाद की प्रक्रिया से उत्पन्न एक बाह्य तत्त्व है। इसकी स्थिति काव्य में नहीं सहृदय के मन में होती है। ऐसी स्थिति में उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करना चिन्तनीय प्रतीत होता है। आत्मा का निवास तो शरीर में ही होता है अतः काव्य की आत्मा का निवास तो काव्य में ही होना चाहिए। फिर रस काव्य की जीवन-शक्ति भी नहीं है : उस शक्ति से सिद्ध फल मात्र है, जिसकी स्थिति आस्वाद्य के रूप में पाठक के मन में है, काव्य में नहीं। फिर भी परम्परा से काव्य की आत्मा के रूप में रस को समर्थन प्राप्त होता रहा है। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं, जिन्होंने रस को काव्य का फल या प्रयोजन ही स्वीकार किया है।[2] वास्तव में हमारी साधना तो उसी तत्त्व के अनुसन्धान के लिए है, जिससे रस उत्पन्न होता है। रस-निष्पत्ति के मूलाधार का अनुसन्धान करना है। सभी ने प्रायः स्थायी भाव को रस-निष्पत्ति का मूलाधार माना है।[3] स्थायी भाव काव्य में भी स्थित रहता है और भोक्ता के हृदय में भी। पर इसे भी काव्य की आत्मा मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। उनका विशद विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है इतना मान लेना ही पर्याप्त होगा कि रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। समग्र-पाश्चात्य साहित्य-विद्या में इससे अधिक सूक्ष्म सिद्धान्त आज तक उपलब्ध नहीं हो सका।

भरत के सिद्धान्त-सूत्र की आगे चल कर अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने ढङ्ग से व्याख्या की। इन व्याख्याता आचार्यों में भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भट्ट लोल्लट ने 'उत्पत्तिवाद' का सिद्धान्त दिया। वास्तव में भरत का सिद्धान्त तो संयोजन पर आधारित था। प्रसिद्ध सूत्र में आये 'संयोग' शब्द से संयोजन का ही बोध होता है। विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारियों के संयोजन से रस-निष्पत्ति सम्पन्न होती है। लोल्लट ने इसके स्थान पर रस को विभावों से उत्पन्न, सञ्चारी भावों से पुष्ट एवं अनुभावों से व्यक्त सिद्ध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः तीनों के साथ उत्पत्ति, पुष्टि एवं अभिव्यक्ति माना है। 'इस प्रकार भट्ट लोल्लट ने रस-निष्पत्ति को यांत्रिक रचना-व्यापार के स्थान पर क्रमिक विकासवादी रूप प्रदान किया जो अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है।'[4]

---

१. डा० नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका

२. 'तेन रस एव नाट्यम यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते'—अभिनव भारती, ६।१५; रामदहिन मिश्र, 'काव्य दर्पण' पृ० ५६।

३. धनञ्जय, दशरूपक ४।१; मम्मट, काव्य प्रकाश ४।२८; विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ३।१

४. डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य विज्ञान, पृ० ४०६

शंकुक ने उक्त स्थापना का खण्डन करके 'अनुमितिवाद' की प्रतिष्ठा की। इस सिद्धान्त का आधार न्याय-शास्त्र का अनुमानवाद है। इसके अनुसार रस की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती। उसकी अप्रत्यक्ष अनुमिति होती है। शंकुक ने पहली बार स्पष्ट रूप से बतलाया कि रस की अनुभूति प्रत्यक्ष लौकिक अनुभूति से भिन्न प्रकार की होती है। साथ ही उन्होंने स्थायी भाव और रस का पार्थक्य भी सिद्ध किया।

भट्ट नायक ने रस-प्रक्रिया को अधिक मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया। इस रस-ग्रहण में तीन क्रियाएँ होती हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इनका विश्लेषण करते हुए इन्होंने रस के क्षेत्र में साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की। भट्ट नायक ने अपनी मान्यता की स्थापना में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। परवर्ती आचार्यों ने इनके मत का खण्डन करना चाहा। पर उनकी मान्यता इतनी वैज्ञानिक थी कि उसका खण्डन पूर्ण रूपेण नहीं हो सका। साधारणीकरण तो प्रायः सभी को मान्य रहा। आधुनिक समीक्षकों की भी विचारधारा भट्ट नायक से मिलती है। रिचर्ड्स ने काव्यास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए कुछ ऐसी ही प्रक्रियाओं की चर्चा की है। सौन्दर्य शास्त्री इम्पैथी (Empathy) ने समानुभूति की चर्चा की है। यह चर्चा साधारणीकरण के सिद्धान्त के समकक्ष है।

अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण को तो स्वीकार किया है : शेष मान्यताओं को अस्वीकार कर उनका खण्डन ही किया है। अभिनव गुप्त ने अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्त की स्थापना की। अब तक की व्याख्याओं में श्रोता या पाठक का व्यक्तित्व उपेक्षित होता रहा था। इन्होंने उसी के आधार पर रस-निष्पत्ति का विवेचन किया है। रसानुभूति में काव्यवस्तु का आधार तो रहता ही है, पाठक का योगदान भी रहता है। काव्यानन्द के आस्वादन से पाठक के मन में किसी नये तत्त्व की न उत्पत्ति होती है और न सृष्टि। केवल पाठक की जन्म-जात, प्रसुप्त संस्कार-रेखाएँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। ये वासनाएँ सभी प्राणियों में प्रकृतिबद्ध हैं, मूलरूप में विद्यमान हैं। अभिनव गुप्त का यह सिद्धान्त एक ओर फ्रायड के वासनावाद से और दूसरी ओर अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त से तुलनीय हो जाता है। अन्तर इतना है कि अरस्तू ने केवल दूषित वासनाओं के विरेचन की बात कही है। अभिनव गुप्त ने इस प्रकार का भेद न करके सामान्य रूप से मानव-मन की वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात कही है।

रस-सिद्धान्त की चर्चा करते समय उक्त आचार्यों को नहीं भुलाया जा सकता। उनके सिद्धान्तों से मिल कर ही रस-सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त बन गया। रस-सिद्धान्त इतना व्यापक रहा कि अलङ्कार और ध्वनि सम्प्रदायों ने भी किसी-न-किसी रूप में इसको स्वीकार किया है। जहाँ आगे चलकर मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त को प्रबल समर्थन प्रदान किया, वहाँ विश्वनाथ ने रस-सिद्धान्त को सुदृढ़ बनाया। रस-

सिद्धान्त की चर्चा करते हुए शृङ्गार को रसराज सिद्ध करने वाले आचार्यों को भी नहीं भुलाया जा सकता। भोज ने इस मत को प्रतिष्ठित करते हुए उसे पूर्ण आध्यात्मिक और दार्शनिक रूप दिया। प्रकारान्तर से यह भी रस-सिद्धान्त का ही उत्कर्ष है। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने रस-सिद्धान्त को विभिन्न दर्शन-पद्धतियों से पुष्ट किया। यह सिद्धान्त आज तक अपनी लोकप्रियता बनाऐ हुए है।

२. उत्थान-काल (६ से ११ शती)

इस युग में भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास हुआ। इस युग में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त जैसे उच्चकोटि के व्याख्याता आचार्य उत्पन्न हुए। इन आचार्यों ने रस-सिद्धान्त को विशेष रूप से और समस्त काव्य-शास्त्र को सामान्य रूप से विस्तृत और विकसित किया। काव्य के भाव-विभाव पक्ष को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने का श्रेय भी इन्हीं आचार्यों को है।

व्याख्याता आचार्यों के अतिरिक्त उद्भावक आचार्य भी इस युग में उच्चकोटि के हुए। इन आचार्यों की काल-क्रमानुसार सूची इस प्रकार दी जा सकती है—

भामह	छठी शती—	अलङ्कारवाद
दण्डी	सातवीं शती—	,,
वामन	आठवीं शती—	रीतिवाद
आनन्दवर्द्धन	दसवीं शती—	ध्वनिवाद
कुन्तक	दसवीं शती—	वक्रोक्तिवाद
क्षेमेन्द्र	ग्यारहवीं शती—	औचित्य

इस प्रकार के मौलिक चिन्तकों के स्वस्थ और अतलस्पर्शी चिन्तन को प्राप्त करके कई मौलिक सिद्धान्तों को जन्म दिया। उक्त उद्भावक आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर [१० वीं शती], धनञ्जय [१० वीं शती], महिम भट्ट [१०-११ वीं शती] और भोज [११ वीं शती] जैसे मनीषियों ने भी काव्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों का पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान, अन्वाख्यान, प्रत्याख्यान और विशदीकरण किया।[१] नवीन व्याख्याओं की झाँकी पहले की जा चुकी है। यहाँ नवीन सिद्धान्त देने वाले कुछ काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ उपयुक्त होगा।

इस युग में पाँच नवीन सिद्धान्तों की स्थापना हुई। ये सिद्धान्त क्रमानुसार इस प्रकार हैं : अलङ्कार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त और औचित्य-सिद्धान्त। ये सभी सिद्धान्त मौलिक रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। वैसे, इन सभी का बीज भरत के नाट्य-शास्त्र में मिल जाता है। भरत ने विविध प्रसङ्गों में अलङ्कार, गुण, दोष, औचित्य आदि तत्त्वों पर कुछ विचार किया है। इन्हीं बीजों को परवर्ती आचार्यो ने अपनी प्रतिभा और अपने चिन्तन से पल्लवित किया। प्रेरणा को छोड़ कर सब कुछ नवीन हो गया। बीजमात्र ही पुरातन रह गया। वक्रोक्ति की

१. विशेष विवरण के लिए देखिए, बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय साहित्य-शास्त्र'

महत्ता भी भामह और दण्डी ने कुन्तक के पूर्व स्थापित करदी थी ध्वनि का आधार भी कुछ न कुछ मिलता ही है।

उक्त पाँचों सिद्धान्त काव्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। अलङ्करण सिद्धान्त ने शब्दार्थ-सज्जा और शैली के बाह्य रूप पर विचार करके शेष सभी काव्याङ्गों को इसमें समाविष्ट कर दिया। रीति ने अलङ्कारवादी धरातल पर खड़े होकर गुणों की खोज की। काव्य के सामान्य गुणों का विवेचन करके उन्हें काव्य के सौन्दर्य-विधान में रीतिवादियों ने प्रमुख स्थान दिया। शुद्धता, संक्षिप्तता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य आदि आन्तरिक गुणों के साथ अलङ्कार समन्वित हो गया और रीतिवाद की भूमि विस्तृत हो गई।

ध्वनिकार ने सारा काव्य-सौन्दर्य अर्थ की व्यंग्यात्मकता में केन्द्रित कर दिया। वक्रोक्ति ने अर्थ की लाक्षणिकता पर बल दिया। विषय और शैली के पारस्परिक सन्तुलन पर औचित्य मत बल देता रहा। इनमें से प्रथम चार सिद्धान्त रूपवादी हैं और अन्तिम अर्थात् वस्तुवादी। रस की कोई सम्प्रदाय उपेक्षा नहीं कर पाया। साथ ही सभी ने अन्य पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्त में समाहित करने की चेष्टा की। इन सिद्धान्तों के प्रवर्तकों ने अपने से इतर सिद्धान्तों को स्वतंत्र मान्यता नहीं प्रदान की। अलङ्कारवादियों ने रस को एक अलङ्कार बना दिया। कुन्तक ने सारे अर्थालङ्कारों को वाक्य की वक्रता में समेट लिया और अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी। ध्वनिवादी ने 'अलङ्कार ध्वनि' में यदि समस्त अलङ्कार-वैभव को हड़प कर रखना चाहा तो अलङ्कारवाद ने "गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक" अलङ्कारों में ध्वनि के सभी भेदों को समेट लिया। इस प्रतिद्वन्द्वता से कुछ अस्पष्टता तो आई, पर यह भी प्रकट हो गया कि इन सभी का समन्वित रूप ही काव्य की समीक्षा में सक्षम हो सकता है। मौलिक रूप से कोई सिद्धान्त पूर्ण नहीं है।

२. अ$_1$. अलङ्कार-सिद्धान्त—

भरत के नाट्य-शास्त्र से स्वतंत्र होकर जब काव्य-शास्त्र ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण किया, तो अलङ्कारवाद को प्रमुखता मिली। भामह संस्कृत काव्य-शास्त्र के संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने नाट्य-शास्त्र के तत्त्वों को लेकर सर्वप्रथम एक नवीन शास्त्र-परम्परा का सूत्रपात किया।

अलङ्कार सम्प्रदाय अपने विकसित रूप में एक रूपवादी सम्प्रदाय ही बन गया। इस रूप में रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद भी इसी की विकसित शाखाओं के रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं। अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार को काव्यात्मा के रूप में ग्रहण किया। भामह ने अलङ्कारों का आधारभूत तत्त्व 'वक्रोक्ति' को माना। अलङ्कारों का लक्ष्य है भाषा में या रूप में चारुता उत्पन्न करना।[1] दण्डी ने भामह के सिद्धान्त को पुष्ट किया। इन्होंने अलङ्कार को एक व्यापक परिभाषा दी : काव्य के शोभाकारक धर्म ही अलङ्कार

१. काव्यालङ्कार सूत्र १।३६

हैं।[1] दण्डी के अतिरिक्त उद्भट, वामन और रुद्रट ने भी अलङ्कारवाद को पुष्ट किया। इन सभी ने यह माना कि अलङ्कार चारुत्व या सौन्दर्य के हेतु या साधक तत्त्व हैं।[2] इन कथनों से स्पष्ट होता है कि अलङ्कार साधन है और सौन्दर्य साध्य। अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य शोभाकारक साधन भी हो सकते है। यद्यपि अलङ्कारवाद का आरम्भ काव्य में अलङ्कार को आत्मा के रूप में मानने से ही हुआ, पर अन्त में अलङ्कारवाद के अनुसार सौन्दर्य ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अलङ्कारवादियों का यह भी तर्क है कि सौन्दर्य और अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। वामन ने इस प्रकार कहा भी है : 'सौन्दर्यमलङ्कारः'। इस तर्क के उपस्थित होते ही वह कथन निरर्थक हो जाता है कि काव्य के शोभाकर धर्म ही अलङ्कार हैं। वास्तव में वामन ने अलङ्कार सम्बन्धी दृष्टि में विस्तार किया था। उन्होंने सौन्दर्य और अलङ्कार में अभेद करने की चेष्टा की। अभेद हो जाने पर भी सौन्दर्य को काव्य का आत्मा मानने में कुछ बाधा नहीं आती।

कालान्तर में अलङ्कार-सिद्धान्त को ध्वनि-सिद्धान्त ने पर्याप्त ठेस पहुँचाई। रस-सम्प्रदाय ने ध्वनि के साथ सम्बद्ध होकर अलङ्कार-सम्प्रदाय पर दुहरा प्रहार किया। पर कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद की स्थापना करके एक प्रकार से अलङ्कारवाद को भी कुछ सहारा दिया। आनन्दवर्द्धन और मम्मट ने अलङ्कार की उपेक्षा की। चन्द्रालोककार ने फिर अलङ्कारवाद को पर्याप्त बल दिया। आगे वक्रोक्ति सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।

चन्द्रालोककार के पूर्व भोज ने अलङ्कारवाद की सुदृढ़ उपस्थापना की थी। जिस प्रकार इनसे पूर्व कुन्तक ने वक्रता को महत्त्व प्रदान किया, उसी प्रकार भोज ने अलङ्कार शब्द की विभुता स्थापित की। दण्डी के इङ्गित (अर्थात् सन्धि, सन्ध्यङ्ग भी अलङ्कार हैं) से ही कुन्तक ने प्रेरणा ली थी और भोज ने भी। उन्होंने भी अलङ्कार में समस्त उपादेय तत्त्वों को समाविष्ट करना चाहा। उन्होंने समस्त सरस वाङ्मय को वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति एवं रसोक्ति—तीन भागों में रखकर सभी को अलङ्कार कह दिया। फिर भी रस-संस्पर्श के जादू को इन्होंने भी स्वीकार किया—"सर्वासु ग्रहणीतासु रसोक्ति प्रतिजानते।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार की शक्ति के आधार पर ही नाट्य-शास्त्र से पृथक् काव्य-शास्त्र की स्थिति सम्भव हुई। सर्वप्रथम दृश्य-काव्य के समस्त उपादेय तत्त्वों को अलङ्कारों में समेटने का प्रयास किया गया। रस भी अलङ्कारों में समा गया। अलङ्कार सम्प्रदाय की सभी शाखाओं ने रस के स्थान पर चारुत्व या सौन्दर्य को महत्त्व देना चाहा। सौन्दर्य के उपकरणों का विशद विवेचन किया गया। साथ ही रस के संस्पर्श को भी सौन्दर्य की सृष्टि में आवश्यक माना गया। पर रस की स्थिति ग्राहक या सामाजिक में रहती है, यह तथ्य सभी अलङ्कारवादियों

१. काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। –काव्यालङ्कार सूत्र २।१
२. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० ६४, ६६ एवं ६६

के ध्यान में रहा। अतः काव्य में केन्द्रीय-स्थिति सौन्दर्य की ही मानी गई। रस का निवास काव्य में नहीं रहता। वह काव्य के द्वारा जागृत अवश्य होता है।

२. अ$_२$. रीतिवाद—

इस सिद्धान्त के अनुसार 'रीति' काव्य की आत्मा है।[1] रीति एक विशेष प्रकार की पद-रचना ही है।[2] इसमें विशेप शब्द द्रष्टव्य है। 'विशेष' का अर्थ है गुण-सम्पन्न।[3] इस प्रकार गुणों से युक्त पद रचना ही रीति है और यही काव्य का केन्द्रीय तत्त्व है। इस सिद्धान्त में 'गुण' की स्थिति अलङ्कार से उच्चतर हो जाती है। जिस प्रकार अलङ्कारवादी काव्य की शोभा के धायक तत्त्वों के रूप में अलङ्कारों को स्वीकार करते थे, उसी प्रकार वामन ने कहा कि काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले गुण होते हैं।[4] यदि आन्तरिक गुणों का अभाव होगा तो अलङ्कार अकेले काव्य में शोभा का विधान नहीं कर सकते। उनकी मान्यता है कि गुण आन्तरिक विषय हैं और अलङ्कार वाह्य उपकरण मात्र। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वामन ने रीति को आत्मा तो कहा, पर वह उन्हीं के शब्दों से इस रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाई। रीति भी सौन्दर्य-विधान का एक साधन ही है। लक्ष्य यहाँ भी सौन्दर्य ही रहा।

गुण की स्थापना जहाँ इस सिद्धान्त का स्वीकारात्मक पक्ष था, वहाँ दोष-निवारण या उसका राहित्य इनके सिद्धान्त का निषेधात्मक पक्ष था। इस प्रकार रीति सिद्धान्त त्रिसूत्री था : गुण की अनिवार्यता, दोष-राहित्य और अलङ्करण। वामन ने विशेष बल गुणों पर ही दिया और उनकी संख्या को बीस तक पहुँचा कर उन्होंने गुण-सिद्धान्त को अत्यन्त व्यापक बनाने का यत्न किया। पर जिन गुणों की चर्चा उन्होंने की है, वे अनिवार्यतः साहित्य या काव्य से ही सम्बद्ध नहीं थे। उनका सम्बन्ध अन्य विषयों से भी है। ओज, प्रसाद एवं माधुर्य में से प्रसाद (=स्पष्टता) विज्ञान के लिए भी एक आवश्यक गुण है। माधुर्य का सम्बन्ध सङ्गीत से अधिक है।

वामन ने रीति का वर्गीकरण भी गुणों के आधार पर ही किया प्रतीत होता है। वामन के अनुसार दश गुणों वाली रचना वैदर्भी है।[5] गोड़ी और पाञ्चाली में केवल दो-दो गुण होते हैं।[6] पर इनसे कम या अधिक गुणों वाली रचनाएँ किस श्रेणी में आती हैं, इस प्रश्न का उत्तर वामन के विरेचन में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। पर वामन ने अकेले गुण को ही काव्य का सर्वस्व नहीं माना। काव्य में अलङ्कार,

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य; काव्य सूत्र वृत्ति, १।१।२
२. विशिष्ट पद रचना रीतिः, वही १।२।७
३. विशेषौ गुणात्मा, १।२।८
४. काव्य शोभायाः कर्तारौ धर्म गुणाः। वही ३।१।१
५. समग्र गुणा वैदर्भी।' वही १।२।११
६. ओजः कान्तिमती गौडीया — वही १।२।१२
माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली १।२।१३

गुण और दोष शून्यता को आवश्यक माना गया है।[1] इसीलिए एक समन्वयवादी सिद्धान्त के रूप में रीति-सम्प्रदाय को व्यापक मान्यता मिली।

२. अ$_3$. ध्वनि-सिद्धान्त—

ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया। यह सिद्धान्त शब्द की व्यञ्जना शक्ति एवं व्यंग्यार्थ पर ही आधारित है। आनन्दवर्द्धन जैसे उच्च मनीषी ने इस सम्प्रदाय की आधार-शिला रखी। इस सम्प्रदाय की शक्ति इसी से स्पष्ट है कि इसकी मान्यता आज तक बनी हुई है।

अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द के पाँच अर्थ माने हैं: [अ] व्यञ्जक-शब्द, [ब] व्यञ्जक अर्थ, [इ] व्यञ्जना शक्ति, [ई] व्यंग्यार्थ और [उ] व्यंग्यार्थ समन्वित काव्य।[2] पर सामान्यतः वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ से अधिक सुन्दर होने की स्थिति जिस उक्ति में हो, वहीं ध्वनि है। आनन्दवर्द्धन से ध्वनितत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया है: "उक्ति अन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना-व्यापार-युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है।"[3] इस प्रकार ध्वनि में चारुत्व का व्यञ्जना-शक्ति के माध्यम से प्रकाशित होना सन्निहित है। ध्वनिकार ने चारुत्व को प्रकाश्य के रूप में और व्यञ्जना को माध्यम के रूप में माना है। व्यञ्जना पर बल बहुत अधिक दिया गया है। इसके सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने कहा है: "अनुप्रासादि शब्द गत चारुत्व के हेतु हैं, उपमादि अर्थ-गत चारुत्व का हेतु है।...किन्तु ध्वनि इन सबसे भिन्न कोई नया पदार्थ है।"[४] जो सौन्दर्य अलङ्कारों, वृत्ति या रीति द्वारा व्यक्त नहीं होता, उसे व्यञ्जना शक्ति प्रकाशित कर सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यञ्जना का महत्त्व चारुत्व-प्रकाशन के सर्वोत्तम माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। चारुत्व का महत्त्व आनन्दवर्द्धन ने अनेक स्थानों पर स्वीकार किया है। और सर्वत्र व्यञ्जकत्व को उसके साथ सम्बद्ध माना है। शब्दार्थ के प्रसङ्ग में भी चारुत्व को ही उन्होंने माना है।[५] रस के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है: "...अन्यत्र शब्द-विशेषों का जो चारुत्व अलग-अलग प्रदर्शित किया है, वह भी उनके अर्थ व्यञ्जकत्व के कारण ही व्यवस्थित होता है'।[६] ... प्रबन्ध के प्रसङ्ग में भी चारुत्व का ही महत्त्व प्रतिपादन किया है: "जो प्रबन्ध के सौन्दर्यातिशय को चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक प्रतिपादनाभिमत रस को ही प्रधान रूप से समा-

१. 'स दोष गुणालङ्कार हानादानाभ्याम्' १।१।३
२. हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका [डा० नगेन्द्र] पृ० २४
३. ध्वन्यालोक [हिन्दी] प्रथम उद्योत, कारिका, १५
४. ,, प्रथम उद्योत, कारिका १
५. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ८७, कारिका १७
६. वही, उद्योत ३, कारिका १६; पृ० २८६

विष्ट करना चाहिए।"[1] ध्वनि के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है : " व्यञ्जकत्व पर्वोक्त चारुत्व-हेतु व्यंग्य के बिना नहीं रहता।"[2] इसी प्रकार अलङ्कार के सम्बन्ध में भी चारुत्वातिशय की चर्चा की गई है : उसमें कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार को प्रभावित करती है उसे ही चारुत्वातिशय प्राप्त होता है।"[3] इस प्रकार ध्वनिकार की दृष्टि सदैव ही चारुत्व पर केन्द्रित रही है, चारुत्व ही सौन्दर्य है। उनका प्रमुख प्रतिपाद्य सौन्दर्य ही प्रतीत होता है। व्यञ्जनाशक्ति का महत्त्व माध्यम के रूप में ही माना गया प्रतीत होता है, पर मेरी दृष्टि में उसका सौन्दर्य भी मूल या प्रतिपाद्य सौन्दर्य से भिन्न नहीं है। साध्य और साधन का सौन्दर्य मिलकर एक इकाई बनाता है। व्यञ्जकत्व के सौन्दर्य से पृथक् कोई सौन्दर्य नहीं है।

अन्त में इतना ही कहा जा सकता है ध्वनि एक अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धान्त है। इसकी प्रतिष्ठा बहुत ही वैज्ञानिक पद्धति से की गई है। ध्वनिकार ने बड़े कौशल से सभी अन्य मतों को इसमें समाविष्ट कर लिया है। व्यञ्जना का महत्त्व भारत में ही नहीं, पाश्चात्य देशों में भी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

२. अ$_{४}$. वक्रोक्ति-सिद्धान्त—

यद्यपि वक्रोक्ति का अलङ्कार रूप में महत्त्वाङ्कन भामह और दण्डी, कुन्तक से तीन शताब्दी पूर्व कर चुके थे तथापि इसको एक सुदृढ़ सिद्धान्त का रूप पहले-पहल कुन्तक ने ही दिया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में सर्व प्रथम साम्पिकार घोपित किया। वास्तव में ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया में अलङ्कारवाद का ही एक विस्फोट ही इस रूप में हुआ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : "प्रसिद्ध कथन से भिन्न-विचित्र अभिधा या वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्य पूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल, उसकी भङ्गिमा या शोभा (चारुता), उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति।" इस कथन से स्पष्ट है कि कुन्तक ने सामान्य उक्ति से भिन्न उक्ति में ही वक्रता देखी है। सामान्य उक्ति चाहे अन्य प्रकार से सौन्दर्य से युक्त हो, पर वह काव्य नहीं हो सकती। काव्य होने के लिए उक्ति की वक्रता अनिवार्य है। वक्रोक्ति का आधार उन्होंने वैचित्र्य माना है। वैचित्र्य-वैदग्ध्य में ही है। वैदग्ध्य कवि-कौशल की शोभा ही है। डा० नगेन्द्र ने इन शब्दों को पर्याय के रूप में देखा है : "कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र, चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।[4]" कुछ विद्वान वक्रोक्ति को सौन्दर्य का साधन मानकर सौन्दर्य को ही इस सिद्धान्त के अनुसार साध्य मानते हैं। वास्तविक बात यह है कि सौन्दर्य का तिरस्कार रूपवादी आचार्यों

---

१. वही, उद्योत ३, कारिका ३३
२. वही ३।३३
३. वही ३।३७
४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्; भूमिका, पृ० ३२

ने नहीं किया। उन्होंने काव्य का मूलाधार, जिसके बिना काव्य नहीं कहा जा सकता, निश्चित किया है। इसी रूप में वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। अन्ततः वक्रोक्ति का सौन्दर्य भी तथाकथित साध्य सौन्दर्य से भिन्न नहीं है। वक्रोक्ति जीवितकार सैद्धान्तिक दृष्टि से अलंकृति एवं अलङ्कार्य को पृथक्-पृथक् उसी प्रकार नहीं मानते जिस प्रकार वैयाकरण वर्ण और वाक्य को। यदि अलङ्कार और अलङ्कार्य को भिन्न माना गया है तो केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही माना गया है : "उभावेतावेलङ्कार्यौत्तयोः पुनरलंकृतिः।" शब्द और अर्थ अलङ्कार्य हैं और वक्रोक्ति उनकी अलंकृति। इस प्रकार शब्दार्थ वक्रोक्ति के आश्रय हुए। वैसे वक्रोक्तिकार भी इस दृष्टि से अलङ्कारवादी ही ठहरते हैं। परन्तु आनन्दवर्द्धन से पूर्व होने वाले अलङ्कारवादियों से भिन्न हैं। अलङ्कार के आश्रय के विषय में तो वे प्राक्तन अलङ्कारवादियों के समान ही हैं, पर सौन्दर्य के उपकरण वक्रता में उन्होंने समस्त काव्यीय उपादेय तत्त्वों को समाविष्ट करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से वे पूर्व अलङ्कारवादियों से भिन्न हो जाते हैं। वामन का प्रयत्न भी लगभग इसी प्रकार का था। उन्होंने गुण में अधिकांश सौन्दर्योपकरणों को समेटने का प्रयास किया था, पर कुन्तक उनसे भी आगे है। "आश्रय के भी सम्बन्ध में इतनी विशेषता समझ लेनी चाहिए कि यद्यपि इन्होंने काव्य में एक ही प्रकार का शब्द और अर्थ वाच्य ही माना है। परन्तु उसमें प्राक्तन अलङ्कारवादियों से कुछ आगे बढ़कर लक्षक एवं व्यञ्जक तथा लक्ष्य एवं व्यंग्य को भी समेट रखा है।[1]" साथ ही शब्द द्वारा वर्णित अर्थगत वर्ण्य के स्वभाव को वस्तुतः अलङ्कार्य माना गया है।

कुन्तक ने इस प्रकार आश्रय और उपकरण के सम्बन्ध में प्राक्तन अलङ्कारवादियों से अपना वैशिष्ट्य रखा। इसका कारण ध्वनि-सम्प्रदाय हो सकता है। ध्वनि-विवेचन से प्रभावित होकर कुन्तक ने वक्रोक्ति का क्षेत्र-विस्तार किया। कुन्तक ने सौन्दर्य-धायक तत्त्वों में तर और तम भाव का भी विचार किया है। इस भाव का विचार वैसे रीति और अलङ्कारवादियों ने भी किया था—एक ने अलङ्कार को दूसरे ने गुण को सर्वातिशायी चारुताधायक तत्त्व माना है। पर कुन्तक ने रस को सर्वातिशायी माना है।

एक और अन्तर है; कुन्तक ने सौन्दर्य के भी प्रकार माने हैं। यह दो प्रकार का होता है : सहज और आहार्य। शक्तिज वक्रता से सहज सौन्दर्य का और व्युत्पत्तिज वक्रता से आहार्य सौन्दर्य का उदय होता है। षड्विध वक्रताओं में भी किसी-किसी की काव्य में उत्तम स्थिति मानी है। रस-संयुक्त होने पर प्रकरण-वक्रता की उत्तम स्थिति की चर्चा कुन्तक ने की है। इसी प्रकार की कोटियाँ वामन ने रीतियों की स्थापित की थीं।

इस प्रकार कुन्तक ने वक्रता में सभी सौन्दर्य-घटक तत्त्वों को समेटने की चेष्टा की और रस के संस्पर्श को लोकोत्तराह्लादकारि-वैचित्र्य की सिद्धि में हेतु माना है। यह आनन्दवर्द्धन के सिद्धान्त की स्थापना के कारण हुआ। इनके समस्त वक्तव्यों

१. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्यालोचन [वर्ष १, अङ्क २] पृ० १५

को कुन्तक ने अपने सिद्धान्त में आत्मसात करने का प्रयत्न किया। अलङ्कार्यं की उपस्थापना में व्यञ्जक और व्यंग्य भी निहित हैं। ध्वन्यालोककार की व्यञ्जकता में जैसे वर्ण, पद, पदांश, व्याक्य प्रकरण एवं सम्बन्ध काव्यीय उपादेयताओं के कारण में ही स्थित हैं, उसी प्रकार कुन्तक की षड्विध वक्रता में भी गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति, संधि, संध्यङ्ग एवं इतिवृत्त सभी निहित हैं। इन्हीं समानताओं को देखकर महिमभट्ट ने वक्रता को आनन्दवर्द्धन की व्यञ्जकता से अभिन्न माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त रूपवादी सिद्धान्तों में सबसे अधिक व्यापक और वैज्ञानिक है।

२. अ५. औचित्य-सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त का उपस्थापन क्षेमेन्द्र ने किया। इनका समय ११वीं शताब्दी है। इनके समय तक भारतीय काव्यशास्त्र का चरम विकास हो चुका था। क्षेमेन्द्र की दृष्टि से औचित्य ही काव्य का जीवन या प्राण है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है : "जो जिसके योग्य हो, अनुरूप हो, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं। इस उचित का भाव ही औचित्य है।"[१] प्रत्येक वस्तु का उचित रूप में वर्णन ही औचित्य है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि औचित्य के अभाव में कोई वस्तु सुन्दर नही लगती। औचित्य काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न साधनों में से एक है, यह क्षेमेन्द्र के वक्तव्यों से स्पष्ट है। उन्होंने कहा है—'काव्यानुभूति में चमत्कार-हेतु और रस के जीवन औचित्य-तत्त्व पर विचार करते हैं।'[२] इसमें औचित्य को चमत्कार का हेतु और रस का जीवन कहा है। अलङ्कारों के सन्दर्भ में उन्होंने अन्यत्र कहा है : "अलङ्कार तभी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब कि उनका विन्यास उचित स्थान पर हो।"[३] अन्यत्र उन्होंने लिखा है : "औचित्य के बिना न अलङ्कार रुचिरता देते हैं, न गुण।"[४] अन्त में उन्होंने घोषित किया : "प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलङ्कार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्य भारती इस तरह शोभित होती है जैसे पीन-स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।"[५]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि औचित्य से काव्य में चारुत्व आता है। साथ ही अलङ्कार और गुणों का प्रयोग भी अपने आप में सौन्दर्य-धायक नहीं हो सकता। उनको भी औचित्य से सौन्दर्य-विधान की शक्ति मिलती है। यह औचित्य मत का कलापक्षीय आधार है। इस दृष्टि से औचित्यमत ने पूर्व प्रतिष्ठित सभी काव्य-मतों में समन्वय करने की चेष्टा की। अलङ्कारों, रीतियों, गुणों और रसों के साथ औचित्य की स्थापना की गई है। अनियन्त्रित काव्य-योजना को औचित्य मत नियन्त्रित करना चाहता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत यहाँ द्रष्टव्य है :

---

१. औचित्य विचार चर्चा (अनुवाद), मनोहरलाल गौड़, पृ० ३
२. ,, पृ० ३
३. ,, पृ० ४
४. ,, पृ० ४
५. औचित्य विचार पृ० १०

"काव्य में रस योजना भी अनियंत्रित हो सकती है।......इस अनियंत्रित योजना का उपशमन करने के लिए औचित्य मत की व्याख्यायें उपस्थित की गई हैं। रस काव्य का मूल तत्त्व हो, अथवा अलङ्कार, रीति आदि के द्वारा परिपुष्ट और विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों द्वारा संयोजित उपकरण हो—दोनों ही स्थितियों में उसके औचित्य का प्रश्न ही रहता है। क्षेमेन्द्र ने कदाचित् इसी दृष्टि से रसौचित्य का विचार किया है।......औचित्य केवल वस्तु-रचना तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् काव्य के समस्त आधारों का निरीक्षण करता है।"[1]

औचित्य का दूसरा पक्ष सामाजिक या नैतिक है। इसका सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है। वस्तुगत अनौचित्य काव्य के रसास्वाद में बाधक होता है। रसाभास, भावाभास आदि के लिए अनौचित्य ही किसी-न-किसी रूप में उत्तरदायी होता है। नैतिक औचित्य की चर्चा का लक्ष्य रस-परिष्कार ही होता है। परिवर्तनशील समाज के नैतिक आदर्शों को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। क्षेमेन्द्र की औचित्य-चर्चा को व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत माना जा सकता है। यह मत इतना व्यापक है कि काव्य के भावपक्ष, वस्तुपक्ष और कलापक्ष सभी इसमें आ जाते हैं। काव्य के सभी अङ्गों और पक्षों में औचित्य, सङ्गति का प्रतिपादन दृढ़ता से किया गया है। कलागत सामञ्जस्य और नैतिक आदर्शों की उचित परिणति काव्य को उच्च-कोटि का बना सकते हैं।

केवल रूपवादी काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की अपेक्षा इस सिद्धान्त की व्यापकता स्वतः सिद्ध है। इसमें रूप और वस्तु दोनों की कलात्मक और नैतिक उचित व्यवस्था को रसास्वाद के लिए केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया गया है।

३. संशोधन या पुनरावृत्ति काल—(११ वीं से १७ वीं शती तक)

इस युग में अनेक आचार्य हुए, पर नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना नहीं हुई। पुरातन युग के सिद्धान्तों का चर्वण, पुनराख्यान, संशोधन या समन्वय ही इस युग में हुआ। आचार्यों ने प्राक्तन सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन ही नहीं किया, उनको सुबोध और स्पष्ट करने का भी उद्योग किया गया। इस युग के प्रमुख आचार्यों की सूची यह है : मम्मट [११-१२ वीं शती], रुय्यक [१२ वी शती], हेमचन्द्र [१२ वीं शती], रामचन्द्र गुण चन्द्र [१२ वीं शती], जयदेव [१३ वीं शती], विश्वनाथ [१३-१४ वीं शती], भानुदत्त [१३-१४ वीं शती], जगन्नाथ [१७ वीं शती], अप्पय दीक्षित [१७ वीं शती] जैसे आचार्य हुए।

इनमें से कुछ आचार्यों का वैशिष्ट्य भी माना जा सकता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रबल समर्थन किया। मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के तीन भाग हैं : कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण स्वरचित नहीं हैं। यही शैली प्रायः आचार्यों ने अपनाई थी। रामचन्द्र गुण चन्द्र ने भी इसी शैली को अपनाया। इनके 'नाट्य दर्पण' को देखकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अधिकांश आचार्यों ने

१. साहित्यालोचन ३।२ ; पृ० ६-१०

काव्य-शास्त्र पर ही लिखा, पर नाट्य-शास्त्र की परम्परा भी किसी प्रकार इस युग में चलती रही। वृत्ति-भाग कारिका के स्पष्टीकरण के लिए ही होता था। इसकी रचना भी स्वयं लेखक करता था। पर उदाहरण भाग सङ्कलित ही होता था।

जयदेव ने इस प्रणाली को बदला। ये अलङ्कार के बड़े ही प्रबल समर्थक थे। ये उस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं, जिसमें आचार्यत्व दुर्बल होता जाता था और काव्य प्रतिभा का उन्मुक्त विलास उदाहरण-रचना के रूप में विकसित होने लगा था। इस प्रवृत्ति के फल स्वरूप कारिका भाग अत्यन्त संकुचित होने लगा, वृत्ति भाग समाप्त ही होने लगा और उदाहरण भाग स्फीत और रमणीय होने लगा। जयदेव ने अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया। उसके पूर्वार्द्ध में अलङ्कार का लक्षण दिया और शेषांश में उदाहरण की योजना करके एक चमत्कार सा उत्पन्न किया। विश्वनाथ ने एक ओर मम्मट की विश्वकोष और कवि-शिक्षा की पद्धति को अपनाया दूसरी ओर नाट्य और काव्य-शास्त्र की परम्परा को पुनर्जीवित किया। साथ ही आचार्यत्व के साथ कविसुलभ प्रतिभा का भी उन्होंने सामञ्जस्य किया। विश्वनाथ में भी उदाहरणों मे रमणीयता लाने की प्रवृत्ति प्रबल दिखाई देती है।

एक और उल्लेख्य प्रवृत्ति इस युग में मिलती है। वह है नायक-नायिका-भेद का विस्तार। कुछ आचार्यो ने इसका विवेचन रस-प्रकरण में किया। स्वयं विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में इस प्रकरण में रस लिया। शारदा तनय ने अपने भाव-प्रकाश के दस अधिकारों में से दो में केवल नायक-नायिका निरूपण ही किया है। भानुदत्त ने इसी नायक-नायिका भेद पर एक अलग ग्रन्थ ही रच दिया—रसमञ्जरी। इन्होंने भी काव्य-प्रतिभा के संयोग से आचार्यत्व को सरस–रमणीय बनाया। नायक-नायिका भेद को वैष्णव आचार्यों—रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि—ने भी विशद रूप प्रदान किया। इस नायक-नायिका निरूपण की लोक-प्रियता इस युग की एक विशेषता थी। प्राचीन उद्भावक आचार्यों ने इस प्रकरण पर विशद विचार नहीं किया था, क्योंकि वे अपने सिद्धान्त की ऊहापोह में उलझे रहे। भोज ने इसको शृङ्गार के विस्तार के साथ कुछ विस्तार अवश्य दिया।

इस युग में एक और घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक है। १५-१६ वीं शती में भक्ति और दर्शन की धाराएँ भी काव्य-शास्त्र को नवीन रूप में प्रभावित करने लगी थीं। भक्ति–मिश्रित काव्य-शास्त्र का सूत्रपात रूप गोस्वामी ने किया जयदेव ने भी राधा-माधव को अपने उदाहरणों का विषय बनाया, पर भक्तिभाव का जयदेव में अभाव था। रूप गोस्वामी को मुख्य रूप में भक्ति-रस की साधना का विवेचन करना था। उन्होंने रस-साधना को काव्य-शास्त्रीय ढाँचे में ढाला,[1] यह उनकी एक विशेष महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है। भक्तिरस की स्थापना भी प्रथम बार इतनी दृढ़ता के साथ इन्होंने ही की। मधुररस का सूक्ष्म विवेचन उज्ज्वल नीलमणि में सूक्ष्मता के साथ किया गया है। अप्पय दीक्षित भी दर्शन के पण्डित थे। इन्होंने भी भक्ति और

१. भक्ति रसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि।

दर्शन का पुट अपने आचार्यत्व में दिया। संक्षेप में इस युग के आचार्यत्व की प्रमुख विशेषताओं की तालिका इस प्रकार दी जा सकती है—

१. मौलिक सिद्धान्तों की उद्‌भावना का अभाव।
२. कवि-शिक्षा या काव्य-शास्त्रीय विश्वकोष रचने की ओर प्रवृत्ति।
३. कारिका भाग का सङ्कोच : वृत्ति की समाप्ति और उदाहरण—सौष्ठव की ओर विशेष रुचि, उनमें भी स्वरचित उदाहरणों की रचना की ओर झुकाव। इससे गम्भीर आचार्यत्व पर प्रभाव।
४. भक्तिपरक काव्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्र परक भक्ति-विधान की प्रवृत्ति।
५. मधुर रस या भक्ति रस की स्थापना : इससे शृङ्गार का समुचित उन्नयन।
६. अलङ्कार और चमत्कार की ओर झुकाव।

७. नायक-नायिका भेद के विस्तार की अत्यधिक प्रवृत्ति। आगे के आचार्यत्व को इन प्रवृत्तियों ने बहुत प्रभावित किया। कुछ आचार्यों को छोड़ कर, अन्यों में काव्य-शास्त्रीय प्रौढ़ता के स्थान पर काव्य-प्रतिभा का विलास अधिक मिलता है। आगे के आचार्यों पर रूप गोस्वामी, भानुदत्त, केशव मिश्र, कवि कर्णपूर, अप्पय दीक्षित जैसे आचार्यों का प्रभाव अवश्य पड़ा। इन आचार्यों से तात्पर्य हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों से है। पण्डितराज जगन्नाथ इन उत्तरकालीन आचार्यों में शास्त्र की दृष्टि से सबसे प्रौढ़ थे। पर इनका प्रभाव रीतिकालीन आचार्यत्व पर विशेष परिलक्षित नहीं होता।

४. हिन्दी का रीतिकालीन आचार्यत्व (१७ वीं से १६ वीं शती)

इस काल में संस्कृत के स्थान पर 'भाषा' प्रतिष्ठित हो जाती है। भाषा की प्रतिष्ठा के साथ संस्कृत साहित्य-शास्त्र विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में बँट जाता है। प्रमुख रूप से हिन्दी (ब्रज भाषा) और मराठी में संस्कृत की सैद्धान्तिक समीक्षा की परम्परा मिलती है। हिन्दी के आचार्यों का उपजीव्य संस्कृत काव्य-शास्त्र ही रहा। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उसकी अपनी निजी विशेषताएँ भी थीं। उसे अपनी सीमाओं के भीतर रह कर भी चमत्कार उत्पन्न करना था।

भाषा का कवि संस्कृत काव्य-शास्त्र से कुछ परिचित था। पर उसे संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रयोग में पूर्ण आस्था नहीं थी। क्या 'भाषा' इस सम्भार को वहन कर सकेगी, यह प्रश्न उसके सामने था। उसने इसके प्रति विशेष अनुराग नहीं दिखलाया। स्वयंभू ने लिखा—

णउ बुज्झिउ पिङ्गल पच्छास,
णउ भामह दण्डिय लङ्कास।

तुलसी तक आते-आते 'भाषा' की परम्परा सुदृढ़ और सुनिश्चित हो गई। वीरगाथाकार भी जिन उद्देश्यों से प्रेरित था, उनके लिए काव्य-शास्त्रीय विधान आवश्यक नहीं था। निर्गुणियों भक्त-कवियों का तो संस्कृत काव्य-शास्त्र से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। वे प्रायः शास्त्रीय मान्यताओं के विरोधी ही थे। शास्त्रीय विधान से बोझिल होकर एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा अपने स्वाभाविक माधुर्य को खो बैठती है। 'भाषा' का वह माधुर्य इस बोझ के हटने पर प्रकट हो जाता है। उसी के आधार पर भाषा-कवि अपने रस-कर्म में निरत रहा। विद्यापति के 'देसिल बयणा सब जन मिट्ठा' में यही भावना है। तुलसी को भी इसका भरोसा था। काव्य-शास्त्र के प्रति उनकी भी एक उदासीनता दीखती है—'कवित विवेक एक नहिं मोरे।' उनका कथ्य अपने आप में महान् और उदात्त था और माध्यम अपने निजी माधुर्य से स्नात था। इस प्रकार हिन्दी भाषा के आरम्भिक विकास-काल तक काव्य-शास्त्र के प्रयोग या उसके प्रणयन की ओर आकर्षण नहीं हुआ।

कृष्णभक्ति शाखा काव्यशास्त्रीय परम्परा से अवश्य सम्बद्ध हुई। रूप गोस्वामी ने मधुर रस तथा नायक-नायिका विवेचन सहित जिस भक्ति-रञ्जित काव्य-शास्त्र का सूत्रपात किया था, उसका पल्लवन कृष्णभक्त कवियों में परिलक्षित होता है। जयदेव की वाणी भी इस परम्परा में गृहीत हुई। विद्यापति ने काव्य-शास्त्र तो नहीं लिखा, पर काव्यशास्त्रीय विधान से उनका काव्य मुक्त नहीं है। भक्ति के प्रभाव से काव्य-शास्त्रीय रस-सिद्धान्त और नायक-नायिका भेद विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ : अलङ्कार आदि रूपवादी सिद्धान्तों की उपेक्षा कर दी गई। साथ ही भक्तिभावना ने आचार्यत्व की प्रौढ़ता की प्रेरणा न देकर उदाहरणों को रस-सिक्त करने की ओर ही संकेत दिया। राधा-कृष्ण का दिव्य सौन्दर्य-शृङ्गार उदाहरणों में उद्भासित हो गया। सूर की 'साहित्य लहरी' तथा नन्द दास की 'रसमञ्जरी' तथा रहीम की 'बरवै नायिका भेद' तथा कृष्ण राम की 'हित तरङ्गिणी' जैसी कृतियों में भक्त्याश्रित नायिका-भेद की शास्त्रीय परम्परा मिलती है। इनका उद्देश्य अधिकांश शास्त्रीय नहीं रहा। नन्ददास का उद्देश्य था प्रेम की रीति का परिचय। —

'बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।'

मोहन लाल मिश्र के 'श्रृङ्गार-सागर' का उद्देश्य भी भक्तिमूलक ही था। इस प्रकार कृष्णभक्ति शाखा में शृङ्गार-निरूपण और नायिका-भेद की शास्त्रीय परम्परा चलती दीखती है। इन कवियों ने उद्देश्यतः शास्त्र का प्रणयन नहीं किया, पर शास्त्र की पद्धतियों को भक्ति-प्रेम पद्धतियों के साथ एक कर दिया।

एक दूसरी प्रतिक्रिया अलङ्कारवाद की ओर भी दृष्टिगत होती है। गोप ने 'रामभूषण' में अपनी रामभक्ति भावना मिश्रित अलङ्कारनिरूपण की रुचि का परिचय दिया है। पर अलङ्कारवाद का पुनरुत्थान रीतिकाल में शुद्ध आचार्यत्व का सूत्रपात करता है। केशव इस अलङ्कारवादी प्रतिक्रिया के जनक थे। आचार्यत्व की ओर विशेष ललक का कुछ मनीषी अनुभव करने लगे।

आगे चलकर रीतिकालीन आचार्यत्व को राज्याश्रय और प्रोत्साहन भी प्राप्त होता रहा। आश्रय संस्कृत के आचार्यों को भी प्राप्त हुआ था[१] और हिन्दी के आचार्यों को भी।[२] पर राज्याश्रय का हिन्दी के आचार्यत्व पर ही विशिष्ट प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सामान्य लक्षण और सरस उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। आश्रयदाता शास्त्र की सूक्ष्मता में नहीं विनोद में रुचि रखता होगा। गद्य के अभाव में लक्षणों की व्याख्या सम्भव नहीं रही।[3] जहाँ तक आधार का प्रश्न है, रीतिकालीन आचार्य उद्भावक आचार्यों का मनन करने में असमर्थ हो गये। जयदेव, अप्पय दीक्षित, भानुदत्त जैसे व्याख्याता और कवि आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों को ये अपना आधार बना कर चले।

रीतिकालीन आचार्यत्व का एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है : ये आचार्य काव्यशास्त्रीय धारा को भाषा के कगारों में मोड़ लाए। इस परम्परा ने राजवर्ग की काव्य-रुचि का शास्त्रीय संस्कार किया। पर इस काल के काव्य-शास्त्र की कई सीमाएँ हैं। 'आचार्य' पर 'कवि' का नियंत्रण है। इस युग में प्राचीन सिद्धान्तों की व्याख्या तो दूर रही, उनका अवतरण भी स्वच्छ न हो सका। सिद्धान्त प्रतिपादन अस्पष्ट और उलझा हुआ है। बहुतों को संस्कृत काव्य-शास्त्र का सम्यक् ज्ञान तक नहीं था। फिर भी केशव, चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि जैसे आचार्य अपनी सूक्ष्म दृष्टि के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। फिर भी शास्त्रीय ऊहापोह इन्होंने सामान्य रूप से ही की।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का मूल्याङ्कन करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है : "यह बात स्पष्ट रूप में कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण-भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है।......ये आचार्यत्व के अयोग्य हैं। वे कवि ही प्रधानरूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।"[४] डा० सत्यदेव चौधरी ने भी लगभग यही बात कही है : "चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया—यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योगदान नहीं है, यह भी सत्य है।"[५]

५. नवोत्थान-काल (१६ वीं शती से अब तक) —

सैद्धान्तिक समीक्षा-विकास की दृष्टि से इस युग को तीन भागों में विभक्त

१. I. B. Chaudhary, Muslim Patronage of and Contribution to Sanskrit Learning, Introducing India, Part II, Calcutta
२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग
३. डा० बच्चनसिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यञ्जना, पृ० ६३
४. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ३५ [द्वितीय संस्करण]
५. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ७५०

किया जा सकता है : भारतेन्दु–द्विवेदी–युग (१८७५–१९२५) शुक्ल युग (१९२६–१९४०) एवं शुक्लोत्तर युग (१९४१–) प्रथम युग में भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्र बन्धु तथा श्यामसुन्दर दास ने इस प्रकरण में लिखा। भारतेन्दु ने 'नाटक' ग्रन्थ में प्राचीन नाट्य-सिद्धान्तों के नवीनीकरण और प्राचीन-नवीन के समन्वय की चेष्टा की। इसी के साथ उन्होंने यूरोपीय नाटकों की भी चर्चा की। यह एक प्रौढ़ शास्त्रीय ग्रन्थ है। अन्य विद्वानों ने भी पाश्चात्य और पौर्वात्य काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। इन लेखकों ने चाहे मौलिक रूप से कम विचार किया हो, पर रीतिकालीन पद्धति का परित्याग करके एक वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति को जन्म दिया। इन्होंने गद्य में ही लिखा : इससे विवेचन के लिए विशेष अवकाश मिला।

आचार्य शुक्ल ने समस्त भारतीय काव्य-शास्त्र को मनोविज्ञान और तुलना के योग से नवीन रूप प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया तथा रस-सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इस सिद्धान्त की मौलिक व्याख्या 'रस मीमांसा' में हुई। सामाजिक परिवेश के अनुसार भी इस सिद्धान्त की व्याख्या शुक्लजी ने की है। इस क्षेत्र में शुक्लजी की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

शुक्लोत्तर युग में साहित्य-शास्त्र के पुनरुज्जीवन और नवीनीकरण का कार्य गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी और नगेन्द्र जैसे विद्वानों ने किया। गुलाबराय जी ने शास्त्रीय-सिद्धान्तों को सरल-सुबोध रूप में प्रस्तुत किया। साथ ही दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रस्तुत किये। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य-शास्त्र की परम्परा को छोड़ कर मानवतावादी, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षा के सिद्धान्तों का अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्रयोग किया। वाजपेयी जी ने पाश्चात्य और पौर्वात्य साहित्य-शास्त्र को समीप लाने का प्रयत्न किया।

डा० नगेन्द्र की भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। साथ ही इस नवीन व्याख्या में मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता ली। इसीलिए इनकी व्याख्याएँ नवीन और मौलिक हो उठी हैं। रस के सम्बन्ध में उनकी गवेषणाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। साधारणीकरण और रस निष्पत्ति सम्बन्धी स्वच्छ स्थापनाएँ इन्होंने की हैं और परम्परा से चले आते हुए भ्रमों का निराकरण भी किया है। रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—पाठक का तादात्म्य काव्यगत आश्रय से नहीं, स्वयं कवि से होता है। ध्वनि, रीति आदि के क्षेत्र में भी उनका कार्य सराहनीय है। साथ ही पाश्चात्य काव्य-शास्त्र को उन्होंने हिन्दी में प्रस्तुत किया। इससे तुलनात्मक अध्ययन और अनुसन्धान को नवीन प्रेरणा मिली है। प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों

का तुलनात्मक अध्ययन स्वयं नगेन्द्र जी ने किया है। "वस्तुतः उन्होंने हिन्दी समीक्षा को एक ऐसी व्यापक भूमि प्रदान की है जिससे विश्वसाहित्य-शास्त्र की दो चरम सीमाओं—ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य-शास्त्र का गुम्फन उसमें हो जाता है। उनका 'रस-सिद्धान्त' नामक वृहद् ग्रन्थ इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न है।

इस युग में शोध-कार्य भी इस क्षेत्र में पर्याप्त हुआ है। शोधकर्ताओं में उल्लेखनीय हैं: आचार्य बल्देव उपाध्याय, रामदहिन मिश्र, भगीरथ मिश्र, गोविन्द त्रिगुणायत, भोलाशङ्कर व्यास, आनन्द प्रकाश दीक्षित, राममूर्ति त्रिपाठी, सत्यदेव चौधरी आदि। इन्होंने भी प्राचीन साहित्य शास्त्र का आधुनिक दृष्टि से अध्ययन किया है। हिन्दी के क्षेत्र में संस्कृत काव्य-शास्त्र को पर्याप्त विस्तार मिला है।

मराठी और बंगला के क्षेत्रों में भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। प्रगति हो रही है। सम्भवतः इतना आलोड़न हो जाने पर भी बहुत कुछ शेष है, जिसका आधुनिक प्रकाश में मूल्याङ्कन होना है।

२

हिन्दी साहित्य

अतीत

एवं

विकास

१३

भक्ति-साहित्य की भूमिका

१. भक्ति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
२. भक्ति का सामाजिक स्वरूप
३. नाथ और सिद्ध-सम्प्रदाय
४. शक्ति, शैव, तंत्रवाद, हीनयान और महायान
५. नेस्टोरियन, ईसाई और मुस्लिम प्रभाव-खण्डन
६. जैन साहित्य एवं अवतार कल्पना
७. सात्विक, राजस, तामस एवं निर्गुण भक्ति
८. निष्कर्ष

हिन्दी के आदिकालीन कुहासे को चीर कर भक्ति की किरणें कुछ स्पष्ट और सुनिश्चित होने लगीं थीं। आदिकाल में भी कवियों के दो वर्ग थे: स्वतंत्र और राज्याश्रित। स्वतंत्र कवि ने अपने स्वर जन-वीणा से मिला दिए थे: उनकी वाणी लोकमत और जन-जीवन से सामञ्जस्य स्थापित करने लगी थी। सामन्तकालीन जनोत्पीड़न, जो जातीय, राष्ट्रीय और वर्गवादी धर्म-व्यवस्था के आवरण में छुपा हुआ था, अब उभरने लगा। उसे वाणी की आवश्यकता थी। भक्त कवियों और आचार्यों ने उसे वाणी दी। आश्रित कवि यों ही शास्त्रीयता, बहुज्ञता और प्रशस्ति गायन के थोथे स्वरों में उलझा था: सामन्त युग का यह क्षयोन्मुख ढाँचा अब स्वयं उस कवि के लिए एक दारुण व्यंग्य बन गया। जय के गीतों में, वह शृङ्गार तो सजा सका, पर उसके साथ पराजय की अनुभूतियों को संग्रथित करना उसे नहीं आया—वह विवश था। दान तो स्वरूप एवं मात्रा दोनों ही में सीमित हो गया; पर दानवीरता आश्रित कवि की वाणी में चतुर्गुण मुखरित होती रही: वीरता का अभाव होता जा रहा था: पर पूर्वजों की वीरता से कवि सामन्त को भरमाए रहा। दरबारों में 'ब्राह्मण' और चारण के बीच प्रतिद्वन्द्वता थी। ब्राह्मण राजगुरु भी था और मंत्री भी: उसकी धार्मिक व्यवस्था सामन्त के प्रत्यक्ष और अदृष्ट दोनों का नियमन करती थी। प्रजा इस 'शाश्वत' (तथाकथित) व्यवस्था के सामने नत मस्तक थी क्योंकि कवि-परम्परा के सन्तत स्वरों में सामन्त भगवदंश था। 'चारण' आश्रयदाता की वीरता, धर्म-रक्षा-वृत्ति और विधर्मी से संघर्ष के गीत गाकर, प्रजाजन के रागात्मक पक्ष को 'वीर पूजा' पर केन्द्रित कर रही थी: स्वामि-भक्ति को ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य सिद्ध कर रही थी। इस प्रकार सामन्तीय व्यवस्था के दो प्रमुख स्तम्भ थे: ब्राह्मण और चारण। ब्राह्मण का वैदिक ज्ञान और कवि का

व्यावहारिक ज्ञान दरबार के वातावरण में एक पूरकता उपस्थित करता था। जब आर्थिक सङ्कोच के कारण सामन्त को अपने आश्रितों के व्यय में कटौती करनी पड़ रही थी, तब 'ब्राह्मण' और 'चारण' की वह प्रतिस्पर्द्धा सतह पर आगई। चारण की वाणी के आस्वाद की परिस्थिति बदल गई थी। ब्राह्मण ने वीरता के आवरण को हटाकर शृङ्गार का शास्त्रीय परिष्कार किया : काव्यशास्त्रीय प्रहेलिका-तत्त्व से शृङ्गार के विधान को चमत्कृत कर दिया और पराजय के कुण्ठित क्षणों के अनुरञ्जनार्थ समयानुकूल रसास्वाद-विधान अपनी वाणी से उत्पन्न किया। चारण प्रायः सामन्त की वीरता के साथ खिसकने लगा। शास्त्रीय शृङ्गार-जाल में ब्राह्मण उसे उलझाने लगा। आश्रयदाता भी रहा और आश्रित कवि भी पर वाणी की दिशा और रसास्वाद के स्वरूप में आमूल परिवर्त्तन होगया जिसके परिणामस्वरूप सामन्त की रुचि और कवि की शैली में शास्त्रीयता उभरती गई। रीतिकाल का प्रादुर्भाव हुआ।

स्वतंत्र कवि की लोकमत के साथ सन्निविष्ट-प्रतिभा सामन्त से नहीं विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों से निबद्ध थी। बङ्गाल शक्ति-पीठ रहा है। उड़ीसा और असम तंत्र केन्द्र थे। बिहार-बौद्धमठ और विहारों का केन्द्र था। बज्रयान, हीनयान आदि से सम्बलित बौद्ध तत्त्व शाक्तमत और तंत्रवाद से सम्पृक्त हुए। नाथ-सम्प्रदाय शैव-दर्शन और योग की रहस्यवादी परम्परा को पुष्ट कर रहा था। मत्स्येन्द्र और गोरख की वाणी समस्त उत्तरी भारत पर छा गई। जब शैवों, शाक्तों की आगम धाराएँ, बौद्ध धर्म के साथ मिलीं, तो एक ऐसी त्रिवेणी बनी, जो आगमवादियों का तीर्थराज बन सकी। प्रतीक-पूजा तो इस त्रिवेणी के पुजारी—सिद्ध-कवि—को स्वीकार्य थी, पर प्रतीक-कल्पना अत्यन्त गुह्य थी : सामाजिक आदर्शों की उपेक्षा पर नहीं टिकी थी। गुरु स्वयं ही प्रतीक हो चला था और युगबद्ध प्रतीक समस्त आचार में व्याप्त थे। साधना या समाधि के क्षण 'महासुख' और उसके 'सहज' रूप से आपूरित थे। उन क्षणों की रहस्यानुभूतियाँ-लोक-निरपेक्ष शैली-विपरीत अलङ्कार-विधान की अपेक्षा रखती थी : इन लोकोत्तर अनुभूतियों का क्रम लोक-क्रम से उल्टा ही होता था। 'सन्धा-भाषा'-गुह्य प्रतीकों से नियोजित—ही सिद्ध के लिए माध्यम बन सकती थी। वज्रगीतों और चर्यापदों में साधना और समाधि के स्फीत क्षणों की वाणी समा गई थी। काव्य के तत्त्व या तो प्रतीक-योजना में थे, या साधना-परक शृङ्गार और 'महासुख' की शृङ्गारिक अभिव्यक्ति में। यहाँ शृङ्गार फैशन नहीं एक आवश्यकता थी। साधना के साथ आनुष्ठानिक शृङ्गार-तत्त्वों के विधान में शास्त्रोक्तता आजाय या ले आई जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। अभिनवगुप्त जैसे रस-व्याख्याता और सौन्दर्य तत्त्वान्वेषी तांत्रिक विचारधारा से प्रभावित और उसमें दीक्षित थे। पर इस साधना का एक लोकोन्मुखी प्रतीक-विधान था। इसमें बोधि-सत्त्व प्रतीक था। उसके प्रति इस मार्ग के अनुसर्ता भाव-परक पूजा भाव रखता था। भक्ति मार्गी बौद्ध-धर्म के अवशेषों का अनुसन्धान और निरूपण किया जा चुका है। लोक में शक्ति-स्वरूपा काली—की

प्रतीक-पूजा भी प्रचलित थी। ये अनुभूतियाँ 'गाथा' की अपेक्षा नहीं रखतीं थीं। कुछ स्फीत क्षण गीतों या मुक्तकों में मुखरित हो उठते थे। वह समय बीत गया था जब 'बुद्ध चरित्र' लिखे जाते थे या बुद्ध अनेक लोकाख्यानों के नायक बन रहे थे। इस प्रकार इस त्रिवेणी पर निवसित कवि 'गाथा', 'चरित्र', 'पुराण' या 'आख्यायिका' को छोड़ चुका था। ये सभी काव्य रूप जनमानस के अधिकार निकट हैं : लोक-मानस आख्यान-प्रिय होता है। यदि दूहा (दोहा) न होता तो विषय और शैली की दृष्टि से सिद्ध कवि जन से बहुत दूर चला जाता। ऐहिक जीवन के नैतिक और व्यावहारिक के सम्बन्ध में सिद्धों की मार्मिक उक्तियाँ दोहों में हुईं। 'दोहा' जनमानस के अधिक समीप था। यह छन्दरूप जन की लोकोक्तियों का भी वहन करता था और उपदेशकों की नीत्युक्तियों का भी। 'दोहा' और 'नीति' सिद्ध को समाज से जोड़े रहे। समाज-सुधार और पतितोद्धार के स्वर भी इनमें गूँज रहे थे। 'डोंबी', 'रजकी', 'चान्डाली' आदि नायिकाएँ सिद्धों के गुह्य अनुष्ठानों और तत्सम्बन्धी शृङ्गारी रीतियो की नायिकाएँ बन रही थी। यहाँ 'नागरी' के लिए स्थान नहीं था। सिद्धो में भी उच्च-वर्गीय सिद्ध बहुत कम थे और जो थे वे इन नायिकाओं से अभिन्न होकर निम्नस्तरीय जातियों की संस्कारिता प्राप्त कर चुके थे। निम्नवर्गीय सिद्ध की वाणी में उच्च-वर्गीय सत्ता के प्रति एक क्रान्ति भी थी। 'शांकर वेदान्त' उच्चवर्गीय दर्शन के रूप में इस सारे विधान को झकझोर चुका था। अतः उससे 'सिद्ध' का समझौता सम्भव नहीं था।

'नाथ' का व्यक्तित्व इससे भिन्न था। उसमें क्रान्ति के स्वर इतसे मुखर नहीं थे। ज्ञानकाण्ड से उसका समझौता असम्भव नहीं था। गुह्याचार और तंत्राभिचार की क्रियाओं के स्थान पर योग की साधना इसको मान्य थी। ऐन्द्रिक-विषयों के आतिशय्य से न वह वासना को दबाना चाहता था और न समाधि की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में वह घोर शृङ्गारी ही था। शृङ्गार की नग्नता जो सिद्ध को मान्य थी, वह योगी को उस रूप में नहीं। आत्मा-परमात्मा भी प्रेमी-प्रेमिका के रूपकों से ही अनुकथित थे : प्रेमिका या प्रेयसी का स्थान बधू लेने लगी थी। साधना के अङ्ग के रूप में नारी का ग्रहण नहीं था। यहाँ तक कि नारी को साधना की बाधा मानकर, वह उसके त्याग के संकेतादेश भी देता था। यह साधना समाज के आदर्शों की इतनी अवहेलना नहीं करती थी, जितनी सिद्ध-साधना। नाथ और सिद्धों के ये भेदक-तत्त्व आरम्भ में इतने स्पष्ट नहीं थे : सिद्धों की परम्परा में नाथ और नाथों की सूची में सिद्धों की गणना प्रायः होती थी। पर भक्तिकाल के पिछले छोर तक पहुँचते-पहुँचते ये भेदक तत्त्व नाथ को सिद्ध से पृथक् करने लगे। पूर्वीय प्रदेशों के अनेक राजवंश नाथों से प्रभावित हुए; सिद्धों को भी राज-सम्मान प्राप्त हो सका। पर नाथों के प्रभाव में पूर्व, मध्य और पश्चिम के राजवंश आगये। मालवा के भर्तृहरि और बङ्गाल के गोपीचन्द की गाथाएँ आज भी नाथ-सम्प्रदायी लोक साहित्य

में तथा अन्यत्र भी व्याप्त हैं ।[१] लोक-साहित्य में योगियों की कुछ गाथाएँ अवश्य मिलती हैं, वैसे इस परम्परा के कवियो ने भी गीत, पद और दोहों को ही पकड़ा। इनकी अनुभूतियों के क्षण अन्तरोन्मुख और रहस्यात्मक थे । गाथा हो तो किसकी ? नाथों का नीतिपरक साहित्य सिद्धों की भाँति, इनको भी जनता से सम्बद्ध किये रहा। सिद्धों में 'ब्रह्म-कल्पना' के लिए स्थान नहीं था। 'नाथ' ने 'शिव' रूप में जो ब्रह्म-कल्पना की, वह आगे चलकर शिव-निरपेक्ष होकर औपनिषदिक ब्रह्म की द्योतक रह गई। इस प्रकार 'नाथ' ने भारतीय संस्कृति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया। इतने तत्त्व सिद्ध के परिप्रेक्ष्य में नही थे।

इसमें सन्देह नहीं कि सिद्ध और नाथों की उक्त परम्परा से सन्त-कवि के द्वारा प्रवर्तित निर्गुण भक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकरण में उन विद्वानों की धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है जो यह कहते हैं कि भक्ति के उदय में ईसाइयत का योगदान है, या मुसलमानों के आक्रमणों ने निराश और विवश जनता को भाग्य-वादी और ईश्वरोन्मुख बना दिया। डा० ग्रियर्सन प्रथम भ्रान्त-धारणा के जनक थे। उनके मत का सारांश डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में दिया है : "ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह (भक्ति) ईसाइयत की देन है। ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्ही ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का सन्देश मिला। यह एकदम गलत है। अब इस अटकल के सहारे स्थिर किए हुए मत पर कोई विश्वास नहीं करता। इसलिए इसका उत्तर देना बेकार है।"[२] बेवर ने कृष्ण जन्माष्टमी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण-जन्म-कथा को ईसा की जन्म-कथा से जोड़ दिया है।[3] केनेडी के मत का सारांश इस प्रकार है : गूजरों से कृष्ण-वार्ता का घनिष्ट सम्बन्ध है। गूजर सिथियन जाति के हैं। अतः बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल प्रदेश की किसी मत-सम्प्रदाय से मिली होगी।[४] डा० भण्डारकर जैसे मनीषी भी बह गए। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण का साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। कृष्ण की जन्म-कथा को भी क्राइष्ट की जन्म-कथा के साथ रख कर देखा।[५] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इस समस्त ऊहापोह पर बड़ा खेद प्रकट किया।[६] डा० द्विवेदी ने राधाकृष्ण के विकास का निज स्रोती आधार

---

१. जायसी "पद्मावत" नागमती वियोग खण्ड
२. हिन्दी साहित्य, पृ० ८८। डा० ग्रियर्सन के मत के लिए देखिए, जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी, (१९०७) में प्रकाशित हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण, शीर्षक निबन्ध ।
३. इण्डियन ऐंटिक्वैरी, भाग ३-४ : 'कृष्ण जन्माष्टमी' पर लेख ।
४. जनरल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी (१९०७) 'कृष्ण क्रिशियानिटी और गूजर' लेख ।
५. वैष्णविज़म्, शैविज़म एण्ड अदर माइनर सेक्टस; पृ० ३८-३९
६. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूरसाहित्य की भूमिका, पृ० ७

निरूपित किया : "कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य, अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद, प्रेम-ज्ञान, वात्सल्य, दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलम्बन मे पूर्ण ब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया।[१]

भक्ति के उदय को आकस्मिक मानने वाला दूसरा वर्ग, इसका सम्बन्ध मुस्लिम आक्रमण से जोड़ता है। प्रो० हेवेल का मत इस प्रकार है : मुसलमानी सत्ता प्रतिष्ठित होगई। हिन्दू सामन्तों को तथा जनता को राजकाज से छुट्टी मिल गई। अतः उनका धर्म की ओर आकर्षण हुआ। भक्ति के लिए वातावरण बन गया।[२] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इससे मिलता-जुलता मत अपनाया : "इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[३] वास्तव में शुक्ल जी परिस्थितियों के विश्लेषण से तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। पर उन्होंने भक्ति-साहित्य का सांस्कृतिक और सैद्धान्तिक विश्लेषण भी कम नहीं किया। उस विश्लेषण में आकस्मिकता का स्थान परम्परा ने लिया है फिर भी भक्ति-प्रेरणा के निजी स्रोतों के स्पष्ट संकेत उनमें मिलते हैं। साथ ही शुक्ल जी ने सिद्धों की तथा अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी से पूर्णतः सम्बद्ध न मानते हुए भी उनका विवरण इसलिए दिया कि सन्ताश्रित भक्ति-साहित्य पर वैज्ञानिक और परम्परापेक्षी विचार-विश्लेषण हो सके। उन्होंने भक्ति के विकास में सिद्ध-वाणियों का सीधा प्रभाव तो नही माना। शायद, ऐसा अभिमत देते समय उनकी दृष्टि में सगुण-भक्ति-धारा ही रही हो। परन्तु उन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के रूप में इनका महत्त्व स्वीकार अवश्य किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भक्ति का विकास "ब्रह्म सूत्रों पर, उपनिषदों तथा गीता पर भाष्यों की विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही परम्परा में हुआ।[४] उन्होंने भक्ति-पयस्विनी के दाक्षिणात्य स्रोत की ओर स्पष्ट संकेत किया है : "भक्ति का वह सोता जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[५]

डा० द्विवेदी ने मुसलमानों के आक्रमणों से प्रेरणा-विकास वाले मत का युक्तियुक्त निरसन इस प्रकार किया है :' 'यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब

१. सूर साहित्य, (१९५६) बम्बई, पृ० ११, १९
२. 'दि हिस्ट्री आव आर्यन रूल', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में डा० द्विवेदी द्वारा पृ० १५ पर उद्धृत।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छटा संस्करण, पृ० ६०
४. ,, ,, ,, ,, पृ० ६२
५. ,, ,, ,, ,, पृ० ६२

मुसलमान लोग उत्तर भारत में मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।"[1] पर इतना अवश्य माना जाना चाहिए कि मुसलमानों के आक्रमण की परिस्थितियों में पड़ कर भक्ति की धारा का नवीन मूल्याङ्कन होने लगा। जो दलित जातियाँ पर-धर्म में दीक्षित हो जाती थीं, उनके सन्दर्भ में सन्त की जाति-भेद-उच्छेदक वाणी अधिक निखर सकी। साथ ही अव्यक्त रूप से अत्याचार-अनाचार में तत्कालीन धर्मान्ध शक्तियों की व्यञ्जना भी होने लगी। भक्ति की व्यक्तिगत भावना समष्टि तक विस्तृत होकर एक धार्मिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की सुनिश्चित योजना बन गई। भक्ति-धारा को आन्दोलन का रूप देने में जिन तत्त्वों का योगदान माना जाता है, उनमें तत्कालीन जटिल ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी थीं। भाष्य और टीका ग्रन्थ भक्ति के आचार्यों की दार्शनिक विचारधारा के पोषक और उन्नायक स्रोत कहे जा सकते है। पर साहित्य तो महाकाव्य, पुराण, भागवत, आलवार-साहित्य तथा आदिकालीन साहित्य की आत्मा और उसके रूपों से ही अधिक प्रभावित था। डा० द्विवेदी ने भक्ति को 'भारतीय चिन्तन का स्वाभाविक विकास' कहा। इसे परिस्थितियों ने आन्दोलन का रूप प्रदान किया। आचार्यों ने दार्शनिक सूत्र-विधान किया। इसके साथ परम्परा का बल सन्निविष्ट था ही। लोकोन्मुख साहित्य ने इसकी भावात्मक परिणति सिद्ध की और काव्य-शास्त्र ने इसे परिष्कृत किया। परिष्कार की प्रवृत्ति केवल सगुण-धारा में आई। पूजा-पद्धति और अवतार-कल्पना महायान शाखा के विधान में सम्मिलित हो गई थीं। द्विवेदी जी के अनुसार यदि मुसलमान नहीं होते, तो भी भक्ति-साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।

फिर भी मुसलमानों के साथ सूफ़ी दर्शन की प्रेमाश्रित रहस्यात्मक धारा आई। इस दर्शन में शास्त्रीय धर्मान्धता नहीं थी। मुस्लिम संसार में भी सूफ़ियों को अपने मत के नाम पर बलिदान करना पड़ा था। भारत में सूफ़ियों के कई केन्द्र दिल्ली, अजमेर, झाँसी, बहराइच, झूसी, जौनपुर, पटना आदि स्थानों में स्थापित हो गये। एक ओर सूफ़ी सन्तों ने अपने मत-प्रचार के लिए हिन्दू-प्रेमगाथाओं को अपनाया और लोकोन्मुख योग-मार्ग से अनेक तत्त्व ग्रहण किए, दूसरी ओर भक्ति की स्वाभाविक धारा को भी इसने प्रभावित किया। कबीर पर भी इसका प्रभाव पडा और मीरा में भी प्रेमावेश सूफ़ियों के समान ही प्रतीत होता है। इसीलिए सूफ़ियों की हिन्दी काव्यधारा को भक्तिकाल की निर्गुणधारा की एक प्रशाखा के रूप में स्वीकृत किया गया है। साथ ही मुसलमानों के आक्रमण और शासन के फलस्वरूप जो सामाजिक स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसमें भक्ति के आन्दोलन की प्रेरणा भी कुछ-न-कुछ मानी जा सकती है। मुख्यतः भक्ति-दर्शन शुद्ध भारतीय तत्त्वों से निर्मित है।

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ८८-८९

सिद्ध-साहित्य-धारा के साथ-साथ एक और धारा भी प्रवाहित हो रही थी। यह जैन-काव्य-धारा के नाम से पुकारी जा सकती है। अपभ्रंश-गत जैन साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह धारणा एक भ्रम मात्र है कि इस जैन-साहित्य-धारा में स्थूल धर्मोपदेश, स्तवन-आराधन, वैराग्य और मुनियों की चर्या या पूर्व चरित्रों की ही भरमार है। रस, भाव और जीवन-स्पन्दन की स्फूर्तियाँ भी इसमें पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। स्वयंभू और पुष्पदन्त की कृतियों में धर्माचरण की अपेक्षा काव्य-सम्पदा ही अधिक है। इसमें जीवन की यथार्थ स्थितियों का भी पर्याप्त चित्रण है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें सामन्ती और श्रेष्ठ-वर्ग के वर्णनों को प्राधान्य मिला है, पर सामान्य जन-जीवन की भी इनमें उपेक्षा नहीं है। पुष्पदन्त जैसे स्वाभिमानी कवि में राज-वर्ग के प्रति एक विरुचि की भी सूचना मिलती है। वह कन्द-मूल और फल-फूल पर आधारित वन्य जीवन को राज्याश्रित जीवन से श्रेष्ठ समझता है—

बक्कल णिवसणु कन्दर मन्दिरु, वणहल भोयण बर तं सुन्दर।
बर दालिद्द सरीरह दण्डणु, णहु पुरिसह अहिमान बिहंडणु॥

प्रद्युम्न चरित' के रचयिता सधार अग्रवाल ने पुत्र-वियोग का सजीव-स्वाभाविक चित्रण किया है। रुक्मिणी अपने पुत्र के वियोग से पीड़ित है। इसी प्रकार सामान्य जीवन के अन्य अनेक अनुभूति-पूर्ण चित्र मिलते हैं। इसी प्रकार कवि ठक्कुरसी की 'गुणवेलि' और छीहल कवि की रचनाओं में भी जीवन के सरल-स्वाभाविक चित्रों की जगमगाहट है। उसे अपने आसपास की जनता से प्रेम है : वह उसे समृद्ध देखना चाहता है—

धन कन दूध पूत परिबार। बाढ़े मङ्गल सुपक्षु अपार॥
मेदिन उपजहु अन्न अनन्त। चारि मास भरि जल बरसन्त॥
मङ्गल बाजहु घर-घर द्वार। कामिनि गावहिं मङ्गलचार॥
घर-घर सीत उपज्जहु सुक्ख। नासे रोग आपदा दुःख॥

सामान्य जीवन के चित्रणों के अतिरिक्त शृङ्गार और प्रेम-भावना भी जैन-साहित्य में अविरल मिलती है। यद्यपि शृङ्गार उसके वैराग्य की पृष्ठभूमि में ही है, पर है अत्यन्त उद्दाम और दाहक। उसके वर्णन पर ही वैराग्य की उच्चता आँकी जा सकती है। 'नेमिनाथ चौपई' में नेमि और राजमती का स्वाभाविक प्रेम उच्छलित है। उद्दीपन सामग्री के रूप में बारहमासा और ऋतु-वर्णन की पद्धतियों को अपनाया गया है।

काव्य रूपों की दृष्टि से जैन-साहित्य सिद्ध-नाथ-साहित्य के कुछ विशिष्ट है। इसमें गाथा या लोकगाथा तत्त्व अधिक मिलता है। व्यंग्य और नीति के कुछ मुक्तक भी हिन्दी के समीप वाले जैन साहित्य में मिलते हैं। नीति-उक्तियों की दृष्टि से डूँगर और छीहल कवियों की बावनियाँ उल्लेखनीय हैं। जैनियों के नीति-साहित्य से हिन्दी नीति-साहित्य प्रभावित रहा। राम-भक्ति और प्रेम-काव्य धारा में पुराण-कथाओं और चरित-काव्यों की या गाथाओं की जो परम्परा मिलती है, उसके सूत्र या तो

जैन कवियों के प्रबन्ध-काव्य में खोजे जा सकते हैं, अथवा रासो-परम्परा की प्रेम गाथाओं में। पर धार्मिक वातावरण पलने-बढ़ने वाला प्रेम-शृङ्गार से शवलित जैन प्रबन्ध काव्य, भक्ति-मिश्रित प्रबन्ध काव्य के अधिक समीप आता है।

सिद्धों और नाथों में 'राम-कृष्ण' का रूप नहीं बन पाया था। पर जैन-साहित्य-धारा ने इनको भी काव्योचित रूप प्रदान किया। चाहे भक्ति तत्त्वों का समावेश इन अवतारों के साथ, जैन कवियों ने नही किया हो, पर साहित्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी के आदिकाल में ही उन्होंने करदी थी।

ऊपर सिद्ध, नाथ और जैन परम्पराओं का प्रवृत्ति-गत संक्षिप्त विश्लेषण किया गया है। अब यह देखना है कि उक्त परिस्थितियों ने किस प्रकार भक्ति दर्शन और भावपक्ष का आधार प्रस्तुत किया। सिद्धों ने जाति-पाँति का खण्डन किया था। साधना की उच्च स्थिति प्राप्त करने पर ये भेद-भाव छूट जाते हैं।[1] उनमें बाह्याचाराश्रित साधना की तीव्र आलोचना भी मिलती है, जहाँ तीर्थ, व्रत आदि सभी आचार व्यर्थ हो जाते हैं। साथ ही अपने से इतर सम्प्रदायों का विरोध भी उन्होंने कड़े स्वर में किया है, इसमें सन्देह नहीं कि निर्गुण-सन्तों में ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ इसी रूप में मिल जाती हैं। इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों की सामाजिक परिणति आन्दोलन का रूप धारण कर लेती है। वर्ण-व्यवस्था की जटिलता में मानवता की ममतामयी सरणियाँ लुप्त हो गई थीं। उच्चवर्णीय दम्भ और उनका आभिजात्य की भावना से उत्पन्न गर्व मे निम्न वर्णों की जो उपेक्षा छुपी थी, उसमें क्रान्ति का आह्वान था। उच्च वर्णों में क्षत्रिय तो अपनी समस्याओं से उद्वेलित था। ब्राह्मण-वर्ग अपने आन्तरिक ह्रास से उत्पन्न क्षति की या तो 'शास्त्र' का भार ढोकर, या बाह्याचारों और आडम्बरों के पालन के द्वारा पूर्ति कर रहा था। यद्यपि सगुण-मार्गी भक्तों ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध नहीं किया, तुलसी ने उसकी पुनर्स्थापना की भी चेष्टा की। फिर भी बाह्याचारों या शास्त्रों के आधार पर उनकी उच्चता की स्वीकृति वहाँ भी नहीं है। तुलसी के 'भीलनी' 'निषाद' जैसे पात्र मात्र भावात्मक मार्ग से राम का सान्निध्य प्राप्त कर सकते है। साथ ही उन्हें ब्राह्मण की आन्तरिक दुर्दशा का का भी ज्ञान था, इसलिए उन्होने कहा: 'सोचिय विप्र जु वेद बिहीना।' फिर भी परम्परावादी-पुनरुत्थान की दृष्टि से इस वर्ण-व्यवस्था का समर्थन उन्होंने किया। यह भावना सभी सगुण-निर्गुण कवियों में मिल जाती है कि भक्ति का क्षेत्र सभी प्रकार के वर्गों के लिए खुला है। इसकी साधना से सभी को परमपद मिल सकता है। व्यावहारिक रूप से सगुण-मार्गी मन्दिरों में निम्न वर्णों के प्रवेश का निषेध था। सामान्यत: यह वैष्णव-मन्दिरों की नीति थी। पर प्रत्येक गाँव में हनुमान, देवी, और शिव के मन्दिरों में शूद्र निर्वाध रूप से जा सकते थे। मन्दिरों की इस

---

१. गतं शूद्रस्य शूद्रत्वम् गता विप्रस्य विप्रता
दीक्षा-संस्कार सम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते।
पुरश्चर्यार्णव, (महाराज प्रताप सिंह) बनारस, १६०१, पृ० ४१०

शूद्र-विरोधी नीति की व्यञ्जना साहित्य में नहीं मिलती। अतः साहित्य एक जातीय सङ्कीर्णता की भावना से मुक्त रहा। बाह्याचारों का सगुण मार्गी भक्त कवि ने विरोध तो नही किया, फिर भी यह स्वर मुखरित है कि बाह्याचारों का भगवान् के निकट इतना महत्त्व नहीं है, जितना हृदय की भावात्मक एकनिष्ठता का। अपने विरोधी सम्प्रदायों और मतों का खण्डन निर्गुण-मार्गी भक्त ने किया। वह 'सहज' और 'सरल' साधना के विरोध में चलने वाले शास्त्रीय ब्राह्मणाश्रित या कट्टर मुस्लिम सम्प्रदायों को सहन नहीं कर सका। तुलसी ने अवपतित निर्गुणमार्गी जातियों का कटु खण्डन किया है। कृष्ण भक्त कवियों को अपनी आत्मोन्मुख साधना में सम्भवतः इस सबके लिए अवकाश मिला।

निर्गुण भक्ति-मार्ग में योग का तत्त्व बड़े आग्रह के साथ गृहीत है। गोरख-नाथ के नेतृत्व में योग-मार्ग की स्थापना तंत्र साधना के स्थान पर हुई थी। गोरख के प्रभाव में ऐसे योग-मार्गी भी आगये जो न शैव थे और न शाक्त जो शुद्ध शैवागमी थे।[1] अधिकांश सिद्ध-मार्गानुयायी भी इस नाथ-पन्थ में दीक्षित होगये थे। कुछ जैन तांत्रिक सम्प्रदायों का अन्तर्भाव भी नाथ-पन्थ में हुआ, ऐसे संकेत भी मिलते हैं।[2] अवधूत-मार्गी भी गोरख के प्रभाव में आगये। इस प्रकार योग के केन्द्र पर एक सबल धार्मिक सङ्गठन होगया। इसका प्रभाव बहुत दूर तक परवर्ती काल में मिलता है। तंत्र और योग की मिली-जुली परम्परा का प्रभाव सूफियों पर भी पड़ा। पूर्वी भारत के दीनाजपुर के शाह मदार के अनुयायी कुछ मुसलमानों को 'जोगी' कहा जाता है।[3] पंजाब में भी कुछ मुसलमानों की साधना पद्धति योग-मार्गी है।[4] इन लोगों में योग और सूफ़ी साधनाओं का मिश्रण है। जायसी में इस नाथ-मार्ग समन्वित सूफ़ी प्रेम की स्पष्ट गूँज है: वहाँ अन्य तत्त्वों के साथ शिव-तत्त्व भी विद्यमान है। बङ्गाल के बाउल-साहित्य में सूफ़ी, सहज और योग साधनाओं का मिश्रण है।

दक्षिण भी नाथ-योग-प्रभाव से मुक्त नहीं रहा। कुछ दक्षिणी जोगी-नाथ-पूजा करते हैं।[5] महाराष्ट्र में कुछ जोगी भैरवोपासक हैं और कुछ गृहस्थ भी।[6] मलयाली कुल के जोगी काली की उपासना में विश्वास रखते हैं और मैथुन-साधना में भी। प्रायः समस्त आन्ध्र-प्रदेश में तथा शेष दक्षिण भारत में भी ऐसे शैव-निर्गुण साधकों का प्रसार था, जिनकी साहित्य-धारा वैष्णव-साहित्य के साथ-साथ प्रवाहित होती रही।

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १४७
२. दास गुप्ता, आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२६
३. डा० सुरेन्द्रनाथ सेन, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री, कलकत्ता पुस्तकालय, (१६३०) पृ० १२०
४. इब्बेट्सन, पंजाब कास्ट्स, पृ० २३५
५. कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ साउथ इण्डिया, चर्स्टन, खण्ड २, पृ० ४६४
६. ,, पृ० ५००

इनके एक नेता के रूप में संत 'वेमन्ना' का नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार भक्ति के पूर्व योगाश्रित विचार-धारा साहित्य में और समाज में व्यापक रूप से फैली हुई थी।

पर इस योग-मार्ग में भावात्मक भूमिकाओं का प्रभाव था। इनमें शृङ्गार-समन्वित साधनापरक युग्म-रूपकों का भी प्रायः अभाव होता गया। इस प्रकार "केवल एक वस्तु वे कही से नहीं ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेश मात्र भी भाव-विमुग्धता को वर्दाश्त नहीं कर सकते हैं।"[1] कबीर और दादू को यह तत्त्व प्राप्त हो गया था। उन्होंने योग को भी भक्ति की भूमिका प्रदान की थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सन्तों को योग की अपेक्षा इस नवोदित भाव-साधना में अधिक आस्था और निष्ठा थी।

योग और भक्ति का समन्वय भी एक भारत-व्यापी घटना बन गई। वैसे योग-मार्ग-निरपेक्ष निर्गुण भक्ति की सूचना भी शास्त्रों में मिलती है। कपिल ने अपनी मा को—तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण—चार प्रकार की भक्ति का उपदेश दिया था। सनकादिक को तो 'निर्गुण'-भक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक ही माना जाता है। भागवत में भी इस प्रकार के भक्ति-भेद के संकेत मिलते हैं।[2] निर्गुण का तात्त्विक अर्थ इस प्रकार मिलता है : प्रभु को समर्पित प्रत्येक निष्काम कर्म निर्गुण कर्म है। भगवान् सम्बन्धी समस्त ज्ञान निर्गुण ज्ञान है। भगवान् के मन्दिर ही निर्गुण के 'आवास' हैं। भगवदालम्बी कर्त्ता, निर्गुण कर्त्ता है। भगवत्सेवा-जन्य सुख ही निर्गुण सुख है। इसी प्रकार नाम-स्मरण करते हुए मृत्युगत होने वाला भी 'निर्गुण' परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है।[3]

गोरखनाथ जी के सम्प्रदाय में भी एक कपिलानी शाखा थी। यह 'वैष्णव योग की पुरानी परम्परा पर आश्रित होने से वैष्णव योग कही जा सकती है।'[4] भक्ति के प्रसिद्ध आचार्यों ने भी निर्गुण भक्ति का निरूपण किया है। वल्लभाचार्य जी का कथन इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है : विष्णु स्वामी की भक्ति तामसी, तत्त्ववादी (मध्वाचार्य) की भक्ति राजसी, रामानुजाचार्य की भक्ति सात्विकी, तथा हमारे द्वारा प्रतिपादित भक्ति 'निर्गुण' है।[5] भक्ति के चार आदि प्रवर्त्तक माने जाते हैं : श्री, ब्रह्म, रुद्र, और सनकादि। इन्हीं के चार अनुगत आचार्य क्रमशः इस प्रकार हैं : रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क। श्री, ब्रह्म, रुद्र, क्रमशः सत, रज, तम के अधिष्ठातृ देव हैं। सनकादिकों को समस्त प्रपञ्च-मुक्त होने से 'निर्गुण' भक्ति का प्रवर्त्तक माना जाता है। निम्बार्क और वल्लभाचार्य जी अपनी भक्ति को इसी परम्परा में मानते हैं।

---

१. डा० द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८८
२. भागवत ११।२५।२३-२६
३. ,, ११।२५।२२
४. डा० द्विवेदी, नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १७६
५. भागवत ३।३२।३ पर सुबोधिनी टीका।

१४

सन्त-दर्शन : एक मूल्याङ्कन

१. प्रस्तावना
२. 'सन्त' : अर्थ-विकास
३. सन्त कवि : व्यक्तित्व विश्लेषण
४. सन्तों की परम्परा
५. सन्त दर्शन—निर्गुण सन्त, सद्गुरु, नाम जप, हठयोग, अद्वैत
६. सन्त और समाज : वर्ण-व्यवस्था, हिन्दू और मुसलमान, बाह्याडम्बर, शाक्त-शैव, अहिंसा, नारी
७. सन्तों का नारी-दर्शन
८. निष्कर्ष

प्रस्तावना—

कुछ समय पूर्व एक विशिष्ट प्रकार की धारणा रखने वाले कट्टरपन्थी विचारक सन्त-साहित्य को साहित्य कहने में हिचकते थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसी मेधा तक ने इस साहित्य की उपेक्षा की। हमारे देश के साहित्य की एक विशिष्ट धारा इसी प्रकार की रही है। वैदिक युग की वाणी ऋषि-कवि की वाणी थी। उस कवि के व्यक्तित्व में ऋषि भी था और कवि भी। ऋषि क्रान्त-द्रष्टा था : कवि था उसके 'दर्शन' का अभिव्यक्ति-विधायक।[1] महाकाव्यों के रचयिताओं का व्यक्तित्व भी ऐसा ही व्यापक और इतना ही प्रखर व्यक्तित्व था : फलतः मुनि कवियों ने रामायण और महाभारत दिए। पीछे पौराणिक काव्य-धारा पृथक् हो गई जिसका कर्ता मुनि था और शास्त्रीय (Classical) काव्यधारा पृथक् हो गई जिसका रचयिता 'कवि' था। जैन और बौद्ध साहित्य में ऋषि मुनि की कवि-परम्परा चलती रही। सिद्ध-नाथ-साहित्य भी उन्होंने लिखा, जो स्वयं साधक थे, द्रष्टा थे। हिन्दी का सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्य भी इसी परम्परा में आता है। सन्त-साहित्य में सन्त का व्यक्तित्व इतना आहृत और मुखर है कि वह कवि-कल्पना-जीवी नहीं रह पाता। भक्त-कवि को रसानुभूति-सम्बन्धी कल्पनाओं के लिए पर्याप्त अवकाश रहा : उसमें भक्त और कवि का रागात्मक सामञ्जस्य प्रस्तुत हो गया। ये दोनों धाराएँ हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त मूल्यवान् धाराएँ हैं। इनमें से एक की भी उपेक्षा करना आत्मघात के समान है।

१. 'संत' : अर्थ-विकास—

इस शब्द का मूल 'सत्' में प्रतीत होता है। 'सत्' का तात्पर्य है—नित्य,

---

१. ऋषयो क्रान्ति द्रष्टारः —यास्क निरुक्त

अव्यय । पीछे इसका मानवीय गुण-मूलक अर्थ विकसित होता गया । वेद में यह शब्द ब्रह्मवाचक है । 'सुवर्णं अविप्राः कवयो वाचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'[१] में यही अर्थ है । गीता में इसका अर्थ मानवीय-धरातल पर उतरना आरम्भ करता है । सत् ब्रह्म है ।[२] उसी वासुदेव के लिए कर्म करना 'सत्' है ।[३] जो यज्ञ, दान, तप में स्थित है, वही 'सत्' है ।[४] पूर्ण सद्भाव से, प्राणिमात्र के कल्याण-सम्पादन में रहना और राग-द्वेष से विरहित होना भी 'सत्' है ।[५] आत्मोद्धारार्थ माङ्गलिक कार्य-सम्पादन भी 'सत्' हैं ।[६] इस प्रकार इन गुणों की जिसमें स्थिति हो वही 'सन्त' है । महाभारत में यह शब्द सदाचारी का वाचक है ।[७] भागवत् के अनुसार पवित्रात्मा ही सन्त है ।[८] भर्तृहरि ने परोपकारी को सन्त कहा ।[९] धम्मपद के अनुसार सन्त का अर्थ है 'शान्त' ।[१०] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार सच्चा सन्त वह है, जिसे सत् की अनुभूति हो गई हो, या वह जो शान्त हो—जिसकी कामना शान्त हो गई हों ।[११] प्रायः ये सभी अर्थ हिन्दी के सन्तों पर घटित हो सकते है । एक ओर जहाँ वे आत्मोन्मुख साधना में निरत होकर सत् की खोज करते थे, वहाँ दूसरी ओर लोकोन्मुख होकर, करुणार्द्र हो जाते थे और भूतहितरत हो प्राणिमात्र के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहते थे । ये सभी अर्थ सन्तों की वाणी में स्वयं मुखरित थे ।

सन्त कवियों ने इन अर्थों को अपने कवि-कर्म में संलग्न होते समय ध्यान में रखा । पलटू, गरीबदास और कबीर आदि ने सन्त और साईं में अभेद ही देखा । पलटू ने कहा : 'सन्त और राम कौ एक कै जानियै ।' कबीर ने समर्थन किया—

साध मिले साहब मिले, अन्तर रही न रेख ।
मनसा वाचा कर्मना, साधू साहिब एक ।।

तुलसी ने भी कहा : 'जाने सुसन्त अनन्त समाना ।' आगे जो अर्थ विकसित हुए वे सन्त-लक्षण-निरूपण में समाविष्ट हो गए । कबीर ने सन्त के लक्षण इस प्रकार दिए—

निर्बैरी निष्कामता, साईं सेती नेह ।
विषियाँ सूँ न्यारा रहै, साधन का मत एह ।।

---

१. ऋग्वेद १०।११४।५
२. गीता १७।२३
३. ,, १७।२७
४. ,, ,, ,,
५. ,, १७।२६
६. ,, ,, ,,
७. आचार लक्षणो धर्मः सन्ताश्चाचार लक्षणाः [महाभारत]
८. भागवत् १।१९।८
९. सन्तः स्वयं परहितेविहिताभियोगाः ।
१० अर्हन्त वग्ग, गाथा ७ ; भिक्खु वग्ग, गाथा ९
११ योग प्रवाह, ५-१५८

प्रायः सभी सन्त कवियों ने सन्तों के लक्षण का निरूपण किया है। हिन्दी में निर्गुण-मार्गी साधकों को सन्त नाम से सूचित किया जाता है। पर आगे चल कर सन्तों के वेश को धारण करने वाले तो अधिक रह गए : यथार्थ सन्त कम रह गए। इस पर कबीर ने सबको सावधान किया—

सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियां, 'साधु' न चलैं जमात॥

तुलसी ने 'नारि मुई घर सम्पति नासी। मूँड़ मुड़ाइ भए सन्यासी॥' में व्यंग्य करते हुए इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। पर जिन सन्तों के साहित्य पर बहुधा विचार किया जाता है, वे प्रायः सच्चे सन्त ही थे। यदि साहित्य को ऐसे सन्तों की प्रतिभा और साधना का सहयोग प्राप्त हो जाय, तो साहित्य धन्य है। इतनी स्वाधीन और निर्द्वन्द्व प्रातिभ-साधना अन्यत्र दुर्लभ है।

२. सन्त-कवि : व्यक्तित्व विश्लेषण—

यदि कबीर आदि केवल सन्त होते तो उनके दर्शन और साधना-पद्धति पर विचार होता। सम्भवतः उस तात्त्विक विश्लेषण से जन-मन अप्रभावित ही रहता। पर सन्त कवि भी था। इसका तात्पर्य है अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यानुभूतियों के रस को वे किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त करते थे। अपने सामाजिक दृष्टिकोण को निर्भय होकर कहते थे। समाजगत वर्ग-संघर्ष में दमित, दलित शोषित और उपेक्षित वर्गों का पक्ष लेने से उन्हें कोई नहीं रोक सकता था। ऐसा करने या कहने में उनकी वाणी कम्पित नहीं होती थी : निष्कम्प और निश्छल दीप-शिखा की भाँति जलकर प्रकाश भी देती थी और चिनगारी भी। इस प्रकार सन्त-कवि के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता 'कथनी' और 'करनी' का सामञ्जस्य था। इस सामञ्जस्य के घटित हो जाने पर मानसिक संघर्ष स्वतः शमित होकर एक लय के जीवन्त स्पन्दनों को स्थान दे देते हैं। इस प्रकार के लयात्मक व्यक्तित्व के लिए आध्यात्मिक और सामाजिक उपलब्धियाँ सरल हो जाती हैं।

इस प्रकार के व्यक्तित्व का व्यावहारिक पक्ष निश्चय ही समन्वय की साधना से सम्बन्धित होगा। इस साधना के परिणाम स्वरूप ही लोकनायकत्व की भूमिका प्रस्तुत होती है। सन्त की पूर्व परम्परा इस प्रकार है : मंत्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान, सहजयान से सिद्ध, सिद्ध से नाथ और नाथ से सन्त। इन सभी तत्त्वों के संस्कार सन्त के व्यक्तित्व में समाए हुए मिलते हैं। इन सब में सामञ्जस्य भक्ति ने किया। 'वैष्णवता' अपनी समस्त करुणा और मानव-प्रेम को लिए हुए सन्त के मन में उमड़ पड़ी। वेदान्त का ज्ञान भी भाव-मृदुल होकर ब्रह्मनिरूपण करने लगा : ऐसा निरूपण जिसमें जन-मन की तृप्ति की सम्भावनाएँ थीं। सन्त मुस्लिम-धर्म का भी विरोध नहीं करता। सूफ़ी तत्त्व-दर्शन की छाया ने भक्ति को एक तीव्रता प्रदान की। साथ ही दो महान् धर्मों के समन्वय की वाणी को मुखरित भी किया था। फलतः हठयोग की शास्त्रीय साधना भी कबीर में मिल जाती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने

इस समन्वय को इस प्रकार स्पष्ट किया है : "इस प्रकार भिन्न-भिन्न परम्पराओं तथा इनकी रचनाओं के उपलब्ध संग्रहों में यत्र-तत्र पाये जाने वाले विविध पद्यों के आधार पर एक ही व्यक्ति को दो नितान्त भिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों का अनुयायी मान कर उसी के अनुसार उसके सिद्धान्तों के निरूपण की भी परिपाटी पृथक्-पृथक् देखी जा रही है।......इन्होंने हिन्दू-धर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णव सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद आदि बातें ग्रहण कीं। बौद्ध-धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यमार्ग आदि अपनाये तथा इस्लाम-धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफ़ी सम्प्रदाय से प्रेमभावना को लेकर सबके सम्मिश्रण से एक नया पन्थ चला देने की चेष्टा की।[1] इस प्रकार सन्तों ने अपने व्यक्तित्व की समन्वयभावना के आधार पर एक लोक-धर्म की स्थापना की।

इन विविध सिद्धान्तों को उन्होंने ग्रहण तो किया, पर पुस्तकों के आधार पर नहीं। इनके व्यक्तित्व की एक विशेषता कबीर के 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' से प्रकट हो रही है। सन्त पुस्तक-ज्ञान का पण्डित नहीं था। उसकी मान्यता थी—"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।" उसका सम्बन्ध जिस वर्ग से था, सम्भवतः उसमें शिक्षा का स्तर शून्य के बराबर था। उनका स्रोत लोक-गत धर्म की मान्यताओं और गुरु-परम्परा में था। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व पुस्तक-गत ज्ञान से न तो अभिभूत ही हुआ था और न पूर्वाग्रह या दुराग्रहों ने ही उनके व्यक्तित्व को घेर रखा था। सम्भवतः कबीर के 'मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी' में भी यही व्यंग्य है। जो ज्ञान व्यवहार में आकर अपनी उपयुक्तता लोक-जीवन में सिद्ध नहीं कर देता, वह वर्गगत हो सकता है, जन-गत नहीं। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व इस दृष्टि से भी उन्मुक्त रहा। इस लोकगत स्रोत के सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र का कथन दृष्टव्य है :[2] लोक-धर्म का सार ग्रन्थों से नहीं लोक वार्ता से ग्रहण किया जाता है। कबीर के पूर्व के विविध सम्प्रदायों में प्रच-लित विविध बातें लोक-धरातल पर पहुँच कर लोक-धर्म का सारग्राही रूप प्रस्तुत कर रही थीं। उसी लोक-धर्म को कबीर ने अपनाया, उसी को उसने हिन्दू-मुसलमानों की कसौटी माना। ...लोक-धर्म में विविध सम्प्रदायों की गहरी बातें भी किसी सीमा तक ग्रहण करली गईं थीं। पर वे सभी ऐसी बातें थीं जिनमें परस्पर सम्प्रदाय-भावना का आग्रह नहीं था। उनमें एक समन्वय और सामञ्जस्य था।" इस स्रोत से सिद्धान्त ग्रहण करने वाला सन्त का व्यक्तित्व मत-मतान्तरों से ऊँचा उठ गया। नामदेव की घोषणा इस प्रकरण में महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दू पूजै देहरा, मूसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीद॥

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० १८३-८४

२. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्त्विक अध्ययन, पृ० ११६

उसकी उन्मुक्त साधना दुराग्रहों से बाधित नहीं हुई। उन्होंने जो कुछ कहा आँखों देखा-स्वानुभूत-कहा।

सन्त-कवि के व्यक्तित्व का सबसे आकर्षक भाग है क्रान्ति की ज्वलन्त भावना। इन सन्तों का सम्बन्ध समाज के निम्न स्तरों से था। मध्यकालीन निम्न वर्ग अनेक उपेक्षाओं और कुण्ठाओं से पीड़ित था। उच्च-स्तरीय शास्त्र-ज्ञान के द्वार प्रायः इस वर्ग के लिए बन्द थे। जो वर्ग इस ज्ञान पर एकाधिकार किए हुए था, उसके लिए यह वर्ग 'अछूत' था। सामन्तीय शोषण की चक्की भी इसी वर्ग पर मुख्यतः चलती थी। सामाजिक प्रतिष्ठा का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। आगम-दर्शन की लोकोन्मुख धारा सिद्ध-नाथ के माध्यम से इस वर्ग का स्पर्श कर लेती थीं। इससे उसे यत्किञ्चित स्फूर्ति मिलती थी। मुस्लिम-धर्म ने भी प्रचार-क्षेत्र इसी वर्ग को बनाया। इस वर्ग को सन्तों ने वाणी दी : उनकी ओर समाज की दृष्टि को आकर्षित किया : इनको गति एवं दिशा निर्देश दिया और सबसे बड़ा आत्म-विश्वास दिया। इस वर्ग को नैतिक बल देते हुए, सन्त ने इसका नेतृत्व भी किया। इसके लिए एक सशक्त और निर्भय व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। सन्त के इस प्रकार के व्यक्तित्व को पाकर निम्नवर्ग ने अपने को पर्याप्त आश्वस्त और सुरक्षित अनुभव किया। सन्त की क्रान्ति अभिजात वर्ग के प्रति व्यक्त हुई। इस वर्ग मे वह धार्मिक नेता भी था जो शास्त्रीय और रूढ़-धर्म की बलिवेदी पर मानवता को चढ़ा चुका था और वह वर्ग भी जो बाह्याडम्बर को ही धर्म समझ बैठा था। सन्त का यह विद्रोह मुख्यतः धार्मिक था, आर्थिक नहीं। आर्थिक दृष्टि से सामन्त के प्रति वह इतना क्रान्तिकारी नहीं था। यह धार्मिक हिन्दू भी हो सकता है और मुसलमान भी। रूढ़ धर्मान्धता प्रत्येक दशा में हेय और त्याज्य है : 'अरे इन दोउन राह न पाई,' 'हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई,' जैसी उक्तियाँ सन्त ने खुले रूप में दहाड़ते हुए निर्भय होकर कहीं। आर्थिक दृष्टि से समाज का शोषण करने वालों के प्रति उसके स्वर में कठोरता अवश्य है। इसी दृष्टि से व्याज खाने वालों का विरोध भी वह करता है—

> कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
> देहिं पईसा ब्याज कौ, लेखाँ करता जाइ॥

पर इस युग में सामन्त तो स्वयं सङ्कट में पड़ा था। राजनीतिक उथल-पुथल के पीछे भी शास्त्रीय धर्मान्धता थी। इस क्रान्ति में सन्त का व्यक्तित्व अत्यधिक निखरता गया।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सन्त का व्यक्तित्व अत्यन्त सबल, निष्पक्ष और पूर्ण मानवतावादी था। उसमें हीनता की ग्रन्थि नहीं बनी थी। समय-समय पर जो तिलमिला देने वाली झुँझलाहट और पण्डित वर्ग के प्रति आक्रोश मिलता है, वह हीनता की ग्रन्थि से उत्पन्न नहीं है। उसके मूल में मानवतावादी दृष्टिकोण, दलितों के प्रति सहानुभूति और जगजीवन की पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता ही सम्मिलित रूप से हैं

३. सन्तों की परम्परा—

एक प्रकार से यह हमारे देश का सौभाग्य ही था कि प्रायः प्रत्येक प्रदेश में सन्तों का उद्‌भव हुआ। वर्ण और वर्ग की भावना से परे "जाति पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।" की स्थापना हो गई। हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित सन्तों की पृष्ठभूमि में कुछ सन्तों का नामोल्लेख होता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इन सन्तों की सूची इस प्रकार दी है : जयदेव, सधना, लालदे, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन।[1] इस जयदेव को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'गीतगोविन्द-कार' जयदेव से भिन्न माना है।[2] सधना कसाई का उल्लेख नामदेव ने भी किया है। इनका एक पद आदि ग्रन्थ में है।[3] इस पद में दैन्यपूर्ण कृष्ण-भक्ति की झलक है। लालदे काश्मीर की एक हरिजन स्त्री थी। मूर्ति पूजा का विरोध इसमें नहीं मिलता। वैसे सारी विचारधारा सन्तों से मिलती है। वेणी के सम्वन्ध में अधिक तथ्य ज्ञात नहीं हो सका। त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे। नाभादास जी के अनुसार ये ज्ञानदेव के शिष्य थे। नामदेव का नाम कबीर ने भी लिया है। ये छीपी थे। नामदेव ने हिन्दी में भी रचना की। गुरु ग्रन्थ-साहब में ६० से ऊपर भजन संगृहीत हैं। महा-राष्ट्र में अन्य सन्त-कवियों ने भी हिन्दी में लिखा।[4] इस प्रकार समस्त भारत में सन्त उत्पन्न हुए। उन्होंने अपनी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी में भी रचनाएँ कीं। हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित मुख्य सन्त इस प्रकार हैं :—

स्वामी रामानन्द	सैन	कबीर	पीपा
धर्मदास	दादूदयाल	सुन्दर दास	चरण दास
धरणी दास	रैदास	धन्ना	कमाल
नानक	मलूकदास	अक्षर अनन्य	गरीब दास
सहजोबाई			

उक्त सूची के कुछ सन्तों ने योग-साधना के साथ-साथ साहित्य-साधना भी की। इनके साहित्य और दर्शन पर सामूहिक रूप से विचार किया जा सकता है। वैसे सन्तों की परम्परा १८ वीं शती तक चलती रही और सम्प्रदायों के रूप में आज भी चल रही है; पर आगे के सगुणभक्त कवियों के समय में यह शिथिल हो गई।

४. सन्त-दर्शन—

अ. निर्गुण-सन्त—परम्परा से सन्तों को निर्गुण पन्थी कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सन्तों की दृष्टि में परमतत्त्व निर्गुण है। पर यह निर्गुण सगुण का पूर्ण विरोधी नहीं है। कबीर ने अपने उपास्य ब्रह्म को निर्गुण और सगुण से परे कहा है—

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, भूमिका।
२. हिन्दी साहित्य, पृ० ११८
३. गुरु ग्रन्थ-साहब, राग गौड़ी, पृ० ३३०
४. भास्कर रामचन्द्र भालेराव, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९८६ वि०, भाग-१०

'नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई, नहिं सूछम—असथूल ।'

इस प्रकार कबीर ब्रह्म-निरूपण में सापेक्ष शब्दावली (Relative terms) का प्रयोग नहीं करना चाहते । निर्गुण कहने से सगुण की ओर ध्यान चला जाता है इसीलिए कबीर ने कहा—

गुन में निगुन, निगुन में गुन है, बाट छाँड़ि किन रहिए ।

कबीर को यह निरूपण-पद्धति सम्भवतः ज्ञान-मार्ग से प्राप्त हुई । पर परमानन्द ने उन्हें सगुण और निर्गुण के समन्वित रूप का ही सन्देश दिया । कबीर भी उस निर्गुण के समीप पहुँचने के लिए सगुण की सेवा को महत्त्वपूर्ण समझते थे—

सरगुण की सेवा करो, निरगुण का करु ज्ञान ।
निरगुण सरगुण के परे, तहाँ हमारा ध्यान ॥

तुलसी में भी सगुण और निर्गुण के सामञ्जस्य का स्वर मिलता है—

हिय निरगुण, नयनन्हि सगुण, रसना नाम सुनाम ।
मनौ पुरट सम्पुट लसे, तुलसी ललित ललाम ॥

अन्तर इतना है कि कबीर ब्रह्म के अवतार आदि में विश्वास नहीं करते थे : "परन्तु यह बात कि ईश्वर अवतार लेता है, भक्तों का दुख दूर करता है, सगुण और साकार रूप में उन्हें दर्शन देता है और दशरथ के पुत्र राम या देवकीनन्दन कृष्ण वही परब्रह्म थे, कबीर नहीं मानते ।"[१] कबीर के अनुसार ब्रह्म जन्म नहीं लेता । जब समस्त विश्व की क्रिया ही उसकी लीला है, तब उसे पृथक् से लीलावतार धारण करने की आवश्यकता नहीं है—

सन्तो आवै जाइ सो माया ।
हैं प्रतिपाल काल नहिं बाके, ना कहुँ गया न आया ॥
वे कर्ता न बराह कहावैं, धरणि धरै नहिं भारा ।
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ गहे संसारा ॥
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पखान नहिं बंधा ।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ॥
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा ।
कहैं 'कबीर' सुनो हो सन्तो, उपजे खपै सो दूजा ॥

इस प्रकार कबीर का निर्गुण-सिद्धान्त अवतारवाद का निराकरण करता है । पर कबीर पौराणिकता से पूर्ण रूप से बच नहीं सके । कबीर के पश्चात् पौराणिक कथाओं ने सम्प्रदाय में प्रवेश पा लिया ।[२] परम तत्त्व के सम्बन्ध में कबीर का ही नहीं, अन्य सन्तों का मत भी प्रायः ऐसा ही है । दादूदयाल ने भी सापेक्ष शब्दावली से परे ब्रह्म को माना है—

'एक कहूँ तौ अनेक सौ दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसौ ।
आदि कहूँ तिहि अन्तहु आवत, आदि, न अन्त न मध्य सु कैसौ ॥

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, अध्ययन, पृ० ४४
२. 'अनुराग सागर' में सृष्टि कथा ।

गोपि कहूँ तौ अगोपि कहा, यह गोपि-अगोपि न ऊभौ न वैसौ ।
जोई कहूँ सोई है नहि सुन्दर, है तो सही पर जैसे कौ तैसौ ।।

पर निर्गुण के 'गुणों' की ओर भी आकर्षण होता रहा। मलूक दास ने निर्गुण के गुण को प्राप्त करने की ओर संकेत किया—

कहत मलूका निर्गुन के गुन, कोई बड़भागी गावै ।
क्या गिरही और क्या वैरागी, जेहि हरि देइ सो पावै ।[१]

इस प्रकार ब्रह्म निरूपण में सन्त ज्ञानमार्गी पद्धति का प्राय: अनुसरण करता रहा। पर उसकी भावात्मकता उमड़ कर कभी-कभी निर्गुण के गुण और सगुण की सेवा की ओर भी उन्मुख हो जाती है।

(अ) सद्गुरु :

'नाई' के समान ही महत्त्व सद्गुरु का है। जहाँ ज्ञान और योग की मौखिक परम्परा ही मुख्य हो, वहाँ गुरु का महत्त्व बढ़ ही जाता है। उपयोगी ज्ञान पुस्तकों से नहीं गुरु-मुख से ही प्राप्त हो सकता है।[२] ज्ञान के साथ अनुभूति को मिलाकर गुरु एक रसायन तैयार करता है, जिसे पाकर शिष्य धन्य हो जाता है। प्रयोग सिद्ध ज्ञान को आत्मसात् कराने की पद्धति भी गुरु ही जानता है। इसीलिए कहा गया है कि गुरु के बिना मङ्गल कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकता।[३] इस समस्त पद्धति से गुरु साधक और ईश्वर का संयोग कराता है। इस प्रकार का गुरु हरि-कृपा से ही मिलता है।[४] बौद्ध, जैन, सिद्ध और नाथ परम्पराओं में गुरु-महिमा व्याप्त है। अष्टाङ्ग योग की प्रक्रिया तो गुरु के बिना समझ में ही नहीं आ सकती। मनुष्य अपूर्ण है। उसकी पूर्णता है ईश्वर में लीन हो जाना। इस परिणति में गुरु-कृपा ही मुख्य है। गुरु ब्रह्म का रहस्योद्घाटन भी करता है और लोक ज्ञान भी गुरु के रूठने पर उद्धार का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता—

कबीर ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और ।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहि ठौर ।।

हरि की प्राप्ति में बाधक है—मोह और माया। इन पर विजय भी गुरु-कृपा से ही मिलती है—

जीती वाजी गुरु परताप, माया-मोह निवार ।
कह 'मलूक' गुरु-कृपा ते उतरा भव-जल पार ।।[५]

गुरु जब 'शब्द' की औषधि पिलाता है, तब साधक भव-रोगों से मुक्त होता है—

'सुन्दर' सत् गुरु करिये सोई बन्दन जोग ।
औषधि सबद पियाइ करि दूरि कियो सब रोग ।।

---

१. मलूकदास की वाणी, पृ० १७
२ घेरन्ड संहिता, तृतीयोपदेश, श्लोक, १०
३. ,, ३।१४
४. बोधसार, ४।१४
५. मलूकदास की बाणी

विरह-ताप से सन्तप्त आत्मा को प्रियतम तक ले जाने का कार्य भी गुरु का ही है।[1] गुरु के सम्बन्ध में अनेक रूपकों के माध्यम से गुरु-महिमा का विस्तार सन्तों ने किया है। सहजोबाई ने झूँठे गुरु से बचने का निर्देश भी किया :—

'सहजो' गुरु बहु तक फिरें, ज्ञान-ध्यान सुधि नाहिं।
तारि सकें नहिं एक कूँ, गहै बहुत की बाँहि ॥

'झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै बार' कह कर कबीर ने भी शिष्यों को सावधान किया है। तथा सद् गुरु को अनन्त महिमा सम्पन्न सिद्ध किया है—

सत्गुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।
लोचन अनत उघारिया, अनत दिखावण हार ॥

(इ) नाम-जप :

सद्गुरु एक नाम-प्रतीक अपने शिष्य को देता है। यह नाम-प्रतीक भक्त की समस्त आध्यात्मिक अनुभूतियों का आकर्षण-केन्द्र बन जाता है। ज्ञानवादियों ने जिस ब्रह्म को नाम-रूप से परे माना था, उसी को 'नाम' प्राप्त होगया : उसके एक ध्वन्यात्मक प्रतीक की खोज हुई। 'नाम' के सम्बन्ध में सभी निर्गुण-सगुण मार्गी सन्त-भक्त एक हैं। 'नाम' आध्यात्मिक नाद-तत्त्व का ध्वनि-प्रतिनिधि है। 'नाम' रूप की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। अतः संत और भक्त को रूप चाहे अमान्य रहा हो, नाम उसे मान्य ही है। यह सगुण और निर्गुण को जोड़ने वाली एक कड़ी है। गरीबदास ने लिखा है —

नामै निश्चल निरमला, अनन्त लोक में गाज।
निरगुन-सरगुन क्या कहै, प्रगटा सन्तों काज ॥

'नाम' का अवतार ही सन्तों के लिए हुआ है। तुलसी ने भी अगुण-सगुण दोनों के ऊपर नाम की प्रतिष्ठा की—

अगुन-सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ॥[2]

इस 'नाम' में सभी वृत्तियों का लय हो सकता है। इसकी सफलता एवं पूर्णता के लिए 'अजपा-जाप' की स्थिति आवश्यक है। अजपा-जाप अभ्यास का अन्तिम रूप है। जाने-अनजाने सभी वृत्तियाँ उसके साथ सम्बद्ध रही आती हैं। चरणदास जी ने कहा—

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माहिं।
अनन्य भक्ति वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहिं ॥

निरन्तर और सतत नाम-स्मरण ही अनन्य नाम-भक्ति है। सभी साधनाओं से उच्चतर नाम-साधना है। सहजो बाई के शब्दों में—

मेह सहै 'सहजो' कहै, सहै सीत औ' घाम।
पर्वत बैठो तप करै, तो भी अधिको नाम ॥

---

१. सुन्दरदास, संत बानी संग्रह, भाग १, पृ० १०६
२. रामचरित मानस : बालकाण्ड

'नाम' का आध्यात्मिक निरूपण भी सन्तों ने किया है। नाम ही समस्त प्रपञ्चों का मूल है। अन्य सभी मंत्र इसकी शाखाएँ हैं। इस प्रपंच से मुक्ति पाने के लिए नाम की नौका आवश्यक है—

आदि नाम सब मूल है, और मंत्र सब डार।
कहैं कबीर निज नाम बिनु, बूड़ि मुआ संसार॥[1]

नाम ही समस्त दर्शनों का सार है। दादू ने भी सृष्टि के मूल में ओंकार को ही माना है। इस आदि शब्द से पंचभूतों की उत्पत्ति हुई। नाम-जप एक आडम्बर भी बन सकता है। कबीर के अनुसार नाम-जप चुपचाप होना चाहिए। पतिव्रता स्त्री आन्तरिक रूप से पति के नाम का जाप करती रहती है, पर प्रकट रूप से वह पति का नाम नहीं लेती—

नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत।
पति बरता पति को भजे, मुख से नाम न लेता॥

मलूकदास जी ने भी इसी प्रकार के नाम-स्मरण की बात कही है—

सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखै न कोय।
होठ न फरकत देखिए, प्रेम राखिये गोय॥

गरीब दास ने नाम के आध्यात्मिक रूप पर इस प्रकार लिखा है: 'ब्रह्म' और 'नाम' घट-घट व्यापी हैं। एक 'अगम' 'अनाहद-भूमि है। वहाँ 'नाम' का दीपक जलता है। एक क्षण भी उसका क्रम नहीं टूटता। आँखों के बीच (सम्भवतः त्रिकुटी में) वह समाया रहता है—

अगम अनाहद भूमि है, जहाँ नाम का दीप।
एक पलक बिछुरैं नहीं, रहता नैनों बीच॥

इस प्रकार नाम-साधना को लोक के समीप लाकर सन्तों ने एक राजमार्ग का उद्घाटन किया। साधु-समाज और जन-जीवन दोनों ही नाम-साधना से लाभान्वित हो सकते हैं।

(ई) हठयोग :

साधुओं की एक विशेष साधना-पद्धति के रूप मे सन्तों ने हठयोग को अपनाया। हठयोग में दार्शनिक सिद्धान्तों की ऊहापोह नहीं है। इसमें सिद्धान्तों की बौद्धिक विवेचना को गौण स्थान ही प्राप्त है। कर्म का कौशल ही योग है।[2] पतञ्जलि के अनुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग है।[3] निरोध चित्त की अन्तिम स्थिति है। समाधि निरोध की अन्तिम अवस्था है। हठयोग की साधना का लक्ष्य है सुषुप्त कुण्डलिनी को जागृत करके आत्मा को सहस्रार चक्र तक ले जाना। कबीर ने अपनी इस उलट बाँसी में यही भाव व्यक्त किया है। यही वास्तविक

१. सन्तबानी संग्रह, ४।२
२. योगः कर्मसु कौशलम्, गीता।
३. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, योग सूत्र

आत्म-ज्ञान है जो ब्रह्म-ज्ञान को प्रेरित करता है जिसका परिणाम समाधि है, वह भी सविकल्पक—

समुन्दर लागी आग, नदियाँ जलि कोयला भई ।
देखि कबीरा जाग, मंछी रूखा चढ़ि गई ।।

योग की साधना से अन्तर्बाह्य शुद्धि होती है । इस योग के तत्त्व प्रायः सन्तों के साहित्य में मिलते है । खेचरी मुद्रा से रस-पान करने की पद्धति को मदिरा-पान का रूपक कबीर ने दिया है—

अवधू मेरा मन मतवारा,
'उन्मनि' चढ़या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भयौ उजियारा ।
गुड़ करि ज्ञान, ध्यान करि महुवा, पीवै पीवन हारा ।।

इस उन्मनी अवस्था के पश्चात् शून्यावस्था आती है । इसमें आत्मा सहस्रार चक्र में अवस्थित हो जाती है । अन्त में सहज समाधि हो जाती है । समस्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं : पाप-ताप छूट जाते हैं । मस्तिष्क संकल्प-विकल्प के भूले में नहीं भूलता । उसकी दृष्टि 'सम' हो जाती है—

वाद-विवाद काहू सौं नाहिं, माहि जगत थैं न्यारा ।
सम दृष्टि सुभाइ सहज हैं, आपहिं आप बिचारा ।।

इस प्रकार सन्त ने अत्यन्त जटिल साधन-पद्धति को 'सहज' में परिवर्तित किया। सहज समाधि की स्थिति योग और प्रेम दोनों से ही प्राप्त हो सकती है । प्रेम ही साधना को 'सहज' बना सकता है । इसलिए अनेक सन्तों ने प्रेम को महत्त्व दिया। दादू का यह कथन मननीय है—

ना तप मेरे इन्द्री निग्रह, ना कछु तीरथ फिरना,
देवल पूजा मेरे नाहिं, ध्यान कछू नहिं धरना ।
जोग जुगति कछु नाहीं मेरे, ना मैं साधन कीजै,
'दादू' एक गलित गोविन्द सों, इहि बिधि प्राण पतीजै ।।

यहीं पर 'साईं' का दर्शन अन्तर्मन में हो जाता है । इस सहज समाधि को सभी सन्तों ने ग्राह्य माना है । सभी ने इसका महत्त्वाङ्कन किया है । इसी में निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय होता है । समस्त जीवन-क्रम यथावत् चलता रहता है, फिर भी समस्तचर्या इस सहज समाधि को भङ्ग नहीं कर सकती ।

(उ) अद्वैत :

हठयोग के साथ-साथ 'अद्वैत' का दार्शनिक स्वरूप भी सन्त को मान्य रहा । माया ब्रह्म का ही नाम रूपात्मक स्वरूप है । ब्रह्म अद्वैत है : द्वैत केवल माया के कारण भासित है । माया के दो रूप हैं : विद्या और अविद्या । माया के कारण ही सारा

संसार भ्रमित है। इस माया के सभी वशीभूत हैं। केवल हरि-भक्त इस चक्र से मुक्त रहता है—

तू रघुनाथ की, खेलण चली अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई ना छोड्या नेड़े॥
मुनिवर, पीर, दिगम्बर मारे, जतन करता जोगी।
जङ्गल महि के जङ्गल मारे, नूँर फिरै बलवन्ती॥
बेद पढ़ंता ब्राह्मन मारा सेवा करता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछाड्या तू फिरता मैमंती॥
साषित कैं तू हरता-करता, हरि भगतनि की चेरी।
दास 'कबीर' राम कै सरनै ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी॥

माया से मुक्त होकर जीव अद्वैतावस्था को प्राप्त होता है। योगी 'सोऽहं' कह उठता है। पर यह अद्वैत साधना है बड़ी कठिन —

'अद्वैत बिराग कठिन है भाई, अटिके मुनिबर जोगी।' [कबीर]

यदि साधना सफल हो जाय तो ब्रह्मात्मैक्य पूर्ण हो जाता है। मलूक दास कहते है—

संतो सोहं साधन्न कीजै
सोहं साधन्न ते ताप मिटत है, जीव ब्रह्म होइ जाये।

सन्तों के जिस दर्शन का सर्वेक्षण ऊपर किया गया है, उसके निरूपण में साहित्यिकता बहुत ही कम मिलती है। लोक-तत्त्वों के ऊपर आधारित रूपक और सिद्ध-साहित्य के अनुकरण पर रचित उलट बाँसियों में कुछ साहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। पर उनमें भी भावपक्ष सबल नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और योग के सिद्धान्तों की उद्धरणी भाव से असम्पृक्त ही रही : यह स्वाभाविक भी था। केवल समाधि-रस के पान की चर्चा कुछ सरस है। सन्तों में इस सब शुष्क दार्शनिकता के साथ रहस्यवाद, भक्ति और प्रेम के तत्त्व भी अनुस्यूत हैं; जिनकी उपस्थित ने सन्त के समस्त रागात्मक व्यक्तित्व को झकझोर दिया।

५. सन्त और समाज—

सन्त के व्यक्तित्व में एक क्रान्ति सक्रिय थी। सन्त यह जानता था कि तत्त्व-साधना के लिए संसार से पलायन आवश्यक नहीं है पर, वह यह भी जानता था कि कुछ जीवन के कतिपय मृत-मूल्य और निर्जीव-सामाजिक-संस्थाएँ समाज के जीवन को जर्जर बना रही हैं। मनुष्य सुख और शान्ति से हटता जा रहा है : कलह समाज को खण्डित कर रहा है। अतः सन्त ने समाज में जीवित मूल्यों की प्रतिष्ठा और निर्जीव आदर्शों का खण्डन करना अपनी साधना का एक आवश्यक अङ्ग समझा। कबीर की खण्डन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र ने अपना मत इस प्रकार दिया : "दार्शनिक वादी की खण्डन-कसौटी, वाद-दृष्टि युक्त होती है।

...लोकहित उसकी कसौटी नहीं होता। इसीलिए वह अनुदार और संकुचित होती है। कबीर में खण्डन की प्रवृत्ति का मूल लोकानुकूल प्रतीत होता है। वे जैसे खण्डन नहीं कर रहे, केवल सार पर से थोथे को हटा रहे हैं।...यह सार का मण्डन करने की प्रवृत्ति कही जायगी।"[1] वास्तव में यह स्वस्थ सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा के लिए ही एक क्रान्ति है।

५. (अ) वर्ण-व्यवस्था—

सबसे अधिक निर्जीव सिद्धान्त सन्त को वर्ण-व्यवस्था के प्रतीत हुए। वेद में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की भी चर्चा है[2] और आर्य तथा अनार्य का विभाजन भी मिलता है।[3] आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्राह्मण प्रबल था, पर वह अपने को राजा होने के योग्य नहीं मानता था।[4] ज्ञान-काण्ड में जब क्षत्रिय प्रबल होने लगा, तब ब्राह्मण कुछ जगा।[5] वैश्य व्यापार करता रहा और शूद्र दास बनता गया। विदेशियों के आगमन से अनेक जातियाँ और उपजातियाँ बनी : जाल जटिलतर हो गया। महाभारत-काल में राजसभा में तीन विनयी शूद्रों के रहने का विधान है।[6] इसके पश्चात् शूद्रों की अवस्था गिरती गई। बौद्ध और जैन इस वर्ग के प्रति सहानुभूति पूर्ण थे। गुप्तकाल में वर्ण-व्यवस्था फिर से बल पकड़ गई। शूद्रों का कर्त्तव्य था कि तीनों वर्णों की सेवा करें।[7] पीछे शूद्र अस्पृश्य होगये : एक वर्ण का इससे अधिक अपमान और क्या हो सकता ? शूद्र कृषि और कारीगरी के कार्यों में प्रवृत्त हुए तो धनवान् होने लगे। इससे उच्चवर्ग सशङ्क होता था। मनु ने धनवान् शूद्र को ब्राह्मण का बाधक बतलाया।[8] सम्भव है : शूद्र राजा भी होने लगे : अतः शूद्र का राज्य में निवास करना निषिद्ध किया गया।[9] समान अपराध करने पर भी शूद्र को ब्राह्मण की अपेक्षा कड़ा दण्ड दिया जाता था।[10] व्यवसाय के अनुसार फिर शूद्रों में भी जाति-विभाजन होने लगा।[11] इन्हीं व्यावसायिक शूद्र उप-जातियों में सन्तों का आविर्भाव हुआ। इन सभी में वर्ण-व्यवस्था के प्रति एक कटु प्रतिक्रिया उठी। कबीर ने तात्त्विक दृष्टि से सभी वर्णों की समानता और एकता सिद्ध की—

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोक तात्त्विक अध्ययन, पृ० ११६
२. ऋग्वेद, १०।६०।१२
३. ,, ४।२८।४; २।१२।४
४. शतपथ ५।१।१।१२
५. ,, ११।६।२
६. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ८५
७. मनु० ८।४१०
८. मनु० १०।१२६
९. ,, ४।६१
१०. धुरये, कास्ट एण्डरेस इन इण्डिया, पृ० ७०
११. ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ५४८

साधो एक रूप सब माहीं।
अपने मनहिं विचारिकै देखो, और दूसरा नाहीं।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै, बिप्र सूद्र के माहीं॥

सन्तों का तर्क था : शूद्र और ब्राह्मण के जन्म लेने की प्रणाली एक ही है। फिर दोनों में अन्तर क्यों ? जो ब्रह्म को जाने वही ब्राह्मण है।[1] इस प्रकार ये कर्म से जाति मानने की बात कहने लगे। इन सन्तों के सामने ब्राह्मण भी झुका। रैदास ने अपने विषय में लिखा है—

मेरी जाति कुटुवाँ ढला ढोर ढोवंता।
नितहि बारानसी आसपासा॥
अब बिप्र परधान करहिं डंडउति।
तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा॥

ब्राह्मणों के प्रति तो सन्त की प्रतिक्रिया थी ही, क्षत्रिय के प्रति भी उसके मन में रोष था। कबीर ने क्षत्रिय को सम्बोधन करके कहा :

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूँ होय सवाया करमो।
जीवहिं मारि जीव प्रतिपारें, देखत जनम आपनौं हारें।

इस प्रकार सन्त वर्ण-व्यवस्था के प्रति समझौता नहीं कर पाया। सामान्य जनता में इस कारण उसे सम्मान ही मिला।

५. आ. हिन्दू और मुसलमान—

सन्तों का युग हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से भी आहत-जर्जर था। शरीयत के आधार पर विस्तृत इस्लाम-धर्म असहिष्णु और आक्रामक-वृत्ति को लेकर भारत में प्रविष्ट हुआ। उनकी दृष्टि में यही सच्चा धर्म था। उनका प्रयत्न था, सभी इस धर्म को स्वीकार करें। कुछ निम्नवर्गीय जनता इस हिंसात्मक धर्म-प्रचार के सम्मुख झुक गई। इस शरीयती-धर्म के साथ ही इस्लाम का सूफ़ियाना रूप भी आया। सूफ़ी सन्त प्रेम-धर्म का प्रचार और मानवतावादी मूल्यों का समर्थन करते थे। इस साधना की ओर भी निम्नवर्गीय अशिक्षित हिन्दू जनता आकर्षित होने लगी। सूफ़ी विचारधारा का एक ओर वेदान्त से साम्य था तो दूसरी ओर भक्ति से। ये धर्म व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आधारित था। हिन्दू की प्रतिक्रिया विधर्म के प्रति उठी। भ्रमणशील साधु अपना धर्म-प्रचार करने लगे : उखड़ी हुई जनता को इनसे बल मिलता था। पौराणिक साहित्य का अध्ययन और प्रचार होने लगा। इसके लिए लोक-भाषा और लोक-साहित्य-रूपों को अपनाया गया। इसी भूमिका में हिन्दू और मुसलमान का धार्मिक और सांस्कृतिक संघर्ष उत्पन्न हुआ। सन्तों ने इस संघर्ष के विरोध में स्वर ऊँचा किया। इसके लिए इनका व्यक्तित्व उपयुक्त था : 'ना हिन्दू ना मुसलमान।' सन्तों ने अनुभव किया कि शास्त्रीय धर्म की अन्धता ही इस संघर्ष का मूल है। इसी उलझन में प्रेम का मार्ग खो जाता है—

१. गुरु ग्रन्थ साहिब, रागु गौड़ी, ४४७, पृ० ३२४

पोथा पढ़ि पढ़ि जगु मुआ, पण्डित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होइ॥
पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया, लिखि-लिखि भया जु ईंट।
कहैं कबीरा प्रेम की, लगी न एको छींट॥

५. ई. बाह्याडम्बर—

धार्मिक संघर्ष का दूसरा कारण बाह्याडम्बर है। समस्त धर्म मूलतः मानवतावादी हैं: उनकी नींव जीवन के शाश्वत मूल्यों पर रखी गई हैं। झगड़ा बाह्य धर्माचारों का है। माला-तस्वीह, मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ-हज के तत्त्व धर्मों को अलग करते हैं। भगवान् के प्रति प्रेम-भाव ही सत्य है। इसलिए कबीर इस पाखण्ड-व्यवस्था को समाप्त करके प्रेम-पथ के पथिक बनना श्रेयस्कर समझते हैं—

एक निरंजन अलहा मेरा। हिन्दू तुरुक दुहूँ मेरा।
राखूँ बिरत न मुहरम जाना। तिस ही सुमिरूँ जो रहे विदानाँ।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ। एक निराकार हिरदे नमसकारूँ।
ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा। एक पिछाण्याँ तो क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूँ मन लागा।[1]

इसी प्रकार अन्य पदों में भी कबीर ने बाह्याडम्बरों का प्रबल-खण्डन किया है। जो इन बाह्याडम्बरों के पोषक और समर्थक शेख तथा पण्डितों को कबीर ने फटकारा। उनके आन्तरिक थोथेपन पर कटु व्यंग्य किए—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
महजति भीतर मुल्ला पुकारै क्या साहिब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेबर बाजें, सो भी साहब सुनता है।
पण्डित होइ कै आसन मारै, लंबी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।

आत्मतत्त्व दोनों में समान है—

कहै कबीर चेति रे भोंदू।
बोलनि हारा तुरक न हिंदू।

कबीर ने दोनों को फटकारा भी है—

हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई,
बेस्या के पायन तर सोवें या देखो हिन्दुआई।

तथा

मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई,
खाला केरी बेटी व्याहैं यह देखो तुरकाई॥

अन्य सन्तों ने भी हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के सम्बन्ध में कबीर के साथ स्वर मिलाया। इनमें भेद करना मिथ्या-मार्ग का अवलम्बन करना है। सन्तों ने कृष्ण-करीम, राम-

१. कबीर ग्रन्थावली, ३३८

रहीम, कुरान-पुरान, मस्जिद-मन्दिर आदि के भेद-भाव को मिटाकर हिन्दू-मुसलमान को ऐक्य की ओर प्रेरित किया। साथ ही समस्त बाह्याडम्बरों को मानव-मानव को अलग करने वाला कहा। उन्हें आडम्बर तो शैव-योगियों का भी पसन्द नहीं था—

महादेव कौ पंथ चलावैं। ऐसौ बड़ौ महंत कहावैं।
हाथ बजारैं लावैं तारी। कच्चे सिद्ध न माया प्यारी।

जहाँ तक आडम्बर का व्यक्तिगत पक्ष है, इससे किसी का कल्याण नहीं हो सकता। सामाजिक रूप से ये जनता को परस्पर विलग और पथ-भ्रष्ट करते है। निरीह जनता का शोषण भी इन्हीं आडम्बरों के आधार पर होता है।

५. उ. शाक्त : शैव—

कबीर आदि सन्त शाक्त के साथ भी समझौता नहीं कर पाये। शाक्त स्वयं व्यभिचारी और अतिचारी हो गया था। अपनी साधना बतलाकर शाक्त दुराचार भी करता था। मदिरा और नारी लौकिक दृष्टि से भोग-सामग्री बन गई थीं। अतः वैष्णव का पक्ष सन्तों का प्रिय था। इसमें भक्ति थी, साधना का असामाजिक पाखण्ड नहीं थी। इसलिए कबीर ने कहा—

वैस्नो की छतरी भली, ना साकत का बड़ गाँव।
चन्दन की चुटकी भली, ना बबूल अँवराव॥
तथा
साकत ब्राह्मण मति मिलौ, बैस्नो मिले चंडाल।

इस प्रकार शाक्तों का जो बाह्याचार या बामाचार अपनी सीमा पर पहुँच कर जनता के दिग्भ्रम का कारण बन रहा था, उसका खण्डन कबीर ने किया। शाक्तों के साथ ही शैव साधना में भी आडम्बर घर करने लगे। मुद्रा, आसन आदि जनता को दिखावे की चीज रह गए थे। ये सभी आकण्ठ माया में लिप्त थे। कबीर शैव-योगी से आन्तरिक साधना की ओर उन्मुख होने के लिए कहते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। राति-दिवस ना करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहना। मन का जप-तप मन सूँ कहणा।
मन में खपरा मन में सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी।

यहाँ 'मुद्रा' का प्रयोग वाममार्ग के पञ्चमकारों के आधार पर प्रतीति होता है।

५. ऊ. अहिंसा—

विधेयात्मक रूप से सन्त ने अहिंसा का समर्थन किया। अहिंसा और वैष्णवता उनकी दृष्टि में एकार्थक थे। सभी धर्मों के मूल में अहिंसा की प्रतिष्ठा मिलती है। गौतम ने अपनी करुणाश्रित अहिंसा के आधार पर वैदिक-हिंसा को भी ललकार दिया था। जैन और बौद्ध धर्म ने इसकी प्रतिष्ठा सुदृढ़ धरातल पर की। मध्ययुगीन सन्तों ने एक कण्ठ से अहिंसा का प्रतिपादन किया। सन्त नानक इस दृष्टि से गाय, बकरी और माता में भेद नहीं करते थे। जीवों पर सामान्य रूप से दया करना ही उन्हें रुचिकर था—

'क्या बकरी, क्या गाय है, क्या अपना जाया ।
सबका लोहू एक है, साहिब फ़रमाया ।।

सभी को एक दिन मरना है । फिर अन्य जीवों के विनाश से अपने को नरकगामी क्यों बनाया जाय । कबीर के शब्दों में—

मास मास सब एक है, मुरगी, हिरनी, गाय ।
आँख देखि जो खात हैं, ते नर नरकहिं जाय ।।

जो दूसरे की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझे वही सन्त है : 'सोई पीर है, जो जाने पर पीर ।' दूसरे को मारना सबसे बड़ा पाप है और आपे को, अपनत्व को मारना महान् साधना है । दादू की वाणी कितनी स्पष्ट हैं—

आपन को मारै नहीं, पर को मारन जाइ ।
दादू आपा मारे बिना, कैसे मिलै खुदाइ ।।

कबीर ने हिंसा करने वालों पर तरस खा कर कहा—

बकरी पाती खात है, ताकी खैंची खाल ।
जो नर बकरी खात हैं, तिनकौ कौन हवाल ।।

५. ए. नारी—

नारी-निन्दा की परम्परा बहुत प्राचीन है । मनु के अनुसार नारी पुरुष को नष्ट कर देती है ।[1] शङ्कराचार्य जी ने नारी को नरक-द्वार बतलाया ।[2] जैनों, सिद्धों और नाथों के साहित्य में भी नारी-निन्दा की परम्परा चलती रही । गोरख ने कहा—

तजै अल्यङ्गन काटै माथा,
ताका विषनु पषालै पाया ।[3]

चित्त-वृत्तियों के निरोध की साधना में नारी बाधा डालती है । इस प्रकार योग-साधक को नारी से अलग रखना चाहिए । सन्तों में भी नारी की निन्दा का स्वर तीव्र है । पर सन्तों की नारी-निन्दा अन्धाधुन्ध नहीं है । उन्होंने उसके कामुक रूप की निन्दा की है । सम्भोग के लिए नारी अन्धी हो जाती है, ऐसा मनु का कथन है । कबीर व्यभिचारिणी नारी की निन्दा करते हैं—

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ।।

नारी की सम्भोग-कामना बड़े-बड़े योगियों के मन को चलायमान कर देती है ।

जो नारी के भरे-ऊभरे बाह्य रूप पर आकर्षित हो जाता है, वह कामी है । या नारी का बाह्य-रूप अपने उभार से पुरुष को कामान्ध बना देता है । नारी के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन 'नख-शिख' के रूप में साहित्य में चला आया है । नारी के

---

१. स्वभाव एक नारीणां नराणामिह भूषणम् । मनु० अ० २
२. नारी मिमेकं नरकस्य द्वारि ।
३. गोरख बानी, पृ०८

नख शिख का वैराग्यपूर्ण निरूपण भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में इस प्रकार किया है : स्त्रियों के स्तन मांस के पिण्ड हैं, किन्तु कनक-कलशों की उपमा दी जाती है। मुख थूक से परिपूर्ण है और उसे चन्द्रमा के समान बतलाया जाता है। टपकते हुए मूत्र से भीगी जङ्घाओं को श्रेष्ठ हाथी की सूँड़ से उपमा दी जाती है। यह खेद की बात है कि नारी के इस निन्दनीय रूप की कवियों ने प्रशंसा की है।[1] इसी परम्परा में सुन्दर-दास का वैराग्यपूर्ण 'नखशिख' आता है—

कामिनी कौ अङ्ग अति मलिन महा अशुद्ध,
रोम रोम मलिन मलिन सब द्वार हैं।
हाड़ मांस मज्जा मेद चाम सों लपेट राखै,
ठौर-ठौर रकत के भरई भण्डार हैं।
मूत्र औ पुरीष आंत एकायेक मिलि रही,
और ऊ उदर माँहि विविध विकार हैं।
सुन्दर कहत नारी नख-सिख निन्द रूप,
ताहि जे सराहें बे तो बड़ेई गँवार हैं॥

इसके पठन मात्र से एक बार मन को अंकुश सा लगता है। नारी के अङ्गाग सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा से पुरुष की भोग-वृत्ति जागृत होती है। इसीलिए सन्तों ने उसके अङ्गों के नग्न वर्णन से वैराग्य-भावना जगाने की चेष्टा की है। नारी के साथ अहर्निश भोग-वृत्ति से रहने वाले मनुष्य की अवस्था पर कबीर ने शोक प्रकट किया है—

जा तन की झाँई परत, अन्धा होत भुजङ्ग।
ते नर कैसे बाचि हैं, जिन नित नारी को सङ्ग॥

पर कबीर को उनसे विशेष शिकायत है जो परनारी-गमन करते है—

परनारी पैनी छुरी, मति कोऊ लाओ अङ्ग।
रावण के दस सिर कटे, परनारी के सङ्ग॥

नारी के साथ जब भोगासक्ति का आतिशय्य हो जाता है, तो वह विषमय हो जाती है। इसे विष बेलि से लिपट कर कामान्ध पुरुष अपने मरण की प्रस्तावना करता है। इस प्रकार सन्तों ने कामाश्रित नारी-पुरुष सम्बन्धों की निन्दा करते हुए, नारी की भर्त्सना की है।

पर कबीर आदि सन्तों में पतिव्रता के आदर्शों का बखान भी कम नहीं हैं। पतिव्रता स्त्री समाज की वह शक्ति है जो वर्तमान और भावी पीढ़ियों को शक्ति देती है। पतिव्रता का एक ही केन्द्र होता है—पति। वह इधर उधर नहीं भटकती—

---

१. स्तनौ मांस ग्रन्थी कनक कलश वित्युपमितौ।
मुखं श्लेष्मा गारं तदवि च शशाङ्किन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवर करस्पर्द्धि जघन।
महो निन्द्यं रूपं कविजन विशेषैर्गुरु कृतम्॥

पतिव्रता पति के निकट, 'सुन्दर' सदा हजूरि।
विभचारिणि भटकति फिरै, न्याय परै मुख धूरि ॥

इसी पतिव्रत धर्म को सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक साधना का आदर्श माना। वह उनकी अनन्य भक्ति का मुख्य प्रतीक है। जहाँ मधुराभक्ति में परकीया प्रेम को आदर्श माना गया है, वहाँ सन्तों की भक्ति-साधना में पतिव्रता को ही आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। जो साधक अनेक देवी-देवताओं की पूजा करता है, वह पतिव्रत-धर्म के आदर्श से विच्युत हो जाता है : वह व्यभिचारिणी के समान है—

पतिव्रता छाँड़ै नहीं, 'सुन्दर' पति की सेव।
विभचारिणी औगुन भरी, पूजै देवी देव ॥

इस पतिव्रत को राम के प्रति उन्मुख कर देना ही परम पुरुषार्थ है—

पतिव्रत में ही शील है, पतिव्रत में संतोष।
'सुन्दर' पतिव्रत राम सों, वह ई कहिए मोष ॥

इसी आदर्श वाले योगी पर रामजी प्रसन्न होते है—

'सुन्दर' रीझै रामजी, जाके पतिव्रत होइ।
रुलत फिरै ठिक बाहरी, ठौर न पावै कोइ ॥

सन्तों ने नारी-जाति की निन्दा नहीं की। उसका पतिव्रत रूप उसकी साधना की सबसे बड़ी प्रेरणा रही। उसका मातृरूप भी वन्दनीय है। इसीलिए कबीर ने कहा : "नारी-निन्दा ना करौ, नारी नर की खान।" केवल उसका कामिनी रूप सन्त के लिए निन्द्य और त्याज्य है। सन्त कवियों का यही नारी-दर्शन है।

निष्कर्ष—

सन्त कवि ने अपने दर्शन का आधार मानवतावाद माना। मानव-मानव के बीच खड़ी होकर जो दीवारें समाज के खण्ड करती हैं, उन्हें ध्वस्त करने में सन्त-कवि निर्भय रूप से संलग्न है। उसका धर्म सारग्राही है। दर्शन की जटिल पद्धतियों को वह 'सहज' जीवन की ओर मोड़ रहा है। प्रेम और भक्ति के किनारों के बीच उसका समस्त समन्वित दर्शन प्रवाहित होता है। योग, ज्ञान, आदि सभी रस-प्रक्रिया से सुडौल और जीवन-सम्पन्न बन गए हैं। सभी प्रकार वर्गगत, जातिगत और सम्प्रदायगत संघर्षों का उपशमन उसकी हार्दिक कामना है। उसका व्यक्तित्व महान् है, वह गृहस्थ का विरोधी नहीं। 'थोथे' और निर्जीव मूल्यों को उसकी 'आंधी' उड़ा देना चाहती है और मानववादी मूल्यों की जड़ें मानव-मन की गहराइयों को भेदती चली जाती हैं। इस सबकी अभिव्यक्ति के लिए उसने लोक-शैली और लोक-भाषा को अपनाया। इस दर्शन और इस पर आधारित साहित्य हिन्दी साहित्य को मूल्यवान निधि है और सदैव रहेगी।

१५

सन्त-काव्य : एक मूल्याङ्कन

१. सन्त-साहित्य का अध्ययन, प्रवृत्ति और विकास
२. सन्त-कवि, सन्त और कवि का समन्वय लोक-रुचि और सन्त की अवतारणा
३. सन्त का साधना-साहित्य, सन्त-साहित्य के अवलम्ब
४. सन्त की सम्बन्ध परिकल्पना---दाम्पत्य भाव, और गुरु तथा अन्य स्थितियाँ
५. सन्त की विरहानुभूति---साधनात्मक शृङ्गार, मिलन-पक्ष
६. व्यक्ति जीवन एवं लोक-जीवन, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन
७. सन्तों द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूप तथा उनकी भाषा---उलटवासियाँ, संधा-भाषा, साखी, सबद, रमैनी, संख्यावादी-काव्य, मङ्गल-काव्य
८. निष्कर्ष

प्रस्तावना—

सन्त-साहित्य के साथ अनेक प्रश्न उलझे हुए हैं। पहला प्रश्न है इस साहित्य की प्रामाणिकता का। इस साहित्य की परम्परा मौखिक रूप से अपने-अपने सम्प्रदाय में चलती रही अनेक शिष्यों ने गुरु के नाम पर भी साहित्य-रचना की। इस परिस्थिति में प्रामणिकता का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। फिर, सन्तों को दर्शन-शास्त्र की ऊहापोह आकर घेर लेती है : हठयोग, वेदान्त, सूफी-प्रेम, भक्ति—न जाने वहाँ क्या-क्या है ? सन्तों का प्रामाणिक जीवन-चरित्र और उनके व्यक्तित्व के विश्लेषण की समस्या भी अध्येताओं का ध्यान आर्कषित करती है और इतिहासकार सन्तों की सांस्कृतिक पूर्व-परम्परा की कड़ियों के संयोजन में लगता है। तात्पर्य यह है कि सन्त-काव्य की मूल-भूमि तक पहुँचने में ये प्रश्न बाधक ही बनते जाते हैं साधक नहीं। यदि काव्य के सम्बन्ध में विचार करें तो यह प्रश्न होता है कि उपदेश, साम्प्रदायिकता, और सिद्धान्त-कथन वाला, और ऊबड़-खाबड़ भाषा में लिखा हुआ सन्त-साहित्य क्या वस्तुतः साहित्य की कोटि में आता है ?

१. सन्त-साहित्य का अध्ययन—

जब द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना का नवोत्थान हुआ, तो उसकी कसौटी नैतिकता और जीवन के आदर्शवादी-मूल्यों के आधार पर बनी। इस कसौटी ने जिस पूर्वाग्रह की सृष्टि की, वह सगुण-भक्तों को लेकर था : प्रायः तुलसी को लेकर। साहित्यिक सौन्दर्य सन्तों की अपेक्षा जायसी में विशेष दिखलाई दिया। द्विवेदी

युगीन आलोचना-गत नैतिकता सन्तोक्त सिद्धान्तों से नहीं, तुलसी जैसे भक्तों के जीवन-दर्शन के तत्त्वों पर आधारित हुई। यह नैतिकता की दृष्टि जब नवोदित छायावादी और रहस्यवादी काव्य-धाराओं के प्रति न्याय नहीं कर पा रही थी, तो सन्तों के रहस्यवाद की भी उपेक्षा हो जाना स्वाभाविक था। इन आलोचकों के अनुसार समाज को अपने आदर्शों की स्थापना के लिए 'सन्त' की ओर नहीं 'भक्त' की ओर ही देखना चाहिए। उस युग का आलोचक जिस समन्वय और समझौते की बात करता था, वह भी सन्त की अपेक्षा भक्त में ही अधिक था। सन्त तो जहाँ एक ओर समझौता करता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन के निर्जीव मूल्यों के विरोध में खड्गहस्त भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन भक्तों ने अपने पुनर्मूल्याङ्कन के लिए नैतिकतावादी आलोचकों के रूप में बीसवीं शती के आरम्भ में अवतार धारण किया।

आलोचकों की एक और कोटि उक्त आलोचकों के कुछ पीछे चलती है। इसके साथ शोध या अनुसन्धान का तत्त्व जुड़ा हुआ था। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सन्त-साहित्य का पाठ-क्रम निश्चित करने का प्रयत्न किया और कुछ अप्राप्य सामग्री का सङ्कलन-सम्पादन भी किया। परशुराम चतुर्वेदी ने भारत के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त सन्त-सम्प्रदायों, उनकी परम्पराओं और उनके साथ सम्बद्ध साहित्य का विशद सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। इनको सन्त-साहित्य का उद्धारक माना जा सकता है। इनकी प्रवृत्ति में ग्रियर्सन जैसी खोजी वृत्ति है। म० म० हर प्रसाद शास्त्री और बागची जैसे बङ्गाली विद्वानों ने जब सिद्ध-परम्परा के सम्बन्ध में शोध की, तो राहुल जी ने उस परम्परा को हिन्दी की ओर खींचा। इससे सन्तों की पृष्ठभूमि समृद्ध हुई। इसी समय एक विलक्षण व्यक्तित्व सामने आया। इस व्यक्तित्व की भावात्मक परिधि शान्ति-निकेतन में बनी। रवीन्द्र का मानवतावाद अपनी समस्त भावात्मक सम्पत्ति के साथ इस व्यक्तित्व को बहुत दिनों तक परिवेष्ठित किये रहा। रवीन्द्र की स्वकीय भाव-पीठिका के अतिरिक्त उपनिषदों का अध्यात्म, वैष्णव पदावली और दर्शन, लोक धर्म-साहित्य एवं गीत (बोल सहजिया) मानवतावादी हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सन्तों का सर्वात्मवाद, मध्ययुगीन रहस्यवादी (भारतीय) विशेषत: कबीर एवं पश्चिम के नवीन मानववादी कवियों की आधुनिक-सांस्कृतिक-बौद्धिकता तथा तत्कालीन राजनैतिक-सामाजिक आन्दोलनों एवं इनके मूल स्रोतों ने जहाँ रवीन्द्र की काव्य-सृष्टि को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया, वहाँ हमारे उपर्युक्त आलोचक महोदय के व्यक्तित्व को एक मानवतावादी धरातल भी दिया। यह व्यक्ति है डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी। रवीन्द्र के जिन रहस्यवादी स्रोतों का उल्लेख किया गया है उनमें से द्विवेदी जी ने सन्तों के स्रोत को आश्चर्य मिश्रित आनन्द के साथ देखा। कबीर की साहित्य-सृष्टि रवीन्द्र के माध्यम से विश्व में मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। जहाँ शुक्ल जी की आलोचना के मान-दण्ड में भक्त-दर्शन था, वहाँ द्विवेदी जी सन्तोक्त मानवतावादी-रहस्यवाद से प्रेरणा ग्रहण करने लगे। उनकी

ऐतिहासिक अभिरुचि सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विश्लेषण से आलोचना को अनुप्राणित करने लगी। रहस्यवाद का वैष्णवी संस्कार भी आलोचना-पद्धति में सम्मिलित हुआ। इन नवीन किरणों ने सन्त-काव्य पर पड़े हुए तिमिरावरण को ध्वस्त कर दिया। फिर भी द्विवेदी जी तथा अन्य आलोचकों ने काव्य की अपेक्षा सन्तों के दर्शन, उनकी संस्कृति और उनके मानवतावादी संदेश को ही अधिक देखा-परखा। गांधी जी के समाज-दर्शन में भी सन्तों के जीवन-दर्शन का योग था। डा० बड़थ्वाल ने इसे पूरी तरह तर्कों, प्रमाणों एवं स्वयं गांधी जी के कथनों से सिद्ध किया है। अत: इसे एक प्रकार से युग-धर्म कहा जा सकता है। इस बात की आज भी आवश्यकता बनी हुई है कि सन्त-काव्य पर, काव्य की दृष्टि से कुछ विस्तार से सूक्ष्म विचार किया जाय।

२. सन्त-कवि—

सन्त-कवि का व्यक्तित्व अन्तर्बाह्य स्फूर्तियों से पुलकित था। बाह्य जीवन-संघर्ष के प्रति सक्रिय सजगता, इसके व्यक्तित्व को सिद्ध और नाथ के व्यक्तित्व से पृथक् करती है। उसका बाह्य संघर्ष वर्गों से सम्बद्ध था। यदि यह वर्ग-संघर्ष आर्थिक आधार पर होता तो सम्भव है: सन्त-कवि उस व्यापक क्रान्ति का भी नेतृत्व करता। क्रान्ति धार्मिक थी। धार्मिक दृष्टि से उच्चवर्ग वह था जो शास्त्रीय, रूढ़ आचारों से विजड़ित था। यह वर्ग शिखा, सूत्र, तिलक आदि बाह्य चिह्नों से चिह्नित था। कुछ व्रत और अनुष्ठानों का निर्वाह ही इस वर्ग की आध्यात्मिक साधना की इयत्ता थी। इस वर्ग के अन्तर्बाह्य में कोई सामञ्जस्य नहीं था। अर्थ और काम की दासता से इसका अन्तर जर्जर था। यह एक प्रकार से निगमाश्रित धर्म पर बने वर्गों की स्थिति थी। आगमाश्रित धर्म-दर्शन व्यक्त-अव्यक्त रूप से शाक्त-तंत्र और शैव-योग से समन्वित था। इस क्षेत्र में भी एक साधक वर्ग था। उसकी पारिभाषिक गुह्य योग-साधनाओं का विधान जटिल था। पर जातीय दृष्टि से ये साधक लोकमत और लोक-जीवन से अवश्य सम्बद्ध थे। पर लोक-मानस इनकी साधनाओं को आत्मसात नहीं कर पाता था, चाहे वह इनकी जटिल प्रक्रियाओं और इनसे प्राप्त सिद्धियों से चमत्कृत और अभिभूत होता हो। वैसे निम्न वर्ग को अपनी हीनता और कुण्ठा में इन साधकों से कुछ नैतिक बल प्राप्त होता था। साधक-वर्ग की कुछ व्यावहारिक नीति-शिक्षा भी चलती थी। पर, नाथ-सिद्ध के व्यक्तित्व का कवि-पक्ष न तो अधिक सरल-सहज ही था और न अधिक उन्मुक्त ही। क्रान्ति की चिनगारी भी वैराग्य-विभूति से आवृत्त हो रही थी।

सन्त-कवि का व्यक्तित्व विकसित हुआ। सन्त ने 'साधना' को सहज-सरल बनाने की चेष्टा की। हठयोग की पारिभाषिकता भक्ति की अनुभूतियों की जीवन्त उष्णता से द्रवित होकर और प्रेम की आत्म-चुम्बी तीव्रता से मुक्त होकर नवीन सहज-साधना में ढल गई। निम्न जातीय वर्ग के प्रति जो मूक सहमति एवं सहानुभूति

चली आ रही थी, वह शब्द पाने को आकुल हो उठी अधिक मचलने लगी। इस प्रकार सन्त के व्यक्तित्व का कवि-पक्ष पारिभाषिक साधना से कुछ मुक्त होने लगा। उसके सन्त-व्यक्तित्व के साथ धार्मिक और जातीय उच्च वर्गों के प्रति एक उत् क्रान्ति अनुस्यूत होगई। इससे सन्त के व्यक्तित्व को नवीन आयाम मिले। शास्त्रीय तर्क-प्रणाली का स्थान व्यावहारिक तर्कों ने लिया। व्यावहारिक तर्कों को व्यंग्य ने तीव्र तथा सजीव बनाया। व्यंग्य चाहे अपने लक्ष्य वर्गों को दग्ध कर देते हों, पर मूल में रहने वाले अहिंसा आदि मानवतावादी जीवन-मूल्यों पर आधारित होने से, इन व्यंग्यों के सृष्टा का व्यक्तित्व एक तेजस्विता से प्रोद्भासित हो जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक आलोचकों को सन्त-कवि के व्यक्तित्व में हीनता-ग्रन्थि और कुण्ठा की प्रतिक्रिया दिखलाई पड़ सकती है। यदि यह सत्य हो तो भी ये कुण्ठा-चक्र वैयक्तिक नहीं, वर्गीय है। अतः व्यक्तित्व अस्वाभाविक या साधारण होने के स्थान पर जीवन के यथार्थ के प्रति अधिक प्रबुद्ध और सचेष्ट दिखलाई पड़ता है। सामूहिक उद्वेलन की भूमिका में सन्त की वर्गगत या समाज-गत अनुभूति वर्जन से भयभीत नहीं रहती। इससे सन्त का व्यक्तित्व अन्त-र्बाह्य एक होकर स्पष्टवादी बन जाता है।

इन सामाजिक अनुभूतियों के अतिरिक्त सन्त-कवि का व्यक्तित्व आध्यात्मिक अनुभूतियों की छवियों पर भी मुग्ध है। उसका 'पिण्ड' ही रहस्यागार है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड समाया है जिसमें यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्ड की सार्थकता दिखाई देती है। समस्त शक्तियाँ सुप्त-प्रसुप्त भाव में विद्यमान हैं। नवीन शक्तियाँ शरीरस्थ चक्रों, या चिति-केन्द्रों से सम्पृक्त होकर अभूतपूर्व, अनिर्वचनीय अनुभूतियों से सन्त के व्यक्तित्व को भर देती हैं। अन्तर्मुख इन्द्रिय, वृत्तियाँ, अन्तर्नाद और अन्तर्ज्योति का स्वतः श्रवण और दर्शन करती हैं। जब समस्त चेतना, प्राण-लहरियाँ और जागृत-ऊर्ध्वमुखी-शक्तियाँ एक सामञ्जस्य सूत्र में संग्रथित होकर मूल आनन्द-बिन्दु से संस्पृष्ट हो जाती हैं। तब सन्त का 'कवि' जागृत होता है। उसकी साधना अनिर्वचनीय को कथनीय बनाने की है। जिस व्यक्तित्व का अन्तराल समाधि के ऊर्ज-स्वित क्षणों में स्फीत हो, जहाँ एक रहस्यमय अमृत की अजस्र वर्षा होती हो और जहाँ चिति केन्द्रों पर परमात्म-मिलन की अनाहत रागिनी की मधुमय सरणियाँ हों, उस व्यक्तित्व में काव्य के आन्तरिक स्रोतों का अभाव नहीं हो सकता। जिस आभ्यन्तरिक वातावरण की सृष्टि करने में कल्पना की पूर्ण साधना अपेक्षित होती है; वह सन्त-कवि को अपनी साधना से सहज प्राप्त था।

सन्त-कवि को अदृश्य वायवी कल्पना की आवश्यकता नहीं थी। उसकी कल्पना का कार्य था, धरती से उपजे और लोक-मानस की रुचियों से सजे अभिव्यञ्जक तत्त्वों को सप्रयत्न संजोकर, एक माध्यम प्रस्तुत कर देना। इस माध्यम से सम्बन्धित अनेक प्रयोग भी सन्त कवि को करने पड़े, जिससे कवि की अनुभूतियाँ पूर्ण-रूप से प्रकाशित हो सकें। सन्त कवि के व्यक्तित्व को यह स्वीकृत नहीं था कि रूप-

शिल्प को दुरूह बनाए या काव्यशास्त्रीय-परम्परित आभिजात्य की शरण ले। दुरूहता यदि कहीं सन्त-कवि में है, तो वह विवशता-जन्य नहीं, एक विशिष्ट परिपाटी के निर्वाहार्थ है।

दो रूपों का समन्वय होते हुए भी 'सन्त' और 'कवि' का संघर्ष इनके व्यक्तित्व में नहीं था। सन्त की साधना एक ओर लोकोत्तर अनुभूतियों का द्वार उन्मुक्त करती थी तो दूसरी ओर समाज में प्रतिदिन होने वाले मानव-मानव के संघर्ष की वेदना से आकुल अन्तर्मन विगलित होकर फूट पड़ना चाहता था। इस प्रकार 'कवि' को 'सन्त' से पर्याप्त उपजीव्य निरन्तर प्राप्त होता था। यह सामञ्जस्य इतना प्रबल था कि सहज अप्रस्तुत विधान भी अनुभूतियों की तीव्रता से बल सञ्चित करके भी अभिव्यक्ति के लिए अलम् हो जाता था। जब 'सन्त' अपनी बहिर्साधना में समाज-सुधारक बनता है तब 'कवि' प्रचारक के रूप में मिलता है। इसमें उसने एक अदम्य साहस का परिचय दिया है।

एक शब्द में सन्त-कवि का व्यक्तित्व किसी दबाव में नहीं था : वह मुक्त और 'सहज' था। ऐसे व्यक्तित्व को पाकर कोई भी साहित्य धन्य हो सकता है उसे अपने अनुभव पर ही भरोसा था। अपने कथन एवं प्रयत्न पर विश्वास था क्योंकि वह राग-द्वेष से निर्लिप्त था।

३. लोक-रुचि—

कवि लोक-रुचि से भी प्रभावित होता है। सन्तकालीन लोक-रुचि का स्पष्ट निरूपण तो कठिन है ही, यह और भी कठिन है कि सन्त को प्रभावित करने वाली रुचि को जान-समझ लिया जाय। वैसे सामान्य रूप से सन्त और भक्त 'स्वान्तः सुखाय' ही अपने कर्म में प्रवृत्त रहे। अभिजात वर्ग की रुचि से प्रभावित होने का तो प्रश्न ही नहीं था। राजवर्ग तो इतना विपण्ण था कि अपनी रुचि स्थिर नहीं रख पा रहा था। शास्त्रीय विद्वत्समाज शास्त्रों के भाष्यों और टीकाओं में जितनी रुचि रखता था, उतना कविता में नहीं। इस युग के पण्डितवर्ग से सम्बद्ध जनता अवतारवादी पौराणिक कथा-वार्ताओं और तत्सम्बन्धी साहित्य में रुचि रखती थी। साथ ही विविध त्यौहारों और पर्वों पर लोक-साहित्य के विविध रूप उसकी गोष्ठियाँ सजीव बनाते थे। कबीर या अन्य सन्त-कवियों से पौराणिक आख्यान-कथाओं की आशा ही नहीं की जा सकती थी। साथ ही जिस रहस्यवादी या हठयोग साधना-सम्बन्धी अनुभूतियों या पद्धतियों को सन्त-कवि कविता-बद्ध कर रहा था, उसमें लोकाभिरुचि की तुष्टि नहीं थी। इसलिए लोक-रुचि की तुष्टि के लिए सन्त-कवियों ने लोक-साहित्य के मुक्तकरूप को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया : बसन्त, होली, रमैनी आदि से लोक-रुचि का तादात्म्य था। सन्त की रहस्यवादी अनुभूति से लोक-रुचि का तादात्म्य न होने पर भी, जब लोक ने अपने निजी काव्यरूपों में नयी विषय-वस्तु देखी तो उसने रूप के माध्यम से उसे भी अपनाया। इससे निम्नवर्ग का ज्ञान-योग सम्बन्धी अज्ञान और तज्जन्य हीनता-भाव भी तुष्ट होता था साथ ही ज्ञान और योग उनकी समान्य चर्चा

का विषय बन जाता था, चाहे उसके तात्त्विक निरूपण में वे असमर्थ ही रहें। आज भी हिन्दी-प्रदेश में कबीर की छाप से अङ्कित अनेक शृङ्गारिक पद होली आदि पर गाए जाते हैं, यद्यपि वे कबीर के लिखे हुए नहीं हैं। 'कबीर' नामक एक लोक-साहित्य-रूप ही पूर्वी क्षेत्रों में मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जिन वैवाहिक या शृङ्गार-रूपकों को कबीर आदि सन्तों ने अपने आध्यात्मिक मिलन की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए ग्रहण किया, वे लोक-रुचि को तुष्ट और आकर्षित करने की क्षमता रखते थे। यहाँ तक कि लोकरुचि जिस असंस्कृत शृङ्गार को चाहती थी उसके लिए भी उसे नैतिक बल मिल गया : उसको विश्वास हो गया कि घोर से घोर शृङ्गार-गीतों का भी आत्मपरक अर्थ सम्भव है। अतः अब तक जिन शृङ्गार गीतों के सामूहिक गायन में कुछ सङ्कोच और मर्यादा-भय रहता था, वह समाप्त हो गया और लोक की अभिरुचि अपने को उन्मुक्त अनुभव करने लगी। आगे चलकर यही पद्धति कृष्ण-वार्ता के माध्यम से चलने वाले शृङ्गारी 'कन्हैयाख्यानों' में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार लोक-रुचि का संस्कार भी सन्तों ने किया और उसके उन्नयन का ध्यान भी रखा। उनकी उलटबाँसियों में लोक-रुचि को पहेली का सा विधान मिलता था। लोक बड़ी जिज्ञासा से उन योग-साधनाश्रित प्रहेलिकाओं को सुनता-समझता था और उन्हीं या उन जैसी अन्य उलटबाँसियों से स्वयं भी वाक्-विलास करता था। यद्यपि विषय की पारिभाषिकता को उसकी अभिरुचि ग्रहण नहीं कर पाती थी।

४. साधना-साहित्य—

सन्त-साहित्य को धर्म-साधना का साहित्य कहा जा सकता है।[1] इसमें साधक की चर्या तथा तत्सम्बन्धी नियम और अनुष्ठानों का भी विधान रहता है, और साधना के विविध स्तरों के अनुभवों का भी आलेखन। साहित्य की दृष्टि से साधना-साहित्य का द्वितीय पक्ष अधिक अनुभूति-सकुल होता है। परन्तु सन्त की साधना एक मिश्रित साधना थी : जिसके घटक थे योग—भक्ति—प्रेम। योग साधना अन्तर्मुख होकर समस्त रहस्यागारों का उद्घाटन करके परमतत्त्व की अन्तर्देश में ही खोज करता है। यह साधक अपने ऊपर अधिक विश्वास रखता है। भक्त की साधना परमात्मा पर अधिकांश या पूर्ण विश्वास करके चलती है। निःशेष आत्मोत्सर्ग भक्ति-साधना का प्राण है।[2] यह साधना सन्तों से पूर्व तांत्रिक सिद्धों और नाथ-योगियों में भी प्रकार भेद से प्रचलित थी। पर वहाँ इस साधना के साथ भक्ति-रस इतना प्रगाढ़ होकर समन्वित नहीं हुआ था। 'महाराग' या 'महासुख' की अभिव्यक्ति चाहे शृङ्गार-मूलक रूपकों के द्वारा होती हो, परन्तु आन्तरिक रूप से साध्य के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना उस साधना का अनिवार्य अङ्ग नहीं था। सन्त-साधना के साथ ये तत्त्व प्रमुख

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ५६

२. "राजनीति की परिभाषा में समझाना चाहें तो योगमार्ग गण तांत्रिक धारणा की उपज है और भक्तिमार्ग साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की देन है।" — डा० द्विवेदी, म० का० ध० सा०, पृ० ६०-६१

हो गये। अतः इस साधना-साहित्य में अनुभूति-पक्ष की समृद्धि की अधिक सम्भावनाएँ हुई। साधना का यही प्रेमानुभूति-पक्ष प्रबल होता गया।

इस साधना-साहित्य में नीति का स्वर भी प्रबल है। इस नीति का आधार था योग। योग की स्वीकृति दर्शन के आश्रित थी। पातञ्जल योग दर्शन को चार विभागों में विभाजित किया गया है : हेय, हेय-हेतु, हान, एवं हानोपाय। जो पदार्थ दुःख के कारण हैं, वे हेय हैं। इनकी स्वीकृति अविद्याजन्य है। यही हेय-हेतु है। सच्चे ज्ञान की उपलब्धि से, अविद्या के उच्छेद की स्थिति ही हेय-हान है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए जो उपाय किए जाते हैं, वे ही हानोपाय हैं। फलतः अष्टाङ्ग योग उपाय है। योग के पाँच बहिरङ्ग है : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, एवं प्रत्याहार। इसके तीन अन्तरङ्ग हैं : ध्यान, धारणा और समाधि। मध्यकाल में बाह्योपायों पर विशेष बल दिया गया। अन्तर्बाह्य ऐन्द्रिय संयमन 'यम' है। 'यम' के पाँच विभाग हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये ही सन्तों के नीति-साहित्य में समाविष्ट हैं। नीति के रूप में परिवर्तित होकर यही समाजोन्मुख हो जाते हैं। खीज या आक्रोश में ये ही विषयान्तर से खण्डन, आलोचना, आदि के रूप में व्यक्त होते हैं।[1] इनके विरुद्ध आचरण 'वितर्क' है। वितर्क-विनाश के लिए पाँच नियम हैं : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान। कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्तों के नीति साहित्य में इन नियमों ने भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। धीरे-धीरे सन्तों के साहित्य में उक्त यम-नियमों का साधनात्मकरूप क्षीण होता गया और इनका नैतिक स्वर प्रबल होता गया।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि निर्गुण-सन्त-साहित्य साधनात्मक तो था, पर धीरे-धीरे साधना का पारिभाषिक रूप प्रेम और नीति सम्बन्धी अग्नि मे तप कर शुद्ध साहित्य के रूप में परिणत होता गया। साधना सम्बन्धी कथन मिलते अवश्य हैं, पर सन्त-कवि की वृत्ति उसमें उतनी नहीं रमती, जितनी नाथ-योगी की रमती थी। उसके समुख सहज और प्रेम के आदर्श अपने उज्ज्वल रूप में प्रकट थे।

५. सन्त-साहित्य का आलम्बन—

भारतीय काव्य-परम्परा में तीन युग्म आलम्बन के रूप में चले आ रहे हैं : शिव और शक्ति, राम और सीता, कृष्ण और राधा। शिव और शक्ति आगम परम्परा में समाहृत रहे और शास्त्रीय-साहित्य में भी। पौराणिक साहित्य में शिव-शक्ति को आलम्बन मानपर कई आख्यान लिखे गए। साहित्य में इनकी लोकप्रियता कम रही। सन्त कवि ने पूर्ण रूप से इनमें से किसी आलम्बन को ग्रहण नहीं किया। आध्यात्मिक दृष्टि से यह कवि शिव और शक्तिवाली परम्परा में कहा जा सकता है। नाम की दृष्टि से राम, माधव, गोविन्द जैसे नाम सन्त साहित्य में प्रयुक्त मिलते है। पर वास्तव में उसका

१. "...प्रत्येक यम का रूप उत्तरोत्तर कथनी प्रधान, कटु आलोचना प्रवण, और कभी कभी खीझ से भरी गाली-गलौज के रूप मे प्रकट हुआ है।" —म० का० ध० सा०, पृ० ७४-७५

आलम्बन 'असीम' 'निर्गुण', 'अलख' ही है। शिव और शक्ति के समस्त आख्यान कट-छट गए और उनका शुद्ध निर्गुण रूप रह गया। ज्ञान-मार्गी ब्रह्मधारणा से यह आलम्बन पुष्ट हुआ। आख्यान-भाग के समाप्त हो जाने पर स्तोत्र या मुक्तक रह गए।

सन्तों की दृष्टि में यह समस्त व्यक्तजगत् सीमा और असीम की लीलाभूमि है। एक तत्त्व अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्त्व उसे रूपायित करने के लिए सीमा की ओर खीचता है। 'रूप' असीम को सीमा मे देखने की साधना है। सीमा और असीम की इन लीला को मध्यकालीन सन्तों ने भी देखा और भक्तों ने भी। सगुण मार्गी भक्तों ने इस लीला को व्यक्त करने के लिए प्रायः राम-सीता, कृष्ण-राधा को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया। सन्तों ने 'लेख-अलेख', 'हद'—बेहद, आदि शब्द-प्रतीकों को माध्यम बनाया। 'जीव' अपने स्वभाव के अनुसार प्रत्येक वस्तु को 'नाम' और 'रूप' की सीमाओं में बाँध कर देखना चाहता है। सन्त-कवि ने उसको 'नाम' तो दिया, पर भक्त की भाँति उसकी रूप-कल्पना नहीं की। उसका रूप केवल सम्बन्ध-भावना से युक्त रूपकों के माध्यम से व्यक्त हुआ। सम्बन्ध-सूचक रूपकों में 'आकार-शून्य' रूप मिलता है। यह आकार-निरपेक्ष और मात्र सम्बन्ध रूप एक दीर्घ परम्परा रखता है। असीम की आकार-सापेक्ष रूप-कल्पना ही अवतारवाद में परिणत हुई। इस प्रकार नाम-रूप की कल्पना सन्त-कवि को 'असीम' की अवतारणा के लिए आवश्यक दिखलाई दी। कमल के विकास को कमल के बिना देखना कठिन है—

हदै छाँड़ि बेहद गया, हुवा निरन्तर वास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास॥ [कबीर]

पर रूप के माध्यम से अरूप का दर्शन क्षण-स्थायी होता है। फिर भी दर्शन का यह क्षणमात्र समस्त जीवन को सार्थक बना देता है। सम्पूर्ण रूपों में वही वर्तमान है, फिर भी सबसे असम्पृक्त है : 'स भूमि सर्वतस्पृत्वाऽत्य तिष्ठद्दशांगुलम्।'[1] इस प्रकार उसे रूप-सीमा में भी देखा जा सकता है—

'दादू' अलख अलाह का, कुछ कैसा है नूर।
बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब पूर॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सन्तों का आलम्बन असीम है। पर, उसे सीमा के माध्यम से देखा जा सकता है। सन्त-कवि ने उसके साथ सम्बन्ध की कल्पना की। यही उस अरूप को रूप देने का प्रयत्न कहा जा सकता है। 'नाम' उसी 'अनाम' को समीप प्रतीक में बाँधने के लिए है। 'गुण' की कल्पना सन्त ने विशद रूप मे नहीं की। स्मृति तथा परिकल्पना में यह आवश्यक भी नहीं है।

६. सम्बन्धभावना—

जब असीम और अरूप को सीमा और रूप में—चाहे क्षणभर के लिए ही—अभिव्यक्त रूप में देखा जा सकता है तो सन्त अपनी समस्त रागात्मक सत्ता को क्यों नहीं समर्पण कर दे। राग के माध्यम से उसके साथ अनेक सम्बन्ध भी रखे जा सकते

१. पुरुष सूक्त

हैं। भक्ति साहित्य में मुख्यतः ये भाव मिलते हैं : दास्य (स्वामी-सेवक-भाव), माता-पिता-बालक, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य।[१] सन्त कवियों में दास्य-भावना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अनन्यभाव से उसकी शरण में जाना ही मुख्य है। —उसी की कृपा से भक्त का उद्धार हो सकता है—

तारण-तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आनदेव नहिं जानौं॥

इस आत्म-समर्पण की स्थिति के पश्चात् कवि किसी भी सम्बन्ध-भावना की ओर जा सकता है। सन्त-कवि दास्य की ओर भी जाता है—

मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसाईं।
तन-मन-धन मेरा रामजी के ताईं॥

दास्यगत सम्बन्ध भावना प्रायः सभी सन्त-कवियों ने व्यक्त की है। परमतत्त्व को माता-पिता कह कर अपने को बालक रूप में भी सन्त-कवि ने रखा है।

जौ तन माहै मनधरै, मनधरि निर्मल होइ।
साहिब सूँ सनमुख रहै, तो फिर बालक होइ॥

सर्वांश-समर्पण और मन की निर्मलता सभी सम्बन्धों के लिए आवश्यक हैं। भगवान् के मन की कल्पना माता के मन के समान की गई। बालक के अपराध को माता क्षमा कर ही देती है—

हरि जननी मैं बालक तोरा।
कहे न औगुण बकसहु मोरा॥
सुत अपराध करै दिन केते।
जननी के चित रहै न तेते॥

इस प्रकार सम्बन्ध-भावना का विकास हुआ। सख्य का विकसित रूप सन्त-साहित्य में नहीं मिलता। सम्भवतः बराबरी के धरातल पर आधारित यह सम्बन्ध सन्त-कवि को मान्य नहीं था। इसी प्रकार भगवान की वात्सल्यभाव से उपासना भी सन्तों को आकर्षित नहीं कर सकी। सबसे अधिक अनुभूति-पूर्ण और व्यापक सम्बन्ध दाम्पत्य का है। इस पर सन्त-कवि ने सबसे अधिक अपनी वृत्तियों को केन्द्रित किया है।

७. दाम्पत्य-भावना—

इस सम्बन्ध-भावना से आध्यात्मिक मिलन-सुखकी अनुभूति सभी आस्तिक-धर्मों की सामान्य विशेषता है। इस कल्पना में पारलौकिक सम्बन्ध उपमेय होता है और लौकिक प्रेम उपमान। साथ ही उपमान से लौकिक प्रेम का उन्नयन और दैवीकरण भी ध्वनित होता है। यह एक प्रकार से यौन सम्बन्ध का ही उन्नयन है। उपनिषद् में भी प्रेम-प्रतीकवाद मिलता है।[२] उर्वशी और पुरूरवा का वैदिक

---

१. कृष्ण ने गीता में कहा है : "पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्"
२. बृहदारण्यक, ४.३.२१

प्रेमाख्यान[1] भारोतीय साहित्य की सर्व प्रथम प्रेम-कथा है। [2]प्रेम काम परक भी हो सकता है। यह गान्धर्व-विवाह की प्रेरणा देता है। पर हिन्दू-विवाह में काम का महत्वपूर्ण स्थान नहीं। पत्नी इस विवाह के उपरान्त पति के साथ लौकिक-प्रेम-सुख का अनुभव करते समय उसके साथ पूर्णतः अभिन्न और अपरिवर्तनीय सम्बन्ध में प्रविष्ट होती है। इस सम्बन्ध में काम महत्त्वहीन हो जाता है। दाम्पत्य सम्बन्ध की यह सरसता और अपरिवर्तनशीलता अनेक पुराणाख्यानों में अनुकथित है। पति के प्रेम में जहाँ काम की यत्किंचित गन्ध रहती है, वहाँ पत्नी के प्रेम में सम्पूर्ण भक्ति भाव और अशेष आत्म-समर्पण विश्रमित रहते हैं। इस प्रेम में एक निरपेक्ष पवित्रता रहती है। इस प्रकार एक धार्मिकता हिन्दू पत्नी के साथ लगी रहती है। महाकाव्यों में इसी प्रेम की प्रति ध्वनि मिलती है। गीता में 'प्रेमी-प्रेयसी' का उल्लेख तो इस सन्दर्भ में मिलता है, पर निष्ठावान् नारी का नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्त-कवियों ने निष्ठासमन्वित हिन्दू आदर्शों से अभिमण्डित, 'सती'-प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम के उपमान के रूप में ग्रहण किया। दक्षिण और उत्तर के परवर्ती वैष्णव सगुण भक्ति-साहित्य में दोनों ही प्रकार के प्रेम को उपमान बताया गया है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि समस्त मध्यकालीन साहित्य इस प्रेम-प्रतीकवाद के रस से अनुप्राणित हैं।

७. अ. प्रेम का महत्त्वाङ्कन—

सभी सन्तों ने प्रेम या भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। मलूकदास ने गुरु-कृपा से प्राप्त सहज प्रेम को हरि मिलन का मार्ग कहा है—

> 'सन्तो प्रेम सो मोल न कीजै।
> सहज प्रीति सों हरि दरसत है सतगुरु के परसाद।

कबीर ने भक्ति-रहित प्रेम को निष्प्राण कहा है और बिना प्रेम के भक्ति को शून्य—

> भाग बिना नहिं पाइए, प्रेम प्रीत की भक्त।
> बिना प्रेम नही भक्ति कछु भक्ति भर्‌यो सब जग्त॥

प्रेम-भावना का आध्यात्मिक मूल्य भी है और सामाजिक भी। प्रेम-शून्य मानव-मन श्मशान-वत है।[3] प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्थिरता और अपरिवर्तनशीलता है।[4] दादू के अनुसार बिना प्रेम के निश्चल समाधि नहीं हो सकती। साथ

---

१. ऋग्वेद १०।९५

२. पैन्ज़र, 'कथा-सरित्सागर' की भूमिका

३. जा घट प्रेम न सञ्चरै, सो घट जान मसान। कबीर : सन्त बानी संग्रह, १, १६, ६

४. 'खिनहि चढ़ै, खिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।' „ „ १, १६, ५

ही प्रेम-रस-पान स्वयं अपने आप में साध्य है।[1] सन्तों के अनुसार प्रेम और ब्रह्म एक ही हैं—

इसक अलह की जाती है, इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग ॥[2]

इस प्रेम से परमाराध्य परमात्मा में विश्वास उत्पन्न होता है। भक्त निश्चिन्त हो जाता है। जब परमात्मा ही उसकी चिन्ता करता है, तो उसे क्या चिन्ता—

कबीर क्या मैं चिंतऊँ, मम चिंते का होय।
मेरी चिंता हरि करै, चिंता मोहिं न कोय ॥[3]

इस प्रकार सभी सन्तों ने प्रेम-दर्शन पर विस्तार के साथ लिखा है। उसका विश्लेषण यहाँ अपेक्षित नहीं है। इतना स्पष्ट कर देना ही अभीष्ट है कि प्रेम-भक्ति सन्त साधना का अभिन्न अङ्ग है। यही उसकी साधना की अनुभूतियों को वस्तुतः साहित्य बनाता है।

७. आ. प्रेम और गुरु : प्रेम का जागरण—

प्रेम की प्रेरणा गुरु से ही मिलती है। सन्त के समस्त प्रेम-व्यापार में गुरु ही दौत्य कार्य करता है। सच्चा गुरु वही है जो प्रेम की व्याकुलता को जगा दे। प्रियतम से मिलने के सम्बन्ध में यह व्याकुलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे मिलन-साधना तीव्र और अनुभूतिपूर्ण हो जाती है। अनेक रूपकों से सन्त-कवियों ने व्याकुलता और उसके कारणभूत गुरु-वचन के सम्बन्ध में उक्तियाँ की हैं। गुरु ने कस कर बाण मारा—

सत गुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उवाड़ै लागिया, गई दुआ सूँ फूटि।
मार्या है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै बृछ तरि, आजि मरै कै काल्हि।

परमात्म-प्रेम का रङ्ग गुरु ने ही सन्त के व्यक्तित्व पर छिड़क दिया। उसके शब्द की चोट से तन-मन विकल हो गए—

सतगुरु हो महाराज, मोपै साईं रंग डारा।
सबद की चोट लागी मेरे मन में, बेध गया तन सारा ॥

इस प्रकार गुरु ने प्रेम की चिनगारी सन्त-कवि को प्रदान की।

७ इ. प्रेम की विभिन्न स्थितियाँ—

गुरु ने जब शिष्य की अन्तर्वृत्तियों को जागृत और व्याकुल करके दिशा निर्देश किया, तो सन्त का मन जिज्ञासा से छलक उठा। जिज्ञासा का यही भाव रहस्य-वाद का आरम्भ है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में भी यही जिज्ञासा

---

१. प्रेम-भगति जब ऊपजै निश्चल सहज समाध,
दादू पीवै प्रेम रस सत गुरु के परसाद। ,, ,, ८२, १२
२. ,, ,, १, ८३, १२ (दादू)
३. ,, ,, १, २१, १

मिलती है सन्तों ने विस्मय और जिज्ञासा को अनेक पदों में व्यक्त किया है। कबीर के शब्दों में—

बर्णांहु कौन रूप और रेखा।
दोसर कौन आहि जो देखा॥

उस मूल तत्त्व की सर्वत्र व्याप्ति दिखलाई पड़ती है—

घट-घट रटना लगि रही, परगट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साह हुआ, कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख जी॥

इसका सुनिश्चित निरूपण सम्भव नहीं। क्योंकि यह विजातीय, स्वजातीय आदि भेदों से परे है—

हलका कहूँ तौ बहु डरौ, भारी कहौं तौ झूठ।
मैं का जानूँ राम को, नैंना कबौन दीठ॥ [कबीर]

इस प्रकार 'कौन' प्रश्न से जागृत रहस्य-भावना उत्तरोत्तर गहन-सघन होती जाती है। उसकी व्याप्ति ज्यों-ज्यों विस्तृत होती जाती है, अनन्त प्रियतम का महत्त्व ज्ञापित होता जाता है। यहाँ तक कि उसके अतिरिक्त कुछ भी दृष्टि में नहीं आता—

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी है गई लाल॥

इस महत्त्व की अनुभूति सन्त-कवि में विरह को प्रदीप्त कर देती है। दर्शन और मिलन की स्थितियाँ विरहानुभूति के पश्चात् आती हैं।

७. ई. विरहानुभूति—

प्रेम और भक्ति की साधना में विरहानुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारद ने विरह को राजमार्ग-वत् कहा है।[1] सूफ़ियों तथा अन्य पाश्चात्य रहस्यवादियों ने भी विरह का महत्त्व माना है। सूफ़ियों की विरहाकुलता तो जगत-प्रसिद्ध है। सन्त-कवि की साधना आध्यात्मिक विरहाकुलता से ओतप्रोत है। उनके अनुसार सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त होकर ही इसकी यथार्थ अनुभूति सम्भव है। जिसका हृदय विरहानुभूति से व्याकुल नहीं, वह जीवित नहीं—

बिरहा-बिरहा जिन कहौ बिरहा है सुलतान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥ [कबीर]

सन्त-काव्य में विरह की शास्त्रोक्त दश दशाओं के मार्मिक चित्र मिल जाते हैं। जब सन्त-साधक को दीर्घ साधना के उपरान्त भी प्रिय-दर्शन नहीं होता, तो सन्त चिन्तित हो जाता है। 'चिन्ता' दशा का सुन्दर उदाहरण यह है—

पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी।
पाँव नहीं ठहराय, चढ़ूँ गिरि-गिरि परूँ।
फिरि-फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ।

१. परम विरहा सक्ति रूपा एकधाड्ये कादशधा भवति। भक्ति सूत्र, ८२

अंग-अंग थहराय, तो बहु बिधि डरि रहूँ।
कमर-कपट-मग घेरि, तो भ्रम में परि रहूँ।

सन्त-कवि प्रिय-मिलन के लिए इतना व्यग्र है कि उसका अश्रु-प्रवाह अहर्निश रुकता ही नहीं। उसे विश्राम कहाँ! रात्रि में नींद तक नहीं आती। मलूकदास की वाणी की विह्वलता देखिए—

जिय बिवहल पिय-मिलन को, घरी रही ना चैन।
निसि दिन आँसू बहि चलें, नींद न आवै रैन॥

अश्रु और उद्वेग की पृष्ठभूमि इतनी सघन हो जाती है कि समस्त प्रकृति दाहक लगती है। सुन्दरदास ने पावस के विरहकालीन दुखद रूप का चित्रण किया है—

हम पर पावस नृप चढ़ि आयो।
बादल हस्ति हवाई दामिनी, गरजि निशान बजायो।

कबीर की आत्मा विरह में इतनी रोई है कि उसकी आँखें दूखने लगी हैं। रात-रात अश्रु प्रवाह में डूब जाती हैं—

आँखड़िया प्रेम कसाइयाँ, लोग जाने दूखड़िया।
साईं अपने कारणों रोइ-रोइ रातड़िया॥

इस प्रकार विरहानुभूति सन्त-काव्य में उत्कृष्ट है। आध्यात्मिकता संयोग होने से वह व्यापक है। लौकिक उपादानों ने उसे सरल-स्वाभाविक बनाया है। सूफ़ी प्रेम के प्रभाव से उसमें उत्कृष्ट तीव्रता आई है। विरहिणी का रूपक सन्तों के साहित्य में एक निर्जीव उपमान मात्र नहीं है, उसके साथ सन्त की अनुभूति का तादात्म्य हो गया है। सन्त की अनुभूति-साधना का यह प्रतीक-विधान एक विशिष्ट अङ्ग है। सतीत्व की भावना विरह में अनन्यता लाकर उसे एकाग्र और एकनिष्ठ बनाती है। सती के आदर्श का समावेश भी विरह के साथ मिलता है—

बिरहिण थी तो क्यों रही, जली न पिय के नालि।
रहु-रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ भारि॥

विरह का आतिशय्य आत्मा रूपी नायिका को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा देता है। उसके सामने सती का आदर्श झूल उठता है। जो विरह की आग को चिता के अङ्गारों से शृङ्गार करके बुझाती है विरह में उसे अपना अस्तित्व व्यर्थ लगता है। अतः अन्त में साधक प्रियतम से कह देता है—

कै विरहिन कूँ मीचि दे, कै आपा दिखराइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मो पै सह्या न जाइ॥

इस प्रकार विरह चरम सीमा पर पहुँचता है। 'सीमा' की 'असीम' से मिलने की मचलन बढ़ती ही जाती है। फिर उसकी दृष्टि अपने मन और अपनी वेश-भूषा पर जाती है। अब तक उसकी आँखों में प्रियतम की दिव्य ज्योति भरी थी। उसी ज्योति में उसे अब 'आपा' दिखलाई देने लगा। उसे इस बात पर लज्जा आई कि वह इतनी मलिन है। कैसे प्रियतम से मिलना होगा—

जा कारण में ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली प्रिय ऊजला, लागि न सकौं पांइ ॥

यह मलिनता शारीरिक भी है और आत्मिक भी यही मिलन-पथ की सबसे बड़ी बाधा है। यदि प्रियतम किसी दिन मिल भी जाय तो यही मिलन नहीं होने देगी। सन्तों के अनुसार विरहाग्नि ही हमारे मन की विकृतियों को जला सकती है।[१] यह विरह 'वालम' के अलग होने का है। अन्त में आत्मा रूपी नायिका का जी बालम के बिना तड़पने लगा—

'तलफै बिनु बालम मोर जिया ।'

विरह को विभिन्न रूपकों में व्यक्त किया है। प्रियतम परदेश चला गया है। प्रवासी प्रिय के विरह में प्रेमिका जोगिन बन गई है। जब विरह ने घनघोर रूप धारण किया तो वह जोगिन बन कर बन-बन प्रिय का सन्धान करने के लिए निकल पड़ी। जोगिन बनकर प्रिय के सन्धान का तत्त्व लोक-गाथाओं में भी मिलता है और इसमें आध्यात्मिक संकेत भी है। धरमदास का एक पद देखिए—

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ।
अपना बलम परदेश निकरि गैलौ हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो ।
जोगिन होइ के मैं बन ढूढ़ौ, हमरा के बिरह बैराग दै गैलो ।
संग की सखी सब पार उतरि गैलीं, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलो ।
'धरमदास' यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो ।

लोक-गाथाओं में वन में निकलने की प्रसिद्धि के आधार पर ही सम्भवतः जायसी ने नागमती को महल छोड़कर वन में घुमाया है जहाँ उसकी विरहाकुलता चरमावस्था में पहुँच जाती है।

७. उ. साधनात्मक शृङ्गार का संयोग पक्ष : मिलन—

विरह की व्यग्रता अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर एक ओर आत्मरूपी नायिका को मलावरणों से मुक्त कर देती है। दूसरी ओर वह साधक को सक्रिय रूप से 'अविनासी' की ओर उन्मुख करती है—

बिरहिन है तुम दरस पियासी ।
क्यों न मिलौ मेरे पिय अविनासी ॥ [सुन्दरदास]

होली का अवसर प्रिय-मिलन का है। बसन्त अपने समस्त सौन्दर्य-वैभव से इस समय प्रेमोद्दीपन करता है। मिलन-लीला की सुख-कल्पना चतुर्दिक नाचने लगती है। भक्त की कामना-कलित अन्तर्वृत्ति दिव्य होली-लीला में रमने लगती है। कौन है वह करुणार्द्र जो इस दिव्य-मिलन की स्थिति तक पहुँचा दे :—

ऋतु फागुन नियरानी हो, कोई पिया से मिलावे ।
सोइ सुंदर जाको पिया को ध्यान है, सोइ पिया की मनमानी ।
खेलत फाग अंग नहिं मोड़ै, सतगुरु से लपटानी ।

---

१. दादू की बानी संग्रह, पृ० ४०।१०१-१०४

यहाँ भी एक 'दूती' की आवश्यकता है जो नायिका और नायक की दूरी को प्रयत्न-सूत्रों में संग्रथित कर दे। उस मिलन की कल्पना बड़ी मधुर है—

पिव जो देखइ मुझ को, हौं भी देखउं पीउ।
हौं देखउं, देखत मिलइ, तो सुख पावइ जीउ॥ [दादू]

और अन्त में यह सम्बन्ध निश्चयात्मक होगया। अब उसका जीव बिना प्रिय के नहीं रह सकता—

हरि मोर पीव भाई हरि मोर पीव।
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव। [कबीर]

दौत्य कार्य इस परिस्थिति में गुरु के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। गुरु ने फिर एक सच्चे शूरवीर की भाँति पहले शब्द-बाणों से साधक की विरहाकुल आत्मा को और भी विकल कर दिया। यह अन्तिम चोट बड़ी करारी रही—

सत गुरु साँचा सूरिमा, नख सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकना चूर॥ [कबीर]

जब विरहिणी आत्मा इस प्रकार चकनाचूर हो गई, तब सद्गुरु ने मिलन-पथ की रहस्य-ग्रंथियों को सुलझा दिया। कबीर ने इस परिस्थिति को लिखा—

मिलना कठिन कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि सोच पग धरों जतन से, बार-बार डिग जाय।
× × × ×
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय।

और अन्त में प्रियतम से भेंट हो गई—

'साहिब कबीर पिया सों भेंट्यो, सीतल कंठ लगाय।'

सन्त-कवि की कल्पना को अब कुछ नवीन आयाम मिले। मिलन की क्रिया-क्रीड़ा का मधु उसकी भावना में भर उठा। प्रथम मिलन से पूर्व काम-कला से अनभिज्ञ बाला काँप गई। सुरति-रण में न जाने प्रियतम क्या करेगा—

थरहर कम्पै बाला जीव। ना जानै क्या करसी पीव।
रैनि गई मत दिन भी जाय। भंवर गए बग बैठे आय।

लौकिक तत्त्व इस आध्यात्मिक परिस्थिति में पड़ कर अनिन्द्य सौन्दर्य से समाकुलित होगया है। बाला का यह भ्रम नितान्त भ्रम ही निकला। प्रथम-मिलन तो इतने मधु से भीगा रहा कि बाला का अन्तर्बाह्य भीग गया। समस्त काया शीतल होगई। भ्रम नष्ट हो गया। अब इस आत्मा रूपी बाला को प्रियतम में विश्वास जग गया। अब तो आँखों में उसके अतिरिक्त कोई आता ही नहीं—

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहे, दूजा कहाँ समाइ॥ [कबीर]

जो केलि-क्रीड़ा प्रियतम के साथ प्रथम-मिलन के समय हुई थी, वही सूक्ष्म रूप से नयनों के नीलम-जटित मनोरम प्रदेश में भी होने लगी—

नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिकै, पिय को लीन रिझाय ॥

इससे अधिक सूक्ष्म मिलन की कल्पना सम्भव नहीं हो सकती। 'पिय को लीन रिझाय' में साधक की कितनी बड़ी विजयानुभूति ध्वनित हो रही है।

प्रियतम की 'अटारी' बहुत ऊँची है। पर उस प्रियतम तक पहुँचना ही है। सारी चूनरी प्रेम-रस में सराबोर हो गई है। वह इस प्रेम-रस से सिक्त होकर कैसे प्रियतम को खोजे बिना रह सकेगी।—

पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन।
आरती साजि के चली है सुहागिन अपने पिय को ढूँढ़न ॥

मिलन के क्षणों को जब लोक-शैली में सजाया जाता है तो वे और भी स्पन्दित हो जाते हैं। ऐसे क्षणों की लोक-लाज मिश्रित मुखरता और अभिधामय व्यञ्जकता तो देखिए—

ये अँखियाँ अलसानी हो, पिया की सेज चलो।
पकरि खंभ पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाइ जो राखी, पिया बिना कुँम्हिलानी।
धीरे पाँव धरौ पलँगा पर, जागत ननद जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोकलाज बिछलानी ॥

[कबीर ग्रन्थावली, १६६]

इस प्रकार मिलन और विरह की स्थितियों की अनुभूतियों का चित्रण बड़ी ही मुखर शैली में सन्त-कवियों ने किया है। इतनी सहज शब्दावली और सरस-शैली में प्रेम का चित्रण किसी भी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है।

८. नीति-साहित्य : शान्तरस—

साधनात्मक साहित्य का मिलनपक्ष यदि अन्तर्मुखी है तो नीतिपक्ष बहिर्मुखी। नीति-साहित्य का अभीष्ट श्रोता लोक है। मन के परिष्कार की यम, दम, संयम की योगमार्गीय पद्धति एक ओर सन्त की साधना का अङ्ग बन जाती है तो दूसरी ओर मानवतावादी मूल्यों को अपने में समेट कर नीति-साहित्य। इस सन्तोक्त नीति-साहित्य की विशेषता यह है कि इसका आधार लोक-जीवन का व्यवहार है। इसमें सभी सामाजिक वर्ग, वर्ण, व्यक्ति बिना किसी भेद के अवगाहन कर सकते हैं। नीति या आचार-साहित्य को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है : व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध, सामाजिक क्षेत्र से संलग्न और धार्मिक दृष्टि से समन्वित।

८. अ. व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध नीति-साहित्य—

व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत बनाने के लिए, सन्तों की दृष्टि में जो मूल्य और गुण आवश्यक हैं, उनमें प्रेम, विश्वास, विनय, करनी-कथनी का समन्वय, गृहस्थ की चर्या, सत्य, सत्सङ्ग, क्षमा, दया, परमार्थ, उदारता, धैर्य, दीनता, माया-तृष्णा-कपट

का त्याग, शील और इन्द्रिय-निग्रह आदि प्रमुख हैं। सभी सन्तों ने प्रेम को आध्यात्मिक साधना में तो महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया ही है, व्यक्तिगत जीवन में भी उसकी अनिवार्यता बतलाई है। इसी से बन्धुत्व की भावना उत्पन्न और पुष्ट होती है। इससे धैर्य का भी पोषण होता है—

प्रेम बिना धीरज नहीं, गिरह बिना बैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन, मनसा का दाग ।। [कबीर]

'विश्वासो फल दायकः' की उक्ति से भी सन्त-कवि प्रभावित है। सभी सन्त आस्तिक थे। चिन्ता विश्वास को डिगा देती है। यदि भगवान् में विश्वास हो तो चिन्ता समाप्त ही हो जाती है : 'मेरी चिन्ता हरि करै, चिन्ता मोहि न कोय।' चिन्ता वस्तुतः जीवन के मूल को ही खोखला कर देती है : 'च्यंता जीव कूँ खाय।' (सन्त-बानी संग्रह १,८४,३) गरीबदास के अनुसार शील, सन्तोष, विवेक, बुद्धि, दया, धर्म सभी का आधार विश्वास है—

सील संतोष बिबेक बुद्धि, दया धर्म इकतार।
बिन निहचै पावै नहीं, साहिब का दीदार ।।
[सं० बा० सं० १,१६१,१]

विश्वास के अनन्तर सन्त-कवि 'विनय' पर बल देता है। उसके अनुसार विनय हमारे चरित्र का एक अलङ्कार है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति तथा समाज के जीवन में सन्तुलन की आवश्यकता सर्वोपरि है। इस सन्तुलन की स्थापना के लिए कथनी और करनी में सामञ्जस्य होना चाहिए। सभी सन्तों ने कथनी-करनी के सामञ्जस्य पर एक स्वर से बल दिया।

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी बिस की लोय।
कथनी तजि करनी करै, तौ बिस ते अमृत होय ।। [कबीर]

दादू, चरनदास आदि ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। अधिकांश में ये सन्त निवृत्ति-पथ के अनुयायी थे। पर प्रवृत्ति-मार्गी गृहस्थ-जन से अपने को विच्छिन्न नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में गृहस्थ-जीवन ही सामाजिक जीवन की धुरी है। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के आचार-धर्म से सम्बन्धित व्यावहारिक नीति का भी कथन किया। साथ ही 'गिरही' और 'बैरागी' के परस्पर सहयोग की बात भी कही। कबीर के शब्दों में—

जो मानुष गृह धर्म जुत, राखै सील विचार।
गुरु मुख बानी साधु संग, मन बच सेबा भार ।।
गिरही सेवै साधु सो, साधू सुमिरै नाम।
या में धोखा कछु नहीं, सरै दोऊ को काम ।।
धारा तो दोऊ भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासातन करै, बैरागी अनुराग ।।

बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार।
दोउ बात खाली पड़ैं, ताको वार न पार॥

इसी प्रकार सन्त कवियों ने धैर्य, सत्य, सदाचार, इन्द्रिय-निग्रह आदि पर बड़ी ही मार्मिक और प्रभावशाली उक्तियाँ की हैं। सदाचार में उन्होने इन्द्रिय-निग्रह, सत्सङ्ग, क्षमा, दया, परमार्थ, शील आदि की गिनती की है।

८. आ. धार्मिक जीवन—

सन्तों ने धार्मिक क्षेत्र में यम, नियम, प्रत्याहार, अपरिग्रह, सन्तोष, तप, साधु-सेवा, शौच आदि को रखा है। एक ओर साधक या सन्त के आचार-धर्म में इन तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान था, दूसरी ओर जीवन के मौलिक तत्त्व भी इन्हीं की विस्तृति और व्याख्या में निहित माने गए। केवल 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा में ही विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम के तत्त्व समाविष्ट हैं। जीवन में दिव्य-अनुभूतियों की प्रेरणा के लिए सन्तों ने शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्याय को आवश्यक माना। कबीर ने इस पृष्ठ-भूमि पर अपनी इस युक्ति को सजाया : "घट-घट में वह साँई रमता, कटुक बचन मत बोल।" इस प्रकार सन्तों ने योग-शास्त्रों में कहे हुए यम-नियमादि तत्त्वों की सामाजिक परिणति बड़े कौशल और मानव-प्रेम से प्रेरित होकर की है।

८. इ. सामाजिक जीवन—

सन्त को यह देख कर बड़ी पीड़ा होती थी कि मानव-मानव के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच, जाति-जाति के बीच दुर्लंध्य दीवारें खड़ी हैं। विषमता की घुटन से सामाजिक जीवन जर्जर होता जा रहा है। तिलक-छापे, शास्त्रीयता आदि मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रहे हैं। समाज की इस दुर्दशा से द्रवित होकर सभी सन्तों ने समता, सम-दृष्टि, उदार दृष्टिकोण, त्याग तथा अहं-विसर्जन का प्रतिपादन किया। समदृष्टि भेद-भाव का नाश करती है—

'समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जँह देखों तँह एक ही, साहिब का दीदार॥
समदृष्टी तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी होय॥

साथ ही पुस्तकीय ज्ञान जो भाव और सहानुभूति से असम्पृक्त होता है, अवाञ्छित ही नहीं अकर्म भी है—

सुमृति वेद पुरान पढ़ैं सब, अनुभाव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहि पारस परसै॥

[कबीर बीजक, १४]

८. ई. सन्तों द्वारा प्रयुक्त काव्य रूप—

सन्तों के कथ्य विषय उनकी साधना-पद्धति और अनुभूति-साधना को देखते हुए, कोई भी उनसे चरित-काव्य, रासक बेलि-काव्य या कथा-काव्य की आशा नहीं कर सकता। केवल गेय और मुक्तकों में ही सन्त-कवि ने अपने सामाजिक अनुभवों

और आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया। प्रबन्ध काव्य पर शास्त्रानुशासन सदैव से ही अधिक रहा है। गेय और मुक्तकों पर शास्त्र की अनुज्ञाओं का इतना बन्धन नहीं रहा। अतः प्रबन्ध को ही काव्य का उच्चतम रूप मानने वालों को गेय या मुक्तकों से कुछ चिढ़ सी रहती है। जहाँ तुलसी ने सन्त-कवि के वेद-विरोधी स्वर की आलोचना की, वहाँ उसकी मुक्तक-प्रणाली पर भी अपना आक्रोश व्यक्त किया—

साखी, सबदी, दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं बेद पुरान॥

८. ई१. उलट बाँसियाँ : सन्धा भाषा—

कबीर आदि सन्तों की काव्यमय उलट बाँसियाँ प्रसिद्ध हैं। इस काव्य रूप की परम्परा प्राचीन है। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की प्रतीकात्मक गुह्य शैली का प्रयोग हुआ है।[1] तांत्रिक साहित्य में यह शैली अपने विकास के चरम पर है। बौद्ध परम्परा में भी इसका समावेश था। इस शैली में मंत्र-रचना की प्रकृति व्याप्त हो गई। शब्दों की द्वयार्थकता का उपयोग इसमें विशेष रूप से किया जाता था। बौद्ध साधकों का यह भी विश्वास था कि गुह्य अप्रस्तुतों और प्रतीकों के आधार पर नियुज्य औपम्य-कथा द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान को सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है। ये अप्रस्तुत भाव और प्रतीक तत्त्व धीरे-धीरे रूढ़ होते गए।

उलट बाँसियों या प्रतीकात्मक गुह्यशैली का एक रूप शृङ्गारपरक हो गया। इनमें अश्लील-शृङ्गार की लौकिक केलि-योजना प्रतीत होती थी, पर उसका वास्तविक अर्थ प्रज्ञोपायात्मक या आध्यात्मिक होता था। वास्तव में इस शैली में साधना की प्रक्रियाओं का ही वर्णन होता था। सिद्ध-साहित्य में "पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किन्तु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाय।"[2] ये उलट बाँसियाँ ही सन्धाभाषा कहलाती थीं। इनमें शृङ्गारेतर रचनाएँ भी होती थीं। नाथों की साधना ही उलटी साधना थी : 'उलटन्त नाद, पलटन्त व्यन्द।'[3] जैसी उक्तियों में इसी साधना की सूचना मिलती है। सन्तों के अनुसार भी यह साधना उलटी साधना थी। कबीर ने इन्हीं स्वरों में कहा—

उलटी गङ्ग जमुन मिलावउ, बिनु जल सङ्गम मन महिं न्यावउ।[4]

तथा—

उलटी गङ्ग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रह मारि रोगिया बैठे, जल में व्यम्ब प्रकास॥[5]

---

१. अथर्व० संहिता, ७।१ ; ऋग्वेद संहिता, १-१५२ ; १०-५५।
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० २३
३. गोरख बानी पृ० २०, ३२, ४०
४. सन्त कबीर, पृ० २०
५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४१

इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी कहा है। यहां अधिक उदाहरणों के विस्तार की आवश्यकता नहीं। सिद्धों में शृङ्गारिक उलट बांसियों की परम्परा अधिक मिलती है पर सन्तों की उलट बांसियों में शृङ्गार के तत्त्व इतने नहीं है। 'सूर' के कूट पदो में फिर से शृङ्गारिकता उभरती है। सूर ने भी साधनात्मक शृङ्गार को गुह्य शैली में व्यक्त किया जिस प्रकार कि सिद्धों ने साधना की स्थिति को शृङ्गारिक शैली में सँजाया था।

८. ई$_2$. साखी : दोहा—

दोहा अपभ्रंश का अपना प्रमुख छन्द था। हिन्दी साहित्य ने इस छन्द को पूरे आग्रह और पूरी रुचि के साथ ग्रहण किया। अपभ्रंश दोहों में निर्गुण-प्रधान उपदेश, शृङ्गार की चेष्टाएं, नीति-कथन, तथा वीर-भाव की उक्तियाँ रहतीं थीं। शृङ्गार और वीर-रस प्रधान दोहे तो सन्तों ने नही लिखे, पर उपदेश-नीति-मूलक दोहों की रचना उन्होंने पर्याप्त की। सती और सूरमा सम्बन्धी कतिपय दोहे भी सन्त साहित्य में मिल जाते हैं। 'साखी' कबीर से पूर्व भी प्रचलित थीं। इसका उल्लेख कबीर ने स्वयं किया है—

माला पहिरे, टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदी गावत भूलै आतम खबर न जाना॥

'साखी' और दोहे में रूपतः अन्तर नही है। 'साखी' शब्द विषय-वस्तु का द्योतक है: "अत्यधिक प्रचलन होने के कारण 'साखी' शब्द का अर्थ ही आगे चलकर 'दोहा' हो गया। साखी नाम की रचनाएँ साक्षी चेतन से सम्बन्ध रखने वाली मानी जाती है, अर्थात् उनमें आत्म चिन्तन पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा जीव का ब्रह्म और जगत् से सम्बन्ध दिखलाने का प्रयास किया गया है। ब्रह्म के प्रति राग और जगत् के प्रति विराग इन साखियों में उपदिष्ट है।"[1] यही साखी काव्य रूप की भाव-भूमिका है। दोहों में कभी-कभी मात्राओं की अनियमितताएँ भी मिलती हैं।

८. इ$_3$. सबद—

इस शब्द का प्रयोग सन्त-कवियों द्वारा रचित पदों या गीतों का बोधक है। ये पद गुरु ने सन्तों को सम्बोधित करके कहे हैं। विषय की दृष्टि से इनमें ब्रह्म-चिन्तन, साधना और अनुभूति-पक्ष रहते थे। गेय-पदों की परम्परा अपभ्रंश में भी थी। बौद्ध-सिद्धों के भी कुछ गेय-पद मिलते हैं। सन्तों ने इस परम्परा को फिर से ग्रहण किया। यह परम्परा भी सन्तों ने सम्भवतः पूर्वी भारत से ही ग्रहण की। इन पदों में पादाकुलक से विकसित चौपाई तथा पयार छन्दों का बाहुल्य है।[2] चौपाई में अन्त मे दो दीर्घाक्षर होते हैं। दादू का एक सबद देखिए—

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० २४७
२. डा० धर्म वीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ४७२

'जीवत मारे मुए जिलाए ।
बोलत गूँगे, गूँग बुलाए। टेक
जागत निसि भरि रोइ सुलाए।
सोवत रैनी सोइ जगाए ।

पादाकुलक से विकसित पयार छन्द के अन्त में एक दीर्घ और एक लघु के साथ १५ मात्राएँ होती हैं। पयार छन्द मूलतः बङ्गला का छन्द है। चैतन्य सम्प्रदाय के अधिकांश गीत इसी छन्द में हैं। हिन्दी में इसका प्रयोग प्रायः नहीं होता। कबीर ने 'शब्दों' में इस छन्द का भी प्रयोग किया है—

माधव जल कि पियास न जाइ ।
जल महि अगिनि उठी अधिकाइ ।।

२८ मात्रा के छन्द का प्रयोग भी सन्तों के सबदों में मिलता है। जयदेव और सिद्धों के पदों में भी इस छन्द का प्रयोग मिलता है। कबीर के एक सबद की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

इकतु पतरि भरि उरकुट कुरकुट इकतु पतरि भरि पानी ।
आसि-पासि पंच जोगी आ, बैठे बीचि नकट दे रानी ।।

मुख्य रूप से सन्तों के सबदों में इन्हीं छन्दों का प्रयोग हुआ है।

इन सबदों के साथ ही रागों की भी सूचना मिलती है। इस समय तक सङ्गीत की शास्त्रीय शैली में देशी-पद्धति स्वीकार करली गई थी। इन रागों की शास्त्रीय रूप रेखा का निरूपण 'सङ्गीत-रत्नाकर' आदि में मिलता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि सन्तों का गायन इसी पद्धति पर होता था। सन्तों द्वारा प्रयुक्त रागों में प्रमुख ये हैं: गूजरी, गउड़ा, धनासिरी, मल्हार, भैरव, गौड़ी, भैरौ, आसावरी आदि।

८. ई$_{४}$. रमैंनी—

सिद्धों के दोहा कोषों में समचतुष्पदियों के साथ दोहे मिलते हैं। सन्तों में भी दोहों के साथ चौपाइयों को लेकर एक काव्य-रूप चल रहा था। इसी को रमैनी कहते थे। रमैंनी पर अपभ्रंश की राम-काव्य-परम्परा का प्रभाव लक्षित होता है।[3] चौपाइयों के साथ दोहे के एक कड़वक को पद की संज्ञा दी जाती थी। पद की संख्या की दृष्टि से रमैंनी के पिदी, सत पदी, बारह पदी आदि भेद किए जा सकते हैं। दोहों के बीच चौपाइयों के संख्या का कोई नियम नहीं प्रतीत होता। रमैंनी में विषय की दृष्टि से, जगत्-प्रपञ्च के सम्बन्ध में ही विशेष विचार किया गया है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि साखी में जीव-विचार, शब्दी में ब्रह्मविचार, और रमैंनी में जगत्-विचार प्रधान रूप से हैं।"

१. सम्भवतः इसलिए पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा: 'इस शब्द का सम्बन्ध 'रामायण' से जान पड़ता है।'—हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ॰ १४७

२. पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वही, पृ॰ १४७

८. ई५. संख्यावाची काव्यरूप—

क–विप्रमतीसी—इस नाम की एक रचना कबीरदास जी की बतलाई जाती है। इसमें छन्द-संख्या ३० है। इन छन्दों में ब्राह्मण की रूढ़िवादिता और ज्ञान सम्बन्धी दर्प का व्यंग्यपूर्ण उपहास किया गया है। परन्तु अभी तक निश्चयात्मक रूप से इस प्रकरण में विद्वानों ने कुछ भी घोषित नहीं किया।

ख–बावनी—वर्णमाला के बावन वर्णों के आधार पर बावनी की रचना होती थी। इस शैली में, विषय की दृष्टि से, धार्मिक और नैतिक उपदेश दिये जाते थे। 'इन बावन अक्षरों को नाद-ब्रह्म के रूप में माना जाता था। प्रत्येक छन्द का आरम्भ वर्ण-क्रम के अनुसार होता था। कबीर ग्रन्थावली में कबीर की बावनी सङ्कलित है।[1]

८. ई६. मङ्गल-काव्य—मङ्गल-काव्य एक लोकात्मक काव्य-रूप है। लोक-जीवन में विवाह-अनुष्ठान से सम्बद्ध सहस्रों गीत मिलते हैं। मङ्गल काव्य का आनुष्ठानिक महत्त्व भी है : किसी दिव्य विवाह का गायन विवाह के अवसर पर शुभ माना जाता है। कबीर के लिखे तीन मङ्गल-काव्य मिलते हैं : आदि मङ्गल, अनादि मङ्गल, तथा अगाध मङ्गल। कहने की आवश्यकता नहीं, कबीर के इन मङ्गल-काव्यों की भूमिका शुद्ध आध्यात्मिक है। वैसे कबीर के फुटकर पदों में भी विवाह के रूपक मिलते हैं —

> दुलहिन गावहु मङ्गल चार।
> हम घर आये हो राजा राम भरतार।
> तन रति कर मैं मन रति करिहौं पांचो तत्त बराती।
> रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं जोबन मद माती।

ये ही सन्त-कवि द्वारा प्रयुक्त मुख्य काव्य रूप हैं। सन्त ने इन्हें शास्त्रीय-काव्य-परम्परा से नहीं, लोक-काव्य के स्रोत से ही ग्रहण किया है। इसलिए इनकी रूप-सज्जा में लोक-जीवन की उन्मुक्तता और क्षिप्रता मिलती है। काव्य-रूप ही नहीं सन्तों का भाषा-रूप भी लोक-भाषा से सम्बद्ध है।

९. सन्त-कवियों की भाषा—

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि इन कवियों ने अपने काव्य के लिए एक मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। इसे सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी के नाम से पुकारा भी जाता है। मिश्रित भाषा ही साहित्यिक भाषा का पद ग्रहण करती आई है। इसकी भी दो धाराएँ मिलती हैं : एक में प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और लोक-भाषा का मिश्रण मिलता है। पृथ्वीराज रासो तथा उस काल के अन्य राज्याश्रित कवियों के काव्यों में जो भाषा मिलती है, वह इसी परम्परा में आती है। इसमें पश्चिमी भाषा-रूप अधिक रहते थे। दूसरी परम्परा में सधुक्कड़ी आती है। इसमें पूर्वी भाषा-रूपों की अधिकता थी। स्वयं गोरखनाथ जी की भाषा में पूर्वी बोली का

---

१. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२४-२८

सङ्गम खड़ी बोली से हो रहा है। साथ ही राजस्थानी का मिश्रण भी इसमें मिलता है। ब्रजभाषा के रूप भी प्रायः मिलते हैं। पर इनकी भाषा का मौलिक ढाँचा खड़ी बोली का ही माना जाना चाहिए। लगता है इन सन्तों की मिश्रित भाषा में जो रूप अनायास बन रहा था, वही खड़ी बोली के स्वरूप के अधिक निकट है।

गुरु ग्रन्थ साहब में १६ वीं शती तक की सन्त-वाणियाँ संगृहीत हैं। १४ वीं शती के लगभग आरम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी के मिश्रण से एक मिश्रित भाषा 'रेखता' बन रही थी। सन्त-कवियों की भाषा का मूलाधार यही 'रेखता' प्रतीत होती है। पर यह भी निश्चित है कि न्यूनाधिक रूप से ब्रजभाषा के रूप भी सभी सन्त-कवियों की वाणी में मिलते हैं, चाहे मूल ढाँचा रेखता का हो। रामानन्द के नाम से प्रचलित रचनाओं का विभाजन भाषा के आधार पर किया जा सकता है।[1] इनकी कुछ रचनाएँ [योगचिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि] मिश्रित खड़ी बोली में हैं और कुछ रचनाएँ [ज्ञान लीला, हनुमान की आरती आदि] ब्रजभाषा में। इस प्रकार मिश्रित खड़ी बोली पारिभाषिक रूप से निर्गुणियाँ साहित्य की वाहिका थी और भावात्मक साहित्य ब्रजभाषा में रचा जाता था। कबीर की भाषा में वैविध्य बहुत अधिक है। इनकी भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत इस प्रकार है : "इसकी (साखी, दोहे) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी व्यवहार है।"[2] इस प्रकार कबीर की रचनाओं का भी भाषा के आधार पर विभाजन किया गया है। कबीर ने स्वयं अपनी भाषा को पूर्वी कहा है—

बोली हमरी पूरब की, हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥

इस साखी में आए हुए 'पूर्व' शब्द का कुछ विद्वान भोजपुरी, कुछ अवधी और कुछ बिहारी या मगही अर्थ करते हैं। पर, "वास्तव में यहाँ बोली से उनका तात्पर्य शैली से है और पूर्व से उनका तात्पर्य आध्यात्मिक साधना की सांकेतिकता से है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट यह कहा है कि जो धुर पूर्व का है, जो इन योग-साधनाओं में पारङ्गत है और इन रूढ़ प्रतीकों को समझ सकता है, वही मेरी शैली को भी समझ सकता है।"[3] उनका निवास स्थान वाराणसी था और जीवन के अन्तिम भाग में बिहार और मगहर में भी निवास किया था। अतः उसमें अवधी से लेकर मैथिली तक की पूर्वी बोलियों के तत्त्वों का समावेश भी मिलता है।

---

१. रामानन्द जी की रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। डा० बड़थ्वाल ने योग-प्रवाह में इनकी कुछ रचनाएँ दी हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' नामक एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित हुई है।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी २००७ वि०, पृ० ८०

३. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ४४८

जहाँ सन्तों की मिश्रित भाषा उनके परिभ्रमण और प्रचार-क्षेत्र के विस्तार के परिणाम स्वरूप थी, वहाँ यथार्थ रूप में सन्त-कवियों की भाषा भावानुगामिनी भी थी। नाथ-सिद्धों द्वारा स्वीकृत रेखता (यानी राजस्थानी, पञ्जाबी मिश्रित खड़ी बोली) का प्रयोग कबीर ने वहाँ किया जहाँ उनको खण्डन-मण्डन करना पड़ा है। जहाँ उनका विद्रोही स्वर ढोंगियों, धर्मध्वजों तथा ऊँच नीच की भावना को पुष्ट करने वालों के विरुद्ध उठा है, वहाँ उनकी वृत्ति में अक्खड़ता आ गई है। इस अक्खड़ता का वहन रेखता ने किया है। "इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप में आत्म-निवेदन, प्रणपत्ति, या आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते हैं, उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है।"[१] पर किसी भी दशा में सन्तों द्वारा प्रयुक्त भाषा जनता से विलग नहीं होती थी। थोड़े बहुत अन्तर के साथ यही बात सभी सन्तों की भाषा के सम्बन्ध में कही जा सकती है। सन्तों ने एक विस्तृत भूभाग की बोलियों का मिश्रण करके एक व्यापक काव्य-भाषा को भी जन्म दिया, भाषा को लोक-रुचि से अलग नहीं होने दिया और लोकभाषा की सुप्त शक्तियों का उद्घाटन भी किया गया।

निष्कर्ष—

सन्त-साहित्य के इस संक्षिप्त पर्यवेक्षण के पश्चात् कुछ निष्कर्ष निकालना असम्भव नहीं है :

(१) सन्त-साहित्य एक व्यापक, समन्वित और दीर्घ सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थित है।

(२) सन्त कवि का व्यक्तित्व प्रायः सभी प्रकार के दबावों से उन्मुक्त है। यदि हीनता की भावना कहीं है, तो उस हीनता की सामाजिक या वर्गीयता उसका उन्नयन करती है। उससे व्यक्तिगत कुण्ठा की सृष्टि नहीं होती।

(३) सन्त-कवि ने कुछ दार्शनिक परम्पराओं की पारिभाषिक साधना-पद्धति को ग्रहण किया, पर उसको सहज बनाने की चेष्टा की। साधना का सहज रूप साहित्य के लिए उपयुक्त हो जाता है। 'समाधि' और 'मिलन' की अवस्थाओं में पारिभाषिकता बिल्कुल छूट जाती है : शुद्ध आत्म-स्पर्शी अनुभूतियों की अनिन्द्य सरणियों में काव्य प्रवाहित होने लगता है। खण्डन-मण्डन मानवतावादी मूल्यों से प्रेरित है।

(४) सन्त-कवि द्वारा प्रयुक्त काव्य रूप लोक-स्रोती हैं। उनकी अधिक तोड़-मरोड़ किए बिना ही सन्त-कवि ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को इनमें व्यक्त किया, यह उसकी बड़ी सफलता थी।

(५) एक मिश्रित, व्यापक और लोक-समीपी भाषा का प्रयोग सन्त-साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

(६) सन्त-साहित्य का सन्देश युग-युग में गूँजने की शक्ति रखता है।

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० १८४

१६

हिन्दी सगुण-भक्ति काव्य की भूमिका

१. सगुण-भक्ति-साहित्य का अध्ययन—परम्परा और प्रेरणा
२. मध्य युगीन परिस्थितियाँ—नैराश्य-भगवदाश्रय-अवतारवाद
३. पौराणिक-साहित्य—विष्णु का विस्तार
४. सगुण या समूर्त की उपासना, देवालय, अर्चना तथा उन पर राजकीय प्रभाव
५. धार्मिक एकीकरण की प्रवृत्ति-समन्वय-लौकिक अश्लीलता का स्वीकार्य
६. मधुरोपासना के आलम्बनों का विकास—शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण
७. उज्वल-रस की प्रतिष्ठा एवं काव्य-शास्त्रीय योगदान
८. निष्कर्ष

जिस दिन निर्गुण-निराकार को सगुण-साकार का स्वरूप मिला, उस दिन जैसे वरदानों की अजस्र वर्षा से मध्यकालीन हिन्दी साहित्य सर्वाङ्ग स्नात हो गया। सन्त॰ कवि ने जिस प्रकार योगपरक साधना को सहज बनाया था, उसी प्रकार भक्त कवि ने उस साधना को रागात्मक बनाया। फलतः साधना एवं काव्य में अभेदत्व की स्थापना हो गई। काव्य और अध्यात्म की अनुभूतियों में इतनी घनिष्ट मैत्री भारतीय साहित्य में इससे पूर्व सम्भवतः कभी स्थापित नही हुई थी। काव्य की अनुभूतियों में रागात्मक गहराइयों और आध्यात्मिक ऊँचाइयों ने मिलकर एक पूर्ण अभिव्यक्ति को जन्म दिया। सन्त-कवि ने लौकिक अप्रस्तुत को आध्यात्मिक प्रस्तुत की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। भक्त कवि ने जैसे लौकिक और अलौकिक की विभाजक रेखाओं को समाप्त कर दिया। प्रस्तुत-अप्रस्तुत और अलङ्कार-अलङ्कार्य जैसे बहुत दूर तक एक ही हो गए हों। इस साधना की सफलता में समस्त भारतीय दर्शन, संस्कृति और साहित्य का अपूर्व योगदान मानना चाहिए। यहाँ भक्ति-काव्य के इन सभी स्रोतों का सामान्य सर्वेक्षण अभिप्रेत है।

१. अध्ययन की परम्परा और प्रेरणा—

उन्नीसवीं शताब्दी ने मनुष्य को अध्ययन की विभिन्न वैज्ञानिक प्रणालियाँ प्रदान कीं। हमें इन अध्ययन-प्रणालियों ने जहाँ प्रच्छन्न ज्ञान-राशियों की स्थिति और सम्भावना से अवगत कराया, वहाँ प्राचीन के पुनराख्यान की भी प्रेरणा दी। इस शताब्दी में भौतिकवाद ने मानव को विकास-इतिहास के क्रम का वैज्ञानिक रूप जानने-समझने का मार्ग दिखलाया। सामाजिक दृष्टि से मानवतावाद का उदय हुआ और विचारक का दृष्टि-विन्दु सामान्य मनुष्य बन गया। हिन्दी क्षेत्र में नवीन प्रणालियों से

अध्ययन का आरम्भ यद्यपि छुट-पुट रूप में आचार्य शुक्ल से पूर्व ही हो गया था, पर शुक्ल जी ने ही नवीन पद्धतियों को सुनिश्चित रूप से अपनाया। उन्होंने प्राचीन का पुनराख्यान, नवीन प्रकाश में मुख्य रूप से किया। गान्धीवादी पृष्ठभूमि में भक्ति-साहित्य का जो नवीन मूल्याङ्कन सम्भव था : शुक्लजी ने किया और मानवतावादी धरातल का स्पर्श भी उनकी दृष्टि करती चलती है। डा श्यामसुन्दरदास ने कुछ अधिक वैज्ञानिक प्रयास किया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सांस्कृतिक अध्ययन-पद्धति को अधिक गतिशील बनाया। साहित्य की धाराओं के पीछे स्थित सांस्कृतिक सामञ्जस्य के सूत्र को इन्होंने पकड़ा और ऐतिहासिक तथा मानववादी व्याख्याओं से इस सूत्र का साहित्य के सन्दर्भ में पुनर्नियोजन किया। समस्त भक्ति-साहित्य इनके स्पर्श से अपनी नवीन चेतनाओं के स्पर्श से दीप्त होकर झिलमिलाने लगा। इनके पश्चात् भक्ति-साहित्य पर सिद्धान्त, दर्शन, शिल्प, आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन हुआ। भक्त कवियों और भक्ति-साहित्य पर पर्याप्त शोध हो चुकी है[१] और अनवरत रूपेण हो रही है। भक्ति साहित्य के इतने विस्तृत अध्ययन के कई कारण हैं : इनमें प्रमुख हैं गान्धीवाद और मानवतावादी दृष्टि का उदय; नैतिकता और आदर्श की ओर आकर्षण; भारतीय एकता के यज्ञ में भक्तिकालीन साहित्य के योगदान की सम्भावना। इसकी पुष्टि तुलनात्मक अध्ययन से हुई। भक्तिकालीन साहित्य के अध्ययन से आलोचना के एक व्यापक, मानवतावादी मानदण्ड का जन्म हुआ। जिस प्रकार भक्तों की वाणी ने हमारे वर्तमान जीवन को दृष्टि और दिशा प्रदान की है, उसी प्रकार आलोचना के कुछ मूल्यों को भी उद्घाटित किया है।

२. मध्ययुगीन परिस्थितियाँ—

मध्य युग में भक्ति ने समस्त भारतीय जीवन को आच्छादित कर लिया था। समस्त सांस्कृतिक तत्त्व और कला-विलास भक्ति से आरञ्जित हो गये थे। जीवन के सभी मूल्यों की स्थापना भक्ति के द्वारा ही हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति के इस लोक-व्यापी विजय-अभियान का कारण एक ओर-छोर व्यापी निराशा थी। इस निबिड़ अन्धकार में भक्ति एक किरण-समुदाय की भाँति उदय हुई और तिमिराच्छन्न जन-मानस ने इसका सहर्ष स्वागत किया।

तत्कालीन नैराश्य-भावना की अभिव्यक्ति भक्तों द्वारा कलि-काल-निरूपण के व्याज से प्रारम्भ हुई। असन्तोष और निराशा का इतना घनीभूत रूप साहित्य में कम ही व्यक्त हो आता है। नैराश्य और असन्तोष का मूल कारण भारतीय चेतना का मुस्लिम प्रभाव से दलित होना प्रतीत होता है। इसी बहिर्मुख कुण्ठा और असन्तोष ने भक्तिकालीन कवि और साहित्य को अन्तुर्मुख बना दिया।[२] इस मत के प्रवर्तक,

---

१. द्रष्टव्य : 'हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध' : पृ० ४६४-४६७; ४८८-४८६; ४८२-४८५।

२. पं० बल्देव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० २३७-२४१; डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ८२

साहित्य के क्षेत्र में, आचार्य शुक्ल ही माने जा सकते हैं। म्लेच्छाक्रान्त चेतना श्री वल्लभाचार्य जी की वाणी में इस प्रकार रो पड़ी है—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु, पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ा व्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥[1]

तुलसी की विनय में भी इसी प्रकार का स्वर है—

काल कलि जनित मल-मलिन मन-
सर्वनर मोह निसि निबड़ जवनान्धकारम्।

इस स्थिति में जनता का पारलौकिक जीवन की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। "किन्तु यह कहना कि ये प्रवृत्तियाँ इसी काल में उत्पन्न हुईं अथवा चरम विकास को प्राप्त हुईं—ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है।"[2] गुप्तकाल के पश्चात् ही इस अवसाद की छाया जीवन पर पड़ने लगी थी। जीवन की वर्तमान गतिविधि के प्रति निराशा और असन्तोष की भावना सार्वदेशिक मध्यकालीन प्रवृत्ति मानी जा सकती है। मध्यकालीन सामन्तीय यूरोप के काव्य के स्वरों में भी आक्रोश का करुण क्रन्दन है।[3] भक्तिकाल के पूर्व ही जनता परलोक प्रवण होती जा रही थी। कर्मकाण्डपूर्ण एवं प्रवृत्तिपरक श्रौत-स्मार्त परम्परा के ह्रास के उपरान्त जब आगमिक विचारधारा का आगमन हुआ तो कर्म और कर्ता का विसर्जन भाव भी जागृत हुआ। उत्तरमध्ययुग के कवियों को यह रिक्थ में प्राप्त हुआ। जहाँ तक विदेशी आक्रमणों का प्रश्न है, गुप्त-साम्राज्य के समय से ही हूण, शक आदि के आक्रमण आरम्भ हो गए थे। इनके आक्रमण से श्रुति-सम्मत धार्मिक समाज को बड़ी ठेस लगी। आभीर जाति के आनन्द-प्रिय, विनोदी वृत्ति से विकसित गोपी-कृष्ण-लीला के तंत्र ने भी वैदिक विचारधारा को ठेस लगाई। इस सबसे जग-जीवन निराश होता गया। आगमिक भक्ति के नवीन संस्करण ने दक्षिण के लोक-साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्त की जिससे आलवार साहित्य को प्रेरणा मिली। उत्तर में महायानी तत्त्वों को वैष्णव परिणति मिली। हिमालय की तराई के लोकगीतों में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है।[4] निराश जन को इस साहित्य की शीतल छाया में विश्राम मिला। इसी साहित्य की परम्परा को आगे चलकर शास्त्रीयता का कवच मिला और भक्ति-आन्दोलन की रागात्मक पृष्ठभूमि प्रमाण हो गई।

जिस प्रकार निर्गुण सन्तों के साहित्य का सम्बन्ध नाथ, सिद्धों में होता हुआ महायान या उसकी विकसित शाखाओं से जुड़ जाता है। इसी प्रकार सगुण-धारा का अति माधुर्य की धारा का सम्बन्ध भी महायान-वज्रयान से जोड़ा जा सकता है। इसमें चण्डीदास, जयदेव, सहजिया वैष्णव, हित हरिवंश आदि का साहित्य आता है। पर

---

१. श्री कृष्णाश्रयस्तोत्र. श्लोक २
२. डा० रामनरेश वर्मा, हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० ४३
३ जे० हुइजिंगा, दि वेनिंग आफ दि मिड्डिल एजेज, पृ० ३२-३७
४. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूरदास, पृ० ६१-६६

बल्लभाचार्य जी की बालोपासना पर इनका प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता जो सगुण धारा का उपजीव्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस धारा का स्रोत कहीं अन्यत्र है।

समन्वय साधना—

लोक-धर्म का शास्त्रीय पद्धति में स्वीकृत हो जाना एक बड़ी सामाजिक घटना है। श्रौत-स्मार्त परम्परा यद्यपि शास्त्रीय थी, फिर भी वह अपना रूपान्तर लोक तत्त्वों के आधार पर करती रही है। यह लोक भी धर्म से सदैव ही विच्छिन्न नहीं रहा। इस धर्म में आगम, तन्त्र तथा नवागत जातियों की विचारधाराओं को विश्राम मिलता रहा है। समन्वय की यह स्थिति भी सगुण-भक्ति के उदय के प्रमुख कारणों में है।

गुप्त-काल में श्रौत-स्मार्त का आगम और भागवत सम्प्रदाय से सम्मिलन हुआ। इसके पश्चात् राजकुल में द्विविध विरुद धारण करने की प्रवृत्ति मिलती है। एक विरुद का सम्बन्ध शिव से होता था, दूसरे का ब्रह्म से। पांचरात्रिक श्रुतियों और उपनिषदों में भी यह समन्वय मिलता है। पांचरात्र को सदैव ही अवैदिक माना जाता रहा है। पर, इस काल में वैखानस और पांचरात्र दोनों ही वैष्णवागम-शाखाओं ने वेद से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। सभी दर्शनों के समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे। इन प्रयत्नों में भाष्य, टीका-परम्पराओं, नवीन उपनिषदों, आदि का उल्लेखनीय स्थान है। शैव और वैष्णव परम्पराओं में भी समन्वय सिद्ध हुआ।

समन्वय की साधना में सबसे अधिक योगदान पुराणों का है। पुराण-साहित्य अपने मूल रूप में प्राचीन है। 'पुराण' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है।[1] पर जिस रूप में आज पुराण मिलते हैं, उनकी रचना गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक मानी जा सकती है। पुराणकार ने स्मार्त और आगमिक धर्मों का समन्वय बड़े ही सुरुचि पूर्ण ढङ्ग से किया। शैव परम्परा भी पुराण-साहित्य में विश्रमित है।

अनेक भाष्यकारों ने भी इस समन्वित धार्मिक रूप का पोषण किया है। अनन्ताचार्य ने वेद-मंत्रों का विष्णुपरक अर्थ किया। इस प्रकार भाष्यकारों ने भी समन्वय-साधना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

श्रौत, स्मार्त और आगमों की त्रिसूत्री समन्वय साधना ने मिश्रित देवोपासना को जन्म दिया।[2] यहीं से पंच देवोपासना-पद्धति का जन्म होता है। शैव धर्म में भी मिश्र उपासना का विधान है।[3] पंच महायज्ञों में, देवयज्ञ के समय कहीं-कहीं पाँच

---

१. अथर्व, ७१।७।२४; शतपथ १।४।३१।१२; वृहदारण्यक २।४।१० आदि।

२. वैदिकैस्तांत्रिकैर्वापि श्रौतैर्वाऽपि द्विजोत्तम।
स्वयं व्यक्ते तु भवने मिश्रैर्वा देवमर्चयेत ॥ पांचरात्र रक्षा

३. तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम्। डा० द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ३६ पर श्रीकर भाष्य से उद्धृत।

देवताओं के पूजन का विधान है : आदित्य, अम्बिका, विष्णु, गणनाथ और महेश्वर। मूर्तियों के निर्माण में भी देव चतुष्टय की कल्पना कार्य करती रही। पञ्च देवोपासना का विकास वैदिक देवताओं के ह्रास से आरम्भ हुआ। इस प्रकार निगम और आगम के समन्वय से स्मार्त-वैष्णव, स्मार्त-शैव, और स्मार्त-शाक्त परम्पराओं का उदय हुआ और सभी देवताओं की समन्वित पूजा-पद्धति चली।

अवतारवाद और पुराण—

अवतार-कल्पना निश्चय ही वेदोत्तर प्रतीत होती है। वैदिक-वाङ्मय में अवतारवाद के कुछ प्रेरणा-बीज अवश्य खोजे जा सकते हैं। नृसिंह, वराह, वामन, मत्स्य, कूर्म का वहाँ उल्लेख है। वैदिक साहित्य में अवतारों के मूल-उत्स विष्णु का तो उल्लेख मिलता ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार वेदों में विष्णु का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है।[१] सम्भवतः विष्णु का वैदिक साहित्य में गौण स्थान मानने का कारण विष्णु सम्बन्धी ऋचाओं का अल्प-संख्यक होना है। श्री दांडेकर ने विष्णु और इन्द्र के तीन सम्बन्ध स्थिर किए हैं : इन्द्र-विष्णु, परस्पर सहायक; विष्णु इन्द्र से श्रेष्ठ; वामन के रूप में इन्द्र का सहायक विष्णु।[२] विष्णु के अन्य देवताओं से श्रेष्ठ मानने वाली अनेक ऋचाएँ वेद में हैं।[३] विष्णु के प्रति सान्निध्य-भावना वहाँ विशेष रूप से प्रकट है। विष्णु में मानवीय गुणों की अधिकता वैदिक साहित्य में मिलती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु की इस श्रेष्ठता का विस्तार ही हुआ।[४] उपनिषद्-साहित्य भी विष्णु की श्रेष्ठता से भरा हुआ है।[५] अधिकांश पुराण तो जैसे विष्णु तथा उसके अवतारों की प्रशस्ति में ही लिखे गये हैं।[६] पुराणों में सृष्टि-क्रम का विस्तार ही अधिक है। पुराणों के पाँच लक्षण माने जाते हैं : सर्ग (=सृष्टि विज्ञान), प्रति सर्ग (=सृष्टि का विस्तार) लय, और पुनः सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित।[७] भागवत में पुराणों के दस विषय

१. मैकडानेल, वैदिक रीडर, विष्णु का दर्शन

२. Volume of studies in Indology, presented to Mr. Kane, Vishnu in the Vedas, R. N. Dandekar, P. 90

३. ऋग्वेद १।१५४।१–६

४. ऐतरेय, १।१

५. मैत्रेयी उपनिषद्, ६।१३; कठोपनिषद् ३।७

६. "विष्णु शब्द सूर्य के अर्थ में वेदों में आया है। परन्तु पुराणों में सूर्य से भिन्न अलग एक देवता का नाम है जिसका माहात्म्य पुराणों में भर दिया गया है, और जिसके अवतारों की कथा का विकास कर दिया गया है। भक्त जनों ने दूसरों के सुशोभित अलङ्कारों का अपहरण करके अपने-अपने इष्टदेव का मनमाना शृङ्गार किया है।"–रामदास गौड़, हिन्दुत्व, पृ० १६५

७. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

माने गये हैं : सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय ।[1] पर मुख्य विषय छः ही हैं : त्रिदेव, देवासुर संग्राम, अवतार, युग-क्रम, प्रलय और विराट् ।[2] इनमें ब्रह्म के सगुण रूप का ही विविध प्रकारेण निरूपण और गायन है। अवतारवाद की भावना पुराणों में इसीलिए भी सबसे अधिक बलवती होती गई ।

अवतारवाद का मूल विष्णुपरक वैदिक रूपकों की नराकार या जीवाकार व्याख्या में ही प्रतीत होता है। इनकी कथाओं के अभिप्राय मानवीय पद्धति से घटित किए गए हैं और इन कथाओं के साथ माहात्म्य का संयोग कर दिया गया है। वेद के "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं" के आधार पर वामनावतार की सृष्टि तो प्रसिद्ध ही है। यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ और विष्णु में तादात्म्य हुआ।[3] आगे विष्णु की कल्पना यज्ञ पुरुष के रूप में हुई।[4] वैखानसागम के ग्रन्थों में यज्ञवराह का उल्लेख है। वेद में अनेकत्र विष्णु को त्रिविक्रम कहा गया है।[5] त्रिविक्रम शब्द की कई व्याख्याएँ सम्भव हैं। इनमें से एक 'त्रेधा नि दधे पदम्' है। इस व्याख्या का पौराणिक विकास हुआ—तीन पद क्रमों से पृथिवी, अन्तरिक्ष और पाताल को माप लेने वाला—वामनावतार। इसी प्रकार 'गोपा' (=रक्षक), 'यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः' तथा 'अत्राह तदुरुगायस्य कृष्णः' जैसे अंशों में कृष्णावतार के तत्त्व खोजे जा सकते हैं। विष्णु यजमान तथा देवगणों के लिए ब्रज प्राप्त कराने वाला भी है।[6] ब्रजनन्दन की कल्पना इससे सम्बद्ध हो सकती है। क्षीर सागर-शायी विष्णु के बीज भी वेद में मिलते हैं। छान्दोग्य में कृष्णार्जुन शब्द भी मिल जाता है[7] : (कृष्णवर्णा रात्रि, श्वेतवर्ण दिन : दोनों के सम्मिश्रण से भावित अहोरात्र का प्रतिरूप सूर्य)। इस सबका तात्पर्य यह है कि विष्णु के विविध वेदोक्त गुणों और तत्सम्बन्धी रूपकात्मक कथनों को पौराणिक की कल्पना ने अवतरित रूपों में रख दिया।

अवतार का कारण लोक-रक्षण होता है। गीता के अनुसार धर्म संस्थापना और दुष्टों के विनाश के लिए ही भगवान् का अवतार-रूप में प्राकट्य होता है।[8] इस उद्देश्य में इतनी आशा और सान्त्वना थी कि इस कल्पना ने समस्त भारत के

---

१. भागवत, १२।७ ८–१०

२. दुर्गाशङ्कर मिश्र, भक्ति काव्य के मूल स्रोत, पृ० २१

३. 'यज्ञो वै विष्णुः' : यजुर्वेद, २२।२०; 'यो वै विष्णुः सयज्ञः' शतपथ, ५।२।३।६

४. विष्णु पुराण १७।५।१५; महाभारत, शान्ति० अध्याय ३३६, श्लो० ६-१०

५. अथर्व, १४वां काण्ड

६. व्रजं च विष्णुः सखिनां अपोर्णुते, ऋक्० सं० १।१५६।४

७. छान्दोग्य १।६।५

८. गीता, परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥

जीवन और साहित्य को प्रभावित कर दिया। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित छः अवतार ये हैं : वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण। आगे चार अवतार इस सूची में और जुड़ गए : हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि। हरिवंश में भी छः अवतारों की गणना है। आगे के सभी पुराणों में संख्या दस है। आजकल दस अवतारों में हंस के स्थान पर बुद्ध हैं। यह सूची वराह पुराण और अग्नि पुराण में है। भागवत ने विभिन्न मतों के प्रवर्त्तकों को जोड़कर संख्या २२ कर दी : नारद [सात्वत मार्ग], कपिल [सांख्य], दत्तात्रेय [आन्वीक्षिकी], ऋषभ आदि को भी अवतार-सूची में स्थान मिला। द्वितीय स्कन्ध में दशावतार-चरित्र या उनकी लीला का ललित और कवित्वपूर्ण भाषा में वर्णन है। इनकी संख्या यहाँ २३ है। आगे संख्या २४ भी बतलाई गई है। एकादश स्कन्ध के नवें अध्याय में संख्या केवल १६ है। इस प्रकार भागवतकार ने समस्त अवतार-सम्बन्धी वार्ता को समेटने की चेष्टा की है।

भागवत के अनुसार भगवान् तीन रूपों में रहते हैं : स्वयं रूप, [श्रीकृष्ण], तदेकात्मरूप [मत्स्य, वराहादि लीलावतार], आवेश रूप [महत्तम जीवों में आविष्ट, नारद, शेष, सनकादि] यहाँ अवतार के हेतु में भी विकास दिखलाई देता है। लघुभागवतामृत के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से ही भगवान् अवतार रूप में अपनी लीला का विस्तार करते हैं। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में एकान्तिकों का जो मत है, उसका परिष्कृत रूप भागवत में मिलता है। इसी के सन्दर्भ में अवतारों की योजना की गई है। महाभारत में पाँच प्राचीन मतों का भी उल्लेख मिलता है : सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद (वेदान्त), एवं पाशुमत।[1] इनमें से पांचरात्र और पाशुपत सगुणोपासना से सम्बद्ध हैं। पांचरात्र मत में चतुर्व्यूह कल्पना भी है। इसके अनुसार निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान् ही वासुदेव हैं। जीव रूप में अवतरित वासुदेव ही संकर्षण हैं। संकर्षण का मन-रूप अवतार प्रद्युम्न है। प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वही अहङ्कार है, ईश्वर है, उसेही अनिरुद्धनाम से जाना जाता है। पांचरात्र मत में एकांतिक भक्ति ही मान्य है। भागवत की अवतार-कल्पना में चर्तुव्यूह भी किसी न किसी रूप में व्याप्त है। अवतार के तीन प्रकार माने गए हैं : पुरुषावतार [प्रथम पुरुष संकर्षण, द्वितीय पुरुष प्रद्युम्न, तृतीय पुरुष अनिरुद्ध], गुणावतार [सत्त्व=ब्रह्मा, रज=विष्णु, तम=रुद्र] तथा लीलावतार [२४]।[2] इनमें श्रीकृष्ण का नाम नहीं है क्योंकि वे तो स्वयं-रूप हैं।

---

१. शान्तिपर्व : अध्याय ३४९

२. चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस, ध्रुव प्रिय, ऋषभ, प्रथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, व्यास, बलराम, बुद्ध और कल्कि।

गीता में भक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अनुसार चार प्रकार के भक्त होते हैं : आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। महाभारत के अनुसार पांचरात्र मत में ऐकान्तिक भक्ति मान्य है। इसी भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है : 'तेषां चैकान्तिन: श्रेष्ठा, ये चैवानन्य दैवता:'। शङ्कराचार्य ने चतुर्व्यूहोपासना की पाँच पद्धतियाँ बताई हैं[1] : अभिगमन [देव मन्दिर गमन], उपादान [पूजा द्रव्यों का अर्जन], इज्या [पूजा], स्वाध्याय [अष्टाक्षरादि मन्त्र जप] और योग [ध्यान]। भागवत का भी सर्वप्रिय मत ऐकान्तिक भक्ति ही है। ये भक्त केवल भक्ति ही चाहते हैं। शङ्करोक्त पञ्चविधि उपासना का विकसित रूप ही नवधा-भक्ति है। हमारे आलोच्य साहित्य में भी ऐकान्तिक भक्ति और नवधा उपासना मान्य है। इस प्रकार की भक्ति के लिए जिस आधारभूत सामग्री की आवश्यकता थी, वह अवतारवाद की कल्पना से मिल सकती थी। अवतारों की लीला ही श्रवण, मनन, पूजा का अवलम्बन बन सकती थी। भक्त भगवान् के साथ जिस वैयक्तिक सम्बन्ध की स्थापना करना चाहता है, वह भी अवतरित रूपों के साथ सम्भव है। मध्यकाल में इसीलिए अवतारवाद एक प्रमुख विश्वास बन गया। शिव के अवतार भी माने गए : नकुलीश, लकुलीश इन्हीं अवतारों में हैं। मत्स्येन्द्र-गोरख तक को शिव के अवतारों में परिगणित किया है। यहाँ तक कि कबीर को भी अवतार मानने की चर्चा ग्रन्थों में आ चुकी है। अवतारवाद में अटल विश्वास निर्गुण-भक्ति को सगुण-भक्ति से पृथक् करता है। हमारे इस आलोच्य युग में राम और कृष्ण का इसी आधार पर प्राधान्य हो गया।

समूर्त या सगुण की उपासना—

वैदिक संस्कृति और दर्शन का केन्द्र यज्ञ था। इस संस्कृति में समूर्त आराधना के तत्त्व नहीं मिलते। प्रतिमार्चन की परम्परा आगमिक संस्कृति में अवश्य चलती रही। आगमों के प्रमुख अनुष्ठान मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-स्थापना तथा अर्चा-पूजा माने जाते हैं। पर यज्ञ-पुरुष की कल्पना और पुरुष-सूक्त के प्रकरण में भी इसके कुछ प्रेरणा-संकेत माने जा सकते हैं। वैदिक विष्णु, वराह, नृसिंह और पुरुष आदि का वैष्णव आगमों में प्रमुख स्थान बनता गया। उनकी नराकार कल्पना पुष्ट होती गई। विष्णु की यज्ञ-पुरुष के रूप में कल्पना वैदिक साहित्य में भा मिलती है।

जयाख्यसंहिता में समूर्त पूजा-विधान की दो पद्धतियाँ मानी गई हैं : समाधि-उपाय और मंत्र-उपाय। मंत्र में इष्ट के ध्वन्यात्मक प्रतीक 'नाम' के बीज माने जा सकते हैं। समाधि-उपाय में अनिल-संरोध के साथ मौन धारण करके हृदय-कमल में गरुड़ पर आसीन भगवान् का ध्यान किया जाता है। इसकी साधना बहुत कुछ योग-साधना से मिलती है। आगम का सम्बन्ध देवालय से सम्बद्ध है।

१. ब्रह्म सूत्र २।२।४२

बैखानस आगम के अनुसार समूर्त की आराधना अमूर्ताराधन से श्रेष्ठ और सरल बतलाई गई है। समूर्त आराधना देवालय में भी हो सकती है और सुविधानुसार-अन्यत्र भी।

देवालय—

देवालय भगवान् के निवास का प्रमुख स्थान माना जाता है। देवालय एक प्रकार से भगवान् का शरीर ही है। अग्नि पुराण के अनुसार भगवान् ही मन्दिर के रूप में अवस्थित हैं।[1] शैव और सौर मन्दिरों में शिव और सूर्य की मूर्ति बनाई जाती हैं। इस प्रकृति से मन्दिर-निर्माण कला भी अनेक प्रतीकों से भर गई। प्रासाद की विश्वरूपता का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है[2] : 'इस विश्वात्मक प्रासाद में 'जगती' आधार चत्वर से लेकर 'आमलक' के ऊपर स्थित चक्र, त्रिशूल आदि प्रतीकों तक जीवन का उत्तरोत्तर विकास-क्रम प्रदर्शित होता है। इसकी तीन भूमिकाएँ हैं, जिनकी सूचना के लिए तीन 'आवरण' रहते हैं। सबसे नीचे के आवरण में भगवान् तथा उनके पार्श्व देवों की 'भोग मूर्तियाँ' अङ्कित रहती हैं। मध्यम आवरण में संहार मूर्तियाँ होती है। इनमें भगवान् आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीकों का संहार करते हुए दिखाए जाते हैं। सर्वोच्च आवरण में भगवान की 'योग मूर्तियाँ' होती हैं। इन आवरणों के नीचे तथा इधर-उधर सिद्ध, गन्धर्व और अप्सराओं की, भक्तों एवं प्रवाह-पतित पुरुषों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती हैं।" इस प्रकार समस्त संसार का प्रतिनिधित्व देवालय करता है। भक्ति-साधना में इस प्रकार भवन-निर्माण-कला अपना योग-दान देने लगी।

मन्दिर में ईश्वर की स्थिर और उत्सवों पर चलने वाली मूर्तियाँ होती हैं। भगवान् की विविध लीलाएँ इस चल प्रतिमा के माध्यम से प्रकट की जाती है। देवालय में सभी अर्चाओं की सुविधा रखी जाती थी। गर्भ-गृह इस प्रकार से बनाया जाता है जहाँ अन्धकार और प्रकाश का मिश्रण रहता है। यह एक रहस्यमय वातावरण प्रस्तुत करता है। यह भगवान् के कूटस्थ रूप का निवास स्थान है। सभा-मण्डपों का उद्देश्य चल अर्चाओं के निमित्त होता है। इसके बाद तोरण होता है। यहाँ भगवान् की विशेष स्थितियों की सूचना देने वाला घण्टा-निनाद होता रहता है।

अर्चना पर राजकीय प्रभाव—

अर्चना की पद्धति राजकीय ढर्रे में ढलती गई। पूजा के अवलेपन, सम्मार्जन, अङ्गराग, धूप, दीप नैवेद्य तथा शङ्ख, कांस्य, घण्टा, मृदङ्ग आदि के साथ देवदासियों का नृत्य आदि विधान राजकीय ही हैं। राजा जिस प्रकार अनेक यात्राएँ करता है, उसी प्रकार पांचरात्रिक ग्रन्थों में अनेक यात्राओं का समावेश है; जैसे रथ यात्रा,

---

१. अग्नि पुराण ६१।२६-२७

२. डा० रामनरेश वर्मा, हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० ८८-८९

दोलोत्सव, जन्मोत्सव, दीपोत्सव आदि। आज भी मन्दिरों की रूप-रेखा का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि राजकीय चर्या ही भिन्न आलम्बन के माध्यम से प्रकट की जा रही है।

पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वैष्णव-मन्दिरों में तो तत्कालीन राजकीय विधान चलता गया। पर, ग्रामों में मिलने वाले शिव, हनुमान और देवी के मठों या मन्दिरों में यह विधान नहीं चलता। देवालय का यह लोकोन्मुख और जन-सुलभ रूप है: राजकीय परिपाटी पर चलने वाले देवालयों के विधान के साथ उच्च वर्ग के स्वार्थ सम्बद्ध होते गये और समस्त जातियों और व्यक्तियों को इसमें जाने का अधिकार नहीं रहा, परन्तु यह लोकोन्मुख देवालय-विधान इस भेद-भाव से मुक्त रहा।

भक्त की मोक्ष-प्राप्ति के क्रम को भी देवालय में घटित किया जाता था। अभिगमन के द्वारा भक्त देव-निवास तक पहुँचता है। अधिकारी होने पर अन्तराल और गर्भ-गृह तक जाकर वह सामीप्य-लाभ कर सकता था। इस प्रकार देवालय समस्त भक्ति-दर्शन का एक स्थूल प्रतीक बन गया था। "जिस प्रकार कर्म-मीमांसा-शास्त्र वैदिक कर्म काण्डों की व्याख्या और व्यवस्था के लिए प्रवृत्त हुआ, उसी प्रकार यह देवालयीय दर्शन-भक्ति के विभिन्न तत्त्वों के उपबृंहण तथा स्पष्टीकरण में विनियुक्त प्रतीत होता है।"

धार्मिक एकीकरण की प्रवृत्ति—

भारत के अधिकांश प्रदेशों में जैन और शैव तथा शैव और वैष्णव मान्यताओं के बीच संघर्ष चल रहा था। भक्तिकाल तक आते-आते वहाँ मुख्य संघर्ष शैव और वैष्णवों का ही रह गया। इधर उत्तर भारत में धार्मिक एकीकरण की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है। शैव-धर्म, जैन और बौद्ध धर्मों को आत्मसात् करने लगा था। शैव-सम्प्रदायों में जैन-सम्प्रदाय भी आने लगे थे।[१] कुछ जैन-रहस्यवादी सन्तों ने जिन, बुद्ध, विष्णु और शिव में तत्त्वतः अभेद माना है। जो इन्दु के 'योगसार' का एक पद्य लीजिए—

> जो सिउ संकरु विरहु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
> सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो आणंतु सो सिद्ध॥[२]

इसी ग्रन्थ के अनुसार परभाव को त्याग देने वाला ही शिवपुर-गमन का अधिकार रखता है।[3] एक दूसरे जैन ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' में शिव को नित्य, निरञ्जन, ज्ञानमय, और परमानन्द स्वरूप माना गया है।[४] 'पाहुड़ दोहा' में भी शैव-सम्प्रदाय

१. अभिनव गुप्त के 'तंत्रालोक' में एक 'आर्द्र त' (जैन) सम्प्रदाय की भी गणना है।
२. योगसार, १०५
३. ,, ,, ३४
४. परमात्म प्रकाश, २१४

के सिद्धान्तों का उल्लेख है।[1] 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में एक कथा है: इसके अनुसार कुमारपाल सोलंकी के गुरु हेमचन्द्र ने सोमनाथ की स्तुति-रचना की थी। ये साहित्यिक प्रमाण पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी पुष्ट होते हैं। अनेक अभिलेखों में भी जिन, वामन, बुद्ध और ब्रह्मा को शिव का ही रूपान्तर बतलाया गया है। इस प्रकार पश्चिम भारत में शैव-जैन समन्वय हो रहा था। अनेक जैन-कवियों ने राम-कृष्ण को लेकर प्रबन्ध काव्य रचे।

पूर्व भारत में बौद्ध-शैव सम्मिश्रण के प्रमाण मिलते हैं। सिद्धों की परम्परा में बौद्ध और शैव तत्त्वों का समन्वय एक जानी-मानी बात है। इसके भी अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं।

अश्लीलता—

सगुण भक्ति साहित्य में अश्लीलता की कोटि को पहुँची हुई शृङ्गारिकता भी एक प्रमुख तत्त्व है। कृष्ण-शाखा में तो किशोर-किशोरी-विलास है ही, राम भक्ति शाखा में भी रसिक-सम्प्रदाय आगे चलकर प्रबल होने लगा। धार्मिक कृत्यों के साथ भी अश्लीलता का मिश्रण था। मन्दिर और मठ भी इससे वञ्चित नहीं थे। देवालयों में देवदासी-प्रथा चल रही थी। वैखानसागम में योग, भोग और वीर तीन प्रकार की पूजाओं का विधान मिलता है। अभिलेखों में विष्णु की घोर शृाङ्गारिक स्तुतियाँ भी मिलती हैं। पाशुपत मठों में भी शिव की शृाङ्गारिक पूजा हुआ करती थी। भोगी रूप में शिव की पूजा भवानी के साथ होती थी।

कुछ धर्म-मतों में शृाङ्गारिक गुह्य साधनाओं का भी विधान था। इनका सम्बन्ध तंत्रों से मानना चाहिए। यों तो वैदिक कर्म-काण्ड में भी अश्लीलता की झलक मिल जाती है तथा उपनिषद् की कुछ विद्याओं के वर्णन में भी गुह्य साधना की झलक है। पर 'गुह्य समाज तंत्र' में साधनात्मक अश्लीलता का विकसित रूप मिलता है। इसी परम्परा में सिद्ध या वज्राचार्य आते हैं। शैव-शाक्त-आचारों में गुह्य साधना के अनेक रूप प्रचलित थे। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में शैव और शाक्त मत अश्लील गुह्य साधनाओं में प्राय: निमग्न हो गये। सहजिया सम्प्रदाय ने मन्त्र-मण्डल की उपासना को छोड़ दिया था। इनकी सहज उपासना के दो प्रकार थे: मुद्रा से युगबद्ध 'हेरुक' का ध्यान और 'निर्माण-चक्र में मुद्रा की कल्पना करके रसपान करना।' इनकी रस भक्ति में युगबद्ध उपास्यों पर ध्यान केन्द्रित करना मुख्य हो गया। पर इन्होंने युगल उपास्य को शरीर के किसी चक्र में नहीं देखा। तांत्रिक शृाङ्गारिकता और सहजयानियों की रस-भक्ति का प्रभाव वैष्णवागमों और वैष्णव-साहित्य पर समान रूप से पड़ा। विष्णु की भोग-मूर्तियों के साथ शक्तियाँ भी परिकल्पित हैं। गोपी-भाव से भी उनकी उपासना मिलती है। पर तांत्रिक साधना

BROWN

१. पाहुड़ दोहा, ५५

की भाँति शक्ति का प्राधान्य नहीं था तथा जीवित स्त्री या उसके अङ्ग विशेष की उपासना भी प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलती। पर आलोच्य युग की रस-भक्ति में सहजयानी और शैव-शाक्त तत्त्वों की किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति अवश्य मिलती है।

आलम्बन-कल्पना—

भक्ति साहित्य में उपास्य ही आलम्बन के रूप में मिलता है। उपास्य की भावना तीन युगलों में हो सकी : शिव-शक्ति, सीता-राम तथा राधा-कृष्ण। हिन्दी के सगुण-भक्ति साहित्य में शिव-शक्ति को लेकर भावना-विलास नहीं मिलता। शिव 'रौद्र' के आलम्बन हो सकते थे। उनके आधार पर जो शृङ्गारिक भावनाएँ चलीं, उनकी समाज के स्तर पर स्वीकृति नहीं हुई और साहित्य में शिव-शक्ति के शृङ्गार परक रूप का वर्जन ही रहा : अनुश्रुति के अनुसार शिव-पार्वती के शृङ्गार से सम्वलित 'कुमार-सम्भव' की रचना के करने के कारण कालिदास को अभिशप्त होना पड़ा। अतः सगुणाश्रयी रस-भक्ति के आलम्बन के रूप में इस दिव्य युग्म की उपयुक्तता नहीं रही। विद्यापति में इनकी भक्ति के शृङ्गार-तत्त्व अवश्य मिलते हैं। पर हिन्दी-साहित्य में आगे इसकी परम्परा नहीं बनी। सगुण-भक्ति साहित्य के मुख्य आलम्बन सीताराम और राधाकृष्ण बन गए।

सीता-राम—

सीता-राम के युग्म के साथ शैव तत्त्वों के आदर्श पक्ष का समावेश हो गया। हिन्दी की राम-भक्ति-शाखा के कवि शिव को भी साथ लेकर चलते दिखलाई पड़ते हैं। परम शिव ही राम बने। तन्त्रालोक के अनुसार—

एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम्।[1]

यही कारण है कि योग से प्रभावित निर्गुण-भक्ति-साहित्य में भी राम की मान्यता ही रही। राम-वार्ता की परम्परा भी दीर्घ है। इस वार्ता के उन्नयन और पोषण में अनेक सांस्कृतिक धाराएँ सक्रिय रहीं। रामायण के कुछ पात्रों के कुछ संकेत वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। लोक-साहित्य में भी यह परम्परा प्रबल रही। पर विधान के साथ रामकथा वाल्मीकि-वाणी से ही निर्गत हुई। इसके पश्चात् बौद्ध, जैन, लौकिक-संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्य में यह धारा प्रवाहित होती रही। दक्षिण में कुलशेखर आलवार को वाल्मीकि रामायण से ही प्रेरणा मिली। शठकोपाचार्य भी मूलतः राम-भक्त थे : राघवानन्द दक्षिण से राम-मंत्र को लाए और उत्तर में उसका प्रचार किया। रामानन्द के द्वारा गृहीत और पुष्ट रामकाव्य धारा उत्तर भारत को आप्लावित करती रही।

रामचरित को लेकर संस्कृत में रघुवंश, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, प्रसन्न राघव, अनर्घ राघव, हनुमन्नाटकादि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। सभी ने

---

१. तन्त्रालोक श्लोक ८८, अगत्यक १

हिन्दी भक्ति-साहित्य को न्यूनाधिक प्रेरणा भी दी। पर हिन्दी के राम-भक्त कवियों ने सबसे अधिक प्रभाव अध्यात्म-रामायण से ग्रहण किया।

रामाश्रित मर्यादावादी भक्ति अधिक समादृत रही। इसमें श्रौत-स्मार्त परम्पराओं के सामाजिक आचार और लोक-मर्यादा के साथ भक्ति का समन्वय रहा। मर्यादावादी वातावरण ने सीता-राम को शृङ्गार-परक रस-भक्ति का आलम्बन नहीं बनने दिया। राम-सीता की कथा में वैदेही-वनवास का प्रसङ्ग करुणा से विगलित था। पर भक्ति साहित्य में यह प्रसङ्ग अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। इस प्रसङ्ग में राम व्यक्तित्व सीता के व्यक्तित्व की अपेक्षा कुछ निर्बल हो जाता है। जिस आदर्श के सहारे राम का समर्थन इस प्रसङ्ग में किया गया, वह भी अधिक काम नहीं दे सका। स्वयंभू ने उस आदर्श को भुला कर सीता के व्यक्तित्व को उभारा। पति द्वारा मिथ्या लांछनों ने प्रताड़ित सीता की करुण, पर दर्पपूर्ण उक्ति सुनिए—

पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि।
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि।
खडु लक्कडु सलिल वहं तिहे पउराणियहे कुलग्गयहे।
रयणायरु खार इ देतउ तो विण थक्कइ णं णइहे।

"पुरुष गुणवान होकर भी कितना हीन होता है, वह मरती हुई पत्नी का भी विश्वास नहीं करता। वह उस रत्नाकर की तरह है जो नदियों को केवल क्षार देता है, किन्तु उनसे फिर भी छोड़ा नहीं जाता।" राम की हीनता को हिन्दी का राम-भक्त-कवि नहीं सह सका। इस प्रकार राम इस करुण प्रसङ्ग से विच्छिन्न होकर काव्य शास्त्रीय करुण रस के आलम्बन नहीं बन सके।

राम का भक्त अपनी जिस दीनता और दुर्दशा को लिए राम के सामने खड़ा है, उसमें करुण-रस का समावेश हो सकता है। पर यह करुणा भक्ति-मिश्रित है, काव्य-शास्त्रीय नहीं। भगवान् की करुणा को उद्दीप्त करने के लिए भक्त अपने दैन्य को ज्ञापन करता है। भक्त की दृष्टि से राम दास्य भाव के आलम्बन बन जाते हैं। इस प्रकार राम के साथ शान्त भाव से मिश्रित दास्य-भाव का सम्बन्ध रहा। राम की लीलाओं में अन्य रस भी आते रहे हैं।

हिन्दी में रामभक्ति की मधुर पद्धति के संकेत भी मिलते हैं। स्वयं तुलसी में मधुरोपासना के बीज हैं।[1] सखी भाव का संकेत तुलसी 'गीतावली' के वन-यात्रा प्रसङ्ग में माना जाता है।[2] तुलसी में मधुरोपासना के बीजों की खोज में तो कुछ खींचातानी ही प्रतीत होती है। पर, इतना सत्य है कि राम को आलम्बन मान कर मधुरोपासना की परम्परा अवश्य चलती रही।[3] इस प्रकार राम मुख्यतः मर्यादावादी भक्ति रस के तथा गौण रूप से मधुर भक्ति के आलम्बन ही बने। इधर इस विषय पर स्वतंत्र अनुसन्धान भी हुआ है जो महत्त्वपूर्ण है।

१. चन्द्रबली पाण्डे, 'तुलसी की गुह्य साधना', नया समाज, सितम्बर १९५३
२. गीतावली, ३३३-३३४
३. द्रष्टव्य, डा० भगवती प्रसाद सिंह : राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय

राधा-कृष्ण—

कृष्णावतार की कल्पना राम-कल्पना से पुरानी है।[१] कृष्ण के दो रूप हैं: (१) यादवेन्द्र, वीर, राजा, कंसारि; (२) गोपाल, गोपी-वल्लभ, 'राधाधर-सुधापान शालि-वनमाली।' प्रथम रूप की परम्परा बहुत प्राचीन ग्रन्थों तक जाती है। यह रूप महाभारत के कृष्ण से मुख्यतः सम्बन्धित है। इस रूप में उनका वाद्य पांचजन्य शङ्ख है और शास्त्र है चक्र सुदर्शन। दूसरा रूप नवीन स्रोतों और उद्भावनाओं का परिणाम है। इस रूप में वे रसिक-शिरोमणि हैं। मोर मुकुट है तथा बाँसुरी उनका वाद्य है। प्रथम रूप राम से अधिक भिन्न नहीं है। दूसरा रूप विशिष्ट है। यही रूप प्रधान होता गया। अश्वघोष, कालिदास और महाभारत में गोपाल कृष्ण सम्बन्धी कुछ संकेत मिलते हैं। पर इस रूप का विकास-विस्तार पौराणिक साहित्य और काव्य-शास्त्र में हुआ। हरिवंश पुराण में गोपाल-कृष्ण का कीर्ति-गाय २० अध्यायों में है। विष्णु पुराण में भी गोपाल-कृष्ण की लीलाओं को सुरुचिपूर्ण शैली में कहा गया है। भागवत में तो जैसे कृष्णाश्रित लीलामृत का समुद्र ही उमड़ आया हो। हरिवंश की हालीसक क्रीड़ा में भागवतीय रासलीला का पूर्व रूप परिलक्षित है। भागवत में कृष्ण-लीला को उच्च कोटि की साहित्यिकता प्राप्त हुई। भागवत में भक्ति और साहित्य का मिश्रण है। इनके साथ मानवोचित रस का मिश्रण भी हुआ है इसलिए राधा-कृष्ण की भावना लोकप्रिय होती चली गई: "श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोराग हैं वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान् बन जाते हैं।"[२] राधा-कृष्ण के लोकप्रियता एक कारण मनोवैज्ञानिक भी है। राम का सम्बन्ध मर्यादावाद से है। मर्यादा-नियम हमारे मनोरागों पर नियंत्रण करते हैं। उनकी स्वच्छन्दता समाप्त प्रायः हो जाती है। कृष्ण-भक्ति प्रायः मर्यादा का उल्लंघन करके चलती है। मनोरागों की उन्नयन-प्रक्रिया इसमें अधिक स्वच्छन्द रहती है। अतः कृष्ण-राधा की ओर आकर्षण होना स्वाभाविक हो जाता है।

साथ ही राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा के विकास में लोक-तत्त्वों ने भी योगदान दिया। आभीर जाति की प्रेम-कथाओं का संयोग कृष्ण के साथ हो गया। राधा की कल्पना इस जाति का योगदान सर्व सम्मत है। लोक-साहित्य की प्रेमगाथाओं में जो स्वाभाविकता और द्रुति रहती है, उनके समावेश से राधा-कृष्ण-गोपी प्रेम कथा सहज-सुन्दर बन गई।

शाक्त और सहजिया सम्प्रदायों की शृङ्गारिक साधना ने भी इस प्रेम-कथा को बल प्रदान किया। शाक्त मत ने राधा-कृष्ण को अपना लिया। इसी भूमिका में

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १२६
२. ,, ,, पृ० १२८

शाक्त शृङ्गार का वैष्णवीकरण सम्पन्न हुआ। राधा-कृष्ण का यह रूप काव्य, काव्य-शास्त्र, आदि में गृहीत होकर साहित्यिक अनुभूतियों का विषय बनता गया। राधा-कृष्ण मूलतः शृङ्गार के आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। रसराज शृङ्गार की प्रतिष्ठा ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, राधा-कृष्ण का शृाङ्गरिक रूप भी निखरता गया। रसराज ने जब बङ्गाली वैष्णव-आचार्यों के हाथों में माधुर्य-भक्ति या उज्जवल-भाव में अपनी परिणति प्राप्त की, तब राधा-कृष्ण का रूप लौकिक और अलौकिक शृङ्गार से भर गया। धीरे-धीरे ऐसे सम्प्रदायों का भी विकास हुआ, जो राधा को प्रधानता देते थे। इस प्रकार राधा-कृष्ण का अनुपम शृङ्गार हुआ और सगुणोपासना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

काव्य-शास्त्रीय योगदान—

निर्गुण-भक्ति-साहित्य में भी अप्रस्तुत रूप से शृङ्गार का समावेश था, पर काव्य-शास्त्रीय धरातल पर भक्ति या उज्जवल रस की प्रतिष्ठा उस धरातल पर नहीं हो सकती थी। सगुण-भक्ति-साहित्य में जो भाव भूमि प्रस्तुत हुई, उसके आधार पर बङ्गाल के आचार्यों ने भक्ति-रस-शास्त्र की प्रतिष्ठा की।

सम्भवतः पहले शान्त-रस में इसका समावेश वे आचार्य समझते थे। पर दिव्य रति इतनी प्रगाढ़ होती गई कि शान्त-रस में उसका अन्तर्भाव कठिन होता गया। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र, नारद-भक्ति-सूत्र, भागवत और गीता के आधार पर भक्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। सामरस्य उत्पन्न करने वाली मधुरा-भक्ति को पराभक्ति माना गया। श्री मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी ने भक्ति को ब्रह्मानन्द स्वरूपा बतलाया और समाधिजन्य परमानन्द को परमाणु तुल्य भी नहीं माना।[1] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार तो भक्ति ही परिपूर्ण रस है: अन्य रस इसकी तुलना में क्षुद्र हैं—

> कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
> रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखस्पर्शित्व कारणात्।
> परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्गतिः।
> खद्योतेभ्य रिवादित्य प्रभेव बलवन्तरा।[2]

भक्ति योग नव-रस-मय है। उनकी दृष्टि से वह दसवाँ रस है। यह भाव भी विभावादि से युक्त होकर रसत्व को प्राप्त होता है। अतः भक्ति को मात्र भाव न कह कर 'रस' कहना चाहिए।[3] रूप गोस्वामी ने भी परा को श्रेष्ठ भक्ति माना। जिसे इसकी प्राप्ति हो जाती है, वह मोक्ष की भी कामना नहीं करता[4]: 'सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं।' इस प्रकार पराभक्ति अपने आप में साध्य बन गई। आगे इस भक्ति-रस की निष्पत्ति में समस्त विभावादि का स्वरूप निर्धारण भी हुआ।

---

१. भगवद् भक्ति रसायन, १.६; हरिभक्ति रसामृत सिंधु, १।१६-२०
२. भगवद् भक्ति रसायन; २।७७-७८
३. ,, २.७५-७६
४. हरि भक्ति रसामृत सिंधु, पूर्व भाग १, लहरी ११११

भक्ति को अब तक नवधा या नवविधा माना जाता था। इस 'नव' संख्या से इसके नौ प्रकारों या साधनों (श्रवण, कीर्तन आदि) का बोध होता था। पर भक्ति-रस के उक्त आचार्यों ने इसके पाँच ही प्रकार माने : शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इस प्रकार भावात्मक दृष्टि से भक्ति के यह प्रकार बने। इनमें भी माधुर्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया। लौकिक शृङ्गार की काममूला रति ही मधुर रस में भगवद्विषयक होने से प्रेममूला मानी गई है। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार इसका स्थायी भाव रति न होकर चित्त की भगवदाकारता ही है।[1] आलम्बन विभाव स्वयं प्रभु हैं। तुलसी, चन्दनादि उपकरणों की गणना उद्दीपनों में की गई है। हर्षाश्रु, आदि अनुभाव हैं। इस रस को ही बङ्गाल के आचार्यों ने 'उज्ज्वल-रस' माना है। इसको शान्त-रस के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता क्योंकि भक्ति का आधार अनुराग है जो शान्त के स्थायी निर्वेद से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार सगुण-भक्ति धारा में भक्ति-रस को काव्य-शास्त्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त होगई। बङ्गाल के वैष्णव आचार्यों और बोपदेव द्वारा प्रतिपादित इस भक्ति-रस से सभी सगुणवादी भक्तों की रचनाएँ आप्लावित हैं।

निर्गुण सन्त-काव्य में सगुणधारा के बीज—

सन्त-साहित्य में वैष्णव की स्वीकृति मिलती है। कबीर ने लिखा है : 'मेरे संगी दोइ जण, एक बैस्नौ इक राम।' वैष्णवता में सगुणवाद के बीज, संकेत रूपेण विद्यमान हैं। संस्कार के कारण ही सन्तों ने अवतारवाद का खण्डन किया था। पर कबीर की दृष्टि में निर्गुण यदि ज्ञेय है तो सगुण सेव्य : "सर्गुण की सेवा करो निर्गुण का करु ज्ञान।' परन्तु सगुण की सेवा उनका चरम लक्ष्य नहीं थी। सन्त की ध्यान-भूमि सगुण-निर्गुण से परे है। वह रूप की सीमा में आबद्ध नहीं है। उसमें अनन्त के प्रति अनुभूति है—

चतुर्भुजा के ध्यान में ब्रजवासी सब संत।
कबीर मगन वा रूप में जाके भुजा अनंत॥

कोरे ज्ञान को सन्त कवि भी निरर्थक बतलाते थे। उन्होंने सदा ही प्रेम और भक्ति के मार्ग का प्रतिपादन किया। यह प्रवृत्ति भी सगुणवादी भक्त से मिलती है। कबीर ने बराबर कहा : 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ', 'बिना प्रेम नहिं भक्ति' तथा 'प्रेमी मिलै सब विष अमृत होय।'[2] दादू ने भी इस प्रकार के वाद-विवाद को व्यर्थ समझा—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा
द्वै पष रहित पंथ गह पूरा, अबरन एक अधारा।
बाद-बिबाद काहु सों नाहीं, मैं हूँ जग थैं न्यारा॥

तुलसी ने भी इसी प्रकार वाक्य ज्ञान को व्यर्थ कहा—

'वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।'

---

१. भगवद् भक्ति रसायन, १।१६-२०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६७

सगुण भक्त अपने इष्ट की प्राप्ति के लिये ही भक्ति-साधना करता है। वह मुक्ति का याचक नहीं। दादू भी दर्शन चाहते हैं, मुक्ति नहीं—

'दरसन दे दरसन दे, हौं तो तेरी मुकुटिन माँगों रे।
सिधि ना माँगौं रिधि ना माँगौ, मांगी तुम्हहीं गोबिंदा॥

आराध्य के साथ सगुण-भक्त-कवि एक प्रेम सम्बन्ध रखता था। उसी सम्बन्ध की अनुभूति में वह छका रहता था। उसी प्रकार सन्त-कवि भी एक सम्बन्ध-भावना में झूलता रहता था : दास्य भाव तो सभी सन्तों में प्राप्त होता है। दाम्पत्य भावना जिस प्रकार सगुण भक्तों में प्रबल है, उसी प्रकार सन्तों में भी। सन्तों की प्रेम-भावना पर सूफ़ी प्रेम से अधिक सगुणवादियों के माधुर्य का ही प्रभाव मानना चाहिए।

नाम-साधना में निर्गुण-कवि सगुण-भक्त से पीछे नहीं है। सगुण-मार्गी जिन नामों को लेकर जप-साधना करता था, वे ही नाम सन्त-कवि को स्वीकृत हैं : राम, गोविन्द, माधव, मधुसूदन, हरि आदि। कबीर चाहे दशरथ-सुत को न मानते हों पर 'रघुनाथ' नाम उन्हें प्रिय था : "तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेड़ै।"[1] सगुणवादी साधकों की अष्टयामी मानस-पूजा का सन्तों की सहज समाधि से पर्याप्त साम्य है। 'सहज' शब्द सिद्धों के समीप भले ही हो, उसका अनुभूति पक्ष सगुणवादियों के समान ही है। कबीर कहते हैं—

आँख न मूँदौं, कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥

इसमें सगुणवादी अनुभूति का संस्पर्श स्पष्ट है। इस प्रकार निर्गुण कवि ने सगुण के माधुर्य का समावेश योग-साधना में किया था। सगुणवादी ने योग की साधना के तत्त्वों के पारिभाषिक रूप को छोड़ कर सगुणोपासना के साथ उसका अभेद कर दिया। साधना पूर्णतः रसात्मक होगई।

सगुण-भक्ति और कला-विलास—

सगुण-भक्ति की अर्चना साहित्य ने ही नहीं, सभी कलाओं ने की। वैसे आदिम युग से ही धर्म और कला का चिरन्तन सम्बन्ध रहा है। भारत में यह परम्परा आज तक चली आ रही है। भक्तिकाल में भक्ति के उत्कर्ष और स्वरूप-प्रतिष्ठा में सभी ललित कलाओं ने योगदान दिया।

सबसे अधिक सङ्गीत ने योगदान दिया है। इसने काव्य को भी अतिरिक्त सौन्दर्य और प्रभाव प्रदान किया और भक्ति की अनुभूतियों को उच्चतर सरणियाँ भी प्रदान कीं। वैदिक सङ्गीत 'साम' से प्रकट है। आगमिक सङ्गीत की उत्पत्ति शिव से हुई। शिव से नाट्य सङ्गीत की परम्परा का प्रवर्त्तन भरत ने भी माना है। इन दोनों धाराओं का सङ्गम भी होता रहा। मार्गी और देशी दोनों प्रकार के सङ्गीत का समावेश भक्तों के गीतों में होगया। ग्वालियर और ब्रज, सङ्गीत के केन्द्र बने। जो भक्त नहीं थे, उन्होंने भी राधा-कृष्ण परक, ब्रजभाषा गीतों को अपनाया। जिस

१. कबीर ग्रन्थावली पद १८७

प्रकार कर्नाटक सङ्गीत के लिए तेलुगु में रचित त्यागराज के गीत गृहीत हुए, उसी प्रकार उत्तर में ब्रजभाषा गीतों को लोकप्रियता प्राप्त हुई।

सङ्गीत की भाँति ही चित्रकला भी भक्ति-अभिप्रायों से भर गई। राजस्थानी चित्रकला ब्रज के ही क्रोड़ में पनप रही थी। इसमें कृष्ण की विविध लीलाओं का आलेखन होता था। इन चित्रों में भाव की प्रधानता थी। मूर्ति-कला को भी भक्ति-भावना ने नवीन मोड़ दिया। विविध देवताओं की मूर्तियाँ बनी। भावना के अनुसार एक ओर मर्यादा के अभिप्रायों से युक्त मूर्तियाँ बनीं, दूसरी ओर रसवादी अभिप्रायों से युक्त। वास्तुकला एवं तक्षणकला के साथ भी भक्तिवादी अभिप्राय सम्मिलित हुए।

निष्कर्ष—

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल देश के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में वस्तुतः स्वर्णयुग माना जा सकता है। वैदिक और आगमिक दर्शन और कला की परम्पराओं ने समवेत रूप से भक्ति-भावना के विकास और उन्नयन में योगदान दिया। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भी पीछे नहीं रहीं। शास्त्रीय और लोकाश्रित कला-काव्य रूपों ने भक्त-कवियों की अविरल अनुभूतियों का वहन किया। समन्वय का जैसे एक समुद्र उमड़ पड़ा हो और समस्त विषमताएँ उसमें डूब गई हों। दर्शन और सौन्दर्य, साधना और काव्य का जो सम्बन्ध कभी विच्छिन्न होगया था, उसकी पुर्नप्रतिष्ठा भक्तों की प्रातिभ साधना की सबसे बड़ी सफलता थी। एक शब्द में भारतीय चिन्तन और प्रतिभा की सभी धाराओं ने भक्ति-साहित्य का अभिषेक किया।

१७

रीतिकालीन आचार्यत्व

१. रीति परम्परा का समारम्भ
२. रीतिकाल के आचार्यों की परम्परा
३. आचार्यों के वर्ग-विभाजन
४. रीतिकालीन आचार्यत्व और राज्याश्रय
५. हिन्दी आचार्यों के सामग्री-स्रोत
६. हिन्दी आचार्यों के उद्देश्य
७. आचार्यों पर संस्कृत-प्रभाव
८. निष्कर्ष

प्रस्तावना—

संस्कृत में साहित्य-शास्त्र की सुदीर्घ समृद्ध परम्परा मिलती है। अनेक उद्भावक आचार्यों ने विविध सम्प्रदायों की स्थापना की थी। इन सम्प्रदायों के मूलभूत सिद्धान्तों का आलोचन-परीक्षण भी हो चुका था। आलोचना, भाष्य, खण्डन, मण्डन भी इतना हुआ कि आवश्यक अङ्ग कट-छटकर उत्कृष्ट रूप ही रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य-शास्त्र की प्रायः सभी धाराओं पर अन्तिम शब्द कहा जा चुका था। अब साधारण आचार्य के लिए इन पर कुछ भी मौलिक रूप से कह सकना सम्भव नहीं रह गया था।

'भाषा' के उत्थान-काल में संस्कृत काव्य-शास्त्र से भाषा के कवि का परिचय आवश्यक, पर कठिन था। संस्कृत के जो विद्वान् 'भाषा' की ओर आकृष्ट और उन्मुख हो रहे थे, वे संस्कृत-साहित्य शास्त्र को भाषा में अवतरित करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे। जहाँ भक्ति-कालीन कवि की साधना 'नाना पुराण-निगमागम' की परम्परा की भाषा में निबद्ध करने लगी, वहाँ संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय धारा भी हिन्दी में आने को अकुला रही थी। हिन्दी के वीरगाथा-कालीन कवियों का तो साहित्य शास्त्र से यत्किंचित सम्बन्ध रहा भी हो, पर निर्गुण भक्तों ने इसका कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया। तुलसी ने 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' लिखकर काव्य-शास्त्र के प्रति भक्त-कवियों के उपेक्षा-भाव की व्यञ्जना की है। 'सुर सरि सम सब कर हित होई' लिखकर उन्होंने लोक-मङ्गल या शिवत्व वाले काव्य-मूल्य की स्थापना की थी। कृष्ण-भक्त-कवियों का कुछ सम्बन्ध साहित्य-शास्त्र

के कुछ सिद्धान्तों से बना रहा। 'रस' और नायिका-भेद इन कवियों की भावात्मक सत्ता का सम्बन्ध हो चुका था। 'बङ्गाल के वैष्णव कवियों के 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल-नील-मणि' जैसे ग्रन्थों में भक्ति-रस का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर हुआ था। हिन्दी में इस पद्धति पर रसाख्यान करने वाले केशव-पूर्व या समकालीन ग्रन्थों में सूरदास की 'साहित्य लहरी' और नन्ददास की 'रसमञ्जरी' जैसी रचनाएँ आती हैं। 'साहित्य लहरी' सूरदास की रचना के रूप में चाहे सन्दिग्ध हो परन्तु इस प्रकरण में उसका महत्त्व कम नहीं होता है। इस प्रकार की रचनाओं में भक्ति की काव्य-शास्त्रीय विवेचना ही प्रेरणा के रूप में व्याप्त है। काव्याङ्गों का प्रयोग तो भक्त कवि सुस्पष्टता के लिए करता था; उसका यह विधान सहज था, प्रतिक्षण पर आधारित नहीं। रीतिकालीन आचार्यत्व की प्रेरणा भक्त-कवियों के साहित्य में नहीं है। पर रीतिकालीन आचार्यों को उदाहरण-रचना सम्बन्धी कवि-कर्म में भक्तिकालीन साहित्य से प्रेरणा और सामग्री अवश्य मिली। साथ ही शृङ्गार की एक सर्व सामान्य मान्यता जो रीतिकाल के कवि और आचार्य में मिलती है, उसका सम्बन्ध-सूत्र भी कृष्ण-भक्ति के माधुर्य पक्ष से जोड़ा जा सकता है। कृष्ण-भक्ति परम्परा में कुछ सम्प्रदाय राधावादी थे, जिनमें उद्दाम शृङ्गार का निरूपण । रीतिकालीन आचार्यों के कवि-कर्म पर इनका प्रभाव स्पष्ट था।

१. हिन्दी के आचार्यों की परम्परा—

शिवसिंह सरोज हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास माना जाता है। इसके लेखक श्री शिवसिंह सेंगर के अनुसार हिन्दी का सर्व प्रथम आचार्य पुष्य नामक कवि था।[1] यह सातवीं शती में था। ग्रियर्सन ने सरोज के अधार पर ७१३ ई० में उपस्थित माना है। शुक्ल जी प्रभृति विद्वानों ने इस उल्लेख को अप्रामाणिक माना। साथ ही इनकी रचना भी उपलब्ध नहीं है। वस्तुत: 'टाड' ने अपने 'राजस्थान' ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है वहीं से शिवसिंह सेंगर ने इसे लिया है यह भी कम ही विश्वास योग्य है कि सातवीं-आठवीं शती में भाषा में दोहों की यह रचना किसी कवि ने की हो। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह कोई अपभ्रंश का कवि होगा।[2] शुक्लजी ने केशव-पूर्व आचार्यों में कृपाराम को माना है। जिनकी रचना हित तरङ्गिणी प्रसिद्ध है। इस पुस्तक की ओर सर्व प्रथम रत्नाकर जी ने ध्यान आकर्षित किया।[3] पुस्तक में रचना-काल सं० १५९८ वि० दिया हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस पुस्तक को उतना पुराना नहीं मानते

---

१. उन्होंने लिखा है : सम्वत सात सौ सत्तर वि० में राजा 'मान' अवन्तीपुर का बड़ा पण्डित और अलङ्कार विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्य भाट ने प्रथम संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाये। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।"

२. हिन्दी साहित्य, पृ० ८

३. भारत जीवन प्रेस से सं० १९५२ (१८९५ ई०) में यह प्रथम बार छपी।

हैं।[1] अलङ्कार विषय पर गोपा की 'अलङ्कार-चन्द्रिका' और 'करनेस' की 'कर्णा-भरण' नामक रचनाएँ केशव से पूर्व की मानी जाती हैं। डा० भगीरथ मिश्र ने गोपा को गोप कवि से भिन्न मानकर उसे पीछे का सिद्ध किया है। करनेस की रचनाएँ अप्राप्य हैं। अतः केशव ही हिन्दी के सर्व प्रथम आचार्य ठहरते हैं। उनसे पूर्व नायिका भेद पर साहित्य-लहरी, रसमञ्जरी और रहीम की बखै नायिका भेद रचनाएँ अवश्य मिलती हैं। इनके पीछे प्रेरणा भक्ति की है आचार्यत्व की नहीं। रसिकप्रिया में भक्ति की दृष्टि से नहीं, काव्य-शास्त्र की दृष्टि से रस-निरूपण किया गया है। कवि-प्रिया शुद्ध कविशिक्षा-ग्रन्थ है। इसका बीज-वपन रसिकप्रिया से भी पहले हो गया था। रामचन्द्रिका भी एक छन्दागार है। डा० बड़थ्थवाल ने इसे छन्दों का अजायब-घर कहा है।

केशव के पश्चात् हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा अनवरत चलती रही। डा० ओ३म् प्रकाश ने इस परम्परा के सम्बन्ध में लिखा है: 'केशव से रामदहिन मिश्र तक चार सौ वर्ष का अपार साहित्य है जिसके रचयिता असंख्य हैं। कदाचित ही कोई ऐसा मण्डल हो जहाँ किसी भी व्यक्ति ने काव्य-शास्त्र पर कुछ न लिखा हो और कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्यिक परिवार हो जिसके पूर्व पुरुषों में से कोई भी उस बहती गङ्गा में एक डुबकी न लगा गया हो। अभी पर्याप्त खोज नहीं हुई फिर भी यावत् प्रयत्न से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य हिन्दी [ब्रज भाषा] की एक अनन्य विशेषता है और जिस मात्रा में इस साहित्य की सृष्टि हुई थी, उस मात्रा में किसी अन्य साहित्य की नहीं।'[2] इस सुदीर्घ और सुसम्पन्न परम्परा की प्रमुख कड़ियों को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—

अ. प्राचीन परम्परा के आचार्य और उनकी रचनाएँ प्रथम विकास-स्थिति को प्रकट करते हैं :

पुष्य	?
कृपाराम	हित तरङ्गिणी
गोपा	राम भूषण
नन्ददास	रसमञ्जरी
करनेस	करणाभरण, श्रुतिभूषण, भूप भूषण
रहीम	बखै नायिका भेद
केशव	कविप्रिया, रसिकप्रिया, छन्दमाला

केशव के बाद इस परम्परा के विकास में गति आती है। परिणामतः परिमाण में भी वृद्धि होती है और निरूपण-पद्धति भी अधिक प्रौढ़ और स्पष्ट होती जाती है। इस

१. हिन्दी साहित्य, पृ० २६५
२. भावना और समीक्षा, पृ० १००-१०१

विक ति के प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ हैं : सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारी-दा ह, पद्माकर आदि ।

आधुनिक युग तक यह परम्परा चलती आई है । इस युग में कुछ आचार्यों ने लक्षण उदाहरण शैली में रचनाएँ लिखीं और कुछ विद्वानों ने काव्य-शास्त्र विचारात्मक, व्याख्यात्मक और अनुसन्धानात्मक सरणियाँ प्रस्तुत कीं । आधुनिक युग के आचार्यों और विचारकों की सूची डा० ओ३म् प्रकाश ने इस प्रकार दी है :

(क) वर्ग—प्राचीन पद्धति पर लक्षण-उदाहरण शैली के आचार्य

अ. उपवर्ग—समस्त साहित्य-शास्त्र के व्याख्याता : कविराज मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि ।

आ. उपवर्ग—अलङ्कार के व्याख्याता : भगवानदीन 'दीन', अर्जुनदास केडिया आदि ।

इ. उपवर्ग—रस के व्याख्याता : अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ।

ई. उपवर्ग—अन्य अङ्गों के व्याख्याता ।

(ख) वर्ग—विचारात्मक (अनुसन्धान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले

अ. उपवर्ग—समस्त काव्य-शास्त्र के विवेचक : डा० गुलाब राय, डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, प्रो० बल्देव उपाध्याय ।

आ. उपवर्ग—अलङ्कार विवेचक : डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' आदि ।

इ. उपवर्ग—रस-विवेचक—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० भगवानदास, डा० गुलाबराय, डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ।

ई. उपवर्ग—अन्य अङ्गों के विवेचक : श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि रीतिकालीन परम्परा गिरती-पड़ती आधुनिक युग तक चली आई है । आधुनिक युग में रीतिकालीन या संस्कृत काव्य-शास्त्रीय समीक्षा का मनोविज्ञान के प्रकाश में पुनरुत्थान और पुनराख्यान भी हुआ ।

२. रीतिकालीन आचार्य और राज्याश्रय—

सदैव से शास्त्राचार्यों को राज्याश्रय प्राप्त होता रहा है । उपनिषदों के युग में राजाओं के प्रश्रय में दार्शनिक विद्वान् सत्यानुसन्धान में रत रहते थे । वैदिक सूचियों में 'नाराशांसियों' और 'प्रशस्तियों' का उल्लेख मिलता है ।[1] देवताओं की विजय की प्रशस्तियों से सम्बन्धित मन्त्र तो वेदों में मिलते ही है । राजशेखर ने 'काल मीमांसा' में अनेक आश्रयदाता राजाओं का उल्लेख किया है । आश्रयदाता को मनोविनोद मिलता था और उसे अपने अमरत्व की सम्भावना भी इन कवियों के कर्म में दिखलाई पड़ती थी । बाणभट्ट के आश्रयदाता हर्ष स्वयं कवि थे; भोजराज तो अपने साहित्य-शास्त्रीय प्रभूत पाण्डित्य के लिए सदैव ही अमर रहेंगे । इस प्रकार साहित्याचार्यों और प्रशस्ति-गायक कवियों के राज्याश्रय की दीर्घ परम्परा मिलती है ।

मध्यकाल में राजनैतिक समस्याओं से अपेक्षाकृत मुक्त होकर मुसलमान

१. Macdonell and Keith, Vedic Index I. P. 443.

बादशाहों ने और अत्रकाग प्राप्त पराजित हिन्दू राजाओं तथा सामन्तों ने काव्य शास्त्र के संरक्षण और पुरुत्थान में सक्रिय रुचि ली। भाषा के ही नः संस्कृत के काव्याचार्यों को भी प्रश्रय मिला। नीचे की सूची से यह स्पष्ट हो जाता है

आचार्य	आश्रय-दाता
१. भानुकर (भानुदत्त)	शेरशाह (निजामशाह)
२. पण्डित राज जगन्नाथ	शाहजहाँ (आसफखाँ)
३. चतुर्भुज	शायस्ताखाँ (औरङ्गजेब)
४. लक्ष्मीपति	मुहम्मदशाह

इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है; इन मुसलमान आश्रयदाताओं ने स्वयं भी काव्य-शास्त्र के परिवर्द्धन में योगदान दिया। मुगलों से पूर्व भी राज्याश्रय की परम्परा मिलती है। संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी के आचार्यों को भी मुस्लिम संरक्षण प्राप्त था। केशव-पूर्व आचार्यों का प्रामाणिक विवरण आज तक अप्राप्य है। फिर भी पुष्य कवि राजा मान के आश्रित था ऐसा माना जाता है। केशवदास जी का सम्बन्ध यद्यपि ओरछा के राजवंश से था फिर भी जहाँगीर से भी उनका गहरा सम्बन्ध इतिहास-प्रसिद्ध है। केशव के परवर्ती आचार्यों को भी किसी हिन्दू या मुसलमान राजा का आश्रय प्राप्त रहा था। प्रमाण स्वरूप से लिखित सूची को देखा जा सकता है—

सुन्दर कवि	शाहजहाँ
चिन्तामणि	मकरन्दशाह (नागपुर)
महाराज जसवन्तसिंह	स्वयं मारवाड़ नरेश
मतिराम	भावसिंह (बूँदी)
बिहारीलाल	जयसिंह (जयपुर)
भूषण	शिवाजी
कुलपति मिश्र	महाराज रामसिंह (जयपुर)
सुखदेव मिश्र	राजा भगवन्तराय खींची
देव	कई आश्रयदाता विशेषतः राजा भोगीलाल
कालिदास त्रिवेदी	जालिम जोगाजीत (बीना)
सोमनाथ	प्रतापसिंह (भरतपुर)
भिखारीदास	हिन्दूपति सिंह (प्रतापगढ़)
रघुनाथ	बरिवंढ सिंह (काशी नरेश)
पद्माकर	जगतसिंह (जयपुर)
रतन कवि	फतहशाह (श्रीनगर–गढ़वाल)
वेनी प्रबीन	ललमजी, लखनऊ नवाब के मंत्री के आश्रित
प्रतापसिंह	विक्रमसाहि (बुन्देलखण्ड)

इस प्रकार रीतिकाल के प्रायः सभी काव्याचार्यों को हिन्दू या मुस्लिम राज्याश्रय प्राप्त था। शाहजहाँ ने तो विविध कलाविदों को आश्रय देकर अपनी कीर्ति को उज्ज्वल किया। राजाओं और बादशाहों ने नहीं उनके अमीर उमराओं ने भी कवि और आचार्यों को राज्याश्रय दिया।

स्वयं राजाओं एवं राजकुमारों ने काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन कर के रीतिकालीन आचार्यों में स्थान पाया। इनमें मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह, नरवर गढ़ के राजा रामसिंह, तिरवा नरेश यशवन्तसिंह, अमेरी नरेश भूपतिसिंह का नाम उल्लेखनीय है। मुसलमानों ने भी रीतिकालीन आचार्यत्व को समृद्ध बनाने में सहयोग दिया। सय्यद गुलामनवी "रसलीन" तथा याकूब खान के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ आचार्य भक्त थे जिनका सम्बन्ध किसी न किसी भक्ति-सम्प्रदाय से था। विवरण से यह सिद्ध होता है कि रीतिकाल के काव्याचार्यों को अपने आचार्य-कर्म के सम्पादन के लिए पर्याप्त संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ इससे रीतिकालीन आचार्यत्व में भौगोलिक विस्तार भी आया और परिमाण में भी वृद्धि हुई।

३. हिन्दी के आचार्यों का वर्गीकरण—

संस्कृत में कुछ आचार्य उद्भावकों की श्रेणी में आते हैं जिन्होंने स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्तों की उद्भावना की अथवा स्वतंत्र काव्य-सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन किया। भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन और कुन्तक जैसे आचाय इस श्रेणी में आते हैं। इन आचार्यों के सिद्धान्त-सूत्रों की व्याख्यात्मक टीकाएँ और विशद भाष्य लिखने वाले आचार्य व्याख्याताओं की कोटि में आते हैं। मम्मट और विश्वनाथ इस वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। तीसरी कोटि कवि-शिक्षक-आचार्यों की है। इनकी साधना सरस और सुबोध काव्य-शास्त्रीय पाठ्य ग्रन्थ प्रस्तुत करने की थी। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र और भानुदत्त इस कोटि के आचार्यों में उल्लेखनीय हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार हिन्दी के आचार्य उक्त प्रथम श्रेणी में नहीं आ सकते। सर्वाङ्ग निरूपक आचार्य दूसरी कोटि में आते तो हैं पर सूक्ष्म व्याख्यान के अभाव में वे भी इस कोटि में आने के लिए पूर्ण अधिकारी नहीं कहे जा सकते अन्ततः वे तीसरे वर्ग में ही स्थान पा सकते हैं। उनका कार्य संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था।[1]

हिन्दी के आचार्यों को विषय की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : रसाश्रयी आचार्य, अलङ्काराश्रयी आचार्य, सर्वाङ्ग निरूपक आचार्य, तथा पिङ्गलाचार्य। सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों का रीतिकालीन आचार्यत्व में सर्वोच्च स्थान मानना चाहिए। इनको संस्कृत काव्य-शास्त्र की दीर्घ परम्परा से विद्वतापूर्ण परिचय था। केशव और चिन्तामणि इसी में आते हैं। रस-निरूपक आचार्य आचार्य

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास-षष्ठ भाग पृष्ठ ४६७

तीन प्रकार के थे : सर्व रस-निरूपक आचार्य, शृङ्गार-निरूपक आचार्य और नायक-नायिका भेद वाले आचार्य। सर्व रस-निरूपक आचार्यों में केशव, देव, दास और ग्वाल प्रमुख हैं। मतिराम और सोमनाथ शृङ्गार-निरूपक आचार्य थे।

डा० ओमप्रकाश ने रीतिकालीन आचार्यों के दो प्रकार माने हैं : "एक तो वे जो किसी सम्प्रदाय के जन्मदाता हों, वर्गीकरण की प्रणाली निकालें, नए अलङ्कारों की उद्भावना करें या लक्षणों द्वारा पुराने अलङ्कारों के क्षेत्र में सङ्कोच-विस्तार परक योग दें......केशव ऐसे ही आचार्य हैं। आचार्यों की दूसरी श्रेणी भी है इसमें दूसरों का निर्भ्रान्त ज्ञान-अर्जन करके उसे पाठकों के लिए सहज तथा सुबोध बनाने की क्षमता होनी चाहिए। हिन्दी के अधिकांश आचार्य इसी पद के अभिलाषी थे। कुलपति मिश्र का इस वर्ग में बहुत ऊँचा स्थान है।"[1]

शुक्लजी ने स्रोत के आधार पर वर्गीकरण किया था : चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के आधार पर लिखने वाले आचार्य एवं काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण के आधार पर लिखने वाले आचार्य। नगेन्द्र जी ने कुछ आचार्यों की शैली को चन्द्रालोक शैली और दूसरों की शैली को काव्य-प्रकाश शैली कहा है। शैली की दृष्टि से भी रीतिकालीन आचार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है : [१] एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण का समावेश करने वाले [चन्द्रालोक शैली] : [२] लक्षण के लिए अलग और उदाहरण के लिए अलग छन्द रचने वाले [काव्य प्रकाश शैली] एवं [३] लक्षण के अनन्तर ऐसा वर्णन करने वाले जिसमें उदाहरण भी बन सके [विद्यानाथ के प्रताप रुद्र के यशोभूषण से प्रभावित]। दूलह ने एक चौथी शैली अपनाई है : एक साथ लक्षण देकर एकत्र उदाहरण देना।

४. हिन्दी के आचार्यों के सामग्री-स्रोत—

कुछ आचार्यों ने सामग्री, प्राचीन उद्भावक आचार्यों से ली और कुछ ने अपनी सीमाओं के कारण व्याख्याता आचार्यों के ग्रन्थों को अपना उपजीव्य बनाया। कृपाराम ने अपना स्रोत भरत का नाट्य-शास्त्र माना है।[2] कृपाराम ने नायिका-भेद को १० प्रकारों में विभक्त किया है। इससे भानुदत्त का भी आधार स्पष्ट हो जाता है। नन्ददास ने अपने 'रस मञ्जरी' नामक नायिका-निरूपक ग्रन्थ के लिए भानुदत्त की रस-मञ्जरी से ही सामग्री ली है।[3] आगे के नायिका-निरूपक आचार्यों ने भी इसी स्रोत को प्रायः अपनाया।

रीतिकाल के आद्याचार्य केशवदास ने अपनी विद्वत्ता और सामर्थ्य का परिचय देते हुए उद्भावक आचार्यों को ही अपना आधार बनाया। उन्होंने मुख्यतः भामह, दण्डी, उद्भट जैसे अलङ्कारवादी आचार्यों से सामग्री ली। मम्मट और विश्वनाथ जैसे

१. हिन्दी अलङ्कार साहित्य—पृष्ठ ११९

२. कृपाराम यों कहत हैं, भरत ग्रन्थ अनुमान।

३. पं० उमाशङ्कर शुक्ल, 'नन्ददास ग्रंथावली' प्रथम भाग, (प्रथम संस्करण) पृ० ९३

ग्राहक और समन्वयवादी आचार्यों की व्याख्यात्मक शैली इनको सन्तुष्ट न कर सकी। पर आगे के आचार्य केशव का बहुधा अनुगमन न कर सके।[१] वस्तुतः आगे के अधिकांश आचार्य संस्कृत के इतने विद्वान् नहीं थे कि आचार्यों के मूल-सिद्धान्तों को लेकर निरख-परख कर सके। इनके लिए पीछे के व्याख्याता आचार्यों का सरल मार्ग ही अनुकरणीय था। चिन्तामणि ने संस्कृत के विविध ग्रंथों को अपने आधार-स्रोत के रूप में घोषित किया।[२] देव ने अवश्य प्राचीन आचार्यों से अलङ्कार-निरूपण में सहायता ली। सम्भवतः दण्डी आदि से केशव के माध्यम से ही उन्होंने सामग्री ली।

अधिकांश अलङ्कार-निरूपक आचार्यों ने 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द को अपना स्रोत माना। जसवन्त सिंह ने चन्द्रालोक[३] और अप्पय दीक्षित का आधार लिया।[४] मतिराम की 'अलङ्कार पञ्चाशिका' का आधार भी चन्द्रालोक ही है। कुमार मणि शास्त्री ने 'काव्य प्रकाश' से सामग्री ग्रहण की।[५] कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' का आधार भी मम्मट का 'काव्य प्रकाश' ही है।[६] सोमनाथ के 'रसपीयूष निधि' के रस-प्रकरण का आधार भानुदत्त की 'रस-तरङ्गिणी' है। इन्होंने अन्य प्रकरणों में विश्वनाथ और मम्मट से भी सामग्री ली है। भिखारीदास के काव्य-निर्णय का आधार मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जयदेव के ग्रन्थों से निर्मित है। 'शृङ्गार-निर्णय' में भानुदत्त एवं रुद्रट के ग्रन्थों एवं कुछ स्थलों पर चिन्तामणि और केशव के ग्रन्थों से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है।[७] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रीतिकाल के प्रमुख आचार्य संस्कृत के मूल उद्भावक आचार्यों की जटिल ऊहापोह से बचने का प्रयत्न करते रहे। रस और नायिका भेद के निरूपण में अधिकांश आचार्य भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' तक ही पहुँच सके। कुछ आचार्य ही भरत का स्पर्श कर सके। कृष्ण-भक्ति साहित्य के रस-निरूपण की छाया भी रीतिकालीन रस-निरूपण पर स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'कामशास्त्र' और 'रस-रहस्य' के प्रभाव की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अलङ्कार-निरूपक आचार्यों ने बहुधा अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द को आधार बनाया। शैली की दृष्टि से 'चन्द्रालोक' विशेष रूप से अनुकरणीय रहा। पीछे के कुछ आचार्यों ने जसवन्तसिंह के 'भाषा-भूषण' से भी सामग्री ली। डा० भगीरथ मिश्र ने स्पष्ट कह दिया है कि केशव तथा उनके कुछ समकालीन आचार्यों ने भामह, दण्डी जैसे आचार्यों को आधार बनाया।

---

१. Dr. Ram Shankar Shukla Rasal, Evolution of Hindi Poetics.

२. जो सुरबानी ग्रन्थ हैं, तिनकों समुझ बिचार।
   चितामनि कवि करत हैं, भाषा कवित विचार॥

३. आचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २९५

४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठभाग, पृ० ३१६

५. काव्य प्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल। [रसिक रसाल]

६. जिते साज हैं कवित के, मम्मट कहे बखान।
   ते सब भाषा में कहे, 'रस रहस्य' में आन॥

७. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठभाग, पृ० ३५८

परवर्ती आचार्यों ने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' से ही सामग्री ली।[1] दोष आदि का निरूपण कम हुआ। इस पर केशव का भी प्रभाव अवश्य पड़ा।

५. हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य—

कृपाराम ने 'हित तरङ्गिणी' की रचना करते समय 'कवि-हित' को उद्देश्य-रूप में सामने रखा।[2] गोपा को सम्भवतः 'भक्ति-भावना और अलङ्कार-प्रेम से' आचार्य-क्रम में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिली। सूर की 'साहित्य-लहरी' निश्चित ही भक्ति-भावना और रसासक्ति से प्रेरित ग्रन्थ है। उद्देश्यतः इसको शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। नन्ददास ने अपने एक मित्र की जिज्ञासा-शान्ति के लिए 'रस-मञ्जरी' की रचना की।[3] साथ ही उनको यह विश्वास भी था कि नायिका-भेद के ज्ञान के बिना प्रेम-रहस्य से कोई भी अवगत नही हो सकता।[4] यहाँ तक उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और द्रावक बनाने की चेष्टा रही। लक्षण-निरूपण को सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता नहीं मिली। करनेस[5] की रचनाएँ तो प्राप्त नहीं है, पर प्राप्त उदाहरणों के आधार पर माना जा सकता है कि इनकी दृष्टि कुछ अधिक शास्त्रोन्मुख रही होगी।

सबसे पहले केशव का उद्देश्य ही शास्त्रोन्मुख दिखलाई देता है। केशव ने ही सर्व प्रथम सभी काव्याङ्गों पर प्रकाश डाला : पिङ्गल भी अछूता न रहा। उनका एक उद्देश्य तो यह था कि काव्य का आनन्द शास्त्रीय पद्धति से लिया जा सके। 'राय प्रवीण' का आग्रह भी प्रायः इसीलिए था। इसके साथ ही 'कवि-प्रिया' में कवि-शिक्षक जैसा उद्देश्य ज्ञापित है : बाला-बालक भी काव्य-शास्त्रीय ज्ञान से वञ्चित न रहें।[6] जिन कवियों के पास अनुभूति की भक्त-कवियों की सी समृद्धि नहीं थी। राज्याश्रय का लोभ और यशैषणा उनको कवि-कर्म की ओर आकर्षित करती थीं। उनको उचित मार्ग-प्रदर्शन के अभाव में कठिनाई का अनुभव होता था। केशव ने उनकी शिक्षा से अपने उद्देश्य का सम्बन्ध जोड़ा। केशव ने पूर्वाचार्यानुमोदित लक्षणों के लिए उदाहरण-प्रत्युदाहरणों की विस्तृत और सरस-योजना की। यह योजना यथा कथित केशव-पूर्व आचार्यों से विशद है। उदाहरणों पर भक्ति-काव्य का प्रभाव स्पष्ट है। केशव का उद्देश्य अन्वाख्यान मात्र था, पूर्व-सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करना नहीं।[7] केशव में भी आचार्य-कर्म से कम ध्यान कवि-कर्म पर नहीं मिलता। चिन्ता-

---

१ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३५

२. 'हित तरंगिनी हौं रची कवि-हित परम प्रकासु।'

३. एक मीत हममों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यों।
अरु जे भेद नाइक के गुने, तेहू मैं नहिं नीके गुने॥

४. बिनु जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।

५. 'मिश्रबन्धु-विनोद' (सं० १९९४) भाग १, पृ० ३२४

६. समुझैं बाला-बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया के सब करौं, छमिबो सब अपराध॥ —कविप्रिया

७. डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ७१

मणि ने अपने को कवि ही कहा है।[1] भिखारीदास का उद्देश्य कविशिक्षापरक नहीं था। रसिकजनों को एक शास्त्रीय दृष्टि प्रदान करने के लिए उन्होंने लक्षण-ग्रंथों की रचना की।[2] रसलीन ने ब्रजभाषा सीखने के लिए ही 'अङ्गदर्पण' की रचना की: 'ब्रजबानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल।' जसवन्तसिंह ने 'भाषा' और 'कविता' के नौसिखियों की दृष्टि से ग्रन्थ-रचना नहीं की। इन्होंने प्रवीण पण्डितों को ध्यान में रखा।[3] केशव ने काव्य-व्यसनी युवक-युवतियों की दृष्टि से कविशिक्षा-ग्रन्थ लिखे। केशव का उद्देश्य अप्पय दीक्षित से मिलता-जुलता है।[4] रसिकप्रिया में रसिकों का ध्यान भी रखा गया है। अप्पय दीक्षित ने लक्ष्य-लक्षण-निरूपण को 'ललित' बनाया। मतिराम ने भी 'ललित ललाम' की कल्पना की। भूषण का उद्देश्य 'शिवराज भूषण में अलङ्कार-निरूपण नहीं अलङ्कारों के माध्यम से, सुनिश्चित अलंकृत शैली में शिवाजी का चरित्र-गायन था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थ किसी उच्च पाण्डित्यपूर्ण उद्देश्य को लेकर नहीं चले। उनका उद्देश्य त्रिविध था: काव्य-रसिकों की रुचि को शास्त्रीय और संस्कृत बना कर, उनके काव्यास्वाद को नियंत्रित करना; नवोदित कवियों को 'अभ्यास' से संस्कृत करने के लिए शिक्षा-ग्रन्थों की रचना करना; और अपने सरस और अलंकृत उदाहरणों की भूमिका प्रस्तुत करना।

कवि या आचार्य के सन्दर्भ में भी रीतिकालीन आचार्य के उद्देश्य को समझा जा सकता है। सबसे पहले तो कवि को सदोष-रचना से बचना चाहिए, क्योंकि सदोष-रचना कवि को समाज में निन्द्य बना देती है।[5] साथ ही कवित्व-सम्पदा की प्राप्ति और अभिव्यक्ति के निखार के लिए विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य-साधना के लिए आवश्यक माना गया है।[6] रुद्रट ने काव्य के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास आवश्यक माने हैं।[7] व्युत्पत्ति शास्त्र-ज्ञान साधित है। इस प्रकार कवि की साधना भी काव्य-शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा रखती थी। साथ ही कविताओं के गुण-दोषों का विवेचन भी लक्षणों के अनुसार होता था। लक्षण देकर कविता कहना एक प्रथा ही हो गई थी।

देव ने एक और ऊँचे आदर्श की ओर सङ्केत किया। भव्यकाव्य की रचना

---

१. चिन्तामनि कवि कहत हैं, भाषा-कवित बिचार।
२. चाहन जानि जु थोर ही, रस-कवित्त को वंश।
 तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हो रस-सारंश॥
३. ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रन्थ नवीन।
 जो पण्डित भाषा निपुन, कविता विषै प्रवीन॥
४. अलङ्कारेषु बालानाम्, अवगाहन सिद्धये।
 ललितः क्रियते तेषां, लक्ष्य लक्षण संग्रहः॥
५. भामह : काव्यालङ्कार, १।११
६. दण्डी : काव्यादर्श, १।१०३
७. काव्यालङ्कार, १।१८

कवि को अमर बना सकती है। 'भव्य' से उनका तात्पर्य निर्दोष कविता से ही है। 'निर्दोष' विशेषण शास्त्रीय निर्दोषता से ही सम्बद्ध है।

रहत न घरबर, धान, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
'जस-सरीर' जग में अमर, भव्य काव्य रस रूप॥

[काव्य रसायन]

इस प्रकार कवि भव्य काव्य के द्वारा यश : शरीर के माध्यम से अमर भी रहना चाहता है। जीवन-काल में कवि अपने कर्म द्वारा सम्मान भी पाता है। उस काल में अलंकृती कवि ही सम्मान-पात्र हो सकता था। इसको दूलह ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

सभा मध्य सोभा लहै अलंकृती ठहराय।[१]

इस दृष्टि से भी अलङ्कार-शास्त्र की रचना आवश्यक हो गई। काव्य-शास्त्रीय उच्च सिद्धान्त तो पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो ही चुके थे। अब तो ऐसे 'लघु प्रयत्नों' की आवश्यकता थी जो 'अलंकृती' बनने के इच्छुकों के लिए काव्य-सिद्धान्तों को सुगम-सरल कर दें। इसीलिए दूलह ने अपने उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया—

दीरघ मत सत्कबिन के, अर्थाशय लघु तर्ण।
कवि दूलह याते कियो, कबि कुल कण्ठाभर्ण॥

इसीलिए इस युग के अधिकांश आचार्य 'अलंकृती' की कोटि में आते हैं। 'दास' ने बड़े विश्वास के साथ कहा कि जो उनके 'काव्य-निर्णय' को कण्ठ कर लेगा, उसकी रचनाओं में सरस्वती का निवास होगा।[२] यदि विधाता कवित्व-शक्ति या प्रतिभा देता है तो 'सुकवियों' से काव्य की 'रीति' समझी जाती है।[३]

इस प्रकार रीतिकालीन आचार्य का उद्देश्य पाठक और नवोदित कवि को सामान्य रूप से परिचित करा देना था।[४] पर यश और सभा-समाज में सम्मान प्राप्त करना भी इनके उद्देश्य में सम्मिलित थे। अर्थ और व्यवहार भी गौण रूप से कवि-आचार्य के मन में रहते थे। संस्कृत के आचार्यों का भी लगभग यही दृष्टिकोण था।[५]

---

१. कविकुल कण्ठाभरण, ४

२. अन्थ काव्य निर्णयहि जो, समुझि करहिंगे कंठ।
सदा बसैगी भारती ता रसना उपकंठ॥

३. सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि, जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी बहुलोक की बातैं॥

४. डा० ओम्प्रकाश, हिन्दी अलङ्कार शास्त्र, पृ० ५१

५. "The two great ends which appeal to them are—the winning of fame, and the giving of pleasure .....No doubt other ends may be had. Bhamah himself mentions skill in regard to duty, practical life, love.......but these are merely subsidiary matters which can be gained by other means and are not therefore worthy of mention." [Keith, History of Sanskrit Literature, P.358]

रसिकों का विनोद भी नहीं भुलाया जा सकता । ठाकुर का यह कथन इस प्रकरण में द्रष्टव्य है :—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि, जो राजसभा में बड़प्पन पावै ।
पण्डित और प्रवीनन कौ, जेहि चित्त हरै सो कवित्त कहावै ।।

दास ने कुछ और आगे बढ़कर इसी प्रकार की बात कही है ।

दास कवित्तन की चर्चा, बुधवन्तन कौ सुखदै सब ठाँई ।

निष्कर्ष—

६. रीतिकालीन आचार्यत्व का मूल्याङ्कन—

रीतिकालीन आचार्य ने अपने उद्देश्य के अनुसार सरसता को सदैव ही बनाए रखना चाहा । सरसता की दृष्टि से संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य से भी प्राकृत-काव्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है । उसमें जीवन्त रस और शृङ्गार अपने स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित है । देव ने इसी दृष्टि से हिन्दी के आचार्य के लिए संस्कृत, प्राकृत और भाषा, तीनों का ही ज्ञान आवश्यक बतलाया—

भाषा, प्राकृत, संस्कृत, देखि महाकबि पंथ ।
देवदत्त कवि रस रच्यौ, काव्य रसायन ग्रंथ ।।

यह तो नहीं कहा जा सकता है कि रीतिकाल का प्रत्येक आचार्य इन तीनों साहित्यों में निष्णात था, पर यह भी निश्चय है कि किसी न किसी प्रकार वह इन परम्पराओं से अवगत अवश्य रहता था । देव ने 'मानुष भाषा' के पाँच मुख्य अङ्ग माने हैं : रस, भाव, नायिका, छन्द और अलङ्कार—

मानुष भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छन्द ।
अलङ्कार पञ्चाङ्ग ये, कहत सुनत आनन्द ।।

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रीतिकालीन आचार्य दृढ़ता पूर्वक किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं होना चाहता था । उसकी दृष्टि मम्मट की भाँति समन्वय-वादिनी थी । इस वातावरण में कला और शिल्प के चमत्कार का आग्रह था और इसी प्रकार की कविताओं का उस युग में सम्मान होता था । हिन्दी के काव्य-शास्त्र के देवोक्त क्षेत्र को देखने से यह प्रतीत होता है कि हिन्दी काव्यशास्त्र, संस्कृत काव्य-शास्त्र के संकुचित अर्थों में चलता रहा । संस्कृत में गुण, दोष, वृत्ति आदि पर भी सूक्ष्म चिन्तन मिलता है । हिन्दी में इन पर विचार करने वाले केशव, दास प्रभृति विचारक तो हैं, पर ये विषय लोकप्रिय नहीं हुए ।

आचार्यत्व के शास्त्रीय पक्ष में भी अधिक ऊँचाइयाँ नहीं मिलतीं । न पुराने सिद्धान्तों का तात्त्विक आलोड़न-विलोडन ही हुआ और न नवीन नियम और सिद्धान्त ही इन आचार्यों ने दिए । उनके सामने हिन्दी का पूर्ववर्ती लक्ष्य साहित्य तो था, पर वे उसको दृष्टि में रख कर नवीन नियम-सिद्धान्त न बनाकर, उनको संस्कृत सिद्धान्तों के अनुसार ढालने का प्रयत्न करते रहे । हिन्दी के आचार्यों के सामने कोई शास्त्रीय

समस्या भी नहीं थी। इनमें खण्डन-मण्डन या तत्त्वान्वेषण की क्षमता और लगन भी नहीं थी। न नवीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा ही मिलती है और न प्राचीन सिद्धान्तों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ही। भिखारीदास ने अवश्य 'भाषा' सम्बन्धी विशेषताओं पर कुछ विचार किया है। मौलिकता के दर्शन तो प्रायः कहीं भी नहीं होते हैं। नवीनता या मौलिकता जहाँ परलक्षित भी है, वहाँ भी उनके लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। नायिका-भेद का भी कुछ विस्तार किया गया है और कल्पित अलङ्कारों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार मौलिकता लाने की चेष्टा विस्तार के द्वारा हुई है। विस्तार वैसे संस्कृत में भी पर्याप्त हो चुका था।

नवीन शास्त्र की सम्भावना भी हो सकती थी : यदि आचार्यगण अपने पूर्व की विशाल काव्य-राशि का विश्लेषण करके 'भाषा' की प्रकृति के अनुकूल एक काव्य-शास्त्र की रचना की ओर उन्मुख हो सकते। पर इस आचार्य ने इस साहित्य की उपेक्षा ही कर दी। लक्षण संस्कृत से लिए तो उदाहरण स्वरचित दिए। उदाहरण-रचना ही वस्तुतः उनके लिए प्रमुख थी।

उदाहरणों की रचना भी रीतिकालीन आचार्य के लिए एक सीमा बन गई।

इस प्रवृत्ति में आचार्य-कर्म और कवि-कर्म का मानसिक संघर्ष मिलता है। इस वातावरण में दोनों ही बाधित हुए। संस्कृत के अधिकांश आचार्य इस संघर्ष से मुक्त हैं। यद्यपि काव्य-साधना फिर भी उत्कर्षोन्मुख रही, पर शास्त्रीय पक्ष शिथिल-तर होता गया।

साथ ही, जो कुछ आचार्य-कर्म इनके लक्षण-निरूपण में दृष्टिगत होता है, वह भी अस्पष्ट और उलझा हुआ है। बाद के कुछ कवियों का संस्कृत-ज्ञान अल्प था। कुछ का शास्त्र-ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं था। पद्य में लक्षणों का विवेचन भी सम्भव नहीं था। लक्षण-निरूपण के लिए छन्द भी बहुत छोटा दोहा ही चुना गया। उसमें विस्तृत और स्वच्छ निरूपण के लिए अवकाश भी नहीं था।

इन दोषों के लिए परिस्थितियों को भी एक सीमा तक उत्तरदायी माना जा सकता है। संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा तो इस समय तक निर्जीव हो चुकी थी। इस समय तक कवि-शिक्षा की परम्परा ही प्रबल थी। भक्ति कालीन साहित्य की भाव-शवलता और अनुभूति-सम्पदा ने काव्य के बाह्यांगों के प्रयोग और निरूपण की ओर एक उदासीनता सी उत्पन्न कर दी थी। इन परिस्थितियों में काव्य-शास्त्रीय परम्परा को इन आचार्यों ने लुप्त होने से बचाया, यही उनके कर्म का ऐतिहासिक महत्त्व है। साथ ही काव्य-रचना के लिए इन्होंने पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की और साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी प्रदान की। सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न आश्रयदाता को ही आकर्षित कर सकता था और न उतना आवश्यक ही रह गया था। इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत रीतिकालीन आचार्यों का मूल्याङ्कन करना चाहिए। इन्होंने शुष्क शास्त्रीयता को सरसता प्रदान करके नवोदित कवियों को इसकी ओर आकर्षित किया। किसी प्रादेशिक भाषा में

उस काल में यह कार्य नहीं हुआ। आज भी आज की आलोचना और संस्कृत की सैद्धान्तिक आलोचना के बीच पुल बनाने का कार्य इसके माध्यम से होता है। साथ ही उस काल में जहाँ अन्य शास्त्रों का पुनरुत्थान और पुनरावर्तन हो रहा था काव्य-शास्त्र का भी पुनरुत्थान रीतिकालीन आचार्य के हाथों हुआ। इस आचार्यत्व का एक और महत्त्व यह है कि रीतिकालीन कला को प्रौढ़ि और विस्तृति इमने प्रदान की। समस्त शैली अलंकृत हो उठी और समस्त भाव रस-सिक्त हो गये। 'अलङ्कारों के उदाहरणों में रस छलक रहा है और रस की चर्चा अलंकृत है।'[1] इसीलिए यह कहना अत्युक्ति न होगी कि रीति कवि रसिकता में आकण्ठ निमज्जित था परन्तु उसका आचार्यत्व अप्रौढ़ था।

१८

रीतिकालीन काव्य : कवि, युग एवं सामान्य विशेषताएँ

१. सुधारवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत रीतिकाल की आलोचना प्रवृत्ति
२. रीतिकाल का कवि-कर्म
३. आश्रयदाता सामन्त की कुण्ठागत परिस्थिति एवं भक्ति-काल की प्रक्रिया का प्रभाव
४. रीति-स्वरूप तथा रीतिकाल की सामान्य विशेषताएँ
५. रीतिकालीन प्रतिपाद्य—नायिका भेद—संयोग-वियोग, सुरत चित्रण—हास-परिहास एवं प्रकृति दर्शन
६. शृङ्गारेतर साहित्य—भक्ति और नीति, वीर रस, ज्ञान संग्रह—कोष आदि तथा निर्गुण शैली—सूफी शैली
७. रीतिकाल-कलापक्ष-काव्यरूप-शैली, भाषा-शब्द-योजना, चित्र-योजना, अलङ्कार-योजना
८. निष्कर्ष

द्विवेदी युगीन नैतिकता और आदर्शवाद से प्रेरित आलोचक सामान्यतः रीति-काल की उपेक्षा और भर्त्सना करते रहे है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी के

---

१. डा० ओ३म् प्रकाश, भावना और समीक्षा, पृ० १०३

काव्य-सौन्दर्य एवं तुलसी के लोक-मङ्गल में इतने उलझ गए कि पूर्ववर्ती कबीर आदि निर्गुणियों तथा परवर्ती रीतिकालीन कवियों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके। रीतिकालीन साहित्य में उन्हें जीवन की उन आधार-भूमियों के दर्शन नहीं होते जो सामाजिक आदर्शों और आप्त नैतिकता का समर्थन पा सकें। पद-पद पर पतन और आदर्श-च्युतियाँ देखने वाले वे आलोचक रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धियों का सम्यक् परीक्षण न कर सके। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की कला की बारीकियों को अवश्य देखा। लाला भगवानदीन की शास्त्रीय दृष्टि भी कुछ समझने-समझाने को मचलती रही, पर उसके कला-पक्ष का ही उद्घाटन कर सकी। पं० रामचन्द्र शुक्ल, मतिराम और घनानन्द की सुरुचि और सूक्ष्मता से मुग्ध तो होते रहे पर, तुलसी की आदर्शवादिता से अभिभूत वे रीतिकालीन साहित्य को अपनी सहानुभूति न दे सके। केशव पर तो उनकी विशेष कुदृष्टि रही। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल की कला को कुछ सहानुभूति से देखा और मूल्याङ्कन की आवश्यकता और सम्भावना को बल दिया। रत्नाकरजी के द्वारा भी इस युग का कुछ मूल्याङ्कन हुआ था। आदर्शवादी आलोचक कुछ कवियों को छोड़ कर शेष सभी कवियों को भाव-पक्ष की दृष्टि से हृदय-हीन कहता रहा और उनकी कला में प्रयत्न की सघनता और असङ्गतियों की खोज में ही लगा रहा। इन रीति-कवियों के आचार्यत्व को अस्पष्ट और भ्रामक कह कर टाल दिया गया।

१९ वीं तथा बीसवीं शती में बुद्धिवादी विकास-विस्तार हुआ। इसने एक ओर तो नवीन शक्तियों की खोज-शोध की प्रेरणा दी, दूसरी ओर पुराने युगों पर भी नवीन प्रकाश को केन्द्रित करके विस्मृत जीवन-तत्त्वों और अप्रकट जीवन-छवियों को देखने-समझने की पद्धतियाँ भी दीं। आलोचना की सरणि एवं श्रेणियों को नवीन आयाम भी मिले। यदि एक दृष्टि से किसी साहित्य का मूल्याङ्कन एक प्रकार के निष्कर्षों की प्रेरणा देता है, तो अन्य प्रकारों से भी उसका अध्ययन सम्भव है। जिन रूपों की किसी कारण से उपेक्षा हुई है, उन्हें एक बार फिर भी निरखा-परखा जा सकता है। हो सकता है किसी पूर्वाग्रह के कारण कोई तत्त्व अप्रकट ही रह गए हों। वर्तमान युग में मेघनाद, रावण, कैकेयी जैसे निकृष्ट माने जाने वाले पात्रों पर भी पुनर्विचार हुआ तथा नवीन दृष्टि को बल मिला इसी प्रकार आज के शोधक और समालोचक का ध्यान रीतिकाल के पुनर्मूल्याङ्कन पर भी केन्द्रित हुआ। डा० नगेन्द्र ने रीतिकाल सम्बन्धी इस उपेक्षा को समझा : 'हिन्दी में रीति-काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी युग के आलोचकों ने इस कविता को नीतिभ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि-लेखक इसको अति-ऐन्द्रिय और स्थूल कह कर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवाद की अभिव्यक्ति मान कर प्रतिक्रियावादी कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न

किया है—अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्न पूर्वक बचाया है।"[१] इसी प्रकार अन्य कवियों के साथ भी अन्याय हुआ। केशव को और भी करारे प्रहारों का सामना करना पड़ा। डा० विजयपालसिंह ने अपने 'केशव और उनका साहित्य' के प्राक्कथन में लिखा है : "एक वैज्ञानिक शोध में पूर्वाग्रहों को स्थान नहीं है किन्तु थोड़े-बहुत पूर्वाग्रहों से कोई बच भी कैसे सकता है। मुझमें भी पूर्वाग्रह रहा है, किन्तु कुछ भिन्न प्रकार का। अपने विद्यार्थी जीवन में मैंने केशव की विभिन्न प्रकार की आलोचनाएँ पढ़ी थीं। वे सब पढ़ कर बुद्धि का भ्रान्ति में पड़ना बड़ा ही स्वाभाविक था......एक शङ्का मेरे हृदय में सदा उठती रही है कि केशव के परवर्ती दो सौ वर्षों में केशव का जैसा सम्मान रहा; आधुनिक युग में आकर वह समाप्त क्यों हो गया ? उनके मानदण्ड आज से सर्वथा भिन्न थे।......आज का युग जो उन मानदण्डों से अधिक सहानुभूति नहीं रखता, केशव के महत्त्व का तिरस्कार करता है।......इस महत्त्व-तिरस्कार में आधुनिक आलोचकों में सहानुभूति तत्त्व का अभाव है। केशव के युग को, उसकी परम्परा को तथा उस युग एवं परम्परा के मानदण्डों को अपनाकर सहानुभूति के साथ यदि फिर से उनके साहित्य की परख की जाय, तो निश्चय ही निर्णय केशव के पक्ष में निकलेगा।" वास्तव में नवीन आलोचकों तथा उनका, मानदण्डों को अन्धाधुन्ध प्रयुक्त करने की रूढिवादिता के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इसमें वह सहानुभूति भी थी जो एक आहत के प्रति हो जाती है। इसका आधार मात्र भावुकता नहीं, बौद्धिक परीक्षण की इच्छा भी है। इस प्रकार रीतिकालीन साहित्य और रीतिकालीन साहित्यिक के पुनराख्यान की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

१. रीतिकाल के कवि का व्यक्तित्व—

रीतिकाल का कवि राज्याश्रित था। राजा, कुछ अपवादों को छोड़कर, पराजित और विलासी था। उसके दरबार में विलास-सहायक सामग्री की भीड़ होने लगी थी, कलाविद अपनी कला को विलास के उपयुक्त बना रहा था। वेश्या पर केन्द्रित राग-रङ्ग चलता था। इन्हीं में कवि भी अपना योग देता था। उसे पराजय से क्षत-विक्षत राजा के अहं को प्रशस्ति से सहलाना था। अपनी कविता से राजा की काव्य-विलास-क्रियाओं को उत्तेजित करना था। उन क्रियाओं के चित्र प्रस्तुत करके उसके अवकाश के शून्य को भरना पड़ता था। पतन और निष्क्रिय अवकाश के इस युग में शैली और काव्य का बाह्य रूप जटिल और चमत्कार-पूर्ण होता गया। उस कवि की समस्त प्रातिभ-साधना शैली की नवीन भंगिमाओं और चमत्कृतियों की खोज और उनके प्रयोगों में लगती थी। कवि मात्र कवि ही नहीं था उसका बहुविध उपयोग आश्रय-दाता करना चाहता था। अनेक शास्त्रों का भार उसे ढोना पड़ता था। शास्त्र की व्यवस्था भी समय-समय पर उसे देनी पड़ती थी। फलत. वह बहुज्ञ और शास्त्रज्ञ भी था। राजनैतिक पचड़ों में भी उसे पड़ना पड़ता था। कहीं-कहीं वह राजगुरु भी था।

१. रीतिकालीन कविता और देव, डा० नगेन्द्र

इस प्रकार इस युग के कवि का व्यक्तित्व अनेकविधि भाराक्रान्त था। इस जटिल व्यक्तित्व को भक्ति कवि के व्यक्तित्व के साथ रख कर देखें, तो आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है।

दरबार में कवि को प्रतिस्पर्द्धा का सामना भी करना पड़ता था। एक ओर हास-विलास-मयी वेश्या उसकी स्पर्द्धा में थी। आश्रयदाता की विलासिनी वृत्तियों को अधिक सन्तुष्ट करने की क्षमता वेश्या स्वभावतः रखती थी। नायिकाओं और वार-विलासिनियों का उपयोग और आदान-प्रदान राजनैतिक क्षेत्र में भी चलता था। दूसरी ओर चित्रकार, सङ्गीतकार आदि अनेक कलाविद कवि से होड़ किए बैठे थे। इस प्रतियोगिता के पीछे जो आर्थिक अभिप्राय थे, उनके कारण संघर्ष जटिलतर होता गया। एक राज्याश्रय-प्राप्त कवि अन्य अनेक कवियों की ईर्ष्या का पात्र स्वभावतः बन जाता था। इस प्रकार आर्थिक अभिप्रायों और विलास-जन्य माँगों से प्रेरित एक जटिल प्रतियोगिता में कवि को रहना पड़ता था।

कवि का अन्तर्मन इस सबसे स्वयं आहत था। जिस प्रशस्ति का वह गायन करता था, उसमें सत्यांश न रहने से सबके लिए हास्य की सामग्री उपस्थित हो जाती थी। कवि को अपनी प्रतिभा के इस दुरुपयोग से कोई हार्दिक सन्तोष-लाभ नहीं होता था। वह प्रशस्ति जैसे स्वयं उस पर एक व्यंग्य के रूप में प्रहार करती थी। इससे बचने के लिए कभी-कभी उसे राजा के पूर्व-पुरुषों की वीरता की प्रशस्ति भी करनी पड़ती थी। उसका कार्य यह भी हो गया कि राजवंश का लेखा-जोखा भी उसे रखना पड़ता था। कभी-कभी राजा यह सब भी सुनता था। जो शृाङ्गारिक रचनाएँ उसे करनी पड़ती थीं, उनमें कवि की अनुभूति का आवेश और उसकी अभिव्यक्ति की विवशता उतनी नहीं थी, जितनी आर्थिक विवशता विद्यमान थी। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नया विधान करना पड़ता था। विलास की क्रियाएँ तो वही रहती थीं। इस स्थिति में चमत्कार-गत नवीनता लाने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता था। किसी दूसरे के लिए, किसी दूसरे के शृङ्गार-विलास के चित्र खींचते-खींचते कवि उकता जाता था। इसमें उसकी वृत्तियों की तुष्टि के लिए प्रत्याशित प्रशंसा और वाह-वाह के अतिरिक्त क्या था। शास्त्रीय दृष्टि से चमत्कार-पूर्ण शैली की रचना में उसकी बुद्धि का ही व्यापार प्रमुख था। बुद्धि-व्यापार भी थक कर अत्युक्ति और अतिशयोक्ति की शरण लेता था—स्वाभाविकता से नितान्त दूर। शृङ्गार इस प्रक्रिया में अनुभूति जन्य नहीं, स्थायी शास्त्रीय नियमों और उपकरणों की ऊहापोह का परिणाम मात्र था। ये रूढ़ उपकरण सभी प्रतियोगी कवियों को प्राप्त थे। अतः शैली को चमत्कार-पूर्ण, नवीन विधान प्रदान करने में भी प्रतियोगी कवि का भय लगा रहता था। तब न जाने क्या-क्या उलट-फेर करने पड़ते थे। इस समस्त कार्य-व्यापार में कवि का व्यक्तित्व उन्मुक्त और अनुभूति-संकुल न रह सका। वह भारवाही बन गया। इस संक्षिप्त विवरण से रीतिकालीन कवि का व्यक्तित्व और उसके कवि-कर्म की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। राज-रुचि, आर्थिक प्रतियोगिता, शास्त्र-ज्ञान और कवि-कर्म की बाह्य विवशता से कवि का व्यक्तित्व जर्जर हो उठा था।

जिस वेश्या से कवि का संघर्ष था, उससे कभी-कभी उसकी आत्मीयता भी हो जाती थी। केशव ने 'राय प्रवीण' को अमर बना दिया। जहाँ लक्षणों के उदाहरणों के रूप में इन्द्रजीत के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ रायप्रवीण को भी छोड़ नहीं दिया गया है। आनन्दघन वैसे रीतिकालीन परिधि में आने वाले भक्त कवि थे, पर वे भी एक वेश्या से प्रेरणा ग्रहण करते थे। 'सुजान' का सौन्दर्य प्रेरणा बनकर उनके समस्त दर्द भरे काव्य में समा गया। एक किम्वदन्ती चलती है : एक बार बादशाह ने इनसे गाने के लिए कहा। इन्होंने नहीं गाया। तब इनकी प्राणाधिका प्रिया सुजान ने गाने का संकेत किया और संकेत मात्र पाकर ये गाने लगे। बादशाह इनसे असन्तुष्ट हो गया। जब वृन्दावन में रह कर ये भक्ति रस की कविता करने लगे तब भी सुजान को न भुला सके। वही 'सुजान' शब्द कृष्णवाचक होकर यहाँ उदात्त बन गया। इनके अन्तिम छन्द में भी सुजान के लिए संदेश निहित है—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरे हैं भरे हैं उठिजान कों।
कहि कहि आवत छबीले मन भावन कों,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान कों।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कैं,
अबना घिरत 'घन आनँद' निदान कों।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसौ लै सुजान कों॥

बिना लौकिक संस्पर्श के शुद्ध भक्ति-काव्य में भी आवेश और आवेग नहीं आ सकता। इस प्रकार के स्वाभिमानी कवि तो मिलते ही है। 'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा' और 'अलीकली ही सों बँध्यौ' कह कर सामन्त को जगाने वाले कबि भी थे, पर अत्यन्त विरल। अधिकांश सामन्त के हाथों बिक गये थे। उनमें उस शक्ति का अभाव हो गया कि 'प्राकृत जन गुन गान' न करके अपनी कला को स्वच्छन्द रख सकें और अवसर पड़े तो 'संतनु कहा सीकरी सों काम' कह कर लक्ष्मीपतियों की उपेक्षा कर सकें।

२. सामन्त काव्याश्रितत्व और कविता का वातावरण—

सामन्त का मानस क्षत-विक्षत था। उसमें न आध्यात्मिक ज्योति रह गई थी और न स्वाभिमान की ऊर्जस्विता। निष्प्रभ सामन्त अनेक दिशाओं में क्षति-पूर्ति खोज रहा था। अन्तर की ग्रन्थि जटिल थी। सत्ता के समाप्त हो जाने पर कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्य का प्रदर्शन मात्र रह गया था। वैभव-विलास के काल्पनिक और सम्भावित चित्र या विविध हाव-भाव-कुशला नारियों के चित्र उनको अपनी कसक भुलाने के क्षतिपूरक उपकरण बन सकते थे—बने भी। सामन्त के आसपास ऐसा वातावरण इस काल के कवि ने प्रस्तुत कर दिया : "सरदारों के निवास-स्थान अद्वितीय और अतिशय मनोरम थे। उनके अभ्रभेदी विशालभवन वैभव विलास से दीप्त थे।...राज-

मार्गों की नयनाभिराम झाँकी लेने के लिए प्रासादों और महलों में उस ओर अनेक झरोखे बने थे, जिनसे 'पावक झर सी झाँक' कर नायिकाएँ रसिकों का हृदय मरोड़ जाती थीं। किसी-किसी महल का ऊर्ध्वभाग चन्द्रमा की भाँति शुभ्र तथा वृत्ताकार होता था।...शुक्लपक्ष की दुग्ध-फेनिल चाँदनी रात में उनका वैभव उद्वेलित हो उठता था। शीश महलों में जड़े हुए अगणित मूल्यवान दर्पण उन भवनों की शोभा को कई गुना बढ़ा देते थे। इन दर्पणों में प्रतिबिम्बित अङ्गच्छवि ऐसी प्रतीत होती थी मानो सम्पूर्ण संसार को जीतने के लिए कामदेव ने चक्रव्यूह बनाया हो। उन महलों से गुप्त रूप से (मिलन के निमित्त) बाहर जाने के लिए पृष्ठ द्वार होते थे। मुगल शैली की साजसज्जा तथा झाड़-फ़ानूस से सुशोभित महल दीपज्योति में जगमग हो उठते थे। ऐसे ऐश्वर्यशाली भवनों के ऊपरे तल्ले पर कभी चढ़ती और कभी उतरती उत्कण्ठिता नायिका अपने पायल की झङ्कारों से सम्पूर्ण महल को झंकृत कर जाती थी। कल्पना और यथार्थ का तथा वास्तविकता और सम्भावनाओं का कैसा चमत्कार-पूर्ण, ऐन्द्रिय चित्रण है।"[१]

उज्जल अखण्ड खण्ड सातएँ महल महा—
मण्डल सँवारो चन्द्र मण्डल की चोट ही।
भीतर इ लालनि के जालनि विलास ज्योति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही।। [देव]

इसी प्रकार के सौन्दर्य से अभिमण्डित सामन्तीय प्रासाद के बाहर का उपवन होता था। इन प्रमद-वनों में सुन्दरियाँ अपने कटाक्षों की नीलिमा और लालिमा मिलाकर सामन्त को सुरापान कराती थीं। फौवारों के छींटो से सुन्दरी के तन में सिहरन हो उठती है : यही दशा सामन्त की मादक प्रवृत्ति को चरमावस्था तक पहुँचा देती थी। रङ्ग-बिरङ्ग, देशी-विदेशी फूलों ने उपवन को रञ्जित और सुवासित कर दिया है। फूल चुनने के ब्याज से इधर से नायिका आयी—मुसुकाती, बलखाती। इधर से नायक आया—झूमता, इठलाता और मिलन हो गया। ऐसे ही कृत्रिम और छाया-लोक जैसे प्रमदवन रीतिकालीन कवियों की कल्पना ने सजा दिए। सामन्त खिल उठा।

घरों में अङ्गरागों की महक के बादल घिरे पड़ते हैं। देव ने एक सामग्री सूची इस प्रकार गिनाई है—

पाँमरी के पाँमरे परे हैं पुर पौरि लागि,
धाम-धाम धूपनि के धूम धुनियत है।
कस्तूरी, अतरसार, चोवा, रस घनसार,
दीपक हजारन अँध्यार लुनियत हैं।।

इस प्रकार कवियों ने नायिकाओं के विलास-कक्षों का चित्रण किया है। पद्माकर का शीतकालीन शयन-कक्ष और उसकी सज्जा देखिए—

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठभाग, पृ० १८५

गुलगुली गिल मे गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं ।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजाएँ सजीं,
सेज हैं, सुराही है, सुरा है और प्याला हैं ।
सिसिर के पाला कौ न व्यापत कमाला तिन्है,
जिनके अधीन एते उदित मिसाला हैं ।
तान, तुक, ताला है, विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, हुसाला है, बिमाला चित्रसाला हैं ।

इस प्रकार समस्त रीतिकालीन काव्य का वातावरण अत्यन्त विलासिता-पूर्ण है। इसकी ही आवश्यकता कुण्ठित और अपने मन में घुटते हुए सामन्त को थी। कवि ने एक-से-एक बिछलन-पूर्ण चित्र खींचकर आश्रयदाता की क्षति-पूरक साधना में सहयोग दिया।

रीतिकाल—

२. युग-विश्लेषण—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल को रुग्ण मनोभावों का काल कहा है : 'विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ले जाती है। मुग़ल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गई। इसीलिए इस काल की शृङ्गार-भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"[1] इस रुग्ण मनोभाव के अपवाद भी हैं। यदि कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति शाखाओं के रसिक सम्प्रदायों ने इस विलासोन्मुख रुग्ण शृङ्गार को बल प्रदान किया, तो नीति-साहित्य की भी एक धारा मन्द-मन्द प्रवाहित होती रही। कभी-कभी यह धारा शृङ्गार-युक्त अप्रस्तुत से युक्त हो जाती है और कभी शृङ्गार का अप्रस्तुत ही नीत्यात्मक हो जाता है। यद्यपि इसमें भी पूर्ण स्वस्थ मन के दर्शन नही होते, फिर भी किसी ज्ञात-अज्ञात आग्रह से उद्दाम-साहित्य की रचना इस युग में हुई। पर इन सूक्तियों में वह शक्ति नहीं थी कि उद्दाम और रुग्ण विलासिता को अभिभूत कर सके।

मुग़ल बादशाहों के समय में बाह्य संघर्ष उत्तरोत्तर कम होता गया। अकबर जैसा आदर्श और दूरदर्शी बादशाह भी विलास की बौछारों से नहीं बच सका। राजपूत-सौम्दर्य सदैव ही उसके हृदय में झूलता रहा। पर इस सौन्दर्य और विलास की अतृप्त आकांक्षा का उपयोग उसने राजनैतिक दृष्टि से किया। उसने राजस्थान को प्रायः अपना बना लिया। साथ ही दरबार के वातावरण को तथा वहाँ होने

१. 'हिन्दी साहित्य', पृ० २६७

वाले कला-विलास को उसने विलासिता के पङ्क में नहीं गिरने दिया। वह उदात्त और सुसंस्कृत बना रहा। जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलास के तत्त्व अवश्य ही कुछ असंतुलित हो जाते हैं। पर दरबार में उसका विलासी व्यक्तित्व नूरजहाँ के व्यक्तित्व तक केन्द्रित रहा। साहित्य और कला पर विलासिता युग-धर्म के रूप में नहीं छा सकी। वैसे शान्ति के समय में कुछ शृङ्गार-विलास स्वाभाविक भी हो जाता है। जिसे अपरिहार्य भी कहा जा सकता है अतः क्षम्य भी। शाहजहाँ के युग में इस काल का वैभव और विलास अपने चरम पर पहुँच जाता है। शाहजहाँ के व्यक्तित्त्व का विश्लेषण इतिहासकारों ने दो भिन्न रूपों में किया है। भारतीय इतिहासकारों ने उसे इस्लाम के आदर्शों पर चलने वाला आदर्श बादशाह कहा है। परन्तु बर्नियर और मनूची प्रभृति इतिहास लेखक उसे अत्यन्त कामुक, लोलुप और विलासी बतलाते है। "उनके अनुसार पाशविक ऐन्द्रिय भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य था। हरम में लगने वाले रूप-बाजार, राज्य के द्वारा अनुचरियों की व्यवस्था तथा अंतःपुर में शत-शत अङ्ग-सेविकाओं की उपस्थिति उसकी इसी लोलुपवृत्ति की परिचायक है।"[१] जहाँनारा तक के प्रति भी उसकी आसक्ति का उल्लेख किया गया है। हो सकता है अपने पूर्ववर्ती बादशाहों की भाँति उसके चरित्र में भी स्त्री एक दुर्बलता के रूप में रही हो, पर विदेशी लेखकों के वर्णन में अतिरञ्जन भी स्पष्ट है। वैसे शाहजहाँ के युग में कला और साहित्य विलासिता पूर्ण शृङ्गार के अभिप्रायों से बोझिल अवश्य हो उठे थे। बादशाह के भोग-वैभव, शृङ्गार-विलास और कला-कौशल के प्रकार अभिजात्य वर्ग की धमनियों में प्रवाहित हो गये। सम्राट् के सामन्त भी विलास में डूबते गये और इतने डूबते गये कि प्रयत्न करने पर भी सँभल न सके।

सम्राट् और सामन्तों के विलास की सामग्री देश-विदेश से संगृहीत की जाती थी। पैसा जनता से निचोड़ा जाता था। जनता दुहरे शासन और शोषण की चक्की में पिस रही थी।[२] पर अभिजात वर्गीय विलास के प्रभाव से प्रजा भी वञ्चित नहीं रही। मद्य-पान का दौर बढ़ रहा था। जनता इस सबसे उदासीन होते हुए अनुकरणरत थी।

धर्म के क्षेत्र में भी विलासिता घर कर गई थी। माधुर्य-भक्ति के नाम पर विलास की दाहक चिनगारियाँ धार्मिक वातावरण में समा गई थीं। उसकी सूक्ष्म भावना स्थूल, मांसल-शृङ्गार में बदल रहीं थीं। भ्रष्टाचार के लिए यह एक आड़ थी। चैतन्य और राधाबल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिर और मठ रसिक जीवन के केन्द्र बन गए थे। राम का लौकिक शृङ्गारीकरण यद्यपि कृष्ण की अपेक्षा कम हुआ, पर उस शाखा में भी रसिक-सम्प्रदाय लोकप्रिय होने लगा था फलतः मर्यादा

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० १३

२. दुसह दुराजि प्रजान कों क्यों न बढ़ै दुख दुंद।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि मावस रविचन्द ॥ बिहारी

पुरुषोत्तम राम भी साहित्य में सरयू के तटवर्ती कुञ्जों में क्रीड़ा करने लगे। सीता का शील और सतीत्व शृङ्गार में लुप्त हो गया। रसिक सम्प्रदायों के सन्त सखी-रूप में राम की निकुञ्ज-लीलाओं के दर्शक बन गए। वित्त-सेवा के प्रचलन से गद्दीधारी महन्तों के पास अतुल धन-राशि एकत्र होने लगी। उनके दरबारों में भी राजाओं के समान ही विभव और विलास के उपकरण जुटने लगे। इनसे राजाओं और नवाबों को स्पर्द्धा होती थी। देवदासियों के सौन्दर्य और कला-विलास से मन्दिरों का वातावरण उच्छृङ्खल हो उठा था।

सगुण-मार्गी-भक्ति की धारा तो इस युग के विलास-वारिधि में ही मिल गई थी पर निर्गुण-सम्प्रदायों में विलास अवश्य ही नही आ पाया था। बौद्धिक-हीनता, रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों ने यद्यपि निर्गुण पन्थों को जर्जर कर दिया था, फिर भी पतनोन्मुख विकृतियाँ इतनी अधिक नही थी। यह एक और बात ध्यान आकर्षित करती है कि इसी युग में ही नही, आरम्भ से ही निर्गुण सम्प्रदाय के कुछ सन्तों ने पराजित हिन्दू जाति को जातीय राष्ट्रीयता से भरने का प्रयास किया था और मुस्लिम शासन के प्रति क्रान्ति के लिए उनको उभारा भी था। गुरुनानक की परम्परा ने सिख जाति को जगा दिया और उस जाति ने इतिहास में अमर रहने वाले बलिदानों से राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा की। दूसरी ओर समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को इस संघर्ष के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायों में जो क्रान्ति कबीर आदि के द्वारा कभी प्रस्तुत हुई, रीति-काल में भी इन्हीं परम्पराओं के सन्तों ने जागरण का बिगुल फूँका। गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी की राष्ट्रीयता को लेकर साहित्य रचा गया। भूषण ने छत्रसाल और शिवाजी की सन्धि कराके इस राष्ट्रीय यज्ञ की ज्वाला को विस्तार दिया। सूफ़ी सन्तों के सम्प्रदायों में अवश्य शृङ्गारिकता समाविष्ट हो रही थी।

जहाँ तक अन्य कलाओं की तत्कालीन स्थिति का सम्बन्ध है, सभी विलास और शृङ्गार के अभिप्राय और संकेतों से पूर्ण हो गई। मुग़ल शैली राजपूत शैली और पहाड़ी शैली के चित्रों में नायक-नायिकाओं की काम-चेष्टाएँ और प्रेम-व्यापार समा गए। राग-रागनियों के शृङ्गार-चित्रण एक विशिष्ट विधा बन गई। जो पौराणिक आख्यान भी चित्रों के लिए चुने गये, उनमें भी शृङ्गार-प्रसङ्गों की ओर ही कलाकार का आकर्षण था। ब्रज के कृष्ण की सरस लीलाओं का उभार चित्रों के रेखा-क्रम और वर्ण-विन्यास में मूल अभिप्राय के रूप में समा गया। साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब चित्रों में उतर आया था। "......एक ओर हिन्दी काव्य की शृङ्गार-भावना का समानान्तर रूप शृङ्गारिक चित्रों में अपने समस्त उपकरणों के साथ थोड़े बहुत अन्तर से विद्यमान है, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य का दूसरा प्रधान स्वर प्रशस्तिगान का रूप भी व्यक्ति चित्रों, दरबारी गरिमा और ऐश्वर्य-चित्रण

की प्रवृत्ति में विद्यमान है।"[१] शैली भी तत्कालीन कविता की भाँति अलंकृत थी। उनमें बारीकी सायास लाई जाती थी। स्थापत्य आदि कलाओं में भी अलङ्करण की प्रवृत्ति का आतिशय्य मिलता है। ताजमहल की बारीकी अच्छे-अच्छों को अचरज में डाल देती है। मन्दिरों में भी शृङ्गारी वातावरण रहता था। सङ्गीत भी शास्त्र रूप में रूढ़ होता जाता था। इस प्रकार मध्यकालीन सामन्तीय कला-विलास में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती है—विलास, शृङ्गार, शैली की सूक्ष्मता, चमत्कृति और शास्त्रीयता।

३. रीतिकाल : भक्ति-युग की प्रतिक्रिया—

ऐतिहासिक क्रिया-प्रतिक्रिया की दृष्टि से भी रीतिकाल पर विचार किया जाना चाहिए। भक्ति-युग की पृष्ठभूमि में एक सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन और महान् धार्मिक नेताओं की वाणी थी। इन्हीं के कारण भक्ति-युग का साहित्य इतना विशाल और महान् बन सका। रीतिकाल को इस प्रकार के प्रवर्तक आचार्यों द्वारा दिशा-संकेत नहीं मिला। फिर इस प्रकार की पद्धति कभी आन्दोलन का स्वरूप ले भी नहीं सकती। वह उच्चतम भाव-भूमि इस पद्धति को उपलब्ध ही नहीं है।

रीतिकालीन कवियों और उनकी रचनाओं पर किसी आन्दोलन का दवाब तो नहीं था, पर युग की रुचि के अनुसार लिखना अनिवार्य था। भक्ति-काल में प्रेम अलौकिक हो गया था। किसी निर्गुण या सगुण प्रियतम को भक्त-कवि ने अपना प्रेम समर्पित कर दिया था। यही है भावावेश की उदात्ततम अवस्था। रीतिकालीन कवि ने उस प्रेम को लौकिक धरातल पर उतार दिया। भक्तिकालीन आन्दोलन सामाजिक भावना से पूर्ण था। जिसमे व्यक्ति और उसकी भावनाओं की उपेक्षा हुई। व्यक्ति की मूलभावनाएँ इसी की प्रतिक्रिया में कुछ अधिक उग्र और नग्न रूप में प्रकट हुईं। इस अतिवाद को हम दोषपूर्ण तो कह सकते है, पर यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। इस अतिवाद में प्रेम सम्बन्धी अश्लील क्रियाओं की व्यञ्जना भी हुई है।

प्रतिक्रिया की एक और भी आधार दिशा है। सगुण-भक्ति-साहित्य ने प्रबन्धात्मकता को अपनाया। प्रबन्धात्मकता चाहे कथानक के सर्गबद्ध रूप में सजाई गई हो, चाहे लीला-प्रसङ्गों में विभाजित हो, आग्रह प्रबन्ध का रहा। प्रबन्ध में जाति या समाज के सुनिश्चित मान-मूल्यों को स्थान मिलना स्वाभाविक है। यदि प्रबन्ध में सामाजिक नियमों की अवहेलना भी की जाती है, तो वैयक्तिक अनुभूतियों को अध्यात्म मे बाँध दिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में वस्तु ही प्रधान हो जाती है उसकी शैली गौण। इसकी प्रतिक्रिया में रीतिकालीन कवि ने रूप और शैली को प्रधान स्थान दिया। व्यक्तिगत स्थूल प्रेम की प्रतिक्रिया जितनी प्रवल थी, उतनी ही सबल रूप और शैली की भी। इस कार्य में ब्रजभाषा की समस्त शक्तियों का उद्घाटन रीति-कवि ने किया। 'भक्ति आन्दोलन जीवन की वैषम्यपूर्ण दशा का द्योतक था; रीतिकाल में जीवन की सौम्य दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गई। अब

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठभाग, पृ० २०-२१

साहित्य माध्यम नहीं रहा। अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मांसल छवि या सौन्दर्य का निरूपण।'[1]

सामान्यतः जनसाधारण का जीवन विविध भाव-धाराओं से आकुल-संकुल रहता है। न वह केवल भक्त होकर रह सकता है और न केवल वीर ही। इनका स्थान उसके जीवन में है अवश्य, पर अन्य अनेक स्थूल अस्तित्व की पुकारें भी हैं, जिनकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता और बरवश उनके वशीभूत हो जाता है। उसे मनोरञ्जन, ऐन्द्रिय सौन्दर्य और शैलीगत चमत्कार की भी आवश्यकता होती है। रीति-साहित्य इन आवश्यकताओं से प्रेरित दिखलाई देता है। इस प्रकार की रचना विविध शैली उपकरणों की खोज करेगी। इसमें भक्तिमूलक आत्मानुभूति या दलित के प्रति आत्म-प्रसूत सहानुभूति नहीं थी कि जिस रूप में प्रकट हो जाय, उसी रूप में ग्राह्य हो। इसे अपने रूप की संयोजना स्वय करनी थी। रूप का आकर्षण जिन तत्त्वों के आधार पर हो सके, उनका प्रयोग करना इस काल के कवि के लिए आवश्यक हो गया।

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य के लिए जो युग-धर्म बना स्पष्टतः उसके दो आधार थे : लौकिक प्रेम अथवा ऐन्द्रिक सौन्दर्य एवं शैली और रूप की शास्त्रीय सज्जा। अपने इस रूप में प्रस्फुटित काव्य के लिए अनुकूल रुचि और बोध-सरणि उत्पन्न करने के लिए अनौपचारिक कवि-शिक्षा की योजना भी कवि को करनी पड़ी।

४. रीति क्या ?

संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग एक काव्याङ्ग विशेष का बोधक रहा है। वामन ने इसकी व्याख्या 'विशिष्टा पदरचना' करके एक सम्प्रदाय को जन्म दिया। इसे काव्यात्मा होने का गौरव प्रदान किया गया। पर रीतिकाल में प्रयुक्त 'रीति' शब्द काव्य-रचना-पद्धति और तत्सम्बन्धी शास्त्र का बोधक हो गया। 'रीति' के साथ इसी अर्थ में 'पन्थ' शब्द का भी प्रयोग होता रहा। केशव ने 'पन्थ' का प्रयोग किया—

समुझैने बाला बालक हूँ वर्णन पन्थ अगाध।

तथा चिन्तामणि ने इसी अर्थ में 'रीति' का प्रयोग किया—

रीति सु भाषा कबित की, बरनत बुध अनुसार।

मतिराम, देव, सुरति मिश्र, सोमनाथ और दास ने बहुधा 'रीति' शब्द का ही प्रयोग किया है। यह शास्त्रीय काव्य-विधान का सूचक शब्द है। यह पहले देखा जा चुका है, कि इस काल का कवि कविता-पद्धति को अत्यधिक महत्त्व देता था। इसी युग-प्रवृत्ति को देखते हुए शुक्लजी ने इसका नामकरण रीतिकाल किया। शुक्लजी ने 'रीति' शब्द को एक दृष्टिकोण का प्रतीक माना। अतः रीति-शास्त्र रचने वाला ही रीति-कवि नहीं कहा जायगा, जिसका दृष्टिकोण रीतिबद्ध है, उस कवि को भी रीति-कवि

१. डा० सत्येन्द्र, 'कला, कल्पना और साहित्य,' पृ० २१४

कह सकते हैं। भोज ने भी 'पन्थ' और 'रीति' को एकार्थक सिद्ध किया था।[1] इसका अर्थ 'काव्यमार्ग' भी उन्हें स्वीकार्य है। कुन्तक ने भी 'रीति' और 'पन्थ' का पर्यायत्व स्वीकार किया है।[2]

५. रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषताएँ—

५. अ. प्रतिपाद्य—रीतिकाल का कवि शृङ्गार के अतिरिक्त किस पर लिख सकता था। शृङ्गार नायिका-भेद, नखशिख, उद्दीपन सभी के रूप में प्रकट हुआ। यहाँ तक कि अलङ्कार-निरूपण भी शृङ्गार से मण्डित हो गया। यदि कहीं भक्ति और नीति की उक्तियाँ भी वर्षा में जुगनुओं की भाँति चमकती हैं तो कवि इनको भी शृङ्गार के रङ्ग में ही रङ्गना चाहता है।

रीतिकाल के कवि को नैतिक बल शृङ्गार-परक भक्ति-साहित्य लिखने वाले कवियों से प्राप्त हुआ था। पर यह उनकी भाँति भक्ति-भावना में लीन नहीं हो सका: राधा-कृष्ण के बहाने अपनी शृङ्गार-भावना को ही व्यक्त करने में प्रवृत्त था। स्रोत की दृष्टि से संस्कृत शास्त्रीय साहित्य और काव्य-शास्त्र की परम्परा का उल्लेख किया जा सकता है। इन स्रोतों के अतिरिक्त इस काल के कवि ने प्राकृत और अपभ्रंश शृङ्गार मुक्तकों से भी पर्याप्त प्रेरणा और सामग्री ली। हिन्दी में भी शृङ्गार की परम्परा आदिकाल से मिलती है। सिद्ध कवि स्वयं योगी था और निम्न वर्गों की स्त्रियों को अपनी शृङ्गारमयी रहस्य-साधना का अङ्ग बना चुका था। वीरगाथाकारों में भी शृङ्गार कम नहीं है। पर उसके साथ वीररस भी लगा था। विद्यापति का शृङ्गार तो अत्यन्त उत्कट है। खुसरो की पहेलियों में भी शृङ्गारी शैली मिलती है।[3] कबीर और तुलसी नग्न शृङ्गार से बचे रहे। पर प्रेमगाथाकार और कृष्ण-भक्त कवि तो शृङ्गार में आकण्ठ निमज्जित रहे। राम-भक्ति में रसिक-भावना प्रबल होती गई। इनके एक आचार्य 'कृपा-निवास' की पदावली में शृङ्गार की नग्नता द्रष्टव्य है।[4]

१. नीबि करषत बरजत प्यारी।
   रस लम्पट सम्पुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी।
२. पिय हँसि-हँसि रस-रस कंचुकि खोलैं।
   चमकि निवारत पानि लाड़िली, मुरक-मुरक मुख बोलैं॥

इस प्रकार वृन्दावन की कुन्जों में तरङ्गित शृङ्गार-अयोध्या की गलियों में भी प्रवाहित

---

१. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
   रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते॥ सरस्वती कण्ठाभरण २।२७
२. तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति। वक्रोक्ति जीवितम्, १।२४ (वृत्ति)
३. एक नार दो को ले बैठी।
   टेढ़ी होके बिल में पैठी॥
४. पदावली (सं० १६०१) लखनऊ से प्रकाशित

होने लगा। कृष्ण-भक्त कवियों के शृङ्गार-प्रवाह ने समस्त सीमाओं और मर्यादाओं को डुबो दिया। नन्ददास का एक चित्र देखिए—

पौंछति अपने अंचल, रुचिर दृगंचल तिय के।
पीक भरे सुकपोल, लोल रद-छद जहँ पिय के ॥

वास्तविकता यह है कि रीतिकाल में उच्चवर्गीय कामुकता ने शृङ्गार को ग्रस लिया था। रीतिकालीन 'शृङ्गारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वञ्चित रही हों, परन्तु शृाङ्गारिक कुण्ठाओं से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृाङ्गारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।'[1]

रीतिकालीन शृङ्गार का समस्त अभिव्यक्ति-विधान भोगपरक है। प्रेम की उच्चतर स्थितियाँ इस काल के साहित्य में अज्ञात सी हैं। प्रेम के उदात्त पक्षों पर सम्भवत. ये कवि-पुङ्गव दृष्टिपात ही नही कर सके। शृङ्गार के बाह्य पक्ष का अधिक से अधिक सूक्ष्म निरीक्षण करके, उसका स्पष्ट शैली में कथन मात्र किया गया है। अतः इन कवियों के शृङ्गार-वर्णन के उपरूपों पर संक्षिप्त विचार करना उपयुक्त होगा।

५. आ. नायिका-भेद—

नायिका-भेद की एक सुदीर्घ परिपुष्ट परम्परा है। इस प्रकरण ने भक्तों को भी आकृष्ट किया। रीतिकालीन कवि ने अनिन्द्य और पूर्ण सुन्दरी के रूप में नायिका की कल्पना की है।[2] नारी नायिका के रूप में उसकी समस्त भावनाओं का केन्द्र बन गई। इसका रूप-वर्णन बड़ी ही उत्तेजक शैली में किया गया है। बिहारी नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से छवि की लपटें निकाल रहे हैं। उस तन्वङ्गी का शरीर भरा भरासा दिखलाई पड़ता है।[3] मतिराम की नायिका की आँखों का अलस और उसकी चितवन, विलास-सकेतों से युक्त है।[4] ये सभी चित्र ऐन्द्रिय चेतना को झकझोर देने के लिए ही हैं। इस प्रकार के अनन्त चित्र रीतिकालीन चित्रशाला में भरे है।

रीतिकालीन कवियों ने इन्द्रियोत्तेजक चित्रों में बड़ा संवेग भर दिया है। ऐसे चित्रों के चितेरों में देव प्रमुख हैं। देव में रूपासक्ति अपने चरम पर है। अङ्गों के उभार, कञ्चुकी के कसाव और अलङ्कारों के योगदान का समवेत चित्र देव की शैली में देखिए।

---

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पूर्वार्द्ध, पृ० १७४

२. सुन्दरता बरननु तरुनि सुमति नायिका सोइ।
सोभा कान्ति सुदीप्ति जुत बरनत हैं सब कोइ ॥ —दास

३. अङ्ग अङ्ग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥ —बिहारी।

४. आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई ॥

'जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान, ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़ो परत ।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिंदु, बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार, देव मणि भूमिका झमकि झुमड़े परत ।
बड़े-बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ, बड़ी बरुनीन होड़ा होड़ी आड़े परत ।।

इसमें देव की वैयक्तिक प्रतिक्रिया तो स्पष्ट है । साथ ही पाठक को भी झकझोर देने की क्षमता भी प्रकट है । 'दास' ने झीन घाँघरे से नारी के अङ्गों की झलक दिखला कर चित्र को और भी उत्तेजक बना दिया है—

'घाँघरे झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितम्बन-भार उठै सचि ।

यही नायिका कहीं-कहीं अलङ्कारों से दब सी गई है और उसकी अङ्ग-कान्तिका वर्णन भी अलंकृत शैली में छिप सा गया है । यौवन और सौन्दर्य की यही अतृप्त प्यास रीतिकाल के कवि में मिलती है । बिहारी की ग्रामबाला का 'गदकारा' अङ्ग कितना मादक है—

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार ।
× × × ×
गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलन गाढ़ ।।

देव ने भी एक मादक चित्र सुन्दर दिया है । नहाने की तैयारी में नायिका को देखिए—

चौकी चढ़ी चंदमुखी बिनु कंचुकि, अचर में उचकैं कुच कोरैं ।
बारन गौनी बधू बड़ी बार को, बैठी बड़े-बड़े बारन छोरैं ।।

५ इ. संयोग—संयोग की परिस्थिति एवं स्वरूपों के चित्रण में रीतिकालीन कवियों ने हाव-भाव-हेला आदि चेष्टाओं, सुरत, विहार, सुरतान्त आदि के वर्णन को प्रमुखता दी है । बाह्य इन्द्रियों का सन्निकर्ष मानसिक जगत् में भी मदिरा की वर्षा कर देता है । दर्शन, स्पर्श आदि की प्रतिक्रियाएँ हाव=सचेष्ट व्यापार और अनुभव =सहजानुभूति जन्य बहिर्विकार के रूप में प्रकट होती हैं । हाव-विधान का लक्ष्य प्रेमी को अपेक्षित व्यापार में संलग्न करना है । हावों के चित्रण में बिहारी ने पूर्ण रुचि ली है । हाव सम्भोगेच्छा की प्रकाशक क्रीड़ा-वृत्ति है । ये हाव आश्रयगत भी होते हैं और आलम्बनगत भी । आश्रय जहाँ अपने हावों से अपनी भोगेच्छा प्रकट करता है वहाँ आलम्बन में भावोद्दीपन भी करता है । बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा लीजिए—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ ।।

पद्माकर का नायक, नायिका से छेड़-छाड़ करके पीछे फिर-फिर कर देखता जाता है । इससे उसका मनोभाव भी प्रकट होता है और नायिका में प्रेमोद्दीपन भी—

साँकरी खोरि में, काँकरि की करि चोट चलो फिर लौटि निहारो ।
वा खिन तें इन, आँखिन तें न कढ्यो वह माखन चाखन हारो ।।

इसी प्रकार से सात्त्विक अनुभावों के सहारे भी मिलन-कालीन मनः स्थितियों का प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है। सात्विक अनुभावों में बहुधा स्पर्श-जन्य ही दिखलाए गए हैं। अङ्ग स्पर्श और स्मृति दोनों ही सात्विकों को जगा सकते हैं। त्वचा मनुष्य की सर्वाधिक सचेत्तन ज्ञानेन्द्रिय मानी जाती है। एक वैवाहिक अनुष्ठान हुआ और स्पर्श की स्थिति आ गई। बिहारी ने चित्र खींच लिया—

स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा को हाथ॥ —बिहारी

'मतिराम' ने आँख मिचौनी के अवसर पर यही स्थिति उत्पन्न की है—

एकहिं भौन दुरे इक संग ही, अंग सौं अंग छुवायौ कन्हाई।
कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ़यौ तनु रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं॥

कुच-स्पर्श जन्य-अनुभावों के भी बड़े मादक और उत्तेजक वर्णन रीतिकालीन कवियों ने किए हैं।

कल्पना और स्मृति से उत्पन्न अनुभावों का वर्णन भी पर्याप्त विस्तृत हुआ है। दुलहिन गौने से प्रियतम के घर जा रही है। सखियों ने अवसरोचित शिक्षा भी दी और प्रिय-मिलन के सुख भी बतलाए। इससे नायिका का मन सात्विकों के रूप में उमड़ पड़ा। देव की पंक्तियाँ देखिए—

'बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाए।
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥'

५. इ१. हास-परिहास—सुरत को यह हास-परिहास विधान अनुरञ्जित और उत्तेजित करता है। रति और प्रेम घनीभूत होते जाते हैं। केलि के क्षणों को अनन्त मधु हास-परिहास से मिलता है। वाणी की वक्रता और प्रगल्भता भी एक बौद्धिक रस उत्पन्न कर देती है। न जाने कितने अव्यक्त अभिप्राय स्वतः व्यक्त हो जाते हैं। हास-परिहास प्रिया-प्रियतम में भी चलता है और सखियों में भी। एक दिन कृष्ण ने साँकरी खोर में राधा को घेर लिया : 'तुम तो कुछ पहँचानी सी लगती हो।' राधिका ने भी कहा, हम भी तुम्हें अच्छी तरह जानते हैं—

'कान्ह कह्यो टेरि कै, कहाँ ते आई, को हौ तुम,
लागती हमारे जान कोई पहिचानती।'
प्यारी कह्यो फेरि मुख, हरि जू चलेई जाहु,
हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूँ हम जानती।
—देव

सखियों का परिहास मतिराम ने इस पद्य में चित्रित किया है। नायिका प्रिय के घर जा रही है। सखियाँ बिछुआ पहनाते समय परिहास करते हुए कहती हैं ये सदा प्रियतम के कान के निकट बजते रहें—

पीतम स्रौन समीप सदा बजै, यों कहि कै पहिले पहिरायौ।
कामिनि कौल चलावनि कौं, कर ऊंचो कियो पै चल्यो न चलायौ॥

लज्जा ने हाथ ही नहीं उठने दिया।

५. इ२. सुरत-वर्णन—संयोग शृङ्गार में इसका वर्णन सबसे मुख्य है। प्रयोगाधिक्य से यह बड़ा अश्लील भी हो गया। सुरत के समय क्रियाओं और क्रीड़ाओं में एक त्वरा आ जाती है। आवेग और आवेश मिलन की वृत्ति को मन की गहराइयों तक उतारते जाते हैं। अधिकांश कवि इन क्षणों को वाणी देने में समर्थ नहीं हो सके। पर बिहारी ने सुरत-सुख को मोक्ष से भी उच्चतर घोषित किया है—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकुति, और मुकति अति हानि॥

उन्होंने 'करति कुलाहलु किंकिनी' के द्वारा विपरीत रति की भी व्यञ्जना की है। मतिराम क्रिया-चेष्टाओं के वैविध्य और विस्तार में नहीं गए, संकेत से ही सुरत-वर्णन किया—

प्रान प्रिया मन-भावन संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा मतिराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे॥

५. ई. वियोग—इस अवस्था में प्रिय-मिलन का अभाव रहता है। इसकी दशा को चार अवस्थाओं में वर्णित किया जाता है: पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

५. ई१. पूर्वराग—पूर्वराग वस्तुतः राग की पूर्व दशा मात्र है इस पूर्वराग में आलम्बन दूर भी रह सकता है और निकट भी। कुछ परिस्थिति जन्य व्यवधान, सामाजिक मर्यादा अथवा अन्य अवरोध कभी-कभी निकटस्थ प्रिय से भी मिलन नहीं होने देते। ये अवरोध वस्तुतः प्रेम के आवेश में ही वृद्धि करते हैं। पूर्वानुरागी नायिकाएँ बहुधा मुग्धाएँ होती हैं। रूपासक्ति उनमें तीव्रराग उत्पन्न करके एक पीड़ा, अभिलाषा, व्याकुलता उत्पन्न कर देती हैं। पद्माकर की नायिका के चित्र में रूपासक्ति और अभिलाषा की गङ्गा-जमुनी रूप इस प्रकार उभरा है—

घरी-घरी, पल-पल, छिन-छिन, रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारि बोई करिऐ।
इंदु तें अधिक अरविंद तें अधिक, ऐसो,
आनन गोविंद को निहारि बोई करिऐ।

५. ई२. मान—मान दो प्रकार का होता है: प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रथम निर्हेतुक ही होता है और द्वितीय का कारण बहुधा प्रिय की परतियानुरक्ति होती है। परन्तु मान के चित्रण में इस युग के कवि ने विशेष रुचि नहीं दिखलाई। मान के प्रदर्शन में नायिका का व्यंग्य विधान सभी प्रमुख कवियों ने किया है। मतिराम की नायिका नायक के यह पूछने पर कि आज वह दुःखी क्यों है, यह उत्तर देती है: "कौन तिन्हैं दुख है जिनके तुम से मनभावन छैल छबीले।" उत्तर वक्रोक्ति

पूर्ण है। देव की नायिका का मान कालीन विषाद इस प्रकार व्यक्त हुआ है : 'साथ में राखिये नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहतीं चारि चुरी ये।' खण्डिता के वर्णन में बिहारी ने सुरत-जन्य रति चिन्हों का विशेष चित्रण किया है। इससे नायिका का मानसिक क्षोभ कम और चमत्कार और कामुक प्रभाव अधिक व्यक्त होता है।

५. ई$_3$. प्रवास—इसका गम्भीर और मार्मिक वर्णन रीतिकालीन कवि ने नहीं किया। उस युग के कवि का मन संयोग में जितना रमा है, उतना वियोग में नहीं। विरह यथार्थ या परिस्थिति जन्य है। वह कल्पित है। प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषित-पतिका और आगतपतिका के उदाहरणों में प्रवास-वियोग का उल्लेख भर हुआ है। नायिका की विरहाकुल मनःस्थिति की कल्पना नायिका के दौर्बल्य के आधार पर की गई है। संदेश भेजना, पत्र लिखना और चित्र बनाना भी मिल जाता है। फिर भी नायिका के सन्ताप और दौर्बल्य की ऊहात्मक अभिव्यक्ति विरह की व्याकुलता को प्रकट करने में असमर्थ रहती है। बिहारी ने नायिका के सन्ताप का वर्णन यों किया है—

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति।

मतिराम ने चमत्कार की यह भङ्गिमा उत्पन्न की है—

सखिन करत उपचार अति, परति बिपति उत रोज।
झुरसत ओज मनोज के, परस उरोज सरोज॥

देव की नायिका का विरह कुछ स्वाभाविक है : 'लौटि लौटि परति करौंट खाट पाटी लै लै, सूखै जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति।' उपचार की व्यर्थता भी अनेक स्थानों पर व्यक्त है। बिहारी ने एक स्थान पर राधा के आँसुओं से यमुना-जल के खारी होने की बात लिखी है—

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करत तरौंस कों, खनिक खरोहों नीर॥

अधिकांश कवियों ने अनुभावों का चित्रण करके विरह-वर्णन सम्बन्धी अपने कार्य की इति श्री मान ली है।

५. ई$_4$. नख-शिख-वर्णन—यह रीतिकाल का सर्वाधिक लोकप्रिय विषय रहा है। नख-शिख सम्बन्धी रचनाओं से लगता है जैसे रीतिकाल के कवि को अपना अभीष्ट ही मिल गया हो। इन ग्रन्थों की संख्या भी अधिक है। इस शैली से नायिका के रूप को अधिक रूढ़ बना दिया गया है। संस्कृत के कवियों ने भी इस प्रकार के वर्णन में बहुत रुचि ली थी। सूर जैसे रससिद्ध कवि 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' के सौन्दर्य मे नहीं बच सके। पर रीतिकालीन कवियों ने तो इस वर्णन पद्धति को विलक्षण ही बना दिया। प्रत्येक अङ्ग के लिए 'अलङ्कार शेखर' और 'कवि कल्पलता'

आदि में प्रति योग्य की जो लम्बी सूची दी गई है उसका बहुत अकाव्योचित प्रयोग किया गया है।'[1] इस वर्णन का प्रभाव अवश्य ही रति-उत्कर्षक होता है। 'दास' ने कुचों का वर्णन यों किया है—

चक्रवती ह्वै एकत्र भए मनो, जोम के तोम दुहूँ उर बाढ़े।
गुच्छ के गुंमज के गिरि के गिरिराज के गर्व गिरावत ठाढ़े॥

इस वर्णन में उक्ति-वैचित्र्य प्रमुख हो गया है, सौन्दर्य-बोध गौण। सौन्दर्य बोध का उत्कर्ष कराने वाला वर्णन भी कहीं-कहीं मिलता है, पर मात्रा में बहुत कम। बिहारी ने नायिका की कोमल उँगलियों का वर्णन इस प्रकार किया है—

अरुन बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँग रँगु सी मनौ, चपि बिछियनु कैं भार॥

देव ने नायिका की माँग का और भी विलक्षण और सौन्दर्योत्कर्षक वर्णन किया है—

बेनी बनाई कै माँग गुही तेही माँह रही लर हीरन छवि।
सोम के सीस मनो तम तोमहि मध्य ते चीरि कढ़ी रबि की छबि॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नख-शिख वर्णन अधिकांश में वैलक्षण्य और उक्ति-वैचित्र्य में उलझ गया है। सौन्दर्य-बोध का उत्कर्ष करने वाला वर्णन स्वल्प है।

६. ऋतु-वर्णन—

दरबारों की चकाचौंध में भ्रमित रीतिकाल के कवि का स्वभावतः प्रकृति से कम सम्पर्क था। प्रकृति का वर्णन भी उद्दीपन के रूप में ही मुख्यतः मिलता है। आलम्बन के रूप में निरपेक्ष या स्वतंत्र वर्णन का प्रायः अभाव ही है। जो स्वतंत्र चित्र मिलते भी हैं, उनमें पूर्णता और भाव-तीव्रता नहीं है।

६. अ. निरपेक्ष प्रकृति-चित्रण—इस प्रकार के वर्णन के लिए कवि को शब्द-चित्र की कला में निष्णात होना चाहिए। सेनापति इस कला में कुशल थे। रीतिकालीन कवियों के पास चित्रात्मक शैली तो थी, पर उसका प्रयोग प्रकृति-वर्णन में प्रवृत्तितः उन्होंने नहीं किया। बिहारी ने ग्रीष्म का एक चित्र देना चाहा, पर चमत्कार में उलझ गए—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

बिहारी ने बसन्त का भी एक चित्र दिया है, जिसका केन्द्र-बिन्दु मधु-सौरभ है—

छकि रसाल, सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत भौंर झौर मधु अंध॥

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० २०२

६. आ. प्रकृति का उद्दीपक वर्णन—

संयोग और वियोग दोनों ही दशाओं का उद्दीपन प्रकृति से होता है। रीतिकाल के कवि ने दोनों ही के वर्णन में अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का प्रयास किया है।

६. आ$_1$. **संयोग पक्ष और प्रकृति**—संयोग की स्थिति को सब से अधिक मदिर और मादक बनाने वाला बसन्त है। इस ऋतु में संयोगाकुल नायक-नायिका का 'औरै तन, औरै मन, औरै बन ह्वै जात' की स्थिति हो जाती है। पद्माकर ने इसकी अभिव्यक्ति : 'छलिया, छबीले छैल औरै छबि ह्वै गए' कह कर की है। बसन्त से सम्बद्ध होलिकोत्सव भी है। होली का बड़ा उद्दीपक वर्णन कवियों ने किया है। वास्तव में यह बसन्तोत्सव या मदनोत्सव ही है। नायिका ने नायक पर गुलाल छिड़क दिया। लाल-गुलाल से रँगे नायक का चित्र बिहारी ने दिया है—

पीठि दिए ही नैक मुरि, कर घूँघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि सी मारि॥

पद्माकर ने कृष्ण की दुर्दशा का बड़ा ही प्रेमाभिव्यञ्जक चित्र खींचा है—

फागु के भीर अभीरन तें गहि, गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर', ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीन पितबंर कम्मर तें, सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ, कह्यौ मुस्कयाइ, लला! फिरि आइयो खेलन होरी।

बसन्त के बाद ग्रीष्म और पुनः पावस आते ही तीज का त्यौहार जुड़ जाता है। वास्तव में ऋतु गत त्यौहार या उत्सव उस ऋतु के प्रति मानव-मन की व्यक्तिगत या सामूहिक रागात्मक प्रतिक्रिया ही है। तीज और हिण्डौले का वर्णन बड़ा ही उत्तेजक मिलता है। एक दिन वर्षा होने लगी। राधा-कृष्ण दोनों ही भीगने लगे। आगे संयोग का यह वातावरण उपस्थित हुआ : शब्द 'बेनी कवि' के हैं—

पामरी प्यारी उढ़ावत प्यारे कों, प्यारौ पितंबर की करै छाँही।
आपुस में लहाछेह में छोह में, काहू को भीजिबे की सुधि नाहीं॥

'कवि तोष' ने एक और व्यञ्जक चित्र खींचा है। कृष्ण ने एक गोपी को पक्षपात करके अपने कम्बल की ओट से भींगने से बचा लिया। अन्य गोपियाँ भीगती रहीं। उस गोपी को सूखा देख कर ब्रज के लोग न जाने क्या-क्या कहने लगे—

'तीज नीके सेज, सब सजनी गई री उहाँ, झूलन हिंडोरे ब्रज बाला बीर बरबर।
'तोष निधि' तौ लौं उठि धुरवा धरा लौं घूमि, धाराधर धरनि बरसि परौ घर घर।
मोहि तो कन्हाई करि कमरी बचाय लीनीं, और सब भीजीं, तिन तन होय थर थर।
ऐसो बदनाम यहि गाँउँ भौ गरीबिनी कौ, देखि सूखी चूनरी चवाउ फैलो घर घर।'

चित्र पर्याप्त वैदग्ध पूर्ण है। पद्माकर की नायिका जब भूल रही थी, तो उसकी भावनाएँ न जाने कैसे-कैसी हो गई: 'काम भूलै उर में, उरोजन में दाम भूलै, श्याम भूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान में।' इसमें मानसिक उद्दीपन की व्यञ्जना कुछ अधिक सघन हो गई है।

संयोग पक्ष में बसन्त, वर्षा और शरद का ही प्रचुर मात्रा में वर्णन मिलता है। वस्तुतः जो वस्तु सयोग में जितना अधिक आनन्द प्रदान करती है वियोग में उतना ही अधिक कष्ट।

६. आ$_2$. वियोग-पक्ष और ऋतु-वर्णन—रीतिकाल का कवि संयोग कालीन प्रकृति के प्रभाव की वियोग कालीन विपरीत व्यञ्जना में लगा रहा। वियोग काल में प्रकृति की ओर विशेष ध्यान भी जाता है और उनके द्वारा वियोग की स्थिति भी अधिक प्रगाढ़ हो जाती है। विरह के कारण ऋतु के उपकरण दुखप्रद हो जाते हैं। दो एक उदाहरण देखिए—

१. एरे मतिमंद चंद ! आवत न तोहि लाज,
हो के द्विजराज, काज करत कसाई के।
—पद्माकर

२. चातक न गावैं, मोर सोर न मचावैं, घन
घुमड़ि न छावैं, जौ लौं लाल घर आवैं ना।
—देव

३. बिरही दुखारे, तिन पर दई मारे, मानौं,
मेघ बरसत हैं अंगारे आसमान तें।
—करनेस

७. शृङ्गारेतर साहित्य—

इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्ति शृङ्गार ही है। पर, यह भी सत्य है कि अन्य प्रकार के साहित्य की रचना भी इस युग में हुई। अन्य प्रकार के साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: भक्ति नीतिपरकसाहित्य वीररसात्मक और ज्ञान संग्रहात्मक साहित्य।

७. अ. भक्ति और नीति-साहित्य—सगुणोपासना का पर्यवसान तो शृङ्गार में होगया था फिर भी इस युग में कुछ रीतिकालीन भक्त भी हुए। इनमें जगजीवन दास यारी, दरिया, पलटू, शिवनारायण आदि निर्गुण सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक-प्रचारक प्रमुख हैं। इसी समय के नूर मुहम्मद, शेख निसार, ख्वाजा अहमद, आलम आदि प्रेममार्गी कवियों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। निर्गुण काव्य इस युग में साहित्य के राज-मार्ग से अलग पड़ गया। प्रेममार्गी साहित्य-शृङ्गार के आधिक्य के कारण परम्परा के साथ ही सम्बद्ध रहा: लोकप्रिय न हो सका। देव, बिहारी, पद्माकर आदि ने भी भक्ति-सम्बन्धी उक्तियों की रचना की।

शृङ्गार के अपार-अगाध पारावार में नीति और भक्ति की लघु-लोल लहरें भी कभी कभी दिखाई दे जाती हैं। इन उक्तियों के पीछे न भक्त का सा व्यक्तित्व है और न आत्मानुभूति ही व्याकुल है। शतककारों की नीति-शृङ्गार-वैराग्य की त्रिवेणी से कुछ प्रेरणा लेकर इस काल के कवियों ने भी यदा-कदा भक्ति और नीति सम्बन्धी उक्तियों का कथन कर दिया है। राधा-कृष्ण के सुमिरन का बहाना करने वाले ये कवि भक्ति से कोसों दूर थे। ग्वाल ने राधा-कृष्ण से उनकी अति शृङ्गारिक सज्जा के लिए क्षमा-याचना की—

श्री राधा पद पदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध कों, कियो जु कथन रसाल॥

वास्तव में इन कवियों की भक्ति शृङ्गार-चित्रण का ही एक भाग थी। नीति परक साहित्य में या तो रूढ़ि बद्ध आप्त वाक्यों को रखा गया है, या लोकोक्तियों को नवीन शैली दी है। यदि इन कवियों की अनुभूति का योग माना जा सकता है तो केवल वहीं जहाँ प्रेम की निष्फलता, अस्थिरता, गुण-ग्राहकता का अभाव आदि इनकी नीति साहित्य के विषय बने है। हो सकता है कि राग के आतिशय्य की प्रतिक्रिया में भक्ति और नीति की उक्तियाँ फूट पड़ी हों। बिहारी में उक्तियों का कुछ वैविध्य अधिक है। एक दार्शनिक उक्ति देखिए—

मैं देख्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सों।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥

दास्योक्ति भी कितनी अनूठी है—

नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
मनो तज्यौ तारन बिरद, बारक बारन तारि॥

कृष्ण को तो वे मन में ही रखना चाहते हैं—

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥

कहीं-कहीं स्वर निर्गुणियों का-सा भी हो गया है—

जपमाला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचै नाचे वृथा, साँचै राचे राम॥

देव ने भी अपने विषयोन्मुख मन के सम्बन्ध में पश्चाताप करते हुए लिखा—
'जो मैं ऐसो जानतो कि जैहै तू विषै के सङ्ग, ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतौ।
भारी प्रेम पाथर नगारो दे गरे मों बाँधि, राधा वर-बिरद के बारिधि में बोरतौ।

भक्त कवियों में रसखान, घनानन्द और बोधा को भी नहीं भुलाया जा सकता। नागरीदास में भी शृङ्गार संवलित भक्ति के दर्शन होते हैं। जो अपने स्वरूप में उत्कृष्ट हैं।

७. आ. वीर-रस साहित्य—

जोधराज, भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर की अधिकांश रचनाएँ वीररसात्मक हैं। वीर-रस पौराणिक प्रसङ्गों को लेकर भी निःसृत हुआ है और सामयिक जातीय

राष्ट्रीयता को लेकर भी। शिवाजी और छत्रसाल जैसे आलम्बन, वीरनायक इस काल के शृङ्गार-नायक से कहीं अधिक विशिष्ट और सशक्त हैं। धर्म के उद्देश्य और भगवान के अवतार के धर्म-रक्षक अभिप्राय को लेकर भूषण और लाल ने वीर-रस को उदात्त धरातल पर स्थापित किया है।

७. इ. ज्ञान कोष—

लोक जीवन से सम्बन्धित अनेक शास्त्रों और कोषों की रचना भी इस युग में हुई। डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है: "लोकजीवन के बीच वास्तविक बातों का अनुभव और ज्ञान-संग्रह के रूप में इस युग के काव्य में ऐसे भी ग्रन्थ मिलते हैं जो राजनीति, काम-शास्त्र, शालिहोत्र (पशु-विज्ञान), ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन-शास्त्र, मांस-पाक, सुरापान, मैत्री, सङ्गीत-शास्त्र आदि पर लिखे गए हैं; जिससे यह पता चलता है कि जो जीवन का यथार्थ पक्ष है—ऐहिक, भौतिक, शरीर या वासनात्मक पक्ष—उसकी ओर उनकी निवृत्ति का भाव नहीं, प्रवृत्ति का भाव जाग्रत था।" अवधूत सिंह ने 'सुरापचीसी' (१८४४ वि०) में सुरापान की प्रशसा लिखी है। इसी प्रकार हुक्के की भी प्रशंसा की गई है।

८. कलापक्ष—

८. अ. काव्यरूप—रीतिकाल मुक्तक-युग कहा जा सकता है। भक्तिकालीन प्रबन्ध-प्रवृत्ति और संगीत-मिश्रण से इस युग के कवियों ने काव्य को मुक्त किया। मुक्तक अन्यनिरपेक्ष होते हुए भी अपने में पूर्ण होता है। अग्निपुराण ने इसकी एक विशेषता चमत्कार-क्षमता मानी है: "मुक्तकं श्लोक, एवैकश्चमत्कार क्षमः सताम्।" अभिनव गुप्त ने 'रस चर्वण क्षम' विशेषण का प्रयोग मुक्तक के लिए किया है: "रस-चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।" शुक्लजी ने प्रबन्ध की अपेक्षा इसमें रसमयता कम मानी है। पर अमरुक के मुक्तक काव्य की प्रशंसा करते हुए आनन्दवर्द्धन ने "अमरुक कवेरेक श्लोकः प्रबन्ध शतायते" लिखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकालीन मुक्तक चमत्कारक्षम भी थे और रसचर्वणक्षम भी। घनानन्द की सी रसचर्वणा, और नागरीदास की सी रसवत्ता अन्यत्र कहाँ मिलेगी। चमत्कार तो कलपक्षीय युग-धर्म ही बन गया था।

मुक्तक के लिए इस काल के कवि ने दोहा, सवैया, कवित्त, कुण्डलिया और छप्पय छन्दों को अपनाया। दोहे की सफलता कवि की सामासिक क्षमता पर निर्भर रहती है। इस शक्ति का चरम-विकास बिहारी में देखा जाता है। सवैया की पूर्व-परम्परा की तो पूरी खोज नहीं हुई, पर इतना अवश्य प्रतीत होता है कि भक्ति-काल में यह छन्द भाटों की मौखिक काव्य-रूप परम्परा से लिया गया होगा। इसके मत्त-गयन्द, दुर्मिल, किरीट और सुमुखी नामक भेद इस युग में विशेष लोकप्रिय हुए थे। इसका सौन्दर्य मुख्यतः ध्वनि और नाद के सौन्दर्य पर निर्भर रहता है। ध्वनियों का

श्रुति-सुखद-रूप इसका आवश्यक जीवन है। अतः शब्दालङ्कार-योजना से इसकी सज्जा की गई है। कवित्त भी अकबर के काल में ही साहित्य में प्रयुक्त मिलता है। सेनापति में कवित्त का सौन्दर्य बहुत निखरा है। सवैया की अपेक्षा कवित्त-रचना सरल है और सरस भी है। यमक, श्लेष, वीप्सा आदि से इसका विशेष अलङ्करण हुआ है। अन्य छन्द इनसे कम लोकप्रिय हैं। वास्तव में भाटों की मौखिक परम्परा से इन छन्दों को भक्ति-काल से लिया गया है। रीतिकालीन कवियों ने इन्हें स्वच्छ और समर्थ बनाया।

८. आ. शैली—

८. आ१. शब्द-योजना—अनेक शब्दों के अर्थ और सम्बन्धों को इस काल के कवि ने नवीन रूप में ढाला। राधा, कृष्ण नायिका और नायक के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। 'लाल' शब्द पुत्रवाची से 'प्रियवाची' हो गया। 'लला' इसका व्यंग्यात्मक रूप हो गया। शब्दों की ध्वनियों की उपयुक्त योजना करके इस काल का कवि वातावरण के चित्रण में भी बहुत सफल हुआ है। अनुरणात्मक, अनुकरणात्मक और लक्षणात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने में ये कवि कुशल थे। मिलन के वातावरण को निम्नलिखित अनुरणन-योजना कितना वेगशील बनाती है—

झाँझरियाँ झनक़ैंगी खरी, खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरै। [दास]

देव ने वर्षा-कालीन वायु से प्रेरित वस्त्रों का चित्रण अनुकरणात्मक शब्दों के द्वारा किया है। इससे हवा का वातावरण सजीव होता है—

फहर फहर होत पीतम कौ पीतपट, लहर लहर होत प्यारी की लहरिया।

लक्षणात्मक शब्द भी नाद सौन्दर्य से युक्त होते हैं। बिहारी ने 'लह लहाति तनु तरुनई' लिखकर यौवन को भरी पूरी फसल के समान बतलाया है। देव ने 'ममड्यो परतरूप' कह कर रूपाधिक्य को प्रवाहित किया है। वास्तव में रीतिकाल का कवि शब्द की सभी शक्तियों, उनकी सभी सुन्दरताओं और उनकी विविध पद्धतियों से परिचित था। ऐन्द्रिय वातावरण प्रस्तुत करने में ध्वनि और नाद का सौन्दर्य बड़ा महत्त्व रखता है। जहाँ इन कवियों के चित्रणों में चाक्षुष सामग्री पर्याप्त है, वहाँ नाद-चित्र भी भरे-पूरे हैं।

विशेषणों के गढ़ने और उनके उपयुक्त प्रयोग में भी रीतिकालीन शिल्पी दक्ष था। विशेषणों के माध्यम से कवि की अपनी अनुभूति, वातावरण और विशेष्य की रागात्मक स्थिति स्पष्ट होती है। रीतिकालीन कवि के पास चित्रोपम विशेषणों की भी अपार सम्पत्ति थी। आँख के लिए कितने आकर्षक विशेषण मिलते हैं : अनियारे, अहेरी, ललचौंही, अलसौंही, बड़री, तीखी, करेरी आदि। उरोजों के लिए प्रमुख विशेषण ये हैं : उतंग, ओछे, करेरे, ठाड़े, उकसौहे, उचके, पीन, उचौंहे, पुष्ट, नील। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य में विशेषणों की चित्रोपमता और उद्दीपन-क्षमता उल्लेखनीय है।

८. आ$_2$. मुहावरे—शरीर के अङ्गों और मन के आधार पर बने हुए मुहावरों के प्रयोग ने भी भाषा को सजीव और चपल बनाया है। आँखों का लड़ना, मन बँधना और चित्त का चोरी जाना आदि मुहावरे रीतिकालीन भावधारा के अनुकूल ही हैं। मुहावरों के प्रयोग से अलङ्कार की चमत्कृति में भी वृद्धि की गई है और उक्ति को वक्र भी बनाया गया है। बिहारी का एक दोहा देखिए—

दृग उरझत टूटत कुटंब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

८. आ$_3$. चित्र-योजना—अमूर्त भावों को मूर्त बनाने के लिए शब्द-चित्रों की योजना होती है। चित्रयोजना के प्रकार ये होते हैं—
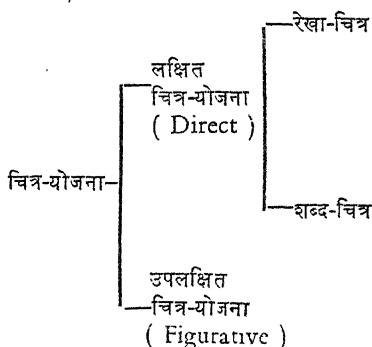
रेखाचित्र में ऐंद्रिय विषयों की समन्विति रहती है। नख-शिख वर्णन, अभिसारिका-खण्डिता आदि के चित्र यद्यपि परम्परित रूढ़ियों से मुक्त नहीं है, फिर भी इस काल के कवि-शिल्पी ने उनको पर्याप्त स्वच्छता और प्रभाव के साथ अङ्कित किया है। रूप-चित्रण में स्थिरता रहती है, पर अनुभवों एवं चेष्टाओं के चित्र गतिशील होते गये हैं। रूप-अनुभाव-चेष्टा सम्बन्धी रेखा-चित्रों की इस काल के साहित्य में भरमार है। मतिराम और देव के रेखा-चित्र अधिक मुखर हैं। बिहारी के भी चित्र अपनी संक्षिप्तता में पर्याप्त उभार लिए खड़े हैं। एक उदाहरण लीजिए—

नासा मोरि नचाय दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिए, वहै कटीली भौंह॥

वर्ण-चित्र भी कम नहीं हैं। वर्ण-योजना के द्वारा कवि अपने भावों को ही रूप देता है। रङ्गों के विन्यास से नायिका के गतिशील चित्र बरबस रसिक पाठक को आकर्षित कर लेते हैं। नायिका चल रही है और रङ्ग का विन्यास इस प्रकार हो रहा है—

पाँव धरे अलि ठौर जहाँ, तेहि ओर तें रङ्ग की धार सी धावति।

—सुन्दरी तिलक

भीतर भौन तें बाहिर लों, द्विजदेव जुन्हाई की धार सी आवति ।

—सुन्दरी तिलक

इस युग में अनुरूप वर्ण-योजना भी निराली मिलती है । वर्णों के मिश्रण से भी अनेक चित्र बनाए गए हैं । बिहारी और देव में रङ्ग-मिश्रण की कला अपूर्व है । सतसई के प्रथम दोहे का सौन्दर्य ही रङ्ग-मिश्रण-जन्य है । बिहारी ने धूपछांह में वर्ण-परिवर्तन और मिश्रण को देखा और नायिका की वयः सन्धि में इस प्रकार उतार दिया—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अङ्ग ।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रङ्ग ॥

अनुकूल और विरोधी रङ्गो का विन्यास भी अनेक चित्रों में हुआ । मतिराम की नायिका गौर है । लाज से उसका परिवर्तन लालिमा में होता जाता है । वर्ण परिवर्तन का उदाहरण देखिए—

ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखै गोय ।
नवल बधू डर लाज तें, इन्द्र बधू सी होय ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्ण-परिवर्तन में नवोढ़ा कितनी खिली है ।

अलक्षित चित्र-योजना में अप्रस्तुत विधान के द्वारा चित्र-रचना आती है । रूप और प्रेम को उद्दीप्त करने वाले अप्रस्तुतों का विधान ही इन कवियों ने किया है । सामन्तीय-जीवन-परम्परा और घरेलू-जीवन से सामग्री का चुनाव किया गया है ।

८. आ४. अलङ्कार-योजना—अलङ्कार तो रीतिकालीन काव्य में प्राणवत् समाविष्ट है । रूप-चित्रण में बहुधा रूढ़ि-ग्रस्त उपमान ही मिलते हैं । पर कहीं-कहीं नवीनता भी निराली है । देव ने नायिका को दीपावली कहा । पुराने उपमानों को भी नवीन भूमिका प्रदान की गई है । अलङ्कारों का चमत्कारपूर्ण विधान करने में इस काल का कवि सिद्धहस्त था । उसने शब्दालङ्कारों का भी प्रभूत प्रयोग किया और अर्थालङ्कारों का भी । अतिशयता-मूलक अलङ्कारोंका प्रयोग यद्यपि कहीं-कहीं हास्यमय हो गया है । अधिकांश उपमान प्रायः प्राचीन हैं ।

८. इ. भाषा—इन कवियों की भाषा ब्रज-भाषा है । भक्त-कवियों ने इस भाषा के निखार में पर्याप्त योगदान दिया । कृष्ण-भक्त कवियों ने उसको शृङ्गार के अनुकूल संस्कृत किया । पिङ्गल के कवियों ने इसकी शक्तियों का विकास किया । ब्रज-भाषा अपने साहित्यिक रूप में गुजरात से बंगाल के 'ब्रजबुली' क्षेत्र तक कभी शुद्ध रूप में कभी क्षेत्रीय भाषाओं को प्रभावित करने वाली भाषा के रूप में अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रही । इस भाषा में माधुर्य की मुख्य रूप से प्रतिष्ठा हुई : 'ब्रज-भाषा सी मिठलौनी कहाँ ।' इसके गुणों और इसकी शक्ति का विकास इसके मिश्रित रूप के कारण भी हुआ । भिखारीदासजी ने इस मिश्रित-भाषा रूप को स्पष्ट किया और 'ब्रज-भाषा हेत ब्रज-बास ही न अनुमानो' कह कर ब्रज के विस्तार की सूचना दी । फ़ारसी से भी इसने अनेक शब्द और मुहावरे लिए । संस्कृत, प्राकृत के अतिरिक्त बुन्देली, अवधी,

कनौजी आदि के शब्द और व्याकरण-रूप भी ब्रज में मिलते हैं। इस समृद्ध-भाषा को रीतिकालीन कवि ने अपनाया।

निष्कर्ष—

शुक्लजी की भाषा में रीति-काव्य साध्यावस्था का काव्य है। इस काव्य में शृङ्गार-रस अत्यन्त सघन है। इसके शृङ्गार के मूल्याङ्कन में भक्ति-साहित्य की तुलना बाधक हुई। वैसे यह भी सत्य है कि रस की उदात्त और उच्चतर भूमियों का अभाव ही मिलता है। कामुकता और विलासिता के ऐहिक-रूप ने शृङ्गार को स्थूल रूप-चित्रण, अनुभाव-चित्रण और नायिका-भेद में बाँध दिया। सामाजिक दृष्टि से इस काव्य ने कोई स्वस्थ जीवन-दर्शन नहीं दिया। पर इस पराभव-युग की शुष्क परिस्थितियों में सरसता का सञ्चार इस काव्य ने अवश्य किया। साथ ही तत्कालीन संस्कृति और जीवन की अस्फुट झाँकियाँ इस काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान में मिल जाती हैं। युग-व्यापी निराशा को छिन्न करने का प्रयत्न इस कवि ने किया और जीवन के प्रति अनुराग बनाये रखा। नैतिक दृष्टि से इस काव्य का मूल्य कम है, इस सत्य की अवहेलना कोई नहीं कर सकता। फिर भी कला सम्बन्धी उपलब्धियाँ अवश्य उल्लेखनीय हैं। मुग़ल, राजपूत शैली के चित्रों की कान्ति और ताजमहल की सी सन्तुलन व्यवस्था इस काल के काव्य में भर गई। सैद्धान्तिक समीक्षा के अवतरण के द्वारा इस काल के आचार्यों ने काव्य-धारा को नियंत्रित भी किया और उसकी दिशा को सुनिश्चित भी किया। कलात्मक साधना ने हिन्दी को एक अनुपम साहित्य प्रदान किया। डा० नगेन्द्र के शब्दों में : "एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।"[1] अपने मूल अर्थ में यह उक्ति अत्युक्ति नहीं है।

[1] रीतिकालीन काव्य और देव (डा० नगेन्द्र)

१९

हिन्दी गीति-काव्य

१. गीति तत्त्व का उद्‌भव—काव्य और गीत-सामाजिक एवं व्यक्तिगत विधाएँ
२. आदिकाल : लोक-शैली—सिद्धों, नाथों के गीति, वज्रगीति, महासमय गीतिका, हेवज्र गीत, चर्या पद
३. संस्कृत शैली की गीत परम्परा—क्षेमेन्द्र, जयदेव, विद्यापति
४. वीर-गीत
५. मध्यकाल—शास्त्रीय धारा, निर्गुण-सन्तों के गीत, सगुण-भक्तों के गीत
६. रीति विस्तार—कृष्ण-भक्ति धारा, पद-परम्परा, विषय-वस्तु, दार्शनिक पृष्ठ-भूमि, सूर-अष्टछाप तथा मीरा की शैलियाँ
७. उत्तर मध्यकाल
८. आधुनिक-युग

गीत का जन्म मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हुआ। सम्भवतः उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के साथ ही इसका भी सहज विकास हुआ है। वह विकास सहज इसलिए है कि मनुष्य के रागोद्वेलन के इस माध्यम की गति और विधि को 'शास्त्र' ने प्रभावित नहीं किया। यदि किया भी तो अत्यल्प मात्रा में और पर्याप्त बाद की स्थितियों में। इस पर सङ्गीत-शास्त्र का प्रभाव तो काव्य-शास्त्र की अपेक्षा कम रहा। काव्यशास्त्र महाकाव्य की गतिविधि को नियंत्रित करता रहा और साहित्य की इसी विधा को उसने सबसे अधिक प्रतिष्ठा भी दी। इसके वर्ण्य विषय, पात्र-योजना, भाव-विधान और रूप-विन्यास सभी को शास्त्र ने बाँध दिया। यह 'सभी' अभिजात-वर्ग और उसकी रुचि को प्रतिबिम्बित करने में लगा। मनुष्य के वैयक्तिक स्पन्दनों से महाकाव्य सम्बन्धित नहीं रहा इसमें सम्पूर्ण जाति या राष्ट्र का जीवन स्पन्दित रहना चाहिए। जब राष्ट्रीय-जीवन के समस्त मूल्यों और आदर्शों के लिए महाकाव्य की विधा निश्चित हो गई तो शास्त्र ने इसकी योजना के एक बिन्दु को भी अनियंत्रित नहीं छोड़ा। इन शास्त्रीय अनुज्ञाओं और अधिनियमों ने गीत के विकास को प्रभावित नहीं किया। संसार के साहित्य में महाकाव्यों की स्थिति आरम्भ से ही मिलती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि गीत का अस्तित्व ही महाकाव्य के पश्चात् का है। महाकाव्य की

आरम्भिक स्थिति यही प्रकट करती है कि गीत के संग्रह और संरक्षण की ओर समूह या समाज ने विशेष ध्यान नहीं दिया। महाकाव्य को कवि की शास्त्र-सम्मत-साधना का सर्वोत्कृष्ट फल माना गया और जातीय जीवन से इसको अविच्छिन्न मान कर, समाज ने इसका संग्रह-संरक्षण अपने दायित्व के रूप में स्वीकार किया। गीत में व्यक्ति-मन की क्षणिक स्फीतियों का उद्रेक ही होता रहा। अपने लघु आकार और अनौपचारिक विधान के कारण गीत अपनी मौखिक परम्परा ही बनाए रहा। इस प्रकार महाकाव्य की धारा के साथ ही गीति की धारा भी सतत प्रवाहित होती रही।

भारतीय काव्य-शास्त्र में रस की प्रतिष्ठा ने भी महाकाव्य को ही प्रधानता दी। रस के उपकरण-सूत्र के विकास और उन्नयन के लिए जितना अवकाश अपेक्षित होता है, वह महाकाव्य में ही सम्भव हो सका। रस की विस्तृत और सुनिश्चित परिपाक-प्रक्रिया का बोझ गीत से उठाते नहीं बनता। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि भारतीय-काव्यशास्त्र में महाकाव्य की स्थिति ही केन्द्रीय रही। गीत के विधि-विधान पर बहुत ही कम विचार किया गया। संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी गीत की धारा कभी प्रबल नहीं हुई। यहाँ माघ, भारवि, भवभूति, बाण और कालिदास, श्रीहर्ष जैसे महाकवियों को ही उच्च स्थान प्राप्त है।

गीत और काव्य में एक मूलभूत अन्तर है। काव्य शब्दार्थ की रमणीय योजना है तो गीत नाद-योजना। गीत में अर्थ का स्थान गौण है। लोक का "मर्मी मन शब्दार्थ की चिन्ता से निरपेक्ष होकर अपने भाव-कणों के लिए गीत का माध्यम चुनता है। गीत में लय और ताल के तत्त्व प्रमुख होते हैं। ये भाव प्रेरित अङ्ग-भङ्गियों के भी सार्थी हो सकते थे और आन्तरिक भाव-स्पन्दनों की गति के भी। गीतों की स्थिति अपनी स्वाभाविकता के कारण छन्द से पूर्व की प्रतीत होती है। गीत का ताल वाला अंश छन्द का रूप ग्रहण करता गया और लय, वाला अंश रागों में परिणत होता गया। छन्द एक ओर मुक्तकों में प्रयुक्त होता गया, दूसरी ओर प्रबन्धात्मक और वर्णनात्मक काव्यों में भी उसका उपयोग होने लगा। यही गीत भावोच्छ्वासों के प्रकटीकरण का माध्यम होता गया। "गीतों में जब गीतों का रूप, वर्णन से पृथक् अस्तित्व की आकांक्षा करने लगता है, तब शास्त्र के हाथों में सङ्गीत-कला के बीज पड़ने लगते हैं, तथा ताल और स्वर के विविध संयोगों को राग-रागिनियों के नाम दिए जाते हैं। उसके नियम खोज लिए जाते हैं, और उनके अभ्यास की एक जटिल प्रणाली निर्धारित हो जाती है।"[1] परन्तु शास्त्रीय नियमों की अवहेलना करता हुआ भी एक स्वाभाविक गीत-प्रवाह लोक के धरातल पर चलता है। गीत का यही प्रवाह एक ओर तो साहित्य से अलग होकर भी चलता रहा और दूसरी ओर साहित्य से संपृक्त होकर भी अपनी रूप-सज्जा करता रहा। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही गीत साहित्य में प्रविष्ट हो जाता

१. डा० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्त्विक अध्ययन, पृ० ४७५

है और आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। कभी लोक गीतों की शैली और कभी शास्त्रीय राग-शैली साहित्यिकों को आकर्षित करती। "पद-साहित्य का इतिहास बतलाता है कि इसका जन्म-स्थान लोक-भाषा का लोक-क्षेत्र था, और जिस सम्प्रदाय ने सबसे पहले लोक-सम्प्रदाय अथवा लौकिक-धर्म की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहाँ लोक भाषा को अपने सम्प्रदाय का माध्यम बनाया, वहीं उसी लोक-परम्परा से प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध-सिद्धों ने पदों को अपनाया, नाथों ने अपनाया, फिर सन्तों ने अपनाया, इसी प्रकार आलवारों, बाउलों ने पद गाए और उनकी परम्परा के वैष्णव सन्तों ने इनमें अत्यन्त ही उत्कर्ष प्रकट किया।" अवश्य ही इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि लोकोन्मुख सन्तों या सुधारकों ने आरम्भ में गीत-शैली को लोक से लिया। पीछे लोक गीतों में शास्त्रीयता आने लगी और राग-रागिनियाँ प्रयुक्त होने लगी। अतः हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त गीत की विकास-परम्परा पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

१. आदिकाल—हिन्दी के आदिकाल में गीति-काव्य की दो धाराएँ मिलती हैं: लोक-शैली के गीत और संस्कृत के गीतिकारों की शैली के गीत। पहली धारा का सम्बन्ध सिद्ध और नाथों से है और दूसरी का विद्यापति से।

१. अ. लोक-शैली के गीत—समग्र अपभ्रंश काव्य ही मुख्यतः गेय काव्य था। बहुत से साहित्यिक छन्द अपभ्रंश में गेय रूप में प्रयुक्त होते थे। इसीलिए अपभ्रंश का कवि मात्रा-गणना को अधिक महत्त्व न देकर छन्द के गेयतत्त्व पर विशेष ध्यान देता था। छन्द का गेय-रूप उस छन्द की 'देशी' कहलाती थी। अपभ्रंश का प्रमुख छन्द दोहा था। इन दोहों का प्रयोग सिद्धों ने भी किया। दोहों का स्फुट प्रयोग सिद्ध साहित्य में भी मिलता है। दोहा-कोषों में यही स्थिति है। परन्तु दोहों में गीतों की रचना भी होती थी। सरहपा की वज्र गीतियों को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। बौद्ध परम्परा में दोहों की गेयता के अनेक प्रमाण भी मिलते हैं।[१] सिद्ध साहित्य में गेय दोहों के लिए 'वज्रगीति' नाम का प्रयोग हुआ है। साधनमाला में बुद्ध कपाल की साधना में ४ दोहों की एक वज्रगीति मिलती है। हेवज्र-तंत्र में दो वज्रगीतियाँ मिलती है। इनमें से प्रथम चार दोहों की है और दूसरी पाँच की। दूसरी वज्रगीति को 'महासमय गीतिका' कहा गया है। इन सभी गीतिकाओं को वज्रयानी साधनाओं के समय गाने और कभी-कभी उन पर नृत्य करने का भी विधान था।[२] दोहा कोषों की गेयता का प्रमाण नहीं मिलता। सामान्यतः इन गेय दोहों की छन्द-योजना १३-१२ मात्राओं की मानी जाती है। इस छन्द योजना में अपवाद और अनियमितताएँ भी पाई जाती हैं। हो सकता है, इनका कारण गेयता ही हो। ब्रज-क्षेत्र में आज भी अनेक गीत मिलते हैं जिनका मूल ढाँचा दोहों से निर्मित है, केवल एक टेक भिन्न छन्द-योजना में रहती हैं। दोहे का प्रयोग अन्य प्रकार के गीतों में भी मिलता है। हेवज्र-तंत्र की चार दोहों की वज्रगीति इस प्रकार है—

---

१. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य पृ० २९३
२. ,, ,, पृ० २९४

उठठ् भरागो करुगमन् । तपुक्खसि महुँ परि ताहिं ।
महासुह जोए काम महुँ । इच्छ तहि सुरग समाहिं ।
तोम्हा विहुणे भरमि हउँ । उठठ् हि तुहुँ हेवज्ज ।
छड्डहि सुरग सहावता । सवरि सिझउ कज्ज ।

सिद्धों द्वारा प्रयुक्त दूसरी गीति शैली चर्या पदों में मिलती है। इन गीतों में प्रधानतः 'पादाकुलक' छन्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वान 'पादाकुलक' से ही बङ्गाली 'पयार' छन्द का विकास मानते हैं।[1] पर चर्या गीतों मे 'पयार' छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। चर्या पदों की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

१. जो मण ।। गोअर ।। आला ।। जाला ।।
आगम ।। पोथी ।। इष्टा ।। माला ।।[2]

डा० वेलङ्कर ने चर्यापदों की गेयता पर विचार किया है। उनके अनुसार संस्कृत वर्ण-वृत्तों से इन अपभ्रंश मात्रा वृत्तों का मुख्य अन्तर यह है कि इनके मूल में एक नवीन प्रकार का सङ्गीत रहता है। उन्होंने इस सङ्गीत को ताल-वृत्ति या ताल-सङ्गीत के नाम से पुकारा है। इसका स्रोत उन्होंने लोक जीवन में माना है। आरम्भ में ये छन्द गेय थे और ताल-वृत्तों पर आधारित थे पीछे इनका शास्त्रीय संस्कार हुआ और इन्हें ह्रस्व और दीर्घ मात्रा-वृत्तों में बाँध दिया गया। इन गीतों में 'पादाकुलक' छन्द और दोहे का संयोग मिलता है। डा० वेलङ्कर के अनुसार चतुष्पदियों का पूरा कड़वक एक साथ गाया जाता था और धत्ता (विश्राम) या दोहे पर गायक रुक जाता था। दोहा बिना गाए हुए ही बोला जाता था। यह दोहा-चौपाई, शैली, पहले वर्णनात्मक काव्यों में ही प्रयुक्त होती थी। बाद में उन्हीं पादाकुलकों को रागों में बाँध दिया गया। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दोहे भी गेय होते थे।

चर्यापदों के साथ राग का नाम भी दिया गया है। ये राग संख्या में १८ हैं: अरु, कामोद, गउड़ा, गुंजरी, गुर्ज्जरी, देशाख, देवक्री, धनसी, पट-मञ्जरी, बङ्गाल-भैरवी, मल्लारी, मालशी, मालशी-गबूड़ा, रामक्री, बलाड्डि, बराडी एवं शबरी। इनमें से कुछ रागों का उल्लेख 'सङ्गीत रत्नाकर' (१२१० ई० के लगभग) में मिल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धों ने इन रागों को मूलतः लोक-स्रोत से ही लिया होगा। पीछे शास्त्रीय दृष्टि से उनका नामकरण कर दिया होगा। नारद कृत 'सङ्गीत-मकरन्द' में भी इनमें से कुछ रागों का उल्लेख मिलता है। इन रागों में से कुछ का विभाजन गाने के समय के अनुसार किया गया है। कुछ राग प्रातः काल गाए जाते थे और कुछ मध्याह्न में। स्त्री, पुरुष, तथा नपुंसक रागों के रूप में भी इनका वर्गीकरण मिलता है। "...भारतीय सङ्गीत की जो परम्परा आज उत्तर-भारत में प्रचलित है, शास्त्रीय पद्धति में उसका संघटन प्राकृत-अपभ्रंश काल में ही हुआ है और विभिन्न जातियों और प्रान्तों के लोक-सङ्गीत को अपनाकर

---

१. डा० सुकुमार सेन, ओल्ड बङ्गाली टेक्स्टस, पृ० ४४
२. चर्या गीत, पृ० ४०

उन्हें स्वर ग्रामों के एक नियम में आबद्ध कर दिया गया है। पूर्वागत परम्परित वैदिक सङ्गीत-पद्धति को मार्ग या गन्धर्व-प्रणाली का नाम देकर उसे देवोचित सङ्गीत की मान्यता देकर नए मानवोचित 'देशी-सङ्गीत' को प्रमुखता दी गई। यह 'देशी' नाम सङ्गीत-शास्त्र के सभी ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि सिद्धों के इन पदों के राग मूलतः लोक-सङ्गीत से लिए गए थे किन्तु उस समय की शास्त्रीय पद्धति में स्वीकृत होकर वे नियमानुशासित हो गये थे।"[1] यह हिन्दी साहित्य के आदिकाल में गीतिकाव्य की सिद्ध-प्रयुक्त लोक-शैली का बाह्य विधान था।

सिद्धों के गीतों का भाव-पक्ष भी बहुत प्रबल था। इनमें इतिवृत्तात्मकता किञ्चित मात्र भी नहीं मिलती। केवल साधना और समाधि के घनीभूत क्षणों की भरपूर अनुभूतियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही सिद्धों के इन गीतों में मिलती है। ये गीत साधना के अङ्ग भी थे। कहीं-कहीं साधना-पक्ष के गीतों में लौकिक-शृङ्गार का उद्रिक्त रूप भी दिखलाई पड़ता है। यथा योगिनी-नायिका रति की पीड़ा का अनुभव करती हुई योगी के पास अभिसारिका के रूप में जाती है।[2] पर अधिकांश गीतों में नायकारब्ध रति का ही वर्णन है। गुण्डुरीया योगिनी से आलिङ्गन और चुम्बन की याचना करता है।[3] कण्हपा भी डोम्बी से समागम की अभिलाषा करते हुए मिलते है और योगिनी के मन में भी इसी प्रकार की इच्छा जागृत करने के लिए, अस्थिमालाएँ धारण करते हैं।[4] शवरया अपनी प्रेयसी से एक उन्मत्त नायक के रूप में मिलते हैं। वे शून्य बालिका या नैरात्म-बालिका को कण्ठ से लगाकर सुहाग-शयन करते हैं। इस गीत में रतिक्षण की अनुभूतियों का चित्रण है। एक गीत में महामुद्रा का प्रौढ़ा रूप व्यक्त है। गुण्डुरीपा कुन्दुरवीर के रूप में योगिनी से त्रिनाड़ियों को दबाकर एक भरपूर आलिङ्गन देने का आग्रह करते हैं। उस आलिङ्गन के उपरान्त वे योगिनी में चरमासक्त हो जाते हैं। शवरपा की शबरी तो स्पष्टतः मुग्धा नायिका के प्रभाव से युक्त है। इस प्रकार चर्या गीतों में सम्भोग-शृङ्गार के स्फीत क्षणों की समाज, मर्यादा आदि से निरपेक्ष परम वैयक्तिक अनुभूतियों की निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति मिलती है। आत्मानुभूतियों को जितनी सचाई और गहराई गीति-काव्य के लिए अपेक्षित होती है, वह इन आरम्भिक गीतों में पूर्णतः मिल जाती है। सामाजिक मर्यादाओं की चेतना ही गीत की आत्मा को क्षुब्ध और कुण्ठित कर देती है। पर यहाँ किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं है। इसीलिए गीत अपने निज स्वरूप में यहाँ मिलता है।

---

१. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २६६; और भी, अय्यर, स्वर कला निधि पृ० ६६

२. चर्यापद, २

३. ,, पद, ४

४. ,, ,, १०

संयोग के अतिरिक्त विप्रयोग के क्षणों की अभिव्यक्ति भी कुछ गीतों में मिलती है। परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। एक गीत का भावार्थ डा० धर्मवीर भारती ने इस प्रकार दिया है : "कुक्कुरीपा...भगवती नैरात्मा को आसन्न प्रसवा विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित करते हैं जिसका पति शून्य-चित्त होने के कारण अन्य-मनस्क और विरागी है। उसी परिस्थिति मे उसने एक मृत शिशु को जन्म दिया है और वह प्रसव-श्रम से पराभृत है। अपने इस दुःख को स्वतः भगवती नैरात्मा चर्या-पद में अभिव्यक्त करती हैं।"

बुद्ध कपाल साधना की एक वज्रगीति में नायक के मान का उल्लेख है। नायिकाएँ उसे मनाने का प्रयत्न करती है : यदि तुमने मिलन या अनुष्ठान के समय इसी प्रकार अन्यमनस्क होने का सङ्कल्प कर लिया था तो इतने लोगों—२५ योगि-नियों—को क्यों आमंत्रित किया। तुम प्रेम की पहली बातों को याद करो और इस विषाद की स्थिति को त्यागो, तुम्हारे इस प्रकार उदास होने से सभी योगिनियाँ निराश हो रही हैं। योगिनियों की कामना पूर्ण करो। इस सारे आवेश में रासपञ्चा-ध्यायी का सा प्रेम-प्रसङ्ग मुखर है। इसी प्रकार की अन्य व्रजगीतियाँ और भी हैं।[१] इस प्रकार की गीतियों में नायिका की प्रणयाकुलता व्यक्त हुई है। यही अनुभूति की तीव्रता इन गीतों की विशेपता है।

इनमें कुछ गीत नीतिपरक भी हैं। वैसे नीति-कथन का माध्यम दोहा ही रहा है, पर चर्यागीतों में भी नीति को स्थान मिला है। इन पदों में साधना और तत्त्व-दर्शन का परिभाषिक और प्रतीकात्मक निरूपण भी मिलता है। कहीं-कही तत्त्व-निरूपण, प्रतीक-मुक्त भी है। कुछ पद योगी के साधना-कालीन अनुभवों की गाथा कहते हैं। नीतिपरक पदों की यह परम्परा आगे भी चलती रही। सिद्धों के नीतिपरक पद अनुभूति की दृष्टि मे शृाङ्गारिक पदों की अपेक्षा स्थूल हैं। उनका नीतपरक पद-साहित्य-साधक को धर्म-साधना में प्रवृत्त करने के लिए ही प्रतीत होता है। इसी परम्परा में कबीर आदि निर्गुणियों के 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' जैसे पद आते है जिनमें साधक द्वारा साधुओं को सम्बोधित किया गया है। इन पदों में प्रधान स्थान धर्म-भावना का है : लोक-व्यवहार पक्ष दोहों में प्रमुख है। साथ ही संस्कृत के नीति-साहित्य से सिद्धों के नीति-साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि, सिद्धों ने संस्कृत युग के सामाजिक अनुशासन का स्वर नही अपनाया। उनके नीति-पद व्यक्ति पर केन्द्रित हैं। उनका अनुशासन साधना-मार्ग का अपना अनुशासन है। सिद्धों के नीतिपरक पदों के तीन पक्ष हैं—विवेचन, खण्डन और उद्‌बोधन। विवेचन वाले पदों में शून्य, सहज, प्रज्ञोपाय, समाधि आदि का निरूपण है। इसी प्रकार के कबीर आदि के वे पद हैं जिनमें हठयोग-साधना का निरूपण किया गया है। खण्डन अपने से इतर धर्म-सम्प्रदायों का किया है। कबीर आदि के खण्डनात्मक पदों का स्वर जितना सामाजिक है, उतना इनके खण्डनात्मक साहित्य का नहीं। उद्‌बोधन के पदों

१. बागची, दोहा कोष, पृ० ५३, ५४; चौधरी, ककार्णव;

में साधक को अन्तरोन्मुख होने का आदेश दिया गया है। इनमें बाह्य प्रपञ्च के त्याग का उपदेश है। प्रथम दो प्रकार के गीतों में बौद्धिकता का तत्त्व अधिक है। जब कि तृतीय प्रकार के गीतों में शान्त-भाव से सम्बद्ध अनुभूतियों की प्रेरणा है। इन गीतों में सिद्धों की आस्था, उनका आत्म-विश्वास और उनकी निर्भयता मिलती है जो एक गीतकार के व्यक्तित्व के लिए आवश्यक गुण हैं। कहीं-कहीं प्रखर व्यंग्य भी हैं जो उनकी अक्खड़ता को व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार सिद्धों ने अपने उन्मुक्त और निर्भय व्यक्तित्व को लेकर, अटपटी लगने वाली रहस्यमयी (संधा) भाषा में, आध्यात्मिक संकेतों से पूर्ण गीतों की सृष्टि की, जिसमें मानवीय और लौकिक भावों की तीव्रता और तरलता भी पूर्णतः निहित है।

१. अ. संस्कृत-शैली के गीत—

संस्कृत में गीति-काव्य का सर्वप्रथम प्रयोग कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में मिलता है। नायिका नृत्य-गीत प्रतियोगिता में एक चतुष्पदिका गाती है। इसमें पूर्व राग की विरहाकुल तीव्रता है मिलन की आशा का स्वर्णजाल विरह को उज्ज्वल बना देता है।[1] कवि ने इसे गीति नहीं कहा। परन्तु गीत के अधिकांश लक्षण इसमें मिल जाते हैं। इस गीत की भाषा भी संस्कृत नहीं प्राकृत है। श्रीमद्भागवत में गोपियों का विरह-प्रसङ्ग जैसे अपने आप में गीत-काव्य की आत्मा को समेटे हुए है। भागवतकार ने गोपियों की विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति तीन-चार गीतियों में की है। भागवत के इन प्रसङ्गों और गीतों में भावी गीति-काव्य की परम्परा के विषय और बीज अन्तर्हित हैं। क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'दशावतार चरित' में कृष्णावतार प्रसङ्ग में एक गीति का प्रयोग किया है। इस टेक-युक्त गीति की कमनीयता द्रष्टव्य है—

ललित विलास कला सुख खेलन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानित नव मदने।
केशि किशोर महासुर मारण
दारुण गोकुल दुरित विदारण
गोवर्द्धन धरणे।
कस्य न नयन युगं रति सज्जे
मज्जति मनसिज तरल तरंगे
वर रमणी रमणे।

इस प्रकार संस्कृत भाषा को क्षेमेन्द्र ने सायास गीति के उपयुक्त बनाया है। इस गीत में कवि ने विसर्ग, कठोर वर्ण और संयुक्त व्यञ्जनों के प्रयोग को बचाया है। 'तुक' और टेक के तत्त्व का समावेश भी किया है। संस्कृत भाषा गीति जैसी तरल और

१. मालविकाग्नि मित्र, अङ्क ४

सङ्गीत युक्त शैली के उपयुक्त नहीं समझी गई थी। अतः या तो संस्कृत के कवियों ने गीतों में प्राकृत-भाषा का प्रयोग किया, या संस्कृत को एक विशेष प्रकार से परिष्कृत किया।

क्षेमेन्द्र की गीति-परम्परा को जयदेव ने समृद्ध किया। उन्होंने 'हरि स्मरण' और 'विलास-कला' का समन्वय करके गीति-काव्य के लिए लौकिक तीव्रतर और आध्यात्मिक संकेतों से पूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। 'गीति-गोविन्द' भारतीय गीति-परम्परा का सबसे अधिक मार्मिक उभार है। यद्यपि इसके गीतों में स्थूल लीला-प्रसङ्गों के व्याज से यत्किञ्चित इतिवृत्त का संस्पर्श भी आ गया है, फिर भी भावों की इतनी सघनता है कि सहृदय-जन इसमें निमज्जित हो जाते हैं। कामशास्त्रीय और काव्य-शास्त्रीय नायिका-भेद तथा काम-क्रीड़ाओं का समावेश भी इन गीतों में मिलता है। जो कुछ रूढ़ विधान सा लगता है। पर भाषा का यह लालित्य तो आगे के युगों के लिए एक स्पर्द्धा का विषय बन गया। इसमें ध्वन्यात्मक लालित्य; नादात्मक सौन्दर्य और सङ्गीतात्मकता की त्रिवेणी मिलती है। उत्तर और दक्षिण की अधिकांश गीति-परम्पराएँ गीति-गोविन्द से प्रायः अत्यधिक प्रभावित होती रही हैं।

इसी परम्परा को हिन्दी क्षेत्र में विद्यापति ने अवतरित किया। उन्होंने लोक-भाषा के माध्यम से जो गीति-रस प्रवाहित किया, वह मिथिला से लेकर ब्रज तक भर गया। इनको गीति-गोविन्द का भाषा-लालित्य और कृष्ण के केलि-विलास जयदेव से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुए। भाव-दशाओं के चित्रण में तो ये कभी-कभी जयदेव से भी आगे बढ़ जाते हैं। परिस्थिति का स्थूल परिवेश जैसे धीरे-धीरे पिघल कर भावनाओं का रूप धारण कर लेता है। और यह स्फीत भावावेश गीत के साँचे में ढल जाता है। विद्यापति संस्कृत और प्राकृत दोनों के विद्वान थे। अतः दोनों ही स्रोतों से इन्होंने अपने गीतों की सज्जा के उपकरण संगृहीत किए। मैथिली की आत्मा को इन प्रभावों से मुक्त रख कर प्रवाह को स्वाभाविक बनाये रखा।[1]

विद्यापति ने भी जयदेव की भाँति अपने गीतों में राग-रागिनियों का प्रयोग किया। इस परम्परा ने काव्य और सङ्गीत का योग कर दिया। देशी गीतों में अर्थ और भाव की रमणीयता परिष्कृत रूप में नहीं मिलती। विद्यापति ने उसका संस्कार किया। शुद्ध शास्त्रीय सङ्गीत में आरोह-अवरोह और सम की शास्त्रीय पद्धति इतनी जटिल और यांत्रिक हो गई है कि उसमें अर्थ और भाव प्रायः उपेक्षित हो जाते हैं। पर काव्य के संयुक्त होने पर शास्त्रीय-रागरागनियों में भाव और रमणीय अर्थ की प्रतिष्ठा हुई।

विद्यापति के गीतों में भाव-वैविध्य भी पर्याप्त है। उनके गीतों की ध्वनि शिव-मन्दिर में भी गूँजती थी : 'कखन हरब दुख मोर हे' भोलानाथ।' कुछ कलकण्ठियाँ नव-बधू को 'कोहबर' में ले जा रही हैं और गीत चल रहा है : 'सुन्दरि चललिहुँ

१. बालचन्द विज्जावइ भाषा, दुहुनहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हरसिर सोहइ, ई निह्चय नायर मन मोहइ॥

पहुघरना' जाइ तहि लागु परम डरना।' इस गीत से न जाने कितने सुप्त आनन्द-उत्स चपल हो उठते हैं। एक युवक की गति की अल्हड़ता इस गीत में है : 'ससन परस खसु अम्बर रे देखलि धनि देह।' इस कल्पना से युवक मन कितने रोमाञ्चों से भर जाता है। और एक वृद्ध भी आँसू बहाता मिलता है : ''तातल सैकत वारि बिन्दु सम सुत मित रमनि समाज' तोहे बिसारि मन तोहि समप्पिनु अब मझु हब कौन काज, माधव हम परिनाम निरासा।''

भावोत्तेजक शृङ्गार-स्थितियों का चित्रण विद्यापति के गीतों की मौलिक विशेषता है। कामिनी अपने कुच-कलशों को लज्जावश दोनों हाथों से छुपा लेती है। इससे नखों में चन्द्रमा, हाथों में कमल और कुचों में कनक-शम्भु के दर्शन होते हैं—

अंबरु बिघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झाँपि सुछन्दा।
कनक सम्भु सम अनुपम सुन्दर
दुइ पङ्कज दस चन्दा॥

एक और चित्र में शिव की जलार्चना सौन्दर्य का अप्रस्तुत बन रही है—

गिरिवर गरुह पयोधर पससति, गिम गज-मोतिक हारा।
काम-कम्बु भरि कनक सम्भु परि, डारत सुरसरि धारा॥

इस प्रकार उत्तेजक नारी-सौन्दर्य को शान्त और स्निग्ध दिव्य सौन्दर्य के माध्यम से उभारा गया है। विद्यापति की सौन्दर्यानुभूति अविकल है। वह उचित माध्यम से व्यक्त होती है। उनकी भक्ति-भावना उनकी सौन्दर्याभिव्यक्ति के माध्यम को उत्कृष्ट बना देती है।

सौन्दर्याभिव्यक्ति में प्रकृति-चित्रण का भी अनिंद्य उपयोग विद्यापति की पदावली में मिलता है। नायिका के कुञ्चित-केश-पाश शिथिल होकर युगल-कुचों पर बिखर गए हैं। उनमें हृदय-हार के मोती उलझ गए हैं। ऐसा प्रतोत होता है कि चन्द्र-विहीन तारागण सुमेरु-पर्वत पर उदित हैं—

कुच जुग उपर चिकुर फुजि परसल
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चन्द बिहीन सबे तारा।

गतिशील धन्या ऐसी प्रतीत होती है मानो पृथ्वी पर कनक-लता चल रही है—

आज देखल धनि जाइत रे, मोहि उपजल रङ्ग।
कनक लता जनि सञ्चर रे, महि निर अवलम्ब॥

इस प्रकार नारी के मांसल सौन्दर्य को भावोद्दीपन से समन्वित करके ऐसे गीति-चित्रों की सृष्टि विद्यापति ने की है, जो अपने प्रस्तुत और अप्रस्तुत पक्षों की कमनीयता के कारण युगों तक लोक के हृदय-हार बने हुए हैं। विद्यापति के शृङ्गार-गीतों की नायिका राधा है और नायक कृष्ण। भागवतकार ने पूर्व ही इनके गीति-संकुल

व्यक्तित्व की स्थापना कर दी थी। प्राकृत-कवियों ने इन श्रृङ्गार-मुक्तक-चित्रों से साहित्य को भर दिया था। जयदेव ने कोमल-कान्त-पदावली में काम-केलि के गतिशील चित्र खींचे थे। विद्यापति ने चित्र की अनुभूति रेखाओं को सुस्पष्ट और मुखर किया। भाव, सङ्गीत और ध्वनि-विधान का सामञ्जस्य जो विद्यापति की पदावली में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

> नन्द क नन्द कदम्ब के तरुतर, धिर धिर मुरलि बजावत।
> समय सँकेत-निकेतन बइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव।
> साँवरि तोरा लागि अनुखन विकल मुरारि।

विद्यापति की पदावली में गीति-काव्य की सभी विशेषताएँ अपनी सम्पूर्ण विभूति के उत्कृष्टतम रूप में विद्यमान हैं। विद्यापति की यह परम्परा अत्यन्त लोकप्रिय हुई। मिथिला के ही अनेक कवियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। समस्त पूर्वीभारत का क्षितिज विद्यापति के गीतों की ध्वनि-प्रतिध्वनि से गूँज उठा। चैतन्य ने अपने भक्ति-भावावेश की साधना में विद्यापति के गीतों से तीव्रता और उत्तेजना प्राप्त की। चैतन्य महाप्रभु ने विद्यापति के गीतों को जो नूतन सन्दर्भ प्रदान किया, उसमें गीतों की अनेक ज्ञात-अज्ञात अनुभूतियाँ खिल उठीं। चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रचार के साथ विद्यापति के गीत भी देश-गत सीमाओं का अतिक्रमण करने लगे। ब्रज के कगार भी इस गीति-रस-धारा से संसिक्त होने लगे। चैतन्य मतानुयायी वृन्दावन में इस परम्परा को ले आए। इस परम्परा ने वृन्दावन के राधा-प्रधान सम्प्रदायों के गीतों को बहुत प्रभावित किया। अष्टछापी कवियों के गीतों के स्वरों ने भी न्यूनाधिक रूप से विद्यापति के गीतों के स्वरों से मैत्री स्थापित की।

इस पूर्वी गीति-परम्परा का प्रभाव और वैभव इतना घना हो गया कि कुछ विद्वान् यह मानने लगे कि पद लिखने की प्रथा पूर्वीभारत में ही उत्पन्न हुई। वहाँ से चल कर यह पश्चिमी प्रदेशों की ओर आई। पर क्षेमेन्द्र के उल्लेख के साथ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मान्यता का खण्डन किया है : "क्षेमेन्द्र कवि के दशावतार-वर्णन में एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी कृष्ण मथुरा पुरी को चले गए, तो वियोग-विक्षिप्त हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे पर श्रीकृष्ण का गुणगान करने लगीं। गोपियों का यह गान मात्रिक छन्द में है।"[1] पर इतना सत्य अवश्य है कि पश्चिम और मध्यदेश में संस्कृत और उससे विकसित भाषाओं का परिनिष्ठित और शास्त्रीय रूप विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुआ। शौरसेनी तो गीतों के उपयुक्त थी ही नहीं। गीतों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती रही : यही प्राकृत गीतों के लिए उपयुक्त भी मानी गई। चाहे कुछ कवि पश्चिम में भी गीत-रचना करते हों और चाहे परम्परा में भी वे पहले आते हों, पर गीति-साहित्य का विकास-विस्तार पूर्व और दक्षिण में ही विशेष हुआ। पश्चिम और मध्यदेश में शास्त्रीय साहित्य ही पनपता रहा। इसका कारण यह है कि पूर्व एक प्रकार से उस काल में भी रूढ़ियों और

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०८-९

रूढ़ि-धर्म एवं काव्य-रूपों के प्रति क्रान्ति करता रहा। चाहे यह क्रान्ति बुद्ध के रूप में प्रकट हुई हो, चाहे महावीर के रूप में। साहित्य के क्षेत्र में निश्चित ही जयदेव ने एक क्रान्ति प्रस्तुत की। यह क्रान्ति शास्त्रीय शैली के महाकाव्य या प्रबन्ध के विरोध में की थी : सामाजिक रूढ़ आदर्शों के प्रति वैयक्तिक अनुभूतियों की थी।[1] आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियों को वासना से संकुल करके इन गीतों में लौकिक और अलौकिक के बीच एक सन्धि स्थापित की गई। संस्कृत भाषा का रूढ़ रूप एक गीतोचित माध्यम के रूप में प्रायः यहीं उपस्थित हुआ। भाषा का यह संस्कार भी क्रान्तिकारी ही है।

१. इ. वीर गीत—वीर-पूजा की भावना सार्वभौमिक है। इस भावना को लेकर लिखे गए गीत समस्त विश्व में मिलते हैं। इनका प्रमुख रूप 'बैलड' है। वैदिक गीतियों में धार्मिक गीत भी मिलते हैं और वीरगाथात्मक भी।[2] वीर गीतों की यह पुरातन परम्परा सभी युगों को पार करती हुई वीरगाथा काल तक चली आई। हिन्दी के वीरगाथा काल में 'आल्ह खण्ड' या जगनिक रासो एक प्रमुख वीर गीत है। इस गीत ने वही लोक-प्रियता प्राप्त की जो पूर्व में विद्यापति के गीतों ने। आज तक आल्हा की परम्परा ब्रज, बुन्देलखण्ड, कन्नौज आदि में चली आ रही है। पाठ की प्रामाणिकता के लिए डा० ग्राउज ने जो फरुखाबाद में जिलाधीश था, इसका संग्रह कर लिखित रूप प्रदान किया। अधिकांश गाथाएँ लिखी गई। परन्तु वीरगीतों की परम्परा अधिक बलवान न हो सकी।

इस प्रकार हिन्दी के आदिकाल में गीति-काव्य की प्रायः सभी विधाएँ मिल जाती हैं। इनकी संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है :

३. वीर गीत — आल्हखण्ड

एक प्रकार से संस्कृति गीति-काव्य की धाराएँ उपस्थित हो गई। हापकिन्स के संस्कृत गीतिकाव्य के विभाजन को डा० शिवप्रसाद सिंह ने इस प्रकार दिया है[3] पहला युग वैदिक गीतियों का है जो ईसा पूर्व आठवीं से चौथी शती तक फैला हुआ

१. यह परिस्थिति गीति काव्य के विकास के उपयुक्त मानी जाती है; डा० गैथे, मेथड मैटिरियल्स आफ लिटरैरी क्रिटिसिज्म, पृ० ४०
२. हापकिन्स, द अरली लिरिक पोयट्री आफ इण्डिया; 'इन द इण्डिया न्यू एण्ड ओल्ड।'
३. सूर पूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य, पृ० ३४२

है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से ईसा की पहली शती तक है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रधानता है। तीसरा काल ईसा की पहली शती से चौथी पाँचवीं तक आता है जिसमें प्रेम गीत लिखे गए। इसी काल में चौथी श्रेणी के भी गीत लिखे गए जिनमें रहस्य और वासना दोनों का अद्भुत मिश्रण दिखाई पड़ता है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी प्रकार हिन्दी के आदिकाल में मिल जाते हैं। बीसल देव रासो को एक दीर्घ प्रेम-गीत ही माना जाना चाहिए।[२] लोक-गीतों की शैली को अपनाना हिन्दी के इस युग का वैशिष्ट्य माना जा सकता है।

२. मध्यकाल—

मध्यकाल का पूर्वार्द्ध तो गीतों से भर गया। ब्रजभाषा का माधुर्य गीतों में और गीतों का सौन्दर्य ब्रजभाषा में निखर उठा। जिस प्रकार दक्षिण का कर्नाटक सङ्गीत मुख्यतः मधुमयी तेलगु के माध्यम को स्वीकार करता है और त्यागराज एवं रामदास का गीति-साहित्य वहाँ समादृत है, उसी प्रकार उत्तर भारत में ब्रज भाषा गीति-काव्य का माध्यम बन गई और शास्त्रीय परम्परा में भी सूर आदि के पद प्रचलित हो गए। गीत वस्तुतः वैयक्तिक भावों एवं संवेगों की अभिव्यक्ति है। मध्य काल के पूर्वार्द्ध की परिस्थिति कुछ ऐसी हो गई कि वैयक्तिक चेतना आत्मोन्मुख होकर अपनी अभिव्यक्ति का आग्रह करने लगी। "इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के भीतर निहित है। मुसलमानों के आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि विरोधी विचारों की मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन गीतों के निर्माण में सहायक हुई।"[3] जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुप छन्द, प्राकृत में गाथा या गाही, और अपभ्रंश में दोहा या दूहा की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार व्रज में पद-साहित्य की। यही इसका निजी काव्य-रूप है। आदिकाल की समस्त गीति-परम्पराएँ इस युग में फलीं-फूलीं। शास्त्रीय सङ्गीत को राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ और कबीर जैसे निर्गुणियों ने भी गीति के माध्यम को स्वीकार किया। इस काल में गीति के माध्यम को स्वीकार किया है। इस काल में गीति-काव्य की दो धाराएँ प्रवाहित रहीं: शास्त्रीय सङ्गीत और भक्ति-गीति काव्य।

२. अ. शास्त्रीय गीति-धारा—

मुसलमान शासक और सूफ़ी फ़कीर दोनों ही सङ्गीत के प्रेमी और पोपक थे। अलाउद्दीन के समय से ही फ़ारसी और भारतीय सङ्गीत का समन्वय होने लगा था। खुसरो ने 'ऐजाज-ए-खुसरवी' में इस काल के प्रमुख सङ्गीतज्ञों का वर्णन दिया है। अलाउद्दीन भी सङ्गीत प्रेमी था। सुना जाता है कि श्रीरङ्गम् के कुछ गायकों

२. इसमें कथा नाम मात्र है। इसे पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने गीत प्रबन्ध कहा है। हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० ७३

३. सूर-पर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य, पृ० ३०२

ने तो अपनी एक मूर्ति को अलाउद्दीन से, उसे अपने दिव्य सङ्गीत से प्रसन्न करके, प्राप्त कर लिया था।[1] उसके दरबार में दक्षिण के एक प्रसिद्ध सङ्गीतज्ञ गोपाल नायक ने सङ्गीत का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया था। खुसरों से इसकी प्रतियोगिता भी हुई थी। मुस्लिम गायक भारतीय सङ्गीत के प्रशंसक थे। कहने का तात्पर्य यह है कि मुसलमान शासकों के दरबारों में आरम्भ से ही सङ्गीत को आश्रय मिला था। ये गायक देश-भाषा के गीतों का शास्त्रीय शैली में गायन करते थे।

मुसलमान फ़कीर सामान्यत: और मुख्यत: चिश्ती फ़कीर परम्परा सङ्गीत को जीवन की श्वास मानते थे। शेख नसीरुद्दीन चिराग़ ने सङ्गीत को अनेक मानसिक रोगों की दवा बतलाया है। स्वयं निज़ामुद्दीन औलिया ऐसे ही विचार रखते थे। इनके अनुसार गीत चार प्रकार के होते हैं: 'हलाल' ईश्वर की प्रशंसा से पूर्ण, 'मबाह्': ईश्वर की ओर प्रेरित; मकरूब: सांसारिक सङ्गीत और हराम: ऐन्द्रिय सङ्गीत। अन्तिम दो को उन्होंने धर्म-विरुद्ध माना है। इस प्रकार सूफ़ी सन्तों में सङ्गीत को आध्यात्मिक साधना के अङ्ग के रूप में स्वीकृत किया गया।

ये ही दोनों परम्पराएँ अकबर तक चली आई। अकबर का सम्बन्ध चिश्ती सन्तों से भी था। अत: अकबर ने सङ्गीत को और गीति-साहित्य को प्रश्रय दिया। तानसेन ने अपने ब्रज-भाषा-गीतों से अकबर को तृप्त किया और उसे सङ्गीत का प्रेमी भी बना दिया। अकबर के सम्बन्ध में अनुश्रुतियाँ हैं कि उसने ब्रजभाषा के भक्त गीतिकारों को भी आमंत्रित किया, पर भक्त कवियों ने राज-सम्मान की उपेक्षा कर दी। अकबर स्वयं सूरदास और हरिदास जैसे भक्त गीति-कारों की सङ्गीत-माधुरी में स्नान करने के लिए ब्रज आया। इस प्रकार ब्रज भाषा का गीति-साहित्य दरबार से भी सम्बन्धित रहा।

दरबारी गीतों की एक विशेषता यह थी कि इनमें साहित्यिक सौन्दर्य की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना शास्त्रीय निर्वाह की ओर। तानसेन और बैजूबावरा जैसी प्रतिमाएँ सङ्गीत की साधना में रत थीं। इन सङ्गीतज्ञों की रचनाओं को साहित्य में बहुधा सम्मिलित नहीं किया जाता। पर इन्होंने स्वयं भी गीतों की रचना की और अनेक अन्य गीतों को भी ग्रहण किया।

२. भक्ति-गीति-काव्य—

इस परम्परा को दो उपधाराओं में विभक्त करके देखा जा सकता है: निर्गुणियों की गीति-धारा और सगुण भक्तों का गीति-साहित्य। पहली धारा नाथों और सिद्धों की परम्परा में आती है और दूसरी जयदेव-विद्यापति की परम्परा में।

२. अ१. निर्गुण सन्तों का गीति-साहित्य—

निर्गुणियों के 'सबद' उनके गेयपद हैं। इनका गायन-पक्ष किसी प्रकार से शास्त्रीय अनुशासन में नहीं था। लोक-गायन की स्वच्छन्दता इनमें थी। इन 'सबदों'

१. Aiyanger, South India and her Muhammadan Invaders, P. 113-16

की 'परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्ध और नाथ सिद्धों ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागों में पद लिखे थे। कबीर के पद उसी परम्परा के हैं।'[1] कबीर को यह भी ज्ञात था कि गीति-काव्य की रचना में ब्रजभाषा का प्रयोग उपयुक्त रहता है। अतः उनके 'सबदों' में ब्रजी का पुट गहरा है। साखी में जहाँ खड़ी बोली, और रमैनी में पूरबी का पुट है, वहाँ उन्होने 'सबदों' में ब्रजभाषा के प्रभाव को ग्रहण किया है।

कबीर के बीजक में जो पद हैं, उनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति प्रमुख है। वस्तुतः कबीर अपने आसपास के समाज में फैली हुई विषमता का अनुभव करके उत्पीड़ित हो जाते थे। यह पीड़ा उनके मानव-प्रेम से उद्भूत है। अतः एक तीव्र अनुभूति बनकर कबीर की निर्द्वन्द्व वाणी में भर जाती थी। बाहर से देखने पर खण्डन-मण्डन वाले पदों में गीति-साहित्य के अनुकूल अनुभूतियों का अभाव दिखलाई पड़ता है। पर वास्तव में समस्त खण्डन-प्रक्रिया एक तीव्र अनुभूति और उत्कृष्ट संवेग से प्रेरित है। इसमें बौद्धिकता की अपेक्षा, भावुकता ही अधिक है। समस्त उक्तियाँ तर्क का सहारा न लेकर प्रायः सामान्य अनुभव पर आधारित हैं। फिर भी बाह्य दृष्टि के कारण गीति-काव्य का सौन्दर्य बीजक के इन पदों में विशेष नहीं उभरा है। पर कबीर का व्यक्तित्व इनमें अवश्य झलकता है।[2] उनकी मस्ती इनमें प्रकट है।

कुछ पदों में कबीर आदि निर्गुणियाँ सन्तों ने सम्प्रदाय या पन्थ में दीक्षित सन्तों के लिए आचार-धर्म की स्थापना की है। साधक अपने साधना-काल में एक विशेष आचार-दृष्टि को लेकर चलता है। लक्ष्य का स्पष्ट निरूपण करके, पथ से विचलित न होने का आदेश इन पदों में है। इसी परम्परा में वे पद भी आते हैं जिनमें शारीरिक संरचना और योग-साधना की गति-विधियों का कथन और निरूपण है। योग की साधना के लिए शरीरस्थ चिति-केन्द्रों और शक्ति-वाहिका नाड़ियों के विधान का ज्ञान भी आवश्यक था और उनके सम्बन्ध में योगी की क्रिया का निर्देश भी। इन पदों को भी गाया जाता था। इनमें अनुभूति की अपेक्षा विवरण अधिक था। फिर भी रूपक आदि के प्रयोग से इन गीतों को सजीव बनाया गया था। कबीर का एक प्रसिद्ध पद इस परम्परा के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है—

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृ० १२७

२. 'कबीर में एक प्रकार की ... मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही के भाव मिलते हैं। उन्हें अपने आपके ऊपर अखण्ड विश्वास था। उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान को... अपनी साधना को संदेह की दृष्टि से नहीं देखा।...इस लापरवाही के कारण उनके आक्रमण मूलक पदों में एक सहज-सरल भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान हो उठा है। ...उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियों ने भी आक्रमणकारी उक्तियाँ कही हैं। पर उनमें उनके मन की हीनता-ग्रन्थि स्पष्ट हो जाती है। ... उनमें तर्क तो है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश तो है पर मस्ती नहीं है।" पृ० १२९-२८

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहे का ताना, काहेकभरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।

उलटबाँसियों में भी इसी प्रकार की उलटी साधना-पद्धति का निरूपण है। वस्तुतः प्रतीक-योजना की पारिभाषिकता और दुरूहता ही उलटबाँसियों के लिए उत्तरदायी है। 'संधा-भाषा' में भी इसी प्रकार के रहस्य-प्रतीकों का प्रयोग होता था। इन पदों में ज्ञान और निर्देश का तत्व प्रबल है, व्यक्तित्व और अनुभूतियों का कम।

पर कबीर आदि निर्गुणियों के व्यक्तित्व में रहस्यवादी माधुर्य-शृङ्गार के तत्त्व भी अविरल हैं। वास्तव में इष्ट के प्रति वे एक मधुर सम्बन्ध-भावना रखते थे। शृङ्गार, काव्य के अप्रस्तुत विधान का ही अङ्ग नहीं था, वस्तुतः उनकी भावना ही इस प्रकार की थी। यह सम्बन्ध-भावना ही उन्हें भक्त की कोटि में रखती है। उनका वास्तविक रूप भक्त का ही था। उनमें एक तीव्र प्रेमानुभूति थी। उनका प्रेम आत्मोत्सर्ग पर आधारित था। आत्म-बलिदान ही उनके 'सती' और 'रस' जैसे मूल्यादर्शों में व्याप्त था।[1] यही आत्म-समर्पण का भाव कबीर आदि निर्गुणियों के प्रेम का केन्द्र-बिन्दु है। यही उनके गीतों की आत्मा है। उन्हें अपने व्यक्तित्व के इस भाव को आवृत करने वाले सभी तत्त्व अमान्य हैं। इसी भाव को लिए वे कभी 'दुलहिन' हैं, कभी 'बहुरिया'। यही सम्वन्ध सती के रूप में अपने चरम पर पहुँचता है। इस प्रेम-सम्बन्ध की मधुरिमा से आविष्ट गीत वास्तव में गीति-काव्य के शृङ्गार हैं। इन गीतों मे आत्मीयता, अनुभूति-तीव्रता, भाव-संवेग, आत्म-निलय आदि वे सभी तत्त्व हैं, जो गीति-काव्य के लिए आवश्यक हैं। एक 'सबद' में विवाह इस भावना का प्रतीक हुआ है—

'साईं के सँग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न मानी, गौ जोबन सपने की नाईं।
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँडो छायो।
सखी सहेलरि मङ्गल गावैं, दुख-सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥

ऐसे पदों में आध्यात्मिक संकेत तो स्पष्ट रहते हैं पर सम्बन्ध-भावना का माधुर्य भी कम स्पष्ट नहीं रहता।

२. आ. सगुण-शाखा का गीति-काव्य—

इस शाखा में हिन्दी गीति-काव्य का स्वर्ण-युग घटित हुआ। साहित्य के इस भाव-संकुल पक्ष की सबसे अधिक समृद्धि कृष्ण-भक्त कवियों के द्वारा हुई। गीति-साहित्य में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा पहले ही हो चुकी थी। गोपी-भाव या सखा-भाव इस शाखा के भक्त-कवियों के लिए साधना का आदर्श बन चुके थे। कृष्ण की शृङ्गार लीलाओं का अध्यात्म अब कहने या संकेतित होने की वस्तु नहीं रह गई थी। निर्गुण-भक्त कवि ब्रह्म के साथ जिस शृङ्गार-सम्बन्ध की भावना करते थे, वह अध्यात्म के

---

१. यह तौ घरु है प्रेम का, खाला का घरु नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरे, सो पइठे इहि माहिं॥

जल के ऊपर तैल जैसा तैरता रहता था। अब अध्यात्म और शृङ्गार-भावना पृथक् नहीं रह गई थीं। अतः गीति-साहित्य का भावात्मक द्वैत समाप्त हो गया था।

(i) **कृष्ण-भक्ति-शाखा**—कृष्ण-भक्ति-शाखा में दो प्रकार के गीत मिलते हैं : एक प्रकार का प्रतिनिधित्व सूर करते हैं और दूसरे का मीरा करती हैं। सूर के गीति-साहित्य की रचना लीला-सङ्कीर्तन की आवश्यकता को लेकर चली थी। कृष्ण की विविध लीलाओं का भावात्मक उत्कर्ष इनके पदों में मिलता है। 'लीला' के साथ न्यूनाधिक इतिवृत्त का संस्पर्श लगा रहता है। चाहे इतिवृत्त 'भावों की उष्णता से गलता-गलता अत्यन्त सूक्ष्म रह गया हो, पर वह पूर्णतः छूट नहीं सकता था। कवि राधा-कृष्ण-केलि, या कृष्ण की लोक-मङ्गलकारी लीलाओं का वर्णन करता था। इस प्रकार कवि का सीधा सम्बन्ध इष्ट से स्थापित नहीं होता। कवि अपने को राधा-गोपी पक्ष में कल्पित किये रहता था। उत्तम पुरुष में अपनी भावना को व्यक्त नहीं करता था। पद की अन्तिम पंक्ति में कवि अपनी अनुभूति की झलक देकर विलुप्त हो जाता था। इन गीतों को प्रसङ्गापेक्षी गीत कहा जा सकता है। इनका आलम्बन विभाव त्रिकोण में नियोजित रहता था : कवि, राधा-गोपी, कृष्ण। कवि गोपियों में लीन रहता था। उसका गोपी-रूप काव्य में प्रकट नहीं होता था। वैसे साधना के क्षणों में अष्ट-सखियों के रूप में ही वह अपनी स्थिति-का अनुभव करता था। रात में सम्भवतः अष्टछापी कवि केवल किसी सखी का नाम ही धारण नहीं करता था, उसी भावना में अपने लौकिक व्यक्तित्व को डुबो भी देता था।[1] परन्तु गीतों में वह स्वयं इस रूप में प्रकट नहीं होता था। वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों की साधनागत्-सखी-योजना इस प्रकार थी—सूर=चम्पकलता; नन्ददास=चन्द्ररेखा; परमानन्ददास=चन्द्रभागा; कुम्भनदास=विशाखा; कृष्णदास=ललिता; छीतस्वामी=पद्मा; गोविन्दस्वामी=भामा; चतुर्भुजदास=विमला; इस प्रकार गोपी-भाव इन कवियों के लिए मात्र कल्पना की वस्तु नहीं थी। साधना के घनीभूत क्षणों का यही यथार्थ था। अतः इन कवियों की अनुभूतियाँ आत्म-गत थीं। अनुभूतियों की इस यथार्थता के कारण अष्ट-छाप के कवियों के गीत इतने आत्म-चुम्बी हो सके। गीतों का अर्थ-पक्ष ही उनकी साधना की सरणियों की देन नहीं था, उन गीतों के स्वर-लय भी उनकी साधना के अङ्ग थे। इस प्रकार इन भक्त-कवियों का गीति-काव्य अनिर्वचनीय हो गया। कहीं कहीं अलौकिकता का संस्पर्श अवश्य है, पर उन आध्यात्मिक संकेतों का इनमें अभाव है, जिनकी खोज में पाठक भावों की तरलता को छोड़ कर मूल-कथ्य को पकड़ने की चेष्टा करता है। समस्त वातावरण ऐसा प्रस्तुत किया जाता है कि अलौकिकता सामान्य-भूमिका में रहती ही है और समस्त भाव-व्यापार इस भूमिका से एक होकर चलता है।

अष्टछाप के कवियों ने गोपीभाव को ही अपने गीतों के पात्रों में नहीं छलकाया,

---

१. चैतन्य-सम्प्रदाय में भी उनके प्रमुख शिष्य अपने को सखियों या मञ्जरियों के रूप में कल्पित कर लेते थे।

उनमें उन्होंने वात्सल्य और सख्य को भी भरा। सूर इन दोनों भावों के गीतों की रचना में अग्रगण्य हैं। अन्य अष्टछापी कवियों ने भी इन भावों के गीत लिखे। इस भाव-वैविध्य में वल्लभ-सम्प्रदाय का एक भाव-संघर्ष ही परिलक्षित होता है। इष्ट का स्वरूप बालभाव से निरूपित किया गया था। मन्दिरों में यही भाव मिलता है। मन्दिर वैयक्तिक साधना के स्थल नहीं, सामाजिक संस्था के रूप में भी मान्य थे। अतः इनके साथ एक ऐसी भावना वल्लभाचार्यजी ने संलग्न कर दी, जिसमें माधुर्य के विछलन या च्युतियों की सम्भावना नहीं थी। पर वैयक्तिक साधना का क्षेत्र माधुर्य से या गोपी-भाव से ही अभिसिञ्चित रहा। सख्य-भाव भी इसी प्रकार का भाव है जो सामाजिक साधना का केन्द्र बन सकता था। अष्टछापी कवियों को दिन में कृष्ण के साथ सखा-भाव रखना होता था। इस सख्य-साधना में कवियों के लीलात्मक स्वरूप इस प्रकार थे: सूर=कृष्ण-सखा; परमानन्ददास=तोक; कुम्भनदास=अर्जुन; कृष्णसखा=ऋषभ; छीतस्वामी=सुबल; गोविन्दस्वामी=श्रीदामा; चतुर्भुजदास=विशाल; नन्ददास=भोज। इस प्रकार एक विचित्र व्यक्तित्व इन गीतिकारों का बन गया। सख्य भी साधना का अङ्ग होने के कारण कवि की आत्मा का अङ्ग बन गया था। इस प्रकार इस भाव के गीत भी यथार्थ आत्मानुभूतियों से अनुप्राणित हैं। वात्सल्य स्वयं अपने आप में एक व्यापक-भाव है। इसकी अनुभूतियों के साथ साधारणीकरण सबसे सरल होता है। पर अष्टछापी कवि का यह भावात्मक द्वन्द्व बहुत दिन तक नहीं चलता रहा। अन्ततः उनकी माधुर्य-साधना ने उनके समस्त व्यक्तित्व को आच्छादित कर लिया। फिर भी इन कवियों के गीतों का भाव-वैविध्य जितनी सरलता, स्वाभाविकता और शक्ति के साथ स्थापित हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गीतिकार के व्यक्तित्व का द्वन्द्व कला-साधना में कहीं बाधक नहीं बना क्योंकि आलम्बन-पक्ष में एकात्मता थी उसमें अन्तर नहीं होता था। उसी एक केन्द्र पर सभी अनुभूतियाँ केन्द्रित होती थीं। दास्य का कोई विशेष रूप इन कवियों में नहीं बना।

वृन्दाबन के सम्प्रदाय मुख्य रूप से ये थे: राधावल्लभ-सम्प्रदाय, हरिदासी-सम्प्रदाय (टट्टी-सम्प्रदाय), सखी-सम्प्रदाय आदि। इन सभी सम्प्रदायों में भावना का केन्द्र कृष्ण नहीं, राधा ही है जो लली या श्री कहलाती है। यहाँ भावों का वैविध्य समाप्त हो गया। शृङ्गार और माधुर्य ही सघन होकर इन सम्प्रदायों के गीतों के साथ एकाकार हो गया। गोपी-भाव का एक विशेष स्फुरण भी इन सम्प्रदायाश्रित कवियों में मिलता है। यह तत्सुखी भाव है। भक्त-कवि सखी-रूप से रास-रस में प्रविष्ट होता है, पर स्वयं संयोग-सुख का भोक्ता नहीं है। संयोग तो राधा-कृष्ण का ही होता है, सखी ताम्बूल, फूल आदि की सेवा की अधिकारिणी हैं। वे दर्शन-रस भी लेती हैं। इसी रूप में कवि भी स्थित है। उसकी गीति-साधना इसी उदात्त व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। तत्सुखी-भाव के साधक-गायकों में माधुर्य अपने चरम पर स्थित है। सुरतान्त और रति आदि के चित्र सम्पूर्ण हैं। इस दिव्य शृङ्गार-चर्या का वह दर्शक और सेवक है। अन्य-भाव का प्रवेश इस भाव-वृत्त की परिधि में नहीं हो सकता। अतः

इन सम्प्रदायों के गीत अत्यन्त गुह्य भावनाओं से भर गए। इस प्रकार का प्रचुर साहित्य हिन्दी में मिलता है : कुछ प्रकाश में आ गया है और कुछ अभी अप्रकाशित ही है। इन गीतों का भाव-विधान भी लगभग त्रिकोणात्मक ही है। पर वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों की भाँति इतिवृत्त का संस्पर्श इनमें नहीं है। भाव की स्थितियाँ ही प्रसङ्ग है : रास, मान, सुरत, सुरतान्त आदि। इतिवृत्त इस प्रकार शून्य ही हो गया है। साथ ही भाव-वैविध्य भी माधुर्य में समा गया है। इस श्रेणी का गीति-काव्य हिन्दी की गीति-धारा में प्रमुख स्थान रखता है।

मीरा के गीतों में विभाव का त्रिकोण नहीं है। मीरा का सम्बन्ध 'गिरधर गोपाल' से सीधा है। उसने कृष्ण के लीला-प्रसङ्गों पर बहुत ही कम गीत लिखे हैं। इस प्रकार मीरा के गीत इतिवृत्त से मुक्त हैं। उसने अपने वैयक्तिक जीवन की घुटन और कुण्ठा को उदात्त आध्यात्मिक पीड़ा में बदल दिया। इसलिए उसके गीतों में लौकिक प्रेम का संवेग है और आध्यात्मिक प्रेम की सूक्ष्मता और व्यापकता है। मीरा ने अपने दिव्य प्रियतम के प्रति अशेष आत्म-समर्पण को गीतों की अनुभूतियों का विषय बनाया है। यदि विरह की अनुभूति है, तो भी अत्यन्त तीव्र और उत्कट। कबीर आदि ने दिव्य प्रियतम की चर्चा तो की है, पर स्पष्ट और स्थूल आध्यात्मिक संकेत इस समस्त भावना को अप्रस्तुत बना देते हैं। मीरा के गीतों में प्रियतम आध्यात्मिक है और उसके साथ सम्बन्ध अप्रस्तुत रूप में नहीं, प्रस्तुत ही है। इस प्रकार समस्त अनुभूतियाँ स्वाभाविक और मार्मिक बन गई हैं। इसकी भूमिका में रहने वाली लौकिक प्रेम और विरह की अनुभूतियाँ गीतों को जीवन्त बना देती हैं।

मीरा के गीतों पर न पाण्डित्य का बोझ है और न चेतावनी देने का उत्तरदायित्व। उसके गीतों में प्रसङ्ग-निर्वाह का आग्रह भी नहीं है। विभिन्न क्षणों में जो अनुभूतियाँ आती हैं, वे स्वच्छन्द अभिव्यक्ति ले लेती हैं। गीत-विधान में शास्त्रीयता की अपेक्षा लोक-गीतों की मिठास अधिक प्रकट हुई है। गिरधर गोपाल के साथ कुछ गीतों में 'जोगिया' शब्द भी आया है। हो सकता है कि निर्गुण-भक्ति के कुछ प्रच्छन्न संस्कार प्रिय की योगी रूप में कल्पना करने के पीछे हों। इससे प्रियतम की भावना अधिक व्यापक हुई है और गिरधर गोपाल का सगुणत्व इसे पारिभाषिक रूप में निर्गुण नहीं बनने देता। साथ ही योगी-योगिनी के साधनात्मक प्रगाढ़ शृङ्गार की यदि कोई भी ध्वनि पीछे है, तो वह गीति के भावात्मक विधान को और भी तीव्रता प्रदान करती है। इस प्रकार मीरा का गीति-साहित्य जीवन और आध्यात्म दोनों किनारों में प्रवाहित होता हुआ अन्त में सूक्ष्म आत्मलोक में विलीन हो जाता है।

२. राम-भक्ति-शाखा—में भी कुछ गीतों की रचना हुई। वास्तव में राम का चरित्र प्रबन्ध की सम्भावनाओं से युक्त था। आदि कवि ने महाकाव्य के रूप में इस कथा को बाँधकर, इसको प्रबन्ध के लिए उपयुक्त बना दिया था। फिर भी इस युग की प्रवृत्ति गीति-प्रधान होने के कारण, रामकथा सम्बन्धी गीतों की रचना भी कवियों ने की। तुलसी ने रामकथा के मार्मिक प्रसङ्गों और भावात्मक क्षणों

को लेकर गीतावली की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि तुलसी की आत्मा अपनी आन्तरिक संतृप्ति के लिए गीति-साधना में संलग्न हुई है। गीतावली के गीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है: मार्मिक प्रसङ्गों को भावात्मक स्फीति प्रदान करने वाले गीत तथा रामकथा के विभिन्न पात्रों के प्रति अनुभूतियों को ग्रहण करने वाले गीत। प्रथम श्रेणी के गीत प्रसङ्गापेक्षी हैं और दूसरे प्रकार के गीतों में कवि की आत्मानुभूति व्यक्त हुई है। यदि रामचरित मानस का प्रबन्ध-सौन्दर्य हिन्दी के लिए गर्व की वस्तु है, तो भी गीतिकार तुलसी की प्रतिभा एक अनिंद्य भावलोक के छवि-जाल में उलझी है।

'विनय पत्रिका' के गीत शुद्ध आत्मानुभूतिमय हैं। स्तवन-गीतों में यद्यपि विशेषणों का संविधान ही अधिक है, पर अन्त में राम-भक्ति की याचना में जैसे कवि का अन्तर्मन रो पड़ता है और उसकी मनोनिग्रह सम्बन्धी विवशता दीन-याचना बन जाती है। इस प्रकार दैन्य-भावना गीतों की आत्मा के साथ एकाकार होने लगती है। दैन्य के पीछे विकार-ग्रस्त मन की पीड़ा है। अतः विनय पत्रिका दैन्य-जीवन की अनुभूतियों से तटस्थ नहीं है। जीवन की समस्त मानसिक दुर्दशा कवि को विचलित कर देती है और वह अपने को समग्र रूप से इष्ट को समर्पित कर देता है। इस प्रकार विनय पत्रिका के गीत मध्यकालीन गीति-साहित्य में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनमें कवि अपने निजी रूप में स्थित है।

राम-भक्ति-शाखा के रसिक सम्प्रदाय में कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रभाव-स्वरूप माधुर्य का समावेश हुआ। जिसने राम और सीता को माधुर्य की अनुभूतियों का आलम्बन बना दिया। वे अपने स्थान से हटकर राधा-कृष्ण की भाँति प्रतिष्ठित हो गये। इस प्रकार मध्यकालीन गीति-साहित्य के विस्तार ने समस्त साहित्यिक क्षितिजों का स्पर्श कर लिया।

(iii) **उत्तर मध्यकाल**—रीतिकाल में गीति-साहित्य के प्रति अन्य प्रकार के मुक्तकों की प्रतिक्रिया हुई। सङ्गीत के सौन्दर्य का स्थान अनुप्रास के सौन्दर्य ने ले लिया। प्रमुख कवियों ने इन मुक्तकों में चमत्कार लाने की चेष्टा की। वैसे प्रवृत्तितः इस युग में गीति-रचना नहीं हुई, पर इस काल की दृष्टि से इस काल में भक्तिकालीन गीति-परम्परा चलती रही। इस परम्परा के गीतिकारों में सुन्दरदास, मलूकदास, अक्षर अनन्य, ध्रुवदास आदि का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इस परम्परा को अनेक सन्तों और भक्तों से बल मिल रहा था; पर युग की प्रवृत्ति इस परम्परा से प्रभावित नहीं हुई। किसी नवीन उन्मेष के भी दर्शन इस युग की गीति-परम्परा में नहीं होते। केवल यही कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन गीति-धारा इस युग में चाहे निर्बल हो गई हो, पर टूटी नहीं।

३. **आधुनिक युग**—आधुनिक युग में फिर गीति-साहित्य का उत्थान हुआ। इस गीति-युग को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है: भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग तथा छायावादोत्तर युग। छायावादी युग के पश्चात्

साहित्य के क्षेत्र में बौद्धिक जागरूकता की प्रबलता ने गीति-रचना की सम्भावनाओं को शिथिल अवश्य कर दिया पर समाप्त नहीं। काव्य नये रूपों में ढलने लगा। गीतकार सिनेमा की ओर बढ़ने लगे।

३. अ. भारतेन्दु युग—भारतेन्दु युग में भक्तिकालीन पद-परम्परा भी चलती रही। इनमें भक्ति के साथ-साथ देश-प्रेम की भावना भी न्यूनाधिक रूप में संलग्न होने लगी। भगवान् के प्रति वैयक्तिक भावना के साथ-साथ देश के उद्धार की मांग और पुकार भी सम्मिलित होने लगी। इस प्रकार भक्तिकालीन गीति-परम्परा का कुछ युगानुरूप परिष्कार हुआ। गीतों की भाषा प्रायः ब्रजभाषा ही रही भारतेन्दु ने स्वयं इस परम्परा में गीत लिखे। चन्द्रावली नाटिका के गीत अपने भाव-माधुर्य के लिए सदैव प्रसिद्ध रहेंगे।

नाटकों में जिन गीतों का समावेश होता था, वे प्रायः लोक शैली के गीत थे। इस काल के कवियों और नाटककारों ने ख्याल, लावनी, ठुमरी, कजली जैसे गीतों की रचना की। इनमें देश-प्रेम की भावना ही प्रमुख रही। यदा-कदा अन्य विषय भी आते रहे। लोक शैली को साहित्यिक क्षेत्र में इन कवियों ने प्रतिष्ठित किया। भारतेन्दु युग के प्रमुख गीतिकार ये हैं : भारतेन्दु, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, राधा कृष्णदास, ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रेमघन तथा प्रतापनारायण मिश्र।

३. आ. द्विवेदी युग—द्विवेदी युग का गीति-परम्परा की दृष्टि से मुख्य स्थान नहीं है। यह युग नीति, आचार, आदर्श और इतिवृत्त का युग था। वैयक्तिक अनुभूतियों को इस राष्ट्रीय जागरण के इस सुधारवादी युग में प्रमुख स्थान मिलना कठिन था। गुप्त जी की प्रतिभा भी प्रबन्ध-रचना में विशेष रमी और हरिऔध जी की प्रतिभा भी। अतः गीति-शैली को अधिक प्रश्रय नहीं मिल सका। फिर भी गुप्त जी तथा पं० मुकुटधर पाण्डेय ने कुछ गीतों की रचना की। इन्हीं गीतों के कारण कुछ विद्वान् उन्हें छायावाद का प्रवर्त्तक भी मानते हैं। गुप्त जी ने यशोधरा में कुछ गीतों का समावेश किया। इसके पश्चात् साकेत के नवम् सर्ग में भी कुछ गीत हैं। स्वतंत्र रूप से भी उन्होंने कुछ गीतों की रचना की। यद्यपि गुप्त जी का स्थान इतिहास में गीतिकार के रूप में नहीं बना, फिर भी नैतिकता, इतिवृत्तात्मकता और आदर्शवादिता के इस युग में कुछ गीतों की रचना करके, उन्होंने भावी प्रवृत्ति की सूचना अवश्य दी। अतीत को भविष्य से मुक्त करने में इनका महत्त्व माना जायगा।

३. इ. छायावादी युग—यह युग द्विवेदी युग की स्थूल नैतिकता और इति-वृत्तात्मक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया बनकर आया। राष्ट्रीय और समाजोन्मुख भावानुभूतियों का स्थान वैयक्तिक अनुभूतियों ने ग्रहण कर लिया। प्रभाव की दृष्टि से छायावादी गीति-काव्य पर पाश्चात्य लिरिक का प्रभाव अधिक था। पाश्चात्य देशों में रोमांटिक कवियों ने लिरिक-कविता में अभूतपूर्व प्रगति की। इस रोमांटिक कविता में व्यक्ति का अन्तर्मन अपनी भावनाओं को लेकर प्रकट होता है। प्रकृति एक विशेष आग्रह

के साथ, विशेषत: मानवीकरण रूप में, इन कवियों के द्वारा गृहीत है। इस प्रभाव ने छायावादी आन्दोलन को जन्म दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह काव्यधारा पश्चिम की शुद्ध नकल थी। इसका जीवन-दर्शन बहुत कुछ भारतीय तत्त्वों को लेकर ही चल रहा था। पर इसकी प्रेरणा और काव्य की रूप-रचना पाश्चात्य कवियों से मिल रही थी। जिस प्रकार वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, वाल्टर स्कॉट तथा बायरन जैसे स्वच्छन्दतावादी कवियों ने बौद्धिक तर्कशीलता के स्थान पर अपनी आन्तरिक अनुभूतियों, सौन्दर्योपासना और प्रकृति के प्रति रागात्मकता की स्थापना की, इसी प्रकार हिन्दी के छायावादी कवियों ने भी। इनमें शास्त्रीय पद्धति की नियम-बद्धता और सामान्यता के प्रति विद्रोह और स्वच्छन्द, चित्रोपम एवं कल्पना-प्रधान अभि-व्यञ्जना-प्रणाली के प्रति अनुराग मिलता है। इस प्रकार हिन्दी गीतिकाव्य इस युग में एक नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा पाने लगा : एक युगान्तर प्रस्तुत होने लगा। बङ्गला कविता भी हिन्दी गीतिकारों पर प्रभाव छोड़ने लगी।

छायावादी युग में गीति-साहित्य की इतनी प्रगति हुई कि इस युग को गीति-युग के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इस युग की गीतियों की विशेषता है। महादेवी वर्मा ने इस युग का परिचय देते हुए लिखा है : "उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।" इस युग के गीतों में वस्तुपरकता नहीं मिलती। सङ्गीत और लय का भी समुचित समावेश इन गीतों में मिलता है। गीति-काव्य की सभी विशेषताएँ इस साहित्य में मिल जाती हैं।

अपनी निजी वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए इस युग के गीति-कार ने प्रकृति को एक चेतन सत्ता के रूप में ग्रहण किया है। दूसरी ओर कहीं-कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य के रूपों में रहस्यानुभूति आरोपित की है। प्रकृति का सौन्दर्य ही इस कवि के गीतों में विशेष रूप से मुखर है। प्रसाद जी का एक गीति-चित्र देखिए—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही, तारा-घट ऊषा नागरी!
खग-कुल कुल कुलसा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई, मधु मुकुल नवल रस गागरी!
बीती विभावरी जाग री।

इस प्रकार के सौन्दर्य-चित्र अनेक छायावादी गीतों में उतरे हैं।

भावपक्ष की दृष्टि से छायावादी गीतों में प्रेम की विविध झाँकियाँ ही मिलती हैं। प्रेम-जन्य उत्तेजना कुण्ठित होकर लाक्षणिक शैली का पल्ला पकड़ती है। स्थूल शृङ्गार रहस्यानुभूति से संस्पृष्ट होकर अतीन्द्रिय हो जाता है। एक सर्वात्मवादी

दर्शन का आरोप भी गीतों पर मिलता है। पर यह सब संविधान-प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर रह जाता है। इसके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है : "अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ हैं। जो छायावाद के उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गई है। परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिन्तन और आरम्भ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।" इस प्रकार की रहस्य-छाया में पलने के कारण छायावादी गीति-काव्य को एक उदात्तता अवश्य प्राप्त होती है। वैयक्तिक भावनाओं की लाक्षणिक शैली इन अतिन्द्रिय तत्त्वों से समन्वित होकर एक नवीन गीति-प्रयोग की भूमिका बन जाती है। इन रहस्य-चित्रों में 'रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पन्दन' का होता है।

छायावादी गीतों में इन्द्र धनुष के रङ्गों का विन्यास है। इनमें सांकेतिक रेखाओं की योजना एक छोर पर अन्तर्मन की गहराइयों में डूबी हुई है, दूसरी ओर आत्मलोक की ऊँचाइयों से उलझी हुई है। सौन्दर्य के मांसल चित्रण भी आत्म-सौन्दर्य की ओर उन्मुख हैं। इस दृष्टि से प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के गीत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसाद की सौन्दर्य-भावना आनन्दवाद से अनुप्राणित है। निरालाजी के गीतों में पौरुष झलकता है। पन्त के गीतों में सौकुमार्य सजीव है। महादेवी वर्मा में करुणा-कणों की सघनता मिलती है। महादेवी का एक गीत लीजिए—

धीरे धीरे उतर क्षितिज से
आ बसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी बन्धन;
शीश फूल कर शशि का नूतन;
रश्मि वलय सितघन अवगुंठन;
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी।

निराला ने अपनी 'गीतिका' के गीतों में शास्त्रीय राग-रागिनियों का भी प्रयोग किया है।

छायावादी युग में तरल, सौन्दर्यमय और वैयक्तिक अनुभूतियों वाले गीतों का प्राधान्य तो रहा, पर राष्ट्रीय गीतों की धारा भी चलती रही। प्रसाद जी के नाटकों में 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तथा 'हिमाद्रि तुङ्ग-शृङ्ग से' जैसे गीत मिलते हैं। पन्त जी की ग्राम्या में 'भारतमाता ग्राम वासिनी' जैसे गीत मिलते हैं। निराला जी के भी कुछ गीतों में राष्ट्रीय स्पर्श है। स्वतंत्र रूप से राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत गीत लिखने वालों में माखन लाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, 'नवीन', 'दिनकर' आदि का नाम लिया जा जा सकता है।

३. ई. **छायावादोत्तर-काल**—छायावाद के पश्चात् बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा अञ्चल जैसे गीतिकार मिलते हैं। छायावादी गीतों के आसपास जो रहस्यवादी या आदर्शवादी स्वर्णजाल था, वह वाष्प-खण्ड की भाँति विलीन होने लगा। वैयक्तिक अनुभूतियाँ मांसल होने लगीं। नरेन्द्र के 'प्रवासी के गीत' ग्रन्थ में सौन्दर्य, प्रेम-भावना और वासना सभी स्पष्ट प्रतीत होते हैं। वैसे छायावादी परम्परा पूर्ण रूप से छूट नहीं जाती। छाया और रहस्य का झीना आवरण ही झीना होता-होता समाप्त हो जाता है। अतीन्द्रिय ऐन्द्रिय होने लगता है। प्रकृति-प्रेम का आडम्बर प्राय: समाप्त हो कर, नारी-प्रेम को स्थान देता है। बच्चन में अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की सचाई विशेष मिलती है। बच्चन की ये पंक्तियाँ देखिए—

सायं प्रातः का कञ्चन क्या, यदि अधरों का अङ्गार मिले।
तारक-मणियों की संपति क्या, यदि बाहों का गलहार मिले।

इनमें प्रकृति के प्रति गीतिकार का दृष्टिकोण बदला हुआ प्रतीत होता है।

और अब प्रगति और 'प्रयोग'। प्रगतिवादी कवि फिर सामाजिक यथार्थ की ओर विशेष जागृत हो जाता है। वह एक सुनिश्चित फ्रेम में अपने अनुभवों को बाँध रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की गीति-धारा में न राष्ट्रीय-गीतों की सी तीव्र अनुभूति ही मिलती है और न शुद्ध मानवतावाद या सर्वात्मवाद ही। केवल वर्ग-संघर्ष की तिक्तता है। इस प्रकार की स्थिति गीति-काव्य के अनुकूल नहीं रहती। साथ ही जिस गाढ़ी बौद्धिकता को लेकर प्रगतिवादी कवि चलता है, वह भी गीति की आत्मा के विकास को अवरुद्ध कर देती है।

प्रयोगवादी कवि नवीन प्रयोगों का पक्षपाती है। उसमें प्रगतिवादी कवि जैसी साम्प्रदायिकता नहीं रही। मन के उभर-डूबे खण्डों का अन्वेषण और उनको नवीन प्रतीकों से अभिव्यक्त करना उसका कार्य रहा। सामाजिक सन्दर्भ भी सजीवता से अङ्कित किया गया है। फिर भी बौद्धिक ऊहापोह नकारी नहीं जा सकती। वह कुण्ठा के कारणों से भी क्रान्ति करता है और जीवन के प्रति गहरी आस्था भी रखता है। 'नयी कविता' में भी गीतों के प्रयोग हुए हैं। गिरिजा कुमार माथुर, विजयदेवनारायण साही, भवानी प्रसाद मिश्र के गीतों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शमशेर बहादुर सिंह का एक गीति-प्रयोग देखिए—

धरो शिर
हृदय पर
वक्ष—वह्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ।
चिर सुहाग दूँ
प्रेम अग्नि से तुम्हें
मैं सुहाग दूँ

विकल मुकुल तुम
प्राणमयि
यौवनमयि
चिर वसन्त स्वप्न मयि
मैं सुहाग दूँ।
विरह आग से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ।

इस प्रकार के प्रयोगों से गीति-साहित्य की इस युग में भी समृद्धि हुई है।

आज के गीतिकारों में नीरज, नर्मदा प्रसाद खरे, आरसी, रामदरश मिश्र, सुमित्रा कुमारी सिनहा, हंस कुमार तिवारी आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भवानी-प्रसाद मिश्र की 'गीत-फ़रोश' नामक कविता के अनुसार अनेक प्रकार के गीत आज लिखे जा रहे है। सिनेमा के लिए गीतों की बहुत बड़ी सप्लाई हिन्दी के कवि कर रहे हैं। नरेन्द्र शर्मा के कुछ गीत सिने-साहित्य में अमर हो गए। शैलेन्द्र के भी कुछ गीत साहित्यिक कोटि में आते हैं। नीरज जी भी इधर आकर्षित हुए हैं। बच्चन जी ने लोक-धुनि के गीतों की सृष्टि करके सुन्दर प्रयोग किया है। शुद्ध-साहित्य के क्षेत्र में गीतों की नहीं, मुक्तकों की लोकप्रियता होने लगी है। पर गीति की धारा प्रवहमान है।

३

हिन्दी

साहित्य

की

विधाएँ

२०

हिन्दी-उपन्यास

१. उपन्यास का उद्‌भव
२. प्रवृत्ति-विकास एवं प्रेरणा-अंग्रेजी, बँगला, संस्कृत
३. युग विभाजन-पूर्व प्रेमचन्द युग—सुधारवादी, सामाजिक, प्रेमरोमांस; जासूस-तिलस्म, भावात्मक
४. प्रेमचन्द युग-विकास काल-प्रेमचन्द, प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, उग्र, चतुरसेन शर्मा
५. प्रेमचन्द्रोत्तर युग-प्रवृत्ति एवं विकास
६. मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक एवं यथार्थवादी उपन्यास
७. आञ्चलिक-उपन्यास एवं नवीन धारा
८. निष्कर्ष

हिन्दी में उपन्यास-विधा का इतिहास पुराना नहीं है। आधुनिक अर्थ में हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी प्रभाव से ही उत्पन्न हुए। वैसे भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी-प्रभाव से पूर्व भी उपन्यास या दीर्घ आख्यान लिखने के प्रयत्न मिलते है। संस्कृत में बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का संसार के उपन्यास-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'कथासरित्सागर' के वत्सराज उदयन के जीवन से सम्बन्धित प्रकरण मिल कर एक उपन्यास का रूप ग्रहण कर लेते हैं। मध्ययुग में इस्लाम के आगमन के साथ फारसी के दीर्घ आख्यान भी हिन्दी प्रदेश में प्रचलित हुए। कुछ लोग तो सूफ़ी प्रेमगाथाओं को उपन्यास कोटि में रखने के पक्षपाती हैं।[1] पर यह निश्चित है कि इन आख्यानों या कथावार्ताओं से आधुनिक हिन्दी उपन्यास के विकास-सूत्र को नहीं जोड़ा जा सकता। अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव ने सीधे या बँगला के माध्यम से हिन्दी-उपन्यास का बीजारोपण किया तथा आगे के विकास में भी योगदान दिया। जब उपन्यास विधा हिन्दी में स्थापित हो गई तब पुराने आख्यान भी उपन्यासों के रूप में अवतरित हो सके।

१. प्रभाव : प्रेरणा—

हिन्दी-उपन्यास के प्रभाव-स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है : अंग्रेजी, बँगला तथा अन्य। हिन्दी-उपन्यास पर समुचित विचार करने के लिए इन प्रभावों का संक्षेप में सर्वेक्षण कर लेना उपयुक्त होगा।

---

१. डा० माताप्रसाद गुप्त, 'हिन्दी पुस्तक साहित्य।'

१. अ. अंग्रेजी प्रभाव[1] : यह प्रभाव कई प्रकार से आया। भारतीय विद्यालयों में समय-समय पर अंग्रेजी उपन्यास पाठ्य क्रम में सम्मिलित किए गए : डैनियल डेफ़ो का 'रॉबिन्सनक्रूसो'; जेनऑस्टिन का 'प्राइड एन्ड प्रेजूडिस', सर वाल्टर स्काट के 'आइवन हो' तथा 'केनिलवर्थ', चार्ल्स डिकेन्स का 'एटेल ऑव टू सिटीज़', मैकपीस थैकरे का 'वैनिटीफेयर', जार्ज इलियट का 'रोमोला' आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों ने तत्कालीन युवक मस्तिष्क को प्रभावित किया। इन उपन्यासों में साहसिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, चरित्र प्रधान सभी प्रकार की विधाएँ हैं। अंग्रेजी जासूसी-उपन्यास की धारा बँगला के माध्यम से हिन्दी में आई।

पाठ्यक्रम में प्रविष्ट होकर अंग्रेजी-उपन्यास ने हिन्दी-क्षेत्र के अंग्रेजी जानने या पढ़ने वाले युवकों को प्रभावित किया। इससे आगे की स्थिति अंग्रेजी-उपन्यासों के हिन्दी रूपान्तरण की आती है : यह स्वाभाविक भी था। 'राबिन्सन क्रूसो' के कई अनुवाद हुए। इसके अनन्तर जॉन बनियन की 'दिपिलग्रिम्स प्रोग्रेस' नामक प्रतीकात्मक रचना का अनुवाद हुआ : एक ईसाई प्रचारक ने 'यात्रा स्वप्नोदय' नाम से यह अनुवाद किया। आगे यह अनुवाद-प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। अनुवादित उपन्यासों में रेनाल्ड की रचनाएँ सबसे अधिक हैं। बँगला के क्षेत्र में भी यही उपन्यासकार अधिक लोकप्रिय रहा। आश्चर्य की बात यह है कि अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इस उपन्यासकार के प्रति एक उपेक्षा-भाव मिलता है। अंग्रेजी के माध्यम से कुछ फ्रेंच उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ। 'दि वैम्पाएर' का अनुवाद जैनेन्द्रकिशोर ने 'चुड़ैल' नाम से किया। एलेक्जेन्डर ड्यूमा के 'दि काउन्ट ऑफ मॉन्ट क्रेस्टो' का हिन्दी अनुवाद 'मोतियों का खज़ाना' नाम से चुन्नीलाल खत्री ने किया। इस प्रकार 'अंग्रेजी उपन्यासों के तीन प्रकार—साहसिक-आख्यान, रहस्योद्घाटक-रचनाएँ, एवं प्रचारात्मक कृतियाँ—हिन्दी-प्रदेश में विशेष प्रचलित हुए थे; और इनमें रेनाल्ड की रहस्योद्घाटक रचनाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय हुई थी।'[2]

आ. बँगला उपन्यासों के अनुवाद—अंग्रेजी की अपेक्षा बँगला-उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में अधिक हुए। सबसे पहले बंकिमचन्द्र ने अनुवादकों को आकर्षित किया। फिर रमेशचन्द्रदत्त और पञ्चकौड़ी डे के उपन्यास रूपान्तरित हुए। पञ्चकौड़ी डे के जासूसी उपन्यास हिन्दी क्षेत्र में आए। बँगला के ये सभी उपन्यासकार अँग्रेजी प्रभाव को आत्मसात कर चुके थे। बंकिम की इन रचनाओं के अनुवाद ने लोकप्रियता पाई : दुर्गेशनन्दिनी, देवी चौधरानी, और 'कृष्णकान्त का वसीयत नामा' इन सभी पर रेनाल्ड का प्रभाव स्पष्ट है। बंगाली उपन्यासकारों ने अंग्रेजी-उपन्यासों का अन्धानुकरण नहीं किया था। उन्होंने केवल प्रभाव ग्रहण किया। उन्होंने अपनी प्रतिभा से उस प्रभाव को मौलिक परिणति दी। चिन्तन-पद्धति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों

१. इस प्रकरण का आधार : डा० विश्वनाथ मिश्र, 'हिन्दी-भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव'

२. ,, ,, ,, पृ० २६८

से बंगाली उपन्यासकारों में पर्याप्त मौलिकता मिलती है। भारतीय आदर्शवाद ने भी इनको पूर्ण प्रभावित किया।

इ. अन्य प्रभाव : संस्कृत के आख्यानों का अनुवाद भी हुआ। आरम्भ में गदाधरसिंह ने 'कादम्बरी' का अनुवाद किया। विहारीलाल चौबे ने दण्डी के 'दश-कुमार चरित' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। प्यारेलाल दीक्षित का 'हर्ष चरित' का रूपान्तर भी उल्लेखनीय है। आरम्भिक स्थिति में संस्कृत के कथानकों पर आधारित कुछ उपन्यास भी लिखे गए। इनमें 'राजा दुष्यन्त और शकुन्तला' (१८९०) 'सावित्री सत्यवान' (१८९७) तथा 'नल चरित्रामृत' (१८९७) को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। संस्कृत के अनुवादों के मूल में राष्ट्रीयता की भावना सन्निहित थी। ये उपन्यासकार राष्ट्रीय अभिमान के कारण यह मानने को तैयार नहीं थे कि हमारे यहाँ उपन्यासों की परम्परा नहीं थी। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०) की भूमिका में इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की है : "किसी किसी महाशय का यह कथन है कि उपन्यास पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् अंग्रेजों की देखादेखी लोगों ने Novel के स्थान में उपन्यास कल्पना कर लिया है किन्तु उपन्यास शब्द उप् नी उपसर्ग पूर्वक आस् धातु से बना है यथा उप=समीप, नी=न्यास, आस=रखना अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमशः समाप्त मे स्फुटित हो......उपन्यास भी भारतवर्ष में प्राचीन-काल से प्रचलित हैं। ......नागरी भाषा में इसका पूरा अभाव है। सुतरां......इस उपन्यास का प्रादुर्भाव भया है।" जगमोहन सिंह की 'श्यामास्वप्न' (१८८८), ब्रज-नन्दन सहाय की 'राधाकान्त' और 'सौन्दर्योपासक' रचनाएँ संस्कृत कथा-साहित्य के आदर्श पर हुई हैं। वैसे यह आदर्श कम ही ग्रहण किया गया।

संस्कृत के साथ अरबी और फ़ारसी कथा-साहित्य भी जन साधारण को प्रभावित करता रहा। कुछ समय तक तो फ़ारसी प्रभाव उपन्यासों पर सघन होने लगा था। कुछ ही समय में उससे मुक्ति मिल गई। फ़ारसी के प्रसिद्ध आख्यान 'हातिमताई', 'चहारदरवेश', का अनुवाद किया गया। फ़ारसी कथा साहित्य पर लिखे कुछ उर्दू आख्यानों के भी अनुवाद हुए : मुहम्मद हुसेन आज़ाद के 'फ़िसानए अजायब', तथा काज़ीअज़ीजुद्दीन की 'पुलिस वृत्तान्तमाला' जैसी रचनाओं के अनुवाद हुए। इनमें वस्तुतः कई-कई कथाओं को एक सूत्र में पिरोया गया है। फ़ारसी की दो कथात्मक रचनाओं 'बोस्तान-ए-ख़याल' और 'दास्तान-ए-अमीर हमज़ा' का प्रभाव देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं पर स्पष्ट है। इन रचनाओं से हिन्दी उपन्यास ने तिलस्म का तत्त्व लिया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन्हीं स्रोतों में हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों की प्रेरणा निहित है।

२. युग-विभाजन—

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त है। यदि सुविधा के लिए प्रेमचन्द की स्थिति को आधार मान कर हिन्दी उपन्यास के

विकास को तीन युगों—प्रेमचन्द पूर्व-युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचन्दोत्तर युग—में विभाजित कर दें तो कुछ अनुचित नहीं होगा। हिन्दी-उपन्यास का आरम्भ १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध में होता है। इसी समय भारत में एक सर्वतोमुखी क्रान्ति जन्म ले रही थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों ने तो भारत और विश्व की परिस्थितियों को ही झकझोर डाला। यही कालावधि उपन्यास-साहित्य के लिए एक उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। इन युगों का प्रवृत्ति-गत विश्लेषण कर लेना भी उपयुक्त होगा।

अ. पूर्व-प्रेमचन्द युग—जब आधुनिक युग के प्रबल थपेड़े खाकर मध्य-युग भागा जा रहा था। तथा सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों ने जागरण की किरणों को व्यापक बना दिया था : जन-मन एक नूतन जागरण का अनुभव करने लगा था। राष्ट्रीय-भावना प्राचीन के पुनर्निरीक्षण और नवीन का स्वागत करने की प्रेरणा दे रही थी। यह देख कर आश्चर्य होता है कि उस समय भी हिन्दी-उपन्यासों में परिवर्तित यथार्थ के क्रान्तिमय स्वर नहीं सुनाई पड़ते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग के जागरणकेन्द्र हिन्दी क्षेत्र पहले नहीं बने अपितु कलकत्ता, मद्रास और बम्बई जैसे नगर बने। अतः वहाँ की साहित्य-विधाओं में जागरण जितनी जल्दी समा गया, उतना इस क्षेत्र में नहीं। फिर भी इस युग के उपन्यास मध्यकालीन तत्त्वों से संघर्ष करने लगे थे, चाहे उनका पूर्व प्रभाव पूर्णरूप से न छूटा हो फिर भी उपन्यासों की कथावस्तु मध्यवर्गीय समाज का स्पर्श करने लगी थी। यह इस युग की बौद्धिक जागरूकता का परिचायक है। अनमेल विवाह जैसी मृत सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उपन्यासकार जागरूक था। पर १९०० वीं शती तक जितनी प्रबुद्ध चेतना नाटकों में मिलती है, उतनी उपन्यासों में नहीं।

बीसवीं शती के आरम्भ में समस्त जागृति क्रियात्मक रूप लेने लगी। कर्तव्य-निष्ठ समाज-सुधारक रूढ़िवादी समाज से मोर्चा लेने के लिए कर्मठ संस्थाओं, आश्रमों की स्थापना करने लगे। इन्हीं संस्थाओं में पतित वर्ग—अछूत और नारी—को प्रश्रय मिलने लगा और उनके साथ मानवतावादी दृष्टि अपनाने का आग्रह प्रबल होने लगा। पर इस सुधारवाद से तत्कालीन उपन्यास-लेखक प्रायः उदासीन-सा लगता है। डा० चण्डी प्रसाद जोशी ने इस स्थिति को इस प्रकार व्यक्त किया है :[1] "लेकिन इस युग के हिन्दी-उपन्यासकार अभी मध्ययुगीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके। अतः उनमें सुधारवादी दृष्टिकोण का अभाव है। वर्ण-व्यवस्था के समर्थक ये उपन्यासकार अब भी परम्परागत भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए विशेष प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। वे सामाजिक रूढ़ियों के कट्टर समर्थक है। सारांश यह है कि हम हिन्दी-उपन्यास के इस युग को रूढ़िवादी एवं मध्ययुगीन-सामाजिक-दृष्टिकोण का युग कह सकते हैं। बीसवीं शती के इन प्रारम्भिक उपन्यासों के सामाजिक दृष्टिकोण एवं युगीन सामाजिक चेतना में व्यापक अन्तर दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि

१ हिन्दी-उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन।

हिन्दी उपन्यास साहित्य अपने युग से कई कदम पीछे है।" फिर भी शुद्ध नैतिक और उपदेशप्रद आदर्शवादी उपन्यास लिखे गए।

पूर्व प्रेमचन्द-युग की उपन्यास-धारा को सुविधा के लिए तीन रूपों में देखा जा सकता है : सुधारवादी उपन्यास, सामाजिक प्रेमरोमांस के उपन्यास तथा तिलस्मी और जासूसी उपन्यास।[1] इनके अतिरिक्त एक भावात्मक धारा भी मिलती है।

अ. सुधारवादी उपन्यास—इस शाखा के प्रमुख लेखक एवं उनकी रचनाएँ ये हैं : श्रीनिवासदास—[परीक्षा-गुरु], बालकृष्ण भट्ट [सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी,] राधाकृष्णदास [निस्सहाय हिन्दू] अयोध्यासिंह उपाध्याय [अध-खिला फूल, ठेठ हिन्दी का ठाठ] और लज्जाराम शर्मा [आदर्श हिन्दू, धूर्त रसिक-लाल, स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी आदि] शिल्प-तंत्र की दृष्टि से ये उपन्यास अधिक परिष्कृत रुचि के परिचायक नहीं है। इनमें उस प्रबुद्ध-वर्ग को लिया गया है जो पाश्चात्य प्रभाव की आँधी के सामने शुद्ध भारतीय आदर्शों की गरिमा को प्रतिष्ठित करना चाहता था। यह राष्ट्रीय गौरव-गान की परम्परा की एक औपन्यासिक कड़ी मानी जा सकती है। साथ ही इनमें सुधारवादी संस्थाओं के प्रति सनातन धर्मी हिन्दू जनता का प्रखर स्वर भी ध्वनित है। विशेषतः आर्यसमाज के साथ इनका संघर्ष है। आदर्शों के लम्बे व्याख्यान इनमें मिलते हैं। कहीं पर उद्धरण शैली के भी दर्शन होते हैं। सामाजिक रूढ़ियों पर यदाकदा जो हलके-मीठे व्यंग्य किए गए हैं, वे जीवन्त हैं।

लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा-गुरु' की भूमिका में अंग्रेजी के प्रभाव की ओर भी संकेत किया है और एक नवीन शिल्पविधि के बोध की चर्चा भी की है। उन्होंने कथ्य वस्तु के परिवर्तन की भी सूचना दी है : अब तक राजा-रानियों के किस्से लिखे जाते थे। वे अपनी कथा दिल्ली के बाज़ार की एक अंग्रेजी दूकान के वर्णन से आरम्भ करते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि विभिन्न चरित्रों का परिचय संवादों के सहारे कथा विकसित होने के साथ-साथ मिलता जाएगा।[2] साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उपन्यास-रचना में उन्होंने बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम काउपर आदि की रचनाओं तथा एडिसन के 'स्पेक्टेटर' से सहायता ली है।[3] उपन्यास में पात्र अंग्रेजी के उद्धरण भी देते है। इस प्रकार श्रीनिवासदास नवीन प्रभावों को आत्मसात् करते हुए उन्हें उपन्यास-रचना में परिणति दे रहे थे।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रथम धारा के प्रतिनिधि उपन्यासकार श्रीनिवासदास ही थे।

आ. प्रेम-रोमांस विषयक उपन्यास—इस शाखा के प्रवर्तक किशोरीलाल गोस्वामी है। इनके प्रमुख उपन्यास ये हैं : प्रणयिनी-परिणय, तारा, स्वर्गीय कुसुम या कुसुम-

---

१. यह विभाजन डा० शिवकुमार मिश्र का : साहित्यिक निबन्ध [हिन्दी उपन्यास] पृ० २२२-२३

२ परीक्षा-गुरु : निवेदन, पृ० १-२ (१८७८)

३. „ „ पृ० ४

कुमारी आदि। इनकी वस्तु-योजना कभी ऐतिहासिक स्रोतों पर आश्रित होती है तो कभी सामाजिक स्रोतों पर। वस्तु का केन्द्र प्रणय होता है। प्रणय आदर्शोन्मुख न होकर स्थूल और रीतिकालीन अभिव्यक्ति लिए हुए है। इतिहास के साथ मुक्त-कल्पना का योग करके प्रणय की स्थितियों को उभारा जाता है। सामाजिक स्रोतों से गृहीत वस्तु में सामाजिक समस्याएँ भी स्वतः आ तो गई है, पर वे प्रभाव ग्रहण नहीं कर पातीं। दृष्टि मूलतः प्रतिक्रियावादी ही है।

किशोरी लाल गोस्वामी ने 'प्रणयिनी-परिणय' में संस्कृत कथा-साहित्य की शैली का अनुकरण किया है। दूसरा प्रयोग बँगला उपन्यासों के अनुवाद से सम्बद्ध है। जिन उपन्यासों का गोस्वामी जी ने अनुवाद किया, उनमें मुख्य ये हैं: प्रेममयी, लावण्यमयी, सुखशर्वरी, याकूती तख्ती। इन दुखान्त उपन्यासों को गोस्वामी जी ने सुखान्त बना दिया। बंकिम के उपन्यासों का भी इन्होंने अध्ययन किया। इनका प्रभाव भी इनके उपन्यासों पर मिलता है। 'त्रिवेणी' में उनकी भक्ति-भावना प्रकट हुई है। मुगल-विलास के चित्रण में इन्होंने रेनाल्ड के प्रसिद्ध उपन्यास 'मिस्ट्रीज़ ऑफ दि कोर्ट ऑफ लन्डन' से प्रेरणा ग्रहण की है। 'कुसुम कुमारी' (१६०१) पर अंग्रेजी प्रभाव अधिक गाढ़ा हो गया है। यदि तिलिस्मी प्रवृत्ति देखनी हो तो उनके 'राज-कुमारी', 'कटे मूड़ की दो दो बातें' जैसे उपन्यासों में देखी जा सकती है। ऐतिहासिक उपन्यास-विधा के बीज भी गोस्वामीजी के उपन्यासों में मिलते हैं: तारा (१६०२) 'चित्तौड़ की राख'। ऐतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने लोकप्रचलित अनुश्रुतियों से जीवित सामग्री ग्रहण की है।

वस्तुतः गोस्वामी जी के उपन्यासों में प्रभाव, वस्तु और विधा का पर्याप्त वैविध्य प्राप्त होता है। इनको हिन्दी का 'रेनाल्ड' कहा जाता है।[1] पर उनका व्यक्तित्व रेनाल्ड की भाँति व्यापक और सबल नहीं है। रेनाल्ड के पीछे एक जीवित परम्परा थी और गोस्वामी जी को एक परम्परा का सूत्रपात करना था।

इ. तिलिस्मी, जासूसी-उपन्यास—इस धारा के सूत्रधार देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी हैं। खत्रीजी ने चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि उपन्यास लिखे। गहमरीजी के लिखित और अनूदित उपन्यास १५० के लगभग हैं। इस शाखा के उपन्यास का मूल उद्देश्य कुतूहल के माध्यम से सस्ता मनोरञ्जन करना है। इनमें घटनाओं का प्राधान्य और वर्णनों का बाहुल्य रहता है। कल्पना प्रतिक्षण सजग और क्रियाशील रहती है। युग जीवन से इनकी कथाएँ स्वतन्त्र रहती हैं। जासूसी उपन्यासों का कथानक कुछ अधिक व्यवस्थित और बौद्धिक होता है। मध्य-कालीन प्रेम और शौर्य के ह्रासोन्मुख रूप की झाँकी इन उपन्यासों में मिलती है। प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता कूटनीति की चालों और झाँसेबाजियों में प्रतिफलित होती है। फिर भी इस समस्त ऊहापोह में नैतिक सूत्र लुप्त नहीं हो जाता। अन्ततः आदर्श प्रेम की ही विजय दिखाई जाती है।

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव' डा० विश्वनाथ मिश्र, पृ० ३१८

गहमरी जी के जासूसी उपन्यासों पर अंग्रेजी का पर्याप्त प्रभाव मिलता है। उन्होने अपना लेखक-जीवन बँगला के सामाजिक उपन्यासों के अनुवादों से आरम्भ किया। अतः अंग्रेजी और बँगला दोनों के प्रभाव को लेकर उन्होंने जासूसी उपन्यासों की रचना की। उनकी मौलिक प्रतिभा का विकास भी इस क्षेत्र में प्रकट हुआ। 'गुप्तचर', 'अद्भुत खून' (Strange Murder) आदि अंग्रेजी के प्रभाव से लिखित या रूपांतरित उपन्यास हैं। 'दो बहन' (१९०२) बँगला से अनूदित जासूसी उपन्यास है। उनके मौलिक उपन्यासों में 'जासूस की भूल' (१९०१) 'जासूस पर जासूस', 'घर का भेदी' आदि प्रसिद्ध हैं। 'देवीसिंह' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली पर लिखा गया है। इस प्रकार गहमरी जी का व्यक्तित्व बहुमुखी हो जाता है। शिल्प-सम्बन्धी वैविध्य भी इनमें मिलता है।

ई. भावात्मक-उपन्यास—इस शाखा में ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामास्वप्न' तथा ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' उपन्यास उल्लेखनीय हैं। जगमोहनसिंह ने प्रेम-प्रणय की समस्या को लिया है : चित्रण शैली रीतिकालीन है। प्रेम और विवाह के रूढ़ रूपों के प्रति शिक्षित व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का चित्रण भी किया गया है। यह असन्तोष और प्रतिक्रिया आगे के उपन्यासों में विविध-रङ्गों में व्यक्त हुए हैं। प्रणय की अनुभूति को दुःखान्त बनाकर अधिक तीव्र और उत्कट बनाया गया है। इस प्रकार के उपन्यासों की शैली संस्कृत कथा-शैली के समकक्ष है। भाषा-संयोजन और रचना-विधान संस्कृत आख्यानों जैसा ही है। कथानक अवश्य आधुनिक जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया को प्रतिबिम्बित करता है।

निष्कर्ष यह है कि : इस युग की सर्जना पर तीन प्रभाव पड़े—अंग्रेजी, बँगला और संस्कृत। इन उपन्यासकारों ने भावी विकास के बीजों का वपन किया। परिमाण की दृष्टि से यह युग महत्त्वपूर्ण है। श्रेष्ठता की दृष्टि से सभी उपन्यास एक से नही हैं। इनमें सामान्यतः युग-चेतना का तिरस्कार ही किया गया है। युग-प्रभाव अत्यन्त झीना है। इस युग के आधारस्तम्भ ये चार व्यक्तित्व ही हैं—श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी।

२ २. प्रेमचन्द युग—

पूर्वकालीन सुधारवादी उद्देश्य राजनीति के साथ मिल गए। राष्ट्रीय-आन्दोलन तीव्र और क्रियाशील हो गया। नारी और अछूत में समान-अधिकारों की प्राप्ति की बौद्धिक जागरूकता उत्पन्न हो गई : सामाजिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के अधिकारों की माँग थी। इनका समर्थन भी किया गया और अधिकार दिए भी गए। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जनवादी विचारधारा भी सम्बद्ध हो गई। परिस्थितियाँ इतनी बदल गई कि पिछला युग इस युग के सामने बहुत पिछड़ा मालूम पड़ने लगा। उपन्यास-साहित्य ने पूरे जोर-शोर के साथ बदली हुई परिस्थितियों का साथ दिया। पीड़ितों और दलितों के प्रति अब केवल मौखिक सहानुभूति ही नहीं रह गई थी :

उनके नेतृत्व का कार्य भी उपन्यासकार ने अपना दायित्व समझा। सामाजिक समस्याएँ जो जीवन के नवीन उद्बोध और रूढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न होती थी, इन उपन्यासों के कथानकों में आवेग और आवेश के साथ मुखर होने लगीं। उपन्यासकार अपनी दृष्टि से समाधान भी सुझा देता था।

प्रेमचन्द-युग उपन्यास-विधा का जागरण काल है। इस युग का उपन्यासकार अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग है। इसने समाज की चेतना के साथ तादात्म्य किया और विभिन्न आदर्शों की छाया में युग के यथार्थ को सजाया : कभी टॉलस्टाय की लोक-मङ्गल-भावना आदर्श-भूमि तैयार करती है और कभी गांधीवादी जीवन-मूल्य। इस समस्या-संकुल, यथार्थ-पुष्ट, विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति प्रथम बार उपन्यास-कला के श्रेष्ठ रूपों में हुई। इसी समय महायुद्ध की परिस्थिति ने जर्जर मानवता को मानववाद की ओर प्रेरित किया था।

प्रेमचन्द-युग के प्रतिनिधि उपन्यासकार ये हैं : प्रेमचन्द, प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री।

प्रेमचन्द का व्यक्तित्व युग पर छाया हुआ है। इन्होंने हिन्दी-उपन्यास का स्वरूप और दिशा ही बदल दी। जीवन के तत्कालीन यथार्थ और आदर्श के प्रति प्रेमचन्द शत-प्रतिशत ईमानदार रहे। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-उपन्यास को कल्पना की निर्जीव कारा से मुक्त करके एक स्वस्थ जीवन की भूमिका में उसको प्रतिष्ठा दी। इन्होंने युग की प्रत्येक हलचल के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित किया। सांस्कृतिक आन्दोलनों की बौद्धिक और भावात्मक भूमियों को पहिचाना। रूढ़िवादी समाज के प्रति उन्होंने एक सच्चे कलाकार की भाँति बौद्धिक अनास्था प्रकट की। वर्तमान समाज के साधक और बाधक तत्त्वों को पृथक् करके दिखाने-देखने का विवेक उनमें जाग्रत था। सदाचारयुक्त आदर्श-जीवन की कल्पना इनमें सजीव हो उठी। रङ्गभूमि, सेवासदन और प्रेमाश्रम में सदाचार-युक्त जीवन-आदर्श को चित्रित करने की चेष्टा मिलती है। आरम्भ में दमित-दलित कृषकवर्ग के प्रति उनका गांधीवादी पकड़ (एप्रोच) एक स्थिति पर चल कर प्रगतिवादी या मार्क्सवादी हो गई। इस प्रकार प्रेमचन्द का व्यक्तित्व एक वैचारिक उत्क्रान्ति से उद्वेलित और स्वस्थ अनुचिन्तन से प्रबुद्ध दिखलाई देता है।

उपन्यास के तंत्र-विधान में भी प्रेमचन्द ने प्राण फूंके। उपन्यासों को उन्होंने चरित्र-प्रधान और समस्या-संकुल बनाया। चरित्रों को भिन्न परिस्थितियों और यथार्थ की जटिल अवस्थाओं में रख कर, विभिन्न जीवन-दशाओं और मानव-प्रकृति की वास्तविकताओं को कलात्मक उभार दिया। पात्रों के चित्रण बँधे-सधे हैं। डा० गंगा ने यह टिप्पणी वस्तुतः ठीक ही दी है :[१] "वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य जो किसी चरित्र के मुँह से निकले, उसे पात्र के मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए," प्रेमचन्द इसी विश्वास को लेकर

१. 'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास।'

चलते थे। इस प्रयत्न में पात्रों के कथोपकथन कभी-कभी लम्बे भाषण जैसे लगने लगते हैं। ऐसी कुछ बातें प्रेमचन्द जी में खोजी जा सकती हैं, पर उनका व्यक्तित्व और उनकी उपलब्धियाँ इतनी व्यापक हैं कि कुछ दुर्बलताएँ हों भी तो उन पर दृष्टि नहीं जाती। प्रेमचन्द पर उद्देश्यवाद का आरोप लगाया जाता है। पर यह कोई अपराध नहीं है। प्रेमचन्दजी ने स्पष्ट कहा : "मैं तो समाज का झण्डा लेकर चलने वाला आदमी हूँ और सामाजिक विकास में मेरा विश्वास है।" वास्तव में प्रेमचन्द की यही सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि आगे चल कर प्रगतिवाद का सूत्रपात कर सकी। इस परिवर्तन में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की गत्यात्मकता ही स्पष्ट है। वे एक युग प्रवर्तक के रूप में आए और एक स्वतन्त्र परम्परा को जन्म देने में सफल हुए। उनका देय इतना नवीन है कि पूर्व परम्परा से उनकी सङ्गति बैठाना ही सम्भव नहीं लगता। डा० गणेशन ने स्पष्ट लिखा है :[1] "उनके (प्रेमचन्द के) पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य से उनकी तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उस समय तक परम्परा की जो शृङ्खला चलती आई उसकी एक कड़ी के रूप में वे नहीं आए।" और वे अपने समय से काफी आगे भी थे। इस प्रकार के व्यक्तित्व के कारण ही उनको हिन्दी उपन्यास साहित्य में केन्द्रीय स्थिति प्राप्त है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य को प्रसाद जी का प्रदेय भी कम महत्त्व का नहीं है। केवल ढाई उपन्यास 'कङ्काल', 'तितली' तथा अधूरे 'इरावती' को लेकर यह सर्वतोमुखी प्रतिभा उपन्यासकारों की अग्रिम श्रेणी में स्थान पा रही है। प्रेमचन्द के पूरक के रूप में भी उनके व्यक्तित्व को लिया जा सकता है। जहाँ प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ के संवेदनशील चितेरे थे, वहाँ प्रसादजी ने व्यक्तित्व के यथार्थ पर्तों को टटोला— 'कङ्काल' में वैयक्तिक और सामाजिक विरूपताओं का युगपत् चित्रण हुआ है। 'तितली' में एक दूसरी दिशा है : दृढ़ आदर्शवादी भूमिका है। 'कङ्काल' को कुछ लोग प्रकृतवादी उपन्यास भी मानते है क्योंकि इसमें मानव की मूलभूत वासनाओं का नग्न चित्रण किया गया है। 'इरावती' में लेखक सामान्य से विशेष की ओर चला है। दृश्य एक है : उसको ही सम्पूर्ण बनाया गया है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान का आधार भी अधिक स्पष्ट है। चरित्र-चित्रण का वैशिष्ठ्य प्रसाद जी की अपनी महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति, प्रसाद के पात्रों का भी पूर्ण उद्घाटन नहीं हो पाता। वह कभी-कभी एक रहस्य, एक पहेली बन कर रह जाता है। प्रसादजी मनोविश्लेषण न करके एक संकेत करके आगे बढ़ जाते है। डा० रांगा इस सम्बन्ध में कहते हैं : .. पात्रों के मनोविश्लेषण की ओर न प्रवृत्त होने के फलस्वरूप उनके कई पात्र पहेली बन कर रह जाते हैं और उनकी क्रिया प्रतिक्रियाओं में सङ्गति बैठाना कठिन हो जाता है। पात्रों के चरित्र-विकास की ऐसी अवस्थाओं में, जहाँ कि उनसे आशा की जा सकती थी कि वह उनकी तात्क्षणिक मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए उनके मन में उठ रही परस्पर विरोधी तरङ्गों द्वारा उत्पन्न संघर्ष का चित्रण करते,

---

१. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन।'

वह इसमें न उलझ कर नाटकीय या काव्यात्मक प्रणाली द्वारा उस संघर्ष की ओर संकेत भर करके आगे बढ़ जाते है। प्रेमचन्द निजी टीका टिप्पणी द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का मोह संवरण न कर सके और प्रसाद का रुझान एक सफल नाटककार होने के नाते, नाटकीय शैली की ओर अधिक रहा। इस प्रकार प्रसाद का शिल्प और 'एप्रोच' प्रेमचन्द से भिन्न रहा। आगे के उपन्यास-साहित्य में वैयक्तिक यथार्थ अनेक रूपों में अवतरित हुआ। जहाँ तक प्रसाद के परिपार्श्व का प्रश्न है, उसमें घाट, वैश्यालय, तीर्थ-स्थान आदि के वर्णन उनके यथार्थ-बोध की व्यापकता और सूक्ष्मदर्शिता को प्रकट करते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास और अनुश्रुतियों का योग करके ऐतिहासिक उपन्यासों की भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे। उन्होंने शुद्ध रूप में ऐतिहासिक रोमांस को नूतन रूप में अपने उपन्यासों में ग्रहण किया। उनकी प्रमुख कृतियाँ ये हैं : गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, कचनार, झाँसी की रानी, मृगनयनी, टूटे काँटे, माधवजी सिंधिया आदि। इन उपन्यासों के सम्बन्ध में भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है : "यद्यपि वे छोटी घटनाओं के सीमित परिवेश में शक्तिम शिल्प द्वारा प्रस्तुत हुए है। ख्यातों के चयन, उनके अध्ययन और पुनर्निर्माण सम्बन्धी हस्तलाघव में वे असामान्य हैं, स्कॉट के निकटतम। वैसे तो उन्होंने दर्जनों ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, पर कला की गठन, मध्यकालीन जीवन की पकड़ की दृष्टि से उनकी कृतियाँ 'गढ़कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' बेजोड़ हैं, यद्यपि 'मृगनयनी' स्वयं अपनी कमनीय शक्तिमत्ता में उनसे होड़ करती है।"[१] उनके पात्र पृथ्वीपुत्र प्रतीत होते है : अपना विकास वे स्वाभाविक रूप में करते चलते हैं। प्रेम और शौर्य का अपूर्व चित्रण करने की क्षमता इनमें है। चित्रों को विभिन्न स्थानीय रङ्गों और लोक-साहित्य के संस्पर्शों से वे जीवन्त बना देते हैं। विशेष बात यह है कि सामन्तों के साथ ही जनता भी अपना स्थान बनाए रहती है। स्थानीयता स्फीत होकर उपन्यासों को बुन्देलखण्डी आञ्चलिकता भी प्रदान करती है। इतिहास के साथ ख्यातों और अनुश्रुतियों पर आधारित कल्पना के योग ने कथानक को निर्जीव नहीं रहने दिया है। फलतः इन दोनों तत्त्वों के सन्तुलन के कारण समस्त चित्र विस्तृत और पूर्ण बन पड़े हैं।

चतुरसेन शास्त्री का कृतित्व अत्यन्त व्यापक है। उनके उपन्यासों में पौराणिक युग से लेकर आधुनिक युग तक की उद्धरणी है। इनकी ढेरों रचनाएँ हैं। जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं: अमर अभिलाषा, आत्मदाह, वैशाली की नगर बधू, वयं रक्षामः, धर्मपुत्र आदि। वैविध्य की दृष्टि से शास्त्री जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथानक की योजना में ऐतिहासिक तत्त्वों का चुनाव बड़ी कलात्मक दृष्टि से हुआ है। चरित्र निर्माण की दृष्टि से भी लेखक ने अनेक अमर-चरित्र दिए हैं।

'उग्र' को प्रकृतवादी उपन्यासकार माना जा सकता है। इनकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं : बुधुआ की बेटी, शराबी, सरकार तुम्हारी आँखों में, चन्द हसीनों के खतूत

१ गन्धदीप, १९६३, पृ० २२३

आदि। इनकी विशेषता है यथार्थ सामाजिक विकृतियों के स्पष्ट चित्र खींचना। कहीं वीभत्सता और विरूपता का चित्रण अवश्य ही सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। साथ ही केवल वीभत्स रहने के कारण चित्रण में एकाङ्गिता भी आजाती है। यथार्थ के इस पहलू के चित्रण में लेखक स्वयं रुचि लेता चलता है। कलात्मक वैभव और यथार्थ के प्रति ईमानदारी एक आकर्षण तो उत्पन्न करते हैं, पर लेखक की इसके प्रति रुचि भी स्पष्ट हो जाती है। अतः इनकी परम्परा प्रकृतवादी बन जाती है।

उक्त लेखकों के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं: विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' [माँ, भिखारिणी], प्रतापनारायण श्रीवास्तव [बिदा], निराला [अप्सरा, अलका निरूपमा], गोविन्दवल्लभ पंत [मदारी], उषा मित्रा [वचन का मोल, पिया] आदि। इन सभी लेखकों को लेकर प्रेमचन्द-युग अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। परिमाण वृद्धि भी हुई और प्रभाव वृद्धि भी। शिल्प की दृष्टि से भी अनेक प्रयोग हुए। प्रमुख धाराएँ ये रहीं: सामाजिक यथार्थ को लेकर चलने वाले उपन्यास, सामाजिक यथार्थ के परिवेश में वैयक्तिक यथार्थ को विभिन्न कोणों से देखने वाले उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, तथा प्रकृतवादी उपन्यास। इस प्रकार वस्तु तथा दृष्टि में भी पर्याप्त वैविध्य रहा, इन्ही में आगे की प्रवृत्तियों का बीजारोपण भी हुआ।

१९३६ में प्रेमचन्द की मृत्यु हो गई। उनके साथ उनका युग भी प्रायः समाप्त होगया।

२. ३. प्रेमचन्दोत्तर युग—

विकास की इस स्थिति का आरम्भ प्रेमचन्द की मृत्यु से मानना चाहिए। समाज के नव-निर्माण की भूमिका प्रस्तुत हो चुकी थी। सबको सामाजिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। पुरानी सुधारवादी समस्याएँ तो समाप्त हो गईं: वर्ण-व्यवस्था का नाम लेने वाले कुछ लोग अवश्य रह गए थे परन्तु उसकी निर्जीवता सिद्ध हो गई थी। अब समस्याओं का आर्थिक पहलू ही प्रमुख था: बेकारी, निर्धनता, भुखमरी। इन समस्याओं को उत्पन्न करने वाले वर्गों के प्रति संघर्ष-भावना का जन्म होने लगा। साथ ही व्यक्ति का कुण्ठित मन जो मूक चीत्कार करने लगा था। उसके विश्लेषण को भी अब साहित्य छोड़ नहीं सकता था। इस प्रकार एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था, जिसमें शोषण, कुण्ठा, और दमन न हो। पर इसकी सम्भावना दूर प्रतीत होने के कारण एक अवसाद सा इस युग पर व्याप्त मिलता है। वैसे विद्रोह के स्वर इस अवसाद में छिप नहीं पा रहे थे।

इस युग का उपन्यासकार किसी भी प्रकार समझौता नहीं कर पाता। उसमें सामाजिक व्यवस्था के प्रति एक विद्रोह का भाव है। समाज की प्रचलित मान्यताओं में उसे आस्था नहीं है। उपन्यास का वातावरण अराजकतावादी होता जाता है। यथार्थ का बोध बदल रहा है। प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों की अपेक्षा इस युग का लेखक बौद्धिक अधिक है। चित्रण में विश्लेषण और बौद्धिक ऊहापोह सम्मिलित

हो जाते हैं। यह राष्ट्रीयता के विकास का भी चरमोत्कर्ष प्रकट करने वाला युग था। आन्दोलन क्रान्ति का रूप धारण करता है—'भारत छोड़ो' सारे देश में गूंज जाता है। पर उपन्यास में राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर प्रबल नहीं है। मध्यवर्गीय समाज का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अथवा मजदूर-किसान का राजनैतिक जागरण और इसके साथ सम्बद्ध साम्यवादी विचारधारा ही उपन्यास के उभरते तत्त्व है।

साथ ही यह युग वैज्ञानिक चिन्तन का भी युग है। धर्म, दर्शन, आध्यात्म, ईश्वर जैसे अनुशासन और संस्थाएँ जर्जर होकर समाज की आस्था खो बैठते है। युग धर्म विज्ञान हो गया: हर जगह बौद्धिक जागरुकता दिखाई देने लगी। समाज के विश्लेषण को डार्विन, हेगेल, मार्क्स आदि की विचारधाराओं के अनुरूप ग्रहण किया जाने लगा। व्यक्ति के विश्लेषण का आधार फ्रायड, जुङ्ग और एडलर जैसे विद्वानों की खोजों को बनाया जाने लगा। आदर्शवाद का कोरापन प्रकट हो गया। बौद्धिक घात-प्रतिघातों ने इस युग के विचारक को यथार्थ के नवीन धरातलों की ओर मोड़ा। भौतिक दृष्टि ही प्रमुख हो गई। इस सांस्कृतिक स्थिति का प्रभाव तत्कालीन उपन्यास साहित्य पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। जिस प्रकार विचारधारा व्यक्तिवादी और समाजवादी थी, उसी प्रकार उपन्यास भी इन्हीं दो शीर्षकों में बँट गए। इन दोनों में अब सामञ्जस्य की सम्भावना समाप्त होने लगी। प्राचीन जीवन-मूल्यों के प्रति अनास्था तो तीव्र थी। पर नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं हो पाई। इस संक्रमण में निषेध का स्वर ही विशेष सुन पड़ता है: स्वीकृति का भाव जाग्रत नहीं है। देश के स्वातंत्र्य ने समाज के नव-निर्माण की आवश्यकता को और भी क्रान्तिकारी रूप दिया। उपन्यास-साहित्य में कई धाराएँ प्रवाहित होती हैं। ये धाराएँ एक व्यापक परिवेश का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें प्रमुख है: मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, यथार्थ निरूपण, आञ्चलिकता आदि।

अ. मनोवैज्ञानिक उपन्यास—पहली दृष्टि में तीन उपन्यासकार सामने आते हैं: जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी। ये उपन्यास की एक नवीन दिशा से सम्बद्ध हैं—प्रेमचन्द-युग से एक भिन्न दिशा। पर न्यूनाधिक रूप में इनके साथ भी आदर्श, नैतिकता और अध्यात्म-संस्पर्श के तत्त्व लगे रहे।

जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अत्यन्त विवादास्पद रहा है। कुछ उन्हें उच्चतम उपन्यास-कारों की श्रेणी में बैठाना चाहते है और कुछ उनके कृतित्व को भर्त्सना की दृष्टि से देखते हैं। एक ही व्यक्तित्व के प्रति दो अतिवादी दृष्टियाँ सामने आना, एक ओर उपन्यासकार के जटिल व्यक्तित्व का परिचय देती हैं और दूसरी ओर युग की अभिरुचि सम्बन्धी विकास का।

प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ के आदर्शीकरण की भूमिका को छोड़ा नहीं: जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति है। व्यक्ति का अन्तराल अपने समस्त रहस्य और वासना-पीड़ा को लेकर उपस्थित है। जैनेन्द्र का पात्र व्यक्ति है जो स्थूल से समाज में रहते हुए भी समाज से कटा-कटा सा है। समाज के नाम पर उनका वास्ता पति या पत्नी

के किसी मित्र या प्रेमी से है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाओं के प्रेमी और पति एक नहीं हैं। जिनसे उनका प्रेम हो जाता है, उनसे विवाह नहीं होता। जिनसे उनका विवाह हो जाता है उन्हें वे सम्पूर्ण रूप से अपने को समर्पित नहीं कर पातीं। इस भूमिका में अन्तर्बाह्य संघर्ष होना स्वाभाविक हो जाता है। पर यह संघर्ष चेतन-स्तर पर नहीं होता क्योंकि इस स्थिति को वे पात्र साधारण मान कर मानसिक संतुलन की रक्षा करते चलते हैं। वास्तविकता प्रकट हो जाने पर पति विद्रोही न होकर उदार हो जाता है, जैसे विवाह की कठोरता में उसका विश्वास नहीं और प्रेम की तरलता को वह स्वाभाविक और क्षम्य समझता है। पत्नी के प्रेमाचार के सम्बन्ध में रूढ़ि-ग्रस्त और विवाह को एकाधिकार के रूप में स्वीकार करने वाला पति क्षमाशील और उदार नहीं होगा। पर जैनेन्द्र के उपन्यासों का 'पति' ऐसा नही है। 'विवर्त' का नरेश अपनी पत्नी को ढाढ़स देता है : "मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सबको है। तुम्हारा, मेरा, उसका, सबका।" 'सुनीता' में भी यही दृष्टि मिलती है। श्रीकान्त ने सुनीता को पत्र लिखा : "सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको गलत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ कि...मेरे ख्याल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना।" 'सुखदा' का पति भी इसी स्थिति में है। इस प्रकार जैनेन्द्र की नायिकाएँ पर-पुरुष से प्रेम करती हैं। पर उनके पति इस बात को लेकर किसी बाह्यान्तर संघर्ष में नहीं पड़ते। पति स्थिति की मनोवैज्ञानिक यथार्थता का परिज्ञान करके एक ऐसा सन्तुलन बैठा लेता है कि इस द्वन्द्व में न पड़कर एक दार्शनिक की मनःस्थिति प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार सैक्स उभरता है और उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया जाता है। इस प्रशस्त मार्ग पर यदि संघर्ष है तो शील का, सैक्स का नहीं। दूसरे छोर पर सैक्स अध्यात्म से संयुक्त होकर, अपने संघर्ष की उग्रता को खोकर, अपूर्व सन्तुलन को जन्म देता है। यह जैनेन्द्र के बौद्धिक आयास का फल है।

पात्रों का स्वभाव उनको एक ओर ले जाना चाहता है और जैनेन्द्र का बौद्धिक आयास उनको एक दूसरी ही दिशा में ले जाना चाहता है। इस विरोधी स्थिति को जैनेन्द्र जिस बौद्धिक या प्रच्छन्न गांधीवादी शैली से एक समाहार देना चाहते हैं, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक सशक्त सत्य नहीं बन पाता। सामाजिक वर्जनों की पीड़ा भी जैनेन्द्र के पात्रों को कम नही है। एक ऐसा दार्शनिक आवरण इन कुण्ठित व्यक्तित्वों पर लेखक डाल देता है, कि उनका मुक्त रूप प्रकट ही नहीं हो पाता।

अपनी शक्तियों और दुर्बलताओं के बीच जैनेन्द्र के उपन्यास विशिष्ट हैं। उनकी भाषा उनके व्यक्तित्व के उलझनों और सुलझनों से युक्त होकर चलती है। बौद्धिक और दार्शनिक भूमिका पर सैक्स और कुण्ठा को चित्रित कर देना जैनेन्द्र का विशिष्ट प्रयोग है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यासों में भी वर्जन और यौन कुण्ठाओं का वातावरण है। इनके प्रमुख उपन्यास ये हैं : मीठी चुटकी, अनाथ पत्नी, प्रेम-पथ,

लालिमा, पिपासा, तीन बहनें, पतिता की साधना, गुप्तधन आदि। इनके अनुभव भी सजीव हैं। मध्यवर्गीय सैक्स समस्याएँ ही इनके उपन्यासों में व्याप्त है। पहले वाजपेयी जी प्रेमचन्द की परम्परा को लेकर चले। पीछे मनोवैज्ञानिक धारा में बह गए। इन्होंने भी अपने अन्य साथियों के साथ मानसिक विकृतियों एवं अतृप्त वासनाओं को उभारा है। लेखक के व्यक्तित्व में आदर्शवादी संस्कारों और यौन यथार्थता का द्वन्द्व है। आदर्शवाद वस्तुतः पात्रों पर रहने वाले एक बौद्धिक नियंत्रण के रूप में प्रतिफलित होता है।

भगवतीचरण वर्मा में नैतिकता और मनोविज्ञान साथ-साथ चलते हैं। कभी कभी लेखक नैतिकता को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहता है और कभी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को नैतिक नियंत्रण में रख कर देखने लगता है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में लिखा है: 'वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यों कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हलकी कलम से सँभाल पाना सम्भव नहीं है। कदाचित इसीलिए 'चित्रलेखा' एक प्रश्न बन कर रह गई है।" वर्मा जी की लेखनी सचमुच इतनी हलकी या कमजोर नहीं है। 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति के संघर्ष को, इनकी परम्परित परिभाषाओं को जो नवीन सन्दर्भ दिया गया है, उसमें एक सबल लेखनी के ही दर्शन होते हैं। इस कृति की सफलता में कोई सन्देह नहीं है।

उनके परवर्ती उपन्यास ये हैं: टेढ़े मेढ़े रास्ते, तीन वर्ष, आख़िरी दाँव, भूले बिसरे चित्र। इनमें भी जीवन के दुर्बल पक्ष मनोवैज्ञानिक शैली में व्यक्त हुए हैं। सामाजिक स्थितियों पर व्यंग्य भी सजीव है। इतना अवश्य है कि जीवन-दर्शन विशेष स्पष्ट नहीं हो पाया है।

इन उपन्यासकारों ने एक नवीन उपन्यास-विधा का सूत्रपात किया: 'लघु उपन्यास'। उपन्यासों की भूमिका अधिक उद्वेलित और गत्यात्मक है। इसी कारण से प्रभाव घनीभूत हो जाता है। जो प्रणयधारा आदर्श के कगारों से घिरी-बँधी प्रवाहित हो रही थी, वह अब मनोवैज्ञानिक धरातल पर अपनी बाधा-वर्जनाओं से उलझती-सुलझती बहती है। मानवीय प्रवृत्तियों का चित्रण प्राकृतिक चित्रण का स्थान ले लेता है: बाह्य प्रकृति से अन्तर्प्रकृति की ओर अभिमुख होने के मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक ही हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'टाइपों' का युग समाप्त हो जाता है। व्यक्ति अपने वैशिष्ट्य के साथ इन उपन्यासों में प्रतिष्ठित है। स्पष्ट और स्वच्छ जीवन-दर्शन की आशा इन भूमिकाओं में नहीं की जा सकती। इनमें जीवन की दुर्गतियों और दुर्बलताओं को एक संकेतपूर्ण उभार अवश्य दिया गया है। मध्यवर्गीय व्यक्तित्व इन कुण्ठाओं और वर्जनाओं से इतना जर्जर हो गया था कि इस वर्ग से सम्बन्धित कलाकार इन प्रश्नों से तटस्थ नहीं रह सका। साथ ही इन जलते हुए यौन प्रश्नों को वह इतने समीप से देख रहा था कि किसी जीवन-दर्शन पर नहीं पहुँच सका। पर दूर की

CUDDAPAH

आवाज की भाँति इस युग का लेखक एक अन्तर्ध्वनि सुनता था, जिसमें आदर्श और नैतिकता की प्रतिध्वनि विद्यमान थी जो प्रतिक्षण क्षीण होती हुई भी जीवित थी। परन्तु इस प्रतिध्वनि में मनोवैज्ञानिक यथार्थ के स्वर भी इतने स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ते हैं जितने अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि में।

आ. मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—अज्ञेय का व्यक्तित्व तो आज का सबसे अधिक विवादास्पद व्यक्तित्व है। इनके तीन प्रमुख उपन्यास हैं : शेखर एक जीवनी नदी के द्वीप और अपने-अपने अजनबी। इन पर भी विभिन्न दृष्टियों से विचार हुआ है। अज्ञेय की उपन्यास-कला का केन्द्र 'अहं' है। कहीं यथार्थ अति रूप में झलकने लगता है और कहीं अस्तित्ववाद। इन उपन्यासों में पतन, स्खलन सभी हैं और सभी को एक चित्र-विचित्र भूमिका भी दी गई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि तो इनमें सम्पन्न है, पर अपनी रुचि के अनुसार मनोवैज्ञानिक ढाल तानकर वासना जन्य विकृतियों को नग्न किया गया है। व्यक्ति अहं में केन्द्रित है सबसे झुँझलाया सा, कटा सा। अतः मानवीय जीवन-मूल्यों में आस्था प्रायः नही रह गई है।

अहं और अस्तित्व को मृत्यु झकझोर देती है। 'शेखर : एक जीवनी' में मृत्यु की ही समस्या थी। शेखर के सामने सदैव एक प्रश्न रहता है : मृत्यु की सिद्धि क्या है? यदि मैं मर जाता हूँ तो कुल मिला कर मेरे जीवन का क्या अर्थ हुआ? 'अपने-अपने अजनबी' में भी फिर यही समस्या उठ खड़ी हुई है। इसमे 'सेल्मा' और 'यों के' मृत्यु के प्रति दो दृष्टियाँ रखते हैं। अन्ततः दोनों ही जीवन के प्रति निस्पृह हो उठते हैं। डा० रणवीर रांग्रा ने एक बार अज्ञेयजी से इस सम्बन्ध में पूछा था। उन्होंने उत्तर दिया : "सेल्मा में मृत्यु का सहज स्वीकार है। योके अन्त तक अपने दोनों आग्रह बनाए रखती है—एक तो मृत्यु को न मानने का और दूसरे वरण की स्वतंत्रता का। लेकिन अन्त में वह वरती मृत्यु को ही है। और दूसरे, जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बनाकर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु को स्वीकार भी कर लेती है, क्योंकि सचाई में आस्था और साक्षी के माध्यम से प्रकारान्तर से अमरत्व, इन दोनों के सहारे वह मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।"[१] इस उपन्यास में वातावरण और पात्र विदेशी हैं। जैसे लेखक यह बतलाना चाहता हो कि विदेशीपन या देशीयता के रूप इन्हें जीवन्त करने के लिए दिए गए हैं। मूल समस्या इस या उस देश की अलग नहीं होती। यह एक प्रयोग ही है।

इन दोनों के बीच 'नदी के द्वीप' है। उसका वातावरण भिन्न है। उसके कथानक की खोज लेखक ने काश्मीर की उपत्यकाओं में की। इसकी सफलता-असफलता भी विवादास्पद रही है। इसमें सैक्स और अहं की मिश्रित समस्या है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि अज्ञेय जी का शिल्प सम्बन्धी प्रदेय महत्त्वपूर्ण है। वैसे इनके उपन्यासों में अधिकांश उच्चवर्गीय समाज के ही चित्र बनते हैं। समाज के वर्गों का व्यापक चित्रण नहीं मिलता। उपन्यासों की बाह्याङ्ग-सज्जा अत्यन्त आकर्षक होती

१, ज्ञानोदय, जुलाई १९६३, पृ० १९

है। दृष्टिकोण आत्मोन्मुखी है। अस्तित्ववादी दर्शन मृत्युपरक होकर प्रकट हुआ है। कहीं-कहीं चित्र नग्न जैसे लगते हैं। नदी के द्वीप का एक चित्र देखिए: 'भुवन ने उठकर उसके बांह पकड़े—ठंडे, बर्फ जैसे। बलात् उसे लिटा दिया, कम्बल उढ़ा दिए। धीरे धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा, चेहरा भी बिल्कुल ठण्डा था। उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गरम गाल रखा...कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा। ...झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे हिमपिण्ड...सहसा रेखा ने बाँहें बढ़ाकर उसे खींच कर छाती से लगा लिया।' पर इस चित्र की परिस्थिति ऐसी है कि औचित्य सिद्ध हो जाता है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों की भावभूमि अधिक मनोवैज्ञानिक है। वस्तु-चित्रण और वर्णन कौशल उपन्यासों को विशिष्ट बना देता है। इनके उपन्यास है: सन्यासी, घृणामयी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, जहाज का पंछी आदि। इन पर मनोविज्ञान का प्रभाव इतना अधिक है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मनोवैज्ञानिक सूत्रों के स्पष्टीकरण के लिए उपन्यास लिखा जा रहा है। पतन और स्खलन को भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रदान किया गया है। जहाँ ज्ञान को उँडेलने का आग्रह है, वहाँ स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। ऐसे स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन की अनुभूतियाँ इतनी तीव्र नहीं है, जितनी बौद्धिक विचारणा। आरम्भिक उपन्यासों को 'जहाज के पंछी' से इसी आधार पर पृथक् किया जा सकता है। इसमें उपन्यास की भूमिका अधिक अनुभूति-संकुल है। इसीलिए इसका विशेष स्वागत भी हुआ।

जैनेन्द्र, अज्ञेय और जोशी के उपन्यास वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित हैं। प्रेम, वासना और पतन को मनोवैज्ञानिक संस्पर्श के द्वारा एक नवीन व्याख्या देने का प्रयत्न किया गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यासों को भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ही रख सकते हैं।[1]

इ. यथार्थवादी उपन्यास—यथार्थवाद की दृष्टि निम्न वर्ग पर विशेष रहती है। अब तक के प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने मध्य-वर्ग की समस्याओं को ही विशेष रूप से उपन्यासों में व्यस्त किया था। यथार्थवादी उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ से सम्पर्क स्थापित किया।

अश्क जी में यथार्थवाद तो दिखलाई पड़ता है: पर वह सामाजिक यथार्थ नहीं बन पाता। घुटन, कुण्ठा, वर्जना, सभी बड़े व्यापक प्रभाव के साथ इनके उपन्यासों में उतरे हैं। पर उपन्यासकार इन बाधक तत्त्वों को अतिक्रान्त करने की शक्ति पात्रों में नहीं है: लेखक उनके प्रति एक घृणा उत्पन्न करके रह जाता है।

सामाजिक यथार्थ को लेकर चलने वाले उपन्यासकारों में यशपाल, नागार्जुन, तथा राङ्गेयराघव लिए जा सकते हैं।

यशपाल के प्रमुख उपन्यास हैं: पार्टीकामरेड, दादाकामरेड, देश द्रोही, दिव्या,

---

१. गर्मराख, गिरती दीवारें, चेतन, सितारों के खेल।

मनुष्य के रूप, झूठ सच आदि। यशपाल के उपन्यासों की पटभूमि बहुत ही विस्तृत है और निजी अनुभवों से सजीव है। समस्त चित्र अनुभवों की गहरी दृष्टि के परिचायक हैं। जीवन का यथार्थ वैविध्य इनके उपन्यासों की विशेषता है।

उनकी दृष्टि मार्क्सवाद से प्रभावित है। उनके उपन्यासों के नामकरण से भी उनकी मार्क्सवादी दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। पर मार्क्सवादी आलोचक इन पर यह आरोप लगाते हैं कि मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वास्तविक परिणति इनके उपन्यासों में नहीं हुई है। सर्वत्र फ्रायडवाद या सैक्स का रङ्ग उन पर चढ़ा हुआ है। मार्क्सवादी दृष्टि फ्रायड से प्रभावित होकर विकृतियो का भी चित्रण करने लगती है। यपालश के उपन्यासों की यही एक विशेपता भी मानी जा सकती है—मार्क्स और फ्रायड का मिश्रण। कथावस्तु अनेकत्र विकृत दिशाओं की ओर चलने लगती है। इस मिश्रण-संघर्ष में उनकी आस्था स्पष्ट रूप से प्रकट नही हो पाती। मध्यवर्गीय पात्र या तो वैचारिक विद्रोह करते है, या अराजकता का पक्ष लेने लगते हैं। वैसे, यौन-कुण्ठाओं से जर्जर व्यक्तित्व को पर्याप्त उभार दिया गया है। 'झूठ सच' में उनकी प्रतिभा और समाधि विशेष उभरती हैं। देश का विभाजन इसके केन्द्र में है। फिर युग-जीवन अपने व्यापक परिवेश के साथ सजीव है।

'घरोंदे' से 'आखिरी आवाज़' तक राङ्गेय राघव ने एक दीर्घ मार्ग तय किया : लगभग अड़तालीस उपन्यास उन्होंने लिखे। उनकी आलोचना विभिन्न प्रकार से की जाती है। एक प्रकार के आलोचकों का कहना है कि उनमें बुद्धि-विलास अधिक है : मन का विक्षोभ कम।[1] पर यह बात उनके 'पतझर' और 'आखिरी आवाज़' उपन्यासों पर ही विशेष लागू होती है। राङ्गेय राघव जीविका और आग्रह के लिए लिखते रहे। अतः सभी उपन्यासों का धरातल सम नहीं है। उपन्यास की विधा का वैविध्य भी पर्याप्त मिलता है :

१. सामाजिक उपन्यास – क – शहरी जीवन वाले;
ख – ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध।

२. ऐतिहासिक उपन्यास

३. जीवन चरितात्मक उपन्यास

४. आञ्चलिक उपन्यास

उनके सामाजिक उपन्यासों में मुख्य ये हैं : छोटी सी बात, विषादमठ, सीधासादा रास्ता आदि। शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में उनका विशद अध्ययन व्यक्त हुआ है। इनमें उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी दर्शन और स्वतंत्र भारत की अव्यवस्था पर व्यंग्य भरा आक्रोश मिलता है।

उनके ग्रामीण उपन्यासों में ये प्रमुख हैं : 'पथ का पाप' और 'आखिरी आवाज़।' इनमें स्वातंत्र्योत्तर गाँवों का चित्रण किया है। इनमें गावों के अनैतिक, दुर्बल और अमानवीय पक्षों को ही उभार दिया गया है। सम्भवतः यह उन्होंने यथार्थवाद के

१. नेमिचन्द्र जैन, धर्म युग, १५ सितम्बर, १९६३

आग्रह के कारण किया है। प्रेमचन्द में भी ऐसे उभार कम नहीं है। नेताओं ने जो जाल गाँवों में फैला रखा मे, उसको 'आखिरी आवाज़' में उभारा गया है। यह एक नया वर्ग है।

राङ्गेय राघव की प्रतिभा ऐतिहासिक धरातल पर आकर अनुपम विलास करने लगती है। प्रगतिवादी मान्यताओं को ऐतिहासिक कथानकों में उन्होंने बाँधा है। सन्त परम्परा के मानववादी दर्शन से वे अत्यधिक प्रभावित रहे। बौद्ध-धर्म ने भी उनके चिन्तन को प्रभावित किया। इसके सम्बन्ध में उन्हीं के शब्द द्रष्टव्य हैं: "घरोंदे के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए। एक ओर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में अपनी ओर अधिक खींचा, तो दूसरी ओर भारत की आत्मा, उसकी यात्रा और संस्कृति की महान् मति ने मुझे आकर्षित किया और मैंने अतीत के विभिन्न युगों के संघर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया...।"[१] 'मुर्दों का टीला', 'चीवर', 'पक्षी और आकाश', 'राह न रुकी' और 'अँधेरे के जुगनू' आदि उपन्यासों में उनका यही प्रयत्न प्रतिफलित हुआ है। सामयिक सन्दर्भ के प्रति उनकी सजगता उन्हें मात्र अतीत जीवी बनने से बचाती है।

उनके आञ्चलिक उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ' और 'धरती मेरा घर' जैसे उपन्यास आते हैं। इनमें से प्रथम राजस्थान के नटों-कञ्जड़ों के जीवन पर आधारित है। पर इसमें स्थानीयता और आञ्चलिकता 'रेणु' की कोटि की नहीं है। दूसरे उपन्यासों में राजस्थान के लोहपीटों की सामाजिक स्थिति और उनका दैन्य प्रकट हुआ है। उनकी जीवन-पद्धति को यथार्थवादी शैली में उतारा गया है।

इससे स्पष्ट होता है कि राङ्गेय राघव की उपन्यास-साधना व्यापक और बहुविध थी। उनमें सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने की ओर उनकी दृष्टि रही है। जो सीमाएँ या दोष हैं, वे अतिलेखन के परिणाम कहे जा सकते हैं। 'अपनी सारी दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद राङ्गेय राघव का सम्पूर्ण कृतित्व हमें सत्य को उसकी समग्रता में स्वीकार करने का आग्रह और शक्ति देता है।"[२] वैसे राङ्गेय राघव का सामाजिक यथार्थ बड़ा स्वच्छ और अमिश्रित है। युग-जीवन की विषमताएँ स्पष्ट रूप से मुखर है। इतिहास ने जहाँ उनको अतीत के प्रति आस्थावान बनाया, वहाँ भविष्य के प्रति भी आशावान बनाया।

ई. आञ्चलिक उपन्यास—राङ्गेय राघव के आञ्चलिक उपन्यासों की संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। इस क्षेत्र में फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास अधिक समाहृत हैं। नागार्जुन ने भी ऐसे उपन्यास लिखे हैं: बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, रतिनाथ की चाची, नई पौध, वरुण के बेटे, दुखमोचन आदि। रेणु के दो प्रमुख उपन्यास 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' हैं। इन उपन्यासों में एक व्यापक, सामान्यीकृत जन-जीवन के चित्र नहीं हैं: अञ्चल विशेष के जीवन को उसकी समग्र भाव-भूमि के

१. साहित्य सन्देश, आधुनिक उपन्यास अङ्क, पृ० ८७
२. मधुरेश, आलोचना, जुलाई, ६४, पृ० ४८

साथ अङ्कित किया गया है । लोक-जीवन के सभी तत्त्व अभिव्यक्ति के उपकरण बन जाते हैं । अपनी स्वाभाविकता के कारण इन्होंने आरम्भ से ही पाठकों को आकर्षित करना आरम्भ किया ।

नागार्जुन ने मिथिला-अञ्चल को लिया है । लेखक की दृष्टि आस्थावान है । पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज-व्यवस्था के अतिचारों के प्रति सामान्य जीवन के संघर्ष को इनमें अभिव्यक्ति दी गई है । एक ओर अभाव और विषमताओं से जर्जर जीवन है दूसरी ओर है मुक्ति का शङ्खनाद । आञ्चलिक चित्र प्रभाव की दृष्टि से व्यापक हो उठते हैं । आञ्चलिकता के प्रति भी लेखक ईमानदार रहा है । मानवीय मूल्य लेखक की दृष्टि से ओझल नहीं हुए है । पीड़ित और शोषित वर्ग के प्रति संवेदना को उभारने में लेखक सफल हुआ है ।

रेणु ने आञ्चलिक उपन्यास-विधा को उद्देश्यवाद से मुक्त करके कला के तत्त्वों से समन्वित किया है । दृष्टिकोण की तटस्थता आकर्षक है । पूर्णिमा जिले का जीवन अपने समस्त छोटे-छोटे विस्तारों के साथ इनके उपन्यासों में व्यक्त हुआ है । नागार्जुन की अपेक्षा रेणु का चित्रपट अधिक विस्तृत है । नागार्जुन ने (डिटेल्स) तथ्य विस्तार को अधिक महत्त्व नहीं दिया । जन-जीवन की गहराइयों में सुलगते संघर्ष को ही उन्होंने उभारने की चेष्टा की है । रेणु एक ग्राम-विशेष के साथ बँध कर तथ्य विस्तार (डिटेल्स) को कलात्मक चित्रों की रेखाओं के रूप में ग्रहण करते हैं । उस ग्राम के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत की समस्त प्रगति को मूर्तिमान कर देना ही रेणु की उपलब्धि है । इतना सब करने पर भी आञ्चलिकता की रक्षा भी की जाती है । इन उपन्यासों में जीवन-दर्शन तो स्पष्ट होकर ऊपर नहीं आया है पर ग्रामीण दृष्टि से इसका स्वाभाविक विकास होता दीखता है ।

अञ्चलिक उपन्यासों की धारा मे अमृतलाल नागर और उदय शङ्कर भट्ट की चर्चा भी की जानी उचित है । इनकी जीवन दृष्टि प्रेमचन्दीय युग की सी लगती है । टेक्नीक की दृष्टि से ये नवीन हैं । नागरजी का यथार्थ-चित्रण 'महाकाल' में आकर्षक है । 'बूँद और समुद्र' एक नव्यतम आञ्चलिक-कृति है । लखनऊ का चौक मुहल्ला इनका अञ्चल है । यहाँ सामन्तवादी व्यवस्था सड़ रही है और मध्यवर्ग घुट रहा है । इस प्रकार आञ्चलिकता में डिटेल्स की कला तो उतनी नहीं है, जितनी रेणु में मिलती है, पर जीवन-दृष्टि और व्यंग्य सच्चे सबल और पुष्ट हैं ।

भट्ट जी ने बम्बई के समुद्र-तट के मछुओं के जीवन को देखा और 'सागर, लहरें और मनुष्य' में वह जीवन समा गया । आञ्चलिक-उपन्यास की धारा की यह एक बलवती लहर है । इसी परम्परा में देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्म पुत्र', भैरवप्रसाद गुप्त का 'गङ्गा मइया का चौरा', लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप, उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं ।

निष्कर्ष—

नवोदित उपन्यास धारा—'नया' विशेषण कहानी के साथ भी जुड़ा और कविता के साथ भी। पर उपन्यास के साथ नहीं जुड़ा। उपन्यास के सम्बन्ध में दिशा और दृष्टि का विकास निरन्तर होता गया। पिछली परम्परा के साथ कहीं लगती कहीं अलग होती नवोदित उपन्यास-धारा प्रवाहित हुई। नवीन भाव-बोध, नई आस्था और नवीन यथार्थ के धरातलों को लेकर इस धारा के लेखक प्रकट हुए। सबसे अधिक विकास शिल्प-तंत्र में हुआ। यह निश्चित है कि कुछ नवोदित उपन्यासकारों की कला ने हिन्दी की इस विधा को समृद्ध किया है।

इन उपन्यास लेखकों में एक अमृत राय हैं। उनकी कृतियाँ 'बीज' और 'नागफनी का देश' आदि हैं। इस बदलते हुए मूल्यों और मिटती हुई आस्थाओं के इस युग में इन्होंने नवीन अभिरुचि का ध्यान रखते हुए प्रेमचन्द की परम्परा का नवाङ्कन किया है। दूसरे लेखक राजेन्द्र यादव हैं—'उखड़े हुए लोग' आदि को लिए हुए। राजेन्द्र यादव का व्यक्तित्व आज समस्त नवीन साहित्य पर छाता जा रहा है। धर्मवीर-भारती के 'गुनाहों के देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसे उपन्यास भी नवीन शिल्पविधि की विकास शीलता के परिचायक हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तो एक प्रयोग है। 'गुनाहों के देवता' में भावुकता और रूमानियत अधिक है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' भी परम्परा का इतिहास लिखने में भुलाया नहीं जा सकता। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'खाली कुर्सी की आत्मा' को नवीन आस्थाओं और विकृति-प्रकृति के संघर्ष-समन्वय के साथ लिखा। ये सभी सामाजिक यथार्थ की अपेक्षा व्यक्ति-यथार्थ के प्रति अधिक जागरुक हैं। व्यक्तित्व का विश्लेषण और उसके विभिन्न स्तरों के अन्वेषण में ये सभी निरत हैं। और नवोदित प्रतिभाओं में उषाप्रियंवदा, अमरकान्त तथा कमलेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। बालशौरि रेड्डी जैसे अहिन्दी भाषी कलाकारों की साधना से भी हिन्दी-उपन्यास को बल मिला है—कलात्मक भी, नैतिक भी।

यह परम्परा चली जा रही है। इस पर्यवेक्षण में भी न सबके नाम आए और न सभी कृतियाँ। शायद वे भी रह गए हों जिनको आना चाहिए था। इस निबन्ध के लघु कलेवर मे उनका समावेश सम्भवतः नहीं था। प्रवृत्तियों का सूत्र विकास प्रस्तुत करना ही अभिप्रेत था। परम्परा को देखते हुए भावी संकेत स्वयं उभरते है, उभरेंगे ही।

२१

हिन्दी नाटक का विकास

१. नाटक की प्राचीन परम्परा
२. काल विभाजन—भारतेन्दु पूर्व, भारतेन्दु-युग, प्रसाद-युग, प्रसादोत्तर-युग
३. ब्रज-भाषा नाटक, राजस्थानी नाटक एवं रासक तथा मैथिली नाटक अङ्किया एवं कीर्तनियाँ
४. पारसी थियेटरों का योगदान एवं रङ्गमञ्च विकास
५. भारतेन्दुकाल—अभिनय प्रधानता
६. प्रसाद-युग—साहित्यिकता
७. अन्य नाटककार एवं विस्तार
८. निष्कर्ष

संस्कृत नाटक की परम्परा अत्यन्त संमृद्ध थी। सम्भवतः संस्कृत साहित्य की यह विधा विश्व साहित्य के इतिहास में ही सबसे प्राचीन है। भारतीय अतीत के स्वर्ण-युगों में नाट्य-कला को आश्रय भी मिला और उसके विकास के लिए समुचित सुविधाएँ भी प्रदान की गईं परन्तु कालान्तर में यह परम्परा अपने मूल रूप में जीवित न रह सकी। सम्भवतः संस्कृत नाट्य-तंत्र की जटिलता इसका मुख्य कारण है दूसरा कारण युग की परिस्थितियों में निहित माना जा सकता है। संस्कृत के बाद पालि-भाषा का युग आया। पालि-साहित्य में नाट्य परम्परा समाप्तप्राय हो गई। प्राकृतों में जहाँ एक ओर मुक्तक और प्रबन्ध काव्य विधाएँ उत्कर्षोन्मुख थीं वहाँ दूसरी ओर नाट्य परम्परा स्तब्ध ही मिलती है। प्राकृत सट्टकों की परम्परा में 'कर्पूर मञ्जरी', 'रम्भा मञ्जरी', चन्द्रलेखा आदि उल्लेखनीय हैं। पर अन्य नाट्य विधाएँ अज्ञात ही रहीं। अपभ्रंश में तो नाटकों की कोई परम्परा ही नहीं मिलती। रासक की एकमात्र परम्परा अवश्य मिलती है।[१] पर रासक परम्परा में भी नाटकीय तत्त्वों का निर्वाह पूर्ण रूप से नहीं मिलता। डा० दशरथ ओझा ने इसी परम्परा में आने वाले "गय-सुकुमार रास" (सं० १२८९) को हिन्दी का सर्व प्रथम उपलब्ध नाटक माना है। उनके अनुसार इस रास में शास्त्रोक्त रासक नाट्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं।[२] कुछ विद्वान् इसको हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक मानने में आपत्ति करते हैं।

---

१. रासक के लक्षणों का निरूपण नाट्य दर्पण, भाव प्रकाश और साहित्य दर्पण जैसे लक्षण ग्रन्थों में मिलता है।

२. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास

मुस्लिम शासन पूर्णतः सामी सभ्यता एवं संस्कृति का अनुयायी था, उसके अनुसार नाटक भी बुतपरस्ती का ही एक रूप है अतः मुसलमानी शासन काल में भी नाटक की प्रेरणाओं का पुनरुत्थान नहीं हुआ। इस्लाम के धर्माचार्यों ने इस कला को समाज के लिए हानिकर बतला कर इसकी रचना पर धार्मिक वर्णन लाद दिया।[१] जिस प्रकार पहले बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार ने भारतीय नाटक-परम्परा को अवरुद्ध कर दिया था उसी प्रकार शासनारूढ़ इस्लाम धर्म ने भी इस परम्परा के प्रति सहिष्णुता नहीं दिखलाई। मुगल शासकों ने विभिन्न शास्त्रों, सङ्गीत और काव्य को तो पर्याप्त प्रोत्साहन दिया; पर वे नाट्य कला के विरुद्ध ही बने रहे। इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना इस प्रकार कही जाती है—ईसा की सत्रहवीं शताब्दी की बात है। दिल्ली में चाँदनी चौक की सड़क पर बड़ा हंगामा मचा हुआ था। महलसरा के सामने से एक अजीबो गरीब मगर शानदार जनाज़ा निकल रहा था। लोग छातियाँ कूट-कूट कर विलाप कर रहे थे। चारों ओर से हाय! हाय! की आवाज़ आ रही थी। बादशाह औरङ्गजेब ने झरोखे से झाँक कर अपने काँपते हुए शरीर और थर-थराते कण्ठ से भीड़ की ओर मुखातिब होकर कड़कती हुई आवाज़ में पूछा "यह क्या नामाकूलियत है? यह कैसा शोरोगुल है?"

एक व्यक्ति ने फर्शी सलाम बजाते हुए कहा। हुजूरे आला यह सङ्गीत का जनाज़ा जा रहा है।

औरङ्गजेब ने बेसाख्ता हाथ उठाकर जवाब दिया—आफरीन! ले जाओ 'इसे' और इसके बाप नाटक की बगल में ही इतना गहरा दफन करो कि यह दुबारा कब्र फोड़कर निकल न सके।

यह था मुगल कालीन नाटक एवं सङ्गीत का क्लाइमैक्स। इतना तो सच है कि एक विकसित रङ्गमञ्च के अभाव को लेकर हिन्दी नाट्य परम्परा अपने परिष्कृत रूप में अवरुद्ध ही रही, पर अन्तर्धारा के रूप में कवियों की काव्य रूपक परम्परा और लोक नाट्य परम्परा चलती रही। "प्रायः इस काल की दीर्घ अवधि में सामाजिक-अवस्था, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, दुःखवाद और वैराग्य की ओर प्रवृत्ति, अन्तर्मुखी वृत्ति, राजाओं और नवाबों की ऊहापोहात्मक काव्य सूक्तियों में अभिरुचि, कवियों की कविता के प्रति एकान्त रुचि राष्ट्रीय रङ्गमञ्च का अभाव तथा गद्य साहित्य की हीनता इत्यादि अनेक कारणों से नाटकों का अभाव ही बना रहा।"[२]

मुगल साम्राज्य के पतन के अनन्तर लोक-नाट्य परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। अंग्रेजों के आगमन और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के फल स्वरूप रङ्गमञ्चीय विकास भी हुआ और साहित्यिक कोटि के नाटकों की रचना में भी लेखक प्रवृत्त हुए। आधुनिक काल तक इस विधा का विकास उत्तरोत्तर द्रुत गति से होता

१. डा० सय्यद अब्दुल लतीफ, "The Influence of English literature on Urdu literature, P. 67

२. हिन्दी साहित्य कोष —पृ० ३४

गया। यहाँ हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास-पथ का प्रवृत्तिगत सर्वेक्षण कर लेना समीचीन होगा।

१. काल-विभाजनः—

हिन्दी उपन्यास का काल-विभाजन जिस प्रकार प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को केन्द्र मानकर किया जाता है उस प्रकार नाट्य साहित्य का विभाजन सम्भव नहीं। इस क्षेत्र में दो प्रधान व्यक्तित्व केन्द्रस्थ हैं—'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' और 'प्रसाद'। इन दोनों व्यक्तित्वों को आधार मानकर यदि काल-विभाजन करें तो इस प्रकार होगा : भारतेन्दु पूर्व हिन्दी नाटक, भारतेन्दु युगीन नाटक, प्रसाद युगीन नाटक और प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यही काल-विभाजन वैज्ञानिक है फिर भी यह सुविधाजनक अवश्य है। डा० दशरथ ओझा ने सम्पूर्ण हिन्दी नाटक के विकास को छः भागों में विभक्त किया है।[१] प्रथम उत्थान में जैन रासो की परम्परा है। चतुर्थ में भारतेन्दु तथा पञ्चम में प्रसाद एवं षष्ठ में नवीन प्रवृत्ति के अन्तर्गत प्रसादोत्तर नाटककार गृहीत हैं। डा० रामचरण महेन्द्र ने हिन्दी नाटक-विकास को चार उत्थानों में विभक्त किया है; प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान।

२. भारतेन्दु पूर्व हिन्दी नाटक १८६५ ई० तकः—

इन नाटकों को भी चार उपशाखाओं में विभक्त किया जा सकता है : मैथिली नाटक, ब्रज-भाषा नाटक, लीला नाटक (रासलीला-रामलीला परम्परा) और लोक नाट्य।

२. अ. मैथिली नाटकः—विद्यापति कृत अनेक नाटकों की अनुश्रुति तो मिलती है पर उनमें से केवल "गोरक्ष विजय नाटक" प्राप्त हो सका है। इसकी भाषा शैली मिश्रित है : गद्य भाग संस्कृत में और पद्य भाग मैथिली में। विद्यापति के नाटकों का एक सूत्र नेपाल राज्य में भी पहुँचा। विद्यापति के अतिरिक्त कुछ अन्य नाटककार भी मैथिली के क्रोड़ में उगे-पनपे : प्रथम मैथिली नाटक 'विद्या विलास' माना जाता है।[२] मल्ल राजाओं के दरबार में नाटकों को पूर्ण विकास का अवसर मिला। प्रमुख नाटककारों में जगज्ज्योतिर्मल्ल, जगत्प्रकाश मल्ल तथा सुमतिजित मल्ल प्रसिद्ध हैं। गोविन्द कृत 'नलचरित नाटक', रामदास झा कृत 'आनन्द विजय' नाटक, उमापति उपाध्याय कृत 'पारिजात-हरण', रमापति उपाध्याय कृत 'रुक्मिणि हरण', नन्दपति कृत श्रीकृष्ण केलिमाला तथा कान्तगायक कृत कृष्ण जन्म आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इस परम्परा का वैशिष्ठ्य इन नाटकों की अभिनेयता है। इन नाटकों के दो मुख्य भेद अङ्किया नाटक तथा कीर्तनिया नाटक नाम से हो गये। शङ्करदेव प्रथम अङ्किया नाटककार थे। माधव देव (अर्जुन मञ्जन), गोपालदेव जन्म यात्रा तथा रामचरण ठाकुर कंसवध प्रसिद्ध अङ्किया नाटक हैं। कामरूप के राजा नरनारायण के राज्यकाल में अङ्किया नाटकों की उत्पत्ति हुई थी। कीर्तनियाँ नाटक की परम्परा में मल्लवंश के नाटक आते

---

१. हिन्दी नाटक के सिद्धान्त एवं नाटककार –१३

२. History of Mathili Literature P. 262 Dr. Jaikant

हैं। हिन्दी के आगामी नाट्य क्रम पर यद्यपि इस परम्परा का प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ा; फिर भी हिन्दी के एक अञ्चल में पनपने वाले नाटकों का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक हो जाता है।

२. आ. ब्रज-भाषा नाटक:— ब्रज-भाषा में संस्कृत के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए हैं। पर अधिकांश नाटक छायानुवाद और रूपांतरित ही हैं। स्थूल रूप से कथासूत्र संस्कृत नाटकों से ही गृहीत है पर बाह्य सज्जा और भाव-भूमिका में कुछ मौलिकता भी लाई गई है। इस प्रकार के नाटकों में हृदयराम का हनुमन्नाटक, यशवन्त सिंह का प्रबोध चन्द्रोदय और नेषाल कवि का शकुन्तला, देव कृत देवमाया प्रपञ्च, गोपालचन्द्र कृत नहुष नाटक जाने जा सकते हैं।

ब्रज-भाषा नाटक की दूसरी शाखा पद्यवत् नाटकों की है। इस शाखा में केशव कृत विज्ञान गीता, हृदयराम कृत करुणाभरण, बनारसी दास कृत समय सार नाटक, गुरु गोविन्द सिंह कृत चण्डी चरित्र आदि का नाम लिया जा सकता है। पर ये नाटक नाम मात्र के ही प्रतीत होते हैं: अङ्क और दृश्य का पूर्ण निर्वाह इन में नहीं है। केशव की विज्ञान गीता संवादबद्ध होने के कारण सम्भवत: नाटक कही गयी है। नेवाज कवि का "शकुन्तला" एक कथा काव्य ही है। रींवानरेश शिवासिंह जयदेव कृत आनन्द रघुनन्दन में नाटकीय तत्त्व अवश्य उभरते हैं, अत: यह हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक कुछ विद्वानों के अनुसार स्वीकृत है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना रामलीला को ध्यान में रखकर की गई है। इन सभी रचनाओं में केवल पद्य का प्रयोग हुआ है, शैली भी नाटकीय नहीं है। इसलिए केवल पूर्व परम्परा के परिगणन मात्र में ही इन रचनाओं की उपादेयता है।

२. इ. लीला नाटक (रासलीला–रामलीला परम्परा) :—

डा० ऐंसिटोरी[1] तथा श्री अगर चन्द्र नाहटा[2] ने यह माना है कि राजस्थानी रासक परम्परा से ही हिन्दी नाटक का जन्म हुआ है। जैन साहित्य में रासक ग्रन्थ प्रचुर मात्रा में हैं। ये रास नाटक प्रायः वीर रस प्रधान होते हैं। 'भरतेश्वर वाहु विलास' तथा 'समरसिंह रास' आदि इसी कोटि के हैं। इन नाटकों में प्रायः जैन तीर्थंकरों के चरित्र का ही दिग्दर्शन होता उस समय प्रायः पाँच प्रकार के रास नाटक प्रचलित थे।

लकुट रास
ताल रास } —शृङ्गार प्रधान

जय सुकुमार रास
नेभि रास } —शान्त रस प्रधान

वाहु वालि रास —वीर रस प्रधान

इनके मूल में जो भक्ति की भावना है वही प्रायः रासलीला–रामलीला के विषय की भी प्रेरणा है। रासलीला का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है और रामलीला का

१. कन्हण के प्रबन्ध का प्राक्कथन ६०१

२. राजस्थानी भारती जु० १९५१

भगवान् राम से। भक्ति कालीन कवियों ने इन दोनों ही अवतारों के प्रसङ्गों के साथ जनता का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। लोक-जीवन के विविध अवसरों पर इन अवतारों से सम्बन्धित विविध प्रसंगों को गेय या दृश्य रूप में प्रस्तुत किया जाता था। उदाहरण के लिए "जानकी मङ्गल", "रुक्मिणी मङ्गल" का संयोग वैवाहिक अनुष्ठान से हो गया था। इनके दृश्य रूप भी लोक-जीवन में प्रचलित रहे। कभी रामचरित मानस के आधार पर रामलीलाएँ नियोजित की जाती थीं जिनकी परम्परा आज तक उत्तरी भारत में अक्षुण्ण है और कभी कृष्ण भक्त कवियों के सङ्गीत के आधार पर रासलीलाओं की योजना होती थी जिनकी उत्पत्ति हिन्दी के ब्रज अंचल में हुई और जो कालान्तर में एक व्यापक क्षेत्र में लोकप्रिय हो गई।

मध्यकाल में रामचरित मानस और रामचन्द्रिका जैसी प्रबन्ध कृतियों में संवाद भाग नाटकीय शैली में प्रकट होने लगता है। रामलीला के कथोपकथन बहुधा यहीं से सङ्कलित होते हैं। बीच की कड़ियों को सूत्रबद्ध रखने के लिए वाचक स्वयं घटना और प्रसङ्गों की सूचना देता चलता है। इस प्रकार रामलीला अपनी जनानुकूल साज-सज्जा के साथ लोक-जीवन से अभिन्न हो गई। इसका रङ्ग मञ्च खुला हुआ होता था, दर्शक रङ्ग मञ्च के चारों ओर बैठते थे। कभी-कभी पर्दे लगाकर दृश्य -योजना भी कर दी जाती थी। रामलीला कई दिनों तक चलती रह कर समस्त कथा को समेट लेती है। एक प्रकार से ग्रन्थ-कथा के स्थान पर एक दृश्य-कथा की प्रतिष्ठा ही इसमें सन्निहित मिलती है।

रासलीला का जन्म सम्भवतः वृन्दावन के कुञ्जों में हुआ। श्रीहित हरिवंशजी ने अलौकिक रास की भावना को रासमण्डल की स्थापना करके रूपायित किया। उनके द्वारा स्थापित कई रास मण्डल आज भी वृन्दावन में हैं। इनसे प्रेरणा लेकर ब्रज के गाँव-गाँव में कृष्ण लीला प्रसङ्गों को दृश्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए मण्ड-लियाँ बनने लगी। प्रसङ्ग-योजना आरम्भ में वृन्दावन के राधा वाले सम्प्रदायों के साहित्य के आधार पर होती थी। पीछे वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का साहित्य भी आधार बनने लगा। सम्भवतः नन्ददास जी की गोवर्द्धन लीला और श्याम सगाई की रचना रास को ध्यान में रखकर ही की गयी थी।

रामलीला की अपेक्षा रासलीला की विधि अधिक शास्त्रीय और प्रशिक्षणापेक्षी है। इसका केन्द्र रास नृत्य है जिसमें अष्ट सखियों, राधा और कृष्ण का स्थान है। यह नृत्य प्रायः लोक शैली का ही है। यह रासलीला का अभिन्न अंग है। संवाद-योजना में शास्त्रीय संगीत का मुख्य रूप से और व्रज भाषा गद्य का गौण रूप से स्थान रहता है। नृत्य के साथ ब्रज की अन्य लीलाओं का भी समावेश रहता है। राम-लीला में जहाँ राम-कथा के प्रसंगों की विस्तृति रहती है वहाँ रासलीला के मुक्तक प्रसंगों में भावात्मक गहराई भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार रासलीला अर्द्धशास्त्रीय और अर्द्ध लौकिक तत्वों को लेकर आज तक अपनी परम्परा को अविच्छिन्न बनाये हुए है। . . . .

२. ई. **लोक नाट्य:**—लोक-जीवन में उक्त रूपों के अतिरिक्त स्वाँग, नकल, गीति नाट्य, कठपुतलियों के रूपक, भाँड़-भड़ैती जैसे रूप प्रचलित थे। इनका सम्बन्ध निम्न स्तरीय लोक-रुचि से भी था और उच्च स्तरीय लोक-रुचि से भी। इनके साथ ही संगीतों और नौटंकियों की परम्परा को भी नहीं भुलाया जा सकता। इनके कथानक प्रेमपूर्ण होते थे और बहुधा लोक-साहित्य या अर्द्ध ऐतिहासिक स्रोतों से लिये जाते थे। कुछ प्रसिद्ध कथानक ये हैं:—ढोलामारू, इंदलहरण, पूरनचन्द, गोपीचन्द, भर्तृहरि आदि। इन भारतीय कथानकों के अतिरिक्त कुछ फारसी कथानक भी लोकप्रिय थे जैसे लैला मजनू, शीरीं-फरहाद आदि। हो सकता है कि इस शैली को फारसी सूफी कवियों ने नवजीवन दिया हो। क्योंकि आज भी इनमें फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग होता है। इसमें गद्य का प्रयोग नहीं मिलता केवल चौबोला, बहरतवीर, लावनी जैसे गीतों के द्वारा ही संवाद चलते हैं। बनारस में भी नौटंकियों की परम्परा प्रबल थी। भारतेन्दु के नाटकों के गीत-विधान पर इस परम्परा का कुछ प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

इसका भी रंगमंच खुला हुआ होता है और दर्शक रंगमंच के चारों ओर बैठते हैं। भाषा और विधान की दृष्टि से लोकनाट्य की इस परम्परा का सम्बन्ध उच्च स्तरीय लोक-रुचि से ही प्रतीत होता है।

३. **भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य** (१८६६ ई० से १९१० ई० तक)-आधुनिक अर्थ में हिन्दी नाटक का विकास अंग्रेजी प्रभाव के अनन्तर ही मानना चाहिए। इस प्रभाव ने एक ओर कुछ थियेटर कम्पनियों को जन्म दिया और दूसरी ओर लेखकों को नये ढंग से नाटक लिखने की प्रेरणा दी। स्वयं अंग्रेजों ने बम्बई और कलकत्ता में कई रंगमंच स्थापित किये। इन पर शेक्सपियर आदि अंग्रेजी और यूरोपीय लेखकों की नाट्य कृतियों के रूपान्तरों के प्रदर्शन होते थे और भारतीय नाटकों के भी। हिन्दी भाषा का सम्बन्ध फारसी रंगमंच से रहा।

३. अ. **फारसी रंगमंच और हिन्दी:**—फारसी थियेटर कम्पनी की स्थापना बम्बई में हुई। ये देश के विभिन्न भागों में घूमती थीं और प्रदेशों के अनुसार विभिन्न भाषाओं में नाटक प्रस्तुत करती थी। भारत में सर्व प्रथम रंगमंच एक रूसी कलाकार ने सन् १८१८ में कलकत्ता में स्थापित किया था। इसके बाद पारसी कम्पनियों ने अपने मंच बनाये। इन कम्पनियों में चार प्रसिद्ध हैं। ओरजिनल थियेट्रिकल कम्पनी १८७० ई० में बनी। इससे पूर्व पारसी थियेट्रिकल कम्पनी कार्य कर रही थी। विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी तथा अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनियाँ बाद में बनी। इनमें अल्फ्रेड सर्वाधिक प्रसिद्ध रही और १९१४ ई० तक चलती रही। इन नाटक कम्पनियों का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश से भी था। इन्होंने हिन्दुस्तानी या उर्दू भाषा को माध्यम बनाकर अनेक नाटक प्रस्तुत किये। इनके कथानक महाभारत से भी लिये जाते थे और अन्य पुराणों से भी। शेक्सपियर के अनेक नाटकों के रूपांतर भी हिन्दी में प्रकट हुए[1]।

---

१. आर. के याज्ञिक, The Indian Theatre, पृष्ठ १५०।

विटर्स टेल	मुरादे इश्क
सिंबेलीन	जुल्में नाहक
मर्चेंट आफ वेनिस	दिल फरोश

इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। इन रूपान्तरों की विशेषता यह है कि लेखकों ने कथा-विकास और दृश्य-योजना में पूरी स्वच्छन्दता से काम लिया है। कहीं से कहानी सुनकर उसका अपने अनुसार विकास किया गया है। शेक्सपियर के चरित्र-चित्रण की बारीकियाँ इसमें नहीं आ पायी हैं। अनुवादकों ने अपने मन से कई प्रहसन भी इनके साथ जोड़ दिए हैं। शेक्सपियर के कई दुःखान्त नाटकों का भी रूपांतर किया गया है। पर ये रूपांतर अंग्रेजी नाटकों की आत्मा के साथ न्याय नहीं कर सके।

फारसी रंगमंच के इन नाटकों ने हिन्दी के नाटकों के विकास में पर्याप्त योग-दान किया। यद्यपि विकृत-रुचियों, अश्लील संवादों और फारसी मिश्रित भाषा के कारण इन नाटकों की उन्नत परम्परा बन सकी, फिर भी प्रभाव और प्रेरणा की दृष्टि से यह अवश्य महत्वपूर्ण है। फिर भी कुछ हिन्दी लेखक इस रंगमंच से संबद्ध हो गये थे। वैसे हिन्दी रंगमंच का स्वतन्त्र विकास भी इससे बाधित हुआ। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अनेक लेखक इन नाटकों की प्रतिक्रिया में साहित्यिक नाटक लिखने की ओर प्रेरित भी हुए।

३. आ. भारतेन्दु कालीन साहित्यिक नाटकः—भारतेन्दुजी एक नवयुग की समस्त प्रेरणाओं, प्रभावों, क्रान्तियों और राष्ट्रीय जागरण के उन्मेषों को लेकर अवतरित हुए। उनका जीवन क्रम साहित्यिक रुचियों से पूर्ण था। नाट्य कला से उनको विशेष रुचि थी। वे स्वयं एक सफल अभिनेता भी थे। सम्भवतः यही कारण है कि एक नवीन नाट्य परम्परा का सूत्रपात इनके हाथों हो सका।

भारतेन्दुजी ने अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र द्वारा रचित नहुष नाटक (१८४१) को हिन्दी का प्रथम नाटक कहा है। पर तात्विक दृष्टि से यह ब्रज भाषा के पद्य-बद्ध नाटकों की परम्परा में ही आता है। इस दृष्टि से स्वयं भारतेन्दु ही आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा के प्रवर्तक माने जाने चाहिए।

प्रवर्तक के रूप में उन्होंने संस्कृत नाट्य शैली और नाट्य शास्त्र से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया और ब्रज भाषा एवं लोक नाट्य शैली की विशेषताओं को भी ग्रहण किया। इस युग-निर्माता ने अंग्रेजी प्रभाव और विकसित बंगला नाटकों को भी ग्रहण किया।[१] अपने "नाटक" शीर्षक विस्तृत निबन्ध में उन्होंने भारत एवं पाश्चात्य नाट्य सिद्धांतों की विवेचना की है और दोनों परंपराओं का इतिहास भी दिया है। इससे उनका विस्तृत प्रभाव-पट स्पष्ट हो जाता है। उनका पहला नाटक "विद्या सुन्दर" एक बँगला नाटक का ही रूपान्तर अथवा भावान्तर है। शेक्सपियर के "मर्चेंट आफ वेनिस" का रूपान्तर "दुर्बल बन्धु" (१८८०) नाम से किया। यह शब्द प्रतिशब्द अनुवाद

१. श्यामसुन्दरदास—भारतेन्दु नाटकावली, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।

ही है, पर स्थान और व्यक्तियों का भारतीय करण पाठकों की दृष्टि से कर दिया गया है।

आंटोनियो	—	अनंत
सलरिनो	—	सरल
सोलेरिनो	—	सलोने
पोर्शिया	—	पुरश्री
नेरिसा	—	नरश्री

इन्होंने रूपांतर में नाटक की मूल आत्मा को सुरक्षित रखा है। शिल्प की दृष्टि से भी इन पर पड़े हुए पाश्चात्य प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार सभी सम्भव प्रभावों और शिल्प विधियों का संयोग करके हिन्दी नाट्य परंपरा का सूत्रपात भारतेन्दुजी ने किया। "भारत-जननी" (१८७७) तथा "नीलदेवी" (१८८१) पर अंग्रेजी नाटकों की बाह्य विधि का प्रभाव है। इनमें से प्रथम को उन्होंने स्वयं "ऑपरा" कहा है और दूसरी को "गीत रूपक"। वास्तव में दोनों ही "ऑपरा" हैं। आरम्भ में संस्कृत नाटकों का सूत्रधार भी उपस्थित है। इससे ही एक मिश्रित (Technique) टैकनीक स्पष्ट हो जाती है।

भारतेन्दुजी ने इन प्रमुख मौलिक नाटकों की रचना की :—

(क) सामाजिक एवं राजनैतिक प्रहसन : वैदिकी हिंसा, अंधेर नगरी।
(ख) लास्य रूपक : भारत दुर्दशा।
(ग) ऑपेरा : भारत जननी।
(घ) गीत रूपक : नीलदेवी, सती प्रथा।
(ङ) दुःखांत नाटक : नीलदेवी, भारत दुर्दशा।
(च) प्रेम नाटिका : चन्द्रावली।
(छ) आदर्शवादी नाटक : सत्य हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु में एक व्यापक वस्तु दृष्टि मिलती है। अपने युग के प्रति वे पूर्ण जागरूक हैं। मध्यकालीन जीवन की मधुछायाओं से अपने को मुक्त करके तत्कालीन जीवन के यथार्थ को उन्होंने तीव्रता से ग्रहण भी किया और उसका बौद्धिक-विश्लेषण भी नाटकों द्वारा प्रस्तुत किया। समस्त युग उनके नाटकों में प्रतिबिम्बित है। अंग्रेजी राज्य के प्रति उठते हुए शिक्षित मध्यवर्गीय असन्तोष को 'भारत दुर्दशा' और 'अन्धेर नगरी' में अभिव्यक्ति दी गई है। इन नाटकों में और "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" तथा 'प्रेम जोगिनी" में परम्परागत रूढ़ियों और निर्जीव विश्वासों के प्रति एक सुधारवादी का व्यंग्यपूर्ण आक्रोश भी व्यक्त हुआ है तथा सुधार की वास्तविक वृत्ति का उद्घाटन भी हुआ है। पराप्राकृतिक और परामानवीय तत्वों को उन्होंने नाटकों में कोई स्थान नहीं दिया यह उनकी प्रबुद्ध चेतना का परिचय है। नाटकों के सभी पात्र यथार्थ मानव हैं जो कभी वर्गीय विशेषताओं से युक्त हो जाते हैं और कभी प्रतीक बन जाते हैं। यथार्थवादी दृष्टि से उन्होंने "नीलदेवी" जैसी पतिव्रता को वेश्या

बनकर प्रतिद्वन्दी नवाब को रिझाने वाली बना दिया है। "वैदिकी हिंसा" में धूर्त साधु और ब्राह्मणों का भंडा फोड़ किया गया है। "भारत दुर्दशा" के बंगाली एडिटर (Editor) कवि, महाराष्ट्री पात्र आदि चरित्र वैविध्य का उत्तम परिचय देते हैं। इस प्रकार कथा विन्यास और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों को यथार्थ धरातल की ओर उन्मुख किया है।

अपने युग के नाट्य यज्ञ के वे प्रमुख होता तो थे ही अन्य अनेक नाटककारों को भी उन्होंने प्रेरणा दी। अन्य नाटककारों में उल्लेखनीय ये हैं:— लाला श्रीनिवासदास[1], बालकृष्ण भट्ट[2], देवकी नन्दन त्रिपाठी[3], राधाकृष्णदास[4], काशीनाथ खत्री[5], अंबिकादत्त व्यास[6], प्रताप नारायण मिश्र[7], एवं बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन[8]।

इन नाटककारों की कृतियों के अध्ययन से परिवेश का विस्तार सुस्पष्ट हो जाता है। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को ही नवीन संदर्भों और उद्देश्यों से संयुक्त कर दिया गया है। भारत सौभाग्य १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम को लेकर चला है। इस क्रांति में भारत का जो रूप प्रकट हुआ वह आज भी ऐतिहासिक गौरव का विषय है। राष्ट्रीय भावना का मूल उद्गम इसी क्रान्ति से माना जाना चाहिए। स्वतन्त्रता की पुकार एवं विदेशी शासन की व्याज-निन्दा के अतिरिक्त बाल-विवाह, गोवध और अन्य सामाजिक समस्याओं को भी इन नाटकों में स्थान मिला है। प्रहसनों में हास्य और व्यंग्य का मिश्रण भी युग की भूमिका से असम्बद्ध नहीं है। इस प्रकार भारतेन्दु युग हिन्दी नाट्य परम्परा का प्रथम प्रकाश-स्तंभ है।

भारतेन्दु के युग में अभिनय भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो चुका था। वे वे स्वयं अच्छे अभिनेता तो थे ही उन्होंने नागरी नाटक मंडली की स्थापना भी की थी। यों तो हिन्दी का प्रथम नाटक जानकी मंगल १८६८ में अभिनीत हुआ था। उसके बाद रणधीर प्रेम मोहिनी प्रयाग में तथा सत्य हरिश्चन्द्र कानपुर में अभिनीत हुए।

भारतेन्दु युग के नाटकों में कुछ साहित्यिक, कुछ रंगमंचीय, कुछ प्रहसन, कुछ प्रचारात्मक, कुछ सुधार-प्रधान और कुछ अनूदित है। अनुवाद संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी और बँगला से ही हुए हैं। इस काल में फारसी रंगमंच के लिए कुछ हलके और उर्दू मिश्रित नाटकों की रचनाएँ भी हुईं। इनमें उल्लेखनीय हैं:—हाफिज

---

१. रणधीर-प्रेम-मोहिनी (दुःखांत नाटक); संयोगिता स्वयंवर, प्रहलाद चरित आदि।
२. दमयंती स्वयंवर (भारतीय शैली का नाटक; शिक्षादान (एक प्रहसन); वेणु संहार, वृहन्नला आदि।
३. रुक्मिणी हरण; गोरक्षण, गोवध निषेध।
४. महारानी पद्मावती, महाराणा प्रताप, दुःखिनी बाला।
५. गुन्नौर की रानी, सिन्धु देश की राजकुमारियाँ, निकृष्ट नौकर, बाल-विधवा-संताप।
६. भारत-सौभाग्य, ललिता, गो संकट।
७. हठी हमीर।
८. भारत-सौभाग्य, वारांगना रहस्य।

मुहम्मद अब्दुल तथा मिर्जा नजीर के इश्क शीरी व फरहाद, राजा सखी कृष्ण अवतार, किस्सा माहगीर व दिलवरगा, नयी चन्द्रावली लासानी जैसे उर्दू नाटक थे। इसी फारसी शैली पर चुन्नीलाल कृत हरिश्चन्द्र, महेताब राय का हरिश्चन्द्र और रामलीला, और मथुरा दास का चन्द्रावली जैसे नाटक लिखे गये।.

४. प्रसाद युग [१९१० ई० से १९३२ ई० तक]

भारतेन्दु युग की समाप्ति और प्रसाद के उदय के बीच (१९०० ई० से १९१२ ई०) अनेक नाटक लिखे गये। इनमें अनुवादित नाटकों की संख्या अधिक है। इस युग के हिन्दी नाटकों पर बंगला के द्विजेन्द्र लाल राय और रवीन्द्र के नाटकों का प्रभाव सघन होता जा रहा था। पौराणिक और कल्पित कथानकों की लोकप्रियता कम हो रही थी और ऐतिहासिक विषय नाटकों के लिए अपनाये जा रहे थे। पूर्ववर्ती युग का सुधारवादी दृष्टिकोण अपनी स्थूलता को छोड़कर सूक्ष्म सांस्कृतिक बन रहा था और राष्ट्रीयता की भावना विस्तृत होकर पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति से भारतीय चिन्तन और आदर्श की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने लगी थी। गाँधी जी के आगमन से राष्ट्रीय आन्दोलन सक्रिय और निश्चित मूल्यों पर आधारित हो गया था। राम कृष्ण परम हंस, स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द घोष एवं स्वामी रामतीर्थ ने दार्शनिक पुनरुत्थान का शङ्खनाद कर दिया था और भारतीय दर्शन को तत्कालीन राष्ट्रीय सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करके राष्ट्रीय भावना का बौद्धिक विस्तार भी किया था। भारतेन्दु युगीन ऐतिहासिक नाटकों में अतीत का उत्तेजक चित्रण तो था पर उस चित्रण के पीछे कोई बौद्धिक या दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं थी जो भारतीय जागरण की इस वेला में नैतिक बल प्रदान कर सके। इसी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि मे प्रसाद के सशक्त व्यक्तित्व का उदय हुआ।

प्रसाद ने सन् १९१० ई० से १९३३ ई० तक १३ नाटक लिखे : सज्जन (१९१० ई०); कल्याणी परिणय (१९१२ ई०); करुणालय (१९१३ ई०); प्रायश्चित्त (१९१४ ई०); राज्यश्री (१९१५ ई०); विशाख (१९२१ ई०); अजात शत्रु (१९२२ ई०); कामना (१९२३-२४ ई०); जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६ ई०); स्कन्दगुप्त (१९२८ ई०); एक घूँट (१९२९ ई०); चन्द्रगुप्त (१९३१ ई०) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३ ई०)। जनमेजय का नागयज्ञ पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के बीच की विभाजक रेखा है। पौराणिक नाटकों में मुख्यतः भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी। राष्ट्रीयता का स्पर्श इनमें सशक्त नहीं है। परन्तु ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता की दृष्टि प्रमुख होती गई है।

प्रसाद के व्यक्तित्व में कवि, नाटककार, दार्शनिक, इतिहासकार और कथाकार सभी का घोलमेल है। कवि रूप में वे जहाँ मानवमात्र की समस्याओं का निरूपण करते हैं वहाँ उनका नाटककार राष्ट्रीय सीमाओं में निबद्ध रहता है। उनके कवि को उनके भीतर का इतिहासकार एक सीमा तक सहायता देकर विमुक्त हो जाता है और उनका दार्शनिक कवि के साथ मैत्री कर लेता है। प्रसाद का नाटककार इतिहासकार को

कभी नहीं छोड़ता और दार्शनिक कुछ विशिष्ट पात्रों को जन्म देने के लिए ही प्रकट होता है। इन तत्त्वों ने ही नाटककार प्रसाद के व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

नाटककार प्रसाद की इतिहास यात्रा जनमेजय के नागयज्ञ से आरम्भ होकर हर्ष कालीन भारत तक चलती है। हर्ष के पश्चात् पतनोन्मुख और परतंत्र भारत में राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नाटककार को कुछ नही मिलता। अपनी इतिहास यात्रा में उनको बौद्ध-युग (मौर्यकाल), गुप्त-युग और हर्ष-युग मिलते हैं। पर इन युगों का जो विवरण प्रचलित इतिहासों में प्राप्त होता है उनको लेकर चलना प्रसाद के लिए स्वीकार्य नहीं। शुद्ध भारतीय स्रोतों की सभी सम्भव धाराओं से प्रसाद इतिहास का पुनर्निर्माण करते हैं। उन्हें विश्वास नहीं कि अंग्रेज लेखक भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण अध्यायों के साथ निष्पक्ष या तटस्थ न्याय कर सके हैं। राष्ट्रीय इतिहास का उद्धार राष्ट्रीय जागरण के युग में आस्था और आत्म-विश्वास जमाने के लिए सबसे अधिक आवश्यक होना है। इस प्रकार प्रसाद ने अपने नाटकों के कथानकों का चयन नहीं अन्वेषण किया है। जहाँ कुछ आवश्यक कड़ियाँ लुप्त रही हैं वहाँ तत्कालीन परिस्थितियों के अर्थ-बोध की छाया मे पली और वैज्ञानिक अनुमानों पर आश्रित कल्पना उनको जुटा देती है। एक और विशेषता यह है कि प्रसाद केवल ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों का ही आधुनिक सन्दर्भ मे संस्कार नहीं करते, उनके पीछे की सांस्कृतिक चेतना का उद्घाटन करके अपनी युग-चेतना के समकक्ष उसकी स्थापना भी कर देते हैं। इसलिए उनके नाटक प्रचलित अर्थ में ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सांस्कृतिक नाटक अधिक हो जाते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों के लिए जिन कथानकों का चुनाव किया गया है वे एक संक्रान्ति-युग से सम्बन्धित हैं। प्रसाद जी भी एक ऐसे युग में अपनी साधना कर रहे हैं जो मूल्यों और संस्कृतियों के संक्रमण का युग था। सांस्कृतिक रूढ़िवादिता और निर्जीव जीवन मूल्य विदा ले रहे थे। नित्य नवीन उन्मेषों का अनुभव किया जा रहा है। नाटकीय संघर्ष में मूल्यों का यह संघर्ष ही गहराई प्रदान करता है। संघर्ष का एक ऐतिहासिक पक्ष भी है। प्रसाद के अधिकांश नाटकों में देशी और विदेशी का संघर्ष किसी न किसी रूप में मिलता है। जनमेजय के नागयज्ञ में आर्य और नागजाति का संघर्ष है, चन्द्रगुप्त में भारत और ग्रीस का संघर्ष है, स्कन्द-गुप्त में आक्रमणकारी हूण आदि भारत के सीमान्तों पर खड़े हैं, राज्यश्री में चीन और भारत की संस्कृतियाँ समानान्तर है। ध्रुवस्वामिनी में शकराज से द्वन्द्व होता है। इन सभी संघर्षों में देशी तत्त्वों की विजय राष्ट्रीय चेतना को सन्तुष्ट करती है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य के हाथों सिकन्दर और अरस्तू अभिभूत हैं। स्कन्दगुप्त विदेशी आक्रमणकारियों पर विजयी है और राज्यश्री में हर्ष और भारतीय जनता का आदर्श ह्वेङ्गसाङ्ग को वशीभूत कर रहा है। ध्रुवस्वामिनी में कामी शकराज का वध किया जाता है। इस प्रकार इन ऐतिहासिक संघर्षों के नियोजन में राष्ट्रीय भावना की उद्दीप्ति छिपी हुई है।

यह प्रसाद के नाटकों का बाह्य संघर्ष रहा। नाटकों का आन्तरिक

पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में व्यक्त हुआ है। प्रत्येक नाटक का नायक अन्तर्द्वन्द्व की जटिलता का अनुभव कर रहा है। यह द्वन्द्व सामान्यतः अधिकारों और प्रेम को लेकर है। चन्द्रगुप्त में प्रेम का संघर्ष भी है और अपने अधिकारों को नियन्त्रित और सीमित करने वाले चाणक्य से मुक्ति का संघर्ष भी है। स्कन्दगुप्त अपने अधिकारों के प्रति उदासीन होकर भी तत्सम्बन्धी संघर्ष से बच नहीं पाता और देवसेना उसके रागकेन्द्र को उद्वेलित ही करती है। इस प्रकार प्रत्येक पात्र किसी न किसी संघर्ष से उद्वेलित है।

जहाँ तक पात्र-कल्पना का सम्बन्ध है उसमें भी प्रचुर वैविध्य मिलता है। पुरुष पात्रों में सद्वृत्तियाँ और कुवृत्तियाँ सहज ही प्रतिबिम्बित होती हैं। कुवृत्तियाँ समस्त देश या राष्ट्र की संरक्षा में बाधक होती हैं। इसलिए उनकी पराजय राष्ट्र के प्रवञ्चकों की पराजय में ध्वनित होकर राष्ट्रीय भावना को सन्तुष्ट करती है। प्रत्येक आदर्श पात्र उठता-गिरता चलता है जिससे उसमें स्वाभाविकता बनी रहती है। नारी पात्रों का विभाजन प्रधानतः आदर्श प्रेम और विलासवृत्ति (Lust) के बीच हुआ है। आदर्श प्रेम की परम्परा का प्रतिनिधित्व देवसेना करती है और विलास की परम्परा का विजया। आदर्श प्रेम वाली नारी को न जाने कितनी जलती हुई परिस्थितियों से निकल कर परीक्षा देनी होती है और इन परिस्थितियों के क्रम से वह उत्तरोत्तर कान्तिमान होती चलती है। प्रत्येक नाटक में एक दार्शनिक अथवा कवि भी रहता है जो नाटक की स्थूल क्रियाओं को यातो नियन्त्रित करता है या उनकी शुष्क संघटना में सौन्दर्य की रेखाएँ खींच देता है। नारी पात्र भी समस्त घटनाओं को मधुवेष्टित रखते हैं। इस प्रकार के पात्रों में गौतम, चाणक्य, मातृगुप्त मुख्यतः आते हैं।

ध्रुव स्वामिनी प्रसादजी का अन्तिम प्रयोग है। इसमें त्याग विवाह मोक्ष (डाइवोर्स) की समस्या को लेकर नाटककार चला है। विवाह के सम्बन्ध में जो हिन्दू आदर्श है उसके प्रति प्रसाद जी ने एक बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाया है—विवाह हर परिस्थिति में अविच्छेद्य नहीं है। जब विवाह दो आत्माओं का सम्बन्ध न रहकर दमन और विलास का माध्यम बन जाय और नारी जीवन की मर्यादा का कोई मूल्य न रख कर उसे उपहार या क्रय विक्रय का पदार्थ समझ लिया जाय तो सम्बन्ध -विच्छेद ही श्रेयस्कर है। इस नाटक में आगे विकसित होने वाले समस्या नाटकों की परम्परा का बीज मिल जाता है। नारी के चरित्र की रमणीयता या आदर्शवादिता की जो सुन्दर झाँकी अन्य नाटकों में प्रतिपादित की गई है वह यहाँ आकर प्रायः समाप्त हो जाती है। करुणा और प्रेम के स्थान पर नारी जाति की समस्त कुण्ठा, क्रान्ति बनकर ध्रुव स्वामिनी के रूप में भड़क उठती है।

नाट्य शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी ने भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों का सम्मिश्रण करके एक शक्तिशाली नाट्य परम्परा की नींव डाली। भारतेन्दु युग में भी एक सीमा तक मिश्रण हुआ था। फिर भी पाश्चात्य तत्त्वों का इतना सन्तुलित ग्रहण वहाँ नहीं मिलता। पाश्चात्य नाटकों में प्राप्त संघर्ष और व्यक्ति वैचित्र्य प्रसाद जी की पात्र-कल्पना का वैशिष्ट्य बन गया। विषय और आदर्श की दृष्टि से भारतीय

पद्धति ही मान्य रही। भारतीय रसात्मकता और पाश्चात्य नाटकों का गतिशील कार्य व्यापार इसी संयोग का फल है। जहाँ तक नाटक के अन्त का प्रश्न है वह न शुद्ध दुःखांत है और न शुद्ध सुखान्त। एक वैराग्य पूर्ण समरसता का भाव नाटक के अन्त को प्रसादमय बना देता है। नायक की विजय तो अन्त में हो जाती है। पर फल के उपभोग की स्थिति स्पष्टतर नहीं आती। अन्त सौंदर्य भोग का नहीं त्याग का ही रह जाता है। संवाद योजना कहीं कहीं कुछ लम्बी अवश्य हो जाती है पर कुल मिलाकर दार्शनिक गंभीरता, काव्यगत संयोजना और भाषागत प्रौढ़ता मिलकर संवादों को आकर्षक बना देती है। इसी कारण कुछ दुरूहता भी आ जाती है जो पाठक की रुचि और संस्कार सापेक्ष है।

अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटक असफल माने जाते हैं। कथानक विस्तृत रहता है और इस प्रकार की घटनाओं और दृश्यों में बिखरा रहता है जिनकी रगमंचीय व्यवस्था सामान्य रंगमंत्र पर सम्भव नहीं हो सकती। प्रसादजी के मस्तिष्क में अपने नाटकों के उपयुक्त एक रंगमंच की भी कल्पना थी जो पूरी न हो सकी। लम्बे-लम्बे कथोपकथन बिना अनुकूल संक्षेपीकरण के रंगमंच के उपयुक्त नहीं हो पाते। दार्शनिक समस्याओं के समावेश ने सामान्य पाठक या दर्शक के बोध स्तर से नाटकों को ऊँचा उठा दिया है। गीतों का प्रयोग भी अधिक है। पर ध्रुव स्वामिनी में इन दोषों का परिष्कार हो गया है। यह भी कह सकते हैं कि प्रसादजी के आरम्भिक नाटक दृश्य की अपेक्षा पाठ्य ही अधिक हैं। केवल ध्रुवस्वामिनी सफलता पूर्वक अभिनेय है। नाटकों की यह अभिनेयता भी सापेक्ष ही है।

यद्यपि प्रसाद का व्यक्तित्व युग व्यापी था और उस व्यक्तित्व के सामने अन्य नाटककार छिप जाते हैं तथापि उनके समकालीन अन्य नाटककार भी साधना में रत थे। और ये नाटककार भी शैली, शिल्प और विषय की दृष्टि से प्रसाद युग की विशिष्टता से अवगत थे। इस युग में महाभारत से गृहीत कथानक विशेष लोकप्रिय रहे। इस युग के प्रमुख नाटक और नाटककार थे :—माधाव शुक्ल—महाभारत; मिश्रउन्बु—नेत्रोन्मीलन, पूर्व भारत; बदरीनाथ भट्ट—दुर्गावती, वेनु चरित्र, तुलसीदास; माखनलाल चतुर्वेदी—कृष्णार्जुन युद्ध; गोविन्दवल्लभ पंत—वरमाला आदि। सभी में न्यूनाधिक रूप से कथानक का वैचित्र्य, मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण, आधुनिक संदर्भ की समन्विति, साहित्यिक भाषा गीतों का प्रयोग आदि तत्त्व मिलते हैं। सभी ने संस्कृत की शुद्ध शैली का परित्याग कर दिया था और संघर्ष को नाट्य शिल्प के केन्द्र में रख दिया था। सभी में एक उदात्तता मिलती है। इस समस्त संविधान का कारण युग की परिस्थितियों में खोजा जा सकता है।

५. प्रसादोत्तर नाटक साहित्यः—इस युग में कुछ नाटककारों ने प्रसाद के नाटकों के सूत्र को पकड़ कर चलना आरम्भ किया। ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में प्रमुख रूप से इन नाटककारों का परिगणन किया जाता है :—हरिकृष्ण प्रेमी—रक्षा बन्धन (१९३४), शिव साधना (१९३७), प्रतिशोध (१९३७), आहुति (१९४०)

स्वप्न भंग (१६४०); विषपान (१६४५); शपथ (१६५१), वृन्दावनलाल वर्मा के राखी की लाज, काश्मीर का कांटा, हंस-मयूर, मङ्गल-सूत्र, पूर्व की ओर, बीरबल, कनेर आदि; आचार्य चतुर्सेन शास्त्री के अतरसिंह राठौर, उत्सर्ग; जगदीशचन्द्र माथुर का कोणार्क, आदि प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों में से अधिकांश में मुस्लिम युग के कथानकों को ग्रहण किया गया। प्रसादजी ने हिन्दू युग का इतना मंथन कर डाला था कि इस युग के नाटककारों का उस दिशा में बढ़ने का साहस नहीं हुआ। सेठ गोविन्ददास ने भी बहुत से ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।[1]

ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त पौराणिक नाटक भी लिखे गये। पर उनकी संख्या ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा कम ही रही। अन्य रूपों में उदय शंकर भट्ट की भाव नाट्य शैली उल्लेखनीय है। इस शैली में लिखे हुए नाटक ये हैं :—विश्वामित्र, मत्स्यगंधा, राधा, कालिदास, विक्रमोर्वशीय और मेघदूत। इनके अतिरिक्त भट्टजी ने ऐतिहासिक, राजनैतिक और सामाजिक नाटक भी लिखे।[2]

इस युग की विशिष्ट धारा समस्या नाटकों की है। इस शैली का आगमन पश्चिम से ही मानना चाहिए। इब्सन और शॉ के प्रभाव से अनेक नाटककारों ने समस्यामूलक नाटक लिखे। उपेन्द्रनाथ अश्क ने स्वर्ग की झलक, कैद, छठवाँ बेटा, उड़ान और आदिमार्ग में सामाजिक समस्याओं को उभारा है। इन समस्याओं में मनोविज्ञान और समाजवाद का मिश्रण हुआ है। हास्य और व्यंग्य का पुट भी पर्याप्त है। इन सभी दृष्टियों से सामाजिक नाटकों में अश्कजी का ऊँचा स्थान है। लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने पुरुष और नारी से सम्बन्धित समस्याओं को लिया है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से अपने नाटकों का सूत्र-विधान करके इस शैली के नाटकों में मिश्रजी ने मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त किया है। यह बात उनके 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली','गुड़िया का घर','वत्सराज','दशाश्वमेध','वैशाली में वसन्त' आदि से स्पष्ट हो जाती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादोत्तर काल में ऐसी कई नाट्य विधाएँ सामने आईं जिनका परिचय पूर्व युगों में नहीं मिलता। समस्यामूलक नाटक इस युग की विशिष्ट विधा है। पूर्व युगीन नाटकों पर तथा उनके चरित्र चित्रण पर फ्राइड और जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव इतना नहीं था। साथ ही मुस्लिम युग के ऐतिहासिक नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की गाँधीवादी ध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ती। पूर्व युगों में इस संघर्ष में हिन्दुओं की विजय दिखलाना ही राष्ट्रीयता समझी जाती थी। यद्यपि इस युग में प्रसादजी जैसा महान् व्यक्तित्व और कृतित्व नहीं मिलता है; फिर भी शिल्प की दृष्टि से इस युग ने प्रसाद युग से आगे की स्थिति प्रमाणित

१. अशोक सिंघल द्वीप, शशि गुप्त, भिक्षु से गृहस्थी, हर्ष, शेरशाह, बल्लभाचार्य, रहीम, भारतेन्दु आदि।

२. विक्रमादित्य, दाहर, अम्बा, सगर विजय, अंधहीन अंत; मुक्ति पथ, कमला, क्रांतिकारी, नया समाज और पार्वती।

की है। सामाजिक और वैयक्तिक-यथार्थ का इतना संवेदनापूर्ण चित्र प्रसाद युग में नहीं मिलता। उक्त प्रसिद्ध नाटककारों के अतिरिक्त रामवृक्ष बेनी पुरी,[1] पृथ्वीराज शर्मा,[2] पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र[3] आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। इस प्रकार चाहे कोई प्रसाद जैसा केन्द्रीय व्यक्तित्व इस युग में न दिखलाई पड़े पर लिखने वालों की संख्या बहुत अधिक है। इसमें अलग-अलग विधाओं के मूर्द्धन्य नाटककारों का व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है।

निष्कर्ष:—

आज पूरे नाटकों का युग प्रायः समाप्त हो रहा है। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य के स्थान पर गीत और मुक्तक, उपन्यास के स्थान कर कहानी की लोक-प्रियता बढ़ती जा रही है। उसी प्रकार विस्तृत नाटकों के स्थान पर एकाङ्की. रेडियो रूपक और एकाभिनयों की लोक-प्रियता बढ़ रही है। हिन्दी नाटक परम्परा ने थोड़े ही समय में जो वैविध्य, शिल्प-विकास और वस्तुविन्यास प्राप्त कर लिया है वह गर्व का विषय है। एक विशेष बात भी हमारा ध्यान आकर्षित करती है। हमारा नाट्यालोचन अभी रूढ़ियों से मुक्त नहीं हुआ है। अधिकांश आलोचक साहित्यिक नाट्यालोचन में वर्ण-नात्मक पद्धति को लेकर चलते हैं। नाटक के रूप शिल्प और उसकी रङ्गमञ्चीय व्यवस्था पर विशेष विचार नहीं किया जाता। आज की आलोचनाओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचना नाटक को नन्ही उपन्यास भी की जा रही है। नाट्यालोचन का यह गतिरोध सृजन की गति को भी प्रभावित करता है। हम कह नहीं सकते कि भारतेन्दु युग के नाटकों का भी इस दृष्टि से उचित मूल्याङ्कन हो सकेगा। प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में आज भी हम दुविधाग्रस्त हैं। उनकी रङ्गमञ्चीय सम्भावनाओं के सम्बन्ध में हमने पर्याप्त खोज नहीं की। स्वतंत्रता के पश्चात् के लेखक रङ्गमञ्च की ओर विशेष रूप से झुके हैं। उनकी दृष्टि में रङ्गमञ्च को छोड़कर नाटक की आलोचना करना एकाङ्गी है। फलतः नाटक के क्षेत्र के रचनात्मक और समीक्षात्मक धर्म के बीच खाई बढ़ती जा रही है। भरतमुनि ने पारिभाषिक रूप से नाट्यालोचन का जो आदर्श प्रदर्शित किया है न उसको लेकर ही हम चल पा रहे हैं और न पाश्चात्य प्रणाली को ही पूर्णतः स्वीकार करने की स्थिति में है। आज यह आवश्यक है कि नाट्य रचना और समीक्षा के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया जाय।

---

१. अम्बपाली. शकुन्तला, अमर ज्योति, खून की याद, गाँव का देवता, तथागत, नया समाज, विजेता. सीता की माँ आदि।

२. दुविधा, अपराधी, उर्मिला।

३. डिक्टेटर. चुम्बन, आवारा, महात्मा ईसा।

२२

हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास

कुछ आलोचक मानते हैं कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भी एकांकी-विधा मिल जाती है।[१] अन्य विद्वानों के अनुसार यह पाश्चात्य साहित्य की देन हैं।[२] पहले पक्ष के अनुसार संस्कृत में अनेक प्रकार के नाटक जिन्हें रूपक कहा जाता था प्रचलित थे। रूपकों के दश भेद तथा अठारह प्रकार के उपरूपकों का स्पष्ट परिगणन मिलता है। इन २८ प्रकारों में से कुछ ऐसे भी थे जिनमें एक ही अङ्क होता था। दश रूपकों में से **भाषा, व्यायोग अङ्क, ईहामृग, वीथी तथा प्रहसन** एवं अठारह रूपकों में से **गोष्ठी, नाट्य रासक, काव्य प्रेखण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, रल्लीश तथा भणिका** एक अङ्क के ही नाटक हैं।[३] अतः इनको प्राचीन परिपाटी के एकांकी नाटकों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अपने पक्ष के समर्थन में ये लोग संस्कृत और प्राकृत के अनेक व्यायोग, प्रहसन और भाणों के उदाहरण देते हैं। प्रयोग अथवा रचना की दृष्टि से अन्य विभेदों के साथ **भाण** में वररुचिकृत **'उभय सारिका'** शूद्रक कृत **'पद्म प्राभृतक'** ईश्वरदत्त कृत **'धूर्तविट'**, श्यामलिक कृत **'पादताडितक'**, वत्सराज कृत **'कर्पूरचरित'**; **व्यायोग** में भास कृत 'उरुभङ्ग' एवं **'मध्यम व्यायोग'**, वत्सराज कृत **'किरातार्जुनीय'**, प्रह्लादनदेव कृत **'पार्थ पराक्रम'** कांचनार्य कृत **'धनंजय विजय'**, रामचन्द्र कृत **'निर्भय भीम'**, विश्वनाथ कृत **'सौगन्धिकाहरण'**; प्रसिद्ध ही है। वैंकट वर्मा कृत **'हास्यचूणामणि'** जैसे **प्रहसन**, **'माधवी'** जैसी **'वीथी'** वत्सराज कृत **'शर्मिष्ठा-ययाति'** भास्कर कवि कृत **'उत्तर राघव'** जैसे **अङ्क** उपलब्ध हैं।

---

१. डा० सरनामसिंह, प्रो० ललिताप्रसाद, सद्गुरुशरण अवस्थी आदि।
२. अमरनाथ गुप्त, प्रकाशचन्द्र गुप्त, एस० पी० खत्री, सत्येन्द्र, महेन्द्र आदि।
३. नाट्य शास्त्र, दशरूपक आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत नाट्य शास्त्रों में उल्लिखित नाटक रूपों की रचना साहित्य में होती ही रही। पर प्रश्न यह है कि क्या ये टेकनीक या शिल्प की दृष्टि से आधुनिक एकाङ्की की कोटि में जा सकते हैं। डा० रामचरण महेन्द्र ने स्पष्ट कहा है : "यद्यपि संस्कृत नाट्य साहित्य......बड़ा समृद्ध एवं गौरवशाली है; तथापि यह स्वीकार करने में कोई हीनता नही कि उसमें आधुनिक एकाङ्की जैसी कृतियों का नितान्त अभाव ही नहीं, प्रत्युत उसकी विधा का कोई शास्त्रीय विवेचन दृष्टिगोचर नहीं होता। रूपक तथा उस रूपकों के भेदों में कुछ प्रकार मात्र एक अङ्क के हैं...पर, आधुनिक एकाङ्की की कला केवल एक अङ्क वाले रूपकों, उपरूपकों के समान नहीं है। दूसरे, संस्कृत के इन रूपकों-उपरूपकों की कोई अविच्छिन्न परम्परा भी उपलब्ध नहीं होती। हिन्दी में तो उनका सर्वथा लोप ही है।"[१]

संस्कृत की रूपक-उपरूपक धारा भारतेन्दु-युग में कुछ मिलती है। कुछ लोग इसी आधार पर हिन्दी एकाङ्कियों का बीज भारतेन्दु-युग में ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। यही नहीं परम्परा को अतीत में दूर तक खींच ले जाने का मोह इतना बढ़ गया है कि भक्तिकालीन काव्य में एकाङ्कियों के बीज कुछ लोग खोजने लगे हैं। डा० गणपति चन्द्रगुप्त ने लिखा है : "हिन्दी के एकाङ्की-लेखन का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है किन्तु एकाङ्की के कुछ तत्त्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यदि हम गद्य और पद्य के अन्तर को भूल जायँ तो तुलसी के रामचरित मानस केशव की रामचन्द्रिका, नरोत्तमदास के सुदामा-चरित्र, में से कुछ दृश्य ऐसे निकाल कर अलग किये जा सकते हैं जो एकाङ्की का रूप धारण करने में समर्थ हो सकें।...सन् १८५० के अनन्तर गीति-नाट्यों के रूप में लिखे गए 'इन्द्रसभा', 'बन्दर-सभा', 'मुछन्दर सभा' आदि..."[२] भी एकाङ्की के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते हैं। पर अधिकांश प्रबुद्ध समालोचक इसके उद्भव को भारतेन्दु युग तक ले जाने के पक्ष में भी नहीं हैं। डा० महेन्द्र इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं : "...भारतेन्दु युग से हिन्दी एकाङ्की का प्रारम्भ स्वीकार नहीं किया जा सकता; भले ही उनकी नाट्य रचनाओं की विषय-वस्तु तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध हो। आधुनिक जीवन को संस्कृत के जिन रूपकों तथा उपरूपकों के आकार में भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने प्रस्तुत किया है, वे आधुनिक एकाङ्की साहित्य-रूप की कोटि में नहीं रखे जा सकते।"[३] वैसे एक अङ्क वाले नाटक भारतेन्दु युग में भी लिखे गए।[४] भारतेन्दु कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत जननी', 'विषस्य विषमौषधि', राधाचरण गोस्वामी कृत 'तन मन धन गोसांई जी के अरपन', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'चौपट चपेट', राधाकृष्णदास कृत 'दु:खिनी वाला', अम्बिकादत्त व्यास कृत

---

१. साहित्यिक निबन्ध, पृ० २४६ (सम्पा० कमलेश)
२. ,, ,, पृ० २२६ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २४६ ,, ,,
४. उस काल के सभी लेखकों ने एक-न-एक एकाङ्की लिखा है।

'कलियुग और घी', बालकृष्ण भट्ट कृत 'रेल का विकट खेल', प्रताप नारायण मिश्र कृत 'कलिकौतुक', लाला श्रीनिवासदास कृत 'प्रह्लाद चरित्र', प्रेमघन कृत 'प्रयाग रामागमन' कृष्णशरण सिंह गोप कृत 'माधुरी' आदि पर्याप्त रचनाएँ प्रमुख हैं। पर वे आधुनिक एकाङ्की की कोटि में नहीं आतीं। डा० सत्येन्द्र ने स्पष्ट लिखा है : "हिन्दी के आज के एकाङ्की नाटक संस्कृत में मिलने वाले विविध नाटक भेदों की परम्परा में नहीं आते। ये एकाङ्की हिन्दी की उस प्रणाली में भी नहीं आते जो भारतेन्दु-काल में मिलती है। भारतेन्दु-काल में नाटक बहुत लिखे गये, अनेक छोटे-छोटे नाटक भी थे जिनमें अङ्कों का विभाजन न था, केवल दृश्य भर थे। ऐसे नाटकों को रूपक कह दिया गया है। उदाहरण के लिए पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक' रूपक। ऐसे रूपक इस काल में पर्याप्त लिखे गए, पर वे आज के एकाङ्कियों से सम्बन्धित नहीं माने जा सकते। आज के एकाङ्की नितान्त भिन्न धरातल पर भिन्न प्रकार की कला को उपस्थित करते हैं। इस युग से पूर्व के हिन्दी एकाङ्कियों में कला का यह भाव नहीं था। एक नाटकीय शैली के विलक्षण अनुकरण में किसी सामयिक अवस्था का दृश्य भर अङ्कित कर देना ही कला की इति थी। वह काल ही ऐसा था, जब शास्त्र की बात तो किसी हद तक हो सकती थी पर कला की नहीं।...उस काल में एकाङ्कीय नाटक, एकाङ्की समझ कर नहीं लिखे गये—उनका कोई स्वरूप खड़ा नहीं हुआ था। अतः आज के ये एकाङ्की उनकी विकास-श्रेणी में नहीं आते।"[1]

इस प्रकार यह मान्य है कि एकाङ्की बीसवीं शती और पाश्चात्य साहित्य की देन है। यदि एकाङ्की (=एक अङ्क वाला) के शब्दार्थ के अनुसार चला जाय, तो भारतेन्दु युग या द्विवेदी युग में भी एकाङ्कियों की रचना हुई थी। यह दूसरी बात है कि वे आधुनिक एकाङ्की के पारिभाषिक रूप के समकक्ष न हों। साथ ही युग-जीवन की जो जटिलता और बौद्धिक जागृति भारतेन्दु युगीन लेखक की संस्कृत शैलो को कुछ एकाङ्की नाट्य विधाओं को अपनाने के लिए प्रेरित कर रही थी, वही प्रेरणा आधुनिक युग में भी रही। अन्तर यही रहा कि आधुनिक युग के लेखक ने पाश्चात्य स्रोत से एकाङ्की का रूप ग्रहण किया। शब्दार्थ की दृष्टि से एकाङ्की आधुनिक युग से पूर्व भी मिलते हैं : कला की दृष्टि से यह आधुनिक–बीसवीं शती की–विधा है। अतः एकाङ्की पर विचार तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : भारतेन्दु युगीन एकाङ्की, द्विवेदी युगीन एकाङ्की और आधुनिक एकाङ्की।

१. भारतेन्दु युगीन —तथा कथित—एकाङ्की—

भारतेन्दु-युग नाटक के विकास की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। इस क्षेत्र में इस युग के लेखक ने अनेक प्रयोग किए। नवीन परिस्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए अनेक प्रयोग आवश्यक भी हो गये थे। एकाङ्की के क्षेत्र में भाण, प्रहसन और व्यायोग का प्रयोग किया गया। इन नाट्य विधाओं का स्रोत-सूत्र संस्कृत में था। युग की धड़कनों को इन नाट्य रूपों में बाँधने की चेष्टा इस युग के प्रबुद्ध लेखक ने की। भार-

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग २, [सम्पा० नगेन्द्र, स० ही० वात्स्यायन] पृ० १२७

तेन्दु के प्राचीन शैली के गद्य-बद्ध प्रहसन आदि ये हैं : धनञ्जय विजय (व्यायोग), प्रेमयोगिनी (अपूर्ण), पाखण्ड विडम्बन, अन्धेर नगरी (प्रहसन), विषस्य विषमौषधम् (भाण), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) । विषयवस्तु की दृष्टि से इनमें किसी-न-किसी तात्कालिक समस्या पर प्रकाश डाला गया है । कहीं सुधारवादी दृष्टि से रूढ़ियों पर व्यंग्य करते हुए उनकी खिल्ली उड़ाई गई है तो कहीं विदेशी राज्य, उसके मन्तव्य या उसकी व्यवस्था पर व्यंग्य कसा गया है । यह राष्ट्रीय दृष्टि से हुआ है । विषस्य विषमौषधम् का एक आक्रोश देखिए : "धन्य है ईश्वर ! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं ।"

भारतेन्दु के एकाङ्कियों पर बंगला का प्रभाव भी था और पारसी रङ्गमञ्च का भी । बंग-साहित्य के माध्यम से अंग्रेजी का प्रभाव भी उन पर पड़ा था । पारसी रङ्गमञ्च के प्रभाव से दोहे, शेर, गज़ल आदि का भी एकाङ्की में प्रयोग किया गया है ।[1] पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि बंग-साहित्य के माध्यम से अंग्रेजी एकाङ्की का प्रभाव भारतेन्दु पर ही पड़ा : प्रभाव सामान्य था, विशिष्ट नहीं ।

भारतेन्दु के अन्य सहवर्ती लेखकों ने भी इन नाट्य विधाओं का प्रयोग किया । इनकी सूची यह है : राधाचरण गोस्वामी—'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण'; देवकीनन्दन त्रिपाठी—'कलियुगी जनेऊ'; बालकृष्ण भट्ट—'शिक्षा दान', 'रेल का विकट खेल'; राधाकृष्ण दास—'दु:खिनी बाला'; कार्तिक प्रसाद खत्री—'वैदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति'; किशोरीलाल गोस्वामी—'चौपट चपेट ।' आदि । लेखकों ने इन्हें नाटक कहा है । वास्तव में ये प्रहसन, व्यायोग आदि हैं ।

२. द्विवेदी युगीन एकाङ्की—

द्विवेदी युग तक पहुँचते-पहुँचते एकाङ्की पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट होने लगा। पर उस प्रभाव ने एकाङ्की के स्वरूप में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं कर दिया था । एकाङ्की का रूप भारतेन्दु कालीन ही बना रहा । प्रेरणा भी समाज-सुधार और राष्ट्रीयता की बनी रही । इस परम्परा में आने वाले नाटक ये हैं : विश्वकर्मा का 'शेरसिंह', सियारामशरण गुप्त का 'कृष्णा', ब्रजलाल शास्त्री के 'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' आदि, रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन 'रेशमी रूमाल' और 'क्रिसमिस', बदरीनाथ भट्ट का 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पाण्डेय का 'मूर्ख-मण्डली', उग्र का 'चार बेचारे', सुदर्शन का 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि ।

इस युग तक पहुँचते, पुराने संस्कृत तत्त्वों का आवरण प्राय: समाप्त हो गया । कथानक का विकास विधि पूर्वक होने लगा । चरम-बिन्दु सुनिश्चिति पाने लगा । पद्य, दोहे, शेर आदि का चलन उठ गया । इतना होते हुए भी एकाङ्की का अवतरण अपने आधुनिक रूप में नहीं हुआ ।

१. डा० रामचरण महेन्द्र, हिन्दी एकाङ्की : उद्भव और विकास, पृ० ६१

१. आधुनिक हिन्दी एकाङ्की—

अ. परिस्थितियाँ:—पाश्चात्य प्रभाव ने आधुनिक हिन्दी एकाङ्की का स्वरूप निश्चित किया। साथ ही मशीन-युग का त्वरा-पूर्ण जीवन भी इस विधा के विकास की प्रेरणा देने लगा। वैज्ञानिक युग में जीवन अधिक से अधिक कार्य-व्यस्त होता जाता है : फलतः मनोरञ्जन या रस-चर्चा के लिए कम समय ही बचता है। अर्थ के अभाव में नाट्य-योजना को अधिक से अधिक सरल और कम समय-साध्य बनाना आवश्यक हो जाता है। ये सभी बातें एमैच्योरों को प्रथक् एकाङ्कियों की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती हैं। सिनेमा की लोकप्रियता के युग में लम्बे नाटकों की अपेक्षा एकाङ्कियों का लोकप्रिय होना स्वाभाविक था। इसके साथ ही बुद्धि-प्रधान युग में रस-परिपाक की अपेक्षा भावोत्कर्ष से ही मनोरञ्जन प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। आज का मस्तिष्क 'विट्' में रस लेता है। इस प्रकार युग धर्म-एकाङ्की के पक्ष में था।

आ. परम्परा:—इस विधा का विकास १९२९ से मानना चाहिए : इसी वर्ष प्रसादजी का 'एक घूँट' प्रकाशित हुआ। इसी को हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकाङ्की माना जाता है। डा० नगेन्द्र ने इसका समर्थन किया है : "सचमुच हिन्दी एकाङ्की का प्रारम्भ प्रसाद के 'एकघूँट' से हुआ है। 'प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी एकाङ्की के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते', यह बात मान्य नहीं है। एकाङ्की की टैकनिक का 'एकघूँट' में पूरा निर्वाह है।"[1] सभी प्रमुख विद्वान् इसी मत के हैं। डा० महेन्द्र ने तो प्रसाद कृत 'सज्जन' और 'करुणालय' को भी एकाङ्की कहा।

फिर जल्दी ही मौलिक हिन्दी एकाङ्की की धारा बह चली। १९३० में डा० रामकुमार वर्मा ने 'बादल की मृत्यु' लिखा। इसको डा० सत्येन्द्र ने 'एकघूँट' के पश्चात् दूसरा स्थान दिया है। डा० महेन्द्र इसी को आधुनिक शैली का प्रथम एकाङ्की नाटक मानते हैं। यह नाटक अभिनयात्मक गद्य-काव्य सा लगता है। इसमें काल्पनिकता और काव्यात्मकता के तत्त्व अधिक हैं। भुवनेश्वर प्रसाद का प्रसिद्ध एकाङ्की संग्रह 'कारवाँ' १९३५ में प्रकाशित हुआ। भुवनेश्वर प्रसाद की कला पर बर्नार्ड शॉ का अधिक प्रभाव पड़ा। इनका योगदान परिणाम में कम और ऐतिहासिक महत्त्व में अधिक है। डा० रामकुमार वर्मा का प्रथम एकाङ्की संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' है जो १९३६ ई० में निकला। डा० वर्मा का महत्त्व दोनों ही दृष्टियों से है। साथ ही कला के उत्कर्ष, रूप के वैविध्य और प्रभाव की उत्कृष्टता की दृष्टि से भी वर्मा जी का उच्च स्थान है। इनके पश्चात् तो उनके सहवर्ती और परवर्ती लेखकों की लम्बी पंक्ति है।

इस पंक्ति के महत्त्वपूर्ण लेखक सर्व प्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशङ्कर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेश प्रसाद द्विवेदी प्रतीत होते हैं। मिश्रजी के एकाङ्की संग्रह हैं : अशोक बन, प्रलय के पङ्ख पर, एक दिन, कावेरी में कमल, बलहीन, नारा का रङ्ग, स्वर्ग में विप्लव, भगवान् मनु तथा

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३१

अन्य एकाङ्की आदि। मिश्रजी ने अपने स्वभाव के अनुसार समस्याओं को विविध माध्यमों से चित्रित किया है। सभी समस्याओं को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक, इन दो शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है। "इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, यथार्थवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर परिवर्तन का अनुरोध, जीवन के मौलिक सत्यों की निर्भ्रान्ति स्वीकृति आदि संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही हैं। इधर भारत की अपनी समस्याओं—यहाँ की आध्यात्मिकता का भी उन पर प्रभाव है।"[1] इस प्रकार समस्याओं का वैविध्य मिश्रजी के एकाङ्कियों में मिलता है। पर मुख्यतः सारी समस्याएँ मनोवैज्ञानिक स्तर पर रहती हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क सामाजिक समस्याओं को लेकर चले हैं। उनकी समस्याओं का सम्बन्ध मुख्यतः मध्यम वर्ग से है। रूढ़ियों के प्रति उनकी क्रान्ति व्यंग्य बन कर प्रकट होती है। इसके उदाहरण के रूप में 'अधिकार का रक्षक' को लिया जा सकता है। पात्रों की दृष्टि से हिन्दीतर भाषाओं और बोलियों का प्रयोग शैली और पात्र-योजना को स्वाभाविक बना देता है। अभिनेयता की दृष्टि से भी इनके एकाङ्की सफल हैं। इनके एकाङ्कियों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार हो सकती है—

क. **सामाजिक व्यंग्य**—पापी, लक्ष्मी का स्वागत, मोहब्बत, क्रासवर्ड पहेली, अधिकार का रक्षक, आपस का समझौता, स्वर्ग की झलक, विवाह के दिन, जोंक आदि।

ख. **सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक एकाङ्की**—चरवाहे, चिलमन, खिड़की, चुम्बक, मैं मूना, देवताओं की छाया में, चमत्कार, सूखी डाली, अन्धी-गली आदि।

ग. **मनोवैज्ञानिक और प्रहसन**—आदि मार्ग, अञ्जोदीदी, भँवर, कैसा साब कैसी आया, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, बत-सिया, सयाना मालिक, जीवन साथी आदि।

अश्क जी के एकाङ्कियों का परिणाम, विषय-वैविध्य, रूप-वैविध्य, शैली का प्रयोग और कला का परिष्कार, सभी उनको हिन्दी का एक प्रमुख एकाङ्कीकार बना देते हैं।

उदयशङ्कर भट्ट मुख्य रूप से कवि थे। एकाङ्की-कला भी इनके हाथों में खूब मजी है। इनके एकाङ्कियों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार है—

क. **सामाजिक समस्या**—एक ही कब्र में, दस हजार, दुर्गा, नेता, उन्नीस सौ पैंतीस, वर-निर्वाचन, सेठ लाभचन्द आदि।

ख. **हास्य व्यंग्य**—स्त्री का हृदय, नकली और असली, बड़े आदमी की मृत्यु, विष की पुड़िया, मुंशी अनोखे लाल आदि।

ग. **काव्यात्मक शैली**—विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, राधा आदि।

---

१. डा० नगेन्द्र: आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ५६

घ. रेडियो एकाङ्की—गांधी का रामराज्य, धर्म परम्परा, एकला चलोरे, अमर अर्चना, मालती माधव, बन महोत्सव, मदन-दहन।

ङ. अन्य—आदिम युग, प्रथम विवाह, मनु और मानव, समस्या का अन्त, कुमार सम्भव, गिरती दीवारें, पिशाचों का नाच, बीमार का इलज, आत्मप्रदान, जीवन वापसी, मन्दिर के द्वार पर, नये मेह-मान, नया नाटक आदि।

भट्ट जी के एकाङ्कियों की समीक्षा करते हुए डा० महेन्द्र ने लिखा है : "भट्ट जी के एकाङ्कियों का संविधान रङ्गमञ्चीय है तथा उन्हें सरलता से अभिनीत किया जा सकता है।...तात्पर्य यह है कि भट्ट जी के एकाङ्की जहाँ ज्ञान-बहुल हैं, मानव-जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहुव्यापी अङ्ग-उपाङ्गों का गहन विश्लेषण भी करते हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि, मानव के विकास में चेतना का अन्तर्दर्शी विवेचन, उनके इस साहित्य का रूप है। वस्तुतः भट्ट जी के द्वारा गीत, कविता, कथानक की प्रौढ़ता, समय की अन्तरङ्ग दृष्टि, ऐति-हासिक ऊहापोह, जीवन कल्याण की सभी भावनाओं का उनके नाटकों में प्रकटीकरण हुआ है।"[1]

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने पाश्चात्य एकाङ्कियों के प्रभाव को पूर्ण रूप से आत्मसात् किया है। इनके एकाङ्की का मूल केन्द्र कामचेतना है। इसी के आसपास सामाजिक रूढ़ियों, विवाह-समस्या और अन्य सामाजिक समस्याओं पर विचार नियो-जित है। सामाजिक वर्जनों से किस प्रकार नवोदित मस्तिष्क कुण्ठित हो जाता है और यह कुण्ठा किस प्रकार क्रान्ति या विकृति को जन्म देती है, इसी तत्त्व पर सामान्यतः विचार किया गया है। रामचरण महेन्द्र के मूल्याङ्कन-सूत्र इस प्रकार हैं : "हिन्दू समाज के कठोर नियंत्रण, रूढ़ियों एवं पाखण्ड में आधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक-युवतियों की वासना अनियंत्रित रूप से भड़क कर तिरस्कृत हो चुकी है।...जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ रही है, वैसे-वैसे शिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मध्यमवर्ग की सैक्स भावना-ग्रन्थियाँ जटिलतर होती जा रही हैं। इस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं से परिपूर्ण समस्याओं में भुवनेश्वर ऐसे उलझ गये हैं कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि ये एकाङ्की भारत के लिए हैं या पश्चिमी प्रदेशों के विकसित समाज के लिए। उन्मुक्त प्रेम, वैवाहिक सैक्स, बाहर से सुसंस्कृत किन्तु अन्दर से अनेक जटिलताओं के पुलन्दे जैसे पात्र, प्रारम्भिक एकाङ्कियों को कुछ कृत्रिम और अस्वाभाविक बनाते हैं।" इस प्रकार भुवनेश्वरप्रसाद ने वैयक्तिक यथार्थ को सामाजिक सन्दर्भ प्रदान किया है।

सेठ गोविन्ददास के एकाङ्की एक भिन्न धरातल पर हैं। इनमें नैतिक स्तर पर ही लेखक रहता है। वैसे मनोविज्ञान का भी अभाव नहीं है, परन्तु उस पर भी आदर्श

१. हिन्दी एकाङ्की, उद्भव और विकास, पृ० १६२

का नियंत्रण है। सामाजिक समस्याएँ भी उठाई गई हैं, पर उग्र रूप नहीं दिया गया है। कथानक मुख्यतः पौराणिक और ऐतिहासिक हैं। व्यंग और प्रहसन भी सेठ जी ने लिखे हैं। एकपात्री एकाङ्की उनकी एक मौलिक विधा है। ऐसे मोनो ड्रामा ये हैं : षट् दर्शन, प्रलय और सृष्टि, अलबेला, सच्चा जीवन तथा शाप और वर। उनके अन्य नाटकों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार हो सकती है—

१. **ऐतिहासिक**—बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन, नानक की नमाज़, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, परमहंस का पत्नी प्रेम।

२. **सामाजिक**—स्पर्धा, मानव मन, मैत्री, हंगरस्ट्राइक, ईद और होली, जाति उत्थान, वह मरा क्यों ? आदि।

३. **राजनीतिक**—सच्चा कांग्रेसी कौन ?

४. **पौराणिक**—कृषि यज्ञ, आदि।

भगवतीचरण वर्मा का एक एकाङ्की संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसमें चार एकाङ्की सङ्कलित हैं : दो कलाकार, सबसे बड़ा आदमी, चौपाल में, और बुझता दीप। 'सबसे बड़ा आदमी' इनका हास्य-व्यंग्य का सबसे प्रसिद्ध एकाङ्की है। इसका स्थान हिन्दी एकाङ्की में लगभग वहीं है जो 'उसने कहा था' का हिन्दी कहानी में। हास्य-व्यंग्य में समस्या पर्याप्त प्रभाव ग्रहण करती है।

विष्णु प्रभाकर के ध्वनि-रूपक प्रसिद्ध हैं। इनकी कला में सामाजिक यथार्थ और मनोविश्लेषण साथ-साथ आए हैं। मानवतावादी मूल्य ऊहापोह के ऊपर उठते हुए प्रतीत होते हैं। इनके प्रमुख संग्रह ये हैं : इंसान, क्या वह दोषी था ?, प्रकाश और परछाईं, बारह एकाङ्की, दस बजे रात आदि।

जगदीशचन्द्र माथुर के एकाङ्की यद्यपि संख्या में अधिक नहीं हैं, फिर भी उनका स्थान हिन्दी एकाङ्की साहित्य में महत्वपूर्ण हो गया है। इनकी शैली यथार्थवादी है। समस्या और उसके समाधान की कलापूर्ण सङ्गति इनके एकाङ्कियों में मिलती है। विचार अनुभूति के सत्य बन जाते हैं। मनोरञ्जन के लिए सूक्ष्म हास्य-व्यंग्य की योजना भी इनके एकाङ्कियों की विशेषता है।

उक्त लेखकों के अतिरिक्त हिन्दी एकाङ्कीकारों में गिरिजा कुमार माथुर, गोविन्दबल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, पृथ्वीनाथ शर्मा, जैसे कलाकारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनका विस्तृत परिचय लेख की सीमा के कारण ही नहीं दिया जा रहा। वैसे इनके एकाङ्की कला और विषयवस्तु दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

३. इ. विषय वैविध्य—विषय की दृष्टि से हिन्दी के एकाङ्की मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किए जाते हैं : सामाजिक और मनोवैज्ञानिक। इनके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक एकाङ्की भी लिखे गए हैं। सामाजिक नाटकों में कुछ समाजवादी यथार्थ को लेकर चले हैं और कुछ राष्ट्रीय या सांस्कृतिक समस्याओं को लेकर चले हैं। मनोवैज्ञानिक एकाङ्कियों में कुछ की शैली मनोविश्लेषणात्मक है और कुछ चारित्रिक द्वन्द्व

को लेकर चले हैं। प्रथम शैली के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में रूढ़ समाज के वर्जनों की परिस्थिति सामाजिक सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत होता है और कुण्ठा एवं विकृतियों का चित्रण प्रमुख हो जाता है। चारित्रिक द्वन्द्व कभी शुद्ध मनोवैज्ञानिक होता है और कभी मनोविज्ञान संश्लिष्ट-मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के साथ आर्थिक तत्त्व समाविष्ट होकर संघर्ष को और भी जटिल बना देते हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन के सभी यथार्थ हिन्दी एकाङ्कियों में विविध रङ्गों और आकृतियों में उभरे हैं। धार्मिक एकाङ्की पूर्व युगों में लिखे गए हैं। आधुनिक एकाङ्की कथानक को चाहे किसी स्रोत से ग्रहण करें, आधुनिक परिवेश से अवश्य ही किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुए हैं।

मनोवैज्ञानिक एकाङ्कियों में मुख्य संघर्ष विवाह और प्रेम का है। विवाह संस्था का प्रेम से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये दोनों एक साथ रहने चाहिए थे पर परिस्थितियों ने इन दोनों को प्रायः विच्छिन्न कर रखा है। विवाह अनिवार्यतः प्रेम पर आधारित नहीं होता और इस रूप में वह प्रेम के मार्ग की बाधा बन कर भी उपस्थित हुआ है। इसलिए इस युग के एकाङ्कीकार ही नहीं, कहानी और उपन्यास लिखने वाले लेखक भी इस संघर्ष से प्रभावित हुए हैं।

३. ई. **शिल्प-विकास**—आरम्भ में प्रहसनों और रूपकों से एकाङ्की ने अपनी शिल्प-योजना का आरम्भ किया। इनमें समाज के गतिहीन तत्त्वों की संकेतपूर्ण हँसी उड़ाई जाती थी। पीछे प्रहसनों की धारा, हास्य और व्यंग्य की शैली में बदल गई। व्यंग्य की पृष्ठभूमि में वर्ग-संघर्ष व्याप्त रहता है। वर्ग आर्थिक भी हो सकते हैं और प्रगति एवं परम्परा से सम्बन्धित भी। व्यंग्य जहाँ प्रगतिशील वर्ग को सत्य की अवगति कराता है और दूसरे वर्ग की दुर्दशा से सन्तोष देता है, वहाँ लक्ष्य वर्ग तिलमिला जाता है। इस प्रकार व्यंग्य का एक छोर पीड़ा देता है और दूसरा छोर सन्तोष। व्यंग्य में त्रुटि-सुधार की प्रेरणा भी निहित होती है, पर इस प्रकार का व्यंग्य गांधीवादी होगा। मार्क्सवादी व्यंग्य तो अत्यधिक कटु और उग्र होता है। यह एक क्रान्ति की प्रेरणा देता है। व्यंग्य में बहुधा बहुविवाह, बालविवाह, स्त्रियों की हीन दशा, मद्यपान, पाश्चात्य फैशन और जीवन-चर्या का अन्धानुकरण, धार्मिक पाखण्ड और अमानवीय कर्मकाण्ड आदि विषय रहते हैं। द्विवेदी युग में व्यंग्य, समस्या-चित्रण का माध्यम बन गया। अन्त में आदर्श या मानववादी मूल्यों की स्थापना व्यंग्य-जन्य वैषम्य को सम रस बना देता है। जी० पी० श्रीवास्तव हास्य-व्यंग्य धारा के प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ हैं। प्रसाद जी ने 'एकघूँट' में उन्मुक्त प्रेम को व्यंग्य का आधार बनाया है। जी० पी० श्रीवास्तव ने 'गड़बड़झाला' में विवाह के आधार पर व्यंग्य खड़ा किया है। उनका 'भूल चूक' विधवा-विवाह का समर्थन करता है। डा० सत्येन्द्र का 'बलिदान' दहेज के सामाजिक विकार का रहस्य खोलता है। सुदर्शन का 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' भी एक अच्छा व्यंग्य है। इस प्रकार स्थूल प्रहसन सूक्ष्म व्यंग्य के रूप में परिणत होते गए।

इसके अनन्तर आदर्शवादी एकाङ्की आते हैं। द्विवेदी युग में जीवन के

आदर्शमूल्यों ने राजनीति को प्रभावित किया। राष्ट्रीय एकाङ्कियों में त्याग, बलिदान और अन्य जीवन-मूल्यों को उभारने वाले पात्रों और घटनाओं को लेते हुए एकाङ्कियों की रचना हुई। राष्ट्रीय यथार्थवाद और आदर्शवाद को लेकर एकाङ्की ने स्वरूप विकास किया।

आगे चलकर यथार्थवाद उग्र रूप में अपनाया गया। यथार्थ जब इस रूप में प्रकट हुआ तो आदर्श आरोपित और दूर की चीज लगने लगा। तब समस्याप्रधान नाटकों का उदय होता है। इस प्रकार के नाटक सोद्देश्य होने के कारण एक निश्चित विधान को लेकर चलते हैं। इनमें आदि और अन्त में सन्तुलन रखा जाता है और चरमबिन्दु भी एक निश्चित स्थान पर आता है। 'लक्ष्मी का स्वागत' उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। एक करुणा का सूत्र पहले जगता है—रोशन के प्रति। सहानुभूति के रूप में करुणाभाव परिणत होता है। यह सहानुभूति रेखा क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती रहती है। बालक की मृत्यु और रोशन के विवाह के शगुन की बधाई से सहानुभूति की रेखा चरम पर पहुँचती है। अन्त में व्यवसायी बुद्धि के प्रति घृणा भी उच्चतम बिन्दु पर होती है। यहीं एकाङ्की समाप्त हो जाता है। इस नाटक का केन्द्र एक भौतिक या मानसिक घटना है।

कुछ एकाङ्की भ्रम के सहारे भी चलते हैं। इनमें कौतूहल और जिज्ञासा का तनाव अधिक होता है। कौतूहल के माध्यम से बौद्धिक और भावात्मक तन्तु एकाग्र हो जाते हैं। यदि कौतूहल अस्वाभाविकता के सहारे उभारा जाता है तो उसका कलात्मक मूल्य कम होता है। यदि इसका आधार सहज है तो कला का उत्कर्ष ही होता है। रामकुमार वर्मा का 'दस मिनट' भ्रममूलक एकाङ्की का एक अच्छा उदाहरण है।

एक और शैली है जिसमें कला का आधार कथा के जिज्ञासापूर्ण विन्यास और उससे उत्पन्न कौतूहल पर नहीं होता। एक रिपोर्ताज़ की भाँति एकाङ्की की गति में स्वयंमेव एक विकास होता चलता है। एक स्थान पर चलकर विकास समाप्त हो जाता है। नाटककार को भी इससे आगे कुछ कहने को नहीं रह जाता। उसे जो कुछ कहना होता है, वह भी समाप्त हो लेता है। इस प्रकार नाटक का भी सहज अन्त हो जाता है। 'कामरेड' इसी प्रकार का एकाङ्की है। इस शैली के नाटकों में चरमबिन्दु का आना आवश्यक नहीं है। संघर्ष केवल मूल कथ्य के उद्दीपन के लिए ही नियोजित होता है। रामकुमार वर्मा का 'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा' भी इसी शैली का एक एकाङ्की है। इसमें न घटना प्रधान है और न संघर्ष। तीसरे प्रकार के एकाङ्की प्रवाहधर्मी होते हैं। एक बात यों ही अनायास आरम्भ होती है और उसका प्रवाह चलने लगता है। संघर्ष प्रवाह को वेग देने के लिए आता है। कभी प्रवाह मन्द-मन्थर भी रहता है। जैनेन्द्र का 'टकराहट' ऊर्ध्व प्रवाह से युक्त एकाङ्की है। 'जीवन की धारा मानव-निर्मित परिधियों और सीमाओं से टकराकर उठना चाह रही है।' भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र का स्ट्राइक ऐसे ही समतल पर गतिशील होता है। जब प्रवाह ऊर्ध्वोन्मुख

हो, तो उसमें गम्भीर चिंतन का वैशिष्ट्य रहता है। समतल प्रवाह वाले नाटक में जैसे एक लाइट मूड रहता है।

हिन्दी एकाङ्कियों में शैली-विकास भी क्रमशः हुआ है। वस्तु-विकास की भी विभिन्न शैलियाँ आज मिलती हैं। किसी एकाङ्की का विधान एक दीर्घ-कालावधि और विविध स्थानों से सम्बद्ध होती है। फलतः एकाङ्की में विविध दृश्यों की योजना रहती है। प्रत्येक दृश्य अङ्क जैसे ही प्रतीत होता है। इनमें देश-कालगत ऐक्यों का समुचित निर्वाह नहीं होता। बिना दृश्यपरिवर्तन के ही यदि एकाङ्की पूर्ण हो जाय तो, वह सच्चे अर्थों में एकाङ्की कहा जा सकता है। वस्तुतः समस्त स्थान और समय क्रम केन्द्रीभूत होने चाहिए। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जोंक' घटनाकृत एकाङ्की है। भूतकाल की अनेक बातें आती हैं, पर एक ही समय और एक ही स्थल पर उन्हें घटित संवाद अथवा घटना के द्वारा व्यक्त कर दिया जाता है। हिन्दी एकाङ्कियों में अधिकांश वस्तु-विकास इसी शैली में हुआ है।

एक और शैली 'रेडियो नाटक' की है। इसे ध्वनि रूपक भी कहते हैं। इसमें स्वभावतः ही ध्वनि और अर्थ की कला के तत्त्व उभरते हैं। पर इनका रङ्गमञ्चीय अभिनय भी पर्याप्त सफल होता है। इनमें एकाङ्की कला निश्चित रूप से विकसित हुई है। विष्णु प्रभाकर के ध्वनिरूपक बड़े सफल हैं। रेडियो ने इस विधा को आश्रय देकर इसकी कला का उन्नयन किया है। इसी प्रकार के प्रयोगों में एकपात्रीय अभिनय आता है जैसे सेठ गोविन्द दास का 'प्रलय और सृष्टि'। सङ्गीत रूपकों का भी शिल्प प्रयोग हुआ है जैसे पन्तजी का 'शुभ्र पुरुष' और महेन्द्र भटनागर का 'कुँवर कन्हैया'। जिस पर कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में आञ्चलिक विधा मिलती है, उसी प्रकार जनपदीय एकाङ्की भी लिखे गए हैं। राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी में एकाङ्की लिखकर इस विधा को गति दी है। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से हिन्दी एकाङ्कियों में पर्याप्त विकास भी हुआ है और पर्याप्त वैविध्य भी मिलता है।

३. उ. हिन्दी एकाङ्की में 'व्यक्ति' का बिम्ब—

वर्ग-संघर्ष 'व्यक्ति अस्तित्व' के लिए क्षेत्र बनाता है। वर्ग-संघर्ष अन्ततः दो वर्गों का संघर्ष बन जाता है—निम्न और उच्च। इस युग में मध्यवर्ग को एक उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। इस वर्ग की बौद्धिक चेतना आर्थिक और मानसिक दृष्टि से एक क्षोभ का अनुभव करती है। मध्यवर्ग एक बौद्धिक संघर्ष आरम्भ करता है। यह संघर्ष एक ओर अधिकार-प्राप्ति की ओर चलता है और दूसरी ओर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा करता है। साथ ही समानता के लिए भी वह सचेष्ट रहता है। इस प्रकार का संघर्ष युग की प्रगति को बल देता है। मध्यवर्ग नेतृत्व करने लगता है, इस प्रगति का।

साहित्य में भी 'व्यक्ति का स्थान इसी प्रगति के आधार पर बनता है। एक समय आता है जब सामाजिक समस्या या सामूहिकता साहित्य में प्रधान हो जाती है

और 'व्यक्ति' उपेक्षित हो जाता है। पर व्यक्ति अपनी बौद्धिक चेतना के आधार पर इन समस्याओं के घटाटोप से फिर सिर उठाने लगता है। बीसवीं शती के तृतीय दशक में व्यक्ति और समाज की यह प्रतिद्वन्द्विता साहित्य-रङ्गमञ्च पर चलती मिलती है। यह आर्थिक हलचल, औपनिवेशिक स्वतंत्रता का युग था। तीसरा बिन्दु व्यक्ति-स्वातंत्र्य का है। हिन्दी एकाङ्की में व्यक्ति का बिम्ब कम उभरा है।

प्रथम स्थिति के एकाङ्कियों में प्रतिनिधि व्यक्ति के दर्शन होते हैं। प्रतिनिधि व्यक्ति सामाजिक नैतिकता, आरोपित आदर्श और सामाजिक चेतना से बद्ध रहता है। व्यक्ति यंत्रवत् समाज-कल्याण की साधना की एक इकाई बन जाता है। युद्धपूर्व एकाङ्कियों में व्यक्ति का यही रूप मिलता है। गाँधी जी की लोककल्याण भावना एक सामाजिक मूल्य बन जाती है। इसलिए तीसरे दशक के हिन्दी एकाङ्कियों में व्यक्ति के माध्यम से पूरे समाज के परिवर्तन का प्रश्न सामने आता है। व्यक्ति समाज-सुधार, लोककल्याण और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के कार्यों में व्यस्त दिखलाई पड़ता है। नारी आन्दोलन या व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नारे तो सुनाई पड़ते है, पर वे एक सामाजिक प्रक्रिया जैसे ही लगते हैं। कहीं-कहीं व्यक्ति-संघर्ष की झलक भी मिल जाती है। इस परिवेश में हिन्दी एकाङ्की व्यक्ति-बिम्ब को अधिक नहीं उभार पाया। पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों का चित्रण भी व्यक्ति के सामाजिक प्रतिनिधित्व को ही सामने ला रहा था।

हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन भी आरम्भ हुआ। इसका प्रभाव कविता, कहानी और उपन्यास पर पड़ता है। एकाङ्की में भी उच्च और निम्नवर्ग के पात्रों का संघर्ष भी कुछ-कुछ परिलक्षित होता है। पर वह पर्याप्त मात्रा में नहीं है। प्रगतिवादी आन्दोलन के नेताओं ने प्रचारार्थ एकाङ्की के माध्यम को नहीं चुना। सम्भवतः उन्हें यह शङ्का होगी कि एकाङ्की में समाज के स्थान पर एक दिन प्रतिनिधि व्यक्ति ही आसीन हो जायगा। एकाङ्की विधा में व्यक्ति को इतनी आसानी से नहीं हटाया जा सकता है, जितनी आसानी से कहानी, उपन्यास को व्यक्ति से रहित किया जा सकता है।

युद्धोत्तर काल में व्यक्ति का वह प्रतिनिधि रूप जो सेठ गोविन्द दास के एकाङ्कियों में मिलता है, या नेता या प्रचारक के रूप में कुछ प्रगतिवादी एकाङ्कियों में मिलता है, लुप्त हो गया। समाज से पराजित, उत्पीड़ित और जर्जर व्यक्ति अब उभरता है और एक मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत होता है। अब समस्या प्रधान एकाङ्कियों की दिशा बदल गई। व्यक्ति की इस स्थिति का स्पष्ट बिम्ब हमें जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, विष्णुप्रभाकर, सत्येन्द्र शरत जैसे एकाङ्कीकारों के अधिकांश एकाङ्कियों में मिलता है। ये सभी पश्चिम की कला से प्रभावित हैं और

आज की मनोवैज्ञानिक शोधों का साहित्यिक प्रेक्षण करने में अग्रसर । व्यक्ति विकास के इस क्रम को यों समझाया जा सकता है ।[1]

विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति-बिब
- १. आरम्भिक एकाङ्की—सामाजिक इकाई (अर्थात् व्यक्ति समूह और व्यक्ति)
- २. तीसरे दशक की स्थिति—प्रतिनिधि व्यक्ति। एकाङ्की का द्वितीय चरण।
- ३. युद्धोत्तर एकाङ्की—व्यक्ति-अस्तित्व-समूह से पृथक्।
- ४. स्वाधीनोत्तर एकाङ्की—पृथक् व्यक्तित्व का व्यक्ति।

इस प्रकार क्रमशः व्यक्ति बिम्ब का विकास हुआ है। व्यक्ति की इकाई का विकास-इस प्रकार दिखाया गया है—

युद्ध पूर्व के वर्षों में व्यक्ति-स्वातंत्र्य
आर्थिक और—
राजनैतिक स्वातंत्र्य का प्रश्न
युद्ध का आतङ्क

व्यक्ति इकाई।
१. पराजित व्यक्ति इकाई
२. टूटी आस्थाएँ
३. एकान्तिक दृष्टिकोण का प्रबल प्रभाव (जीवन के सन्दर्भ में) :
विवश व्यक्ति का जीवन के प्रति
स्वीकार पूर्ण समर्पण

निष्कर्ष—

आज भी हिन्दी एकाङ्की एक गतिशील विधा है। नवीन प्रयोग भी हो रहे हैं और सम्भावनाएँ भी हैं। शिल्प में व्यक्ति उभरता जा रहा है। रेडियो से सम्बद्ध होकर विधा को पर्याप्त प्रोत्साहन भी मिल रहा है।

१. यह तालिका गंगाप्रसाद विमल ने 'सप्तसिंधु'; नवम्बर, १९६३, के पृष्ठ ६६ पर दी है। वहीं से यह साभार उद्धृत है।

२३

छायावाद

१. छायावादी काव्य पर एक दृष्टि
२. छायावाद के प्रवर्तक
३. छायावाद क्या है ?
४. कवि का अन्तर्मन
५. पलायन
६. सौन्दर्य-भावना
७. अभिव्यक्ति पक्ष
८. मूल्याङ्कन

छायावादी काव्य लोक पर दूर से दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है जैसे एक मनोरम स्वप्नलोक है। यहाँ स्वप्नों की छाया में जीवन के क्षण पलते हैं। सौन्दर्य की तितलियाँ इन्द्र धनुष से होड़ लेती हैं। कवि की तरल कल्पनाएँ परीलोक से आमंत्रण पाकर उधर ही उड़ी जा रही हैं—उड़ी जा रही हैं। सव्रीड़ कविता कामिनी, किरण जाल सी झिलमिल, मश्रु-श्लथ, सौन्दर्य-विकल, शिल्प के ताजमहल में निवसित, रूप-सुरूप के सर्-सर् उपवनों में विलसित, अनेक लाक्षणिक संकेतों में मुखर है। समस्त वातावरण जैसे मदिरा की मन्द-मन्द मादकता में अर्द्धनिमीलित है। लगता है कि यह लोक स्वर्गगा के किरणोज्ज्वल कछारों में झूल रहा है। यदि किसी छायावादी से उसके लोक का परिचय पूछा जाता तो शायद वह कुछ ऐसी ही शैली में अपने लोक का परिचय देता।

१. और कवि ?

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा और कुछ अन्य तथा कथित लोग, एक भीड़। सभी निराश प्रेमी, सभी यूनीवर्सिटी और कालिजों के क्षुब्ध और रूप के जादू से लुब्ध-मुग्ध विद्यार्थी, नव युवक, नव युवतियाँ इस युग में अपने एकान्त क्षणों में छायावादी पथ पर दो चार क़दम अवश्य चले होंगे।

ऐसा प्रतीत होना है जैसे फ्रायड की प्रयोगशाला के द्वार पर एक लम्बा क्यू लगा हुआ हो—सभी अपने अन्तर्मन की कुछ विकृतियों से संत्रस्त। फ्रायड ने सभी को व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं बतलाया। सभी की व्याधि के एक ही लक्षण और एक ही निदान हैं। उसने विश्लेषण किया : अवचेतन तुम्हारे चेतन के नीचे उद्वेलित है। दमित इच्छाओं के अंकुर कुचले हुए पड़े हैं—कितना करुण है यह दमित इच्छाओं का जगत्। सभी अपना सर उठाती हैं। विभिन्न व्यापार-व्यवहार में अपनी अभिव्यक्ति

पाती हैं। प्रतीकों की योजना इनको छद्मवेश देता है। उधर 'स्वप्न' बना : इधर कविता बनी। ग्रंथियाँ जटिल हुईं : चेतन-अचेतन का संघर्ष तीव्र हुआ। प्रतीक शिल्प में यह जटिलता प्रतिच्छायित है। वर्जनों से भरे बाह्य जगत् से, इसके ठोस यथार्थ से इन्हें विरुचि है। भीतर के किसी राग-केन्द्र पर इसकी समस्त चेतना सिमटती जा रही है। फ्रायड ने कुछ ऐसा ही निर्णय दिया। अपनी दुर्दम वासनाओं को रूपायित करने की प्रेरणा भी कहीं यहीं छिपी है। इस कवि के व्यक्तित्व में सारी तड़क-भड़क ऊपरी है सब छद्म है। इसका मन व्याधि-ग्रस्त है, रुग्ण है। कवि ने शायद पहली बार समझा कि सामान्य वस्तु जगत की अपेक्षा एक विशेष सत्ता और शक्ति वाला संसार है—अचेतन मन का संसार। यह यथार्थ ही नहीं, 'अति यथार्थ', सर रीयलिज्म ! यही जगत् कवि की प्रेरणा और साधना का रहस्य अपने में छिपाये है। कवि कुछ क्लान्त और विच्छिन्न सा जो प्रतीत होता है, वह अन्तर्द्वन्द्व के कारण। साहित्य के अनेक वाद इस व्याख्या को लेकर चले—क्लैसिकिज्म, रोमैन्टिसिज्म, रियैलिज्म और एस्कैपिज्म। इस बौद्धिक चेतना और जागरूकता के युग में मनोविज्ञान के इस सम्प्रदाय ने कहा : बुद्धिवाद हमारा चेतन अहं है। मानव जीवन के यथार्थ स्रोत तो बुद्धि से परे हैं। बुद्धि तो कामशक्ति का एक व्यावहारिक उपकरण मात्र है। कभी एक दार्शनिक ने बुद्धि से परे किसी पारलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया था और मनुष्य के समस्त क्रिया-व्यापार को उससे यंत्रवत् परिचालित माना था। आज इस मनोविश्लेषणवादी ने भी एक अन्तर्गुहा की ओर संकेत किया जो निबिड़ अन्धकार से आवृत है और यहीं कहीं मनुष्य की सञ्चालिका शक्ति है, उसका बोध मानव की बुद्धि से परे है।

फिर छायावादी कवि ने अपने रोग-निर्णय के लिए डा० कार्लजुंग के दरवाजे पर दस्तक दी। दरवाजा खुला। जुंग के कमरे में व्यक्तित्व विश्लेषण का एक चार्ट लगा था। उसकी रूपरेखा इस प्रकार है :

व्यक्तित्व
- -इन्ट्रोवर्ट : अन्तर्मुख—
- -एक्स्ट्रोवर्ट : बहिर्मुख—
  - —अन्तर्ज्ञान शील : इन्ट्वीटिव टाइप
  - -विचारशील : थिंकिंग टाइप
  - —भावना शील : फीलिंग टाइप
  - —प्रवृत्ति शील : इन्स्टिंग्टिव टाइप
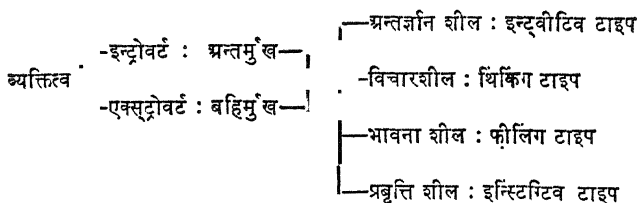
व्यक्तित्व के ये ही प्रकार हैं। इस चार्ट को देख कर छायावादी कवि ने अपने भीतर झाँका। उसकी समझ में अपनी स्थिति कुछ-कुछ आई। वह समझ गया, मैं कहाँ हूँ। पर उसने समझा कि उपन्यास या नाटक चरित्र-चित्रण को इससे अधिक सुविधा पूर्वक समझा जा सकता है। अभी छायावाद कवि अचेतन और स्वप्न सिद्धान्तों से अभिभूत था। उसने अचेतन के सम्बन्ध में भी जुंग से एक बात सुनी। अचेतन के दो स्तर हैं : एक वैयक्तिक अचेतन और दूसरा सामूहिक अचेतन। सामूहिक अचेतन में पुरातन, सभ्यता के आदिकाल की अनुभूतियाँ सञ्चित रहती हैं। इनका प्रक्षेपण अनेक प्रतीकों

और जागतिक उपकरणों पर होता है। कवि की समझ में कुछ आया। पर जैसे अभी वह यही सोच रहा हो कि मेरी प्रेरणा तो सम्भवतः वैयक्तिक अचेतन में हैं। साधना की अनेक स्थितियों में सामूहिक अचेतन भी प्रतीकोपकरण लिए खड़ा अवश्य रहता है। सामूहिक अचेतन की अनुभूतियों को वैयक्तिक परिवेश में ही ग्रहण किया जाता है। हैवलॉक एलिस और जुंग के अनुयायियों ने काम-ग्रन्थिक स्पष्ट विश्लेषण किया। इसने कवि को काम की घुटनों को स्पष्ट स्वर देने की प्रेरणा दी। कामवृत्तियों की कलात्मक अभिव्यक्ति देने की जो परम्परा संसार में बनी; छायावादी कवि भी इस परम्परा से असम्बद्ध नहीं है यहाँ समस्त मनोवैज्ञानिक वादों पर विचार करना आवश्यक नहीं। केवल यह स्पष्ट किया गया है कि मनोविज्ञान ने व्यक्ति-मन को जो विश्लेषण इस युग में प्रस्तुत किया है; उससे छायावादी कवि का कर्म भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ।

इन सिद्धान्तों के साहित्यीकरण के लिए एक परिवेश की आवश्यकता होती है। परिवेश तो पुराने समय से ही प्राप्त था, पर इस युग में मनोवैज्ञानिक खोजों ने इनको देखने और विश्लेषण करने की दृष्टि प्रदान की। साथ ही वर्जनों के क्रूर रूपों और सामाजिक शक्तियों के सामने अपनी विवशताओं को सोचा और समझा। परिवेश और अनुभूतियों ने जिस विशिष्ट व्यक्तित्व को जन्म दिया, उसी प्रकार का व्यक्तित्व लगभग छायावाद के कवि का था। एक ओर वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्यास और प्रेरणा है, दूसरी ओर पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त समाज है। जागरण की किरणों का उदय है, पर कवि खुल कर उनका स्वागत नहीं कर सकता। इसी विडम्बना की कटुता छाया-वादी कवि के सभी चेतन केन्द्रों में भर गई और घुटन, कुण्ठा, दमन !

२. प्रवर्तक कौन :

यह प्रश्न भी स्वाभाविक है। छायावाद की स्थिति समसामयिक होते हुए भी, इस प्रश्न पर सभी एकमत नहीं । एक परिसंवाद चला।[1] उसका सारांश यों है-

सियारामशरण गुप्त—[शुक्लजी को आधार बनाते हुए]—मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को ही हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्तक मानना चाहिए। प्रमुख छायावादी कवियों ने अपनी कविता प्रारम्भ में हरि-गीतिका के स्वरों में मुखरित की है।

विनयमोहन शर्मा—, प्रभाकर माचवे —]—'माखन लाल चतुर्वेदी की १९११–१३ की रचनाओं में नवीन शैली के दर्शन होते हैं। वे ही छायावाद के सबसे पहले कवि माने जाने चाहिए।

१. अवन्तिका, जनवरी, १९५४

नन्ददुलारे वाजपेयी—[समन्वय के स्वरों में]—१६१३–१६२० के बीच की रचनाओं में स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति मिलती है। इसी में छायावादी विशिष्ट शैली के बीज कहीं हैं। मुकुटधर पाण्डे, रामकृष्णदास और प्रसाद में छायावाद की प्रयोगावस्था के चिह्न देखते हैं। छायावाद की राष्ट्रीय शाखा का उद्भव और उन्मेष माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं में मिलता है। मेरे विचार से निराला छायावादी शैली की अपेक्षा स्वच्छन्दवादी भावधारा के अधिक निकट हैं।

गुप्त जी से छायावादी कविता का दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। उनका व्यक्ति, उनकी प्रकृति और उनका अदर्श कभी छायावाद के अनुकूल नहीं था। उनके संस्कारों के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। यदि उनके कुछ गीतों में वैयक्तिक अनुभूति मिलती भी है, तो वह एक परम्परा बनाने में समर्थ नहीं। साथ ही प्रत्येक वैयक्तिक गीत-परम्परा छायावादी नहीं है। अधिक से अधिक गुप्त जी के गीतों में कुछ रहस्यवादी दार्शनिकता देखी जा सकती है। माखनलाल चतुर्वेदी में कहीं-कहीं अवश्य छायावादी शिल्प की झाँकी मिलती है, पर वे व्यक्तित्व से 'एक भारतीय आत्मा' हैं। छायावादी जीवन-दर्शन को उन्होंने न तो स्वीकार किया और न उसकी उन्होंने व्याख्या की। छायावादी कवियों ने अपनी कृतियों की भूमिकाओं में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। प्रसादजी ने सर्व प्रथम छायावादी के जीवन-दर्शन की स्थापना की। केवल उन आलोचकों को ही उत्तर नहीं दिया जो इस धारा को शुद्ध विदेशी नकल मानते थे, अपितु भारतीय स्रोतों से इस जीवन-दर्शन को पुष्ट किया। इसलिए यदि प्रसाद जी को ही छायावाद का प्रवर्तक मानना सुविधा जनक रहता है। किसी व्यक्ति को इसके प्रवर्तन का श्रेय देना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। वास्तव में इस प्रवृत्ति का प्रवर्तन एक नवोदित विचारधारा ने किया। इस विचारधारा का वहन उस समय के मध्यवित्तीय शिक्षित मस्तिष्क ने किया। मध्यवर्गीय नवयुवक अपनी समस्त जागृतियों और कुण्ठाओं को लेकर इस धारा का प्रचलन कर रहा है। कुण्ठा ने उसे विवश कर दिया है और इस विवशता ने बौद्धिक जागरूकता और वैज्ञानिक विश्लेषण से काट दिया है। वह अन्तर्नाद-युक्त अन्तर्मुख और रहस्यावृत गीतों के चित्र-विधान में लग जाता है। इस प्रवृत्ति ने अपने समय में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की।

३. छायावाद क्या ?

शायद इस पर कुछ पहले ही लिखा जाना चाहिए था। द्विवेदी युगीन आदर्शवादी, आदर्श मानववादी, या नैतिकता के निरपेक्ष मान-मूल्यों के लिए आलोचक छाया वाद को स्वीकृति नहीं दे रहे थे। पुरानी अभिरुचि का किसी नवीन विधा से समझौता करना इतना आसान होता भी नहीं है। रूढ़ और बद्ध अभिरुचि को गतिशील होने के लिए कुछ समय चाहिए। उन्होने ही सम्भवतः इसे छायावाद नाम से

पुकारा। इसमें सम्भवतः यह व्यंग्य था कि सत्य के कठोर रूप से विमुख कवि सत्य के अचेतन पर पड़े अतिवैयक्तिक छायाभास को लेकर चल रहा है। न उसका कोई आदर्श और न कोई स्वस्थ जीवन-दृष्टि। 'छायावाद' नाम छायावादियों को अधिक पसन्द नहीं आया, जिस प्रकार 'प्रयोगवाद' नाम प्रयोगवादियों को नहीं रुचा। पन्तजी ने इस सम्बन्ध में एक स्पष्टोक्ति भी की : 'छायावाद नाम से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी युग के आलोचकों के द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक है।"[1] 'छाया' तो अस्पष्ट होती ही है : 'वाद' भी एक भयङ्कर शब्द है। साहित्य में आकर यह एक सम्प्रदाय या पूर्वाग्रह का वाचक हो जाता है। इसमें 'छाया' को फँसाकर द्विवेदीयुगीन आलोचक खिलखिला उठा।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों की एक प्रतिक्रिया है। कुछ लोग छायावाद को रीतिकाल की भी प्रतिक्रिया मानते हैं। पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों को तो भारतेन्दु-युग ने ही ललकार दिया था। ललकार ही नहीं दिया था, उसको समाप्त करके एक नवीन युग का निनाद भी कर दिया था। विषय-बोध और शिल्प-विधि दोनों ही रीतिकाल से भिन्न हो गए थे। राष्ट्रीय भावना की प्रतिष्ठा, गद्य का विकास और ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग, ये प्रतिक्रिया-सूत्र रीतिकाल को साहित्यिक संग्रहालय की वस्तु बना देने को पर्याप्त थे। भारतेन्दु-युग के ये प्रतिक्रिया-सूत्र द्विवेदी युग में व्यापक बने। राष्ट्रीयता के साथ आदर्श मानववाद, या मानवतावाद स्थापित हुए। भाषा का व्याकरणिक दृष्टि से, नवीन यथार्थताओं और भावबोधों के अनुसार परिष्कार हुआ। गद्य आलोचनात्मक हो चली। रामचन्द्र शुक्ल इस युग की एक सबल विचार-शक्ति मानी जा सकती है। शुक्लजी ने जहाँ कई अन्य कार्य भी किए, वहाँ भक्ति के पुनर्मूल्याङ्कन के द्वारा उसकी पुनरुत्थानमयी प्रतिष्ठा की। भक्ति में भी महाकाव्य प्रवृत्ति के पोषक तुलसी में उन्हें वे मूल्य मिले जो आधुनिक जीवन की व्याख्या में भी उपयुक्त स्थान रख सकते हैं। साथ ही रस-सम्प्रदाय का नवीन संस्कार करके उन्होंने रस+भक्ति (=तुलसी) से युक्त एक नैतिकतावादी मानदण्ड बनाया। पर इस मानदण्ड में व्यक्ति का अपना परिप्रेक्ष्य और अपने राग-तन्तु उपेक्षित रह जाते हैं। 'अहं' की उपेक्षा करके एक व्यापक, अखण्ड आदर्श की स्थापना से जीवन का नवीन यथार्थ क्षुब्ध हो गया। राजनैतिक दृष्टि से गांधी ने जो आदर्श बनाया था, प्रायः वही द्विवेदी युगीन इतिवृत्तों का उपजीव्य बन गया। पर राष्ट्रीय चेतना के साथ मानवमात्र का भावबोध भी सजग होने लगा था। 'व्यक्ति' बनाम 'समाज' संघर्ष भी विविध दार्शनिक विचारणाओं से अपने पक्ष-समर्थन में लगा था। इस प्रकार के वातावरण में प्रतिक्रिया जगती ही है। वस्तुतः द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध छायावाद एक अतियथार्थवादी प्रतिक्रिया है। इसने द्विवेदी युगीन आदर्श से समन्वित 'इतिवृत्त' को हिला दिया। 'इतिवृत्त' पर जो नवीन जीवन-दृष्टियों के कुछ टुकड़े चिपका दिए थे, झर गए। गीत एकान्त वैयक्तिक क्षणों को समेटने के

१ अवन्तिका, जनवरी, ५४

लिए तत्पर थे। यदि 'इतिवृत्त' का 'कामायनी' या 'तुलसीदास' के रूप में छायावादी अवतार हुआ भी तो यथार्थ से निरपेक्ष आदर्शों से यह मुक्त हो चुका था। मनुष्य को राग-सत्ता या चेतन के चिर विकासशील आयाम इनकी घटनावली को छोटा करके आ बैठे। इस प्रकार छायावाद ने सच्चे अर्थ में द्विवेदी युग के प्रति प्रतिक्रिया की। द्विवेदी युगीन आलोचकों को भी प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा। नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने मुख्यतः छायावाद की जीवन-दृष्टि और शिल्प-विधि का समर्थन किया।

शुक्लजी ने छायावाद की नवीन शैली को देखकर एक आकर्षण का अनुभव सम्भवतः किया था। इसकी अभिव्यञ्जना शैली अनेक सम्भावनाओं से गर्भित थी। अतः उनकी प्रथम प्रक्रिया छायावाद को एक नूतन अभिव्यञ्जना के विवर्त के रूप में देखने की हुई। साथ ही उन्होंने कुछ आध्यात्मिक सूत्रों की कल्पना का आभास भी छायावाद में पाया। उन्होंने इन दोनों दृष्टियों से छायावाद का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया : "रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।"[१] इस प्रकार शुक्लजी ने 'तुरीय' अवस्था के द्वारा अवचेतन के समकक्ष कवि-मन को रखा। आधुनिक शब्दावली का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि छायावादी गीतों की प्रतीक-योजना और अभिव्यञ्जनासामग्री आध्यात्मिक छाया से आविष्ट है। अभिव्यञ्जना का आवेश-पक्ष इसी सामग्री के बल पर समृद्ध है। शुक्लजी ने दोनों ही तत्त्वों को समझा। उनका मत यह नहीं था कि इस कविता का केन्द्रीय स्पन्दन ही आध्यात्मिक है। उन्होंने शैली के इस पक्ष को भी उभार दिया। महादेवी वर्मा ने इस विधा में सर्वात्मवादी दर्शन पाया : 'छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।' इस प्रकार आगे के कुछ लेखकों ने एक दार्शनिक प्रेरणा को स्वीकार करना आरम्भ किया। किसी-किसी ने अज्ञात सत्ता की प्रकृतिगत छाया से इस विधा का सम्बन्ध जोड़ दिया और इसको रहस्यवादी आवरण प्रदान किया : "विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।"[२] डा० गुलाबराय ने भी इसमें एकात्मवादी दर्शन पाया : "छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतला कर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं।"[३] बाबूजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद को समान कर दिया। इससे आगे दोनों को एक समझने का भ्रम फैला। वास्तव में रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूतियों की छवियों से उद्रिक्त

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२. गंगाप्रसाद पाण्डेय : 'छायावाद रहस्यवाद' पृ० २४

३ काव्य के रूप, पृ० १२७

है। छायावाद में ऐसी कोई पृष्ठभूमि स्पष्ट नहीं है। वाजपेयी जी ज़रा सम्हल गए। उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष का निराकरण तो नहीं किया, शायद वे समझते थे कि आध्यात्मिक पक्ष से विच्छिन्न होकर छायावाद की आधार-भूमि कुछ दुर्बल पड़ जायगी। इसीलिए उन्होंने नपे-तुले शब्दों में कहा : "नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"[1] यदि वाजपेयी जी "एक आध्यात्मिक पक्ष भी है" लिखते तो उनकी विचार-श्रेणी अधिक स्पष्ट होती। वास्तव में आध्यात्मिक पक्ष तो है, पर केवल प्रतीक-विधान में।

प्रसाद जी ने छायावाद का तत्वान्वेषण इस प्रकार किया है : 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"[2] प्रसाद जी की परिभाषा में ये तत्त्व हैं : (१) प्रतिक्रिया का ऐतिहासिक रूप; (२) वेदना; (३) स्वानुभूति। प्रतिक्रिया के ऐतिहासिक रूप पर पहले विचार किया जा चुका है। 'वेदना' महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसका धरातल मानसिक है। बाह्य परिस्थितियों के परिज्ञान और आन्तरिक जीवन की राग-संकुल स्थिति में जब सामञ्जस्य घटित नहीं होता, तो एक विकर्षण और घुटन की स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें बाह्य परिस्थितियों के विश्लेषण के बौद्धिक व्यापार से विरत होकर कवि अन्तर्व्यापी असन्तोष को अनुभूति का विषय बनाता है। इसी असन्तोष की अन्तर्मुख प्रक्रिया 'वेदना' होती है। अनुभूति के साथ जुड़ा हुआ 'स्व' वैयक्तिकता की ओर संकेत करता है। इस प्रकार छायावाद का अध्यात्म-निरपेक्ष विश्लेषण प्रसाद ने स्पष्ट किया। डा० नगेन्द्र ने अन्त में बड़े बल के साथ छायावाद के साथ मानी जाने वाली अध्यात्म प्रेरणा का आमूल निषेध कर दिया : 'कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।'[3] इसके स्वरूप को नगेन्द्र जी ने यों व्यक्त किया है : 'आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबुद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।"[4] इस परिभाषा के तत्त्व बहुत ही स्पष्ट, वैज्ञानिक और तटस्थ हैं। नगेन्द्र जी ने इस पर विचार करने के लिए, एक शीर्षक-विन्यास दिया है—

१. जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा;

२. व्यक्तिवाद : दो रूप

---

१. आधुनिक साहित्य. पृ० ३१८

२. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध। पृ० १५३

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग २, छायावाद की परिभाषा।

४. वही, पृ० ६५

२. १. विषय पर विषयी की मनसा का आरोप
२. २. समष्टि-निरपेक्ष होकर व्यष्टि में लीन रहना
२. ३. साहित्य-भाव के रूप में परिणति
२. ३१. आनन्दभाव : प्रसाद
२. ३२. अद्वैतवाद : निराला
२. ३३. आत्मरति : पन्त

३. शृङ्गारिकता—
३. १. प्रकृति पर नारी का आरोप
३. २. नारी का अतीन्द्रिय सौन्दर्य
३. ३. शरीर का अमांसल चित्रण
३. ४. शृङ्गार में उपभोग नहीं उस पर विस्मय
३. ५. प्रेम मात्र शरीर की भूख नहीं, एक रहस्यमय चेतना
३. ६. अधिकांश काम-प्रतीकों का प्रयोग

४. प्रकृति पर चेतना का आरोप—
४. १. मानवीकरण : आवश्यकता कुण्ठित वासना
४. २. प्रकृति एक चेतन सत्ता
४. ३. प्रकृति के स्पर्श से मन में छायाचित्र
४. ४. प्रकृति का चित्रण : उपकरण और दृष्टि
४. ४१. जीवन से दूर शान्त स्निग्ध भूमि
४. ४२. प्रतीक के रूप में

५. मूलदर्शन—
५. १. मूल प्रेरणा दार्शनिक नहीं, कुण्ठित वासनात्मक ।
५. २. जड़-चेतन : मानव-चेतना से स्पन्दित ।
५. ३. अन्तरङ्ग में प्रविष्ट बौद्धिक जिज्ञासाएं : प्रकृत, पुरुष सम्बन्धी ।
५. ४. आध्यात्मिक क्षण ।
५. ५. निराशा – स्फूर्त, स्पन्दित ।

६. भ्रान्तियाँ—
६. १. छायावाद और रहस्यवाद को एक समझना ।
६. २. छायावाद को योरोप के रोमैंटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न समझना ।
६. ३. छायावाद को शैली का एक तत्त्व मानना (शुक्ल)

७. निष्कर्ष—
७. १. जीवन के प्रति एक विशेष
७. २. नव जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के मिश्रण में प्रेरणा
७. ३. अन्तर्मुख रूप-विधान

७. ४. अभिव्यक्ति प्रकृति-प्रतीकों के माध्यम से

७. ५. सर्वात्मवाद

७. ६. कुण्ठा से प्रेरित होने के नाते प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं

७. ७. देन : नवीन सौन्दर्य-चेतना, अभिरुचि का परिष्कार, अन्तर्मन-प्रवेश, भाषा-संस्कार और कुछ महान् कृतियाँ—कामायनी जैसा समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, 'नीरजा', 'परिमल', 'अनामिका'। ये ही छायावाद के गौरव स्तम्भ हैं।

७. ८. तुलना—उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

यह नगेन्द्र जी का सूत्र-विधान है। यह एक विशेष बल और मुस्तैदी के साथ रखा गया है—शैली से यह बात स्पष्ट है। छायावाद जब ह्रासोन्मुखी होने लगा तब वह आलोचक तिलमिला सकता था कि छायावाद उसकी आँखों के सामने क्या होने लगा है। इसकी शव-परीक्षा भी बड़ी जल्दी ही आरम्भ हो गई। 'प्रयोग' को छायावाद को दबा कर आना था। प्रगति पहले छायावाद का ध्वंस करना चाहती थी। समस्त छायावादी सृष्टि इतनी जल्दी स्पष्ट रूप से वायवी हो जायगी, यह किस को आशा थी। शव-परीक्षकों ने छायावाद के विरुद्ध ही निर्णय दिए—यह स्वाभाविक भी था। डा० नगेन्द्र ने समस्त वातावरण देख कर एक स्पष्ट और संक्षिप्त मूल्याङ्कन करके, निष्पक्ष-भाव से महान् को महान् और दुर्बल को दुर्बल कहा। यदि आलोचक छायावाद की प्रतिष्ठा की रक्षा का दायित्व समझ कर खड्गहस्त हो जाता, तो पूर्वाग्रही या प्रति-क्रियावादी कहा जाता। अत निष्पक्ष दृष्टि से सार का सूत्राङ्कन कर दिया है जैसे आगे की साहित्य-सृष्टि के साथ युक्त व्यवहार करने को तैयार हो गया है। पर कुछ तत्त्वों पर कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है। इस सूची के कुछ तत्त्वों को लेकर कुछ और विचार किया जा सकता है।

४. कवि का अन्तर्मन—

कवि का अन्तर्मन कुण्ठित है। यह कालिज जाने वाले मध्यवित्तीय नवयुवक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। कालिज में अंग्रेजी साहित्य भी पढ़ाया जाता था और योरोप के उन्मुक्त प्रेम का वातावरण भी छन-छन कर आ रहा था। फ्रांस एक से एक फैशनेबुल जीवन-रूपों की सृष्टि कर रहा था : फ्रांस फैशन और उन्मुक्त प्रेम का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। फ्रायड को भी वहाँ की विचार-धारा, वहाँ के आचार-व्यवहार, कला-साहित्य में अधिक प्रवेश करने का अवसर मिला। यह सब कालिज के विद्यार्थियों को प्रभावित कर रहा था। यहाँ तक कि इस कवि की रहन-सहन और भंगिमा भी उन्हीं तरलताओं से युक्त थीं। वस्तुतः जागरण और कुण्ठा के मिश्रण की उपस्थिति हो गई थी।

छायावादी कवियों में दर्शन का संस्कार भी अवश्य था। प्रसाद जी के शैव शास्त्रों के अध्ययन और निराला जी के दार्शनिक संस्कारों को अस्वीकृत नहीं किया

जा सकता। पंतजी की सौन्दर्य-भावना आरम्भ में दर्शन की छाया से मुक्त रही : यही कारण है कि उनके आरम्भिक स्वरों में एक दार्शनिक जिज्ञासा या प्रौढ़ कौतूहल नहीं है। उनमें बाल-सुलभ विस्मय अधिक है। आगे सम्भवतः उनको कुण्ठा की स्थिति में होकर भी गुज़रना पड़ा और दर्शन की हलकी छाया भी कुछ सघन होती गई। महादेवी को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्राप्त है। वैयक्तिक वेदनानुभूतियाँ उनके सौन्दर्य-बोध के साथ उलझी हुई हैं। किन्तु दार्शनिक पृष्ठभूमि हो चाहे न हो, मानसिक कुण्ठा का तत्त्व सभी आलोचक स्वीकार करते हैं।

कुण्ठा 'प्रकृति' नहीं 'विकृति' है। मानसिक अगति या गतिहीनता के क्षणों का प्रतिनिधित्व कुण्ठा करती है। कुण्ठा वैयक्तिक स्तर पर क्रान्ति को नहीं एक अन्तर्मुख प्रतिक्रिया को जन्म देती है। मन की स्वाभाविक गति कुण्ठा से अभिशप्त होकर जड़ हो जाती है। मार्ग-निश्चय का विवेक भी बहुत कुछ कुण्ठित हो जाता है। फलतः व्यक्ति-सत्य समाज-सापेक्षिता में ग्रहण नहीं किया जाता। जीवन की सापेक्षिता भी छूटने लगती है। इस कुण्ठित मानसिक वातावरण में जीवन की आस्था तिरोहित होने लगती है और मन शङ्काकुल हो जाता है। कवि का अहम् कुण्ठा के कारण इतना क्षीण हो जाता है कि उसकी सम्पूर्ण स्वीकृति कवि नहीं कर पाता। इस वातावरण में जो मानसिक क्रियाएँ होंगी, वे यातो क्षतिपूरक होंगी अथवा आत्म-विस्मृति वाली। आत्म-विस्मृति और उन्माद एक निर्विघ्न और रङ्गीन कल्पना-लोक या स्वप्न-लोक की रचना करता है। जीवन के यथार्थ और भाव-बोध से विच्छिन्न कवि कल्पना-लोक में विराम लेना चाहता है। उसकी दृष्टि काल्पनिक आत्मतुष्टि में उलझ जाती है। काल्पनिक आत्मतुष्टि का वायवी प्रयत्न आत्मानुभूति की ऊँचाइयों से असम्पृक्त होकर आत्मरति में संलग्न होता है। स्वरति मानसिक रोग है। इस समस्त वातावरण में स्वस्थ अहं की स्थापना नहीं हो पाती। जीवन के प्रति या अहं के प्रति छायावादी कवि की कोई विशेष दृष्टि नहीं रहती, एक आवेश रहता है जो काल्पनिक क्षणों को उद्दीप्त करता है और आत्मोन्माद की स्थिति पैदा करता है। यदि इस आवेश या आवेग को एक व्यापक जीवन-दृष्टि मिल जाय तो विघटित जीवन-मूल्य फिर से संघटित हो सकते हैं। पर कुण्ठा व्यापक-दृष्टि को अवरुद्ध कर देती है। व्यापक दृष्टि जीवन के विवेक और उसकी समग्रता से प्राप्त होती है। संक्षेप में यही छायावादी कवि का विडम्बनापूर्ण अन्तर्लोक है।

५. पलायन—

कुण्ठा यदि मानसिक जीवन की अगति है, तो पलायन बाह्य जीवन की। पलायन एक प्रकार से अगति नहीं, विपरीत गति का ही नाम है। पलायन की प्रवृत्ति का नियंत्रण विवेक और अहं की मर्यादा-स्वीकृति से होता है। इन दोनों ही का अभाव होने पर पलायन की गति को तीव्र बना देता है। इस काल के कवि का भाव-बोध सामूहिक अवचेतन के तत्त्वों या विचित्र प्रकार की वर्जनाओं से पीड़ित था। समस्त बाह्य जगत् कुण्ठित कवियों को वर्जनाओं का ही पुञ्जीभूत रूप प्रतीत होता था।

वर्जन आन्तरिक वृत्तियों की बहिर्गति पर एक दबाव बन जाता है। अहं की शक्ति के अभाव में किसी प्रेम के प्रति आस्था नहीं जमती। अपनी अनास्था को भी कवि खुलकर नहीं कह सकता क्यों कि निर्बल अहं के कारण उसमें आत्मविश्वास जागृत नहीं हो पाता। आत्मानुभूति इन वर्जनों से आकुल-व्याकुल होकर पलायन शील हो जाती है।

पलायन की भी एक दिशा होती है। पलायन स्वयं किसी मूल्य की स्थापना नहीं कर सकता। पर सामने एक निरपेक्ष कल्पना-लोक अवश्य रखता है। यहीं पर असीम-ससीम जैसी शब्दावली पर आधारित एक दार्शनिक संस्पर्श मिलता है। 'इस पार' से 'उस पार' की यात्रा का नाम 'पलायन' को दिया जाता है। इस प्रकार पलायन का नामकरण अन्तर्यात्रा या रहस्ययात्रा के रूप में होता है। यही पलायन का तथाकथित उदात्तीकरण है। स्पष्ट बात यह है कि इस वर्जन के वातावरण ने जिस राग-प्रक्रिया को रोक दिया था, वह विमुख हो गई है। वर्जन की व्यञ्जना बच्चन ने स्पष्ट रूप से की है—

'पाप मेरे वास्ते है, नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना'

'पाप' की धारणा भी वर्जन का ही एक धर्म-स्वीकृत रूप है। नवीन विवेक पाप की इन रूढ़ परिभाषाओं से मुक्त होने की चेष्टा कर रहा है, पर छायावादी कवि यह नहीं कर पाया। कवि की स्पष्टोक्तियाँ पाप में निहित वर्जनाओं की दृष्टि से नग्न वासना के उद्‌गार बन जाते हैं। बच्चन ने स्पष्ट कहा—

मैं छिपाना जानता तो, जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है, छल रहित व्यवहार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।

पाप की परिभाषा की परम्परा अनेक रूढ़ियों और वर्ग-चेतना की विकृतियों से समाविष्ट रहती है। उद्‌बुद्ध चेतना इनसे बाध्य नहीं होती। पर जब अहं अबल होता है तो इनसे जूझ नहीं सकता। अनुभूति की प्रकृति और अभिव्यक्ति में छल-छद्म आ जाता है। न जाने कितने अपरिहार्य आग्रह उस कवि को पलायन करने की प्रेरणा देते हैं। कवि अन्ततः कह उठता है—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

डा० नगेन्द्र ने इस प्रवृत्ति-प्रक्रिया को पलायन कहना उचित नहीं समझा। उन्होंने इसके सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं : "आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में

पलायन का रूप नहीं है । वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल-वृत्ति है । उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है ।" पर प्रतीत ऐसा होता है कि वास्तव का परिज्ञान इस कवि को न व्यापक था और न अपने प्रकृत रूप में ही था । परिज्ञान अपनी कुण्ठाओं के सन्दर्भ में इसने एकाङ्गी बना दिया है । इस परिज्ञान के पीछे जीवन के प्रति आस्था और स्वस्थ अहं की प्रतिष्ठा का अभाव है । वास्तव को अतीन्द्रिय बनाने की प्रक्रिया भी कुछ बहुत स्पष्ट नहीं है । वास्तव की तो यह कवि उपेक्षा करता है । उपेक्षा की दृष्टि रखने वाला वस्तुगत यथार्थ का समग्र दर्शन नहीं कर सकता । इस उपेक्षा-भाव के कारण वह वास्तव का रूपान्तरण नहीं करता । वह एक अन्वेषण करना चाहता है । अन्वेषण एक बौद्धिक प्रक्रिया है । अतः अपनी ही कुण्ठाओं से आक्रान्त कवि नवान्वेषण के प्रति भी ईमानदार नहीं रह पाता । अपनी पराजयों और विकासहीन अहं की कटुताओं को वह छद्मावरण देने की प्रक्रिया में पहले प्रवृत्त होता है । तत्पश्चात् उस छद्मावरण की कल्पित स्वर्ण-सज्जा की जाती है । और एक कल्पना-लोक की सृष्टि हो जाती है । दर्शन और अध्यात्म के आभास कृत्रिम किरणों का छविजाल बनाने में समर्थ होते हैं । यह सब पलायन की प्रवृत्ति ही है । यह पलायन उसे स्वर्ण अतीत की ओर भी ले जा सकता था और आशापूर्ण भविष्य की ओर भी । स्वर्ण-अतीत भी वर्तमान कुण्ठाओं के सन्दर्भ में वर्जनों की परम्परा में एक कड़ी जैसी ही लगती है । वर्तमान वस्तु जगत् के स्थूल असन्तोष के लिए स्वर्ण अतीत पलायन लोक बन सकता है । पर सामाजिक वर्जनों और पाप की धर्म-रूढ़ परिभाषाओं से कुण्ठित मन अतीत को भी पलायन लोक नहीं बना सकता । राष्ट्रीयतावादी कवि स्वर्ण अतीत से जागरण और प्रेरणा के कुछ क्षण उधार ले सकते थे । छायावादी कवि का असन्तोष और कुण्ठा अचेतन के स्तरों से छन रही थी । अतीत की पुनर्योजना के आधार पर बना पलायन लोक चेतन और बौद्धिक क्रियाओं की अपेक्षा करता है ।

भविष्य को भी पलायन-लोक बनाना कठिन था । भविष्य के साथ आशामय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना भी कुण्ठा की मनोवृत्ति में सम्भव नहीं । जैसा कि पहले देखा जा चुका है, कुण्ठा अगति का प्रतीक है और भविष्य की परिकल्पना एक स्वस्थ मानसिक गति, जीवन के प्रति आस्था, जूझने के साहस और व्यक्तित्व के विश्वास पर निर्भर रहती है । वर्तमान के यथार्थ और भावबोध का बौद्धिक जागरूकता के साथ समग्र परिशीलन और वर्जनों से प्राप्त पुंस्त्व ही भविष्य के प्रति आशावान बना सकता है । पर यह स्थिति छायावादी की नहीं है । वर्तमान के स्थूल यथार्थ से वह विमुख है । अतः स्वर कुछ इस प्रकार का होगा : 'दृग देख जहाँ तक पाते हैं, तम का सागर लहराता है ।'

स्वर्ण अतीत और आशापूर्ण भविष्य के पलायन-लोक इस कवि की सामर्थ्य में नहीं रहे । एक स्वप्न लोक रह गया । इसमें दिवास्वप्नों का आलोक है ।

दिवास्वप्नों की गति वैसे भविष्योन्मुख होने को मचलती है, पर ठोस आधार के अभाव में उसकी गति वृत्ताकार हो जाती है : आदि-अन्त हीन। गति प्रगति नहीं बन पाती। स्वप्न वर्जनों से उत्पन्न कुण्ठाओं और दमित वासनाओं का रङ्गीन प्रतीक विधान है। इसमें स्वप्नों के आश्रय का कर्तृत्व नहीं रहता : एक मनोवैज्ञानिक विवशता रहती है। उसे स्वप्न देखने ही पड़ते हैं। यह कलाकार की अभिव्यक्ति सम्बन्धी वह विवशता नहीं जो अपनी बौद्धिक प्रक्रिया में या अनुभूतियों के वेग में उच्च कला-सृष्टि का कारण बनती है। यह कुण्ठित मन की आत्मतुष्टिपरक विवशता है, जिसमें रङ्गीनी तो पर्याप्त है पर जीवन्त क्षणों की सद्यता और उद्‌बुद्धि जन्य स्वस्थ परिणति का अभाव रहता है : अतः पलायन लोक जग के उस पार कहीं बनता है। उसका रूप आत्मतुष्टि परक है—

हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव-रस धार,
वहीं जाना, इस जग के पार। —निराला

स्वप्न लोक की तुष्टिकारी प्रेयसी का वायवी और अमांसल रूप इस प्रकार का होगा—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम
अये अभिनव अभिराम!
मृदुलता ही है बस आकार
मधुरिमा—छबि शृङ्गार;
न अङ्गों में है रङ्ग, उभार,
न मृदु उर के उद्‌गार;
निरे साँसों के पिंजर द्वार,
कौन हो तुम अकलङ्क अकाम! —पन्त

रविबाबू की 'निरुद्देश्य यात्रा' में इसी पलायन-यात्रा की गूँज है। निराला जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

क्या वही तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार?

इन्हीं संकेतों में अध्यात्म का एक रङ्ग ऊपर से देखने को मिलता है। पर थोड़ी ही देर बाद रङ्ग तिरोहित हो जाता है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने पलायन की स्पष्ट स्थिति छायावाद में देखी है : "...छायावाद संकेतों की भाषा है और उसकी प्रमुख प्रवृत्ति पलायन की भावना है।"

६. सौन्दर्य-भावना—

छायावादी कवि का सौन्दर्य-बोध भी एकाङ्गी है। इसके कारण हैं उसकी

सौन्दर्य-भावना का यथार्थ से विच्छिन्न होना और सौन्दर्य की जीवन-सापेक्षिता का अभाव। सौन्दर्य-बोध के साथ एक रहस्य का झीना पर्दा अवश्य पड़ा मिलता है : उसमें जग-जीवन से पृथक् किसी दिव्यज्योति का आभास कभी-कभी छायावादी कवि पा लेता है। पर वस्तुत: वह पा नहीं लेता। सौन्दर्य के इस रहस्यांचल की छाया में उसकी मूल अनुभूतियाँ और प्रेरणाएँ नहीं पनपतीं। यह तो एक आरोपित या कल्पित सौन्दर्य-बोध है। एक कुशल आरोपण देखिए—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन। —पन्त

सौन्दर्य के साथ यह आरोपित परिवेश अपने आप में महत्त्वपूर्ण अवश्य है, पर सौन्दर्य के परिवेश के समग्र रूप का अभाव मिलता है। डा० नगेन्द्र ने सत्य ही कहा : "छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है।" जिज्ञासा या विस्मय भी प्रौढ़ नहीं जिसमें कवि की भावात्मक सत्ता को सक्रिय बनाने की शक्ति हो। सौन्दर्य के साथ उपभोग की भावना रागात्मक सम्बन्ध को भी दृढ़ करती है। विस्मय या जिज्ञासा में खोज या जानने की प्रेरणा निहित रहती है। पर छायावादी कवि जानने की बौद्धिक प्रक्रिया से भी दूर है। इस प्रकार इस सौन्दर्य बोध का आरोपण विस्मय की रङ्गीन उडानों तक ही सीमित रह जाता है। सौन्दर्य-की आत्म-झंकृति या सौन्दर्य के प्रति आत्मानुभूति इसमें दब जाती हैं। वस्तुत: विस्मय ही अन्तिम सत्य नहीं है। विस्मय की भावना सौन्दर्य के चमत्कार से उत्पन्न होती है। विस्मय उसे रहस्यवाद के आरम्भिक छोर तक ले जाकर छोड़ देता है। अत: सौन्दर्य की रहस्यानुभूति भी उसकी अनुभूतियों का एकान्त सत्य नहीं बन पाती। इसी स्थल पर दिवास्वप्नों की एक भीड़ आ खड़ी होती है जो विस्मयकारी सौन्दर्य से अपने खाली प्याले भर कर तृप्त होना चाहती है। 'इसपार' के यथार्थ का सम्बल भी छूट जाता है और 'उसपार' की दृष्टि भी नहीं मिल पाती। उसकी रहस्य दृष्टि शेली, कीट्स या वर्ड्सवर्थ के स्तर की भी नहीं हो पाती। सारा विस्मय शिशु-सुलभ है।

छायावादी कवि सौन्दर्य के समग्र रूप को अपने अन्तर्लोक में नहीं समेट पाता। उसकी विकल अहं-भावना उसके सौन्दर्य-बोध को सीमित कर देती है। उसका विस्मय भाव बहुत देर तक अमायिक नहीं रह पाता। उसकी अन्तर्वेदना विस्मय को घेर लेती है और इस संत्रस्त मन: स्थिति में पीड़ा समस्त चेतना को अभिभूत करने लगती है। अत: सौन्दर्य की समस्त स्थिति आँसुओं से भीग जाती है—

वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड में
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,

तारकों में, व्योम में है वेदना
वेदना ! कितना विशद यह रूप है,
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा ! —पंत: ग्रन्थि

बच्चन के स्वरों में सौन्दर्य के साक्षात्कार की कुछ विशेष चेष्टा दिखलाई पड़ती है, पर पीड़ानुभव की छाया पीछा नहीं छोड़ती। सौन्दर्य भी छायावादी कवि को जैसे आन्तरिक कुण्ठाओं के समावेश में पीड़ा ही देता है। ऐसा सौन्दर्य-बोध जीवन की गति उतनी नहीं देता, जितनी पलायन की प्रेरणा। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के साथ पीड़ा गाढ़ी होती जाती है। वायवी सौन्दर्य-कल्पना के पङ्खों पर पीड़ा के पत्थर लटक जाते हैं।

सौन्दर्य-बोध का एक कामाश्रित स्तर प्रकृति पर नारी के आरोपण से प्रकट होता है। कुण्ठाओं का केन्द्र काम है। सुधार-युग की जीवन-निरपेक्ष नैतिकता और रूढ़ जीवनादर्शों से काम-केन्द्र उद्वेलित हो जाता है। सौन्दर्य के बाहरी केन्द्र आकर्षित करके परे हटते से चले जाते हैं और मन इन्हें पकड़ने की मृग-मरीचिका-पद्धति की क्रियाओं में लग जाता है और चतुर्दिक तृष्णा और अतृप्ति! बाह्य सौन्दर्य केन्द्रों में नारी प्रमुख है। प्राकृतिक सौन्दर्य भी अधिकांश नारी के प्रस्तुत सन्दर्भ के साथ अपना अप्रस्तुत सौन्दर्य मिला देता है। 'नारी' के सौन्दर्य के प्रतीक बहुविध विकसित हुए हैं। आरम्भ में आध्यात्मिक प्रतीक नारी के सौन्दर्य को एक विराटता देने लगे थे। पीछे प्रकृति पर नारी का आरोप कर दिया गया। प्रकृति पर आरोपित नारी अपने यथार्थ परिवेश से विच्छिन्न हो गई। उसका आङ्गिक सौन्दर्य छूटा नहीं। नारी के सौन्दर्य चित्रों में मांसलता भी पर्याप्त मिलती है। गुञ्जन में अशेष मिलन का कैसा तरल चित्र मिलता है—

नयन से नयन, गात से गात
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण
भुजों से भुज कटि से कटि सात
आज तन-तन मन-मन हों लीन।

इस चित्र में सौन्दर्य-जन्य तृष्णा और उसकी आत्मतुष्टि का स्वर मुखर है। 'निराला' का भी एक मांसल सौन्दर्य-युक्त मिलन-चित्र देखिए—

नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली।
जागी रात सेज प्रिय पति सँग रति सनेह रँग घोली॥
दीपित दीप प्रकाश कंज छबि मंजु-मंजु हंस खोली।
मली मुख चुम्बन रोली।
प्रिय कर कठिन-उरोज परस कस कसक मसक दई चोली।
एक वसन रह गई मंद हँस अधर दसन अन बोली।
कली सी काँटे की तोली।
मधु ऋतु रात मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खोली।

खुले अलक, मुँद गये पलक, दल श्रम सुख की हद होली।
बनी रति की छबि भोली।
बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोली।
उठी सँभाल, बाल, मुख, लट, पट, दीप बुझा हँस बोली।
रही यह एक ठिठोली।

सुनते हैं 'रही यह एक ठिठोली' में कुछ ऐसा संकेत है जिसके स्पर्श से गीत की समस्त मांसलता घुल-पिघल जाती है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में यह संकेत स्वप्न की ओर है। जैसे सारी मिलन-क्रियाएँ किसी स्वप्न में घटी हों क्योंकि जागरण ने इन क्षणों को अपने में सजाने से इनकार कर दिया था। किसी आध्यात्मिक संकेत का आरोपण भ्रम ही है। यदि कोई यह भ्रम रखे तो कवि की ईमानदारी की अवहेलना ही करेगा। नरेन्द्र ने चित्र की रेखाओं को और भी स्वप्नाकुल बना दिया है। जैसे भूख बढ़ गई हो, जो तृप्ति की सम्भावना को मदिरा समझ कर पिए जा रही हो और तृप्ति दूर हो, नरेन्द्र की वासना का उभार देखिए—

पियें अमी मधुराधर चुम्बन, गात गात गूँथें आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर, मृदुल उरोजों का मृदु कंपन।
आज लजाओ मत सुकुमारि, आज सुप्त है संसृति सारी।
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय, निज वक्षस्थल में भर लूँगी।
मृदुल गोल गोरी बाँहों में, कम्पित उर को कस लूँगी।
फूलों के तन में भर लूँगी, अलि से रैन विदारे बालम।
आज न सोने दूँगी बालम।

'सुप्त संसृति' में कवि का आनन्द्वित चेतन बोल रहा है। इस प्रकार के अनेक चित्र छायावादी चित्रशाला में मिलेंगे। सभी में काम-ग्रन्थि की उलझनों और कुण्ठा की कटुता का मिश्रण हुआ है। मृग-मरीचिका न्याय वाली तृप्ति, प्यास ही बनती जाती है। इनमें मांसलता और स्थूलता का अभाव नहीं है। जो यह कहते हैं कि छायावाद में अमांसल, सूक्ष्म और आत्मगत सौन्दर्य है, उनको अपने मत को इन चित्रों के साथ रख कर फिर से देखना चाहिए। कभी-कभी इन वासना-सिक्त चित्रों के लिए फलक प्रकृति से उधार लिया गया है। 'जुही की कली में फलक अत्यन्त मनोरम और संकेत-पूर्ण है। प्राकृतिक घटना को फलक का रूप दिया गया है। शब्द अपनी वासना में डुबोकर जड़ दिए गए हैं। इससे वासना केन्द्र पर बना घटना-सूत्र कुछ विराट् हो जाता है। धीरे-धीरे फलक और चित्र एक दूसरे में घुलते-मिलते जाते हैं—

सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली।
मसल दिए गोरे कपोल गाल
चौंक पड़ी दुलहिन।

एक और आरोपण देखिए—

पहचाना अब पहँचाना
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम

चूम रहे थे झूम-झूम ऊषा के स्वर्ण कपोल,
अठ खेलियाँ तुम्हारी प्यारी-प्यारी
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल। —'परिमल'

यहीं कहीं बुद्-बुद् सा आध्यात्मिक सकेत आ उभरता है। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध एक सीमा में ही उठता-गिरता है। रीतिकालीन शृङ्गार-चित्रों के नख-शिख विधान उभार और क्षीणता में मिलते हुए अनुपात के सामञ्जस्य के आकर्षण से पूर्ण हैं। वे चित्र अङ्गों के छायावादी विशेषणों में ढल गए हैं और चित्र में वासना की मानसिक चञ्चलताएँ व्यक्त होती हैं। ये चञ्चलताएँ स्वप्न के समान आकुल और अनिश्चित हैं। जीवन के जाग्रत धरातल के साथ इनका समञ्जस्य नहीं है। शिल्प का सौन्दर्य भी स्वप्न की तरलता के कारण और लुके-छिपे अर्थ वाले शब्दों के विधान के कारण है।

इन चित्रों से कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति और नारी के सौन्दर्य की मिश्रित सरणि आध्यात्मिक होने जा रही है और कभी लगता है कि प्रकृति एक फल मात्र है। प्रकृति को कवि ने सजीव स्पन्दनों से अवश्य युक्त किया है। उसमें चेतना का आरोप है। वह जहाँ कवि की चेतना को कुछ सौन्दर्य-संकेत देती है, वह कवि की चेतना भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति से सम्पृक्त होती है। यह सम्पृक्त चित्र ही कवि की कल्पना की ऊँचाइयों का प्रमाण है—

तड़ित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान।
प्रभा से पलक मार, उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण,
खोजते हैं तब तुम्हें निदान। —पंत

ये ही छायावादी सौन्दर्य बोध के कुछ स्तर हैं। इन्हीं में छायावादी कवि की सफलताएँ और विफलताएँ व्याप्त हैं।

७. अभिव्यक्ति पक्ष—

अभिव्यक्ति-साधना का रूप विषय और वस्तु के अनुसार ही बनता है। व्यक्ति-वादी अनुभूतियाँ स्वभावतः मुक्तकों या गीतों में प्रकट होती हैं। अभिव्यक्ति के प्रबन्ध-रूप पर इतनी शास्त्रीय रूढ़ियाँ और इतने अनुशासन लदे रहते हैं, जितने विषय-विधात पर। इन शास्त्रीय 'अनुशासनों के कारण अनुभूति के अनुकूल अभिव्यक्ति-विधान न बन कर शास्त्रानुकूल बनने लगता है। अपनी उद्दाम वासना की कुण्ठा से पीड़ित अन्तर्मन अभिव्यक्ति में मुक्ति का अनुभव करता है। जिन नैतिक रूढ़ियों के कारण वैयक्तिक वासना सीमित रहती है, उन्हीं के कारण अभिव्यक्ति का रूप भी घटित होता है। समाज के मान-मूल्यों और आदर्शों की अनुकूलता में अभिव्यक्ति स्पष्ट और मुखर हो सकती है। उसमें अभिव्यक्ति के स्थूल उपकरणों का प्रयोग रहता है। स्थूल

उपकरणों के प्रयोग में चमत्कार उत्पन्न करना भी एक विशिष्ट शैली में होता है। पर कुण्ठा-ग्रस्त, आतङ्कित और क्षुब्ध मन की इतनी आन्तरिक जटिलताएँ होती हैं और इतने स्वतंत्र और समाज की अवहेलना करने वाले सूत्र होते हैं कि अभिव्यक्ति भी सरल-सीधी न होकर अन्तर्मुख और सूक्ष्म उपकरणों पर आधारित हो जाती है। इस अभिव्यक्ति का ऐन्द्रिय परिज्ञान इतने संकेतों से आकुल होता है कि अन्ततः शब्दार्थ-स्तर छूट जाता है और संकेत व्यंग्यार्थ और लक्षणार्थ की कोटियों तक ले जाने की चेष्टा करते हैं। 'शब्द' अपनी व्यावहारिक सत्ता को छोड़ कर किसी वायवी या अन्तर्भुक्त सत्ता का वहन करने वाले प्रतीक बनने लगते हैं। शब्द जब प्रतीक बनने लगता है, तब अन्तश्चेतन के संकेत कभी स्पष्ट रहते हैं और कभी अस्पष्ट। अस्पष्ट संकेतों के माध्यम से जिज्ञासा या कुतूहल के भावों में गति आती है। प्रतीकों की सज्जा-सामग्री के दो प्रधान स्रोत हैं। एक स्रोत प्रकृति का है और दूसरा अध्यात्म का। अध्यात्म और बाह्य प्रकृति के बीच कवि की अन्तः प्रकृति की अवस्थिति है। इसी प्रकृति का उत्तेजित रूप कभी प्रथम स्रोत के प्रतीकों की योजना से ऐन्द्रिय जगत् की निष्ठुरता से अन्तर्मुख पलायन के स्वरों को मुखर करता है। इन प्रतीकों से संकुचित और कुण्ठित अहं का कुछ कल्पनात्मक और भावात्मक विस्तार हो जाता है। यह विस्तार उद्वेलित व्यक्तित्व के लिए एक उन्माद बन जाता है। आध्यात्मिक प्रतीक ऐसा प्रवञ्चना का जाल भी बुनते हैं, जिसमें समाज की वर्जन-क्रिया उलझ कर रह जाती है। इन आध्यात्मिक प्रतीकों का शुद्ध रूप दार्शनिक रूढ़ सिद्धान्तों को व्यक्त करता है। इन रूढ़ प्रतीकों की योजना के अनुकूल नहीं होती। इसलिए कवि अपने निजी भावों को उन काव्य-रहित प्रतीकों से बचा कर एक नवीन प्रतीक योजना करता है। शुद्ध आध्यात्मिक प्रतीक प्रस्तुत या अलङ्कार्य से सम्बद्ध होते हैं। काव्योचित भावनाओं की प्रक्रिया लौकिक प्रतीकों को आध्यात्मिक व्यंजना देने की होती है। यदि इस प्रकार की प्रतीक-योजना क्रमिक और सघन हो जाती है तो रहस्यवाद की अभिव्यक्ति होती है। छायावाद में अध्यात्म के धरातल पर अपनी ही छाया देखने का प्रयत्न है।

दूसरी ओर प्राकृतिक प्रतीक हैं। अदृश्य आध्यात्मिक प्रतीक यहाँ दृश्य हो जाते हैं। प्रकृति मनुष्य की अलङ्करण-वृत्ति को भी सदैव से सन्तुष्ट करती रही है और उसकी प्रतीक-प्रयोग की प्रवृत्ति को भी। प्राकृतिक प्रतीकों की एक भौंड़ी और स्थूल योजना उपदेशात्मक हो जाती है। नैतिकता से यह प्रतीक-विधान दब जाता है। पर जब कवि अपने राग से प्रकृति को उद्रिक्त करके सजीव बना देता है तो वह अपनी ही छाया, प्रतिच्छाया का सौन्दर्य प्रकृति के उपकरणों में देख सकता है। प्राकृतिक प्रतीक कवि की अन्तर्व्यथा को सहानुभूति के साथ बाहर निकालते हैं। उस व्यथा से सम्बद्ध अर्थ का क्रमशः उद्‌घाटन होता है। यदि समस्त अर्थ एक साथ खुल पड़े तो सामाजिक प्रतिक्रिया स्वच्छन्द अभिव्यक्त को ललकार देगी। क्रमशः अर्थोद्‌घाटन समाज को धीरे-धीरे अभिव्यक्त सत्य के प्रति सहिष्णु बनाता चलता है। यहीं अभिरुचि का प्रश्न उपस्थित होता है। अभिरुचि मानव की संस्कृति के साथ चिर विकास शील तत्त्व

के रूप में सम्बद्ध रहती है। इस अभिरुचि को स्थिर नहीं किया जा सकता है। स्थिर अभिरुचि आन्तरिक ह्रास का प्रतीक है। समाज में धीरे-धीरे एक अभिरुचि विकसित करना अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा दायित्व है। प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग करके छायावादी कवि ने एक रुचि का भी निर्माण किया। यदि इन प्रतीकों के आवरण को दूर फेंक कर छायावादी अर्द्ध-सत्य या अपूर्ण अनुभूतियाँ नग्न कर दी जाँय तो इस युग की उद्बुद् और जाग्रत अभिरुचि विद्रोह कर उठेगी। इस प्रकार छायावादी कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों का संग्रह, शृङ्गार और उपयोग बड़े कौशल से किया है।

काव्य रूप की दृष्टि से गीत के विभिन्न प्रयोग छायावादी काव्य-लोक में मिलते हैं। गीत सम्भवत: मानव-प्रकृति के सबसे अधिक समीप है। मानव जीवन का नैसर्गिक अनुभूति-विकास का इस विधा के साथ सदा ही सामञ्जस्य रहा है। इसमें कवि तटस्थ द्रष्टा न रह कर विधा के साथ घुल मिल जाता है। छायावादी कवि के अन्तर्गत सङ्गीत की जर्जरावस्था ने बाह्य गीतों की योजना में शान्ति का अनुभव किया है। गीत का इतना वैभव पूर्व-युगों में नहीं मिलता। 'कामायनी' जैसे इस युग का वृहत्तम-गीत बन गया। यह भी गीत के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। शास्त्रीय अनुज्ञाओं की उपेक्षा का भाव कामायनीकार में इतना नहीं, जितना मानव के भावात्मक विकास को और उसकी अनुभूति-गत सरणियों को गीत-बद्ध करने का उद्देश्य। स्थूल इतिवृत्त क्षीण से क्षीणतर होता जाता है कि कहीं गीत में अस्थि-स्पर्श की कठोरता ही न फैल जाय। वह इतिवृत्त तरल होता-होता भाव-बिन्दु में सिमट जाता है और गीत-बिन्दु विकसित होकर महाकाव्य से होड़ लेने लगता है। निराला का तुलसीदास' भी ऐसा ही एक गीत-प्रयोग है। वातावरण और भावभूमि गीत के समान ही है। हो सकता है कि इन रचनाओं को गीत कहने से इन्हें महाकाव्य का गौरव प्रदान करने वाली प्रवृत्ति को ठेस लगे। पर मैं समझता हूँ कि यह छायावादी गीत-साधना का चरम विकास है जो उसका बहुत बड़ा देय माना जा सकता है।

अलङ्कार विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उपमान और उपमेय एक स्वत: सम्भूत रागात्मक सम्बन्ध में बँधे हुए मिलते हैं। उपमेय पर कवि अधिक ठहर नहीं सकता। यदि उपमेय पर वह अधिक ठहर जाता है तो विशेषण-बहुल शैली का जन्म होता है। यदि उपमेय के सकेत को उपमान की स्फीति से कवि प्रेषित करता है तो, अलङ्कार सच्चे अर्थ में सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है। छायावादी कवि उपमेय को छोड़ कर उपमान के चित्रात्मक या प्रतीकात्मक नियोजन में लग जाता है। वह समस्त चित्र आरोह करता-करता अन्त में एक सशक्त संकेत बन जाता है और उपमेय इसके समग्र रूप से झलकने लगता है। उपमान की सज्जा उपमेय की सज्जा बनने लगती है। उपमान की योजना इस प्रकार की जाती है कि उपमेय की पूर्ण व्यंञ्जना के लिए एक पृष्ठभूमि बन जाय। इसीलिए छायावादी कवि को ऐसा अलङ्कार-विधान प्रिय है, जिसमें उपमान ही प्रकट हो और उपमेय लुप्त—वह रूपक से नहीं,

रूपकातिशयोक्ति से उसे प्यार है। उपमेय को इतना प्रच्छन्न रखना भी कुण्ठा और वर्जन का ही परिणाम है। दूसरी पद्धति विरोधाभास-मूलक अलङ्कारों का प्रयोग करने की है। कवि के मन का विरोधाभास इस अलङ्कार योजना से अधिक सूचित होता है। महादेवी की पंक्तियों में यह अधिक खिला है—

स्पन्दन में चिर निस्पन्दन बसा।
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा।
नयनों में दीपक से जलते।
पलकों में निर्झरिणी मचली।

एक और अलङ्कार सम्बन्धी प्रयोग छायावाद में मिलता है। उसका आधार मालोपमा जैसा लगता है। पंतजी की 'बादल' और 'छाया' कविताओं में इस विधान को देखा जा सकता है। अलङ्कारों की एक शृङ्खला इस प्रकार बनाई गई है कि 'खंड' अखंड होने की ओर चलते हुए प्रतीत होते हैं। उपमेय के प्रति कवि की भावात्मक प्रतिक्रिया एक के बाद एक रूप ग्रहण करती है। कवि की कल्पना भी गतिशील रहती है और चित्र का भी क्रमशः अङ्ग-विकास होता है। कवि का चेतनारोपण व्यापार भी क्रमशः चलता है। अन्त में चित्र और अलंकार पूर्ण हो जाते हैं, भाव की दृष्टि से भी और रूप की दृष्टि से भी। 'कौन-कौन तुम परहित वसना' से आरम्भ करके कवि अलङ्कार शृङ्खला को इस स्थिति तक ले पहुँचा है—

हाँ सखि आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ालें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जायें द्रुत अन्तर्धान।

अलङ्कार-योजना के एक चर्चा स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमान जुटाने के सम्बन्ध में भी की जाती है। वह कोई विशेष नई बात नहीं है।

भाषा के परिष्कार की साधना छायावाद को करनी पड़ी। खड़ी बोली साहित्य के क्षेत्र में मान्य तो हो गई थी, पर इसका अपना सौन्दर्य और मूल्य नहीं निखरा था। भाषा के सौन्दर्य की अपेक्षा हमारा ध्यान उसमें संग्रथित राष्ट्रीयता और सन्देश की महानता से अभिभूत हो जाता था। अर्थात् अर्थ का सौन्दर्य प्रमुख हो गया था और शब्दार्थ के साहित्य से जो कलात्मक सौन्दर्य विकसित होता है उसका प्रायः अभाव ही बना रहा। छायावादी कविता ने भाषा का अन्तर्बाह्य संस्कार और अलङ्करण किया। शब्द की आत्मा का अन्वेषण किया गया। निराला ने खड़ी बोली के नाद-सौन्दर्य को खोजा। पन्त ने भाषा की चित्रात्मकता को उभारा। महादेवी ने वेदना में गलाकर शब्द को मृदुल बनाया। प्रसाद ने भाषा को प्रतीक-प्रगल्भ बनाया। खड़ी बोली की अधिकांश शक्तियों की खोज इस युग के कवि ने करली थी।

कुल मिला कर छायावादी कवि की शिल्प सम्बन्धी देन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

८ मूल्याङ्कन-

छायावाद की अपनी दुर्बलताएँ भी हैं और अपनी शक्तियाँ भी। ऐतिहासिक रूप से एक नवीन सौन्दर्य-बोध की हिन्दी में प्रतिष्ठा की। चाहे यह सौन्दर्य-बोध जीवन की सापेक्षिता में कुछ नीचा ठहरे, पर नवीन दिशा का उद्घाटन अवश्य है। सर्वप्रथम अभिरुचि का परिष्कार इस युग के कवि ने आरम्भ किया। भाव-बोध के नवीन स्तरों की खोज भी इस कवि ने की। भाव-बोध को कठोर यथार्थ से विच्छिन्न करके छायावादी कवि ने एक साहित्यक अपराध अवश्य किया। पर अपनी कुण्ठाओं और जर्जर व्यक्तित्व के प्रति वह ईमानदार जरूर है। मनतः वह रुग्ण तो है, पर रोग के कारण रूढ़िग्रस्त समाज में निहित है। इसीलिए रोग उदात्त हो जाता है। शिल्प और शैली सम्बन्धी देनें तो सर्वस्वीकृत हैं। जो उपेक्षित रहा उसने 'प्रगति' के रूप में प्रतिक्रिया की। जो अछूता रहा उसके सम्बन्ध में 'प्रयोग' होने लगे। छायावाद के ऊपर अनेक आरोप भी लगाये गये। अपनी ही दुर्बलताओं के कारण छायावादी कवि इस कल्पना-लोक को छोड़ गया। 'पल्लव', 'युगान्त' बना; 'जुही की कली', 'कुकर-मुत्ता' के रूप में नवीन सौन्दर्यबोध की सूचना देने लगी। सभी प्रगति की ओर लौटे। यह जीवन के यथार्थ की विजय थी। यह बहिर्जगत् की अनिवार्यता थी। यह सामाजिक परिप्रेक्ष्य के प्रति बौद्धिक आकर्षण था। बदला हुआ कवि कभी गांधी का स्पर्श करने लगा, कभी मार्क्स का; कभी विवेकानन्द की ओर देखने लगा, कभी अरविंद की ओर। कभी नवीन यथार्थ को आत्मसात् करने लगा, कभी आर्थिक समस्याओं में उलझने लगा। छायावादी केन्द्र इस तरह विच्छिन्न हो गया। पर छायावाद एक 'ताजमहल' जैसे अमर स्मारक के रूप में जीवित है : कुण्ठा के साहित्य का इतना गौरवमय स्मारक अन्यत्र दुर्लभ है।

२४

यथार्थवाद और आदर्शवाद

१. अर्थ और व्याख्या
२. यथार्थवाद : साम्यवादी रूप
३. यथार्थवादी की दृष्टि में कला का उद्देश्य
४. यथार्थवादी कलाकारों का निषेधात्मक रूप
५. मनोविज्ञान और यथार्थवाद
६. आदर्शवाद
७. आदर्शवाद और यथार्थवाद : सन्तुलन
८. उपसंहार

प्रस्तावना—

मानव-समाज में ये दोनों दृष्टियाँ आरम्भ से चली आ रही हैं। कभी इनमें अपनी-अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष भी हुआ है और कभी दृष्टिकोण की पूर्णता के लिए दोनों का समन्वय भी। आत्मवादी देवों और भूतवादी असुरों के संघर्ष की कथा संसार के सभी पौराणिक आख्यानों में मिलती है। आज भी इन दोनों का तीव्र संघर्ष जीवन और साहित्य में मिल रहा है। कुछ प्रेमचन्द जैसी प्रतिभाएँ दोनों को स्वीकार करके चलती हैं। यदि आज के राजनैतिक दलों की दृष्टि से देखा जाय तो पूँजीवादी शोक-केन्द्र आदर्शवादी और साम्यवादी शोक-केन्द्र यथार्थवादी माने जायँगे। साहित्य भी व्यक्तिवादी और समाजवादी दर्शन से बच कर नहीं चल सकता। अतः साहित्य में ये दोनों स्वतंत्र धाराओं के रूप में मिलते हैं। इनके दार्शनिक रूप और इनकी साहित्यिक परिणति पर यहाँ विचार किया गया है।

१. अर्थ और व्याख्या—

इन दोनों शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता रहा है। राजनैतिक मतों के अनुसार इनके विभिन्न अर्थों को ग्रहण किया जा रहा है। साम्यवादी आदर्शवाद को एक प्रकार से समझता है और यही आदर्शवाद पूँजीवादी की दृष्टि में कुछ और है। इसी प्रकार यथार्थवाद की व्याख्याएँ होती हैं।

साम्यवादी यह मानता है कि आदर्शवाद की आधार-शिला इस भौतिक जगत् से परे एक पारलौकिक सत्ता का विश्वास है। जो आस्तिकतावादी धर्म संसार में प्रचलित हैं, वे सभी आदर्शवादी हैं। वह पारलौकिक सत्ता भौतिक सृष्टि में रहने और इसे सञ्चालित करने वाला एक चेतन तत्त्व है। वही भौतिक जगत् रूप कार्य का

आदि कारण है। साम्यवादी इस विचार-दर्शन से सहमत नहीं है। उसके अनुसार यह भौतिक जगत् ही सत्य है। इसके मूल में कोई रहस्यमय चेतन तत्त्व नहीं है। जो इस दर्शन को स्वीकार करके चलता है, उसे यथार्थवादी कहा जाता है आदर्शवादी के अनुसार वह चेतन तत्त्व भौतिक जगत् का कारण, नियामक और इस जगत् के नष्ट हो जाने पर भी स्थित रहने वाला है। यथार्थवादी की दृष्टि में दृश्य भौतिक जगत् द्वन्द्व के कारण यह स्वतः विकसित हुआ है। इसके कारण के रूप में किसी चेतन तत्त्व में विश्वास करना भ्रम है और यह विश्वास पूँजीवाद का पोषक और समाजवाद का बाधक होता है। इसी चेतन तत्त्व की व्याख्या एक काल्पनिक लोक के आनन्द की ओर जनता को ले जाने की चेष्टा करती है जिससे शोषित जन जीवन के यथार्थ संघर्ष से विमुख हो जाता है। इसी के आधार पर भाग्यवाद जैसे प्रतिक्रियावादी मूल्य बल पकड़ते हैं और प्रगति की आस्था जगमगा जाती है।

पूँजीवादी दार्शनिक इन्हीं की एक और प्रकार से व्याख्या करता है। इसके अनुसार भौतिक द्वन्द्व से जगत् के रचना-विकास के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। 'कार्य' का कोई 'कारण' अवश्य होना चाहिए। 'कारण' कार्य जैसा दृश्य ज्ञात ही सदा नहीं रहता। इसी कारण रूप चेतन तत्त्व को ईश्वर—प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है साथ ही जड़ से चेतन का विकास नहीं हो सकता। चेतन का आधार बन कर भौतिक जड़ का विकास-विन्यास होता है। साम्यवादी के जड़ तत्त्व के गुणात्मक परिवर्तन को पूँजीवादी विचारक स्वीकार करके नही चलता। वे चेतन और जड़ में पूर्वापर सम्बन्ध मानते हैं। इन दार्शनिकों की दृष्टि में चेतन तत्त्व का निषेध करने वाला ही यथार्थवादी है।

इन दोनों के अर्थ का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। यथार्थ जीवन का वास्तव प्राप्तव्य है। जो प्राप्त न हो सके वह आदर्श है। इस व्याख्या के आधार पर पूँजीवादी साम्यवादी को आदर्शवादी मानता है। साम्यवादी एक वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। इस समाज में वर्गगत–शोषण समाप्त हो जाता है। वर्ग-सम्बन्ध शोषण के आधार पर निर्धारित नहीं होते। वर्गहीन समाज में व्यक्तिगत प्रतियोगिता का स्थान सामूहिक सहयोग की भावना ले लेती है। आधि-व्याधि को सदा के लिए वहाँ विदा दे दी जायगी। पूँजीवादी दार्शनिक के अनुसार यह स्थिति असम्भव है; केवल आदर्शवाद है। अतः साम्यवादी परले सिरे का आदर्शवादी है। यथार्थ पूँजीवादी दर्शन है जो पूर्व समता के भाव को असम्भव मानता है। यही जीवन का वास्तव है। अधिकार और संग्रह की प्रवृत्ति मुख्य में प्रकृति-बद्ध है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर विषमता न्यूनाधिक रूप में बनी रहेगी। प्रयत्न केवल इस बात का करना चाहिए कि सभी की मौलिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाँय। इस पूर्ति के पश्चात् जो विषमता बनी रहती है या बनी रहेगी, वही जीवन का यथार्थ है। पूँजीवादी की दृष्टि में ये प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक नहीं हैं, सभ्यता के विकास से पूर्व जो आदिम साम्यवाद की स्थिति थी, उसमें ये इच्छाएँ नहीं थीं। इतिहास-क्रम में इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। अतः

हमारे प्रासव्य साम्यवाद में भी ये नहीं रहेंगी। इस दृष्टि से साम्यवाद को आदर्शवाद मानना निरा भ्रम है। साहित्य में भी इन्हीं मान्यताओं की परिणति मिलती है।

२. यथार्थवाद : साम्यवादी रूप—

आदर्शवाद और यथार्थवाद की मनमानी व्याख्याएँ चलती हैं। सामान्य रूप से साहित्य में मार्क्सवाद या समाजवाद के ऊपर आधारित यथार्थवाद ही मान्य है। समाजवादी यथार्थवाद के रूप को यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार कलागत मूल्यों का निर्धारण अर्थ के आधार पर होता है। पर कलाकृतियाँ आर्थिक प्रयत्नों का यौगिक प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हैं। यथार्थवादी वर्गों के आर्थिक सम्बन्धों और संघर्षों को सीधे चित्रित नहीं करता। यदि इस प्रकार के चित्र मिलते भी हैं, तब भी इनका उद्देश्य संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही होता है। काव्यगत तत्त्वों की स्थिति का भी इस यथार्थवाद में पूर्ण निषेध नहीं हैं, पर भावों का उत्तेजन और उद्रेक आर्थिक प्रेरणाओं से निरपेक्ष नहीं होता।

मार्क्सवादी यथार्थवाद साहित्य और वर्ग-संघर्ष का अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। वर्ग-संघर्ष की स्थितियों से साहित्य-रचना अवश्य प्रभावित रही है। सामन्तवादी और पूँजीवादी अवस्थाओं में साहित्य-प्रातिभ साधना के मूल-शासक या शोषक वर्ग की सेवा में समर्पित होते रहे हैं। इन व्यवस्थाओं में भी श्रेष्ठ कलाकारों ने शोषक-शोषित वर्गों के सम्बन्धों पर टीका-टिप्पणी भी की है। उन्होंने उत्पीड़ित और विषण्ण मानवता के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। विकासोन्मुख शक्तियों का उद्घाटन और समर्थन भी किया गया है। अपने वास्तविक रूप में वह क्रान्तिकारी वर्ग का विचारक भी बन जाता है। अतीतस्थ प्रगतिशील मानवतावादी परम्पराओं से इस प्रकार का क्रान्तिचेता कलाकार अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार आज जितनी विषमताएँ और विरूपताएँ सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो गई हैं, उनका मूल कारण पूँजीवादी व्यवस्था ही है। शिवदान-सिंह चौहान ने लिखा है : दो सौ वर्ष पहले का इतिहास साक्षी है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का कोई न्याय-संगत मानवोचित या कहें 'डेमोक्रेटिक' नियमन असम्भव सिद्ध हुआ है, कि पूँजीवाद वर्ग वैषम्य, शोषण, भुखमरी, बेकारी, जातिभेद और युद्धवाद जैसी कुत्साओं का जनक और पोषक रहा है। पूँजीवाद में विज्ञान का उपयोग उत्पादन बढ़ाने और विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए किया जाता रहा है और अबुद्धिवाद का प्रयोग सामाजिक चेतना को खोखला करने के लिए। फलतः पूँजीवाद में व्यक्ति और समाज के जीवन को खतरा बढ़ता जाता है।[1] निराशावादी कलाकार वर्तमान स्थिति को अचल मान लेता है और वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता के विनाश में उसका विश्वास नहीं जम पाता। कलाकार का कर्तव्य है कि वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का पक्षधर बने।

समाजवादी यथार्थवादी कहता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में कला और साहित्य

---

१. आलोचना, २६ जनवरी, ६४

के मूल्यों का ह्रास होता है। बुर्जुआ वर्ग का समर्थक कलाकार भविष्य की चेतना और उसके प्रति अपनी आस्था को खो बैठता है। इन विचारकों के अनुसार कलाकार का लक्ष्य है संघर्षशील उत्पीड़ित मानवता के क्रान्ति-प्रयत्नों को बल देना। मार्क्सवाद कलाकार को जीवन की वास्तविकताओं को देखो—समझने की शक्ति प्रदान करता है।

रूस में सन् १९३२ में एक संगठन हुआ। इसमें समाजवादी यथार्थवाद की स्वच्छ व्याख्या की गई। गोर्की इसके प्रधान थे। उन्होंने नवोदित मानववाद की रूप-रेखा इस प्रकार प्रस्तुत की।[१] "क्रान्तिकारी सर्वहारा का मानववाद सुस्पष्ट है। वह मानवजाति के प्रेम के लच्छेदार और मधुर मुहावरे घोषित नहीं करता। इसका ध्येय संसार भर के सर्वहारा को पूँजीवाद के शर्मनाक, खूनी और वहशी जुए से स्वतंत्र करना है, व लोगों को यह सिखाना है कि वे स्वयं को नवकुशाहों (Philistnics) के निमित्त स्वर्ण और विलासोपकरण जुटाने के लिए कच्चे माल के रूप में क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुएँ न समझें। पूँजीवाद विश्व को उसी तरह अवलांछित करता है जिस प्रकार कि एक जीर्ण वृद्ध, जो जीर्णावस्था के रोगों का गर्भाधान कराने के अतिरिक्त नपुंसक है, एक स्वस्थ युवा स्त्री के प्रति अतिक्रमण करता है। सर्वहारा मानववाद का कार्य एक श्रमजीवी से प्रेम की प्रतीकात्मक घोषणाएँ नहीं माँगता, वह हर मजदूर से अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना की सत्ता पाने के अधिकार की......धन लोलुपों से......परोपजीवियों से, फासिस्टों तथा हत्यारों से अमिट घृणा की, उन सब तथ्यों से जो कष्ट के कारण हैं और उनसे जो करोड़ों लोगों के कष्ट पर जीते हैं, घृणा की माँग करता है।[२] इस प्रकार मार्क्सवादी यथार्थवाद में वर्ग-चेतना चरम कोटि की रहती है। इसमें मानव-मन के परिवर्तन पर विश्वास नहीं किया जाता। कलाकार को समाजवादी समाज की स्थापना के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए सक्रिय सहयोग भी देना चाहिए। साथ ही गोर्की ने साहित्यिकों पर पार्टी के नियंत्रण का भी समर्थन किया है। उसके अनुसार लेखक भी पार्टी का सदस्य होता ही है। पार्टी का उद्देश्य है दुनियाभर के मजदूरों को आजादी की आखिरी लड़ाई लड़ने के लिए संगठित करना। एक नेता के रूप में लेखक को एक सामूहिक दायित्व की चेतना जगानी है।[3] गोर्की के अनुसार समाजवादी यथार्थवाद यह घोषित करता है कि जीवन कर्म है, रचनात्मक है। जीवन का उद्देश्य है मनुष्य के सर्वोत्तम वैयक्तिक महान् आनन्द के लिए निर्बाध विलास। पृथ्वी को आवश्यकता के अनुसार सम्पन्न करके, उसे संयुक्त मानव जाति के लिए एक भव्य निवास-स्थान बनाना है।[४]

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार जीवन का यथार्थ चित्रण ही कला को

१. आलोचना, अक्टूबर, ६४
२. Maxim Gorki : Culture and the People.
३. Maxim Gorki on Literature, P. 263
४. वही, पृ० २६४

कसौटी है। इस चित्रण का उद्देश्य है समाजवाद का प्रसार। साम्यवाद के अनुसार आज का संसार वर्ग समाज से वर्ग-हीन समाज में संक्रमण करने की तैयारी में है। इस वेला का प्रेरणादायक चित्रण करना कलाकार का कर्तव्य है। इसमें स्पष्ट रूप से संघर्षशील और प्रतिगामी शक्तियों का अलग-अलग रूप आना चाहिए। प्रथम शक्तियों की विजय में आस्था उत्पन्न करना कलाकार का कार्य है। पूँजीवादी शोषण समाप्त कर दिया गया है। उन देशों के कलाकार को समाजवादी समाज की स्थापना के प्रयत्नों का साहित्यिक स्थापन करना है। सतत विकास शील समाज की चेतना को सुदृढ़ करना और उसके प्रति विश्वास को दृढ़ करना यथार्थवादी कलाकार का कर्तव्य धर्म है। वर्ग-विरोध सभी रूपों में प्रकट होना चाहिए। यही यथार्थवादी कला का वैचारिक मूल्य (Ideological Value) है। जीवन के किसी विरोध (Contradiction) को छिपाने की प्रवृत्ति वास्तविकता को विकृत कर देती है। इससे साहित्य के प्रभाव में भी कमी आ जाती है।[१] साहित्य सामान्य जन की समाजवादी शिक्षा का सबसे सबल माध्यम है।

यदि जन-संघर्ष और जन-शिक्षण का माध्यम कला और साहित्य को बनना है, तो विषय और रूप दोनों ही दृष्टियों से उसे इतना-कुछ सरल सुबोध होना है कि आम जनता समझ सके। यथार्थ के प्रति उसकी कल्पना में कोई अस्पष्टता नहीं रहनी चाहिए। कला के अस्पष्ट और जटिल होने पर, वह एक उच्चवर्ग की वस्तु बन जायगी और उसका मनोरथ विफल हो जायगा।

समाजवादी यथार्थ की इस प्रकार की व्याख्या तो हो सकती है, पर उसकी परिभाषा कठिन है। इस कठिनाई का अनुभव रूसी साहित्यिक भी करते हैं।[२] यह भी कहा गया है कि यदि इस यथार्थवाद को समझना है तो रूसी साहित्यिक के पर्यवेक्षण से इसको समझा जा सकता है। सोवियत लेखक संघ के विचारकों का मन्तव्य यह प्रतीत होता है। समाजवादी यथार्थवाद सोवियत कलात्मक साहित्य और साहित्य समीक्षा की आधारभूत पद्धति है, जो कलाकारों से सचाई और ऐतिहासिक मूर्तता (Historical Concreteness) के सहित वास्तविकता का उसके क्रान्तिकारी विकास की भूमिका में चित्रण करने की माँग करती है। कलात्मक चित्रण की सत्यशीलता और ऐतिहासिकमूर्तता के साथ समाजवाद की दिशा में श्रमिकों के सैद्धान्तिक रूपान्तरण (Ideological tranformation) और शिक्षण की समस्या को ध्यान में रखा जाना भी आवश्यक है।[3]

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य का सर्वोपरि स्थान है। मानवीय मनोरागों का समाज—निरपेक्ष चित्रण तो विलासिता है। सामाजिक पृष्ठभूमि में

---

१. Chou Yang, China's New Literature P. 47

२. Soviet Literature during the yhaw (1954-57) P. 4

३. नवल किशोर, आलोचना (अक्टू० ६४) पृ० १० पर Soviet Literature to-day से रूपान्तरित

उनका चित्रण जीवित हो जाता है। वातावरण का लोप करके मनोवृत्तियों का चित्रण करना अस्पष्टता और दुरूहता को जन्म देता है और चित्रण में उत्तेजना की शक्ति नहीं रह जाती। कलात्मक साधना मनुष्य को उसके परिवेश से सम्पृक्त करती है। समाजवादी कला का आकर्षण अनिवार्यतः समष्टि के प्रति होता है। 'टिपिकल' (प्रतिनिधि) को प्रस्तुत करना ही उसका ध्येय है। इन प्रतिनिधि पात्रों का जीवन की विविध परिस्थितियों में सच्चा चित्रण करना ही कला का ध्येय है। 'यथार्थवादी साहित्य की कसौटी 'टाइप' है, जो पात्रों और परिस्थितियों दोनों में ही सामान्य और विशिष्ट को आवयविक एक सूत्रता में आबद्ध करने वाला संश्लेषण (Synthesis) है।' इनमें से किसी एक की प्रमुखता देने वाला साहित्य एकाङ्गी कहा जायगा। इनको संश्लिष्ट रूप में चित्रित करना ही श्रेयस्कर होता है। एकान्त अन्तदर्शन या एकान्त बहिर्दर्शन वास्तविकता को विकृत करके देखने का प्रयत्न है।

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, यथार्थवाद साहित्य की बोधगम्यता को अनिवार्य मानता है। साहित्य का कार्य साम्यवाद की अन्तिम परिणति के लिए नैतिक प्रावधाय तैयार करना है। अस्पष्ट होकर साहित्य का यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। अस्पष्टता का एक मनोवैज्ञानिक कारण व्यक्तिवादी चेष्टाओं की प्रमुखता भी है। अतः व्यक्तिवादी चेष्टाओं का विरोध मार्क्सवादी यथार्थ मे मिलता है। व्यक्तिवादी भाव चेष्टाएँ साहित्य को जनता से दूर हटाती हैं। सोवियत आलोचक रूपवाद (Formalism) को स्वीकार नहीं कर सकता। रूपवाद से उनका तात्पर्य अमूर्त (Abstract) से है। इस मार्ग के लेखक प्रयोगों को साध्य मान लेते हैं, इन प्रयोगों में मनोराग वास्तविक सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित नहीं किए जाते। अन्ततः प्रयोगों को साध्य मान लेने वाला साहित्य बुर्जुआ समाज से मेल कर लेता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यथार्थवादी रूप को अस्वीकार करता है। रूप को अस्वीकार करना, कला को ही अस्वीकार करना है। वस्तु की प्रतिष्ठा रूप के बिना नहीं हो सकती है। पर केवल रूपवाद उसे अस्वीकार्य है।

यथार्थवादी कलाकार पर यह दोष लगाया जाता है कि जनता तक अपनी कला को पहुँचाने की साधना में वह उच्चकोटि की कृतियाँ नहीं दे सकता है। उसकी कला प्रचारवादी उद्देश्यों में उलझ जाती है। पर कलाकार यदि प्रतिभावान है, तो इस लक्ष्य को रखते हुए भी उसकी कला उच्चकोटि की होगी।

यथार्थवाद की दृष्टि में कला सोद्देश्य होनी चाहिए वह चाहे अनिवार्यतः प्रचार में संलग्न न हो, पर वह अपने आप में साध्य भी नहीं है। उसका सामाजिक उद्देश्य कलाकार की दृष्टि में सदा रहना चाहिए। उन्नत कला वह मानी जायगी जो कलात्मक और प्रभावोत्पादक पद्धति से यथार्थ को रूपायित कर सके। पर कला-साधना सघन होकर वास्तव यथार्थ को ढँक न ले। यदि कला पर उद्देश्य आरोपित होगा, तो वह अविकल नहीं रह सकती।

उद्देश्य पर कला का परिस्थिति के चित्रण से स्वाभाविक रूप से उदय होना

चाहिए। साथ ही कलाकार सामाजिक द्वन्द्वों का कोई बना बनाया हल देने के लिए भी बाध्य नहीं है।

यथार्थवादी का ध्येय है प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि पात्रों को समस्त वास्तविकता के साथ चित्रित करना। चित्रण उस मानव का होना चाहिए जो इतिहास की गति से पिछड़ा हुआ न हो और जिसमें अपने भाग्य-निर्माण की शक्ति हो। ये व्यक्ति समाजवादी समाज की साधना में संलग्न हों। अपने लक्ष्यों के प्रति इनमें पूर्ण आस्था और आशा होनी चाहिए। श्रमजीवी की इच्छा शक्ति और उसके साहस के चित्र कलाकार को देने चाहिए। व्यक्ति समस्याओं के केन्द्र में स्थित रहना चाहिए कि कहीं सिद्धान्त-रूढ़, निर्जीव पात्र की सृष्टि न हो जाय। पात्र को व्यक्तिवान् होना चाहिए।

साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जीवन के तात्कालिक प्रकरणों को ही ग्रहण करे। पार्टी की गतिविधि को स्वीकार करके मार्क्सवादी कलाकार चलता है। स्टालिन कलाकार को 'मानवात्मा का अभियन्ता' (Engineer of the human soul) मानता था। ख्रुश्चेव ने भी एक लेखक सभा में कहा था : कलाकार का कर्तव्य है कि साम्यवादी शिक्षा एक उन्नत शैली में दे। उसे एक उच्च सौन्दर्यात्मक अभिरुचि भी उत्पन्न करनी है। साम्यवादी नैतिकता का प्रचार भी उसका कर्तव्य है।

कलाकार की स्वतंत्रता की जो बात पूँजीवादी या व्यक्तिवादी व्यवस्था में उठाई जाती है, उसे यथार्थवादी स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में यह नारा असामाजिक और व्यक्तिवादी कला कृतियों को प्रोत्साहन देने के लिए है। साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था में कलाकार की स्वतंत्रता की कल्पना एक भ्रम है। जहाँ की व्यवस्था में पैसे की शक्ति और कीमत इतनी बढ़ गई हो, वहाँ कलाकार की स्वतंत्रता बनी नहीं रह सकती। लेखक एक पूँजीवादी प्रकाशक के शोषण से कैसे मुक्त रह सकता है। जो लेखक मजदूर वर्ग की आशा-आकांक्षाओं का चित्रण करता है, वही स्वाधीन कहा जा सकता है ऊँचे वर्गों के बदले कामकाजी अवाम की सेवा में संलग्न कलाकार ही सही अर्थों में आज़ाद हो सकता है।[1] तात्पर्य यह कि कलाकार की स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर रहती है कि वह समाज के किस वर्ग से सम्बद्ध है। उच्च वर्गों से सम्बद्ध कलाकार स्वतंत्र नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का निर्णायक तत्व अभिव्यक्त वस्तु-तत्त्व है।

यथार्थवादी कलाकारों का एक निषेधात्मक रूप भी है पूँजीवाद की विकृतियों का चित्रण, उनके प्रति घृणा उत्पन्न करना और उस व्यवस्था की भर्त्सना निन्दा करना भी कलाकार का कर्तव्य माना जाता है। यह एक प्रकार से आलोचनात्मक यथार्थवाद का अङ्ग है। समाजवादी यथार्थवाद इस आलोचनात्मक यथार्थवाद से आगे का सोपान है। आलोचनात्मक यथार्थवाद पतनोन्मुख बुर्जआ वर्ग की जघन्यता और अमानवीयता का उद्घाटन करता है।

---

१. डा० रामनिवास शर्मा भाषा. साहित्य और संस्कृत; पृ० २०६-२०७

यथार्थवादी समालोचक व्यक्तिवादी कलाकार की आलोचना करते हैं। आधुनिक योरुप की कला पतनोन्मुख है। उसमें मनुष्य अपने समग्र रूप में उपस्थित नहीं है। सजीव मानव का साहित्य से लोप होता जा रहा है। मानवीय सम्बन्धों का यथार्थ रूप इन व्यक्तिवादी कृतियों में नहीं मिलता। मनुष्य जाति के भविष्य के प्रति बुर्जआ कलाकार आशावान् नहीं है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को वह अटल मान लेता है। सामाजिक द्वन्द्वों के स्थान पर इस प्रकार की कलाकृतियों में अन्तर्संघर्ष, मौन परिकल्पनाएँ, अयथार्थ, विचार क्रम, आदिम पशु प्रवृत्तियाँ, पागलपन और अपराध चेष्टाएँ मिलती हैं। इनमें 'एएटीहीरो' विचारधारा की अभिव्यक्ति ही है। शक्तिशाली व्यक्ति भी समाज मे है, पर बुर्जआ कलाकार उन व्यक्तियों की ओर ध्यान कहाँ देता है? एक सोवियत फिने कलाकार ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। "...बुर्जआ कलाकार वर्ग संघर्ष पर केन्द्रित रहता है। जिस समाज की वे पैदावार हैं। उसकी समस्त कुत्साओं को वे अपनी कृतियों में प्रतिबिम्बित करते हैं। उनके पात्रों का समाज से कोई सम्पर्क नहीं रहता। वे अपने एकाङ्गीपन के अवसाद में खोये रहते हैं—सर्वनाश के भय से ग्रसित वे विक्षिप्त होकर किसी सहारे की तलाश में हाथ पैर पटकते हैं और आसमान की तरफ मुँह उठाकर कभी ईश्वर को कोसते हैं तो कभी पागलों की तरह हर चीज को तहस-नहस करना शुरू कर देते हैं। या अपने एकाङ्गीपन पर आँसू बहाने लगते हैं।"[१] इस प्रकार की आलोचनाएँ यथार्थवादी बुर्जआ वातावरण मे पली कलाओं की करते हैं। समाजवादी व्यक्ति को उसकी महानता के क्षणों में चित्रित करना है।[२] समाजवाद लाने वाली चेष्टाओं को आशा और वीरता के साथ चित्रित करना मार्क्सवादी दृष्टिकोण समझा जाता है। इस हीरो को अधिक पूर्णता और विविधता के साथ चित्रित किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य में संशय, निराशा और वास्तविकता का निषेध नहीं मिलता।

समाजवादी यथार्थवादी आधुनिकतावाद (Modernism) का भी विरोध करता है। इन साहित्य-शाखाओं में यथार्थवाद और स्वस्थ ऐतिहासिक परम्परा का निषेध है। नई धाराओं में जीवन के प्रति दासवादी दृष्टि इस प्रकार के आधुनिक साहित्य में मिलती है। 'नये साहित्य में रूप के प्रति आग्रह है और सरवान वस्तु (Content) का निरसन।

संक्षेप में यही साम्यवादी यथार्थवाद की रूपरेखा है। क्षेत्रों में भी यथार्थवादी कलाकारों का अभाव नहीं है। पूँजीवादी समाज में रहते हुए भी ऐसे लेखक मिल जायँगे जो वर्ग-वैषम्य का विरोध करते हैं। पर साम्यवादी समीक्षक संवेदनाएँ और उत्पीड़ित मानव की पुकार प्रभावित करती है। पर साम्यवादी समीक्षक की दृष्टि में इन यथार्थवादियों का इतना मान-मूल्य नहीं है क्योंकि वे कलाकार मार्क्सवादी परिवार और साम्यवादी 'पार्टी' के अनुशासन में नही चलते। स्वतंत्रता समीक्षक मार्क्स-

१. आलोचना, २७ जुलाई, १९६३, (कला और व्यक्ति)।
२. Stadies in European Realism : George Lukacs, P. 274

वादियों की सामूहिकरण (Regimentation) तथा सरकार और पार्टी के नियंत्रण की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं। वस्तु और रूप दोनों ही इन प्रवृत्तियों से संकुचित सीमाओं में जकड़ जाते हैं। इस नियंत्रित वातावरण में लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा का उन्मुक्त विकास नहीं हो सकता। स्टालिन के समय में सरकारी आदेशों से साहित्यकार को बँधकर चलना होता था। जो इन अनुज्ञाओं का पालन नहीं कर पाता था उनको घोर अपमान, निन्दा, दण्ड सहने पड़े और आत्महत्या तक करनी पड़ी। सम्भवतः सरकारी बन्धन अब रूस में भी इतने नहीं रहे, पर अभी कलाकार की स्वतंत्रता वहाँ पूर्णरूप से मान्य नहीं है। यथार्थवाद की व्याख्या भी समय-समय पर शासकीय नीति के अनुसार की जाती है। इसलिए समाजवादी यथार्थवाद का रूप सुनिश्चित नहीं हो पाता।

साथ ही यह यथार्थवाद अन्य साहित्य-रूपों के प्रति असहिष्णु है। यूरोप का वर्तमान साहित्य निराशा-ग्रस्त होने पर भी कुछ श्रेष्ठ कलाकृतियाँ दिए वह खड़ा है। इन रचनाओं में निराशा चाहे हो, पर पराजय का स्वर नहीं है। चाहे भविष्य का चित्र इनके सामने स्पष्ट नहीं हो पा रहा हो, पर मनुष्य की शक्ति में अविश्वास नहीं है। पर यथार्थवादी समीक्षक इनको अस्वीकृत करके अपने ही सीमाओं का परिचय देता है। सैद्धान्तिक वस्तु के प्रति अति आग्रह के कारण कलात्मक मूल्य सङ्कट में पड़ते जा रहे हैं। "यदि एक उपन्यासकार को पात्रों को चित्रित करते समय टाइप का ही चुनाव करना हुआ और अपनी कृति में आशावादी स्वर को ही अभिव्यक्ति देनी पड़ी तो उसे अपने अनुभव और कृति की अपनी माँग के स्थान पर उन मान्यताओं को प्रमुखता देनी होगी जिनके प्रसार की उससे अपेक्षा की जाती है। कृति की आम लोगों तक पहुँच का एक साहित्यिक प्रतिमान मान लेने का नतीजा होगा उन साहित्यिक प्रयोगों का अवरुद्ध होना जिनकी अनुशंसा के लिए उच्चकोटि की कलात्मक अभिज्ञता अपेक्षित है। यही कारण है कि साम्यवादी जगत् में पश्चिम के उन श्रेष्ठ साहित्यकारों को कोई महत्व नहीं दिया गया है जो व्यक्ति की निजता के प्रति आग्रहशील हैं और उसे विशिष्ट रूप में चित्रित करते हैं तथा जिन्होंने अभिव्यक्ति के माध्यमों में सर्वथा नवीन प्रयोग किए हैं।"[१]

समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक दायित्व के प्रति लेखक को जागरूक रखता है। यही इसकी देन है। इसकी सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। इसमें व्यक्ति और उसके परिवेश की प्रतिष्ठा है।

साहित्य में दो प्रकार के यथार्थवादी मिलते हैं : एक वे जो मार्क्सवाद का पल्ला नहीं छोड़ते और पार्टी अनुशासन में अपनी सृजन-साधना करते हैं। दूसरे वे जो यथार्थ का चित्रण करते हैं, पर पार्टी अनुशासन को स्वीकार नहीं करते। हिन्दी में राहुल, रांगेयराघव, यशपाल, नागार्जुन आदि प्रगतिवादी उपन्यास लेखक यथार्थवादी कहे जाते हैं। निराला की 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'अणिमा' आदि परवर्ती काव्य कृतियाँ,

१. नवलकिशोर, आलोचना अक्टूबर, ६४, पृ० १९-२०

और पंत की 'युगान्त', 'युग वाणी' और 'ग्राम्या' जैसी रचनाएँ भी प्रगतिवादी हैं। पर ये लेखक चाहे निम्नवर्ग की प्रतिष्ठा साहित्य में कर रहे हों, साम्यवादी विचार-धारा से बँधे हुए यथार्थवादी नहीं कहे जायेंगे, इनमें विवश, चित्रण और निम्नवर्ग या शोषित के प्रति सहानुभूति है और शोषक वर्ग के प्रति क्रान्ति भी, पर ये एक बँधे बँधाये चौखटे में नहीं चलता।

यहाँ तक कि प्रेमचन्द में भी विशिष्ट यथार्थवाद प्रायः नहीं मिलता। उनके 'गोदान' में ही इस साम्यवादी या विशिष्ट यथार्थवाद की कुछ झलक मिलती है। उनके शेष उपन्यास छायावादी भावुकता और आदर्शवाद की छाया से मुक्त नहीं हैं। 'यशपाल' शुद्ध यथार्थवादी है। उनका 'झूठ सच' इस वाद की प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है। पर 'सेक्स' की उलझन भी इनके उपन्यासों की यथार्थ भूमिका में आ जाती है। कट्टर यथार्थवादी समीक्षक इन उलझनों की कड़ी आलोचना करता है। मार्क्सवाद को इन उलझनों में संज्ञा देने का अधिकार उनको नहीं है। अमृतलाल नागर के उपन्यासों में भी यथार्थवाद है—'बूँद और समुद्र', 'सेठ बाँकेमल', 'कोठेवालियाँ'। किन्तु इन कृतियों में भी प्रच्छन्न अरबिन्दवाद झलक जाता है। बस उससे ही साम्प्रदायिक यथार्थवाद लांछित हो गया। भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे-चित्र' में मौन वादिता, आवारापन जैसे सजीव यथार्थ तत्त्व मिलते हैं, पर साम्यवादी यथार्थवाद की दृष्टि में उन्होंने उद्देश्य को अस्पष्ट कर दिया है और उनकी दृष्टि में एक साहित्यिक अपराध भी। इलाचन्द जोशी का 'जहाज का पंछी' कलकत्ते की गरीबी का यथार्थ चित्रण करता है। पर उनकी पूर्ववर्ती कृतियों में जो मौनवाद आया है, वह यथार्थवादी समीक्षकों को सह्य नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक यथार्थवाद के दर्शन होते हैं जो इतिहास की ऐंगिल्स-पद्धति को लेकर उसकी व्याख्या आर्थिक आधार पर करता है। वह ऐतिहासिक यथार्थवाद को साहित्यिक परिणति दे रहा है। यदि लेखक व्यक्ति पूजा, सम्प्रदाय, सामन्त आदि के विवरण में उलझ गया तो सच्चा यथार्थवादी नहीं रहा। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में यथार्थ मिलता है। उनके पात्र धरती-पुत्र ही होते हैं। पर मार्क्सवादी दृष्टि से पूर्ण आर्थिक व्याख्या का तो उनके उपन्यासों में अभाव है ही। इनसे अधिक साम्यवादी दृष्टि राहुल और रांगेय राघव के उपन्यासों में मिलती है। फिर भी आर्यों का मौनवाद यथार्थवादी समीक्षक को सह्य नहीं है। साथ ही बौद्ध-धर्म के प्रति जो आग्रह है, उसके कारण शुद्ध यथार्थवाद नहीं रह गया है।

मनोविज्ञान और यथार्थवाद—

मनोविज्ञान ने साम्यवादी यथार्थवाद पर चोट की है। फ्रायड ने व्यक्ति के अवचेतन के स्तरों का उद्घाटन किया। उसने अवचेतन मन की प्रक्रिया और उसकी उत्क्रान्ति को अधिक महत्व दिया। इन्हीं प्रक्रियाओं का चित्रण उसकी दृष्टि में यथार्थ है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद की प्रतियोगिता में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद खड़ा

हुआ। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि यशपाल, राहुल और इलाचन्द्र जोशी के सामाजिक यथार्थवाद पर मनोवैज्ञानिक मानवाद का प्रभाव रहा। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों में शुद्ध मनोवैज्ञानिक यथार्थ के दर्शन भी होते हैं। प्रगतिवादी भी कुछ सीमा तक फ्रायड से प्रभावित रहे। पीछे समाजवादी समीक्षकों ने फ्रायड, युंग और एडलर की धारणाओं को भ्रान्त घोषित कर दिया और यह फतवा भी दे दिया गया कि इनकी मनोवैज्ञानिक धारणाएँ पूँजीवाद का समर्थन करती हैं। इसको पूँजीवादी मनोविज्ञान की संज्ञा भी दी गई। फ्रायड का मनोविज्ञान शरीर-शास्त्र की अवहेलना करके चलता है। 'पाँवलाँव' ने फ्रायड के मनोविज्ञान को पौराणिक मनोविज्ञान कहा। शुद्ध यथार्थवादी की दृष्टि में समाजगत वस्तु यथार्थ ही प्रमुख है। इसका विकास चेतन मन के आधार पर हुआ है। अवचेतन, स्वप्न आदि की प्रक्रिया को महत्त्व देना प्रतिक्रियावाद या पुराणवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद और मनोविज्ञान यथार्थवाद में संघर्ष चला।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की दृष्टि में अवचेतन या अन्तर्मन की गहराइयों का चित्रण ही यथार्थ के अन्तर्गत आता है। पूँजीवादी देशों में इसी प्रकार का यथार्थवाद प्रतिष्ठित है। उनकी दृष्टि में समाजवादी यथार्थवाद प्रचार मात्र है जो व्यक्ति के मन की हलचल पूर्ण यथार्थ गहराइयों को झुठला कर चलता है। हिन्दी क्षेत्र में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के पक्ष में दिखलाई पड़ते हैं और यथार्थवाद को यह मात्र प्रचार मानते हैं। 'गुनाहों के देवता' (भारती) 'शेखर', 'एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', अपने-अपने अजनबी (अज्ञेय) तथा खाली कुर्सी की आत्मा (लक्ष्मीकान्त वर्मा) आदि में वास्तविक यथार्थवाद माना जाता है। जहाँ समाजवादी यथार्थवाद का केन्द्र वर्ग संघर्ष है, वहाँ मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की आधारशिला अवचेतन मन की ग्रन्थियाँ और चेतन एवं अचेतन का संघर्ष है। समाजवादी यथार्थवाद जहाँ 'टाइप' को लेकर चलता है जो एक वर्ग या सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व कर सके। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी विशिष्ट व्यक्ति को लेकर चलता है। 'टाइप' में उसे स्थिरता और जड़ता दिखलाई पड़ती है। मनोविज्ञानवादियों के पात्र विलक्षण भी हो जाते हैं। कभी कभी ऐसे पात्रों की कल्पना भी मिलती है जो समाज में अप्राप्य होते हैं।

आदर्शवाद—

हम जिस स्थिति में रहते हैं, उससे एक सीमा तक ही सन्तोष होता है। उस स्थिति में अधिक समय तक रहने में, एकसी ही क्रियाएँ करते रहने पर, हमें कुछ अरुचि और असन्तोष होने लगता है। हम उससे आगे की महत्तर और सुन्दरतर अवस्था में जाना चाहते हैं। सर्वजन सुलभ तो यथार्थ होता है। ऐसा सत् आचरण, जो सर्वजन सुलभ नहीं होता आदर्श कहलाता है। आदर्श कल्पना प्रसूत होता है। मनुष्य उच्चतर बनने के लिए साधना करता है प्रत्येक प्राप्त अवस्था यथार्थ बनती चलती है और आगे का स्वप्न आदर्श उपस्थित करता चलता है।

मनुष्य का वर्तमान वैषम्यपूर्ण रहता है। इस वैषम्य को उसे स्वीकार करते हुए चलना पड़ता है। पर समरस की स्थिति को प्राप्त करने के लिए उसकी साधना चलती रहती है। वर्तमान से विद्रोह करता हुआ, वह उस स्थिति को पहुँचना चाहता है जहाँ वैषम्य का विष उसका दम न घोटे। इस स्थिति में वह पूर्णता का स्वप्न देखता है।

इस आदर्श से हमारा यथार्थ जीवन प्रेरणा ग्रहण करता है। उसकी दिशा सुनिश्चित होती है। आदर्श यथार्थ जीवन में चाहे पूर्ण रूप से परिणत न हो पाये, पर उसको जीवन में घटित करने की लालसा अवश्य बनी रहती है। जीवन के यथार्थ संघर्ष में जूझता हुआ मनुष्य एक आदर्श लोक की कल्पना से एक सुख-शान्ति का अनुभव करता है। आदर्श के प्रति आशावान् होकर अपने यथार्थ जीवन को वह गतिशील रखता है।

आदर्श का रूप देशकाल सापेक्ष होता है। परिस्थितियों के कारण आदर्शों के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। पर आदर्श के साथ एक शर्त सर्वत्र लगी रहती है—वह हमारे वर्तमान जीवन को विकसित करने वाला होना चाहिए। जो आदर्श वर्तमान जीवन को गति और तीव्रता नहीं दे सकता वह निर्जीव होगा। कहीं आदर्श जड़ न हो जाय, इसीलिए उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य में आरम्भ में वीरता का आदर्श मान्य था। राजस्थान के कवियों में ऐसे कितने ही किरणोज्ज्वल आदर्शों की स्थापना की थी जो इतिहास में अमर हो गए। भक्तिकालीन साहित्य में आदर्श बदल गया। प्रेम सम्बन्धी उच्चतम आदर्शों की स्थापना इस काल में हुई।[1] मध्यकालीन आदर्शों की सबसे मनोरम झाँकी तुलसी के 'मानस' में मिलती है।

रीतिकालीन साहित्य में किसी विशिष्ट आदर्श के दर्शन नहीं होते। आधुनिक साहित्य में व्याज, बलिदान, जैसे राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना हुई। 'यशोधरा', 'राधा', 'उर्मिला' जैसे आदर्श नारी चरित्रों की उद्भावना द्विवेदी युगीन साहित्य के कवियों ने की। छायावाद ने सौन्दर्य और प्रेम के आदर्शों की स्थापना की जो नैतिकता की बेड़ियों में जकड़े हुए नहीं थे।

आदर्शवाद और यथार्थवाद : सन्तुलन—

छायावादी युग के बाद कहानी भिन्न है। आदर्श के स्थान पर यथार्थवाद की प्रतिष्ठा होती गई। प्रगतिवादी दृष्टि से आदर्श की कल्पना में डूबना पलायन से कम

---

१. यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुँइ धरै, तब पैठे घर माँहिं॥ —कबीर

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परे, कन्त धरे जहँ पाँव॥ —जायसी

बध्यो बधिक परयो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच॥ —तुलसी

नहीं है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति आदर्श से यथार्थ की ओर गतिशील रही है। वर्तमान युग में आदर्श और यथार्थ का एक जीवन्त सन्तुलन भी मिलता है। प्रेमचन्द में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मिलता है। इन दोनों छोरों के सन्तुलन से जीवन और साहित्य दोनों ही गतिशील रहते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी यद्यपि आदर्शों की प्रतिष्ठा मुख्य रूप से मिलती है, पर यथार्थ की उपेक्षा नहीं हुई। महाभारत में तो आदर्श स्थिर नहीं हो पा रहे। जीवन के बहुविध यथार्थ चित्र महाभारत में भरे पड़े हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र और चाणक्य के अर्थशास्त्र से जीवन के यथार्थ मुखर हैं। शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में भी चाहे दृष्टि केन्द्र में आदर्श ही रहा हो, पर यथार्थ जीवन की झाँकियाँ मिले बिना नहीं रहतीं। कालिदास ने मेघदूत में पत्नी-वियुक्त अपराधी के प्रति सहानुभूति जगाई है। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में एक वेश्या-पुत्री को नायिका बनाया है। साथ ही चोर जुआरियों का जीवन चित्रित किया है। इस प्रकार शास्त्रीय संस्कृत काल में भी यथार्थ और आदर्श का मिश्रण मिलता है। संस्कृत के नाट्य साहित्य में यथार्थ के प्रति विशेष आग्रह मिलता है। प्राकृत और अपभ्रंश में यथार्थ की प्रवृत्ति और भी विकसित हुई। 'गाथा सप्तसती' में यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति झाँक उठती है। प्रणय की धारा यथार्थ जीवन की परिस्थितियों में प्रवाहित होती है। 'अकरूक शतक', 'शृङ्गार शतक', 'चार पंचांशिका' जैसी रचनाओं में 'गाथा सप्तशती' की यथार्थ परम्परा चलती मिलती है। रीतिकाल के मुक्तककारों का प्रेरणा-स्रोत भी यही कहीं इसी परम्परा में है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जीवन के दो पहलू आदर्शवाद और यथार्थवाद में मिलते हैं। इन दोनों शब्दों में मनुष्य की प्रगति की प्रेरणा और रहस्य व्याप्त है। साहित्य में कभी अतिवादी दृष्टि पनपती है और कभी समन्वयवादी। समन्वय मनुष्य की पूर्णता की ओर एक निश्चित संकेत करता है। साहित्यकार की साधना यथार्थ और आदर्श में सन्तुलन स्थापित करके मनुष्य को अभियान में आस्थावान बनाना है। आदर्श उसके भविष्य की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है और यथार्थ उसके पैरों के नीचे की ठोस भूमि के प्रति उसे जागरूक करता है। मनुष्य केवल यथार्थ में या वर्तमान में नहीं जीता। उसका जीवन भविष्य से विच्छिन्न नहीं हो सकता। पर आदर्श और यथार्थ का ऐसा अधकचरा समन्वय नहीं हो जाना चाहिए कि दोनों ही अपने मूल रूप को विकृत करलें।

२५

हिन्दी गद्य : विकास-पथ

१. गद्य : —अभिव्यक्ति का माध्यम
२. जीवन में गद्य का स्थान
३. प्राचीन गद्य : स्वरूप एवं विकास
४. राजस्थानी एवं ब्रज भाषा गद्य
५. आधुनिक गद्य पूर्व भारतेन्दु तथा भारतेन्दु युग
६. द्विवेदी, प्रसाद एवं प्रगतिवादी रूप
७. राष्ट्रभाषा युग
८. उपसंहार

मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि प्राकृतिक जीवन को सामाजिक जीवन में रूपांतरित करना है। समस्त जीव-सृष्टि में यही मानव वैशिष्ट्य है। कुछ जीव-जातियों की समूह में रहने की प्रवृत्ति तो मिलती है, पर उनकी समूह-वृत्ति सामाजिकता में नहीं बदलती। अर्थात् सहयोग और समाज के लिए बलिदान-भावना उनमें मनुष्य की भावना की कोटि में नहीं पहुँचती। इसी भावना भेद के कारण मनुष्यों का समूह जो निश्चित दृष्टिकोण लेकर एकत्र होता है 'समाज' कहलाता है तथा पशु-समूह को 'समज' कहा जाता है। इस प्रकार से प्राकृतिक दासता से मुक्त होने की मनुष्य ने गम्भीर और सक्रिय साधना की है। इस साधना में उसने अपनी 'प्राकृतिक' 'अभिव्यक्ति' को 'प्रेषण' बनाकर महत्त्वपूर्ण सिद्धि प्राप्त की है। अभिव्यक्ति मनुष्य के स्नायविक तनाव को श्लथ करने का एक प्रकृति दत्त साधन है। वैसे व्यावहारिक रूप से हम प्रेषण और अभिव्यक्ति को सामान्यत: एक ही मान लेते हैं। तत्त्वत: अभिव्यक्ति मनुष्य के प्राकृतिक परिवेश के संवेदनों से सम्बद्ध होती है और प्रेषण सामाजिक संदर्भ की अनिवार्यता रखता है। अभिव्यक्ति को प्रेषण बनाने में उसकी समस्त समाजोन्मुख चेतना उत्तरदायी है। प्रेषण एक स्थूल माध्यम की ही अपेक्षा नहीं रखता, एक विशेष वस्तुपरक मानसिक स्थिति की भी अपेक्षा रखता है। समस्त प्राकृतिक बिम्ब या प्रकृति की मानसिक छायाएँ एक सामाजिक परिवेश में, एक बाह्य सापेक्षता में संगठित और नियोजित होकर 'वस्तु' बनती हैं। उस वस्तु को प्रेषित करने में मनुष्य अपने अस्तित्व का विस्तार देखता है। समाज-निरपेक्ष पीड़ा, वस्तु नहीं बनती और न उसका प्रेषण ही अभिप्रेत होता है। उसकी मात्र अभिव्यक्ति पर्याप्त है। आज की विकसित अवस्था में अभिव्यक्ति रूपिणी प्रेरणा (Stimulus) प्रतिक्रिया (Response) को जन्म दे सकती है, पर यह ज्ञापक का मूल उद्देश्य नहीं है। शुद्ध प्राकृतिक

अभिव्यक्तियों का रूप इस स्थिति में संकुचित होता जाता है और प्रेषण-विधियों का विकास होता है। हम यदि एक प्राकृतिक पीड़ा का अनुभव करके बन्द कमरे में रोते हैं, तो यह अभिव्यक्ति तो है, प्रेषण नहीं। इस अभिव्यक्ति को हम समाज-निरपेक्ष कह सकते हैं। मनुष्य न केवल अभिव्यक्तियों को लेकर जी सकता है और न प्रेषण को लेकर। अभिव्यक्ति उसकी प्राकृतिक पुकार है और प्रेषण उसकी एक सामाजिक आवश्यकता। एक मनुष्य की मूल प्रवृत्ति—आत्माभिव्यक्ति (Self-assertion) से सम्बद्ध है, दूसरी उसके अस्तित्व के रक्षण से। सामान्य रूप से आत्माभिव्यक्ति भी अस्तित्व-रक्षण का ही एक रूपान्तर मात्र है। पर अस्तित्व का सामाजिक छोर अस्तित्व के प्राकृतिक रक्षण में नहीं, सहयोग-जन्य रक्षण में निहित है। अभिव्यक्ति और प्रेषण का सामञ्जस्य अस्तित्व को दुहरा रक्षण प्रदान करता है। इस समन्वय में जब अभिव्यक्ति प्रमुख होकर मनुष्य के सामान्य, प्राकृतिक तार को भनभना देती है, तो पद्य का जन्म होता है : यहाँ प्रेषण का अभाव मानना भ्रम होगा। जिस स्थिति में प्रेषण अभिव्यक्ति से पृथक् एवं प्रमुख होने लगता है, उसमें गद्य का सृजन होता है।

अभिव्यक्ति का सम्बन्ध विशेष रूपेण पद्य से है। पद्य वस्तुतः माध्यम की ही एक विशिष्ट पद्धति का नाम है। इसके साथ मनुष्य की स्वर-सरणियाँ, ताल-गति, लय-लहर और सम्मात्रा (Symmetry) की प्रवृत्ति सम्बद्ध रहती है। स्वर-सरणि मनुष्य के ध्वनियंत्र की क्रमिक ऊर्ध्व गतियों का प्रतीक है। स्नायविक तनाव की सरणियों का ही प्रतिबिम्ब इनमें पड़ता रहता है। ताल-समतल गति का प्रतीक है। सम्मात्रा समता मूलक गणितीय संविधान है। इन सबका विशिष्ट आयोजन पद्य की पृष्ठभूमि में रहता है। प्रेषण में इनका विशिष्ट योजनाबद्ध प्रयोग नहीं रहता : सामान्य रूप से ये प्रयुक्त रहते हैं। उक्त विशेषताओं के कारण पद्य अलिखित रूप में रह कर भी अपनी परम्परा जाति के स्मरण में बनाए रख सकता है। उसकी लयात्मकता, स्मरण और प्रचलन में सहायक होती है। यदि पद्य का भार स्मरण पर अत्यधिक हो जाता है तो लेखन भी होता है। गद्य व्यावहारिक और व्यावसायिक क्षेत्र में रहता है। उसका लेखन या स्मरण आवश्यक नहीं होता। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं का सहयोगार्थ प्रेषण होता रहता है। यह अपनी सामान्यता में रक्षणार्थ लेखन या स्मरण की भी प्रेरणा नहीं देता। पद्य में तो रक्षण, स्मरण, लेखन आदि आरम्भ से ही समाविष्ट रहते हैं। गीतों की परम्परा फिर भी मौखिक ही रहती है : महाकाव्य या वृहत् आख्यान लिखे जाते हैं। तात्पर्य यह कि आरम्भिक स्थितियों में गद्य का लिखित रूप नहीं मिलता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि गद्य का जन्म पद्य के पश्चात् हुआ। सामान्य बोलचाल की बातों को लिखने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया जाता। पद्य का रूप-वैशिष्ट्य और इसके लिए साधना रक्षण के लिए प्रेरणा देती है। विकसित स्थितियों में जब गद्य वैयक्तिक संप्रेषणों से ऊपर उठकर सामाजिक स्तर पर पहुँचता है और सामाजिक परिवेश में स्थित व्यक्ति का चित्र पूर्ण रूप से उतारना

होता है तो गद्य की भी साधना-जन्य विधाओं का जन्म होता है, और उनका भी रक्षण होने लगता है। पर गद्य की कलात्मक विधाओं का जन्म बाद में ही होता है। हिन्दी में भी आरम्भिक रूप पद्य के ही सुरक्षित है।

एक समय था, जब साहित्यिक क्षेत्र में अपभ्रंश का बोलबाला था। यह समय ६०० से १२०० ई० तक माना जाता है। इसी काल में बोलचाल की भाषा लिखित, साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न होने लगी थी। यहीं-कहीं हिन्दी के रूप विकसित होने लगे। धीरे-धीरे उन रूपों का अनुपात पूर्व कालिक भाषा-रूपों से अधिक होने लगा। साहित्य में बोलचाल की भाषा देर से आती है। हिन्दी के रूपों का कुछ प्रयोग हमें 'कुसुम माला' नामक अपभ्रंश पुस्तक में मिलता है—७ वीं शती। इसमें मध्यदेश का व्यापारी 'तेरे मेरे आउ' जैसे खड़ी बोली के रूपों का प्रयोग करता है।

१. प्राचीन गद्य—

हिन्दी गद्य के कुछ नमूने तो आरम्भ में ऐसे मिलते हैं, जिनका साहित्यिक मूल्य नहीं है। इनमें पुराने राजाओं के पट्टे परवाने, शिला-लेख, दान-पत्र आदि आते हैं। इनका उद्देश्य साहित्यिक नहीं है। पर लिखित गद्य का एक निश्चित रूप अवश्य इनके आधार पर खड़ा हो जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अर्द्ध साहित्य-रूप धर्म ग्रन्थों में मिलता है। सिद्धों या नाथों की गद्य-रचना इसी कोटि में आती है। आगे चल कर ब्रजभाषा का गद्य इसी गद्य-परम्परा में विकसित हुआ। वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्त भी ब्रजभाषा गद्य में लिखे गए। इस प्रकार धार्मिक गद्य के दो भाग हैं : सिद्ध-नाथों का गद्य और ब्रजभाषा में लिखित वैष्णवों का गद्य।

१२ वीं शती के कुछ पट्टे, परवानों में जो गद्य मिला है, उसे ही हिन्दी का प्राचीनतम गद्य का प्राप्य नमूना माना जा सकता है। हिन्दी-क्षेत्र के राजवंश बहुधा राजस्थानी भाषा से सम्बद्ध थे। अतः उनके पट्टे, परवानों की भाषा में अपभ्रंश के आगे की स्थिति के द्योतक राजस्थानी के रूप मिलते हैं, और अपभ्रंश के रूप भी उसमें मिश्रित हैं। चित्तौड़ के रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज के दान पत्रों में गद्य के दो नमूने देखिए—

> "...ओ जनाना में थारा बंसरा टाल ओ दुजो जावेगा नहीं।
> और थारी बैठक दली में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर
> कारण देवेगा और थारा बंसक सपूत कपूत वेगा जी ने गाय
> गोणों अणी राज में खाय्या-पाय्या जायेगा और थारा वंश
> चाकर घोड़ा को नामो को कोठार सूँ चला जावेगा" (११७२ ई०)

इस नमूने में क्रिया पद आकारान्त हैं जो खड़ी बोली हिन्दी के समान हैं। संज्ञापद या कारक राजस्थानी की प्रकृति के हैं। एक और उदाहरण देखिए—

> "...खजानं से इनको कोई माफ करेंगा जीनको नेरको के
> अधिकारी होवंगे...।" (११७८ ई०)

इन दोनों नमूनों में अपभ्रंश का संस्पर्श बहुत कम है । सामान्यतः ढाँचा राजस्थानी का है और क्रियापद हिन्दी के समान हैं । थोड़ा बहुत अन्तर है । ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें फ़ारसी-पंजाबी शब्द भी व्यवहृत हैं । मुस्लिम शासन के साथ राजनीतिक क्षेत्र में फ़ारसी शब्दावली बहुत प्रचलित हो गई थी । संस्कृत की विभक्ति-शैली भी रूप-रचना मे मिलती है उनमें कारकों का प्रयोग कम है ।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस प्रकार के गद्य-अवतरणों को प्रामाणिक नहीं माना है । उनके अनुसार इनकी भाषा भी इतनी प्राचीन नहीं लगती और लिपि-पद्धति भी नवीन है । हो सकता है इस कसौटी पर कुछ नमूने खरे न उतरते हों । पर कुछ नमूने प्रामाणिक भी हैं जो हिन्दी-गद्य की इस आरम्भिक स्थिति को सुरक्षित रखते हैं । राजस्थान में ही अनेक ख्यातें, भी प्रचलित थीं । इनमें भी राजस्थानी के ढाँचे के गद्य रूप मिलते हैं । इनमें से कुछ ख्यातें आदि मौखिक परम्परा में सुरक्षित हैं । पर मौखिक परम्परा में गद्य की भाषा की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है । अधिकांश ख्यातों के लिखित रूप तत्कालीन राजनीतिक संघर्षो की आग में स्वाहा हो गये ।

जैन साहित्य की इधर पर्याप्त खोज हुई है । कई जैन-ग्रन्थों में जैन-साधुओ के उपदेशमूलक धार्मिक गद्य-रूप मिलते है । इनकी गद्य-रचना भी राजस्थानी और अप-भ्रंश से प्रभावित है । जैन-साधुओं के गद्य पट्टे परवानों के गद्य के समान यांत्रिक नहीं हैं । उसमें लेखक के अनुभूति-पक्ष को भी अभिव्यक्ति मिली है । अतः शैली में कुछ भावात्मक स्फीति आ गई है । साथ ही शब्दावली दरबारी न होकर कुछ-कुछ पारि-भाषिक होने लगी है । उसमें फ़ारसी के शब्दों की मिलावट भी प्रायः नहीं है । उपदेशों को प्रभावोत्पादक बनाने की साधना गद्य को प्रौढ़ रूप भी देने में समर्थ है ।

हिन्दी की प्राचीन धार्मिक गद्य का एक रूप नाथ-सिद्धों में मिलता है । नाथों का गद्य उनकी विचारधारा के अनुसार ढला है । जहाँ जैन-गद्य में एक परिष्कार मिलता है, वहाँ नाथों के गद्य में 'नाथ' के व्यक्तित्व की अक्खड़ता का प्रतिबिम्ब मिलता है । शब्दावली प्रायः पारिभाषिक है । कहीं परिष्कार या अलङ्करण की प्रवृत्ति नहीं मिलती । उसका लक्ष्य साधु समाज है और विषय उपदेश या योग । गोरखनाथ जी के गद्य में संस्कृत शब्द बहुत हैं । फिर भी शब्द-रचना जैन-साधुओं के समान मृदु-ललित नहीं है । गोरखनाथ जी की शुद्ध दार्शनिक गद्य के कुछ नमूने देखिए[१]—

> "भाव घर, अदृष्टि द्वार, सहज पैसार, समाधि निकास, अमी अहार,
> अर्थ व्यौहार इन मन मारग जीव अनुसरै तौ साजोज्य मुकति भोगवै ।
> ...अवरण वरण, निर्मूल बासा, बिचार घर, अनाहद द्वार, निहशब्द
> पैसार, अनभै निकास, रस अहार, अगह व्यौहार, इन बुद्धि मार्ग
> अनुसार तो समीप मुकति भोगवै ।"

इसी प्रकार के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं । एक प्रकार लेखक एक लम्बे

१. गोरखबानी [सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल] से उद्धृत।

वाक्य में पूरा सिद्धान्त करना चाहता है। अन्त में क्रिया रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि ये गद्यरूप कृत्रिम हैं : सामान्य बोलचाल की गद्य इससे निश्चित ही भिन्न होगी। गोरखनाथ जी का एक और गद्यांश प्रायः उद्धृत किया जाता है—

> "श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। हैं कैसे परमानन्द ? आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि कौ। जिन्हीं के नित्य गावै है सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु हैं। मैं जु हौं गोरख सो मछन्दर नाथ को दण्डवत करत हैं। हैं कैसे वे मछन्दर नाथ ? आत्मा ज्योति निश्चल है अन्तह् करन जिन्ह कौ। अरु मूल द्वार तैं छह् चक्र जिन्हि नीकी तरह् जानै।"

उक्त नमूने से यह् स्पष्ट है कि गद्य की भाषा ब्रजभाषा की प्रकृति की ओर झुकी हुई है। साथ ही शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों वाले गद्य से इसका स्वरूप प्रवाहयुक्त है। गोरखनाथजी के गद्य का समय १०-११ वीं शती है।

आगे के धार्मिक साहित्य की भाषा गद्य विरल होती गई। पद्य का प्रयोग बढ़ता गया। गद्य साखी-सबदी-दोहरे में सिमट गया। फिर इसको मध्यकाल में वैष्णवों ने उभारा।

साहित्य के क्षेत्र में भी गद्य का प्रयोग मिलता है। मुसलमान और हिन्दू साहित्यिकों ने जो गद्य लिखा, उसके नमूने पर्याप्त मिलते हैं। स्वयं चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज रासो में कुछ गद्य लिखा। रासो के लघुतम संस्करण के कुछ गद्यांश इस प्रकार है[1]—

> "राजा ग्रिह आइ, राजा की पटरानी पवाँरि चित्रसाली दिखावन लागी, तिहाँ कर्णादी दासी कै महान् कैवास के कछू सो भोग जानियइ गन गंधर्व मुनिय...किन्नर कहत की कैवास हि कहल भई वेई ऊतरइ
>
> × × × ×
>
> "कैवास कलम चांद पासि आइ ठाढ़ी रही, देखि चांद नूँ महावीर वरदायी, हमार ओ राजा पै वस दयाड, चांद राजा पहि चलिबे को उद्यम कियड, चांद की स्त्री फेट पकिरी, देखि चंद।

इनमें पूर्व कालिक कृदन्त वाली पुरानी गद्य-शैली की झलक मिलती है। भाषा ब्रज की प्रकृति की है। इस प्रकार काव्यों में भी बीच-बीच में गद्य संग्रथित मिलता है। पर परिमाण की दृष्टि से गद्य कम ही रहा। इस प्रकार धार्मिक गद्य ब्रज, राजस्थानी या अवधी में मिलता है।

साहित्यिक गद्य के कुछ नमूने खड़ी बोली में भी मिलते हैं। सबसे पुराना खड़ी बोली गद्य साहित्य का रूप हज़रत ख्वाजा बन्दा नवाज़ की 'मिराज़ उल आश्कीन' नामक कृति में मिलता है। इसकी रचना १४ वीं शती में हुई थी। इसकी भाषा

१. सूर पूर्व ब्रजभाषा [डा० शिवप्रसाद सिंह,] से उद्धृत।

दिल्ली के आसपास की बोली है। इसमें फ़ारसी शब्दों का बहुल प्रयोग है। एक नमूना इस कृति से देखिये—

> "नबी कहे-तहकीक़ खुदा के याँते सत्तर हजार परदे उजियाले के होर अन्धोर के। अगर उसमें तै एक परदा उठ जावे तो उसकी आँच तै मैं जलूँ। होर एक वक्त ऐसा होता है समझो और देखो वे परदा अन्धोर के उजियाले के आरफ़ान पर है वले वासलाँ पर परदे नूरानी व वे वासलाँ का सफ़ा परदा होता है... ।"

इस गद्यांश की भाषा का ढाँचा खड़ी बोली है। आकारान्त की प्रवृत्ति इसे ब्रजभाषा से पृथक् करती है। पर करण-अपादान हिन्दी 'से' के स्थान पर इसमें 'तैं' प्रयुक्त हुआ है, जो आज भी ब्रज की बोली में प्रचलित है।

शाह मीरानजी की 'लवाज़िम इश्क' नामक कृति में भी इसी प्रकार की गद्य भाषा मिलती है। यह कृति १५ वीं शती की है। इसके गद्य का भी एक नमूना देखिए—

> "जो कोई आशिक सूँ इस सात चीज तै मनै करै खुदा ताला उसे दुनियाँ में सूँ फ़ना करै। खूबसूरत देख एक सन रीझ खशबुई खुश कर कैफ़ कहा। वे पखाचा और शेर पर खुदा कूँ मौत याद करै। मुहब्बत सूँ बँधा अपने काम में मशगूल रहै किस सूँ न कुछ कहै, याँ आराम, याँ काम, याँ हाल, याँ वसाल, या यूँ कहरै वाले जो कुछ तूँ देखेगा सो सुनेगा।"

इसमें 'तैं' के स्थान पर 'सूँ' का प्रयोग खड़ी बोली की प्रकृति के अधिक समीप है। भाषा बन्दा नवाज़ के ही समान है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन गद्य-रूप राजस्थानी और ब्रज में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। धार्मिक गद्य उपदेशात्मक है या योग और ज्ञान को लेकर चलता है। उसमें परिष्कार की प्रवृत्ति इतनी नहीं मिलती जितनी ज्ञान-सञ्चय की। भाषा में प्रयुक्त शब्द संस्कृत तत्सम या अर्द्ध तत्सम हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि इस कथित ज्ञान का स्रोत संस्कृत में ही है। साथ ही दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली अनिवार्यतः आती है। साहित्य में भी ब्रज या राजस्थानी गद्य का यत्किंचित प्रयोग मिलता है। पर पद्य में इसका प्रयोग आटे में नमक से अधिक नहीं है। मुसलमान लेखकों ने गद्य का विधिवत प्रयोग अवश्य किया। इनकी भाषा तो दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली ही है, पर विदेशी शब्दों से लदी हुई है। ब्रजभाषा गद्य का विकास आगे चल कर वैष्णव लेखकों की गद्य भाषा में हुआ और खड़ी बोली का गद्य उर्दू गद्य के मध्यकालीन रूपों में विकसित हुआ।

२. हिन्दी गद्य का मध्यकाल—

इस काल में धार्मिक गद्य वल्लभ सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय के लेखकों का मिलता है। मौलिक रचनाओं में भी गद्य का प्रयोग मिलता है, पर अधि-

कांश गद्य का प्रयोग टीकाओं में हुआ है। नीचे इन सभी रूपों पर संक्षेप में विचार किया गया है।

२. अ. वैष्णव गद्य साहित्य—गो० विट्ठल नाथ जी ने अपना 'श्रृङ्गार-रस-मण्डन' ग्रन्थ ब्रजभाषा गद्य में ही लिखा है। इसकी भाषा बहुत अधिक व्यवस्थित और सुरुचि पूर्ण नहीं है। इनकी एक और पुस्तक 'राधा कृष्ण विहार' की चर्चा की जाती है। इन दोनों ही ग्रन्थों की भाषा तत्सम बहुल है। कथ्य की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इन विषयों को बहुधा इस युग में काव्य में उतारा जाता था। विट्ठलनाथ जी ने उसी विषय को गद्य में रखा। पर विषय की सरसता के अनुसार शैली और भाषा में सरसता समन्वित नहीं हुई हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इनकी दृष्टि रसोपासना के दार्शनिक पक्ष पर विशेष रूप से रही है। अतः काव्योचित सरसता का इसमें अभाव रहा।

वल्लभ सम्प्रदाय में ही आगे चलकर ब्रजभाषा गद्य का वार्ता साहित्य मिलता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ भक्तों के चरित्र चित्रित किए गए हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ गोकुलनाथ जी (विट्ठलनाथ) के लिखे हुए बताए जाते हैं। गोकुलनाथजी श्री वल्लभाचार्य के पौत्र और श्री गुसाईं जी के चतुर्थ पुत्र थे (सं० १६०८ से १६९७ तक)। कुछ विद्वान् इनकी प्रामाणिकता को सन्दिग्ध मानते हैं। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि श्री गोकुलनाथ जी इन वार्ताओं को कथा-प्रसङ्गों में कहा करते थे। हरिरायजी ने अपने भाव प्रकाश में यह बात स्पष्ट की है : "यह भाव तें चौरासी वैष्णव श्री आचार्य जी के हे, सो एक दिन श्री गोकुलनाथ जी चौरासि वैष्णवन की वार्ता करत कल्याण भट्ट आदि वैष्णव के सङ्ग रसमग्न होई गये सो श्री सुबोधिनी की कथा कहन की सुधि नाहीं।" पर यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि गोकुलनाथ जी ने ये वार्ताएँ स्वयं लिखाईं या किसी भक्त ने उनसे सुन कर लिखलीं। पर इतना निश्चित है कि इनका रूप गोकुलनाथ जी के समय में सुनिश्चित अवश्य हो गया था। इससे इस साहित्य की प्राचीनता में सन्देह नहीं है। इनकी भाषा शैली के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "...इन पुस्तकों की भाषा काफ़ी व्यवस्थित है और यद्यपि उसमें लम्बे और जटिल वाक्य-गठन का प्रयत्न नहीं है तथापि उनसे प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों से चरित-नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रङ्गों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।"[1] वार्ता-गद्य का एक उदाहरण देखिए—

> "सो तब सूरदास जी मन में बिचारे तो—मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियो है सो ता मैं ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ३६५

> और प्रकट करने......वाही समय श्री गोबर्द्धननाथ जी आपु प्रकट होय के दरसन दै के कह्यौ जो—सूरदास जी । तुमने जो सवालाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियौ है, सो तौ पूरन होय चुक्यौ है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं ।"[१]

गोस्वामी श्री हित हरिवंश जी के भी गद्य के नमूने यत्र-तत्र मिलते हैं । इसमें भी संस्कृत शब्दों का ही बाहुल्य है । डा० विजयेन्द्र स्नातक ने हित हरिवंश जी लिखित दो पत्रों को उद्धृत किया है । उनसे उनकी गद्य का अच्छा परिचय प्राप्त होता है । एक पत्र का कुछ अंश उदाहरण के रूप में दिया जाता है—

> "श्री सकल गुण सम्पन्न रस रीति बढ़ावन चिरंजीव मेरे प्राणन के प्राण बीठलदास योग्य लिखित श्री वृन्दाबन रजोपसेवी हरिवंश जोरी-सुमिरन बंचवौ ।...तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं । सुख अमृत स्वरूप है । पत्री बाँचत आनन्द उमडि चलै है । मेरी बुद्धि को इतनी शक्ति नहीं जो कहि सकों पर तोहि जानत हों । श्री स्वामिनी जी तुम पर बहुत प्रसन्न हैं । हम कहा आशीर्वाद देंय, हम यही आशीर्वाद देत है कि तिहारो आयुष बढ़ौ और तिहारी सकल सम्पत्ति बढ़ौ ।"[२]

यह गद्यांश अधिक व्यवस्थित है । इसमें सरसता भी पर्याप्त है । वास्तव में श्रीराधा-बल्लभ सम्प्रदाय में जो दर्शन प्रचलित है, उसमें इतनी जटिलता और पारिभाषिकता नहीं है, जितनी अन्य सम्प्रदायों में । रस की ही सूक्ष्मतम स्थितियों की खोज उनका चित्रण है । इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य भक्ति के विविध सम्प्रदायों के आश्रय में फलता फूलता रहा ।

ब्रजभाषा गद्य में अन्य स्वतंत्र रचनाएँ भी मिलती हैं । इनमें से उल्लेखनीय ये हैं : डाकौर के प्रियादास की सेवक चन्द्रिका (१७७६ ई०), हित किशोरीलाल के एक शिष्य की लिखी हुई श्री नवनीत जी की सेवा-विधि (१७६५ ई०), हीरालाल की लिखी आईने अकबरी की भाषा वचनिका (१७६५) आदि । इनके अतिरिक्त प्रतापसाहि, रसिक गोविंद आदि रीति-ग्रन्थकारों ने भी रस और अलङ्कार आदि के स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया है । "कुलपति मिश्र आदि आचार्यों ने भी कहीं-कहीं गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्य भाग एक तो संस्कृत ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्य भाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है और दूसरे, न तो यह परिष्कृत एवं पुष्ट है और न इसमें गम्भीर विवेचन का प्रयत्न ही किया गया है ।"[३]

अनेक टीकाएँ भी ब्रजभाषा-गद्य में लिखी गईं । टीकाएँ धार्मिक ग्रन्थों पर भी लिखी गई थीं और साहित्यिक ग्रन्थों पर भी । धार्मिक ग्रन्थों की टीकाओं में ये प्रसिद्ध

---

१. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ४६
२. श्री हितामृत सिन्धु, सम्पा० हित गोबरधनदास, पृ० १०२
३. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठभाग, पृ० २६३

हैं : डाकौर के प्रियादास की लिखी हित चतुराशी की टीका (१७७८ ई०), प्रेमदास की 'हित चौरासी' की टीका । रामसनेही पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन की लिखी दृष्टान्त सागर की टीका और टीका संयुगति वचनिका (१७८२) अयोध्या के महंत बाबा रामचरन की रामचरित मानस की टीका (१७८४-१७८७) । इस प्रकार भक्ति के आचार्यों की वाणियों पर ब्रजभाषा में टीकाएँ लिखी गई हैं । इन टीकाओं में टीकाकारों ने भावों से अपनी शैली को रञ्जित किया है ।

साहित्यिक ग्रन्थों में केशवदास के ग्रन्थों पर टीकाएँ प्रमुख रूप से लिखी गईं । इनमें से प्रसिद्ध टीकाएँ ये हैं । हरिचरनदास कृत कविप्रिया की टीका (१७७८), जानकी प्रसाद की रामचन्द्रिका की टीका (१८१५), लछिमन राव की लिखी कवि-प्रिया पर 'लछमन चन्द्रिका' और सरदार कवि की 'रसिकप्रिया' की टीका । इस पर-म्परा में टीकाएँ बिहारी सतसई पर सबसे अधिक लिखी गईं । उपलब्ध टीकाओं मे प्रसिद्ध ये हैं : हरिचरनदास की टीका, असनी के दूसरे ठाकुर की टीका [देवकीनंदन टीका], लल्लूलाल की 'लालचन्द्रिका' आदि । इन टीकाओं में प्रयुक्त गद्य में पर्याप्त लालित्य है ।

हिन्दी गद्य-विकास के मध्यकाल में खड़ी बोली के गद्य की परम्परा भी चलती रही । इसमें प्रचीन काल में मुसलमान औलियाओं का गद्य मिलता है । मुगल दरबार की प्रतिष्ठा के साथ-साथ दिल्ली के आसपास की भाषा शिष्ट भाषा के रूप में प्रति-ष्ठित हो गई थी । अकबर के समकालीन गङ्ग कवि की लिखी हुई एक कृति 'चंद छंद बरनन की महिमा' मिली है । इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के अधिक समीप है । तत्सम शब्दों का इसमें भी बहुल प्रयोग है । पूर्वकालीन औलियाओं की गद्य-भाषा में फ़ारसी के शब्दों की बहुलता थी । गङ्ग के गद्य में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है । १८ वीं शती में दिल्ली की शिष्ट भाषा का प्रचार दूर-दूर केन्द्रों तक होने लगा था । कथा-प्रवचनों में भी इसका प्रयोग होने लगा था । इन धार्मिक कथा-वाचकों के कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद खड़ी बोली में किया । सन् १७४१ में पटियाला के कथा-वाचक रामप्रसाद निरञ्जनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' का परिमार्जित भाषा में रूपांत-रण किया । सन् १७६१ में मध्यप्रदेश के निवासी पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्मपुराण का हिन्दी अनुवाद गद्य में किया । इन दोनों ग्रन्थों का गद्य ब्रजभाषा के संस्पर्श से मुक्त है, पर कुछ पुराने रूप जैसे बरबस आ जाते हैं ।

३. आधुनिक युग—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक युग को गद्य युग भी कहा है । आधुनिक युग को गद्य-विकास की दृष्टि से छः भागों में बाँटा जा सकता है : भारतेन्दु पूर्व युग, भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग, प्रगतिवादी युग और राष्ट्रभाषा युग । इस युग में कुछ ब्रजभाषा गद्य की आरम्भिक स्थिति मिलती है । लल्लूलाल जी ने 'संस्कृत हितोपदेश' का अनुवाद ब्रजभाषा में किया । पर मुख्यत: गद्य का माध्यम खड़ी बोली ही हो गया । आधुनिक युग एक प्रकार से खड़ी बोली गद्य के ही क्रमिक विकास का इतिहास

है। आधुनिक काल में गद्य-रचना इतनी प्रबल और विविध-रूपा हो गई कि इसे गद्य युग ही कहा जाता है। ब्रजभाषा से मुक्त होकर हिन्दी गद्य का विकास सर्वथा नवीन दिशाओं में होने लगा।

इस खड़ी बोली गद्य का उदयकाल १८ वीं शताब्दी का अन्त ही समझना चाहिए। १९ वीं शताब्दी में हिन्दी गद्य का बहुविध विकास हुआ। भारतेन्दु से पूर्व भी हिन्दी गद्य का रूप सुदृढ़ होने लगा था। अतः यह उचित प्रतीत होता है कि भारतेन्दु पूर्व युग भी उक्त भागों में सम्मिलित रहे।

३. अ. भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी गद्य—

इस युग में १९ वीं शती का आरम्भिक गद्य आता है। राम प्रसाद निरञ्जनी के 'भाषा योग वाशिष्ठ' का उल्लेख हो चुका है। इसका गद्य व्यवस्थित और परिमार्जित था। जिस समय फोर्ट विलियम कालिज में गद्य-रचनाओं का निर्माण हो रहा था, उसी समय स्वतंत्र रूप से इंशा अल्ला खाँ तथा मुंशी सदासुख लाल नियाज अपने गद्य-ग्रन्थ रच रहे थे। सदासुख लाल का गद्य पण्डिताऊ शैली मे है। इनका सुखसागर विस्तृत रचना है जो वस्तुतः भागवत का स्वतंत्र अनुवाद है। इसके गद्य का एक नमूना द्रष्टव्य है—

> 'विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें करके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को जो तमोवृत्ति से भर रहा है निर्मल कीजिए।'

कथ्य की दृष्टि से इसमें नीतिकथन है पर यह नीति कथन भी सामयिकता से प्रभावित है। शिक्षा का जो दुरुपयोग उस समय हो रहा था और प्रायः होता है, उसकी ओर संकेत है। इस प्रकार दिल्ली निवासी मुंशी सदासुख लाल ने धार्मिक दृष्टि से गद्य लिखा है, पर सामयिक प्रभाव से वह असम्पृक्त नहीं है। कुल मिला कर भाषा-शैली गम्भीर, ब्रज के प्रभाव से युक्त और तत्सम बहुल है।

दूसरी ओर लखनऊ के इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इनकी भाषा-नीति सदासुख लाल से भिन्न थी। इन्होंने शुद्ध हिन्दी शब्दों के प्रयोग की प्रतिज्ञा की। साथ ही गँवारूपन को भी ये स्वीकार नहीं करते थे। उनके ही शब्दों में : "हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट नहीं हो, बाहर की बोली और गंवारी बोली उसके बीच में न हो, जिसमें हिन्दीपन बराबर बना रहे और भाषापन न आने पावे।" इस प्रकार इंशा ने अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार करना चाहा। साथ ही भाषा में व्यावहारिकता की रक्षा की योजना की। गँवारूपन से इनका तात्पर्य ब्रज या अवधी के रूपों के प्रयोग से था। भाषापन से अर्थात् संस्कृत मिश्रित हिन्दी से भी वे बचना चाहते थे। उनकी इच्छा थी : "जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में

बोलते चालते हैं, ज्यों-का-त्यों उसी का डौल रहे और छाँव किसी की न हो।" इंशा की वाक्य-रचना पर उर्दू-फ़ारसी शैली का प्रभाव है। इसमें घरेलू तद्भव शब्दों का प्रयोग है। वाक्य तुकान्त और अनुप्रासपूर्ण हैं। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग प्रचुर है। पूर्वकालिक कृदन्तों के बहुल प्रयोग से वाक्य को लम्बा किया जाता है। गद्य में चुलबुलापन और सजीवता तो है, पर जीवन और समाज के गम्भीर पक्षों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त नहीं है।

अब फ़ोर्ट विलियम कॉलिज की ओर आइये। इस कॉलिज का योग हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए नये साधनों का उपयोग करने की शिक्षा देना था। इस संस्था ने सर्वप्रथम हिन्दी भाषा के आधुनिक प्रणाली के कोष का निर्माण किया। हिन्दी-गद्य में छोटी-छोटी कहानियाँ भी सबसे पहले इस विद्यालय द्वारा प्रस्तुत की गईं।[1] इसी संस्था ने अपने प्रकाशित ग्रंन्थों में अंग्रेजी विराम चिह्नों के प्रयोग की व्यवस्था की। इस प्रकार हिन्दी गद्य की एक सुनिश्चित भूमिका इस कालिज ने बनाई। गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लूलाल तथा सदल मिश्र जैसे भाषा-मुंशियों ने गद्य लिखना आरम्भ किया। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना की। यह एक ब्रजभाषा कृति का 'हिन्दवी' में प्रस्तुतीकरण मात्र था।[2] लल्लूलाल ने हितोपदेश का अनुवाद ब्रज-भाषा में तो किया ही था, इनके अतिरिक्त इनकी अन्य कृतियों का भी प्रकाशन हुआ।[3] कहा जाता है कि ये अन्य रचनाएँ मिर्जा काज़िम अलीजान के साथ मिल कर लिखी गई थीं। इसलिए इनमें उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य है। लल्लूलाल आगरा निवासी थे उनकी भाषा पर सामान्यतः ब्रजभाषा का प्रभाव रहता है। यद्यपि लेखक विदेशी शब्दों से सायास बचना चाहता है, फिर भी उनका प्रयोग हो जाता है। इनकी ब्रज-रञ्जित खड़ी बोली में सहज-प्रवाह का अभाव खटकता है। एक अंग्रेजी विद्वान् ने इसकी भाषा को थका देने वाली कहा है।

सदल मिश्र आरा [बिहार] के रहने वाले थे। इन्होंने पूर्वी से प्रभावित हिन्दी में 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। वैसे इसमें ठेठ हिन्दी के मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। शब्दों के बहुवचन रूपों में वैविध्य मिलता है। तद्भव और प्रादेशिक शब्दों के प्रयोग ने इसकी भाषा को सजीव बना दिया है। इस ग्रंथ की भाषा में भावी हिन्दी का मार्जित रूप मिलता है। आगे के गद्य-साहित्य में इसी का आदर्श ग्रहण किया गया। पर फ़ोर्ट विलियम कालिज के अधिकारियों को इनकी भाषा अधिक पसन्द थी। सार रूप में

---

१. नक्लियाते हिन्दी और लतीफ़ ये हिन्दी.

२. दि ऐनल्स आफ दि कॉलिज ऑफ फोर्ट विलियम में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है : "Pram Sagor... Translated at the desire of John Gilchrist into Hinduvia from the Braja Bhasha of Chatoorbhuj Misr, by Sree Lalloo Lal Kub, Bhasha Moonshee in the College of Fort William, Calcutta Printed at the Sanskrit Press in one Vol. 4 to, 1810.'

३ सिंहासन बत्तीसी, शकुन्तला नाटक, माधवानल, काम कन्दला, बैताल पच्चीसी।

यही कहा जा सकता है कि इन दोनों लेखकों की गद्य-शैली कट-छँट कर आगे के विकास की सूचना देने लगी। इस समय तक के गद्य में भाषा-शैली की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया : कथ्य में सामयिकता नहीं है। प्रायः कथा-कहानी ही कही गई हैं।

ईसाई धर्म का प्रचार भी हिन्दी-गद्य को कुछ सहायता दे रहा था। हिन्दी प्रदेश में ईसाई प्रचारकों का सर्वप्रथम प्रवेश सन् १८१० में हुआ।[1] पर इससे पूर्व ही इनका हिन्दी सम्बन्धी कार्य आरम्भ हो चुका था। बाइबिल का एक गद्यानुवाद फोर्ट विलियम कालिज ने भी प्रकाशित किया था। बाइबिल के हिन्दी अनुवाद का कार्य प्रचारकों ने १८०३ से आरम्भ कर दिया था। इन्होंने अपने द्वारा सञ्चालित संस्थाओं के लिए हिन्दी पाठ्य ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया। प्रचारक-लेखकों ने सदासुख लाल और लल्लूलाल की भाषा के आदर्श को ग्रहण किया। अंग्रेजी रचना पिलग्रिम्स प्रोग्रेस के हिन्दी रूपान्तर 'यात्रा स्वप्नोदय' का एक नमूना देखिए—

> "उसी दशा में वह घर फिर आया और कहीं घर के लोग स्त्री-पुत्रादि इस बात को न जान लेवें, इस कारण अपने चित्त में यथा शक्ति धीरज धर चुपका हो रहा, परन्तु चित्त के दुःख के बढ़ने से जब उस दुःख को न सह सका तब स्त्री पुत्रादि के निकट अपने मन का सम्पूर्ण शोक खोल कर कहने लगा कि हे प्रिय भार्या ! हे मेरे प्यारे पुत्रो ! मेरे ऊपर तुम्हारा बड़ा स्नेह है।"

इस उदाहरण को देखने से उर्दू-फ़ारसी शब्दों के न प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। अंग्रेजी के प्रभाव से वाक्य कुछ लम्बे हो जाते हैं। वैसे भाषा अधिक परिमार्जित नहीं है। "हिन्दी भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण हाथ है।"[2]

भारत में ईसाई प्रचारकों की प्रतिक्रिया में अथवा भारतीय चेतना को जाग्रत करने की दृष्टि से धार्मिक या सुधारवादी संस्थाओं का जन्म भी हो रहा था। हिन्दी क्षेत्र में आर्य समाज का उदय हिन्दी-गद्य के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय घटना है। आर्य समाज के जन्म के साथ विधिवत् आन्दोलन तो १८७५ से आरम्भ हुआ। पर इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने विचार पहले से ही हिन्दी में प्रचारित करने आरम्भ कर दिए थे। यद्यपि वे मूलतः गुजराती थे तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' उनकी महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ का गद्य व्यवस्थित और भाषा परिमार्जित है।

विदेशी सम्पर्क से एक नवीन युग करवट लेने लगा था। फलतः विचारों में उत्तेजना और आधुनिकता आई। योरुप की वैज्ञानिक सभ्यता अपना जादू फैलाने

---

१ जॉन क्लार्क मार्शमैन : दि लाइफ एण्ड टाइम्स आफ कैरे, मार्शमैन एण्ड वार्ड, पृ० ४२६

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ३७६

लगी। समाज के अनावश्यक और मृत अङ्ग स्पष्ट हो गये। सामाजिक सुधार की लहर के पीछे नवीन चेतना ही सजग थी।

मुद्रण-कला का प्रसार होने लगा। प्रेस की सुविधा ने गद्य के लिए एक पृष्ठ-भूमि भी तैयार की और गद्य-लेखकों को अधिक लिखने की प्रेरणा भी दी। सन् १८२४ में हिन्दी प्रदेश में सबसे पहले हिन्दी प्रेस की स्थापना हुई। लल्लूलाल कालिज की नौकरी छोड़ कर अपने प्रेस को लेकर आगरे में आकर बस गए। ईसाई प्रचारकों ने सन् १८४० में आगरे के निकट सिकन्दरा में सबसे पहले अपने प्रेस की स्थापना की। फिर धीरे-धीरे प्रेसों का जाल फैलता गया।

मुद्रण-कला के प्रचार का स्वाभाविक परिणाम पत्र-पत्रिकाओं का आरम्भ होता है। हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' बंगाल से १८२६ में चला।[1] यह साप्ताहिक पत्र था। इसकी गद्य-शैली और भाषा का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों से हो जाता है :

> "एक वकील वकालत का काम करते-करते बूढ़ा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन यह काम करके एक दिन आया और प्रसन्न होकर बोला हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना औ सङ्गीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ यह सुनकर वकील पछता करके बोला कि तुमने सत्या-नाश किया... ।"

इससे स्पष्ट होता है कि गद्य की भाषा तो अव्यवस्थित है, फिर भी एक व्यावहारिक रूप मिलता है। आगे चल कर इसकी भाषा फ़ारसी मिश्रित हो गई। एक पंक्ति देखिए : 'अब वह मकान एक आलीशान बनने को निशान तैयार हर चेहरा तरफ से हो गया बल्कि इसके नक़शे का बयान पहले मुंदर्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही और मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।" यह भाषा हिन्दी के नाम पर उर्दू ही है। इस पत्र की भाषा की प्रतिक्रिया में बनारस से 'सुधाकर' नामक पत्र निकला। इस प्रकार हिन्दी क्षेत्र में पत्रों की बाढ़ आने लगी। पत्रों की बाढ़ के साथ हिन्दी-गद्य का भी विकास तीव्र गति से होने लगा। इस प्रकार भारतेन्दु पूर्व युग में गद्य की उन्नति का साजो-सामान प्रचुर हो गया था।

इस काल की गद्य की तीन धाराएँ मिलती हैं : ब्रज और अवधी से रञ्जित संस्कृत गर्भित हिन्दी गद्य, शुद्ध हिन्दवी की चुलबुली गद्य, शैली और अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित गद्य। द्वितीय गद्य रूप तो प्रायः समाप्त हो चला। यह सुधार, राज-नीति, आलोचना जैसे विषयों के लिए उपयुक्त शैली नहीं थी। आगे कुछ दिन तक संस्कृत गर्भित और फ़ारसी मिश्रित गद्य शैलियाँ चलीं। प्रथम के साथ राजा लक्ष्मण सिंह का नाम आता है और द्वितीय के साथ राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का।

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु पूर्व युग में गद्य की उन्नति

---

१. इसका पहला अङ्क ३० मई १८२६ में प्रकाशित हुआ।

और उसके विकास के लिए पर्याप्त सामग्री और सुविधाएँ उपस्थित हो गई थीं। मानसिक रूप से भी देश की नवोदित चेतना गद्य-रूपो की माँग कर रही थी। पद्य की कारा में वह समा नहीं पा रही थी। परन्तु गद्य की भाषा का रूप सुनिश्चित नहीं हो पाया था। गद्य-भाषा और शैली के सम्बन्ध में प्रयोग चल रहे थे। राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द 'आम फ़हम और ख़ास पसन्द' भाषा का समर्थन कर रहे थे। आरम्भ में इसमें संस्कृत तत्सम और तद्भव शब्द पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते रहे। राजा साहब सारे देश में एक भाषा और लिपि का प्रचार करना चाहते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर उन्होंने देवनागरी लिपि में उर्दू की बहुलता वाली भाषा को अपनाया। राजा लक्ष्मण सिंह ने शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया और संस्कृत तत्समों से उसे लाद दिया। अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार कर दिया। पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय ने शुद्ध हिन्दी गद्य का प्रचार किया।

३. आ. भारतेन्दु युग—

भारतेन्दु जी ने सबसे पहले भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था और अनेक रूपता को दूर करना चाहा। भारतेन्दु जी ने भाषा के सर्वथा नवीन रूप के उदय होने की सूचना दी: "हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।" (कालचक्र) भारतेन्दु जी ने अपने से पूर्व चली आती गद्य शैलियों को देख कर अपना स्वतंत्र मार्ग निकाला। एक प्रकार से न उन्हें अरबी-फ़ारसी से मिश्रित गद्य-शैली ही रुची और न कृत्रिम तत्सम बहुल भाषा में लिखी नूतन गद्य शैली इन्होंने एक व्यावहारिक गद्य भाषा को अपनाया। इसमें अरबी-फ़ारसी के उन शब्दों का प्रयोग चलता रहा जो व्यवहार में घुलमिल गए थे। अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से भी आपत्ति नहीं थी। भारतेन्दु-कालीन लेखकों ने शासन सम्बन्धी शब्द, प्रतिदिन प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के अंग्रेजी शब्द, शिक्षा, विज्ञान आदि की अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग होने लगा। भारतेन्दु जी के 'नई चाल में ढली' वाक्य का तात्पर्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार समझाया है: 'नई चाल से उनका तात्पर्य यह था कि इस समय उन्होंने जिस भाषा की नींव डाली, उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं था और न किसी प्रकार से कृत्रिम रूप से वह गढ़ी हुई थी।'[1]

भाषा सुनिश्चित हो जाने पर गद्य-विधान को सँवारा गया। उसमें नवीन शक्तियों का सञ्चार हुआ। शक्तिशाली गद्य अनेक विधाओं के उपयुक्त होता है। पद्यात्मक विधाओं के समान ही गद्य-विधाएँ भी लोकप्रिय होने लगीं। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का विकास हुआ। पत्र पत्रिकाओं में ये विधाएँ अधिकांश में प्रकट होने लगीं।

गद्य की विधाओं के लिए कथ्य सामग्री के चुनाव की प्रेरणा राष्ट्रीयता से मिलने लगी। नवीन राष्ट्रीयता की प्रेरणा और उसका स्वरूप भारत में स्थिर हो गया। यह एक अभूतपूर्व भावना थी। गद्य-विधाओं में एक ओर शोषितों और

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ३६४

शासितों की दुर्दशा का यथार्थ चित्र रहता था, दूसरी ओर अतीत का आदर्शवादी चित्रण। शासन-व्यवस्था और नवीन-अर्थ-व्यवस्था और उसके दुष्परिणामों की व्यंग्याश्रित आलोचना में भी क्षुब्ध भारत की अन्तर्वेदना प्रकट होती रही। भारतेन्दु जी इन बदली हुई परिस्थितियों में एक साहित्य-नेता की भाँति अपने युग की अन्य प्रतिभाओं के लिए आकर्षण-केन्द्र बन गए। समस्त लेखकों को मिला कर हम एक सक्रिय भारतेन्दु मण्डल को देखते हैं। इस मण्डल के प्रमुख नक्षत्रों में : प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, डा० जगमोहन सिंह, बद्रीनारायण चौधरी, प्रेमघन, श्री निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी और राधाकृष्ण दास सभी ने अपनी-अपनी निजी शैली और विशेषताओं से गद्य-भारती का अनुपम शृङ्गार किया।

हिन्दी गद्य की उन्नति में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का विशेष हाथ रहा है। कितनी ही पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं।[1] मुद्रण-कला के व्यापक विकास के परिणाम स्वरूप अनेक पुस्तकों का मुद्रण-प्रकाशन हुआ।

प्रायः सभी गद्य-विधाओं का विकास हुआ। नाटकों के कई रूप पनपे। ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक नाटक और उपन्यास लिखे गए। अनेक प्रहसनों का प्रयोग हुआ। अनेक नाटक स्वच्छन्दतावादी हैं। राष्ट्रीय भावना तो सभी विधाओं में ओत-प्रोत है ही।

इस युग का लेखक जागरूक है। भारतेन्दु पूर्व युग में लेखक कथ्य के सम्बन्ध में इतना सजग नहीं था। उसकी प्रतिभा का राष्ट्रीय संस्कार भी नहीं हो पाया था। वह भाषा-प्रयोगों में ही उलझता रहा। इस युग के लेखक को भाषा सम्बन्धी द्विविधा का सामना नहीं करना पड़ा : कथ्य के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि स्वच्छ हो गई। व्यापक राष्ट्रीय भावना ने सभी लेखकों को एक सूत्र में बाँध दिया और सभी जैसे सामूहिक रूप से गद्य के विकास-कार्य में संलग्न हुए।

इस युग का लेखक गद्य की शैली के प्रति सचेष्ट था। प्रतापनारायण मिश्र ने सहज, चटुल शैली का सूत्रपात किया। इस शैली का निर्वाह प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों के कलात्मक प्रयोग ने किया। ग्रामीणता का पुट भी शैली की सजीवता को कहीं तो बढ़ाता है—कहीं दोष भी लगाता है। हास्य और व्यंग्य की सफलता के लिए मिश्रजी ने हर सम्भव भाषा-शक्ति को काम में लिया। बालकृष्ण भट्ट की शैली तीखी, खरी और तिलमिला देने वाली है। इन्होंने हिन्दी गद्य को एक प्रगल्भता और शिष्टता प्रदान की। एक ओर इन्होंने संस्कृत तत्समो से भी मुँह नहीं मोड़ा, दूसरी ओर लोकोक्ति और मुहावरों की सजीवता को भी नहीं छोड़ा। बदरीनारायण चौधरी ने शुद्ध, परिमार्जित, सानुप्रास, चमत्कार युक्त गद्य का सूत्रपात किया। इनकी अलङ्करण-शक्ति और शब्द-चयन पद्धति उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार भारतेन्दु युगीन

१. कवि वचन सुधा, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, हिन्दुस्थान, मित्र विलास, आर्य दर्पण, धर्म दिवाकर, क्षत्रिय पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका आदि।

लेखकों ने गद्य-शैली का भी पर्याप्त किया। परिमाण की दृष्टि से भी इस युग में पर्याप्त गद्य लिखा गया।

३. इ. द्विवेदी युग—

द्विवेदी जी के आगमन से तो यथार्थतः गद्य युग का उन्नयन आरम्भ हो गया। गद्य की सभी विधाओं का विकास आरम्भ हुआ। यहाँ तक कि गद्यगीत की विधा ने यह भी सिद्ध कर दिया कि काव्य भी गद्य के माध्यम से सम्भव है। गद्य का इतना विकास हुआ कि भारतेन्दु युग इस युग की प्रस्तावना मात्र दिखलाई देने लगा। इस युग के आरम्भ में 'सरस्वती' का प्रकाशन और उसका सम्पादन द्विवेदी जी के हाथ में आना—दो प्रतीक-घटनाएँ कही जा सकती है।

भारतेन्दु युग में गद्य में कथ्य का विस्तार तो पर्याप्त था, पर उसमें गहराई इतनी नहीं थी। समग्रता और सम्पूर्णता के आदर्श इतनी दृढ़ता से स्थापित नहीं हुए थे। इस युग में विषय का विस्तार भी हुआ और उसमें विशदता भी आई। आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष भारतेन्दु युग में पनप नहीं सके थे। इस युग में आलोचनात्मक गद्य प्रौढ़ हो गया। कहानी और उपन्यास नवीन परिवेशों और सन्दर्भों से युक्त होने लगे। भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रीयता और सुधारवाद, मानवतावाद और गांधीवाद की प्रेरणाओं से उदात्त और व्यापक हो गए। दृष्टि विस्तृत हो गई। विश्व की हलचलों का प्रभाव दृष्टि पर पड़ने लगा। सामाजिक चेतना कभी स्वतंत्र रूप से उत्कट और बौद्धिक शैली में व्यक्त होने लगी। कभी राजनैतिकवादों की छाया चेतना की अभिव्यक्ति पर पड़ने लगी।

जहाँ तक गद्य की भाषा का सम्बन्ध है, संस्करण की प्रवृत्ति जग पड़ी। भारतेन्दु युग ने गद्य की भाषा को व्यवस्थित और एक रूप किया : उसको युगानुकूल नवीन साँचे में ढाला भी। व्याकरण और भाषा की अन्य अशुद्धियों की ओर ध्यान आकर्षित करके द्विवेदी जी ने अपने मण्डल के लेखकों को सजग कर दिया। इससे भाषा परिनिष्ठित होने लगी और उसकी शक्तियों का विकास होने लगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि कथ्य की गम्भीरता और विशदता ने भाषा को भी गम्भीर रूप प्रदान किया। सबसे अधिक बल द्विवेदी जी ने भाषा की शुद्धता पर दिया। द्विवेदी जी ने लिखा : "शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता...जहाँ तक सम्भव हो शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए।...मुहावरे का भी विचार रखना चाहिए। बे मुहाबरा भाषा अच्छी नहीं लगती।"

इस युग के गद्य को उन्नत करने का श्रेय इन लेखकों को है : "माधव प्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्ण सिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। इन्होंने अपने निबन्धों में गद्य की अनेक शैलियों का प्रयोग किया।

कई नवीन गद्य-विधाओं का भी जन्म हुआ जैसे संस्मरण, जीवनी आदि। कहानी के क्षेत्र में पार्वती नन्दन, रायकृष्ण दास, किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजादत्त-

वाजपेयी, गोपालराम गहमरी आदि का नाम उल्लेखनीय है। नाटककारों में जी० पी० श्री वास्तव के व्यंग्यों ने हिन्दी गद्य को लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार गद्य की सभी पूर्वकालिक विधाओं का उन्नयन और नवीन विधाओं का जन्म हुआ। गद्य अपने शैशव को पार करके यौवन में प्रविष्ट हो गया।

३. ई. प्रसाद युग—

राष्ट्रीयता देश की संस्कृति से एकाकार हो गई। इस युग में हिन्दी-गद्य का कथ्य सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और सामाजिक बना रहा। अब राष्ट्रीयता का अर्थ हो गया भारतीय जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति। सभी पक्षों में भारतीय चिन्तन को सजाना-सँवारना इस युग के लेखक ने अपना कर्तव्य समझा। प्रसाद युग में हिन्दी गद्य का स्वर्ण-युग घटित हुआ। गद्य की सभी विधाएँ अपने चरम पर पहुँची। विचारों में गम्भीरता और प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिकता इस युग के गद्य की अन्तर्बाह्य विशेषताएँ हैं। द्विवेदी युग में जो स्थूलता थी, वह इस युग में सूक्ष्मता में बदल गई। विवरण और वर्णन का स्थान विवेचन और व्याख्या ने लिया। यदि गद्य—विचारात्मक रही तो आदर्श चिन्तन की सूक्ष्मता और विषय की सम्पूर्णता आदर्श बनी रहीं। भावात्मक गद्य में शैली की तरलता मिलती है : अलङ्करण है तो सही, पर कविता की कोटि का नहीं और भावुकता का आधार भी सांस्कृतिक रहता है।

प्रसाद जी ने एक भावात्मक काव्यमय गद्य-शैली का सूत्रपात किया। अनेक भावात्मक निबन्ध इस युग में लिखे गए। भावात्मक गद्य-शैली के उन्नायकों और विधायकों में वियोगी हरि, रायकृष्ण दास, माखनलाल चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है। डाक्टर रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक आधार पर भावात्मक निबन्ध लिखे—खँडहरों का एक-एक पत्थर बोल उठा और इतिहास के एक-एक पन्ने की पीड़ा को लेखक ने पहँचाना। बाबू गुलाबराय के निबन्धों में भी शैली भावात्मक ही है, उनमें हास्य और व्यंग्य का प्रयोग एक नवीन शैली का आभास देता है।

विचारात्मक निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गद्य को सँवारा। परिभाषा, व्याख्या, विवेचन और उदाहरण जैसे उनकी गद्य में धीर-गम्भीर या हलकी लहरें बन कर समा गये हैं। शोध-परक निबन्धों में प्रसाद जी के 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्धों' की गणना है। इनमें गद्य को भावात्मक उत्कर्ष से मुक्त रखा गया है। दृष्टि अतीत और विकास की समस्त कड़ियों को जोड़ती चलती है।

दार्शनिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रौढ़ गद्य के दर्शन होते हैं। कहानी साहित्य में गद्य के पुराने रूप छूट गए। अब समाज और व्यक्ति के समस्त तथ्य और यथार्थ-कथा साहित्य में उतरने-उभरने लगे। गाँव भी आया और शहर भी। सभी वर्गों को कथा-साहित्य में अभिव्यक्ति मिलने लगी। कथा-साहित्य का गद्य इस प्रकार यथार्थोन्मुख हो गया। भाषा, पात्र और घटनाओं के अनुकूल होने लगी।

समीक्षात्मक गद्य का प्रतिनिधित्व शान्तिप्रिय द्विवेदी कर रहे हैं। समीक्षा को

काव्यमय शैली में उन्होंने रखा है। यही उनकी विशेषता है। इस प्रकार शैली के घटा-टोप में मूल्याङ्कन उलझ सा जाता है। वैसे गम्भीर समीक्षात्मक लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखे।

गद्य के विषयों में मनोविज्ञान भी जुड़ गया : गुलाबराय जी ने मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखे। पुरातत्व और इतिहास को भावात्मक दृष्टि से ही नहीं, विश्लेषणात्मक दृष्टि से भी देखा गया। इस क्षेत्र में वासुदेवशरण अग्रवाल का योगदान ऐतिहासिक है। शोधपरक, पाण्डित्यपूर्ण गद्य का इन्होंने सूत्रपात किया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी पाण्डित्यपूर्ण गद्य का विकास-विस्तार किया।

इस प्रकार शैली और वस्तु के वैविध्य की दृष्टि से प्रसाद-युग हिन्दी-गद्य का स्वर्ण-युग है। शब्द और अर्थों की नवीन शक्तियों की खोज से भाषा की शक्ति में भी वृद्धि हुई।

३. उ. प्रगतिवादी युग—

छायावाद की अतिकाल्पनिकता की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद का अवतरण हुआ। छायावादी आन्दोलन मूलतः दार्शनिक मान्यताओं पर आश्रित रहा है। यद्यपि यह आधुनिक युग का आन्दोलन है, फिर भी वेदान्ती मान्यताओं के निकट है। अन्तर यह है कि छायावाद में तादात्म्य, समन्वय, वास्तविकता का प्रश्न कला एवं अनुभूति के माध्यम से उठाया गया है। क्रान्तिकारी तत्त्व छायावादी चेतना में यत्र-तत्र ही बिम्बित मिलते हैं। तत्कालीन वास्तविकता से चेतना का अतादात्म्य बना रहा। वह वास्तविकता अत्यन्त स्थूल और अकाव्यात्मक थी।

छायावाद ने गद्य के माध्यम से भी वास्तविकता को प्रकट नहीं किया। छायावादी गद्य भी अतीन्द्रिय की ऊहापोह में पला। इसका सजाव-शृङ्गार काव्यात्मक ही रहा। बौद्धिक चेतना आध्यात्मिक चेतना से नीचे रही। फिर भी गद्य भूमिकाओं या स्वतंत्र लेखों के रूप में लिखा जाता रहा। महादेवी के रेखा-चित्रों में गद्य का चित्रात्मक रूप निखरा है। निराला ने अपने लेखों में साहित्य-समीक्षा को गम्भीर रूप में प्रस्तुत किया है। पन्त जी के 'गद्य पथ' का गद्य एक फूल भरी डाली के समान रङ्गीन है।

प्रगतिवादी युग काव्य की दृष्टि से ही नहीं, गद्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। देश व्यापी स्थूल वास्तविकताओं का चित्रण गद्य के माध्यम की खोज में था। प्रगतिवादी युग में निबन्ध तो कम ही लिखे गए। पर रिपोर्टाज़, डायरी, इन्टरव्यू, सम्मान जैसी गद्य-विधाओं का जन्म हुआ, जो जीवन की यथार्थताओं से तादात्म्य करती थीं। कथा-साहित्य भी जीवन की वास्तविकताओं को तीखे और क्रान्तिकारी स्वरों में व्यक्त करने लगा। इस प्रकार गद्य जीवन के अधिक निकट आया। गद्य में मनुष्य की झाँकी पूर्ण हुई। यशपाल, अमृतलाल, डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन जैसे लेखकों की साधना से हिन्दी-गद्य यथार्थोन्मुख हुआ। प्रगतिवादी दृष्टिकोण से

पृथक् आलोचना के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० सम्पूर्णानन्द जैसे समर्थ लेखक भी कार्यरत रहे।

प्रगतिवाद के पश्चात् गद्य की भाषा का नवीन संस्कार और वस्तु की नवीन योजना नई कहानी के आन्दोलन के द्वारा होती है। गद्य की लोकप्रियता बढ़ती गई। काव्य भी गद्यात्मक भाषा-विधान और विषय-वस्तु को लेकर चला। आज गद्य नवीन प्रयोगों में होकर गुज़र रहा है। उसकी युगानुकूल सज्जा हो रही है। उसमें व्यक्ति के विविध रूप-कुरूप प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। गद्य की भाषा बड़ी उदारता से व्यावहारिक शब्दों से सजीव हो रही है। जो शब्द दैनिक जीवन में प्रयुक्त होते हैं, उनका प्रयोग वातावरण की यथार्थता के चित्रण के लिए आवश्यक है। आज की कहानी वातावरण प्रधान है। वातावरण की यथार्थता प्रयुक्त शब्दों पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। अनुभवों को यथावत् चित्रित करना ही आज की कहानी का कर्तव्य है। इस प्रकार गद्य का विकास आज प्रत्येक दृष्टि से हो रहा है। औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास के साथ गद्य की उन्नति होना स्वाभाविक है। हिन्दी का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि आज का हिन्दी-गद्य किसी भी गतिविधि में पिछड़ा नहीं रहा। उसकी सज्जा युगानुकूल हो रही है।

भावी सम्भावनाओं में हिन्दी गद्य पिछड़ा नहीं है।

३. ऊ. राष्ट्र-भाषा युग—

भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान साहित्यकार का रहा। भारत की सभी प्रदेशीय भाषाओं में विद्रोह के स्वर मुखरित हो उठे। हिन्दी भाषा तो क्रान्ति का प्रतीक ही बन गई। नूतन वातावरण के निर्माण का युगबोध इन साहित्यकारों की सबसे बड़ी देन है। अनवरत संघर्ष के फल स्वरूप १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्र और स्वराज की युग प्रतीक्षित घड़ी आ पहुँची। भावी भारत के पुनर्निर्माण के स्वरूप का आधार भारतीय संविधान प्रस्तुत हुआ। संविधान में भारत में व्यवहृत होने वाली चौदह भाषाओं को संवैधानिक महत्त्व प्रदान किया गया तथा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को राष्ट्र की राजभाषा स्वीकृत किया गया। साथ ही यह व्यवस्था की गई कि १५ वर्ष की अवधि में सभी सरकारी कार्यवाही हिन्दी से लिखें, पारिभाषिक शब्दावलियाँ प्रस्तुत हो सकें। अतः २६ जनवरी १९६५ से हिन्दी पूर्णतः भारत की राज-भाषा हो। सर्वत्र अंग्रेजी के स्थान पर इसका ही व्यवहार हो।

संविधान के इस महत्त्वपूर्ण निर्णय के फल स्वरूप हिन्दी गद्य के क्षेत्र में सुदीर्घ परिवर्तन हुए। हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य दो पृथक् स्वरूप निर्धारित हो गये। मानव के काम काज का माध्यम है, अतः उसमें सर्वत्र एक रूपता होनी चाहिए। नूतन भावों तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दों के लिए पारिभाषिक शब्द-कोषों की रचना होने लगी। सभी का लक्ष्य भाषा के स्वरूप में एक रूपता प्रतिपादित करना था। परिचय स्वरूप नित्य नवीन शब्दों की सृष्टि एवं प्रयोग होने लगा। शब्दों से

क्रियाएँ (फिल्म से फिल्माना) बनने लगीं। अभियांत्रिक, अभियन्ता, ऊर्जा, ऊर्ज-स्विता जैसे नवीन शब्द व्यवहार क्षेत्र में आये तो भौतिकी, वैभातिकी, रसायानिकी जैसे नूतन प्रयोग स्थिर हुए।

इस संक्रमणकाल में हिन्दी ने अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा तथा उर्दू एवं सह-योगिनी प्रान्तीय भाषाओं से शब्द लेकर अपने स्वरूप को समृद्ध किया। शब्द-निर्माण में संस्कृत की स्वीकृत परम्परा को अधिकृत कर गद्य के क्षेत्र में पूर्णता की स्थिति का समावेश सम्भव बना दिया। इस प्रकार हिन्दी-गद्य अपने प्रचलित परिधान में परिष्कार कर नूतन अभिनव स्वरूप को धारण करने में समर्थ हो सका है।

इस युग में एक ओर हिन्दी गद्य का नवीन रूप शासकीय राज पत्र, (गजट) परिपत्र, घोषणा नीति सम्बन्धी वक्तव्य, संसद एवं विधान मण्डल की कार्यवाही, विभिन्न आयोगों की आख्यानों आदि में सुरक्षित है दूसरी ओर आलोचना, गोष्ठी, संगोष्ठी, पत्रगोष्ठीवाद, प्रतिवाद, विवाद, संवाद, परिसंवाद, संलाप, निर्णय, यात्रा-विवरण, पत्र, सन्धि पत्र, विरोध पत्र, स्मरण पत्र, स्मृति पत्र, माँग पत्र, समाचार-दर्शन, समाचार, समीक्षा, स्मारिका, विचारिका, प्रसारिका पत्र, डायरी, साक्षात्कार, निविदा सूचना आदि में भी अभिनव स्वरूप मिलता है। यहाँ निर्विवाद रूपेण यह कहा जा सकता है कि राजभाषा के रूप में पूर्ण व्यवहार होने की दशा में हिन्दी गद्य में कुछ और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे जिनका हमें स्वागत करना है।

२६

हिन्दी निबन्ध : प्रवृत्तिगत विकास

१. निबन्ध की परम्परा
२. हिन्दी निबन्ध युग-विभाजन
३. हिन्दी निबन्ध पर अंग्रेजी प्रभाव
४. भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग
५. प्रसाद एवं प्रगतिवादी युग
६. उत्तर कालीन युग
७. आधुनिक प्रवृत्ति
८. उपसंहार

प्रयत्न करके भी हिन्दी निबन्ध की परम्परा को अतीत में बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता। अपने वर्तमान रूप में निस्सन्देह यह आधुनिक युग की देन है। निबन्ध के विकास के लिए जिस प्रकार की मनोवृत्ति और परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, आधुनिक युग में वे अनायास उपस्थित हो गईं। "निबन्ध व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप है और जन-विकास का यथार्थ पत्रक है। निबन्ध किसी देश के जनसत्तात्मक विचार-स्वातंत्र्य और उदार सामाजिकता का लेखा है।"[१] इसमें सन्देह नहीं कि सन् १८५७ के पश्चात् देश में एक जागरूकता आने लगी थी। अपनी स्थिति का विश्लेषण और घिनौनी दासता से मुक्ति पाने के लिए एक बौद्धिक चेतना का विकास होने लगा था। इस बौद्धिक चेतना के साथ-साथ देश-प्रेम का रागात्मक तत्त्व भी विकसित हो रहा था। अपने इतिहास के प्रकारों को हम राग-विह्वल होकर सुनने लगे थे, इस प्रकार की मनःस्थिति वस्तुतः निबन्ध के लिए उपयुक्त होती है।

साथ ही वे स्थूल सुविधाएँ भी जुटने लगीं थीं जो निबन्ध के प्रसार के लिए आवश्यक होती हैं। मुद्रणकला, पत्रकारिता, व्यावहारिक भाषा की प्रतिष्ठा और एक जनव्यापी चेतना, ये सुविधाएँ हैं जो अंग्रेजी के सम्पर्क और आन्तरिक कारणों से भी प्राप्त हो गई थी। अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य वैज्ञानिक संस्कृति का सम्पर्क निबन्ध के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता थी एक माध्यम की। जो लेखक और पाठक को एक कर सके। लेखक परतंत्रता के प्रति असहिष्णु और विद्रोही हो चुका था। जनमत का निर्माण करना उसका दायित्व था। अब उसे सारा आक्रोश जनव्यापी बनाना था। कभी व्यंग्य से कभी प्रीति से अपनी समस्त दुर्बलताओं से परिचित कराकर लेखक और पाठक को बौद्धिक उत्तेजना देना चाहता था, निराशा नहीं। इसकी आवश्यकता इसलिए थी कि उसे जनसत्तात्मक वातावरण बनाना था। अपनी बात कहने के लिए उसका अस्तित्व बेचैन हो गया था। इसलिए शैली की व्यंग्य भंगिमाओं के आश्रय से ही वह एक कहने की स्वाधीनता का मार्ग निकाल देता था। धीरे-धीरे निबन्ध की वस्तु और शैली में विकास होता गया छोटा ही सही पर हिन्दी निबन्ध का इतिहास गौरवपूर्ण बन गया। इस संक्षिप्त इतिहास पर इन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया गया है : (१) अंग्रेजी-प्रभाव (२) भारतेन्दु युग (३) द्विवेदी युग (४) प्रसाद युग और (५) प्रगतिवादी युग।

१. अंग्रेजी प्रभाव —

अंग्रेजी में निबन्ध का जन्म १४ वीं शती के उत्तरार्द्ध में हो चुका था। 'मोनतैड' आदि इस विधा के प्रवर्तक या प्रथम प्रयोक्ता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। बेकन ने इस शैली को गति और नवीन दिशा दी। फिर निबन्ध के रूप और प्रकारों का विकास होता गया। ये दोनों ही व्यक्तित्व शैली और वस्तु की दृष्टि से निबन्ध के दो प्रमुख प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मोनतैड ने शैली और वस्तुविन्यास सम्बन्धी

१. हिन्दी निबन्धकार नलिन'

जितनी स्वच्छन्दता का उपयोग अपने निबन्ध-लेखन में किया, उतना बेकन ने नहीं। बेकन में बौद्धिकता का नियंत्रण जटिल होता गया। ज्ञान-सूत्रों को निबन्ध के वाक्यों में बेकन ने बाँधा है, उनके इन सूत्रात्मक वाक्यों के पीछे गहन चिन्तन और मनन था। ज्ञानात्मक सूत्रों की सजावट ही शैली की बनावट बन गई। इनकी शैली में व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रकाशन नहीं मिलता। जॉन-अर्ल में व्यक्तित्व की फिर से प्रतिक्रिया हुई। 'सुरुचिपूर्ण आकर्षण, 'मनोरञ्जन विचार' और एक कलात्मक अनुमान भी इनके निबन्धों में मिलता है। व्यक्तित्व की स्वच्छ अभिव्यक्ति इनके निबन्धों में नहीं मिलती। गोल्डस्मिथ का 'कवि उपन्यासकार' और 'नाटककार' उनके निबन्धकार को भी शक्तिशाली बना देता है। व्यक्तित्व की निर्द्वन्द्वता इनके निबन्धों से प्रतिबिम्बित है। लैम्ब ने आत्मपरक निबन्ध-शैली की स्थापना की। हैजलिट ने यथार्थ की ओर दृष्टि रखी पर कल्पना से यथार्थ में एक सुरुचिपूर्ण स्वाद उपस्थित किया। आर्नल्ड ने साहित्य के मूल्य और उसकी नैतिकतावादी समीक्षा के सम्बन्ध में गम्भीर निबन्ध लिखे। बर्ट्रेंड रसल के विचार-प्रधान निबन्ध विश्व विख्यात हैं। आगे भी अनेक निबन्धकार हमें आकर्षित करते हैं। तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी निबन्ध-परम्परा अत्यन्त समृद्ध और प्रगतिशील थी। उसमें शैली, वस्तु और प्रकारों का पर्याप्त वैविध्य प्राप्त होता है। हिन्दी के लेखकों में भी इस परम्परा का न्यूनाधिक रूप प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी के क्षेत्र में उक्त अंग्रेजी लेखकों की कृतियाँ बहुत पहले ही पाठ्यक्रम में स्वीकृत हो चुकी थीं।[1] अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक इन लेखकों के निबन्धों के सम्पर्क में आने लगे। भारतेन्दु युग के लेखकों पर अंग्रेजी निबन्धकारों का प्रभाव प्रायः नगण्य-सा है। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में पोप, गोल्डस्मिथ, टेनीसन, स्टुअर्ट मिल आदि के उद्धरण मिलते हैं। ये ही उद्धरण उन पर अंग्रेजी प्रभाव के द्योतक हैं। प्रतापनारायण मिश्र पर इतना भी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। उन्होंने अनेक हिन्दी शब्दों की व्यंग्यपूर्ण व्याख्या की है। अंग्रेजी में इस प्रकार की शैली जांनसन में मिलती है। उस समय में हिन्दी-क्षेत्र में जांनसन लोकप्रिय भी था। हो सकता है कि मिश्र जी ने इनसे प्रभाव ग्रहण किया हो।

बालमुकुन्द गुप्त पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने पाठकों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए मनमौजी, भङ्ग-प्रिय भावुक, अलमस्त, स्वप्न-द्रष्टा, शिव-शम्भु के चरित्र की कल्पना की है। इसी प्रकार के चरित्र एडीसन और स्टील के निबन्धों में मिलते हैं।

सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सरदार जी ने इंग्लड और अमेरिका के प्रमुख लेखकों को पढ़ा था। एक द्विवेदी प्रकृति के कवि वाल्टह्विटमैन की रचनाओं का भी उन्होंने अध्ययन किया था। इनका प्रभाव गांधीवादी विचारधारा से मिल कर इनके निबन्धों में उभरा है। इसी प्रकार अन्य

१. जयनाथ नलिन, हिन्दी निबन्धकार, पृ० १

हिन्दी-लेखकों को भी अंग्रेजी-लेखकों ने प्रभावित किया था। इस प्रभाव ने हिन्दी-निबन्ध को नूतन दृष्टि और दिशा प्रदान की।

२. भारतेन्दु युग—

इस युग की परिस्थिति का विवरण श्री जयनाथ 'नलिन' ने इस प्रकार किया है :[१] "भारतेन्दु युग में नवीन चेतना जाग रही थी। नवीन और पुरातन के संघर्ष का काल। नये विचार तेजी से अपने लिए रास्ता बना रहे थे। हिन्दी साहित्य जागरण की अंगड़ाई ले रहा था। जीवन नई दिशा की ओर अग्रसर था। अनेक पत्र पत्रिकाएँ जन्म ले रही थीं। जीवन में फक्कड़पन और अक्खड़पन—ऐसा युग निबन्ध के लिए बहुत ही उपजाऊ है। मस्त और फक्कड़ लेखक ही पाठक से सीधी बात कर सकते हैं।" इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों में अच्छे निबन्ध लिखे गये। जागरण के क्षणों की तोतली बातें ही इनमें नहीं, प्रौढ़ व्यंग्य और समस्या का रूप भी इस युग के निबन्धों में उभरा है। लेखक का व्यक्तित्व भी अपनी समस्त अनुभूतियों और देश-व्यापी पीड़ाओं को लेकर शैली में प्रोद्भासित है। उसका फक्कड़पन उसे पराधीनता की पीड़ा से अलग नहीं करता, उसकी शैली को अल्हड़ता देता है। अपनी विविधता और सजीवता में इस काल के निबन्ध सर्वोपरि प्रतीत होते हैं। इस युग के निबन्ध में सर्वतोमुखी जनजागरण मिलता है।

लेखक के सामने यह प्रश्न था कि इस आकुल-व्याकुल वातावरण को कैसे चित्रित करे। पाठक राजनीतिक कुण्ठा से खिन्न था। लेखक की शैली में शिक्षा और प्रेरणार्थ व्यंग्य के माध्यम से यथार्थ का चित्रण किया : ऐसा चित्रण जो सोचने, समझने और कुछ कर गुजरने की उत्तेजना और शक्ति दे सके। विनोद और व्यंग्य के सहारे ही पाठक तीखे सत्यों और कड़वे यथार्थ को गले उतार सकता था। सामयिक शासनीय दुर्बलताओं, नौकरशाही की धांधलियों और अपने समाज की प्रतिक्रियाशील, प्रतिगामी प्रवृत्तियों को व्यंग्य और अन्योक्तियों का माध्यम इस युग का निबन्धकार दे रहा था। यह व्यंग्य एक बार खिलखिलाता है, फिर अन्दर को एक वेग के साथ झकझोर देता है और अन्त में व्यंग्य में व्यंजित सत्य मस्तिष्क के कोने-कोने में भर जाता है। व्यंग्योक्तियाँ स्वयं तो नग्न सत्य पर आवरण बन जाती हैं पर सत्य अपने को अनावृत भी कर देता है। कभी-कभी लेखक अतीत के गौरव चित्रों का चितेरा बन जाता है। इन्हीं तत्त्वों ने भारतेन्दु युग की शैली का रूप खड़ा किया था। पर यह नहीं कि वे गम्भीर शैलीकार नहीं थे। गम्भीर विचारक भी थे। बालकृष्ण भट्ट का पाण्डित्य सर्वविदित था। पर पत्रकारिता को समय के अनुसार चलना था। अन्त में पाण्डित्य भी एक प्रकार से हल्का होकर निबन्धों में उतरता था। संक्षेप में भारतेन्दु युग की शैली में विनोद, रूपकत्व, व्यक्तिगत भावसंस्पर्श तथा जीवन की गतिविधियों पर विचार के तत्त्व उभर कर आ गए थे। आन्दोलन भी प्रबल थे। इनके प्रभाव से अपने पथ व पोषण में हठ और पूर्वाग्रह भी मिलते हैं।

MEMORIAL LIBRARY

१. हिन्दी निबन्धकार, पृ० ६०

भारतेन्दु युग के जन्म के पश्चात् ही उचित पोषण और प्रोत्साहन मिला। प्रजातंत्रीय शील ने इस विधा को नैतिक सहारा दिया। विविध पत्रों ने इस विधा का विस्तार किया। पत्र-पत्रिकाओं का एक तांता-सा लग गया। राज शिवप्रसाद का 'बनारस' 'सुधाकर', सदासुखलाल का 'बुद्धि प्रकाश', राजा लक्ष्मणसिंह का 'प्रजा-हितैषी', भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, 'कवि वचनसुधा', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' और प्रतापनारायण मिश्र से सम्बन्धित 'ब्राह्मण' जैसे पत्रों ने निबन्ध का विस्तार किया। पीछे समय-क्रम के अनुसार पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि होती गई। पत्रों की संख्या-वृद्धि लेखकों की संख्या-वृद्धि के लिए भी उत्तरदायी है।

इस युग में लेखक तो पर्याप्त हुए, पर जो अपने समय की सीमा का अतिक्रमण करते हुए आज तक लोकप्रिय और अमर हैं वे इस प्रकार हैं : बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी। इस युग से पूर्व राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और लक्ष्मण-सिंह हो चुके थे। लाला श्री निवासदास और अम्बिकादत्त व्यास का नाम भी इस युग की लेखक-सूची में जोड़े जा सकते हैं।

पत्रों में सम्पादकीय किसी शीर्षक के साथ निबन्ध रूप में प्रकाशित होते थे। कुछ निबन्ध प्रेषित पत्रों के रूप में रहते थे। अन्य लेखक इन पत्रों को सम्पादक के नाम भेजते थे। वास्तव में ये निबन्ध ही होते थे। निबन्धों के विषय अधिकांश राज-नीतिक साधारण साहित्यिक या यात्रा सम्बन्धी होते थे। वर्णनात्मक निबन्धों की ओर लेखक का झुकाव था। सामयिक प्रसङ्गों से सम्बन्धित आलोचनाएँ तथा मत-प्रकाश भी सामने आए। इनके अतिरिक्त पर्वोत्सव, तीज-त्यौहार तथा धर्म, तीर्थ आदि पर भी निबन्ध पत्रों में छपते थे। इस युग के लेखकों का ध्यान भाषा की कांट-छांट पर इतना नहीं रहा, जितना विषय-विस्तार पर। इसलिए भाषा सम्बन्धी परिष्कार-संस्कार चाहे कम है, पर विषयों का वैविध्य पर्याप्त है। पौध पहले स्वतंत्र रूप से बढ़ती है, फिर काट-छांट आरम्भ होती है। यह कांट-छांट द्विवेदी युग में हुई।

संक्षेप में भारतेन्दु युग के लेखक के पास कहने और संकेत करने के लिए पर्याप्त था। उसे कहना भी आवश्यक था। एक ओर नवीनता की छवियां थीं, दूसरी ओर अतीत बोध भी आवश्यक था। सुधार की लहरें, रूढ़ियों की चट्टानों को उखाड़ने में क्रियाशील थीं। यदि वातावरण में धुंए की सी घुटन थी, तो राष्ट्रीय जागरण के क्षण भी मुद्रित थे। इस प्रकार भारतेन्दु युग के लेखक की परिस्थितियाँ उत्तेजक थीं।

इस काल एवं परिस्थिति में निबन्ध की अनेक शैलियाँ पनपीं। स्वप्न-शैली में भी निबन्ध लिखे गये। 'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), 'एक अनोखा स्वप्न' (बालकृष्ण भट्ट) इसी शैली का एक और निबन्ध भारतेन्दु ने लिखा : 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन'। इन निबन्धों में जागरण के यथार्थ को स्वप्न का माध्यम प्रदान किया गया है। कल्पना

केवल माध्यम का शृङ्गार करके कथ्य को आकर्षक बनाती है। इनमें सृजन की शैलियाँ विशेष रूप से जाग्रत हैं और प्रभाव लेखक का अभीष्ट।

निबन्ध के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट प्रयोग प्रतापनारायण मिश्र ने किए। 'ले भला बताइए तो आप क्या है ?' में लेखक पाठक से सीधे-सीधे बातचीत करना चाहता है। साथ ही युग का सारा व्यंग्य, भाग्य और परिस्थिति का–प्रतापनारायण मिश्र में मूर्तिमान हो उठता है। इनकी शैली में अनुरञ्जन के तत्त्व प्रमुख हैं। हल्के मनोरञ्जक लेखों में व्यंग्य और मौज का मेल है। ऐसे निबन्धों में 'आँख', 'भौं', 'वृद्ध', 'नहीं', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर' आदि की गणना है।

विचारात्मक निबन्धों का भी प्रचार चल रहा था। ऐसे निबन्धों का सम्बन्ध अध्ययन और शोध-वृत्ति से है। विचारात्मक निबन्ध भारतेन्दुजी ने भी लिखे जैसे 'वैष्णवल और भारतवर्ष' पर इस क्षेत्र में सबसे प्रबल व्यक्तित्व बालकृष्ण भट्ट का है। भट्ट जी शुद्ध विचारवादी थे। इनके 'आत्मगौरव', 'बोध मनोयोग और भक्ति', 'कल्पना शक्ति', 'बातचीत' आदि विचारात्मक निबन्ध हैं। लेखक की दृष्टि से तर्कपूर्ण विधान इनमें रहता है और पाठक की दृष्टि से इनमें विचारोत्तेजना है। इनके अतिरिक्त भट्ट जी ने भावात्मक और विवरणात्मक लेख भी लिखे। वैसे प्रौढ़ खड़ी बोली का ही प्रयोग इनके निबन्धों में मिलता है, पर ब्रजभाषा के प्रभाव से भी ये नहीं बच पाए हैं।

संक्षेप में यही भारतेन्दु युग के निबन्ध और निबन्धकारों का सर्वेक्षण है।

२. द्विवेदी युग—

हिन्दी निबन्ध एक प्रौढ़ स्थिति में प्रविष्ट होता है। गद्य-शैली ब्रजभाषा के बचे-खुचे रूपों से भी युक्त होने लगी। भाषा के परिमार्जन और परिष्कार की दृष्टि से तीखी होने लगी। भारतेन्दुयुगीन निबन्धों की चुलबुलाहट व्यंग्य की चहलपहल, लेखकों का उत्साह, वह अतुल देश-प्रेम और मौजमस्ती इस युग में उस कोटि की नहीं मिलती। तरल भावात्मकता बौद्धिक चेतना के नीचे दब गई।

राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करने के दो मार्ग दिखलाई पड़ते हैं : धर्म-सुधारकों और समाज-सुधारकों का एवं राजनीतिक। १९०७ से डायरेक्ट एक्शन की ओर राजनीतिक संस्थाएँ झुकीं। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी का आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा का विकास होने लगा। कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिनसे राष्ट्रीय चेतना और अधिक उत्तेजित हुई : १९०५ में बङ्गभङ्ग हुआ, वन्दे मातरम् पर प्रतिबन्ध लगा। १९०८ में राष्ट्रीय दलों को कुचलने की नीति अपनाई गई, इसी समय लोकमान्य तिलक को छः वर्ष की कड़ी सजा हुई। इस प्रकार की घटनाओं से राष्ट्रीय वातावरण में पर्याप्त तनाव और उत्तेजना आ गई।

यह राष्ट्रीय भावना द्विवेदी युग के निबन्धों में भी आए बिना न रह सकी। सबसे पहले अतीत-बोध शुद्ध इतिहास के धरातल पर प्रबल हुआ। भारतेन्दु युग में ऐतिहासिक बोध लेखकों में था अवश्य पर परम्पराजन्य और भावात्मक ही था। सर-

कारी शोध और अन्वेषण विभाग की खोजों ने भारतीय संस्कृति और साहित्य के नवीन स्तरों का उद्घाटन किया। इस नवीन प्रकाश से प्रेरित होकर अनेक निबन्ध लिखे गये। द्विवेदी जी ने 'प्राचीन भारत की एक झलक', लेख में अतीत को एक नई दृष्टि से देखा। सम्पूर्णानन्द जी ने 'सच्चे[१] ऐतिहासिक ज्ञान' की आवश्यकता में अतीत दृष्टि को संयमित और स्वच्छ करने की प्रेरणा दी। कुछ निबन्धों में देश का गौरव और सौन्दर्य सजीव हो उठा। कुछ निबन्धकारों ने भारतीय जनता की एकता का ऐतिहासिक धरातल पर समर्थन किया। राष्ट्रीय कार्य-कर्ताओं में अपने लक्ष्य के प्रति विश्वास जाग्रत किया जा रहा था। इस प्रकार राष्ट्रीय निबन्ध विविध रङ्गों में रँगे हुए थे।

एक यथार्थ की ओर भी लेखकों की दृष्टि थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरे में कुछ ज़माना साज लीडर भी घुस आए थे। उन पर भी इस युग के निबन्धकार ने व्यंग्य किया। पं० पद्मसिंह शर्मा के एक निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ लीजिए : "एक आजकल के लीडर हैं, किसी दुर्घटनाओं को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कह कर टाल देते हैं। पहुँचते भी हैं तो उस वक्त जब मारकाट हो चुकती है सो भी सरसरी के बहाने। लीपापोती के लिए लैक्चर देना और तहकीकात। लीडर के लिए इतना काफी है।" [पदमपराग, पृ० ८] इस प्रकार नेताओं की व्यंग्यपूर्ण आलोचना भी इस युग के बोधपरक निबन्धों में मिलती है।

विदेशी राजनीति पर भी निबन्ध लिखे गये थे। देशी राजनीति पर भी। विदेशी विषयों पर लिखे निबन्ध या तो विदेशी आन्दोलनों का विवरण देते थे या विदेशी शासन-पद्धतियों का।[२] भारतीय राजनीति से सम्बन्धित निबन्धों में या तो अंग्रेजी जाति की भर्त्सना की गई है अथवा स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया गया है। इस प्रकार की राजनीतिक चेतना का विकास भारतेन्दु युग के निबन्धों में नहीं मिलता। वहाँ राजनीतिक विषयों पर निबन्ध तो लिखे गये हैं, पर वे न इतने विचार-प्रधान थे और न इतने विस्तृत।

सामाजिक विषयों पर भी बहुत से निबन्ध लिखे गये। समाज एक विचित्र संक्रान्तिकाल में होकर गुजर रहा था। अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य समाज-सङ्गठन या सामाजिक आदर्शों का आगमन भारत में हो रहा था और आदर्शों का पुनराख्यान होने लगा था। साथ ही समाज के पुराने स्थायी आदर्शों को वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाने लगा था। कहीं सामाजिक विघटन मिलता है : अर्थात् प्राचीन आदर्श तो डगमगा रहे हैं, पर नवीन आदर्शों की स्थापना नहीं हो पा रही है। कहीं परिवर्तन तीव्र गति

---

१. ऐसे निबन्धों में 'अंग्रेजी प्रजा का पराक्रम' [महावीर प्रसाद द्विवेदी], 'ब्रिटिश पार्लिमेन्ट का विकास और उसका संगठन' [देवीप्रसाद शुक्ल], 'फ्रांस का राष्ट्र विप्लव' [मर्यादा- सितम्बर, अक्टूबर १९१२], 'टर्की की जाग्रति' [वद्री आदि आ सकते हैं।

२. इनमें- नैपोलियन बोनापार्ट की शासन पद्धति' [ईश्वरी प्रसाद] जैसे लेखक आगे देखिए-=गंगाबरणशसिंह, द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य, पृ० ४६

से होता हुआ मिलता है। समाज सुधा की भावना भी बौद्धिक अधिक होने लगी थी। यह भावना उत्कट हो गई थी। द्विवेदी युग में यह भावना मध्यम वर्ग तक सीमित थी। अब वह निम्नवर्गों की स्थितियों में भी सम्बद्ध होने लगी। कृपक, मजदूर आदि पर लेखक का ध्यान गया। ऐसे लेखों में 'समाज सुधार' [मुकटधर पाण्डेय] 'समाज सेवा' [कामता प्रसाद गुरू] आदि को लिया जा सकता है। समाज सुधार के क्षेत्र में शिक्षा भी एक प्रभाव पूर्ण विपय था। स्त्री-शिक्षा पर भी अनेक निबन्ध लिखे गये। बाबादीन 'शुक्ल' का 'स्त्री शिक्षा का उपाय' तथा द्विवेदी जी का 'मानव में शिक्षा की दिशा' जैसे निबन्ध इसी कोटि में आते हैं।

द्विवेदी युग में निबन्धों के विषयों में पर्याप्त वैविध्य प्राप्त होता है। इस युग के प्रतिनिधि निबन्ध लेखक ये हैं : महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, गोविन्द-नारायण मिश्र, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। द्विवेदी जी ने तो सभी प्रकार से युग निर्माण किया। ये तो आचार्य थे। शैली में उन्होंने शुद्ध भाषा का दृढ़ता से पथ-समर्थन किया। शैली और विषय का वैविध्य मिलता है। इनकी दृष्टि गम्भीरता की ओर विशेष रूप से रही। माधव प्रसाद मिश्र ने दो वर्ष तक 'सुदर्शन' का सम्पादन किया। इनकी भापा बहुत ही प्रौढ़ है। इनके स्वभाव में चरम-कोटि की भारतीयता थी। भारतीय संस्कृति और उसके चिन्तन से इनका बड़ा प्रेम था। उनके विषय और शैली पर भारतीयता की अमिट छाप है। इनका इतिहास-ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ था। जब कोई अंग्रेजी विद्वान् भारतीय साहित्य या इतिहास की मनमानी व्याख्या करता था, तो इनकी लेखनी जग पड़ती थी। बेबर साहब ने जब भारतीय इतिहास की भ्रामक व्याख्या की तो मिश्र जी ने 'बेबर का भ्रम' लेख लिखा। पुरातत्त्व और इतिहास का गम्भीर ज्ञान एक निजी रागात्मकता के साथ लिपट कर मिश्र जी के लेखों में प्रगट हुआ है। शैली इसी तत्त्व के कारण कहीं काव्यमयी भी हो जाती है। सब मिट्टी हो गया का एक उदाहरण लीजिए—

> "देखें मा ! इस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई है। भीष्म-देव का पतन-क्षेत्र किन भाषाओं में परिणत हो गया है। कपिल, गौतम की शेष-शैय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है। उज्ज-यिनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है।"

इस प्रकार राष्ट्रीयता उनकी भावुकता में लहरें लेती है। आलोचनात्मक लोक में शैली व्यंग्य और परिहास से भी पूर्ण हो जाती है।

पं० गोबिन्दनारायण मिश्र ने भी सामयिक, सामाजिक और साहित्यिक विपयों पर निबन्ध लिखे। ये अपनी भाषा की सामासिकता और शब्दाडम्बर आदि के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसा बाण और दण्डी की शैली का हिन्दी में अवतरण हो रहा है। व्यंग्य भी कभी-कभी बड़ा तीखा हो जाता है। सामासिकता में पड़ कर भापा का स्वाभाविक सौन्दर्य और सहज विकास समाप्त हो जाता है और

व्यंग्य अधिक उभर नहीं पाता। शैली में इनके व्यक्तित्व-वैचित्र्य की झलक अवश्य है। उनकी साहित्य की परिभाषा में भाषा देखिए—

> "'मुक्ताहारी नीर क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-दिय-सिंहासन निवासिनी, मंद हासिनी त्रिलोक प्रकाशिनी, सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों के प्यारे पुत्रों में अनुपम, अनोखी, अतुल वाली परम प्रभाव वाली, सुजन-मन मोहिनी, नवरस भरी सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

'सहज सुन्दर सुभाव प्रभाव रसरसीली, गर्वीली मंत्त की कीली साज सजीलो' जैसे वाक्यों के द्वारा मिश्र जी अपनी भाषा में काव्यात्मकता लाना चाहते हैं। पर शैली शब्दाडम्बर के कारण दुरूह हो जाती है और विषय उपस्थित हो जाता है। प्रभाव एक भाषा वैचित्र्य का रह जाता है।

श्यामसुन्दरदास की शैली भाषण शैली है। इनकी भाषा-शैली और वस्तु एक गम्भीरता से परिवेष्टित रहती है। भाषा विशुद्ध साहित्यिक है, संस्कृत तत्समों और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। वाक्य छोटे पर अर्थ गर्भित होते हैं। इनके ग्रंथों की अपेक्षा निबन्धों की भाषा कुछ सरल है। इनके निबन्ध ग्राम-शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। आपने अपने निबन्धों द्वारा प्रसार और सर्जन दोनों ही शक्तियों को क्रियाशील बनाया। इनके निबन्ध प्रमुख रूप से समीक्षात्मक हैं। उर्दू के शब्दों और मुहावरों का अत्यल्प प्रयोग मिलता है। संस्कृत बहुल होने पर भी शैली प्रवाह-पूर्ण है। पर शैली में सरलता-तरलता और आत्मीयता का प्रभाव है विषय वैविध्य भी कम है। प्रायः विचारात्मक निबन्ध ही इन्होंने लिखे हैं।

पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी युग के सर्वप्रमुख शैलीकार और तुलनात्मक आलोचना के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस युग में इनके समान विद्वान् और साहित्य-पारखी कोई नहीं था। इनके निबन्ध 'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध मञ्जरी' में संग्रहीत हैं। भाषा, शैली और वस्तु-विधान दोनों ही दृष्टियों से शर्मा जी के निबन्ध महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने दो प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग किया है। एक तो वे चलती और उर्दू शब्दों से युक्त भाषा लिखते थे। इसका उदाहरण लीजिए—

> "जो मुद्दत से छिपे पड़े थे, अब छिपकर बाहर निकल रहे हैं, बहुत छिपाया पर ग्राहकों ने जबरदस्ती छीन ही लिया—कागजों के कोने से खींचकर नुमायश के बाजार में ही ले आये।"

दूसरे कुछ निबन्धों में संस्कृत प्रधान शैली मिलती है। पहली में हास्य और व्यंग्य का पुट रहता है। दूसरी में गम्भीरता बनी रहती है। विषय और मनः स्थिति के अनुसार भाषा के प्रयोग में शर्मा जी का कौशल और वैशिष्ट्य है। कहीं प्रासादात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। कहीं कहीं अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग है।

अध्यापक पूर्णसिंह का व्यक्तित्व हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में एक चमकते नक्षत्र जैसा है। इनकी विशेषताओं को जयनाथ नलिन ने इस प्रकार व्यक्त किया है:

"...(यह) व्यक्तित्व इस युग की सबसे बड़ी देन है। उनकी शैली में वक्रता है, कसाव भी है और व्यंग्य भी। विचारात्मकता और भावात्मकता का स्वस्थ मिश्रण भी उनमें मिलेगा। निबन्धकार का पूर्ण व्यक्तित्व उनमें उभरा है। एक विलक्षण लाक्षणिकता इनके निबन्धों में मिलेगी।"...शैली, स्वरूप, प्रकार और अभिव्यञ्जना की दृष्टि से अध्यापक पूर्णसिंह निबन्ध का नवीन रूप लेकर आये।...स्वाधीन चिन्तन, स्वतंत्र विचार-प्रकाशन, प्रभावशाली व्यक्तित्व, निश्छल-निर्मल अनुभूति, आकर्षक आत्मीयता और सबल-मधुर अनुरोध सभी इनके निबन्धों में मिलेगा।[1] इन्होंने चार पाँच निबन्ध ही लिखे। पर शैलीकार के रूप में अमर हो गये। इन्ही निबन्धों[2] के आधार पर इनको द्विवेदी युग का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहा जा सकता है। शैली में कभी लालित्य और माधुर्य के तत्त्व उभर आते हैं और कभी ओज-गुण उमड़ पड़ता है। कहीं-कहीं निश्छल व्यंग्य की छटा भी है : 'आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है' या 'पुस्तकों में लिखे नुसखों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है।'

गुलेरी जी भी उन लेखकों में हैं जिन्होंने रचना-परिमाण की दृष्टि से तो कम ही लिखा, पर अपनी रचना की कोटि और उसके गुणों के कारण अमर हो गए। ये भी एक विशिष्ट शैली के प्रयोक्ता हैं। इनके निबन्धों में पाण्डित्यजन्य गम्भीरता तो मिलती ही है, साथ ही एक विलक्षण विनोद भी मिलता है। इस प्रकार की शैलो का आस्वादन सभी प्रकार के पाठक कर सकते हैं। गुलेरी जी का व्यक्तित्व विशाल था। उसमें "गाम्भीर्य के साथ विनोद, पाण्डित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीन के साथ नवीन, सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता एकाकार हो गये हैं।" इस प्रकार का व्यक्तित्व निबन्ध में उपयुक्त होता है। उनको प्राचीन साहित्य, पुरातत्त्व, इतिहास का अपार ज्ञान था। यह ज्ञान विनोदी वृत्ति से संयुक्त होकर निबन्ध की सुन्दर पृष्ठभूमि बना देता है।

द्विवेदी युगीन निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं : द्विवेदी युग के लेखकों ने कुछ निबन्ध साधारण पाठक को दृष्टि में रख कर लिखे और कुछ विज्ञ पाठक के लिए। इस युग का लेखक ज्ञान और पाण्डित्य में भारतेन्दु युगीन निबन्ध लेखकों से आगे था। पं० बालकृष्ण भट्ट का व्यक्तित्व इस युग के लेखकों के समकक्ष था। इन लेखकों का समस्त पाण्डित्य राष्ट्र-प्रेम और देश के गौरव की भावना की दृष्टि में संलग्न था। साहित्य और संस्कृति की श्रेष्ठता के ये सभी लेखक पक्षपाती थे। पाश्चात्य प्रभाव के प्रति ये लेखक बहुत ही सजग सावधान था। उसका ग्रहण इनमें वहीं तक है जहाँ तक उनकी राष्ट्रीय भावना अक्षुण्ण रह सके। पाश्चात्य विचार-धारा एक हर्ष के साथ, बीसवीं शती में, सभी देशों को अभिभूत करने लगी थी। द्विवेदीयुगीन निबन्ध-लेखक इस सम्बन्ध में चौकन्ना था।

१ हिन्दी निबन्धकार

२. सच्ची वीरता, मजदूरी प्रेम, आचरण की सभ्यता और ब्रह्म-क्रान्ति।

विषय की दृष्टि से इस युग के लेखक जीवन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों से निबन्ध के विषयों का चुनाव करते थे। साहित्य उन्हें विशेष आकर्षित करने लगा था। जीवन सम्बन्धी निबन्धों में एक आदर्श नैतिकता और गांधीवाद जीवन-दृष्टि मिलती है। भारतेन्दु युगीन दृष्टिकोण जीवन के प्रति न रह सका। यह एक उन्नत बौद्धिक और राष्ट्रीय चेतना का परिणाम था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भी विकास हो गया था। इस दृष्टि ने जीवन की समीक्षा को कुछ गहराई दी थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि का आरम्भ द्विवेदी युग में हो गया था। यह विकास प्रसाद युग में विशेष हुआ।

निबन्धों की कई शैलियों का विकास इस युग में हुआ। व्यक्ति-प्रधान शैली और विषय-प्रधान शैली में निबन्ध लिखे गये। पर इस युग का लेखक विषय के प्रति विशेष आकृष्ट है। विषय की प्रवृत्ति में जो व्यक्तित्व की छवियां प्रकट होती हैं, वे अपने आप में शक्तिशाली नहीं हो पातीं। निबन्धों का कलात्मक सौन्दर्य विषय की गम्भीरता में खो तो नहीं गया पर शिथिल अवश्य हो गया है। कुछ ही लेखक विषय और सौन्दर्य का सन्तुलन रख पाये। द्विवेदी युग के निबन्धों का उद्देश्य मनोरञ्जन और चमत्कार नहीं था। पाठक वर्ग में विचारों का उत्तेजन और उनकी रुचि का परिष्कार करने को निबन्ध लिखे जाते थे। जो लेखक शैली का चमत्कार लेकर चले, वे अपवाद स्वरूप हैं। ज्ञान विस्तार का उद्देश्य लेकर चलने वाले निबन्धों में विषयों का वैविध्य और व्याख्या का प्रौढ़ रूप तो मिलता है, पर शैली के अलङ्करण की ओर ध्यान कम रहता है। कभी-कभी सजीवता का अभाव खटकने लगता है।

इस युग में विचारात्मक निबन्धों का प्राधान्य हो गया और ललित निबन्धों का अभाव सा हो गया। उपदेशात्मक प्रवृत्ति निबन्धों को नीरस भी बना देती है। उपयोगितावाद का आधिक्य लालित्य को प्रभावित करता मिलता है। आत्मीयता भी लेखकों में नहीं मिलती। पाठक के हृदय को स्पर्श करने में आत्मीयता सहायता करती है। इस युग का लेखक पाठक के मस्तिष्क का स्पर्श ही नहीं, उत्तेजित करना चाहता है। संक्षेप में यही द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा है।

४. प्रसाद युग—

इस युग को शुक्ल-युग भी कहा जा सकता है। पर शुक्ल-युग आलोचना के क्षेत्र में ही अधिक समीचीन लगता है। खैर इस नामकरण के सम्बन्ध में कोई विशेष आग्रह नहीं होना चाहिए। प्रसाद-युग काव्य और गद्य दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। गद्य की विधाओं का भी इस युग में कम विकास नहीं हुआ। छायावादी मनो-वृत्ति ने गद्य का एक विशिष्ट संस्कार किया। विषय और शैली दोनों ही भावुकता से मिलकर प्रांजल हो गये। द्विवेदी-युग के स्थूल विवरण और वर्णन तरल अनुभूति-चित्रण में परवर्तित हो गये। विनोद के तत्त्व तो शिथिल हुए, पर आत्मचुंवी भावुकता ने उस कमी को पूरा किया। यद्यपि छायावादी निबन्धकार का अन्तर्भाव व्यक्तित्व निबन्ध के लिए विशेप उपयुक्त नहीं होता। फिर भी व्यक्तित्व की अनुभूति एक सर्व सुन्दर गद्य शैली को जन्म दे रही थी। जहाँ प्रसाद जी ने छायावाद का

प्रवर्तन किया, वहाँ एक भावात्मक गद्य शैली का भी उन्होने आरम्भ किया। इस गद्य-शैली के दर्शन उनके नाटकों में होते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि प्रसाद जी ने इस तरल-सरल भावात्मक गद्य का प्रयोग अपने निबन्धों में नहीं किया। उनके निबन्धों की भाषा ज्ञान और शोध की प्रवृत्तियों से आक्रान्त है। उसमें न भावात्मक गद्य की सरसता है और न शैली का लालित्य। पर प्रसाद जी की भावात्मक गद्य शैली को अन्य कई लेखकों ने अपने निबन्धों में अपनाया। छोटे-छोटे भावात्मक निबन्ध इस युग की एक विशिष्ट विधा बन गई। ये निबन्ध गद्य काव्य की कोटि को भी पहुँच जाते हैं। द्विवेदीयुगीन विचारात्मक निबन्धों की प्रतिक्रिया इस युग के भावात्मक निबन्धों में मिलती हैं। विचारात्मक निबन्ध भी उच्चकोटि के लिखे गये। शुक्ल जी के निबन्ध इस क्षेत्र के आलोककरण हैं। शैलियों की विविधता और विषय-विकास की दृष्टि से यह युग उल्लेखनीय है। भाषा की शक्तियों की खोज भी हुई और उन शक्तियों का समुचित प्रयोग भी हुआ। शैली की सम्भावनाओं में भी वृद्धि हुई। प्रसाद-युग जहाँ आधुनिक काल में काव्य का स्वर्ण-युग है वहाँ गद्य-विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

इस युग के प्रतिनिधि निबन्ध-लेखक इस प्रकार हैं : रामचन्द्र शुक्ल, गुलाब-राय, पद्मलाल पन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी और रघुवीर सिंह।

इस युग की विशिष्ट निबन्ध-विधा भावात्मक निबन्धों की है। इस क्षेत्र में वियोगी हरि, रायकृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। डा० रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक फलक पर भावात्मक निबन्ध क्षेत्र अङ्कित किए। पर सर-दार पूर्णसिंह की परम्परा का ही विकास माना जा सकता है। माखनलाल चतुर्वेदी के निबन्धों में एक सबल और तेजस्वी व्यक्तित्व की छाया मिलती है। शैली में एक आवेग निरन्तर रहता है। इसमें दहकता हुआ यौवन है। बलिदान की भावना राग के केन्द्र में स्थित है। भाषा भी इतनी सशक्त है कि भावावेग का वहन कर सके। देश-प्रेम इनकी मूलप्रेरणा कही जा सकती है। अतीत की सजीव परम्पराओं के प्रति लेखक में आस्था है और भविष्य में अडिग, वर्तमान के सम्बन्ध में उन्होंने कितनी मार्मिक उक्ति की है। "बर्फ की चट्टान (वर्तमान) को संगमरमर की चट्टान समझ कर कदम बढ़ गए हैं, न हमने उसे भूतकाल के हथौड़े से परखा और न भविष्य की सूर्य-किरणों से उसकी जांच की।" इतने गहरे विचारों को इतना सजीव भावा-त्मक माध्यम देना चतुर्वेदी जी की कला का रहस्य है। इसी संयोग के कारण चतुर्वेदी जी के निबन्ध गद्य-काव्य होने से बच गए हैं। इन निबन्धों में गहन चिन्तन और अनुभव की मार्मिकता का समावेश है। यदि उर्दू शब्द शैली को रवानगी देते हैं, तो चतुर्वेदी जी को उनके प्रयोग में आपत्ति नहीं। संस्कृत तत्सम शब्द भी भावधारा में पड़कर प्रांजल हो गए हैं। इनके निबन्धकार को इनका कार्य हर समय सहायता देता है। सांकेतिकता और लाक्षणिकता पाठक की कल्पना को पर्याप्त उच्चता देती है।

प्रतीकों और अन्योक्तियों का प्रयोग भी निबन्ध के परिप्रेक्ष्य को विस्तृत करता है। इनके निबन्ध 'युग और कला', 'साहित्य देवता' और 'रङ्गों की बोली' में संग्रहीत हैं।

वियोगीहरि के दो भावात्मक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें उदात्त-रञ्जन का तनाव प्रबल है। भावाकुल शैली में आध्यात्मिकता के संकेतों से पूर्ण कथन निबन्धों में मिलते हैं। प्रेम की विविध झांकियाँ इनके निबन्धों में अपनी समस्त मनोरमता के साथ उपस्थिति है। इन्होंने संस्कृत की भाँति समास-बहुला भाषा शैली को भी अपनाया है और प्रसादात्मक भाषा शैली को भी। 'तरङ्गिणी' से एक समास-संकुल उद्धहरण लीजिए—

"प्यारे तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-वन-तमाच्छन्न-कृष्ण-वसन-लसित निशि-समय, सुजन-मन-मोहिनी, रसिक-रस-रोहिणी वेणु बजाता है, माध्वी मल्लिका-मकरन्द-लोलुप मिलिन्द गुंज्जार-समुल्लसित नव-रस-पूरित, सुप्रम प्रतिभा-मुदित, कवि-हृदय द्वारा स्वच्छन्द आनन्द कन्द संदेश भेजता है।......"

छोटे-छोटे वाक्यों में गुंफित प्रसादात्मक गद्य का एक अवतरण लीजिए—

"तू कैसा महाभारती सैनिक है। पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा ?
उठ आँख खोल, देख युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव
बेला है। क्रान्ति की काली-काली घटाएँ घिरने लगी हैं।
कैसा विकराल वातावरण है। (आंख लाल)

रायकृष्णदास ने मुख्यतः गद्य-गीत लिखे है। पर इन्हीं के तत्वों से युक्त कुछ भावात्मक निबन्ध भी इन्होंने लिखे हैं। इन पर प्रसाद जी की भाव-प्रधान गद्य-शैली का गहरा प्रसाद है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों के भावात्मक स्थलों पर तो भावात्मक गद्य का प्रयोग किया ही है। उनकी कहानियों में भी एक भाव-संकुल गद्य-शैली मिलती है। "प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं, विशेषकर कहानियों द्वारा गद्य के एक सर्वथा नवीन स्वरूप की प्रतिष्ठा को गद्य का यह स्वरूप जीवन की भावात्मक, आवेगमय, आकुल और उल्लसित स्थितियों के चित्रण में अत्यन्त सफल हुआ। इसमें भावोच्छ्वासों की कम्पन[1] काव्य की मधुरता, कल्पना की रङ्गीनी, आत्मीयता का अनुरोध खूब आता है।" इस गद्य-शैली में तुक-छन्द आदि को छोड़ कर छायावाद की सभी छवियाँ समा गई हैं। प्रसाद जी ने स्वयं इस प्रकार की गद्य-शैली में लेख नहीं लिखे, पर उक्त भावात्मक निबन्ध लेखक—रायकृष्णदास, वियोगी हरि—ने इनसे प्रभाव अवश्य ग्रहण किया है।

विचारात्मक निबन्ध-परम्परा के चक्रवर्ती रामचन्द्र शुक्ल हैं। 'चिन्तामणि' के निबन्ध अपनी विशेषताओं के कारण अमर हैं। शुक्ल जी के अधिकांश निबन्ध साहित्य के विभाव पक्ष-सम्बद्ध है। कुछ सामान्य विषयों पर भी हैं, जैसे 'मित्रता' और कुछ लेख समीक्षात्मक हैं। शुक्ल जी के मनोविकारों पर लिखे हुए निबन्ध एक ओर तो साहित्य के स्थायी या सञ्चारियों से सम्बद्ध हैं, दूसरी ओर मनुष्य के

१. जयनाथ नलिन, हिन्दी-निबन्धकार, पृ० १७०

मनोविकारों से। इन निबन्धों में शुक्ल जी की विवेचन पद्धति रूढ़ शास्त्रीय नहीं है। उन्होंने सभी मनोविकारों पर मनोवैज्ञानिक पद्धति से विचार किया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि पारिभाषिक रूप से उन्होंने उनका विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में सामाजिक जीवन, लोक कल्याण और तुलसी का मर्यादावाद, सब एक साथ मिलकर जैसे एक वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देते हैं। विचारात्मक निबन्ध की इतनी विस्तृत योजना पहले कभी हिन्दी साहित्य में नहीं हुई। एक भाव की साहित्य और जीवन में स्थिति दिखाकर एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। इस समस्त ऊहापोह में उसका निबन्धकार लुप्त नहीं हो गया है। बौद्धिक प्रक्रियाओं की दुरूह-राहों पर चलते हुए निबन्धकार हृदय की बात भी सुनता गया है : मरुभूमि के नखलिस्तान आते गए हैं। साथ ही लेखक अपने निबन्धों के विषय में एक निर्णय पाठकों पर छोड़ता है : मेरे निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान ? इस प्रश्न में एक गूंज है—लेखक का झुकाव अपने निबन्धों को व्यक्ति प्रधान मानने की ओर प्रतीत होता है। "शुक्ल जी के इन विचारात्मक निबन्धों की प्रथम विशेषता यह है कि इनके विषय अमूर्त है और वे भी न तो बाह्य संसार के और न अर्न्तगत के ही प्रत्युत् साहित्यिक हैं, वे आचार्य की अपेक्षा कलाकार के रूप में अधिक निखरे हैं। उसने एक मनोभाव का स्वरूप बतलाते हुए समान मनोविकारों से उसका साम्य तथा भेद स्पष्ट किया है; फिर वह उपयोगितावादी पथ पर आ जाता है।"[1] इस प्रकार शुक्ल जी के हाथों में पड़ कर हिन्दी के विचारात्मक निबन्धों की परम्परा का अतीव उन्नयन हुआ। "शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी मस्तिष्क और हृदय का सानुपातिक योग है। मस्तिष्क और हृदय के बीच जैसे जीवन का अनुभव और अध्ययन गलबहियां डाले क़दम से क़दम मिला कर चल रहा है। इनके निबन्ध हिन्दी गद्य साहित्य की समृद्धि है, शैली में विकास की भारी मंजिल है, विचार क्षेत्र में चिन्तन का अनुपम आदर्श है।"[2]

इन निबन्धों के पीछे शुक्ल जी का सबल व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व में भारतीयता कूट-कूट कर भरी है। पाश्चात्य और भारतीय विचारधारा की तुलता के समय उनका भारत प्रेम प्रवेगमय हो जाता है। संस्कारत: वे तुलसी के आदर्श के प्रति एक अडिग आग्रह रखते हैं। प्रकृति का प्रेम भी उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी। वह भी निबन्धों के बीच सुरम्य उद्यान बनाता जाता है कि पाठक विश्राम ले सके। जीवन के प्रति उनका अनुराग सदैव ही व्यक्त होता है। गांधीवाद भी उनकी दृष्टि को एक व्यापकता और गरिमा प्रदान करता है।

इस युग के विचार-प्रधान निबन्धों में गुलाबराय जी का योगदान भी मूल्यवान है। इन्होंने भी साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान और जीवन को जोड़ कर साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इस प्रकार के गम्भीर विचारात्मक निबन्धों के अतिरिक्त

१. डा० ओमप्रकाश, भावना और समीक्षा, पृ० १२३
२. जयनाथ नलिन, हिन्दी निबन्धकार, पृ० १५६

व्यंग्य और विनोद से परिपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। 'मेरी असफलताएँ' ऐसे ही निबन्धों का संग्रह है। इनमें भी मनोवैज्ञानिक संस्पर्श रहता है। 'कुछ उथले कुछ गहरे' उनके गम्भीर और हल्के निबन्धों का संग्रह है। शैली मे स्पष्टता रहती है। व्यक्तित्व का प्राधान्य हलके निबन्धों में मिलता है।

पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने भी आलोचनात्मक निबन्ध युगानुकूल ही लिखे हैं। इनका गम्भीर अध्ययन इनके समीक्षात्मक और विचारात्मक निबन्धों में झलकता है। इनके निबन्ध पाठक के साथ आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध बनाने में सफल होते हैं। स्फुट विषयों पर इन्होंने जो निबन्ध लिखे है उनमें निरीक्षण और आदर्श का मेल मिलता है। कहीं-कहीं इनमें स्कैच या चित्त के तत्व समाविष्ट होकर शैली और वस्तु को सजीव बना देते हैं। 'अतीत स्मृति' में संस्मरणात्मक निबन्ध-शैली मिलती है। कथात्मकता से भी लगना है। स्मृति वही निबन्ध के योग्य बनती है, जिसके साथ गहरी भावात्मकता संलग्न होती है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का व्यक्तित्व भारतीयता से ओतप्रोत है। भारतीयता जो उनके विचारों में मिलती है। वह उनके अतीत-बोध पर आधारित है। उनका अतीत-बोध भावाधारित नहीं है। इतिहास और पुरातत्त्व के गहन अध्ययन से पुष्ट है। वर्तमान से भी उनकी दृष्टि विच्छिन्न नहीं है। अतीत और वर्तमान के बीच एक पुल-सा बना देते हैं, इनके निबन्ध। इनकी व्याख्या इतनी स्वच्छ रहती है कि भारतीयता का प्रेम दृढ़ होने लगता है। 'पृथ्वी प्रेम' में उनकी दृष्टि संस्कृति के मूल स्रोतों की ओर है। उन्होंने भारतीय लेखक को सावधान किया है : "विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हे अधपके ही बाहर उंडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर-जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करनी चाहिए।" (पृथ्वीपुत्र) एक विशेष संयोग इनके व्यक्तित्व में है। वे मूलतः पुरातत्त्वविद है। पर इसके स्रोतो में उन्होंने साहित्य के स्रोतों को भी प्रमुख स्थान दिया है। साथ ही लोक-जीवन और लोक संस्कृति भी इनके विचारों का प्रेरणा-स्रोत हैं। इतनी व्यापक ऐतहासिक और लोक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर अग्रवाल जी के निबन्ध संग्रहीत हैं। इनकी भाषा तत्सम बहुल है। पर उसमे प्रभाव और जीवन है।

छायावादी युग की भावुकता को शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आपने अधिकांश समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'सञ्चारिणी', 'सामयिकी युग' और 'साहित्य पथ चिह्न' आदि प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं। उनकी आलोचना भी इतनी भावसिक्त हो जाती है कि एक भावात्मक निबन्ध बन जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

> "महादेवी ने यदि आंसुओं की आर्द्रता में चन्दन को, सुवासित कर दिया, तो रामकुमार और 'नवीन' ने आंसुओं में अबीर घोलकर आंसुओं को और भी रङ्गीन बना दिया।"

विचारात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्ध इन्होंने लिखे हैं। वस्तु पर गांधीवाद, नैतिकता और भारतीय अध्यात्म का प्रभाव स्पष्ट है। और कला छायावादी उपकरणों से अनुप्राणित है। "विचारात्मक निबन्धों में भले ही वह कोई नवीन बात पैदा न कर सके हों, पर वैयक्तिक निबन्ध-क्षेत्र में शान्तिप्रिय जी ने काफ़ी स्वस्थ और प्रशंसनीय देन हिन्दी को ही दी है। उनमें आत्मीयता, क्षमता, निश्छल करुणा और मार्मिकता पाठक को भावलोक में ले जा खड़ा करती है।"[1]

५. प्रसादोत्तर निबन्ध—

इस युग के निबन्धकारों में भदन्त आनन्द कौसल्यायन, जैनेन्द्र कुमार, रामवृक्ष बेनीपुरी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', माचवे आदि प्रसिद्ध हैं। प्रसाद-युग की परिस्थितियाँ और मान्यताएँ बदलीं। साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म लेने लगीं। संसार युद्ध की आशंका और भय से भर गया। सामाजिक यथार्थ अधिक उत्कटता से प्रभावित करने लगा। प्रसादोत्तर युग प्रगति और प्रयोग का युग है। नयेपन और आधुनिकता के प्रति साहित्य विशेष रूप से झुकने लगा। नवीन दायित्व-बोध कवि या लेखक में जगने लगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रसादोत्तर-युग में निबन्ध की परम्परा एक दम नवीन हो गई हो। निबन्ध के क्षेत्र में पुरानी परम्परा चलती रही।

काव्य और कथा के क्षेत्र में ऐसा प्रतीत होता था कि पुराना चरचरा कर टूटा जा रहा है। पुरानी परम्परा में विश्वास की बात तो अलग रही, नया लेखक उसको परम्परा ही स्वीकार करने को तैयार नहीं। प्रगतिवाद जिस सामाजिक यथार्थ और वर्ग-संघर्ष एवं मार्क्सवाद की भूमिका को लेकर चला था उसकी एक आवश्यकता थी साहित्य को एक निश्चित सांचे में ढाल कर प्रचार की सुविधा ढूंढ़ना। सामाजिक यथार्थ और उससे संबद्ध क्रान्ति के संकेत और उसकी सम्भावना, कथा रिपोर्टीज, स्कैच, रेखाचित्र आदि गद्य-विधाओं में सरलता से अभिव्यक्त होते थे। निबन्ध यदि थे तो इतने जटिल राजनीतिकवाद में जकड़े हुए कि निबन्ध-कला का दम ही घुटने लगा। काव्य का कलाहीन नृत्य ही निबन्ध के नाम पर होता था। व्यंग्य के स्थान पर गाली गलौच तक आ जाता था। व्यक्तित्व निर्गम सीमाओं में बँधा सधा था फलतः शैली में निश्छल आत्मीयता और व्यक्तित्व की स्वच्छ झांकी मिलना सम्भव नहीं रहा। वह भावात्मकता कहीं डूब गई जिसके आनन्द पूर्ण संकेतों के सहारे निबन्धकार अनिंद्य मन स्थिति की भूमिका बनाता था। भावुकता यदि थी तो वही जो क्रान्ति की ओर ले चलती है। इस प्रकार प्रसादोत्तर-युग करवट बदलता हुआ द्वितीय युद्ध की ओर चला जा रहा था।

इस हलचल के बीच भी कुछ शान्त और मानवतावादी द्वीप मिलते हैं। एक व्यक्तित्व हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। इनमें एक जाग्रत अतीत-बोध है। अतीत-संस्कृति-बोध का रवीन्द्र और कबीर की छाया में पला-पनपा विश्लेषण द्विवेदी जी में

[1] जयनाथ नलिन, हिन्दी निबन्धकार, पृ० १२७

मिलता है। शुक्ल जी का अतीत-बोध तुलसी की छाया से छुट्टी न पा सका। द्विवेदी जी ने मानवतावादी कबीर और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी रवीन्द्र से संकेत ग्रहण किए। इनके समीक्षात्मक निबन्ध इसी मानवतावाद की कसौटी लेकर चले हैं। मध्य-कालीन संस्कृति और साहित्य पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे उनमें कबीर का जाति-निरपेक्ष मानवतावाद और वैष्णव जन की पीड़ा का अवदात समन्वय है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जहाँ साहित्यिक स्रोतों को इतिहासकार की आस्था से देखा वहाँ द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक स्रोतों और परम्पराओं को एक साहित्यिक दृष्टि से देखा। द्विवेदी जी का अतीत-बोध साहित्य और संस्कृति में सम्मिलित किरणों से प्रोद्भासित है। इन मिली-जुली किरणों की छाया में लिखे लेख ये माने जा सकते हैं : 'धर्मस्य-तत्त्वं निहितं गुहायाम्', 'भारतीय सस्कृति की देन', 'संस्कृतियों का सङ्गम', 'अशोक के फूल' आदि। कबीर, सूर तथा मध्यकालीन वैष्णव धर्म और भक्ति पर लिखे लेख भी इसी कोटि में आते हैं। उनकी कसौटी मानवतावादी संस्कृति बन गई। शुक्ल जी ने जिस कसौटी को आदर्श मानकर कबीर आदि निर्गुणियों के साहित्य को यथार्थ अर्थ में साहित्य नहीं माना था, उस कसौटी का निषेध द्विवेदी जी में मिलता है। इसी कारण से इनके समीक्षात्मक निबन्ध शास्त्रीय संस्पर्श से युक्त हैं। सर्वत्र ही मानवीय स्वर है। कहीं उनके निबन्धों की शैली भावात्मक हो जाती है और कभी विचारात्मक। इनके साथ एक शोधक है। यह हाथ में टार्च लेकर चलता है, कि कहीं पाठक उलझ न जाय। इस प्रकार द्विवेदी जी के समीक्षात्मक निबन्ध एक विशेष रूप ग्रहण करते हैं। शुक्ल जी के समान साहित्य, समाज और आदर्श को साथ लेकर चलने वाले सैद्धान्तिक निबन्ध द्विवेदी जी ने लिखे नहीं, पर उन निबन्धों में जो हृदय-पक्ष मिलता है, वह द्विवेदी जी के समग्र निबन्ध के ऊपर झीना-झीना छाया रहा। उनमें जो दीन-हीन के प्रति करुणा, प्रकृति-प्रेम और निरीक्षण जैसे आवेग मिलते हैं, वे भी द्विवेदी जी के निबन्धों में न्यूनाधिक हैं। पर शुक्ल जी की इस विशिष्ट शैली के दर्शन नहीं होते।

फल-फूल और ऋतुओं के सम्बन्ध में भी अनेक निबन्ध हैं : अशोक के फूल, बसन्त आ गया, आम फिर बौरा गये आदि में प्रकृति निरीक्षण जन्य, बौद्धिक प्रक्रिया से सुनियोजित चित्त अनुभूतियों के रङ्गों में विहसित हैं। ज्योतिष सम्बन्धी निबन्ध ये हैं—केतु-दर्शन, ब्रह्माण्ड का विस्तार, भारतीय फलित ज्योतिष। इस प्रकार निबन्धों का वैविध्य द्विवेदी जी के विश्वकोणीय व्यक्तित्व के वैविध्य को लिए है। उनके पास एक सशक्त भाषा-शैली है। माध्यम की समस्या उनके सामने नहीं। समस्त अध्ययन और स्पष्ट चिन्तन अपना मार्ग स्वच्छ बनाता चलता है—अपने आप।

निबन्धकार के रूप में जैनेन्द्र का व्यक्तित्व भी उल्लेखनीय है। उनमें गांधीवाद की प्रच्छन्न धारा प्रवाहित मिलती है। जैनेन्द्र का चिन्तन सजग और प्रौढ़ है। जीवन से भी पात्रों और संवादों को यदि हटादें तो विचारात्मक निबन्ध बच रहेंगे। भावुकता कभी-कभी उचकती तो है पर चिन्तन की चट्टानें अप्रभावित रहती हैं।

जीवन की विविध समस्याएँ इनके विचार-केन्द्र पर आती हैं। समस्याओं का वैविध्य इनके निबन्धों के शीर्षकों से व्यक्त होता है। 'धर्म', 'युद्ध', 'राष्ट्रीयता', 'दीन की बात', 'दान की बात', 'गांधीवाद का भविष्य', 'रोटी का मोर्चा', 'सत्य शिव, सुन्दर', 'साहित्य की सचाई' आदि।[1] प्राचीन का संबल लेकर चिन्तक चलता है, वर्तमान की भी उपेक्षा नहीं है। संस्कृति, नैतिकता और वर्तमान भावबोध तीनों ही उचित अनुपात में इनके निबन्धों में मिलते हैं। इन तीनों की भूमिका में मानवतावाद उभरता है। कथन में एक वैशिष्ठ्य है। संघर्ष की अपेक्षा समन्वय की ओर लेखक झुक जाता है। शैली में लेखक की निजता भी मिलती है और पाठक के साथ आत्मीयता भी। पर चिन्तन का प्राधान्य होने के कारण कहीं-कहीं अस्पष्टता भी है। भाषा अत्यन्त सबल है।

रामवृक्ष बेनी पुरी ने भावात्मक निबन्ध शैली को आगे बढ़ाया। इस लेखक का सम्बन्ध लोक से है। 'माटी की मूरतें' और 'गेहूँ और गुलाब' जैसे निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। पहले में स्कैच के तत्त्व प्रमुख हैं। इनकी शैली में भावात्मक रङ्गों से शब्द-चित्र खीचे गए हैं। दूसरे में निबन्ध-कला काफ़ी निखरी है। इनकी शैली में प्रसाद-युग मिलता है। भावजन्य आवेग शैली की शक्ति बन जाता है।

यशपाल प्रगतिवादी निबन्धकार हैं। इन्होने साहित्य की अनेक विधाओं में प्रगतिवादी प्राण फूंके हैं। निबन्ध-संग्रह भी कई प्रकाशित हो चुके हैं। चक्कर क्लब, न्याय का संघर्ष, मार्क्सवाद, गांधीवाद का शव परीक्षा, देखा सोचा समझा, बातबात में बात, रामराज्य को कथा। मार्क्सवाद की तीखी दृष्टि लेकर रूढ़ि ग्रस्त समाज की नीवें हिला देने की चेष्टा इन निबन्धों में है। यथार्थ के प्रति आग्रह है। समझौता में नहीं, संघर्ष में लेखक का विश्वास है। इस वातावरण में सभी निबन्ध विचारात्मक हो गए हैं। लेखक प्रयत्नपूर्वक शैली को बोधगम्य बनाता है। शब्दों के चुनाव और प्रयोग में अभिजात्य नहीं है। विवेचन के क्षणों में भी शैली प्रसन्न बनी रहती है। भाषा का आदर्श जनभाषा है।

नगेन्द्र जी का आलोचक प्रबल है। इनके समीक्षात्मक निबन्ध कई संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। 'काव्य चिन्तन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन'। इनमें एक आचार्य का व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है। विषय को एक गम्भीर आकार में उतारा जाता है। शैली भी गुरु-गम्भीर हो जाती है। उसका एक-एक भाग लेखक ने सोच समझ कर नियोजित किया है। लेखक जितना विषय के विवेचन में सजग है उतना ही शैली के सम्बन्ध में सतर्क। वैसे शैली सम्बन्धी कुछ प्रयोग भी उनके निबन्धों में मिलते हैं—स्वप्न-शैली, क्लासरूप-शैली, संस्मरणात्मक शैली में भी उन्होंने लेख लिखे है। हल्के क्षणों का प्रतिबिम्ब शैली में अत्यल्प है। उनका भूला बिसरा कवि, कहीं-कहीं मुस्कराहट से निबन्ध को सजा देता है। "शान्त, गम्भीर, सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चांदनी की हँसी, हँस रहा है ऐसा

१. प्रमुख निबन्ध संग्रह ये हैं:—'जैनेन्द्र के विचार', 'जड़ की बात' और 'पूर्वोदय'।

ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।" पद्धति की दृष्टि से इनके निबन्धों में वैविध्य भी मिलता है। 'हिन्दी में हास्य की कमी' में वार्तालाप शैली है, 'वाणी के न्याय-मन्दिर में' एकांकी कला से निबन्ध कला के विकास की सम्भावनाएँ दीखने लगती हैं। पर आलोचक खिलखिला उठता है। और निबन्धकार उसमें लीन हो जाता है।

यही निबन्ध की कहानी है। अच्छे निबन्धकार हिन्दी में कम होते जा रहे हैं। शोधपरक लेख निबन्ध की कला से दूर हैं। साहित्य के विषयों पर ही निबन्ध लिखे जा रहे हैं। जीवन के विविध अङ्ग अछूते ही रह जाते हैं। व्यक्तित्व, आस्था और निष्ठा को लेकर आने वाले निबन्धकारों की प्रतीक्षा है।

२७

'प्रगतिवाद'

१. प्रगति का अभिप्राय एवं स्वरूप
२. भारत में बौद्धिक जागरण तथा प्रगति
३. प्रगतिशील कविता : छायावाद के प्रति विद्रोह
४. निराला, पन्त, बच्चन, अंचल, उदयशङ्कर भट्ट, दिनकर, नीरज तथा अन्य कवियों के मुखरता
५. कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक काव्य का प्रभाव
६. प्रगतिवाद के सप्त सूत्र : स्वरूप
७. प्रगतिवादी साहित्य—विश्लेषण
८. उपसंहार

'प्रगति' शब्द जिन अर्थों से गर्भित है, वे अर्थ मानव की चिर विकासशील प्रकृति से सम्बद्ध हैं। मानव ने विभिन्न परिस्थितियों की जटिलताओं में होकर अपनी विकास-गति को अक्षुण्ण रखा है। 'गति' चेतना का प्राकृतिक धर्म है। 'प्रगति' में यही गतिशीलता है जो मनुष्य की बौद्धिक सोद्देश्यता और लक्ष्य की सुनिश्चितता की व्यंजक है। मनुष्य की बाह्य विकास-यात्रा के पीछे अन्तर्मन और अन्तर्चेतन में व्याप्त अपनी सीमाओं और विवशताओं से उत्पन्न असन्तोष और तज्जन्य विद्रोह-भावना भी रहती है, वह भी इस शब्द के अर्थ-क्रम में स्थान बना लेती है। कुल मिलाकर 'प्रगति' शब्द अन्तर्बाह्य रूप से आगे बढ़ने की क्रान्तिमयी चेष्टा का प्रतिनिधित्व करता

है, इस दृष्टि से यह शब्द सापेक्ष है। 'प्रगति' अपने शुद्ध रूप में मानव की एक सहज मनोवृत्ति और उसके सामूहिक जीवन की मूल आवश्यकता है। इसको अपनाने वाला साहित्य प्रगतिशील कहा जायगा।

इस शब्द के साथ 'वाद' का संयोग हुआ। इस संयोग-प्रक्रिया ने शब्द के मूल अर्थ को अधिकृत और सीमित करना आरम्भ किया। प्रगति स्वचालित और स्वतंत्र नहीं रही। उस पर एक विशिष्ट विचार-धारा का आरोप कर दिया गया। शब्द का मूल अर्थ इस बाह्यारोपित सिद्धान्तवाद में घुटने लगा। सहज मानवीय अर्थ दलगत या वर्गगत स्वरूप में संकुचित होने लगा। उस अर्थ को एक लौह चौखटे में कस दिया गया कि उसका स्वाभाविक विकास और उसकी उन्मुक्त परिणति अवरुद्ध हो गये। आत्मानुभूति का स्थान 'वादी' नारे और प्रचार के प्रखर स्वर लेने लगे। साहित्य प्रगतिशील न रह कद प्रयोगवादी हो गया। प्रगति का चिरन्तन और सतत विकासशील अर्थ ह्रासयुक्त होने लगा। जीवन्त अर्थ-बिन्दु आग्रह-दुराग्रह या पूर्वाग्रह के जाड्य से घिरकर सिकुड़ने लगा : परिधि सीमित हो गई कि इस वृत्त के भीतर जो चीजें आती हैं : स्वीकार्य और जो नहीं आ पातीं : अस्पृश्य और त्याज्य थोड़े ही समय में चिन्ता का विषय बन गई। 'वाद' के हाथों प्रगति के अर्थ की यह विडम्बना।

यह सब एक ऐतिहासिक परिवेश में हुआ। भारत में बौद्धिक जागरण भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की प्रथम किरण—१८५७—से ही आरम्भ हो गई थी। 'आर्य-समाज' और 'ब्रह्म समाज' की गति-विधि और रीति-नीति बौद्धिक जागरण के उन्मेषों के ही प्रकट रूप थे। साहित्यिक क्षेत्र में भाषा का परिवर्तन एक महान् घटना थी। सामन्तीय और विकास की सम्भावनाओं से रहित, सुनिश्चित अर्थ वाली, वर्गीय रुचियों से पतित-पीड़ित और जीवन के स्पन्दनों से कटी हुई ब्रज भाषा नव जागरण के क्षणों को वाणी देने में समर्थ सिद्ध न हो सकी। नवीन चेतना का वहन एक नवीन माध्यम को सौंपा गया। शृङ्गार की एकरस बौछारों, नायिका-भेद की रेशमी-सरणियों, अलङ्कार-ग्रंथों के सृजन की निर्जीव परम्परा का स्थान राष्ट्रीय विचारों और देश-दुर्दशा के वर्णन ने ले लिया। पद्य की सीमाएँ बिखर कर गद्य के आग्रह को साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा देने लगीं। देश-दशा वर्णन, अतीत-गौरव जैसे विषयों ने पुराने विषयों को उपहासास्पद बना दिया। भारतेन्दु ने तत्कालीन जीवन के एक आक्रोशमय यथार्थ को इस प्रकार वाणी दी—

> भीतर भीतर सब रस चूसै,
> बाहर से तन मन धन भूसै,
> जाहिर बातन में अति तेज—
> क्यों सखि साजन ? नहिं अंग्रेज।

स्वर कितना रुद्र और व्यंग्य, कितना उग्र है। उस काल की दृष्टि से सभी मानेंगे कि ये प्रगतिशील पंक्तियाँ हैं। प्रतापनारायण मिश्र के क्रान्तिमय आँसू उस घुटनपूर्ण राजनैतिक वातावरण और सामाजिक जीवन के ह्रास को देख कर फूट पड़े—

बहुतेरे जन द्वार-द्वार मंगन बनि डोलहिं।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि ते बोलहिं।।
बहुत लोग परदेस भागि अरु भागिन सकहीं।
चोरी चण्डाली करि बंदीगृह पथ तकहीं।।
पेट अधम अनगिन तिन अकरम-करम करावत।
दारिद दुरगन पुंज अमित दुख हिय उपजावत।।
यह जिय धरकत यह न होइ कहुँ कोइ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहिं अरु रोवन नहिं देई।।

'मारहि अरु रोवन नहिं देई' में कितना व्यंग्य और कितनी विवशता है। क्या इन आँसुओं का स्थान प्रगतिशील साहित्य की परम्परा में नहीं होगा? क्या कोई प्रगतिशील कवि इन स्वरों को नकार कर कुछ और कहेगा? बाह्यारोपित साम्राज्य सत्ता के दर्शन से साहित्य की आत्मा चीत्कार कर रही है: उसकी जीवन-निष्ठा और आस्था जैसे टूटी जा रही हों। पर नहीं साहित्यकार अपनी आस्था को छोड़ेगा नहीं। उस आस्था और आत्मविश्वास की झलक पं० श्रीधर पाठक की निम्नलिखित पंक्तियों में है—

बन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों।

यहाँ उन कुत्तों पर भी व्यंग्य है जो कुछ मांस के टुकडों के लिए स्वामि-भक्ति—देश-भक्ति को छोड़ देते हैं। यथार्थ के कितने नवीन धरातल, भावबोध के कितने नवीन आयाम, सौन्दर्य-बोध की कितनी जीवन-सापेक्षता और माध्यम की कितनी प्रभावशील और व्यंग्यपूर्ण योजना भारतेन्दुकालीन साहित्य में है, जो उसे 'प्रगति' के सच्चे अर्थों का प्रतिनिधि बना देते हैं। केवल इतना कहा जा सकता है कि यह राष्ट्रीयता ही है। पर पूर्व स्थितियों के सन्दर्भ में ये प्रगति के सूचक स्तम्भ ही कहे जायेंगे।

राष्ट्रीय रङ्गमञ्च पर बाल गङ्गाधर तिलक का उदय हुआ। 'गीता रहस्य' से सक्रिय जीवन की ओर नवीन संदर्भ में एक संकेत मिला। कर्म प्रधान जीवन की यह मर्यादा नवीन परिवेश में प्रगति-चिह्न ही बन गई। गान्धी ने सत्य और अहिंसा के जीवन-मूल्यों के आधार पर सक्रिय जीवन को नैतिक भूमि प्रदान की। इस नैतिक भूमि के अनुभूति-पक्ष में बुद्ध, ईसा, टाल्स्टाय की भावनाएँ गुम्फित थीं। तिलक की दृष्टि पुनर्जागरण वाली वृत्ति को पुष्ट कर रही थी, गांधी के संदेश में प्रगति की गूँज थी। गांधी सच्चे अर्थों में प्रयोगवादी थे: अहिंसा का प्रयोग राजनैतिक दृष्टि से अफ्रीका में सफल सिद्ध हो चुका था: सत्य के प्रयोग तो उन्होंने स्वयं इतने मनोयोग से लिखे। पर ये प्रयोग प्रयोग के लिए नहीं थे: लक्ष्य था प्रगति: यह 'लघु' विशाल मानव का नवीन संस्करण था: सक्रिय और व्यावहारिक मानवतावाद का जागरण था।

आगे चल कर एक धारा में आदर्शमानववाद पनपा; अतीतकालीन आदर्श-चरित्रों में नवीन आदर्श के संस्पर्श जगमग हो उठे। हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी का काव्यलोक था। पुनर्जागरण (Revivalism), रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द और तिलक के दार्शनिक नवोत्थान को लेकर, आनन्दवाद, रहस्यवाद आदि के रूप में साहित्यगत हुआ। इसके साथ मानवतावादी करुणा और व्यक्तिमन की कुण्ठा-जन्य गुत्थियाँ और वर्जनों से उत्पन्न ग्रन्थियाँ सम्बद्ध हो गईं। साहित्यगत निरपेक्ष आदर्शवाद और व्यापक मानववाद से झुँझला कर उग्र और क्रान्तिमय राष्ट्रीयता, कथा के निर्मोक को छोड़कर, स्वतन्त्र रूप से नाश और सृष्टि के गीतों या मुक्तकों के रूप में फूट पड़ी। बालकृष्ण शर्मा नवीन, सनेही, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवि राष्ट्रीय संग्राम के सिपाही भी बने और एक विश्वास और आत्मबल के साथ अपनी अनुभूतियों को नवीन और प्रगतिशील माध्यम प्रदान किया। दिनकर ने राष्ट्रीय भावबोध को विस्तृत करके मानवीय क्रान्ति के साथ सम्बद्ध कर दिया।

प्रगतिशील कविता का जो छोर कहीं इस ऊहापोह में भटक गया था, वह फिर से पनपा, छायावादी कवि धरती की ओर लौटा। उसे जीवन के ठोस यथार्थ आकर्षित करने लगे। 'गुलाब' के स्थान पर 'कुकुरमुत्ता' और 'पल्लव' और 'वीणा' के स्थान पर 'ग्राम्या', विषय और बोध के नवीन और प्रगतिशील स्तरों को प्रकट करते हैं। महादेवी नहीं लौटीं रहस्यलोक से—लौटीं अवश्य पर गद्य-पथ से। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' लघु परिवेशों और व्यक्ति-सापेक्ष जीवन्त सौन्दर्य-बोध के क्षणों की तरलताओं से युक्त हैं। प्रगोगशील-कविता की इस नवोत्थित परम्परा में पन्त, निराला, अंचल, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नरेन्द्र, बच्चन, नीरज, अंचल आदि आते हैं। इनकी प्रगतिशील दृष्टि को नीचे का संक्षिप्त विवेचन स्पष्ट कर देता है।

प्रगति का उन तत्त्वों से कोई समझौता नहीं जो गति के पैरों में बेड़ी बन जायँ, जो गति को रुद्ध करें, जो गतिशील दृष्टि को भटकनों में उलझा दें। मन्दिर, मस्जिद, शास्त्र, सभी यदि रूढ़िबद्ध हैं, तो प्रगति को स्वीकार नहीं। बच्चन ने देखा और कहा—

> रक्त से सींची गई हैं राह मन्दिर मस्जिदों की
> किन्तु रखना चाहता मैं पाँव मधु सिंचित डगर पर
> हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनियां की नजर में।

पारमार्थिक सत्ता का पुराना विश्वास डगमगा गया। ठोस पदार्थ वैज्ञानिक का विषय बना और धरती के नवीन यथार्थ प्रगतिवादी की प्रेरणा के स्रोत बने। नया इन्सान जग पड़ा धरती की भूख अपनी तृप्ति चाहती है। नीरज ने वाणी दी इस सबको—

> हैं काँप रहीं मन्दिर मस्जिद की मीनारें।
> गीता कुरान के शब्द बदलते जाते हैं।
> ढहते जाते हैं दुर्ग द्वार मकबरे महल.

तख्तों पर इस्पाती बादल मँडराते हैं।
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इन्सान नया।
जिन्दगी क़ब्र पर बैठी बीन बजाती है।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

जर्जर जग जीवन को देख कर ब्रह्म सम्बन्धी वायवी कल्पना भी तिरोहित हो जाती है। व्यक्त यथार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि अव्यक्त की वाष्प की निस्सारता स्वयं प्रकट हो जाती है। प्रगतिशील कवि की दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु दलित-दुखी लघु मानव है। नीरज ने ब्रह्म की मिटती हुई रेखाओं की सूचना दी—

मिल जाता है जब कभी लगा सम्मुख पथ पर
भूखे भिखमङ्गों नङ्गों का सूना बजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं
है खोज रहा धरती पर मिट्टी का मजार॥

बात यहीं नहीं रुकी। ब्रह्म के प्रति एक घृणा का भाव जाग्रत हुआ—

आज भी जन-जन जिसे कर-बद्ध होकर याद करते,
नाम ले जिनका गुनाहों के लिए फ़रियाद करते,
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता। —अंचल

वास्तव में धर्म-दस्युओं के शोषण की इयत्ता नहीं रही। धर्मदस्यु ने पहले मनुष्य के ऐहिक रूप पर एक लम्बा-चौड़ा प्रश्न चिह्न लगा दिया : तू कौन है भोले ? और उसे उलझाते-उलझाते एक पारमार्थिक सत्ता की ओर ले गया—सब कुछ शून्य। उसने उसकी प्रत्येक भौतिक साँस उसके भौतिक सुख और भौतिक परिवेश को मिथ्या कहा : छोड़ बावले, यह तेरा नहीं है। सत्य ईश्वर है, उसकी शरण में जा। यदि रास्ता नहीं जानता तो गुरु की शरण ले; संघ की शरण ले। और मनुष्य भूल गया : भटक गया। उसने मन्दिर के द्वार खटखटाये, मस्जिद की किवाड़ों पर दस्तक दी। पर सब कुछ अज्ञात, केवल विश्वास्य ! धर्म की सारी व्यवस्था कालान्तर में सामन्तवादी और पूँजीवादी होती गई। इस धर्म-दस्यु ने धरती के जन को, उसके सीधे सच्चे यथार्थ से भटकाकर न जाने कितना बड़ा पाप कमाया। प्रगतिशील विचारक ने बौद्धिक जागरण के युग में इस शोषण को समझा और समस्त रूढ़ संस्थाओं और निर्जीव अव्यक्तगत भावनाओं को ललकारा और नवीन धरातल पर मनुष्य को लाने का यत्न किया। रूस में यह आडम्बर क्रान्ति के रक्त में डूब गया। उधर वैज्ञानिक ने रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा इनका अस्तित्व हिला दिया। प्रगतिशील साहित्य में यह सब सहज है : सम्प्रदाय से मुक्त ! आत्मा की सच्ची अनुभूति है।

और फिर उद्बुद्ध प्रगतिचेता ने देखा शोषित को, जो हताश तथा, लहू लुहान था। इतना थका कि प्रगति के नाम से काँप जाता। इतना जर्जर कि नवजागरण की किरणों का बोझ कैसे वहन करे। फूल, ज्योत्स्ना, उषा आदि अब उसकी दृष्टि को नहीं उलझा सकते। इन सौन्दर्य-कृतियों के प्रति अब उसकी बच्चों जैसी जिज्ञासा

समाप्त हो गई। विज्ञान ने अपनी उधेड़-बुन से इन प्राकृतिक सौन्दर्य-केन्द्रों को नव-अन्वेषित यथार्थों से जकड़ दिया। अब कवि की दृष्टि में शोषित मानव के व्यथित चित्र अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ समाने लगे। निराला का बदला हुआ सौन्दर्य-बोध इन पंक्तियों में अभिव्यंजित हैं—

श्याम तन भर, बँधा यौवन
नत नयन प्रिय कर्म रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बारबार प्रहार !

यह 'जुही की कली' के कवि की सौन्दर्य-दृष्टि है। और यहीं कहीं बाजार में एक और जीव दिखलाई पड़ा, जिसमें मानव का अपमान मूर्तिमान था—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता ॥

पंत ने जिस मानव का चित्र खींचा वह यह था—

कर जर्जर ऋण ग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भू-धन।
निखिल दैन्य दुर्भाग्य दुरित दुख का जो कारण॥

इस शोषित मनुष्य की पृष्ठभूमि में सामाजिक वर्ग-वैषम्य है। एक वर्ग है जिससे यह मानव शोषित है। वर्ग-भेद आर्थिक आधार पर है। पूँजीपति शोषण का कारण है। प्रगतिशील कवि इन वर्गों के शोषक शोषित सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए वैषम्य के चित्र अङ्कित करता है। इसमें क्रान्ति की प्रेरणा रहती है। इनमें प्रकट यथार्थ क्रान्ति की सम्भावनाओं से गर्भित रहता है—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा बसन बेच, जब व्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।[१]
पापी महलों का अहङ्कार देता मुझको तब आमंत्रण।

कवि भविष्य वाणी करता है कि शोषक वर्ग अब अधिक जीवित नहीं रह सकता—

जग-जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन।
अब न प्रयोजन उनका अन्तिम हैं उनके क्षण।[२]

वर्तमान समाज के विनाश पर कवि का विश्वास जमता है—

---

१. दिनकर
२. पंत

हो यह समाज चिथड़े चिथड़े, शोषण पर जिसकी नींव पड़ी ।[१]

अन्त में क्रान्ति का स्वर जग पड़ता है। क्रान्ति के अतिरिक्त समाज के शोषण का अन्त किसी प्रकार से नहीं हो सकता। क्रान्ति का संदेश लाल रूस से भी आता है। पर जिस प्रकार की विचार धारा प्रयोगशील साहित्य में जागृत हो रही थी, उसमें भी स्वाभाविक रूप से क्रान्ति की चिनगारी छिपी है। बच्चन ने क्रान्ति का संदेश दिया—

उठ समय से मोरचा ले
धूल धूसर वस्त्र मानव
देह पर फबते नहीं हैं
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रँगाले।

दिनकर, अञ्चल, उदयशङ्कर भट्ट जैसे कवियों में क्रान्ति का घोष उग्रतर होता गया है। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य की एक प्रबल धारा बन गई। उसमें प्रगति के सभी तत्त्व समाविष्ट है। पर पारिभाषिक रूप से ये कवि न मार्क्सवादी थे और न उस राजनैतिक सम्प्रदाय की मान्यताओं से इनका व्यक्तित्व और स्वतंत्र प्रतिभा ही क्षुब्ध हैं। प्रगति अपने शुद्ध रूप में इनकी वाणी में प्रकट हुई है। हो सकता है कि प्रगतिवादी इस साहित्य-धारा को प्रगतिवादी मानने में हिचकें। वैसे रहस्यवाद, छायावाद, हालावाद जैसे काव्य-विधानों को छोड़ कर कवियों का इधर मुड़ना एक स्वाभाविक विकास का सूचक है। प्रगतिवादी काव्य या उसके दर्शन पर विचार करते समय इस धारा को छोड़ा नहीं जा सकता।

इसी धारा के साथ एक यथार्थवादी काव्य-धारा का भी उल्लेख कर देना चाहिए जिसने समाज के जलते हुए यथार्थों की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य में की। यह मिथ्या दार्शनिकता, थोथे और निरपेक्ष आदर्शवाद एवं पलायनवाद की प्रतिक्रिया थी। इस धारा के कवियों ने असन्तोष, शोषण और निराशा के वे चित्र खींचे जिनसे जीवन का साहित्य में उपेक्षित अङ्ग सामने आया। यह धारा ऐतिहासिक गौरव और अतीत की स्वर्ण-संस्कृति की चकाचोंध में नहीं भूला। वर्तमान की विद्रूपताएँ इस धारा ने स्पष्ट करना आरम्भ किया। कल्पना और स्वप्न के झिलमिल आवरणों को इस कवि ने चीर दिया। निरपेक्ष सौन्दर्यभावना और कल्पित आत्मानन्द के स्थान पर क्रूर और वीभत्स वस्तु स्थिति आने लगी। इस प्रकार नवीन संवेदनाओं को इस धारा ने जगाया। शोषण के चित्रों में क्रान्ति और प्रतिहिंसा सूचित होने लगी। विकृतियों की ओर यथार्थवादी कवि का विशेष ध्यान गया। शिव के स्थान पर अशिव रूपों की प्रतिष्ठा होने लगी। कुछ अच्छे स्कैच आए जिन्होंने एक नवीन काव्य रूप को भी जन्म दिया। इससे नवीन यथार्थ तो हमारे भाव बोध के विषय बने पर भौतिक वस्तुवाद का निरपेक्ष चित्रण कोई बहुत स्वस्थ लक्षण नहीं कहा जा सकता। मनोभावों से अलग करके वस्तुस्थिति का चित्रण साहित्यिकता से कुछ दूर पड़ जाता है। ये चित्र

१. अंचल

प्रेतों जैसा आतङ्क उत्पन्न करके रह जाते हैं। ख़ैर, इसने भी प्रगतिवाद के लिए भूमिका तैयार की और बदले हुए दृष्टिकोण को प्रकट किया।

परिस्थिति ने एक और करवट बदली। प्रथम महायुद्ध हुआ। उससे समस्त संसार आतङ्कित हो गया। इस युद्ध के अन्त होते-होते 'रूस की ज़ारशाही से पीड़ित शोषित जनता ने लेनिन के नेतृत्व में संगठित रक्त-क्रान्ति की : वह सफल हुई। इस क्रान्ति के अनन्तर मार्क्सवादी दृष्टि से जो शासन-सत्ता स्थापित हुई वह एक अभूतपूर्व स्थिति थी। एक सर्वथा नवीन व्यवस्था संसार के सामने आई। ऊपर यथार्थवादी पृष्ठभूमि की चर्चा की जा चुकी है। उसकी पृष्ठभूमि में मार्क्सवाद का प्रभाव भारत में भी बढ़ने लगा। वर्ग हीन समाज की स्थापना और प्रोलेतेरियत शासन व्यवस्था संसार भर की जनता को प्रेरित और स्पंदित करने लगीं। डारविन, कैन्ट, हीगेल और अन्य इसी प्रकार के विद्वानों की विचार धारा उभरने लगी। सूक्ष्म से गति यथार्थ की ओर होने लगी और आत्मा से भौतिक सत्ता की ओर। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास की नवीन व्याख्या की। इस व्याख्या ने वर्ग-संघर्ष और उसके आर्थिव आधारों का क्रम-विकास स्पष्ट किया। एक ऐसी शासन-व्यवस्था की कल्पना मार्क्स की दृष्टि में भूल उठी, जो शोषित वर्गों के द्वारा संचालित होगी। समस्त रूढ़ियाँ और रूढ़ परम्पराएँ भूमिसात् होने लगीं। यही दार्शनिक पृष्ठभूमि लेनिन की क्रान्ति के पीछे थी।

हमारे राष्ट्रीय जागरण के साथ भी ये समस्याएँ सम्बद्ध होने लगीं। स्वयं कांग्रेस में एक वर्ग सामाजवाद के नाम से सङ्गठित होने लगा। यह वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सहयोग देता रहा और एक वर्ग हीन समाज पर भी इस वर्ग की दृष्टि जमी रही। पर राष्ट्र की जनता कांग्रेस और गांधी में पूर्ण विश्वास रखती थी। अतः समाजवादी विचारधारा सीमित ही रह गई। पर एक नवीन विचारधारा भारत में प्रविष्ट तो हुई ही।

ब्रिटिश शासन में जहाँ व्यापार का केन्द्रीकरण हो रहा था, वहाँ उद्योग का भी केन्द्रीकरण हुआ। फलतः भारत में भी श्रमिक वर्ग अपने सच्चे अर्थों में विकसित होने लगा। किसान और छोटा उपयोगी कलाकार यांत्रिक उद्योग और उत्पादन के वृद्धि-काल में मात्र मज़दूर बन कर रह गया। उसका जीवन निम्नतर होने लगा। यह श्रमिक वर्ग जिन बड़े शहरों में पनपा वहाँ साम्यवादी विचारधार के केन्द्र खुले। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण मज़दूरों की माँग भी बढ़ने लगी : श्रम का मूल्य कम होने लगा। इससे असन्तोष भी बढ़ा और फलस्वरूप साम्यवादी विचारधारा भी अपने केन्द्रों पर सबल होने लगी।

संक्षेप में इस विचारधारा का विश्लेषण यों कर सकते हैं। मार्क्स के दर्शन के अनुसार जगत् का भौतिक रूप ही सत्य है। पदार्थ जगत् की सत्ता का प्रतिरूप ही विचार है। हीगेल ने विचार को सत्य और भौतिक जगत् को उसकी प्रतिकृति के रूप में स्वीकार किया था। भौतिकवाद को द्वन्द्वात्मक पद्धति से सिद्ध किया जाता है।

भौतिकवाद चेतन के ऊपर जड़ तत्त्व की सत्ता मानता है। सृष्टि के दो मूलभूत और आत्यन्तिक विषम तत्त्व परस्पर द्वन्द्वशील हैं। एक तत्त्व धनात्मक (Positive) होता है और दूसरा ऋणात्मक (Negative)। प्रथम विकासशील है और दूसरा ह्रासशील या नाशवान। इन्हीं के संघर्ष में जीवन-विकास और जगत्-गति का रहस्य वर्तमान है। वस्तु के गतिशील रूप की ही सत्ता है। वस्तु का अवस्थान या थीसिस विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करता हुआ प्रत्यवस्थान या एन्टीथिसिस की स्थिति को पहुँचता है। अन्ततः दोनों तत्त्वों में आन्तरिक सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस समन्वयात्मक स्थिति को सिन्थिसिस या सम अवस्थान कहते हैं। इस स्थिति को भी शाश्वत नहीं कह सकते। फिर विरोधी तत्त्वों का उदय हो जाता है और चक्र चलता रहता है। इस दर्शन के अनुसार परमाणु तक की सत्ता भी स्थिर नहीं है : वह भी परिवर्तनशील है। इस प्रकार सृष्टि क्रम में गतिमयता बनी रहती है। गति का मूल रहस्य द्वन्द्व है।

नित्य परिवर्तन भी निरुद्देश्य नहीं है। यही वस्तु-जगत् के विकास का कारण है। आरम्भ की स्थिति परिमाण-वृद्धि ही गुण-वृद्धि का कारण बनती है। प्रत्येक विकास पूर्ववर्ती अवस्था का उन्नयन करता है। विकास-क्रम को सुरक्षित और क्रमिक रखने के लिए क्रान्ति भी आवश्यक होती है। क्रान्ति मृत या मरणशील तत्त्वों का विनाश करती है और विकासशील तत्त्वों की सत्ता के विस्तार के लिए स्थल तैयार करती है। क्रान्ति के द्वारा स्थापित नवीन वस्तु सत्ता परिमाण, गुण और स्वरूप सभी में अपनी पूर्ववर्ती स्थिति से विचित्र और भिन्न होती है। विनाश ही नवीन सृष्टि की भूमिका प्रस्तुत करता है। समझौता एक भ्रम है और असम्भव भी है। इस प्रकार साम्यवादी प्रगति समन्वयात्मक नहीं, विरोधात्मक है। वैचारिक उदारता का नहीं, इसमें ऐतिहासिक अनिवार्यता का महत्त्व होता है। प्रेम और अहिंसा की अपेक्षा सामाजिक संघर्ष और क्रान्ति ही विकास एवं प्रगति के मूल उपादान माने जाते हैं। इस प्रकार भौतिक द्वन्द्ववाद के अनुसार मनुष्य की प्रत्येक धारणा एक अन्तर्निहित गति से प्रवाहित होकर विपरीत धारणा में परिणत हो जाती है और उभय धारणाएँ बाद में एक उच्चतर धारणा के भीतर समन्वित हो जाती हैं। इसी प्रकार का द्वन्द्व जगत् की अभिव्यक्ति में भी वर्तमान है। यही द्वन्द्वत्व प्रकृति और इतिहास में भी कार्य करने वाला है। द्वन्द्व का सारे विश्व पर एकाधिकार है। सम्पूर्ण जगत् उसी से शासित हो रहा है। यह जड़ जगत् निरन्तर होने वाले विकासों का अटूट प्रवाह है।

इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर समाज के विकास और व्यक्ति के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है। यही ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध है। व्यक्ति और समाज दोनों के अस्तित्व की व्याख्या हुई। इसके अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व व्यक्ति-चेतना पर आधारित नहीं है। वह तो सामाजिक वस्तु है। समाज पर ही व्यक्ति की चेतना निर्भर है। व्यक्ति की रुचि, मति, प्रवृत्ति सब कुछ सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं। इस प्रकार बाह्य परिस्थितियाँ मानव-

चेतना का नियंत्रण करती हैं। परिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियाँ समाज के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। समाज के स्वरूप के अनुसार मानव-चेतना नियंत्रित होती है। साहित्य, कला, दर्शन-सभी भौतिक वास्तविकता के अनिवार्य परिणाम हैं। उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण समाज का कोई स्वरूप सार्वकालिक स्थायी तत्त्व सत्य नहीं हो सकता। स्थायी मूल्यों की कल्पना भ्रामक है। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध भी सदा एक सा नहीं रहता। समाज और व्यक्ति की गति के केन्द्र में अर्थ है। अर्थ-व्यवस्था का आधार ही दर्शन, साहित्य, राजनीति को स्वरूप प्रदान करता है। अर्थ-व्यवस्था, उत्पादन के स्रोत और उपार्जन पद्धति भी सदा बदलते रहते हैं।

इस दर्शन की समाज-सापेक्ष व्यावहारिकता भी है। पूँजीपति अपनी पूँजी से सम्बद्ध हो जाता है। पूँजी की रक्षा तथा अपनी सत्ता की सुरक्षा के लिए वह कुछ जाल रचता है। वह परलोक की भावना और प्रारब्ध की शरण लेता है। पूँजीपति प्रारब्ध के आधार पर अपनी स्थिति को निर्दोष घोषित करता है। ईश्वर की कल्पना का मूल भी इसी प्रकार की पूँजीवादी मनोवृत्ति में है। पूँजीवाद सम्पत्ति के दोषपूर्ण वितरण और विभाजन का परिणाम है। सम्पत्ति का विभाजन व्यक्ति पर नहीं, उसकी सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता पर आधारित होना चाहिए। सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं समाज का नियंत्रण होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का नियंत्रण पूँजीवाद को जन्म देता है। पूँजीवाद एक श्रमिकवर्ग को जन्म देता है। पूँजीपति इस वर्ग की आन्तरिक कौशल और शारीरिक शक्ति का शोषण करता है। श्रमिक पूँजीवादी के द्वारा दिए गए झूठे प्रलोभनों में फँस कर अपने स्वास्थ्य, उम्र और जीवन-स्तर को खो बैठता है। जनसंख्या की वृद्धि श्रम का अवमूल्यन करती है। श्रमिक निम्न से निम्नतर होता जाता है और चतुर्दिक असन्तोष और क्रान्ति की लपटें। इस प्रकार वर्गसंघर्ष जटिल से जटिलतर होता जाता है और आहत और उत्पीड़ित श्रमिक क्रान्ति की शरण में जाता है—आग और रक्त।

साहित्य भी इस दर्शन और विचारधारा से प्रभावित होने लगा। योरुप में यह प्रभाव पहले इटली में दिखलाई पड़ता है। मारिनेत्ति और उसके अनुयायियों में प्रगतिवादी सिद्धान्त पनपते गए। पीछे शाखाएँ भी हुईं। छन्द के बन्धन और व्याकरण का उल्लंघन भी निश्चिन्त होकर किया जाता था। 'फार्मेलिज्म' की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यथार्थवाद की स्थापना हुई। फ्रांस में फार्मेलिज्म की प्रतिक्रिया 'नेचुरलिज्म' के रूप में हुई। लाल क्रान्ति के पूर्व के साहित्यकार स्वेच्छा और स्वतंत्रता से अपने कर्म में निरत थे। क्रान्ति के बाद राजनैतिक उद्देश्य के लिए साहित्य माध्यम बन गया। इसका कार्य मार्क्सवादी विचारधारा का पोषण और प्रचार हो गया। १९३० का लगभग अंग्रेजी साहित्य भी इस विचारधारा से प्रभावित हुआ। डब्ल्यू० एच० आडेन, सेसिल डेलेविस आदि ने दलित वर्ग के जीवन-तथ्यों का आकलन किया।

भारतीय साहित्य-चिन्तन भी साम्यवादी प्रभाव से मुक्त न रह सका। प्रगति-

शील लेखक संघ स्थापित हुआ। प्रेमचन्द की प्रातिभ साधना की गति 'गोदान' और 'मङ्गल सूत्र' में बदली। इनमें समझौते, या आदर्शवादी समन्वय की छाया छूट गई। निरन्तर संघर्ष की भावना इनमें विद्यमान हैं। इस प्रकार प्रगतिवादी आन्दोलन साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ हुआ। एक ओर तो इसने थोथे आदर्शवादी इतिवृत्तों तथा द्विवेदी युगीन निरपेक्ष नैतिकता का विरोध किया, फैशनेबल वेदनावादियों या छायावादी प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिक्रिया की। इस विचारधारा के प्रभ वों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है—

१. किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग की गतिविधि, उसकी समस्याएँ और उनके जीवन के यथार्थ साहित्य की विषय-वस्तु की योजना करने लगे।

२. वैज्ञ निक आस्था और बौद्धिक चेतना को साहित्य-साधना से सम्बद्ध किया गया। सामन्तवादी मान-मूल्य धराशायी हुए।

३. मनुष्य को धर्म, संस्कार, जाति, नस्ल सभी के तत्त्वों से निकाल कर सिर्फ मनुष्य के रूप में स्वीकार किया गया।

४. धर्म, परलोक, ईश्वर और अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं को अनिवार्य विदाई दी गई : विज्ञान के आधार को स्वीकृत किया गया।

५. रूप-गठन और शैली-शिल्प में भी एक परिवर्तन लाया गया : सब कुछ अशास्त्रीय, सहज और लोक जीवन के समीप आने लगा।

६. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ।

७. विद्रोह, क्रान्ति और विनाश के स्वर प्रबल हो गये। उद्देश्य था सर्वहारा वर्ग को अपनी शक्ति से अवगत कराना, उसे नव जीवन-चेतना देना और अन्ततः उसका सत्ता की प्रतिष्ठा करना।

इन प्रभावों की सघनता ने एक साहित्यिक मंच की स्थापना की। प्रेमचन्द ने इस विचारधारा को प्रश्रय दिया। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति के रूप में उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें प्रगतिवाद के भावी रूप की व्यञ्जना होती है। साहित्य के उपयोगितावादा पक्ष पर भी इस भाषण में बल दिया गया। कालाकाँकर से प्रकाशित 'रूपाभ' [सम्पा० पंत एवं नरेन्द्र] में प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में अनेकानेक विचार प्रस्तुत किए गए। १९४१ में 'हंस' का प्रकाशन हुआ। इसने इस आन्दोलन की पुष्टि की और विचार-धारा का दृढ़ता से प्रचार किया। पंत जैसे सौन्दर्य और कल्पना जीवी कवि प्रगति के क्षेत्र में उतरते दिखलाई पड़े। 'युगवाणी' में पंत जी ने मार्क्स का गुणगान किया—

> धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
> तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयङ्कर।

और नरेन्द्र शर्मा ने कहा—

> लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की
> वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।

लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मज़दूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

सामन्तवादी शोषण का विरोध करने वाले या पूँजीवाद के प्रति विद्रोह करने वाले साम्यवाद का कृषि-प्रधान देशों के लिए क्या महत्त्व है, यह अधिक स्पष्ट नहीं था। चीन क्रान्ति से इस आन्दोलन की उपयोगिता कृषि-प्रधान देशों के लिए भी स्पष्ट हो गई।

साम्यवादी साहित्य-शास्त्र पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। इस विचार-धारा में 'कला कला के लिए' का कोई स्थान नहीं है। कला जीवन की ही उपज है : उसका उद्देश्य उसी के साथ संलग्न है। यही साहित्य का उद्देश्यवाद है। एक प्रकार से विशुद्ध कलावाद के प्रति प्रगतिवाद ने एक प्रतिक्रिया की। विशुद्ध कलवादियों के अनुसार रूपगत सौन्दर्य (Beauty of form) के अतिरिक्त कला का अन्य कोई लक्ष्य नहीं है। इस मत का मूलाधार दार्शनिक आदर्शवाद या कान्ट के सौन्दर्य दर्शन में है। कान्ट के अनुसार सौन्दर्यानुभूति के मूल में वह पक्षपात शून्य आनन्द है जो विशुद्ध रूप में पाया जाता है। गोतिए ने इस मत को पुष्ट किया था। गोतिए ने एक बार कहा था : 'मुझे यदि केवल रैफेल (Raphael) का एक चित्र अथवा कोई नग्न सुन्दरी देखने को मिल जाय तो एक फ्रांसीसी और नागरिक के रूप में मेरे जो अधिकार हैं, उन्हें भी मैं आनन्द के साथ छोड़ सकता हूँ।" इस प्रकार की तरल विचार सरणियों का प्रगतिवाद ने सशक्त विरोध किया। इस प्रकार साहित्यिक उद्देश्यवाद में प्रगतिवाद का दृढ़ विश्वास है।

साहित्य का आधार मानव-जीवन है। जीवन अजस्र है। अतः साहित्य के उपकरण कभी समाप्त नहीं हो सकते। जीवन साहित्य के लिए नहीं है और न साहित्य साहित्य के लिए है : वह तो जीवन के लिए है। जीवन स्थिर नहीं, गतिशील है। इस गतिशीलता के कारण जीवन नए रूप ग्रहण करता है : पुराने युग की क़ब्र बनती है : न जीवन का जन्मोत्सव मनाया जाता है। साहित्य भी युग और जीवन के रूप-विकास के साथ नवीन रूप धारण करता चलता है। साहित्य जीवन का मात्र दर्पण नहीं, स्वयं जीवन ही है।

साहित्य के लिए प्रगतिशीलता कोई नई वस्तु नहीं है : जीवन के पूर्व रूपों से बँधे साहित्य की दृष्टि से नया साहित्य प्रगतिशील होता ही है। परम्परा को नया बनाना साहित्य का धर्म है। प्रगति और नवीनता में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जब नवीनता नवीनता के लिए हो जाती है, तो साहित्य अपने नाश की योजना करता है। नवीनता मङ्गलोन्मुख होनी चाहिए। पुराने उपादानों को भी साहित्यिकार की प्रतिभा का जादू नया बना सकता है। प्रयुक्त उपादानों का इतना महत्त्व नहीं जितना उस दृष्टि का जिससे कलाकार उनकी नवीन संयोजना करता है।

प्रगतिवादी साहित्य किसी शाश्वत जीवन-सत्य में विश्वास करके नहीं चलता। इसीलिए वह किसी स्थायित्व की भी चर्चा नहीं करता। साहित्य साध्य नहीं, साधन

है। वह मानवीय मूल्यों और वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों में एक आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। यह परिवर्तन भी एक क्रमिक विकास के द्वारा नहीं होता, यह एक सोद्देश्य सामाजिक और सास्कृतिक क्रान्ति के द्वारा लाया जाता है। यह श्रेणी संघर्ष को कर्मधारा के अनुसार घटित की जाती है। इसके मूल में वर्तमान अवस्था के प्रति एक असन्तोष रहता है। असन्तोष उसे समझौते की प्रेरणा नही देता : निरन्तर क्रान्ति का संकल्प प्रदान करता है। साहित्य इस असन्तोष और क्रान्ति को उग्र स्वर और दृढ़ संकल्प प्रदान करता है। साहित्य का कार्य है कि असन्तोष को व्यक्तिस्तर से निकाल कर सामाजिक स्तर पर स्थापित करे और विद्रोही आन्दोलनों के लिए भावभूमि प्रस्तुत करे। इस प्रकार क्रान्ति की छोटी-छोटी चिनगारियों को एक सामूहिक जन-ज्वाला का रूप साहित्यकार देता है। वही साहित्य प्रगतिवादी कहा जा सकता है।

प्रगतिवाद का लक्ष्य सामाजिक यथार्थ के उग्र चित्रण से परिवर्तन की शक्तियों को बल देना है। इस साहित्य-दर्शन के अनुसार रस का स्वरूप भी भिन्न होता है। 'रस' यहाँ वैयक्तिक नहीं, सामूहिक है। इसका उस रस में विश्वास नहीं जो निष्क्रिय हो : स्वार्जित जीवन-अनुभूति के आधार से परे हो : जो निवृत्ति की अवसाद पूर्ण मनःस्थिति पैदा करे। प्रगतिवाद उस रस का पक्षपाती है जो एक सजीव और सशक्त सामाजिक अनुभूति और जीवन के भावबोध पर आधारित होता है। वह एक विराट् विश्वबोध का ही पर्याय है। "प्रगतिवादी साहित्य में रस की उद्भावना, रसानुभूति का उद्रेक, उस जीवन-स्थल पर होता है जहाँ मानव केवल जीने के लिए जीवित नहीं रहता, वरन् वह अपने अनुभवों को चुनचुन कर उनका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषण के फलस्वरूप अपने भविष्य के अनुभवों को अधिक सुखद बनाने की चेष्टा करता है। यहाँ सुखद शब्द का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में किया जा रहा है।"[१]

रस की योजना की आधारभूमि बौद्धिक ही होगी। बौद्धिकता भावुकता को संयमित करती हुई उसे सार्वभौमिकता प्रदान करती है। पर बौद्धिकता का मात्र प्रदर्शन या नकल घातक भी होती है। जीवन की व्याख्या स्वच्छ बौद्धिकता ही कर सकती है। अनुभूतियों का बौद्धीकरण कोरी भावुकता को समाप्त कर देता है। विज्ञान ने जीवन की व्याख्या की एक पद्धति दी है। साहित्य में भी जीवन की बौद्धिक व्याख्या अनुभूतियों के सहारे प्रविष्ट होती है। कोरी भावुकता से जो विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, बुद्धिवाद उनका परिष्कार कर देता है।

प्रगतिवाद का यथार्थ से गठबन्धन है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी यथार्थ के नाम पर अश्लील, कुत्सित और कुरुचि पूर्ण चित्रण होता है। इस प्रकार के चित्रणों में साहित्यिकता नहीं रहती। प्रगतिवाद में यथार्थ एक गतिशील शक्ति है। यथार्थ, प्रगति की दृष्टि से, साध्य नहीं साधन है। यथार्थ का चित्रण सामाजिक अनुभूतियों को तीव्रता प्रदान करता है। समस्या को नुकीला भी यथार्थ ही करता है। यथार्थ के चित्रण के पीछे स्वस्थ जीवन-विश्लेषण का क्रम रहना चाहिए। यथार्थ का

१. श्री अंचल : आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग २, पृ० ६१

चित्रण संकेत पूर्ण होना चाहिए। हमें उन सामाजिक विद्रूपों के कारणों की खोज और उन्हें मिटा देने की सक्रिय प्रेरणा मिलनी चाहिए। यथार्थ चित्रण की उच्छृङ्खलता और उद्देश्य हीनता का समर्थन बड़े से बड़ा प्रगतिवादी भी नहीं कर सकता। यथार्थ का लक्ष्य है समाज के परिवेश में व्यक्ति की स्थिति, उसकी समस्याओं और उसकी क्रान्ति-क्रियाओं को स्पष्ट करना। यथार्थ के चित्रण के लिए उन स्थितियों को लेना चाहिए जिनसे मनुष्य की संघर्षशील प्रवृत्ति को जाग्रत करने की शक्ति है।

साहित्य शून्य में उत्पन्न नहीं होता। वह परिस्थितियों की देन है। मार्क्स के अनुसार साहित्य का समाज भी अर्थ-व्यवस्था एवं उत्पादन के तरीकों से ही नियमन होता है। रचनाकार भी किसी-न-किसी सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित होता है। वह अपने वर्ग की प्रकृति और चेतना से विच्छिन्न नहीं हो सकता। अपने वर्ग की मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति रचनाकार अपनी कृति में करता है। अतः उसे पूर्ण निरपेक्ष मानना या निर्वैयक्तीकरण की चेष्टा करना प्रगतिवादी की दृष्टि में एक भ्रम है। इस वर्ग के माध्यम से समाज की अर्थ-व्यवस्था साहित्य का नियमन करती है। मार्क्स-साहित्य की समाज निरपेक्ष सत्ता को लेकर नहीं चलता।

श्रेष्ठ साहित्य समसामयिक सामाजिक जीवन के प्रति प्रबुद्ध और जागरूक रहता है। यथार्थ के चित्रण के द्वारा वह कभी तो परम्परा का विरोध करता है और कभी प्रगतिमय क्रान्ति का समर्थन। साहित्य के ऐसे कोई आन्तरिक गुण नहीं होते जिनके कारण साहित्य को श्रेष्ठ कह दिया जाय। वह कवि के प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण ही श्रेष्ठ कहला सकता है। अपने प्रयोजन और उद्देश्य की श्रेष्ठता ही माध्यम को श्रेष्ठ बना सकती है। संक्षेप में इसको उपयोगिता कहा जा सकता है।

कुछ आलोचक प्रगतिवाद में मान्य मानवतावाद को अधूरा मानते हैं। कारण यह है कि प्रगतिवादी एक वर्ग के प्रति अपने दायित्व को मानता है। सम्पूर्ण मानव वर्ग-भावना के कारण उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। पूँजीवादी या सामन्त-वादी वर्ग की यथार्थताएँ इस कवि को आकर्षित नहीं करतीं। अतः वर्गों के परस्पर सम्बन्धों का भी सत्य उद्घाटन नहीं हो पाता। उसके भीतर एक वर्ग से सम्बद्ध पूर्वाग्रह प्रबल होता है।

संक्षेप में यही प्रगतिवादी साहित्य-दर्शन की रूपरेखा है।

पर 'वाद' इस धारा के सारतत्त्व को चर गया। अन्त में भारतीय प्रगतिवाद एक राजनैतिक सम्प्रदाय का प्रचार-यंत्र बन कर रह गया। अपनी वस्तुपरकता में यह दलगत दलदल में फँस गया। बहिर्जगत् के अनिवादी रूप ने व्यक्ति के अन्तर्जगत को इतना क्षुब्ध कर दिया कि प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक हो गया। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यक्तिनिष्ठा प्रबल होने लगी। 'बच्चन' 'अंचल' जैसे प्रगतिशील कवियों में से रूढ़िवादी प्रगतिवादी सम्प्रदाय का विश्वास उठ गया। वैसे प्रगतिवाद की कुछ ऐतिहासिक देनें तो हैं : इसने आदर्श मानववाद या महामानववाद को रोका। छायावादियों की वायवी, वैयक्तिक और रहस्यमयी सौन्दर्य-कल्पनाओं और भावों की तरलताओं के प्रति एक

सशक्त प्रतिक्रिया उत्पन्न की। प्रगतिवाद ने बौद्धिक तत्त्व को दृढ़ता के साथ पकड़ कर आगे की भूमिका प्रस्तुत की। विषयवस्तु और शिल्प एक लाक्षणिक स्वर्णजाल से निकल कर, यथार्थ धरातल पर आए। यह सब प्रगतिवादी आन्दोलन ने किया। डा० रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील लेखक संघ की व्याख्या भी इस रूप में की है कि वह देश-विरोधी न लगे और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में राष्ट्रीयता घुलमिल न जाय। उन्होंने कहा : "प्रगतिशील साहित्य राष्ट्रीय स्वाधीनता, शान्ति और जनतंत्र के लिए संघर्ष का साहित्य है।...प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता है।...प्रगतिशील साहित्य विभिन्न भाषावार इलाकों की जनता में एका कायम करता है और उनकी आपसी मित्रता और भाई-चारे को दृढ करता है।...प्रगतिशील साहित्य 'विज्ञान से प्रेम' और 'कला जनता के लिए' इन दो सिद्धान्तों को मिला कर चलता है।...प्रगतिशील साहित्य जनता की सेवा करने वाले तमाम साम्राज्य-विरोधी और सामन्तविरोधी लेखकों की एकता को दृढ़ करने से विकसित होता है।" इन घोषणाओं की लकीरें बड़ी स्वच्छ हैं। पर जितनी स्वच्छ ऊपर से हैं, उतनी भीतर से नहीं। न जाने घुन कहाँ था कि पेड़ गिर गया। सम्भवतः 'वाद' से द्योतित सम्प्रदाय-निष्ठा ही इसके पतन का कारण बन गई। धीरे-धीरे इससे सम्बद्ध कवि किनारा कसने लगे। बाह्यारोपित मतवाद इसके जीवन-स्रोतों को सुखाने लगा। इसका विकास धीरे-धीरे एकाङ्गी हो गया : संकीर्णताओं से जर्जर दिशा की ओर इस विकास-क्रम का मुख था। इसने मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके वर्गीय मूल्यों में आस्था को दृढ़ करना चाहा। नियंत्रण इतना कड़ा होता गया कि सन् १९४३ और ५० के बीच प्रयोगवादी लेखक स्वयं अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रति संदिग्ध हो गया : उसका आत्मविश्वास जर्जर हो गया। एक शब्द का प्रयोग करके प्रगतिवादी सोचता था कि कहीं वह एक निश्चित फ्रेम से बाहर तो नहीं रेंग रहा। नियंत्रण की इस जटिलता में समस्त अभिव्यक्ति-विधान जड़ और आडम्बर-पूर्ण हो गया।

'ग्राम्या' और 'युगवाणी' का परिवर्तित कलाकार अरविन्द के दर्शन की शरण में फिर से चला गया। 'बच्चन' ने भी रूप बदला...स्वच्छन्द गीतों और लोकधुनियों में जैसे इस हताहत को उन्मुक्ति मिली हो। अधिकांश प्रगतिवादी राष्ट्रीयता की ओर झुक गये—चीन के आक्रमण ने वातावरण बदल दिया। मुख्य प्रगतिवादी कवि 'तार सप्तक' के कवि बन गए। वे जिस लौह नियंत्रण और अनुशासन से ऊब गए थे, उसकी निष्कृति 'तार सप्तक' के वातावरण में मिली। 'तार सप्तक' की भूमिका के ये शब्द वातावरण की उन्मुक्तता को स्पष्ट करते हैं : "तार सप्तक में सात कवि संग्रहीत हैं। सातों एक दूसरे से परिचित हैं—बिना उसके इस ढङ्ग का सहयोग कैसे होता ? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट्ट अथवा दल के सदस्य या समर्थक नहीं हैं—उनमें मतैक्य नहीं हैं, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग हैं...काव्यवस्तु

और शैली के छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।" इससे वातावरण की मुक्तता स्पष्ट प्रकट हो रही है। इस वातावरण की ओर स्वतंत्र चेता प्रगतिशील कवि मुड़ गए। समाज से आहत व्यक्ति की निष्ठा और उसका सौन्दर्य इसे आकर्षित करने लगा। इस प्रकार प्रगतिशील कवियों का दल बिखर गया। गांधीवाद की विजय ने भी इनको तितर-बितर कर दिया : चीन के आक्रमण ने अन्तिम धक्का दिया।

प्रगतिशील कवि नवीन 'प्रयोगों' में लगा। प्रयोग का विरोध प्रगतिवादी आलोचक ने किया : पर उसकी पीठ पर चढ़ कर प्रयोगवाद आ ही गया।

२८

प्रयोगवाद

१. 'प्रयोग' : आरम्भ और विकास
२. प्रयोगवाद—स्वरूप एवं उसकी प्रतिक्रिया
३. आधार एवं प्रभाव स्रोत
४. तत्त्वान्वेषण एवं जीवन-दर्शन
५. प्रथम सप्तक, द्वितीय सप्तक तथा तार सप्तक
६. शिल्पगत एवं अन्य प्रयोग
७. प्रौढ़ता एवं तीसरा सप्तक
८. उपसंहार

साहित्य युग-चेतना से कट कर नहीं चल सकता। जब साहित्य और कला युग के स्पन्दनों को नहीं सँजोते तो पिछड़ जाते हैं और उनका सम्बन्ध जन-प्रवाह से न रह कर उन वर्गों से रह जाता है जो अपने निहित स्वार्थ और रुचियों के कारण पुरातन से बद्ध रहना चाहते हैं। जब साहित्य के तत्त्व जीवन्त न रह कर जाड्य में जकड़ने लगते हैं, तो जागरूक सर्जक वस्तु और शिल्प को नवीन आयाम प्रदान करने की चेष्टा करता है। परम्परागत तत्त्वों की मोटी परत से जीवन-सत्य को मुक्त करने के लिए अनेक प्रयोग किए जाते हैं। इस सामान्य दृष्टि से देखें तो लगता है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग आदिकाल से चले आ रहे हैं। आदिकवि का यह एक प्रयोग ही था जिसने दिव्य पात्रों, दिव्य जीवन और देवताओं की विजय-पराजय की भावना से सर्वप्रथम साहित्य को मुक्त करके, साहित्य में मानव की, लोक की प्रतिष्ठा की थी।

बीसवीं शती के आरम्भ से ही विश्व में जल्दी-जल्दी अनेक परिवर्तन हुए हैं। परिणाम स्वरूप साहित्य में भी परिवर्तन करने पड़े हैं। प्रत्येक परिवर्तन के पीछे कोई-न-कोई प्रयोग भी रहा है। प्रथम युद्ध के पूर्व का साहित्य उसके बाद के साहित्य के लिए अनन्त अतीत का साहित्य हो गया था। सबसे पहले यह अनुभव किया जाने लगा कि साहित्य-साधना और उसकी उपलब्धियाँ अब एक देश की सीमाओं में नहीं रह सकते। द्वितीय महायुद्ध ने और भी तीव्रता से इस सत्य को प्रतिष्ठापित कर दिया और परिवर्तन में सबकी आस्था को दृढ़ कर दिया। इस युग के साहित्य को अपने से पिछले दस वर्ष ही न जाने कितने लम्बे प्रतीत होते लगे : लगा कि गति अब वामन-डग की भाँति समय की दूरी को नाप रही है। सब कहीं एक नई चेतना और नवीन चिन्तन-पद्धति का अनुभव किया जाने लगा। उदाहरण के लिए मानव मन की खोई-सोई संवेदना और उसके सत्य की खोज आरम्भ हुई जिसकी शीतल छाया में युद्ध-जर्जर जन जा सके : जो एक स्वस्थ और मानवतावादी समाज की आधार भूमि बन सके। पद्धति में बौद्धिकता आई। हमने एक नवोन्मेष का अनुभव किया : हमने समीक्षा करना आरम्भ किया—शायद सभी कुछ जिसे परम्परा का बल प्राप्त है, हमारे जीवन की वर्तमान गतिविधि से कहीं दूर जा पड़ा है।

१. आरम्भ और विकास—

आज 'प्रयोग' का जो विशिष्ट सूत्र जन्मा है, उसका एक छोर निराला की कविताओं से जोड़ दिया जाता है : 'कुकुरमुत्ता' 'नये पत्ते' अपने आप में आधुनिक युगीन, आरम्भिक प्रयोगों की छवियो को अपने में समेटे हैं : "कुकुरमुत्ता में वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो आधुनिक काव्य की भाव-व्यञ्जना को स्वीकार करते हुए उन समस्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं को अङ्गीकार करते हैं, जिनमें वस्तु का नयापन, शिल्प का प्रयोग और सर्वथा नयी परम्परा का सूत्रपात मिलता है। 'निराला' के 'नये पत्ते' काव्य-संग्रह में इस दृष्टिकोण से विषयवस्तु की आधुनिकता का बीज आरोपित होकर व्यक्त हुआ।"[१] इस नई चेतना और प्रयोग की स्थापना 'अज्ञेय' ने की। वैसे पन्त जी तो प्रयोगशील कविता का जन्म छायावाद काल से ही मानते हैं। उनके अनुसार प्रसाद जी ने 'प्रलय की छाया' 'वरुणा की कछार' में वस्तु और छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोग किए हैं। निराला ने छन्द और शैली सम्बन्धी प्रयोगों को सँवारा, आगे बढ़ाया। 'प्रयोग' में कुछ बल आया, सब उसकी ओर आकर्षित हुए। अभी पूर्ण विश्वास तो प्रयोग में नहीं जमा, पर कुछ अच्छा-सा लगने लगा : सम्भावनाएँ उभरने लगीं। अज्ञेय तथा उनके समवर्ती कवियों ने द्वितीय युद्ध के पश्चात् असन्तोष को और भी तीव्र रूप में समझा : सामूहिक रूप से जो ग्रंथियाँ बन-कर चेतना उमेंठने लगीं थी; उनका इस जागरूक वर्ग ने अनुभव किया।

प्रयोगशील कविता का प्रच्छन्न सूत्र सन् १९४३ में प्रकट हो गया—प्रथम तार सप्तक का प्रकाशन इसका घोष बना। प्रथम सप्तक के अधिकांश कवि वे थे जो

१. लक्ष्मीकान्त वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २४-२५

किसी-न-किसी रूप में प्रगतिवादी विचार-अनुभूति का पोषण करते आ रहे थे। इनमें 'वस्तु' और 'रूप' दोनों ही क्षेत्रों में एक विद्रोह सिर ऊँचा करता मिलता है। पर अभी एक झीना-सा कुहरा छाया रहा जिसने इन कवियों की प्रेरणाओं और प्रक्रिया को पूर्ण स्पष्ट नहीं होने दिया। पर इनमें विषयवस्तु की नवीनता, स्वस्थ व्यक्तित्व और उसकी अभिव्यक्ति में ईमानदारी और सचाई अवश्य मिलती है। ये जैसे अनुभव करते हैं कि बौद्धिकता से विच्छिन्न कोरी भावुकता को लेकर आज नहीं चला जा सकता। इनकी रचनाओं में सर्वथा नवीन मान्यताएँ बरबस समाई जा रही हैं।

सन् १९४७ में अज्ञेय द्वारा परिचालित 'प्रतीक' पत्र निकला : उसके कुछ अङ्क हिन्दी जगत् को मिले। प्रतीक' ने नई धारा को स्पष्ट किया। जो अभी तक इससे परिचय प्राप्त नहीं कर पाए थे, वे भी इस ओर शङ्का या समर्थन की दृष्टि से देखने लगे। दूसरा सप्तक सन् १९५१ में निकला और कुहरा हटा : किरणें उन्मुक्त हुईं। पटना के 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' ने भी नवीन स्वर को इधर-उधर ले जाने का कार्य किया। इस प्रकार 'प्रयोग' की प्रतिष्ठा हुई।

परिचय और प्रतिक्रिया—

अब प्रयोगवाद से सभी परचने लगे। पर इसके साथ 'वाद' का प्रयोग क्यों? क्या अब इस नये परिवेश और प्रक्रिया में भी हिन्दी कविता 'वाद' से मुक्त नहीं होगी। अज्ञेय ने 'वाद' से युक्त होकर 'प्रयोग' को जो पीड़ा हुई उसको समझा और खीझे भी, झलाए भी : "प्रयोग का कोई वाद नहीं हैं। हम वादी नहीं रहे। प्रयोग न अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नहीं है, कविता अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें कवितावादी कहना।[1] पर 'प्रयोग' को न सहन करने वाला आलोचक 'किसी सुलभ शब्द के अभाव में प्रयोगवादी 'रचना' कहता गया।[2] अब तो यह नाम रूढ़ हो चला है।

प्रयोग की प्रतिक्रिया का स्वर और दृढ़ होकर इस नवोदितधारा का निरीक्षण-परीक्षण करने लगा। विश्लेषण का क्रम यह बना : 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।'[3] इस प्रकार के विरोधी तत्त्व बहुत से उठे। विरोध उनकी ओर से हुआ जो इससे पूर्व की किसी साहित्यविधा से चिपके हुए थे। किसी नवीनधारा से पूर्वाग्रह-ग्रस्त चिन्तन समझौता नहीं कर सकता। उसका गौरव जिस क्षेत्र में स्थापित हो जाता है, वह उसे स्वप्नलोक के समान रुचिकर लगता है। पर निष्पक्ष समीक्षक को 'प्रयोग' अधिक चौकाने वाला नहीं प्रतीत हुआ। प्रयोग तो प्रातिभ साधना का एक अङ्ग है। प्रतिभा की मूल प्रवृत्ति ही नयी

१. दूसरा सप्तक
२. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० ९५
३. वही

अनुभूति, नयी अभिव्यक्ति, नये आत्मबोध, नये माध्यम और नवीन संदर्भों की खोज की ओर रहती ही है। पूर्वकाल के जिन मनीषियों ने अपने अनुभव और निरीक्षण से जो कुछ दिया है, वह चाहे ऐतिहासिक महत्त्व रखे, पर यह आवश्यक नहीं कि आज की उद्बुद्ध चिन्तना-चेतना उसे स्वीकार करके ही चले। उसे आज का भी सत्य मानना अवैज्ञानिक है। यह प्रवृत्ति ह्रासोन्मुख है। बाधक-विरोधी स्वर पत्थर की शिलाओं पर सर पटक कर रह जाते हैं और सापेक्ष-सत्य की धारा नवीन क्षितिजों का स्पर्श करने को मचलती रहती है।

३. प्रभाव-स्रोत—

प्रयोगवाद पर एक और लांछन लगाया गया—इसमें सब कुछ विदेशी है। नकल को साधना कहना आत्म-प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं। 'नकल' तो निश्चय ही बौद्धिक दिवालियेपन और व्यक्तित्व के खोखलेपन को प्रकट करती है। सभी क्षेत्रों में 'स्वदेशी' आन्दोलन स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। इसके लिए भी एक समय होता है। उसके निकल जाने पर स्वदेशी-विदेशी का आग्रह नहीं रह जाता। स्वस्थ जीवन-सत्यों का अन्वेषण यह सब मान कर नहीं चलता। यदि 'विदेशी' हमारे ऊपर लादा गया है, तो हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते। यह तो दासता होगी। यदि हमने चुना है या उसको अपने आत्म-बोध की तीव्रता के लिए अनुकूल समझ कर प्रभाव के रूप में अथवा चिन्तन के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है, तो यह नकल नामक पाप नहीं कहा जायगा। वैसे इस युग के विदेशी विचारकों के प्रभाव को नाकारा नहीं जा सकता।

आधुनिक हिन्दी कविता अंग्रेजी साहित्य के सन् १९१८-४० तक की साहित्यिक हलचलों से अवश्य ही प्रभावित रही। डी० एच० लारेन्स और टी० एस० इलियट ने अवश्य ही नवीन साहित्यिक स्फूर्तियों को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। प्रथम महायुद्ध ने पश्चिम में ऐसी स्थिति उत्पन्न करदी थी कि विक्टोरियन आत्मबोध और शिल्प-साधना टिक नहीं सकते थे। आडम्बर की वह परम्परा नवोन्मेषों को आत्मसात् करके उन्हें व्यञ्जना देने में अशक्य सिद्ध हुई। एडवर्डियन और जार्जियन कवियों ने परिवर्तित परिवेश के अनुकूल नवीनता को सभी क्षेत्रों में सम्मान दिया। भाव-चमत्कार और शिल्पचमत्कार निजी रूप में अनुभूतियों के साथ सम्बद्ध होने लगे। हर दृष्टि से नवीनता को अपनाया गया। यह लहर भारत के कगारों तक भी आई। इस काल की रचनाओं में संवेदना का रूखा रूप न होकर तीव्र प्रतिबोधन मिलता है। कविता की आधारभूमि खिसक न जाय, इसलिए उसे बौद्धिकता से दृढ़ किया गया है।

प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच रोमांटिक काव्यधारा भी चलती रही। पर टिक नहीं पा रही है। योरुपीय काव्य में प्रतीकवाद और अतियथार्थवाद जैसे प्रयोग भी हुए थे। शिल्प को नवीन सम्भावनाओं से युक्त करने के चेष्टा की गई। इस शिल्प-गत वादों का प्रभाव भी आधुनिक कवियों पर पड़ा है। गिरिजाकुमार माथुर में

रोमांटिक गीतों के कुछ तत्त्व मिलते हैं : शिल्प में परिवर्तन है। नेमिचन्द जैन का भी एक छोर रोमांटिक तत्त्वों से भींग-भींग उठता है। पर यह सब अत्यन्त तीव्र हैं। ये मुख्यतः प्रयोगवादी ही हैं : पलोथन थोड़ा बहुत हो सकता है।

वैज्ञानिक भावधारा और बौद्धिक तत्त्वों का प्रभाव भी मूलबद्ध है। आत्म-बोध विश्लेषणात्मक होने लगा है। संदर्भ और परिवेश की योजना बौद्धिक परिकल्पनाओं पर ही आधारित हैं। प्रभावों के ये ही मुख्य स्रोत हैं। यह मान कर चलना स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है कि प्रभाव मौलिकता को आघात पहुँचाते हैं : ये तो स्वतंत्र चिन्तन की उद्दीपन और सञ्चारी सामग्री है। इसकी 'मूल प्रवृत्तियाँ इसी देश की हैं, हमारे जीवन से ही उद्भूत हैं।'[1] अंग्रेजी की भाँति यह अधिक सैद्धान्तिक नहीं है।

तत्त्वान्वेषण—

एक परिस्थिति उत्पन्न हुई कि छायावाद का अन्त हुआ। अब तो शायद उसकी शव परीक्षा भी शेष नहीं है। छायावाद का समर्थक अलोचक भी तिलमिलाया। उनको प्रयोगवाद में चमत्कार की चकाचौंध मिली : कला का तिरस्कार मिला : प्रयोगवादी कवि इन्हें पथ-भ्रष्ट ही लगा और उद्देश्य हीन भी। यह एकांगी तत्त्वान्वेषण तो चलता रहा, शायद अब भी कुछ लोग लकीर से लिपटे हुए हैं। पर अब इनके तर्कों पर विश्वास नहीं जम पा रहा।

अज्ञेय जी ने 'प्रयोग' को स्पष्ट किया : "प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है। और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह सत्य के जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेरणा की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" इस प्रकार प्रयोग सत्यान्वेषण तथा उसके प्रेषण का मार्ग है। 'प्रयोग' अब तक के सत्यों को सम्पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकता : नवीन सन्दर्भों में सत्य की नवीन झाँकियाँ पाने के लिए वह कृत संकल्प है। अज्ञेय जी ने इस बात को यों स्पष्ट किया है : "प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"[2] सभी प्रयोगवादी आलोचक भावना के साथ बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। डा० धर्मवीर भारती ने इस तत्त्व की स्थितियाँ बतलाई हैं : "प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न उसी की ध्वनि मात्र है।" बौद्धिकता भाव को कुचलने का पत्थर नहीं है। भाव को एक निर्दिष्ट दिशा और भूमि प्रदान करने वाली शक्ति है। आज के युग में विज्ञान की शक्तियों के प्रभाव की कैसे उपेक्षा की जाय।

---

१. प्रतीक, जून १९५१
२. वही

प्रयोगवाद किसी अखण्ड सत्य में विश्वास नहीं करता। किसी महामानव, महान् घटना या किसी महान् ईश्वरवाद जैसी संस्थाओं के साथ सत्य को निबद्ध करके देखने का युग समाप्त हो चला है। अब सत्य जिन खण्डों में विभक्त है, उनके अनुभवों पर बल दिया जाता है। प्रयोगवादी इसी खण्डित सत्य का अनुभव करता है। गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है : "प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्व बोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके।"

'प्रयोग' साहित्य में भावबोधों और शिल्प-विधान की पुनरावृत्ति को रोकने की साधना है। पुनरावृत्ति अपने शुद्ध रूप में मौलिक प्रतिभा और चिन्तन के ह्रास की परिचायिका है। पुनरावृत्ति को कभी-कभी कुछ नवीन प्रकाश देकर चमकाया जाता है। अत्यन्त स्थूल रूप से समकालीन जीवन की छाया इससे बाँध दी जाती है। द्विवेदी-युग के नैतिकतावादी कवि अधिकांश यही करते रहे। पर पुनरावृत्ति दृष्टि को उन्मुक्त नहीं होने देती। प्राचीन सामग्री का स्थान प्रयोगवाद में भी है : पर दृष्टि उसके साथ पुनरावृत्ति की नहीं है, प्रयोग की है। सुधारवादी पुनरावृत्ति आदर्शों का आरोप प्राचीन पर करती है और प्रयोग उसे सर्वथा नवीन सन्दर्भ में रख कर परिणामों को देखता है। कभी वह व्यंग्य बन जाता है, कभी व्यंग्यपूर्ण अप्रस्तुत। पुनरावृत्ति में कलाकार का व्यक्तित्व मन मसोस कर रह जाता है। वस्तु को वह आदर्शरूढ़ रूप में ही ग्रहण करता है। बड़ी साधना से यदि वह रूढ़ आदर्शों को हटा पाता है, तो एकाध नवीन आदर्श उनके स्थान पर चिपका देता है। उसके व्यक्तित्व के लिए वहाँ स्थान बचता ही नहीं। प्रयोगवाद पुनरावृत्ति के छद्मों से पूर्णतः अवगत है। प्रयोग भावपक्ष एवं कलापक्ष की योजना की मुक्त प्रक्रिया है।

प्रयोग एक प्रबुद्ध चेतना है। जीवन को नवीन माध्यमों से देखने की दृष्टि उसे प्राप्त है। प्रयोग सत्य के अमूर्त और निरपेक्ष रूप में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में यह सब भ्रम-जाल उत्पन्न करने का विधान है। निरपेक्ष रूप में सत्य जड़ है। सत्य के सम्बन्ध में युग-पुरुष गांधी ने भी प्रयोग किए : उन्होंने सत्य को अपने जीवन की सापेक्षता में रख कर देखा। 'प्रयोग' यदि सत्य को यथार्थ और नवीन जीवन की सापेक्षता में रख कर देख सके, दिखा सके, तो वह कृतकार्य हुआ। प्रयोग जब इस प्रकार कार्य आरम्भ करता है तो परम्परावादी चौंकता है : पुनरावृत्ति को अन्तिम सत्य मान कर उसे पकड़ कर बैठ जाता है। उसे जब होश आता है जब पुनरावृत्ति के घुन का बुरादा उसके बालों और चेहरे को उपहासास्पद बना देता है।

परम्परा और पुनरावृत्ति से प्रयोग का कोई समझौता नहीं है। उसका विश्वास 'प्रगति' में है। पर प्रगतिवाद से उसका कोई मेल नहीं। मार्क्सवाद पर आधारित प्रगतिवाद बाह्यारोपित आडम्बर और सम्प्रदायवाद के अतिरिक्त, उसकी दृष्टि में, कुछ नहीं। यहां गति स्वचालित और आत्मानुभूति के संबल को लेकर नहीं है : वह तो एक विशिष्ट सम्प्रदाय से बद्ध हो गई है। उसकी सीमाएँ सुनिश्चित हैं। इस प्रकार

प्रयोगवादी की दृष्टि में प्रगति का एक दूसरा ही अर्थ है जो तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है। प्रगति एक ओर जहाँ मानव की विकास-यात्रा से सम्बद्ध है, वहाँ वह मानव के अन्तर्मन, अन्तर्चेतन के विद्रोही क्रिया-व्यापार का भी प्रतिनिधित्व करती है। प्रगतिवाद के प्रति उसकी प्रतिक्रिया इन्हीं आधारों पर है। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने इसको यों स्पष्ट किया है : "...प्रगतिवाद में सजगता कला अथवा कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्रीय होती है, उसकी प्रबुद्ध सत्ता विचार स्वातंत्र्य से अंकुरित नहीं होती वरन् दलगत स्वार्थ से परिचालित होती है, उसमें व्यक्ति अनुभूति का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह एक निर्धारित समाजवाद की चेतना के फ्रेम में कसी हुई स्वतंत्रता होती है। फ्रेम के भीतर उसके वृत्त में जितनी चीजें आती हैं वह स्वीकार की जाती हैं। उस फ्रेम के बाहर की चीज़ उनके लिए अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति आस्था में और तथाकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है।"[1] प्रयोग सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अनुभूति और रचनात्मक अनुभव में विश्वास करता है। वह एक व्यापक मानव-जीवन को ग्रहण करके चलता है : भारती के शब्दों में—

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
उसमें है सबके लिये जगह सबका महत्त्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख कर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है।

... ...

हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो।

प्रयोग की इसी स्वच्छन्द प्रकृति को देख कर प्रगतिवादी आलोचक इसे असामाजिक कह कर आत्मतुष्टि करता है।

वास्तविक बात यह है कि कलाकार अपना दायित्व अपने प्रति भी मानता है। उसकी दृष्टि से समाज के प्रति उसका दायित्व इसी से उत्पन्न है। प्रयोग में सामाजिक दायित्व व्यक्तित्व से उभर कर व्यक्त होता है : प्रगति में या तो यह आरोपित है या आंशिक व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता। प्रगतिवाद 'सामूहिक मानव' को प्रमुख मानता है और प्रयोगवाद 'व्यक्ति मानव' को। दायित्व का यह अन्तर इसलिए है कि प्रगतिवाद आत्मसत्य को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में बाह्य सत्य ही सर्वोपरि है। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि बाह्य सत्य व्यक्ति के राग से निरपेक्ष रह कर प्रभावहीन हो जाता है। 'तार सप्तक' में प्रगति और प्रयोग के स्वर मिलेजुले भी चलते रहे। पीछे प्रयोग स्वतंत्र हो गया।

प्रयोग संवेदनाओं को लेकर चलता है। एक ओर तो ये संवेदनाएँ घोर वैयक्तिक प्रतीत होती हैं, दूसरी ओर निरी निर्वैयक्तिक लगती हैं। वैयक्तिकता समय के प्रभावों से विच्छिन्न नहीं हो सकती।

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० १८६

५. जीवन दर्शन—

प्रयोगवाद में दर्शन की ऊँची-ऊँची चर्चाएँ नहीं मिलतीं। वास्तव में वह दर्शन के सूत्र गढ़ना कवि का काम नहीं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह जो कुछ कहता है या कहना चाहता है, वह किसी दर्शन से कम महत्त्व का है। उसकी बातें दर्शन से कितनी ऊँची उठ जाती हैं। महान् कवि एक आत्मा को पहँचानता है। आत्मा वह जिसका अविजित अभिमान उसके अन्तर की बात के सामने कभी और किसी बात को नहीं सुनता।[1] प्रयोगवादी दर्शन की लकीरों पर नहीं चलता : अपनी लकीरें अपने आप खींचता है। यह कवि अपने प्रति निष्ठावान् है। पर, औरों से विमुख नहीं है अपने दायित्व को भी वह समझता है और अपनी पद्धति से उसका निर्वाह करता है। वह अपना दायित्व समझता है कि उसे व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाना है। मनुष्य का बौद्धिक विकास भी हुआ है और भौतिक भी। मानवीय चेतना को इस प्रकार नवीन परिवेश मिला है। इस चेतना की नूतन सज्जा-संस्कृति कवि का दायित्व है। यह तात्कालिक समस्या भी है। काव्य का लक्ष्य इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है।[2]कवि को वैज्ञानिक की भाँति अन्वेषण करना है—आत्मा के सत्य का अन्वेषण।[3]

कवि की प्रेरणा क्या है ? इस प्रश्न पर बहुविध विचार हुआ है। आदि और मध्यकाल में प्रेरणा दैवी मानी जाती थीं। कभी कोई हनुमान आकर किसी 'तुलसी' को प्रेरणा देकर कविता लिखवाता था, और कभी सूर के नाम से अनेक पद कोई 'श्याम' लिख देता था। जयदेव के श्लोकों को भी कृष्ण पूरा करता था। आज यह दैवी प्रेरणा मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में ले आई गई है। उस रूप में कोई मान नहीं सकता। अब कहा गया कि प्रेरणा मन के सचेत स्तरों में नहीं, अर्द्धचेतन स्तरों पर जाग्रत होती है। अवचेतन के विस्फोट होने पर सचेतन मन अभिव्यक्ति के लिए विवश हो जाता है। डी० एच० लारेन्स ने कहा था : जैसे घटनाएँ घटित होती हैं, उसी प्रकार वृत्तियाँ भी घटित होती हैं और मैं खड़ा देखता रह जाता हूँ।

मार्क्स ने कलाकार को समाज-सापेक्ष करके इस पर विचार किया और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर कला-सृजन को सामाजिक शक्तियों से प्रेरित और प्रभावित माना है। कलाकार की अन्त:प्रेरणा को न समझ सकने के कारण इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी निर्णय सत ही और अधूरे रहे। असन्तुष्ट होकर काडवेल ने जन्मजात मूल प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर प्रेरणा की खोज अन्तर्जगत में की। उसे मार्क्सविरोधी कह दिया गया।

फ्रायड ने अपनी नवोदित स्वप्न-व्याख्या के आधार पर दमित इच्छाओं के साथ कला-प्रेरणा को जोड़ा। यह व्याख्या भी एकाङ्गी रही। फ्रायड सम्भवत: यह भूल गया कि रुग्ण मन वाला कलाकार भी सृजन के क्षणों में एक भिन्न ही व्यक्ति होता है।

---

१ वाल्ट ह्विटमैन : 'लीज ऑव ग्रास' की भूमिका।

१ अज्ञेय: त्रिशंकु चेतना का संस्कार, पृ० ८६

३ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ६

युंग ने कलाकार के व्यक्तित्व को चीर दिया : अपने सुख-दुःख से आकुल व्यक्तित्व और कलाकार का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व। उसने निर्वैयक्तिकता का पक्ष-समर्थन किया। उसके अनुसार : कलाकार ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो अपनी इच्छानुसार कला का उपयोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करता है। वह तो कला के आशयों का साक्षात्कार अपने माध्यम से होने देता है। तात्पर्य यह कि कविता की प्रेरणा कहीं सजग और सचेत मानसिक स्तरों के नीचे से आती हुई मानी गई है।

प्रयोगवादी आत्म-साक्षात्कार की अदम्य इच्छा में ही प्रेरणा की स्थिति मानता है। लिखकर ही कलाकार आपनी आभ्यंतर विवशता को पहँचानता है। यही उसकी इस तनाव से मुक्ति का उपाय है। बाहरी प्रेरणाओं को वह नकारता नहीं: उसकी मान्यता है कि बाहरी प्रेरणाएँ, भीतरी प्रेरणा या दबाब के उन्मेष का कारण बनती हैं।[1] अज्ञेय जी ने लिखा है : मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है और काव्य कृति ही उसका आत्म-बलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है। यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट वह विवशता है, जो लिखाती है...।[2]

प्रयोगवादी कवि व्यक्ति-दर्शन आन्तरिक और बाह्य संघर्षों को भी स्वीकृत करता है। आन्तरिक संघर्ष मनोवैज्ञानिक है : 'आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से भरा हुआ है, और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।[3] और बाह्य संघर्ष इस आन्तरिक संघर्ष के साथ-साथ ही चल रहा है : 'और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा हुआ है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति और समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का शासन करती है। जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुञ्ज खड़ा होता है।'[4] इस संघर्ष की जटिलता में मानवीय संवेदनाएँ जटिलतर होती जाती हैं। व्यक्तित्व की प्रक्रियाएँ उस सरलता को छोड़ देती है, जो पूर्व युगों के व्यक्ति को प्राप्त थीं। इस विकराल संघर्ष में जटिलता ही जटिलता है। जटिलताओं से घिरा, फिर भी सक्रिय और जागरूक व्यक्ति ही प्रयोगवाद का केन्द्र है। इस जटिल वस्तु-विषय की योजना में प्रयोग की अनिवार्यता सन्निहित है।

जब समग्र रूप से मानव-जीवन कविता का विषय है, तो कटुताओं, निराशाओं, पराजयों और असुन्दरताओं से भी नहीं बचा जा सकता। इनसे बचने वाला कवि तो

---

१. आत्मनेपद, मैं क्यों लिखता हूँ, २३६, २३७ (अज्ञेय)

२. वही, २३८

३. अज्ञेय, तारसप्तक

४. वही।

एक प्रकार से पलायनवादी होगा। जब समसामयिक परिस्थितियों को लेकर कवि चलेगा तो अनुभवों में कटुता और तिक्तता रहना स्वाभाविक है। पर इनका तीखापन प्रेरणा देता है और दायित्वों को स्पष्ट करता है। कटुता और असुन्दरताओं के चित्रण के कारण ही कभी-कभी कविता का विधान ऊबड़-खाबड़ सा लगता है। मानव-जीवन के नवीन यथार्थों और खण्डित सत्यों से सौन्दर्य वृत्ति को पृथक् नहीं किया जा सकता है क्योंकि जीवन से निरपेक्ष सत्य तो निर्जीव है : जड़ है।

जीवन की वास्तविकता तथ्यात्मक है। यही तथ्य सत्य के रूप में परिणत होते हैं : 'निरे तथ्य और सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वय काव्य में स्थान नहीं पा सकती।'[१] यह सत्य व्यक्तिगत भी हो सकती है और व्यापक भी। ये दोनों सीमाएँ हैं। इनके बीच सत्य के अन्य अनेक स्तर हैं : "यदि हम मान लेते हैं (यह कि व्यक्तिबद्ध सत्य जितना ही व्यापक होगा उतना ही काव्योत्कर्षकारी) तब हम व्यक्ति सत्य और 'व्यापक-सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं और कवि इन स्तरों में से किसी एक पर भी हो सकता।"[२]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'तार सप्तक' की विचारणा यह रही : (१) व्यक्ति की मर्यादा की स्थापना : कम से कम वर्ग-जीवन के साथ उसके सह-अस्तित्व की घोषणा; (२) काव्य-सर्जना के लिए स्वतंत्र मन:स्थिति की आवश्यकता : इसी आधार पर तथाकथित प्रगतिवाद को अमान्य ठहराया गया; (३) अहम् के प्रति निष्ठा और आत्मविश्वास; (४) मानव की विशिष्टता में विश्वास और (५) बौद्धिक जागरूकता एवं आधुनिकता।

६. प्रौढ़—

दूसरे सप्तक के स्वर अधिक दृढ़ता और आत्मविश्वास से युक्त हैं। कवि अपनी सीमाओं से घिरे रह कर भी कहना चाहता है—

> वाणी की दीनता
> अपनी मैं चीन्हता
> कहने में अर्थ नहीं
> कहना पर व्यर्थ नहीं,
> मिलती है कहने में
> एक तल्लीनता।[३]

वर्जन, कुण्ठा और यौन-परिकल्पनाएँ एक मनोवैज्ञानिक कहानी के खूँटे हैं। प्रथम

---

१. दूसरा सप्तक
२. अज्ञेय : तार सप्तक
३. भवानी प्रसाद मिश्र

सप्तक का कवि इनसे अभिभूत था। दूसरे सप्तक तक आकर कवि इन वर्जनों से मुक्ति का अनुभव करता है। भारती ने कुण्ठा की अभिव्यक्ति की—

हमेशा आदमी मजबूर होकर लौट आता है
जहाँ हर मुक्ति के, हर त्याग के, हर साधना के बाद
मेरी जिन्दगी बरबाद।

शमशेरबहादुर सिंह वर्जनों से मुक्त होकर आत्मविश्वास के साथ एक गीत लिखते हैं—

धरो शिर
हृदय पर
वक्ष—वह्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ
चिर सुहाग दूँ
प्रेम अग्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ।
विकल मुकुल तुम
प्राणमयि
यौवनमयि
चिर वसन्त स्वप्न मयि
मैं सुहाग दूँ
विरह आग से तुम्हें
मैं सुहाग दूँ।

वर्जनाओं के प्रति विद्रोह सभी स्तरों पर व्यक्त हुआ। इस कविता में व्यक्ति सत्य का चरम उत्कर्ष है, जो वर्जनाओं से मुक्त होकर ही सम्भव हो सका।

तार सप्तक में प्रवृत्तिगत वैविध्य को स्वास्थ्य का चिह्न माना गया है। इससे यह प्रकट होता है कि प्रयोगवादी दर्शन में प्रवृत्ति-गत साम्य आवश्यक नहीं। अन्वेषण की प्रवृत्ति ही वह धरातल है जहाँ प्रयोगवादी कवि समान है: "उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मञ्जिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी, काव्य के प्रति अन्वेषी का दृष्टिकोण ही उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।"[1] कवियों की प्रवृत्ति और प्रकृति भिन्न हो सकती हैं। एक ही कवि में वैविध्य मिल सकता है। अन्वेषण में अटूट आस्था प्रयोगवाद की एक प्रमुख विशेषता है। निरपेक्ष आदर्शों के प्रेतों की छायाएँ कवि को घेरे लेती हैं। अब वे आदर्श युग के यथार्थ का वहन नहीं कर सकते। अतः नये मार्गों का अन्वेषण होना ही चाहिए—

विश्व के आदर्श की छोटी भुजाएँ
यह हमारे स्वप्न का ब्रह्माण्ड इसमें

१. तार सप्तक

किस तरह सिकुड़े समाये
इसलिए आओ बदल लें राह अपनी ।[१]

कवि अपने को पहँचानना चाहता है । युद्ध जर्जर परिस्थितियों में कवि को अपने व्यक्तित्व की अवहेलना डस लेती है । वह उद्वेलित हो उठता है । यह उद्वेलित मन अपने अस्तित्व के प्रति रागी और जिज्ञासु हो उठता है । नरेश महता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मेरी अहम् की मीनार की ही नींव में
एक पत्थर हिचकियाँ है ले रहा
एक हिचकी ।
प्रतिध्वनित हो चाहती इतिहास होना
आह, मैं ऊँचा गगन
औ, नींव का पाताल, आँसू की नदी में ।

दृष्टि में भी व्यापकता आई । इस प्रकार धीरे-धीरे प्रयोगवादी दर्शन में प्रौढ़ि आई : दृष्टि विस्तृत हुई ।

७. शिल्पगत प्रयोग—

भाषा, शैली और शिल्प के क्षेत्र में भी प्रयोग अनिवार्य हो गया । नवीन भाव-बोध, सौन्दर्य-बोध और यथार्थ नवीन माध्यम पाने के लिए व्याकुल हो उठे । भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए गए हैं । शब्दों के आधार पर ही नहीं प्रश्न, विराम आदि के चिह्नों का भी प्रयोग किया गया : "भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अङ्कों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा है—कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सकें ।"[२] जिस प्रकार आदर्श रूढ़ हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ भी रूढ़ हो जाते हैं । रूढ़ार्थों से युक्त शब्दों से चमत्कार कैसे उत्पन्न किया जाय । जो अर्थ एक शब्द में भरा है, उसके साथ अतिरिक्त अर्थ किस प्रकार व्यक्त किया जाय । पुराने अर्थ का निष्कासन करके कैसे नवीन अर्थ को जमाया जाय । ये समस्याएँ प्रत्येक युग में कवि के साथ बनी रहती हैं । कवि अपने शब्द-साधना से चमत्कार उत्पन्न कर पाता है । शब्दों का चमत्कार मरता भी रहता है । एक कवि की साधना से उत्पन्न चमत्कारिक अर्थ अभिधेय भी बनता रहता है । फिर चमत्कार सृष्टि की समस्या उत्पन्न होती है ।[३] शब्द ध्वनियों का सोद्देश्य और चमत्कारी संयोजन और उनका सार्थक प्रयोग नवीन कविता में मिलता है ।[४] शब्दों के साथ कोई अपौरुषेय अर्थ चिपका हुआ नहीं

१. हरिनारायण व्यास ।
२. अज्ञेय–तार सप्तक
३. दूसरा सप्तक : भूमिका
४ आज का 'भारतीय साहित्य', पृ० ३६२

रहता : वह कवि-प्रतिभा से बदल भी सकता है। रूढ़ार्थ संकेतार्थ के लिए आधार भी बन सकता है। रूढ़ार्थ व्यंग्य बना कर भी काम में लाया जा सकता है। पर ये सारी प्रक्रियाएँ प्रयोग-साध्य हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग देखिए—

झननन झनन‌न
घननन घननन
दीप जला
दीप बुझा।[1]

प्रयोगवादी कवि का विश्वास है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न न हो। यदि हम बोलचाल में एक मिश्रित शब्दावली का प्रयोग करते हैं, तो कविता में भी क्यों न वह प्रयोग हो। इस प्रकार अंग्रेजी, फ़ारसी किसी प्रकार के शब्दों से इस कवि को ऐतराज़ नहीं है। कविता जिस स्थान से सम्बन्धित हों, उसके अनुसार भी भाषा बदल सकती है। इससे वस्तु का वातावरण मुखर हो जाता है। पजाबी अंचल की झलक देखिए—

पुतलियाँ चंचल कालियाँ
कानों झुमके बालियाँ
हम चौड़े में लुट गए
बन ने हमसे चोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ।[2]

इस प्रकार भाषागत अनेक प्रयोग मिलते हैं। भाषा की शक्ति का विकास तो हो ही रहा है। छायावादी भाषा विधान की तुलना में यह सब ऊबड़ खाबड़ सा लगता है।

जिस प्रकार क्षुब्ध मन के तुकें, लयें, तालें—लुप्त हो गई हैं, उसी प्रकार प्रयोगवादी कविताओं से भी ये सब उठी जा रही हैं। विक्षुब्ध वस्तु तो इसी प्रकार तड़पन भरे, टूटे-बिखरे छन्दों में ही व्यक्त हो सकती है। गद्यात्मक पंक्तियाँ गद्यात्मक (प्रोजि़एक) जीवन की परिस्थियों को व्यक्त करने में प्रयुक्त होंगी ही। यह भी कोई बात है कि गद्यात्मक वातावरण गीत में रखा जाय। वैसे एक अन्तर्लय रहती है—भाव को, वस्तु को जो इस बिखराहट में सूत्रता ला देती है।

अलङ्कार-विधान में नवीन उपमानों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने कुछ विचित्र उपमानों की सूची दी है[3]—

१. मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुँजा हुआ पापड़
२. पहिले दरजे में लोग, कफ़न की भाँति उजले वस्त्र पहने।...
३. पूरब दिशि में हड्डी के रङ्ग वाला बादल लेटा है,

---

१. 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद' पृ० ३५१ पर उद्धृत
२. अज्ञेय : बावरा अहेरी।
३. 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद'; पृ० ३५४

पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थक कर मरा पड़ा ज्यों।

पहले दर्जे में जो उच्चवर्गीय लोग हैं, उनके प्रति घृणा कफ़न वाले उपमान में व्यंजित है। तीसरे में दृष्टि मात्र चमत्कार पूर्ण प्रतीत होती है : यह भी हो सकता है एक क्षुब्ध मानसिक स्थिति ही इसमें प्रकट हुई हो। वैसे अब इस प्रकार विचित्र उपमान-विधान की प्रथा उठती जा रही है।

चित्र-विधान भी प्रयोगवादी धारा में प्रयोग-सिद्ध है। चित्रों में बड़ा वैविध्य मिलता है। प्रकृति के सुकुमार चित्र वैसे कम मिलते हैं। अज्ञेय का एक प्रकृति-चित्र देखिए—

फिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले।
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा।
विशद श्वासाहत चिरातुर।
छा गया इन्द्र का नील वक्ष।

इसमें अप्रस्तुत विधान यौन परिकल्पनाओं से लद गया है।

कुछ वर्णनों में उत्तेजना अत्यन्त तीव्र हो गई है। काम की उत्तेजना दुर्दम होती है। अज्ञेय ने इस उत्तेजना को जो शब्द दिए हैं, वे कितने मुखर हैं—

आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त, तुम कहाँ हो नारि।[1]

कुछ चित्र नवीन भी हैं और सहानुभूति के विस्तार की भूमिका बनाते हैं। कवि चित्र देकर अलग खड़ा हो जाता है और दर्द एवं सहानुभूति से पीड़ित पाठक अवाक् रह जाता है—

एक अकेला तांगा था दूरी पर
कोचवान की काली सी चाबुक के बल पर
वो बढ़ाता था
घूम घूम जो बल खाती थी सर्प सरीखी
बेदर्दी से पड़ती थी, दुबले घोड़े की गर्म पीठ पर।[2]

कोई चाहे तो इस चित्र से न जाने कितने संकेत ग्रहण कर सकता है। प्राचीनता के मरने और नवीनता के आने का एक वर्णन देखिए—

जल रहीं प्राचीनताएँ
बाँध छाती पर मरण का एक क्षण
इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेधकर
आरहे ऊपर नये युग की किरण।[3]

---

१. इत्यलम्, पृ० १५४
२. शकुन्त माथुर, (दूसरा सप्तक, ताजापनी)
३. हरिनारायण व्यास : वही

इस प्रकार वर्णनों में एक ताजगी है और 'अर्थ' जीवन के यथार्थ से मिल कर एक हो गया है। इन चित्रों में संवेदना की सूक्ष्मता है और प्रभाव की गहराई। साथ ही नवीनता-जन्य एक चमत्कार भी है, जो नवीन भाव-बोध को और नवीन यथार्थ धरातलों को पूर्ण आवेश के साथ आत्मसात् करा देता है। कुछ प्रयोग केवल चमत्कार के उद्देश्य को सामने रख कर किए गए हैं। उनमें उद्देश्य झलक भी जाता है। कुछ प्रयोग तो बहुत ही अर्थगर्भित और मार्मिक बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फ़रोश' कविता को लिया जा सकता है। ऊपर से जहाँ यह ज्ञात होता है कि एक घटना का ही स्थूल वर्णन किया जा रहा है। पर थोड़े ध्यान से देखने पर संकेत उभरने लगते हैं। उभरे हुए संकेत उस 'लघु' घटना के सत्य का उद्घाटन कर के व्यापक सत्य को दिखलाने लगते हैं। बहुत समय से एक विश्वास चला आ रहा है कि जूते पर जूता नहीं चढ़ना चाहिए : चढ़ जाय तो उन्हें ठीक कर देना चाहिए। इस विश्वास से लिपटी घटना का वर्णन देखिए—

सामने
जूते पर जूता पड़ा है
लगा—जैसे पंजे पर पंजा किसी ने रख दिया हो
दुख आया जी
उफ़ उहूँ
ठीक कर दूँ
छि:
होगा
बिना पढ़े पुस्तक के पाँच-छ: पृष्ठ पलट गया
फिर सहसा
पंजे पर अपना ही पंजा धर कर देखा
दर्द हुआ
उठा, और जूते पर से तिरछे जूते को हटा दिया।[1]

इस घटना को कवि ने अनेक संकेतों से युक्त कर दिया है। पर कविता की सतह पर संकेत उभरे नहीं हैं। उनको उभारना पड़ता है। यों सारा विधान बड़ा सादा और सरल है।

सबसे बड़ी सफलता व्यंग्य-विधान में मिलती हैं। होटली सभ्यता पर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का एक व्यंग्य देखिए—

होटलों, सिनेमा, क्लबों रेस्ट्राँघरों में
अपने ये पागल कुत्ते छोड़ें
ताकि ये
लिपस्टिक लगे हुए विकृत चेहरे

---

१. जगदीश गुप्त : 'शब्द दंश'

देख कर भौंकें
... ... झबरे अधकटे बाल
खुले अंग, तेज चाल
फूलदार गहरे रंग वाले कपड़े।
चेहरे पाउडर की छूटते हुए पर्त
हल्के, सतरंगे छाते,
धूप के चश्मे तले
फूलों के मकबरे आते-जाते

ऊपरी तड़क भड़क के
ये कफ़न फाड़ कर
अन्तर के सौन्दर्य की लाश देखें
उस पर आँसू बहाएँ
सच्चे प्यार को समझें
क्षणिक, उत्तेजक वासनाओं के नाम पर
सर पटकें
हाथ मलें पछताएँ।[1]

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रयोग हुए हैं। परिवेश बहुत विस्तृत हो गया है और शैली तीखी और यथार्थवादिनी।

८. तीसरा सप्तक : उपसंहार—

दूसरे सप्तक के कवि ये थे : भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। वहाँ इनकी प्रकृति और प्रवृत्ति के साम्य पर बल नहीं था : सभी राही हैं और नई राहों के अन्वेषी और निर्माता भी। 'तीसरे सप्तक' में इन कवियों की कविताएँ समाविष्ट हुई : प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेवनारायण साही, और सर्वेश्वरदयाल। इन दोनों सूचियों को मिलाने से एक लम्बी परम्परा बन जाती है। ये सभी आज के कवि हैं। इस परम्परा की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये कवि केवल प्रतिनिधित्व करते हैं : अन्य अनेक कवि नवीन प्रयोगों और प्रयासों को लेकर कार्य-रत हैं। तीसरे सप्तक के सम्पादक ने लिखा है : 'ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेखनीय कवि हैं।' साथ ही सबके वैविध्य की फिर से घोषणा की गई : 'ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं, न सबकी साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनीतिक, नहीं उनकी जीवन दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। ....यह नहीं कि उन बातों का कोई मूल्य न हो, पर 'तीसरे सप्तक' में न तो

[1] आधार : मार्च १९५३, 'खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएं'

ऐसा साम्य कलन का आधार बना है, न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलनकर्ता ने पहले भी इस बात को महत्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँ तक उसके विचारों से मिलते हैं, या विरोधी हैं। न अब वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उसका आग्रह रहा है कि काव्य के आश्वासन के लिए उसके ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए।' यह एक स्वस्थ दृष्टि से। 'प्रयोग' एकरूप भी नहीं हो सकते : बँध भी नहीं सकते। उनकी स्वतंत्रता ही विकास की सीढ़ियों का उद्घाटन करती है। प्रयोग की धारा इसी प्रकार अविच्छिन्न रही। 'वाद' का नाम इससे जुड़ गया, यही इसका अभिशाप रहा।

अन्त में प्रयोग की यह धारा 'नई कविता' में लीन हो गई। यह नहीं कि 'नई कविता' और 'प्रयोगवाद' एक हैं; तात्पर्य यह है कि प्रयोगवाद ने नई कविता के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी। इसकी सारी किरणें जैसे नव प्रभात में सद्य हो उठी हों।

२९

हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना का विकास

१. राष्ट्रीयता का आधुनिक एवं प्राचीन स्वरूप
२. भूषण का उदार दृष्टिकोण
३. पाश्चात्य सम्पर्क एवं १८५७ की क्रान्ति
४. रूस, फ्रान्स एवं योरोप की अन्य क्रान्तियों का प्रभाव
५. आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि की देन
६. भारतेन्दु युग एवं विविध युग का साहित्य
७. आधुनिक कवि एवं नाटककार का योगदान
८. उपसंहार

प्रचलित अर्थ में राष्ट्रीय भावना आधुनिक युग की देन तथा साहित्य की एक प्रमुख और विकासशील प्रवृत्ति है। कुछ विचारक इस प्रवृत्ति का विकासक्रम यद्यपि मुस्लिम आक्रमण और उसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया से स्थिर करते हैं। पर उस युग के हिन्दू राजाओं ने मुसलमान से जो युद्ध किए उनमें राष्ट्रीय उद्देश्य निहित था ऐसा प्रायः सिद्ध नहीं हो पाता। उस समय समस्त भारत की रक्षा या उसके लिए कोई संगठित प्रयास नहीं मिलता। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में 'राष्ट्र' का रूप भी स्पष्ट नहीं था। अतः राजपूतों के युद्धों में अपनी सुरक्षा की ही भावना प्रवल थी। धार्मिक

अभिप्रायों का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य माना जाता है। राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा वस्तुतः वीर-पूजा-भाव मानना ही अधिक उपयुक्त है।

रीतिकाल में फिर एक बार यह लहर आई। महाराणा प्रताप में चित्तौड़-प्रेम तो था ही, धार्मिक संघर्ष और स्वधर्म-रक्षा का भाव भी प्रबल था। सम्भवतः उनके संघर्ष को इसी भाव ने उदात्त और विस्तृत बनाया। पर महाराणा पर हिन्दी-साहित्य के कवि ने अधिक नहीं लिखा: स्थानीय साहित्य विशेषकर लोक साहित्य अवश्य प्राप्त है। पर इसी समय अन्य राजा भी ऐसे थे जो अकबर से समझौता नहीं कर पाए। केशव ने 'रतनसिंह बावनी' और 'वीरसिंहदेव चरित' में ऐसे ही हिन्दू राजाओं के वीर-चरित्र लिखे हैं। कवि भी सम्भवतः समझौते की प्रवृत्ति में पराजय और हिन्दू धर्म का पतन ही देखता था। कहीं-कहीं सिपाही धर्म-रक्षा के भाव से भी प्रेरित होते हैं। केशव ने अकबर का गुणगान नहीं किया: 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' लिखी। इसमें जहाँगीर के अकबर के प्रति विद्रोह का समर्थन ही प्रतिध्वनित है। यह ओरछा राज्य की जहाँगीर से अभिसन्धि को ही प्रतिध्वनित करता है। इसके पीछे भी मुसलमानों के विघटन का अभिप्राय था। पर शुद्ध राष्ट्रीयता यहाँ भी नहीं कही जा सकती। स्थानीय सामन्तों के अपने सीमित स्वार्थ ही युद्ध और संघर्ष के कारण थे।

भूषण में धर्माश्रित राष्ट्रीयता कुछ-कुछ मिलती है। भूषण का युग साम्राज्य शक्तियों के उदय का समय था। केन्द्रीय शासन के धार्मिक पक्षपात और अतिचार के प्रति एक विद्रोह जाग्रत हो रहा था। दक्षिण में मराठे और पश्चिम में सिक्ख विद्रोह के लिए शक्ति संग्रहीत करने लगे। इन दोनों ही संगठनों के पीछे एक धर्म-रक्षा-भाव था। एक ओर समर्थ गुरू रामदास की धर्माश्रित राष्ट्रभावना थी और दूसरी ओर नानक का जनवादी संतदर्शन प्रेरणा दे रहा था। इस प्रकार गुरु-परम्परा में ही क्रान्ति के बीज पनपे। ऐसी ही एक विचार-धारा भी मराठों और सिक्खों की क्रान्ति के पीछे मिलती है। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति औरंगज़ेब ने नहीं मानी। धार्मिक आधार पर शासन प्रजा के एक वर्ग के साथ पक्षपात रखने लगा। इसी में असन्तोष का बीज है—

> साँच को न माने देवी-देवता न जाने
> अरु ऐसी उर आने मैं कहत बात जब की।
> और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की
> अकबर शाहजहाँ कहैं साखि तब की।

कवि के मस्तिष्क में ऐतिहासिक क्रम और विकास भी है। वास्तव में यह धार्मिक विद्रोह न होकर साम्राज्य की धर्मनीति के प्रति विद्रोह है। "किन्तु क्योंकि अत्याचारभोगी हिन्दू ही थे, अतः इस काल में यह विद्रोह राष्ट्रीय भावना का होते हुए भी हिन्दुओं की हिमायत करने वाला ही हो जायगा।"[1] भूषण का यह विद्रोह यदि मुसलमान के विरोध में हिन्दू होने के नाते होता तो भूषण हुमायूँ की प्रशंसा नहीं करते—

१. डा० सत्येन्द्र, कला, कल्पना और साहित्य, पृ० २३६

बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये,
दो में एक करी ना कुरान-बेद ढब की।

दृष्टि के इस विस्तार में भूषण सम्भवत: कहना चाहते हैं कि भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य ही सफल हो सकता है। भूषण ने न हिन्दू धर्म की प्रशंसा की और न मुसलमान धर्म की निन्दा। उन्होंने औरंगज़ेबी धार्मिक अत्याचार का ही विशद वर्णन किया है—

कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगज़ेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी देव सहर मुहल्ला बाँके
लाखन तुरुक कीन्हे छूटि गई तब की।

औरंगज़ेब को इस अत्याचार के आधार पर असुर कहा और शिवाजी को अवतार की महत्ता से प्रतिष्ठित किया : जिस प्रकार 'दशरथ जू के राम भे, वसुदेव के गोपाल', उसी प्रकार धर्म संस्थापनार्थ, असुर-विनाशार्थ और अत्याचार-निवारणार्थ छत्रपति शिवाजी का उदय हुआ। इस प्रकार अपने नायक के साथ धार्मिक नेता की भावना का आरोप कर के अवतारवाद का व्यापक अभिप्राय सम्बद्ध किया गया।[1] इस आधार पर भूषण में साम्प्रदायिकता उनके साहित्य के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि भूषण में साम्प्रदायिकता होती तो हुमायूँ, अकबर, शाहजहाँ की प्रशंसा नहीं करता।

भूषण के नायक में भी सांप्रदायिकता नहीं मिलती। उन्होंने अनाचार, अत्याचार का विरोध किया। वे कुरान और मस्जिद का भी आदर करते थे। मुसलमानों की मर्यादा की भी इनकी दृष्टि में प्रतिष्ठा थी। उन्होंने अत्याचार का तो विरोध किया, पर मुसलमानों के प्रति घृणा-भाव का प्रचार नहीं किया। इस प्रकार भूषण और उसके नायक शिवाजी को साथ रख कर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें संकीर्ण सांप्रदायिकता नहीं थी। भूषण ने तत्कालीन राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया और उसमें सक्रिय भाग भी लिया। 'भूषण का काव्य जातीय भावना से ओत प्रोत है, परन्तु उसे हम दोषी इस कारण नहीं ठहरा सकते कि वह एक अत्याचारी का विरोध करता है, सामान्य रूप से विजाति के प्रति वैर-भाव प्रकट नहीं करता, पर मुख्य भाव वीर-यशगान का ही है।"[2] यहाँ इतना अवश्य मान लेना चाहिए कि केवल वीर-पूजा-भाव भूषण में नहीं है, एक राष्ट्रीय समस्या भी उनकी दृष्टि का विकास कर रही है। हो सकता है कि आज के नवीन अर्थ में, राष्ट्रीय भावना उनके काव्य में पूर्णत: न मिले।

१. प्रथमोन्मेष—

पृष्ठ भूमि—भारत के शासन की बागडोर ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में

१. इन्द्र कौ अनुज उपेन्द्र अवतार यातें
तेरो बाहुबल लै सलाह साधियतु है।

२. डा० भागीरथ मिश्र, अध्ययन, पृ० ९२

चली गई। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् विक्टोरिया की इतिहास-प्रसिद्ध घोषणा हुई। योरॅप के साहित्य के अध्ययन और एक प्रबुद्ध शक्ति के सम्पर्क से एक बौद्धिक जागरूकता भारतीय वर्ग में आने लगी थी। पहले स्वाधीनता संग्राम की पराजय भारतीय जनता के रक्त में अन्तर्ज्वलनशील चिनगारी के समान समा गई थी: दीपक का निर्वाण हुआ, पर उसकी चिनगारी मरी नहीं। इस चिनगारी की प्रतीति अनेक प्रकार से होने लगी। अंग्रेजी राज्य की केन्द्रीय सत्ता के कारण सारा देश एकता का अनुभव करने लगा था। इसलिए समस्त नवोत्तेजनाएँ एक व्यापक वातावरण में फैल जाती थीं। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन एवं यातायात के साधन प्रचार की सुविधाएँ भी प्रदान कर रहे थे। योरॅप के विभिन्न देशों में स्वातंत्र्य आदि के लिए हुए आन्दोलनों और क्रान्तियों का भाव छन-छन कर आने लगा था। रूस और फ्रांस की क्रान्तियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

निश्चय ही सन् १८५७ की क्रान्ति राष्ट्रीय भावना का ही प्रदर्शन था। इसके साथ स्वाभिमान की भावनाएँ संलग्न थीं और स्वतंत्रता की इच्छा भी सबल थी। इसकी असफलता से उत्पन्न निराशा निष्क्रिय रूप में नहीं थी। बौद्धिक जागरण के क्षणों में निराशा भावी क्रान्ति के बीज वपन करती है। इस निराशा ने और विदेशी शासन की शंकाकुल सजगता ने राष्ट्रीय-भावना या स्वातंत्र्येच्छा की बाह्य अभिव्यक्ति की परिस्थितियों को समाप्त कर दिया। आत्म-निरीक्षण इस दृष्टि से आरम्भ हुआ कि अपनी उन दुर्बलताओं को समझ लिया जाय जो राष्ट्रीय पराजय में कारण बनीं। यह स्पष्ट ही था कि हमारा समाज-संगठन ही जाति-पाँति की संकीर्ण प्रवृत्ति ही इसके लिए विशेष उत्तरदायी थी। वर्ण व्यवस्था, धार्मिक संप्रदायवाद या रूढ़ अन्धविश्वासों के कारण राष्ट्रीय चेतना केन्द्रीभूत नहीं हो पाती थी अतः अपनी आंतरिक दुर्बलताओं को पहले समाप्त करने के प्रयास करना अनिवार्य हो गया। इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हमारा 'राष्ट्र-तत्त्व' मुखरित हुआ।

आर्य समाज ने एक धर्मप्राण आन्दोलन चलाया जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय था। स्वामी दयानन्द ने हमारी भारतीय विचारधारा की मूलधाराओं को खड़ी बोली गद्य के माध्यम से प्रकट किया। इन्होंने यह प्रयत्न किया कि जिस प्रकार मुस्लिम और ईसाई धर्मों में कुछ ऐसे आचार हैं जो उन्हें संगठित रखते हैं, उसी प्रकार हिन्दुओं के धर्म का भी ऐसा सर्वमान्य रूप प्रतिष्ठापित किया जाय, जहाँ आकर सब एक हो जायँ। उन्होंने उस वैदिक धर्म की स्थापना की चेष्टा की, जिससे किसी का विरोध नहीं था। और रूढ़ सम्प्रदायों का विरोध किया। इसके अतिरिक्त आर्य समाज का सामाजिक पक्ष भी था। अछूतोद्धार, जैसे संगठनशील कार्य इस संस्था के साथ सम्बद्ध थे। यह युग के जागरण और उद्बोध को अपने साथ लेकर चला। एक जाति, एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा जैसी राष्ट्रीय माँगें इस संस्था ने कीं। इस प्रकार आर्य समाज ने उस राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात किया, जिसको एक बौद्धिक उत्क्रान्ति सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान कर रही थी।

CUDDAPAH

आर्य समाज की स्थापना के ठीक दस वर्ष बाद १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना हुई। राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की चेतना और माँग काँग्रेस के मंच से उठने लगीं। इन माँगों की स्वीकृति के लिए राजनैतिक संगठन होने लगा। इस प्रकार धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना का संगम राष्ट्रीय भावनाओं के प्रथम उन्मेष के लिये पर्याप्त आत्मशक्ति और नैतिक शक्ति प्रदान करने लगा।

२. साहित्यिक परिणति—

इसी समय भारतेन्दु ने एक साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन ने विषय और माध्यम को रूढ़ मध्यकालीन शृंखलाओं से मुक्त किया। नायक-नायिकाओं के विलासपूर्ण चित्र वाष्पपिंडों की भाँति तिरोहित हो गए। अलंकार-लक्षण भी आकर्षण खो चुके थे। पाश्चात्य साहित्य के परिचय और सम्पर्क ने एक नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान कर इससे नवीन साहित्यिक पद्धतियों और नवीन गद्यरूपों को जन्म दिया। गद्य शैली जीवन के जागरण के इन क्षणों का साथ देने के लिए तत्पर हो गई। ब्रजभाषा अपने शृङ्गार-विह्वल रूप को लिए गद्य के क्षेत्र से उठ गई। काव्य में यह गृहीत रही, पर नवीन विषयों की रचना के लिए। संक्षेप में साहित्य-क्षेत्र भी नवीन युग की धड़कनों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया।

भारतेन्दु ने तथा उनके युग के अन्य लेखकों ने राष्ट्रीय भावना की उत्तेजना का गहराई से अनुभव किया। तत्कालीन समस्याओं और परिस्थितियों के यथार्थ को प्रथम बार स्पष्ट रूप से साहित्य में समेटने का प्रयत्न भारतेन्दु युगीन साहित्य की प्रमुख विशेषता है। उन सभी तत्वों का विवेचन-व्याख्यान भी साहित्य में मिलता है, जिनसे राष्ट्रीय भावना कुंठित हो जाती है। पर आरम्भ में एक संतोष की साँस ही साहित्य में मिलती है। मुग़ल साम्राज्य की अन्तिम घड़ियों से लेकर भारतेन्दु युग तक राजनीतिक उथल-पुथल और शासन की अव्यवस्था से भारतीय जनता क्षुब्ध थी। इस क्षोभ को एक सुव्यवस्थित साम्राज्य-व्यवस्था में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव हुआ। यह भाव राज-भक्ति के रूप में फूट पड़ा। विक्टोरिया का घोषणा पत्र जिस उदार मनोभूमि का परिचय दे रहा था, उसने इस राजभक्ति को बल दिया। 'प्रेमघन' ने ब्रिटिश शासकों को भारत की राजभक्ति का परिचय दिया—

राजभक्ति इनमें रही, वैसी अकथ अनूप।
वैसी ही तुम आज हू, पै हो पूरब रूप॥
सबै गुनन के पुंज नर, भरे सकल जग माँहि।
राजभक्त भारत सरिस और ठौर कहुँ नाहिं॥[1]

कम से कम हिन्दू धार्मिक अत्याचार से मुक्त हो गए थे। उनका स्वर इस प्रकार का हो जाना स्वाभाविक हो गया। अम्बिकादत्त व्यास ने विकास-कार्यों की प्रशंसा की—

गाँव गाँव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायौ।
यान चलाइ रेल की तोपें मानों नगर उड़ायौ॥

---

१. आर्याभिनन्दन से

इस राज-भक्ति-दर्शन में भी भारतीय गौरव का स्वर व्याप्त है। साथ ही इस शान्ति के समय को यदि भारतीय जनता नष्ट कर देगी तो सदैव के लिए पतन हो जायगा। अतः अपने भावों के अभ्युत्थान के लिए इसका सदुपयोग करने की प्रेरणा कवि ने दी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की प्रेरणा का स्वर कितना स्पष्ट है—

उठो आर्य-सन्तान सकल मिलि, बस न बिलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातंत्र्य समय, तुम व्यर्थ न बैठि गँवाओ।

इस प्रकार राज-भक्ति के स्वरों में बौद्धिक जागरण कुलबुला रहा है। वह इसे अपने सौभाग्य के रूप में तो स्वीकार कर रहा है, पर यह स्पष्ट बतला देना चाहता है कि यह व्यवस्था एक निश्चित सीमाओं तक ही चल सकती है। उसके पश्चात् तो हमें स्वशासित ही रहना है।

धीरे-धीरे पूँजीवादी साम्राज्यवाद के दमन और शोषण प्रकट होने लगे। धार्मिक स्वतन्त्रता को कवि ने कूटनीति ही समझा। 'काले' और 'गोरे' के बीच भेद प्रकट होने लगा। एक ओर 'प्रेस' के सम्बन्ध में एक्ट बना, दूसरी ओर 'आर्म्स एक्ट'। बौद्धिक रूप से जागृत कवि इनके निहित उद्देश्यों को समझ गया—यह तो हमारे दमन और गत्यावरोध की क्रूर भूमिका है और गुलामी को स्थिर रखने की चेष्टा भी। हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट कहा—

सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोग।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिन्हू की रोक॥

भारतीय स्वामिभक्ति पर इतना अविश्वासपूर्ण व्यंग्य देख कर कवि की चेतना कटुता से भर गई। साथ ही जब शोषण दीखने लगा, तो कवि को और भी गहरी राष्ट्रीय वेदना हुई। अपना धन सात समंदर पार जा रहा है—यह यथार्थ इतना व्यापक था कि कवि का स्वर दुरंगा हो गया—

अँगरेज सुख साज सज्यौ अति भारी।
पै धन विदेस चलि जाइ यही दुख भारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख देत ईसा हा हारी॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफ़त आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

साम्राज्यवादी शोषण स्पष्ट हो गया। और यह शोषण का प्रश्न पहेली बन कर देश के सामने प्रकट हो गया। अंग्रेज़ी की तथाकथित सदाशयता की कलई खुल गई। अंग्रेज का नग्न कंकाल अर्थ-दस्यु के रूप में प्रकट हो गया—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
बाहर से तन-मन धन भूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज।

दमन-चक्र के प्रति प्रतापनारायण मिश्र की प्रतिक्रिया और भी गहरी पीड़ा लिए है—

यह जिय धरकत यह न होइ कोइ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहि अरु रोबन नहि देत॥

इस प्रकार दमन, आर्थिक शोषण-चक्र, जासूसी, अकारण दंड आदि यथार्थ प्रथम उन्मेष में भी व्यक्त हो गए। जीवन के यथार्थ के प्रति पहले बहुत दिन से कवि जागरूक नहीं हुआ। इस उन्मेष के वाहक कवियों ने 'भारत की दुर्दशा' चित्रित की। इस चित्रण में भावोत्तेजन के तत्त्व तीव्र थे। इस चित्रण का उद्देश्य जागरण के थपेड़ों को सर्वत्र अनुभव करा देना था। साथ ही इस भाव की उद्दीप्ति के लिए भारत-माता का मलिन चित्र भी खींचा गया। 'भारत जननी' ऐसे ही चित्रों का संग्रह है—

मलिन मुख भारत माता तेरौ
वारि झरत दिन रैन नैन सो
लखि दुखहोत घनेरो।

और—

हाय ! वहै भारत भुवभारी। सबही बिधि सो भई दुखारी।
हाय पंचनद ! हा पानीपत। अजहुँ तुम धरनि बिराजत॥

इसी प्रकार भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' 'विषस्यविषभौषधम्' 'वैदिकी हिंसा' जैसे प्रहसन करारे व्यंग्यों से समन्वित हो गये। व्यंग्य मुख्यतः अराष्ट्रीय और बाधक तत्त्वों पर हैं। इस प्रकार कहीं लोक-शैली में, कहीं व्यंग्यों में, कहीं स्पष्ट, कहीं प्रच्छन्न राष्ट्रीय भावना अपनी अभिव्यक्ति ढूँढ़ने लगी। यह राष्ट्रीयता का भाव, मात्र दिखावा नहीं था, यह यथार्थ अनुभूति थी। आँखों देखे यथार्थ के प्रति यह एक बौद्धिक प्रतिक्रिया थी। अन्त में प्रतापनारायण की पंक्तियाँ उद्धृत करके प्रथम उन्मेष से विदा ले सकते हैं—

चहहु जो साँचौ निज कल्यान।
तौ सब मिलि भारत सन्तान॥
जपहु निरंतर एक जबान।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥
रीझै अथवा खीझै जहान।
मान होय चाहे अपमान॥
पै न तजो रटिबे की बान।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥[1]

२. द्वितीय उन्मेष—

१. पृष्ठभूमि और साहित्यिक परिणति—प्रथम उन्मेष में देश का यथार्थ-चित्रण, अतीत की गौरव गाथा एव सर्वाङ्गीण राष्ट्रीय विकास की बौद्धिक दृष्टि के भाव समाए रहे। समाज-सुधार की लहरें अनेक संस्थाओं को जन्म दे रही थीं। आर्य

१. प्रताप पीयूष से।

समाज की शाखाएँ, कालिज और गुरुकुल उत्तर भारत के कोने कोने में बिखर गए। वैदिक संस्थान, वैदिक संस्कृति और विचार धारा का प्रचार करने लगे।

इसकी प्रतिक्रिया में एक दूसरा आन्दोलन साहित्य के क्षेत्र में चला। वैदिक स्रोतों से हिन्दी साहित्य विषय-वस्तु ग्रहण न कर सका। अतः पौराणिक वृत्तों का पुनराख्यान और ऐतिहासिक घटनाओं और महापुरुषों के जीवन का पुनर्निरीक्षण आरम्भ हुआ। उनके विधान में नवीन आदर्शों और मूल्यों की स्थापना कर के उनको युगानुकूल बनाया गया। भगवाम के अवतारों की कल्पना पुराण साहित्य की सबसे प्रबल कल्पना थी। यह आर्य समाज के सिद्धान्तों के विरोध में पड़ती है। अवतरित रूपों के मानवीय अंश को दिव्य छाया में उभारा जा सकता था। इस कल्पना को लेकर भारत-भूमि को भी एक मूर्त देवी के रूप में कल्पित किया गया। बंकिमचन्द्र ने 'वन्दे मातरम्' में इसी मातृभूमि के देवत्व और उसकी समृद्धि को सजीव किया। इसी भावना से प्रेरित होकर देश की प्राकृतिक छटा को राष्ट्रीय भावना से युक्त कर के कवियों ने चित्रित किया : पं० श्रीधर पाठक का 'काश्मीर वर्णन', 'प्रकृति वैभव' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इस प्रकार मातृभूमि का देवी रूप प्रतीको पासना का रूप लेने लगा। मातृभूमि वन्दना में भौगोलिक तत्त्व उभरने लगे। पं० श्रीधर पाठक की 'भारत प्रशंसा' देखिए—

गिरवर भ्रू भ्रंग धारि गंगाधार कंठहार।
सुरपुर अनुहार विश्व बाटिका बिहारी ॥
उपवन-वन-बीथि जाल, सुन्दर सोइ पट दुसाल।
कालिमाल विभ्रमालि मालिकाऽलिकाऽली ॥

इसमें शैली भी स्तवन की है और भावना भी भक्ति की, भक्ति मातृभूमि के प्रति है। मातृभूमि ही सबसे बड़ी शक्ति है। इस प्रकार 'वन्दे मातरम्' की वस्तु और भावना देश भर में भर गई। यह भावना रुकी नहीं आगे चलती ही रही। दिनकर में यह भावना और भी प्रबुद्ध है। 'हिमालय के प्रति' के स्वर कितने भक्ति-संकुल हैं—

मेरे नगपति मेरे विशाल
साकार दिव्य गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति मेरे विशाल।

देश की भौगोलिक गरिमा के प्रति कवि की आत्मीयता कितने रागरंजित स्वरों में व्यक्त हुई है। ये स्वर अनेक कवियों में मुखर हो उठे, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण-सिंह, प्रसाद आदि सभी में मातृभूमि वंदना के स्वर-घोष मिलते हैं।

२. राष्ट्रीय रंग मंच : राजनीति और दर्शन का सङ्गम—

अब तक राष्ट्रीय भावना दार्शनिक आधार ग्रहण नहीं कर पाई। अब राष्ट्रीय

रङ्गमञ्च पर तिलक, गोखले और गांधी जैसे व्यक्तित्व प्रकट हुए। तिलक ने 'गीता-रहस्य' के द्वारा मानसिक चेतना और सामाजिक निष्ठा को कर्मवादी आधारभूमि प्रदान की। महत्मा गांधी ने आत्मशक्ति, सत्य, अहिंसा आदि मानवीय मूल्यों का प्रयोग-सिद्ध किया और हिंसा की ज्वाला के बीच इनकी शीतलता की स्थापना की। उन्होंने इन प्रयोग-सिद्ध जीवन मूल्यों के आधार पर विदेशी सत्ता को हटाने का उद्योग किया। सम्भवतः इससे बड़ा प्रयोग इन मूल्यों का विश्व के स्वाधीनता संग्राम में कहीं नहीं हुआ। महात्मागांधी की विचारधारा के पीछे बुद्ध, ईसा और टाल्स्टाय के जीवनादर्श थे। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक मानवतावादी आदर्श से समन्वित हुई। इसी समय थियोसोफिस्टों का धार्मिक आन्दोलन भी बल पकड़ने लगा। यह राष्ट्रीय आन्दोलन से इतना घुलमिल गया कि दोनों में एक घनिष्ठ सामञ्जस्य दिखलाई पड़ता है। साहित्य में इन प्रेरणाओं ने सर्वमानववाद को जन्म दिया। इनके साथ ही हम रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविंद की राष्ट्रीय परिवेश में पनपी दार्शनिक चेतन-चिन्तन को भी नहीं भूल सकते। इन सबने मिलकर मानव-मूल्यों पर आधारित, नव-विवेचित दर्शन से पुष्ट, राष्ट्रीयता को जन्म दिया। इसका रूप ऐसा होगया कि सभी की सहानुभूति मिल सके। इस राष्ट्रीय आन्दोलन को इतना भव्य रूप प्रदान कर दिया गया कि सत्तारूढ़ अधिकारी का खोखलापन और उसकी दुर्बलता विश्व पर स्पष्ट होने लगी। इसी आन्दोलन के साथ अछूतोद्धार जैसे सुधारवादी आन्दोलन भी आ मिले और इसे शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन नहीं, एक सर्वतोमुखी आन्दोलन का रूप प्रदान किया।

हिन्दी साहित्य में आन्दोलन के सभी पक्षों पर कविताएँ लिखी गई। यहाँ बल स्वदेशी पर था। स्वदेशी आन्दोलन के राजनैतिक और आर्थिक दोनों पक्ष थे। साथ ही इसमें एक आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और अन्ततः आध्यात्मिकता जगाने का उपक्रम था। देवीप्रसाद पूर्ण ने 'स्वदेशी कुण्डल' लिखा। इसमें स्वदेशी आन्दोलन की आत्मा गूँज रही है—

> 'गाढ़ा भीना जो मिलै उसकी हो पोशाक
> कीजै अङ्गीकार तौ रहै देश की नाक
> रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने
> हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने
> जिन्हें नहीं दरकार चिकन योरप का काढ़ा
> तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा।'

इस प्रकार 'खादी' प्रतीक को इतने सरल शब्दों में पूर्ण जी ने रखा। पूर्ण जी उस वस्तु-तथ्य से भी अवगत थे जो औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पन्न करदी थी। 'खादी' का उस औद्योगिक मशीनवाद से समझौता नहीं था। पर पूर्ण जी को मशीन भारतीय जीवन के विकास के लिए अनिवार्य दीख रही थी। इसलिए उन्होंने कहा—

> 'भरतखण्ड ! कल बिना तुझे, हा, कैसे कल है ?'

खादी से सम्बद्ध आर्थिक अभिप्राय को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार स्पष्ट किया—

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ? वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं। 'चरखा' स्वदेशी आन्दोलन का अस्त्र था। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतीकों में इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसने मशीन को ललकारा। इसकी गति में जीवन की गति प्रतिबिम्बित थी। इसके साथ ही भारत का भाग्य सम्बद्ध हो गया। 'प्रेमघन' जी ने चरखे के दर्शन को अपने एकगीत का विषय बनाया—

चलचल चरखा तू दिन-रात।
लङ्का से लङ्काशायर का कर बिलम्ब बिन घात।
ज्यों ज्यों तू चलता त्यों त्यों आता स्वराज्य नियरात॥

सोहनलाल द्विवेदी ने खादी की सांस्कृतिक स्थिति स्पष्ट की—

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा।
माता का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा॥
खादी के रेशे-रेशे में अपने भाई का प्यार भरा।
माँ-बहिनों का सत्कार भरा, बच्चों का मधुर दुलार भरा॥

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' ने राष्ट्रीय एकता का स्वर भी मुखर किया। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी की एकता राष्ट्रीय आन्दोलन की माँग थी।

ईसावादी पारसी सिक्ख यहूदी लोग।
मुसलमान हिन्दी यहाँ है सबका संयोग।

यह राष्ट्र की सांस्कृतिक और धार्मिक वैविध्यों से भरी गरिमा है। इस मोटे रूप से स्वदेशी आन्दोलन के सभी प्रतीकों पर कविता रच कर हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान दिया।

जहाँ तक राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में स्थित दार्शनिक और आदर्श मानवतावादी तंत्र विधान का प्रश्न है, उसको भी साहित्य में अभिव्यक्ति मिली। प्रेमचन्द जी के प्रायः सभी उपन्यास, गुप्तजी के यशोधरा, अनघ और साकेत, हरिऔध जी का प्रिय प्रवास, इसी आदर्शवादी पृष्ठभूमि पर हुई रचनाएँ हैं। प्रियप्रवास की नायिका राधा समाज सेविका के रूप में अवतरित हुई। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'स्वप्न' खण्डकाव्य राष्ट्रीय अनुभूतियों और आदर्श मानवतावाद से समाकुल हैं। राष्ट्रीय नव जागरण का प्रभाव हिन्दी में ही नहीं समस्त भारत के साहित्य में परिलक्षित होता है। बंकिम का 'आनन्दमठ', शरत का 'गृह दाह' और 'पाथेरवादी', रवीन्द्र की 'गोरा' और प्रेमचन्द की 'रंगभूमि', 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' जैसी रचनाओं ने आदर्श और राष्ट्रीय चेतना की समन्वित अनुभूतियाँ अभिव्यक्त की हैं।

अतीत के गौरवगान में भी आदर्श की छाया प्रगाढ़ होती गई। "भारत-भारती" अतीक आदर्शों से भर उठी। उसमें वीरता और परोपकार के आदर्श प्रबल हैं। अन्य सभी कवियों ने अतीत के आदर्श चरित्रों को राष्ट्रीय परिवेश में नव जीवन दिया। इस आदर्श के गौरव-गान के साथ आदर्श-च्युत होने की करुणा भी हैं। सियाराम शरण की पंक्तियाँ देखिए—

सर्वत्र ही कीर्तिध्वजा उड़ती रही जिनकी सदा;
जिनके गुणों पर मुग्ध थी सुख शान्ति संयुत संपदा।
अब हम वही संसार में सबसे गए बीते हुए।
हैं हाय ! मृतकों से बुरे अब हम यहाँ जीते हुए।

अतीत का इतिहास साक्षी है कि भारत के जीवनादर्शों ने दिग्विजय की थी। वह विजय शास्त्र की नहीं, आदर्शों की थी। दिनकर की कविता में ये स्वर बहुत तीव्र

तू पूछ अवध से, राम कहाँ।
वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ।
ओ मगध, कहाँ मेरे अशोक।
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ।
× × ×
री कपिलवस्तु, कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ।
तिब्बत, इरान, जापान, चीन—
तक गये हुए संदेश कहाँ।
वैशाली के भग्नावशेषसे—
पूछ, लिच्छवी शान कहाँ।
ओरी उदास गण्डकीबता।
विद्यापति कवि के गान कहाँ।

यह आदर्शवादी राष्ट्रीयता की साहित्यिक परिणति है। इस मानवतावादी राष्ट्रीय ने जीवन की एक नवीन आलोचना की। सामाजिक जीवन के मृत तत्त्वों को समाप्त करने का उपक्रम हुआ। सामाजिक मूल्यों की ओर जनता को आकर्षित करके कवि ने उसकी राष्ट्रीय चेतना को नैतिक बल प्रदान किया। परम्परा का राष्ट्रीय रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ। आत्मशक्ति की विजय के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य जुटा कर इस साहित्य ने प्रभूत बल और विश्वास उत्पन्न किया। सामाजिक जीवन की सर्वाङ्गीण समीक्षा और उसके यथार्थ-बोध की स्वीकृति करके एक स्वाभिमान की भावना को भी साहित्य ने जन्म दिया। यह आदर्शवादी आन्दोलन साहित्य में अशेष रूप से अवतरित हुआ और द्वितीय उन्मेषकाल में राष्ट्रीय साहित्य समृद्ध हो गया। साथ ही स्वदेशी आन्दोलन ने मानव-मूल्यों का तिरस्कार करने वाली पाश्चात्य जगत् की मशीनवादी संस्कृति को ललकारा। उद्योग जहाँ मानव के शोषण पर आधारित था, उसको मानव-प्रेम पर आधारित करने के लिए गृह-उद्योग का पक्ष समर्थन किया। ये राष्ट्रीय साहित्य के अतिरिक्त आयाम थे। इस काल के राष्ट्रीय-साहित्य में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान अतीत-गान के रूप में आया और आदर्श मानववाद की प्रतिक्रिया ने राष्ट्रीय आन्दोलन को मानवतावादी संस्पर्श से विस्तृत कर दिया।

३. तृतीय उन्मेष : क्रान्ति और बलिदान के स्वर—

धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का आन्दोलन अपनी आत्मशक्ति को लेकर जटिल संघर्षों में प्रविष्ट हुआ। दमन का सामना करना पड़ा। बन्दीगृह आज़ादी के दीवानों के लिए पवित्र कृष्ण मन्दिर बन गए। बालकृष्ण शर्मा नवीन, सनेही जी, माखन लाल चतुर्वेदी ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। साथ ही समाज के विकृत और विकल अङ्गों के प्रति सुधार के स्थान पर क्रान्ति की भावना को जगाया। दिनकर के स्वरों में भी क्रान्ति का धर्म उपस्थित हुआ। वस्तु सत्य का कटु यथार्थ अधिक उत्तेजना देने लगा। त्याग और बलिदान संघर्षकालीन जीवन के सर्वोच्च मूल्य बन गए। समझौता के इस युग में कवि को कुछ ऐसे तत्त्व भी दिखलाई पड़ने लगे, जिनके साथ समझौता नहीं हो सकता। उनके विनाश के लिए नाश के देवता का आवाहन भी हुआ और विद्रोह के स्वर भी अधिक उग्र हुए। जीवन के यथार्थ इतने जटिल हो गये कि पूर्व-कालीन आदर्शवाद और मानववाद कुछ खोखले से प्रतीत होने लगे और यथार्थ से जूझने की प्रेरणा प्रबल होने लगी। निरपेक्ष आदर्श यथार्थ जीवन की सापेक्षिता में अपनी परीक्षा देने लगे। संघर्ष में इन आदर्शों और मूल्यों का रूप निखरने लगा। वर्तमान रूढ़ियों के प्रति कवि का रोष प्रकट हुआ। इस सज्जा के साथ हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना का तृतीय उन्मेष हुआ। संघर्ष इतना जटिल और आरम्भिक स्थितियों में, इतना निराशापूर्ण रहा कि बहुत से कवियों के लिए गांधीवादी आदर्शों पर विश्वास समाए रखना कठिन हो गया। ये मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से प्रभावित होकर प्रगति के पथ पर चलने लगे। जो किसी प्रकार अपना विश्वास जमाए रहे, वे राष्ट्रीय काव्यधारा के उग्र कवि बन गए। क्रान्ति, आग, नाश आदि शब्द-प्रतीक अहिंसा के साथ प्रकट हुए। पर खुले आम अहिंसा में अविश्वास प्रकट नहीं किया गया। 'नाश' के साथ गांधीवादी अभिप्राय सम्बद्ध हुआ : नाश, नवनिर्माण के लिए : क्रान्ति 'सत्य' की प्रतिष्ठा के लिए।

सबसे पहले राष्ट्रीय चेतना को और दृढ़ करने की चेष्टा मिलती है। सनेही जी के अनुसार स्वाभिमान-हीन मनुष्य मृत है। अपने देश का अभिमान जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण भावना है—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है॥

इस प्रकार के प्रबोध स्वर अत्यन्त प्रखर होते गए। कवि ने अपने जीवन का प्रमाण दिया। प्रमाण-बलि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। देश के गौरव के लिए जीवन का उत्सर्ग करना ही तो जीवन है—

बलि होने की परवाह नहीं
मैं हूँ, कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता जीता जीता हूँ,
माता के हाथ स्वराज्य रहे॥

—माखन लाल चतुर्वेदी : हिमकिरीटिनी।

प्रगतिगीत अब अकेले हिन्दू या अकेले मुसलमान का नहीं होगा : दोनों का समवेत स्वर ही शक्तिवाहक बन सकता है—

कह दो हर हर यार ! या अल्ला अल्ला बोल दो ।

—सनेही ।

आज कवि को अपनी वाणी का नवीन संधान करना है। उसे रक्त, आग, नाश, से अपनी वाणी को सजाना है। पाप-पुण्य की परिभाषा बदलनी है। सारी प्रलयकालीन हल चल को पकड़ कर अपने शब्दों में उसे भर देना है। आँसुओं की वृष्टि रक्त-वृष्टि बना देनी है। समस्त मूढ़ और अगतिशील विचारों का विनाश ही कवि का धर्म है। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने कवि को यह सब करने के लिए ललकारा—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये ।।
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाये।
बरसे आग, जलद जल जाये, भस्मसात भूधर हो जायें।
पाप पुण्य सद्मद् भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाये।

दूसरी ओर सुभद्रा कुमारी चौहान का स्वर सुनाई पड़ रहा है—

सुनूँगी माता की आवाज़, रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव, न होने दूँगी अत्याचार।
न होने दूँगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान्।

इस प्रकार तृतीय उन्मेष में राष्ट्रीयता की भावना प्रखर हुई है। बलिदान की गरिमा बढ़ी है और क्रान्ति भड़की है। इस बेला में सुदूर अतीत तक जाने का अवकाश नहीं है। उन वीरों और शहीदों की यादें उद्दीपन के रूप में आने लगीं, जिन्होंने अभी-अभी स्वतंत्रता के संग्राम में अपने प्राणों का बलिदान किया है : सङ्कट झेले गये हैं। जिनकी यादें प्रेरणा देती रहीं वे आत्माएँ ये हैं : 'प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मी बाई, तात्या, बिस्मिल, अशफ़ाक उल्लाह, भगतसिंह, चन्द्र शेखर आज़ाद, गणेश शङ्कर विद्यार्थी आदि।' इनमें से बहुतों ने स्वातंत्र्य-क्रान्ति का झण्डा भी ऊँचा किया। इन क्रान्तिकारियों के उष्ण रक्त ने आज़ादी के पादप को सींचा—या उसके लिए भूमि तैयार की। इन शहीदों ने गांधीवादी आन्दोलन से पृथक् भी राष्ट्रीय कार्यवाहियाँ कीं। और इतिहास गांधी जी के सफलता की भूमिका में इन शहीदों के रक्तदान को भुलाने का अपराध नहीं कर सकता। जयशङ्कर प्रसाद ने 'महाराणा का महत्त्व' लिखा। मिलिन्द ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक लिखा। वृन्दाबन लाल वर्मा ने 'झाँसी की

रानी लक्ष्मी बाई' उपन्यास लिखा। लाला भगवानदीन का 'वीरपंचरत्न' भी उल्लेखनीय है। इस प्रकार शहीदों की स्मृतियों ने राष्ट्रीय-रस का उद्दीपन किया।

नवीन जी का विध्वंस का स्वर आगे दिनकर की वाणी में और भी पनपा। हरिजन, किसान, श्रमिक-सभी पर अनेक कवियों ने कविताएँ रची। निराला, तंत, भगवतीचरण, अंचल ने इनके सम्बन्ध में क्रान्तिकारी गीत लिखे। वस्तुतः यह वृहत्तर राष्ट्रीयभावना से सम्बद्ध हैं। 'लघु' मानव की स्थापना का प्रयत्न राष्ट्रीय उत्थान के युग में होना ही चाहिए। दिनकर मज़दूर और किसानों का पक्ष कितने आग्रह से ग्रहण करते हैं—

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे, हृदय शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही, वैभव की ऊँची दीवारें॥
आहें उठीं दान कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी, गरीबों के लोहू पर, खड़ी हुई तेरी दीवारें।
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेध की रानी दिल्ली।

—हुङ्कार।

इस प्रकार आजादी के बाद इस राष्ट्रीयता का भाव कृषक और श्रमिक के प्रति सहानुभूति में बदल गया। एक ओर शुद्ध मानवतावाद रह गया। दूसरी ओर मज़दूर और किसानों की समस्याओं का मार्क्सवादी दृष्टि से देखने वाला प्रगतिवाद।

४. नाटकों में राष्ट्रीयता—

हिन्दी में राष्ट्रीय-भावना का एक क्रमिक विकास है। इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन की विभिन्न स्थितियाँ समाविष्ट है। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय संघर्ष प्रबलतर होता गया है, राष्ट्रीय स्वर भी प्रखर होता गया है। काव्य ने इस प्रखर स्वर का वहन बड़ी ईमानदारी और सरलता से किया। भारतेन्दु ने नाटकों ने देश के कटु यथार्थ को रङ्गमञ्च पर उतारा। प्रसाद जी के नाटकों ने अतीत के गौरवपूर्ण पृष्ठों को नाटक बनाया। वर्तमान राष्ट्रीयता का उसमें रङ्ग भरा और अपने कवि-कर्म को शुद्ध छायावादी होने से बचा लिया। प्रसाद जी के नाटकों में 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से', 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार', और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे अमर राष्ट्रीय गीतों की गूँज है। उनके सभी पात्र किसी-न-किसी रूप में राष्ट्रीय भावना को अपनाए चलते हैं। चन्द्रगुप्त' मे सिकन्दर की पराजय समस्त पश्चिम की पराजय है—पराजय जो विजय के रूप में पहले प्रकट हुई थी। समस्त नाटकों का वातावरण राष्ट्रीयता से संयुक्त है। राष्ट्रीयता को आदर्श मानवतावाद से भी प्रसाद जी ने नाटकों में सजाया है। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटक भी इस दृष्टि से पीछे नहीं हैं। 'शिवा साधना' में शिवाजी का कथन देखिए : "मेरे शेष जीवन की एक मात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अन्त करना। राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।" सेठ गोविंद दास के नाटकों

में राष्ट्रीयता और भी सुस्पष्ट है। वे तो स्वयं आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी रास्ता छोड़ा : आग्रह राष्ट्रीय था : और 'मृत्युञ्जय गांधी', 'शङ्कराचार्य' आदि नाटक लिखे। इनमें राष्ट्रीय दृष्टि ही मिलती है। इस प्रकार हिन्दी की नाट्य परम्परा ने भी राष्ट्र-देवता का अजस्र अभिषेक किया।

नाटकों में राष्ट्रीयता बहुधा ऐतिहासिक कथानकों और पात्रों के द्वारा व्यक्त हुई है। इन नाटकों ने ऐतिहासिक चरित्रों का भी परिष्कार किया। बहुत से विदेशी लेखकों ने हमारे इतिहास के अनेक नायकों का रूप बिगाड़ दिया था। प्रसाद जी ने अपनी समस्त शक्ति लगा कर ऐसे राष्ट्रीय पात्रों और घटनाओं की अपने निजी स्रोतों के आधार पर पुनर्प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार अन्य नाटककारों ने भी पात्रों को नवीन राष्ट्रवाद के संकेतों के द्वारा नवजीवन प्रदान किया। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से हिन्दी की नाटक-परम्परा भी महत्त्वपूर्ण है।

५. हिन्दी राष्ट्रीय काव्य का कलापक्ष—

इतना निश्चित है कि राष्ट्रीय भावों में निमग्न साहित्य शैली और शिल्प की बारीकियों की चिन्ता नहीं करता। अभिधा शक्ति की ही विभिन्न छवियों को उभार दिया जाता है। भारतेन्दुकालीन कवि व्यंग्य के सहारे शैली को प्रभावात्मक बनाते थे। राष्ट्रीय-साहित्य मे जब आदर्शवाद और मानववाद प्रतिष्ठापित हुए तब शैली, शिल्प और काव्य रूप में विकास हुआ। अतीत के चरित्रों के साथ विभिन्न मानवीय भाव भी थे जो कोरे आदर्शवाद को रागात्मक बनाते थे। मुक्तकों के अतिरिक्त इस युग में प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना हुई। इन प्रबन्धों की आत्मा में देश-भक्ति और राष्ट्रीयतावाद के तत्त्व मौजूद हैं। पर आगे सघर्षकालीन राष्ट्रीय साहित्य में सारा सौन्दर्य ओजगुण पर आधारित है। शब्द-योजना इस प्रकार की है कि क्रान्ति की झनकार शब्दों की आत्मा से स्पष्ट होती है। 'पथिक' जैसे खण्ड-काव्य अवश्य प्रबन्ध होते हुए भी शैली की दृष्टि से मर्म स्पर्शी हैं। जहाँ तक नाटक की शैली का सम्बन्ध है, उसमें संघर्ष की जटिलता ही प्राण देती है। इस कारण से नाटक की शैली का तो उत्कर्ष ही होता गया। चाहे शैली और शिल्प कुछ दुर्बल हो, पर उसमें राष्ट्रीय भावना का सौन्दर्य उसकी दुर्बलता को छिपा देता है। आन्तरिक भाव-द्वन्द्व कलापक्ष को भी हलचलपूर्ण बनाता चलता है। संसारभर में राष्ट्रीय काव्य शिल्प-शैली की दृष्टि से शिथिल रहता है। हाँ, गद्य की विधाओं में शिल्प राष्ट्रीयता के बोझ से दब नहीं जाता। शैली में कवि के व्यक्तित्व की एक ईमानदारी झलकती है। बहुत से कवि और लेखक स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन के सैनिक थे।

६. उपसंहार—

राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हुआ। स्वतंत्रता मिली। राष्ट्रीय भावधारा अपने लक्ष्य पर पहुँच कर कुछ झिझकी, ठिठकी। उसके सामने सफलता का स्वर्ण-विहान था। जो राष्ट्रीय कवि थे, उनमें से कुछ चल बसे। कुछ ने सम्मान पाया—राज-कीय। अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हुए। जो बच रहे उन्होंने दिशा-परिवर्तन किया।

उनके सामने स्वराज्य तो था, पर सुराज्य नहीं हो पाया। जनता की दशा बहुत अच्छी नहीं हो पाई। नेताओं में क्षतिपूरक प्रवृत्ति जाग उठी—सभी में नहीं। नई समस्याएँ उत्पन्न हुई। इन समस्याओं पर लेखनी चलने लगीं। राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बद्ध होने के कारण ऐसा काव्य वृहत्तर राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। नवीन यथार्थ, नवीन भाव-बोध और नवीन सौन्दर्य-बोध ने 'प्रयोग' को और आर्थिक समस्याओं ने 'प्रगति' को प्रोत्साहन दिया। दिनकर जैसे कवि जनता का पक्ष लेकर सामने आए। उन्होंने प्रयोग का मार्ग भी नहीं पकड़ा और न प्रगति का—'युगचारण' जो ठहरा। फिर चीन की समस्या आ खड़ी हुई : और पीछे छूटी हुई राष्ट्रीय काव्य-धारा फिर से स्वर-संधान करने लगी। चीन के आक्रमण के समय हिन्दी के कवियों ने बड़ी ही ओजपूर्ण कविताएँ लिखीं। इस राष्ट्रीय काव्य में नवीन भंगिमाओं और नवीन छवियों का आलोक मिलता है। पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ इनके साक्षी हैं।

३०

नई कविता

१. नई कविता : पृष्ठभूमि, युग विश्लेषण एवं परम्परा
२. जीवन-दर्शन : काव्य-दर्शन
३. नई कविता का अनुभूति पक्ष
४. नवीन भाव-बोध एवं सौन्दर्य-बोध
५. नई कविता और जीवन का यथार्थ
६. नई कविता में मानववाद
७. नई कविता और प्रेषणीयता
८. उपसंहार

बीसवीं सदी में मानव-संस्कृति ने बड़ी जल्दी-जल्दी करवट बदले हैं। वैज्ञानिक उन्नति ने मनुष्य को सोचने-समझने के नवीन तौर-तरके प्रदान किए हैं। विज्ञान ने प्राचीन से हमारी आस्था को प्राय: काट दिया है और 'नवीनता' की प्यास जगा दी है—या यों कहें कि नवीनता के लिए मनुष्य की प्यास तो पुरानी है, पर वह इतनी तीव्र और अपनी तृप्ति के लिए इतनी आशावान कभी नहीं थी। 'नया' या 'आधुनिक' विशेषण हमें आज बहुत अधिक रुचते हैं। 'आधुनिक' का स्वीकृत अर्थ है—समकालीन के साथ समन्वित होने की प्रवृत्ति। समकालीन विचारों, अनुभूतियों, संवेगों और

प्रेषण की प्रविधियों में समकालीन के साथ स्वर मिलाना ही नहीं, उससे कुछ आगे होना भी इसका अन्तर्भूत अर्थ है। 'आधुनिक' शब्द विकास-शील केन्द्र-बिंदु की ओर संकेत करता है और उनको ललकारता भी है जिनकी दृष्टि अतीत में उलझी रहती है अथवा तथाकथित 'आधुनिक' केन्द्र को जो ऐसा जकड़े रहते हैं कि आगे के विकसित आयामों के साथ समझौता ही नहीं कर पाते। 'आधुनिक' विचारक साहित्यिक कृतियों में जीवन की समकालीन समस्याएँ ढूँढ़ते हैं : उनको हल करने वाली दृष्टि की निरख-परख करते है और देखते हैं कि इस सबमें कवि अपने को कितना तटस्थ और ईमानदार रख सका है। इस प्रकार 'आधुनिक' शब्द के साथ 'समस्या' पक्ष जुड़ा हुआ रहता है।

इस शब्द के पश्चात् 'प्रगति' शब्द हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इस शब्द के पीछे अर्थशास्त्र की एक विशेष राजनीतिक सम्प्रदाय के द्वारा प्रस्तुत व्याख्या सन्निहित है। 'आधुनिक' में जहाँ ऐतिहासिक क्रम का बोध था, वहाँ प्रगति में आर्थिक, वर्गवादी शोषण और उसके प्रति क्रान्ति-प्रतिक्रिया ज्ञापित थी। यह साम्यवादी दृष्टि सर्जनात्मक साधना के लिए उतनी ही घातक-बाधक होती है, जितनी कि प्रतिक्रियात्मक राष्ट्रीयता। दोनों ही सामूहिक इच्छा-स्पन्दन के आगे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हेय समझते हैं। पर यह माना-समझा जाता है कि ऐकान्तिक व्यक्तित्व और उसकी एक सीमा तक स्वतन्त्रता, सृजन के लिए आवश्यक होते हैं। प्रगतिवाद के प्रतीक, तत्सम्बन्धी काव्यरूप और अर्थ-बोध सभी कालान्तर में इतने बद्ध और सुनिहित हो गए कि ववैध्य पूर्ण जीवन की समग्र गतिविधि को समेटने में असमर्थ हो गये।

प्रेषणीयता और अभिव्यंजना प्रविधियों के इस गतिरोध से जूझने के लिए 'प्रयोग' हुए। वस्तु और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में प्रगतिवाद को 'प्रयोग' ने धराशायी करने की चेष्टा की। उसकी जीवन दृष्टि के साथ भी 'प्रयोग' समझौता नहीं कर पाया। प्रयोगवाद को जीवन का वह बेडौल अकाव्यात्मक रूप भी अच्छा नहीं लगा जो प्रगतिवादी वस्तु-विधान से उभरता था। उसमें 'अहं' और उसके बदलते हुए सन्दर्भों की एक मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक योजना है। 'प्रयोग, शब्द मुख्यतः शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र से ग्रहण किया गया। इसका अर्थ है, मूल वस्तु को विविध सन्दर्भों और स्थितियों में रखकर परिणामों का अध्ययन और कथन। 'अहं' के संबंध में यही कार्य साहित्यिक प्रयोगों का लक्ष्य था। शब्द या प्रतीक, प्रेषण और अभिव्यंजना जब सुनिहित अर्थों और भाव-बोधों से संयुक्त हो जाते हैं, तो उनके द्वारा नवीन परिपार्श्व को व्यंजित करना असम्भव प्रायः हो जाता है। उन प्रतीकों और शब्दों के साथ जिन-जिन अर्थों का सुदृढ़ संयोग हो जाता है और ग्राहक की मनोवृत्ति इस संयोग को शाश्वत मानने लगती है, तब नवीन प्रयोग ही वस्तु और शिल्प को इस कारा से मुक्त कर के नवीन गति और दिशा प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार 'छायावाद' और प्रगतिवाद दोनों को असफलता और उसकी ध्वंस-सामग्री को लेकर नवीन आवश्यकताओं और प्रभावों से प्रेरित होकर, हिन्दी के क्षेत्र में 'प्रयोग' हुए।

'नई कविता' की पृष्ठभूमि में सक्रिय प्रयोगशीलता है। प्रयोग के परिणामों की नवीनता इसमें व्याप्त है। नई कविता अभी विवाद से मुक्त नहीं हुई। व्यक्तिगत रूप से कुछ कवियों का मूल्यांकन भी हुआ है : होने लगा है, पर समग्र रूप से इस विद्या का स्वागत नहीं हुआ। विरोधी स्वर उठा, उनसे जो अधिक से अधिक छायावाद के साथ समझौता कर पाए थे : 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास, या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व नहीं।'[१] उतना ही कड़ा स्वर नई कविता के समर्थकों का है। 'दकियानूसी ख़यालात रखते हैं और नयापन जिन्हें मर्यादा-भग करने का लक्षण दिखलाई पड़ता है, ऐसी दलीलें उन्हीं की हैं।'[२] एक और स्वर सुनिये : 'आस्वाद ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक संस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है। जिनके पास ये चीजें नहीं, वे उसका आस्वादन करने में असमर्थ रहते हैं।'[३] फिर वही पहला स्वर बोला : 'भूलभुलैया जैसी शैली, नग्नवासना की कुरूपता को छिपाने के निमित्त शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग, अनगढ़ता, स्वर संगीत विहीनता—ये सब मिलाकर उसे बेकार साबित करने के लिए यथेष्ट हैं।' इस प्रकार नई कविता का क़ाफिला अभी ऊँची-नीची घाटियों से गुज़र रहा है : अभी उसे चौरस धरातल पर आकर अपनी गति को संतुलित करनाहै।

१. युग-विश्लेषण—

नई कविता के कवि की दृष्टि में 'दुनियाँ कुछ चिपचिपायी हुई सी चीज़ हो गई है।' अथवा 'दुनियाँ कुछ फुफुन्दियायी सी चीज़ हो गई है।'[४] वास्तव में आज का संसार कुछ अद्भुत सा हो गया है। वैज्ञानिक विकास ने जहाँ जीवन और जगत् के नवीन रूपों की सम्भावना को जन्म दिया है, वहाँ वर्तमान जीवन के रूप को धुँधला और अस्पष्ट बना दिया है। वस्तु-जगत् की नवीन खोजों ने एक ओर मनुष्य की सेवा में समस्त प्रकृति को लगा दिया है, दूसरी ओर मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध को बिलकुल बदल दिया है। प्रकृति के शुद्ध रूप के प्रति आज हमारी दृष्टि इतनी प्रभावित नहीं है, जितनी उस प्राकृतिक सामग्री के औद्योगीकृत रूपों की ओर। आज मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो गया है कि समस्त प्रकृति का आर्थिक दृष्टि से रूपान्तर किया जा सकता है। शुद्ध रूप में वैज्ञानिक उन्नति मनुष्य को चिन्तित नहीं बनाती। पर, इतना भी सत्य है कि वैज्ञानिक उन्नति के इस युग में मनुष्य सन्तुष्ट नहीं है। विश्व के साहित्य में विज्ञान के भय-चित्र जितने उतरे हैं, उतने उसकी उपलब्धियों के नहीं। न जाने क्यों आज के मनुष्य का यह विचार दृढ़ होता जाता है कि विज्ञान की उन्नति से उपलब्धियाँ तो कम ही होंगी : वह खायेगा अधिक। प्रकृति के औद्योगीकरण के

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० १५
२. चन्द्रदेवसिंह अधीर, कविताएँ, ५७, पृ० घ
३. समालोचक, जुलाई ५८, पृ० २३ : श्री सौमित्र का 'नई कविता : आस्वादन की समस्या' लेख
४. रघुवीर सहाय, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २१ जुलाई, ५७, सम्पादकीय में उद्धृत।

परिणाम स्वरूप आर्थिक शोषण, यांत्रिक परतंत्रता, विस्तारवाद और विनाश की सम्भावनाएँ जितनी आज हैं, उतनी सम्भवतः कभी नहीं थीं। मनुष्य विज्ञान की इस अमानवीय गतिविधि से भयाक्रान्त हो गया है। उसे अन्धकार ही अन्धकार दिखलाई पड़ता है : 'दृग देख जहाँ तक पाते हैं, तमका सागर लहराता है।' आज मनुष्य को—सामान्य जन को—अपना अस्तित्व निरर्थक और अनिश्चित लगता है। यह भय-ग्रन्थि केवल दो महायुद्धों और तृतीय युद्ध की सम्भावना से ही निर्मित नहीं हुई। समग्र रूप से वैज्ञानिक प्रगति, मशीन की निरंकुशता और प्रकृति के प्रति मानव का वैज्ञानिक दृष्टिकोण इसके लिए उत्तरदायी है।

पर, मनुष्य आज जितनी महान् आशाओं से भरा-पूरा है, उतना वह कभी नहीं हुआ। उसका विश्वास है कि वह समस्त विकास मनुष्य के अनुकूल भी मोड़ा जा सकता है। सत्य और प्रेम का असीम विस्तार भी इसके सहारे हो सकता है। वह समय भी आ सकता है जब मानव-मानव के अधिक समीप होगा। और विज्ञान सम्भवतः अन्त में करेगा भी ऐसा ही। उसे यह भी विश्वास है कि शोषण और नाश की शक्तियाँ समाप्त होकर रहेंगी। वह यह भी समझता है कि इस युग में वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने-समझने की मनुष्य को आदत नहीं है। सत्यानुसंधान की पद्धतियों में भी प्रचुर विकास हुआ है। आज मनुष्य अपने ऊपर ही प्रश्नचिह्न लगा कर सोचता है। इतिहास के पृष्ठ कितने ही छुपे हुए लेख उगल रहे हैं।

एक शब्द में कह सकते हैं कि आज का मनुष्य एक द्वन्द्व-स्थल है जहाँ भय-आश्वासन, आशा-निराशा, विश्वास-अविश्वास आदि का द्वन्द्व मचा है। आज का कवि विश्व के इस परिवेश से बच नहीं पा सकता। पर, अभी स्वर कुछ चिपचिपाया ही अधिक है। उसमें भय और निराशा ही अधिक भयंकर रूप से आई हैं। कारण यह है कि अभी द्वन्द्व की प्रतिकूल शक्तियाँ ही विजयी हो रही हैं।

यह विज्ञान की सामान्य प्रभाव-सरणि रही। जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, नगेन्द्र जी के शब्दों में 'हिंसा-अहिंसा' प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद का और अर्थनीति में पूँजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का...कुहराम मचा हुआ है।" यह समस्त ऊहापोह वैज्ञानिक हलचल की ही प्रतिच्छाया है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् समस्त संसार एक आहत सिपाही की भाँति कराह उठा। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की भी स्थिति अव्यवस्थित हो गई। राष्ट्र के हाथों में अधिक से अधिक शक्ति भी आई और नवीन उत्तरदायित्व भी। पर, किसी गम्भीर और स्वस्थ जनतांत्रिक परम्परा का अभाव रहा और एक साथ ही पुनर्निर्माण के इतने कार्य एक साथ सामने आगये कि राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक सन्तुलन रखना कठिन हो गया। हम अपने प्रति इतने ईमानदार भी नहीं रहे। भारत में तानाशाही तो नहीं है, पर जिन परिस्थितियों में राष्ट्र का नव जीवन हुआ है वे इसे लगभग पूर्ण रूप से निरंकुशता की ओर ले जा रही है। इसी अनिश्चित और संक्रान्ति के काल में नई कविता का जन्म हुआ।

२. परम्परा—

कोई परम्परा एक निश्चित दिन से आरम्भ नहीं होती। वह धीरे-धीरे अतीत के गर्भ से विकसित होती है। 'प्रयोग' से इतर नवीनता की खोज या प्राप्त नवीन आयामों की साहित्यिक परिणति जिस समय से आरम्भ हुई, उसी समय से नई कविता की धारा का उद्‌गम मानना चाहिए। नई कविता स्वतन्त्रता के पश्चात् ही आरम्भ हुई। प्रयोगवाद और नई कविता एक नहीं है। दोनों में कथ्य और रूप का स्पष्ट अन्तर है। वैसे नई कविता के शिल्पविधान में प्रयोगवाद के तत्त्व अवश्य ही आए हैं। उसकी भाषा भी व्यक्तिगत जटिल प्रतीकयोजना के बोझ को कुछ फेंक सकी। प्रगतिवाद में भी जो कुछ ग्राह्य और स्पृहणीय था, नई कविता ने वह भी सहेजा-सजाया। सबसे बड़ी बात यह है कि 'वाद' की परम्परा—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद से हिन्दी कविता को इसमें मुक्ति मिली। इसने कथ्य को व्यापक और वादनिरपेक्ष बनाने की साधना की है। इसका कथ्य अपने समग्र परिवेश में स्थित मानव बन गया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की एक स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप में नई कविता को लेकर चला जा सकता है।

३. जीवनदर्शन : काव्य-दर्शन—

नई कविता के केन्द्र में मानव है। आधुनिक युग में मानव को अनेक अन्त-र्बाह्य संघर्षों को झेलना पड़ा है। इसके बीच मानव के जो रूप-कुरूप विकसित हुए हैं, वस्तुतः वे ही नई कविता की वस्तु के अन्तर्गत हैं। यह नहीं कि मानव के पशु-स्तरीय या मूल मानव-मन के शाश्वत संघर्षों की इस धारा में उपेक्षा हुई। पर उनके आधुनिक सन्दर्भों को नवीन प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। मानव के साथ उसका परिवेश भी प्रधान होने लगा। परिवेश के चित्रण में कवि की सहानुभूति तो पर्याप्त है पर वह कोरी आदर्शवादिता नहीं है, जो जर्जर मानव को बहकाने के काम में आती रही। उसमें जाग्रत यथार्थ का पुट है। समस्या अपने निजी रूप में सामने आती है: आरोपित आदर्शों से वह दब नहीं जाती। नई कविता मानव और मानवता में पूर्ण विश्वास रख कर चली है। मानव में ही उसका विश्वास है महा-मानव में नहीं। मानव जो अपने प्रति जागरूक है और अब वह बहक नहीं सकता। मानव का जो अपमान विज्ञान की अन्ध प्रगति, मशीन की निरंकुशता और युद्धों ने किया है, वह इस कवि को असह्य है। वह मानव को फिर से उसका खोया हुआ सम्मान दिलाना चाहता है, आवश्यक समझता है।

मानव परम्परा की कड़ी माना जाता रहा है। काल की दीर्घ परम्परा मानव के कंधों पर पैर रखती हुई चली जाती रही है। उसके अपने क्षणों का मूल्य महत्त्व काल की इस धारा में लुप्त होता रहा है। आज का कवि यह मान कर चलता है कि हमारे जीवन के कुछ स्फीत और महत्त्वपूर्ण क्षण इस प्रकार के हो सकते हैं कि उन पर युग निछावर किए जा सकते हैं। क्षण के महत्त्वांकन से भाव बोध व्यापक और विविध बना है। जीवन के इन क्षणों को इतने समीप से कभी नहीं देखा गया।

अज्ञेय जी ने 'क्षणवाद' सम्बन्धी अनुभूतियों का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में क्षणवाद में क्षणिकता का आग्रह नहीं है, क्षण का आग्रह है। क्षण के आग्रह में भी अनुभूति की प्राथमिकता का ही आग्रह समाविष्ट है। यूरोप के साहित्य में अस्तित्ववादी विचारधारा के कारण मृत्यु-साक्षात्कार के क्षण का वर्णन अधिक है। इसका कारण यह है कि इस क्षण में जीवन की तीव्रतम अनुभूति होती है। जीवनानुभूति का क्षण ही आत्यन्तिक है: शेष समस्त सन्दर्भ मात्र है।[1] 'जीवन की यह दृष्टि और इससे सम्बद्ध उसकी उपलब्धियाँ उन समस्त कुंठाओं का परिष्करण करती है जो अन्यथा रूप में हमें यथार्थ से वंचित करके जीवन को मात्र भटकाव में उलझाने में समर्थ रही हैं।'[2]

नई कविता ने लघु मानव की स्थापना की है। सभी के भीतर से मानवीय स्तरों के उभारने की चेष्टा इसमें मिलती है। महत् का युग एक प्रकार से समाप्त हो गया। सत्य किसी महामानव, किसी बड़ी घटना, और किसी बड़े प्रसंग में निहित नहीं है। वह तो आज क्षण-क्षण में, सैकड़ों छोटे खण्डों में बिखरा है। इन खण्डों को एकत्र संयोजित करने से ही सत्य का वास्तविक रूप खड़ा होता है। इस खंडित या अखंडित को लेकर आज अनेक विद्वान् चर्चा भी करते हैं। प्रगतिवाद एक विशेष विचार-बिन्दु के प्रकाश में अखण्ड आस्था रखता है। वही उसको उपजीव्य था। प्रयोगवाद निराशा, अनास्था और तड़प को ही मान कर चलता था। नई कविता में सभी क्षण, सभी खण्डित सत्य अपने समवेत स्वरों में मुखरित हैं।

मनोविज्ञान की खोजों ने हमारे भीतर के न जाने कितने रूपों का उद्घाटन किया है। हमारे भाव-बोध की नवीन गहराइयाँ अपने रहस्यों को लिए आज हमारे सामने खड़ी हैं। इन नवीन शोधों ने आज के कवि की दृष्टि को दिशा प्रदान की है। इस अध्ययन से व्यक्तित्व का रूप प्रकट होता है। नई कविता में व्यक्तित्वयुक्त व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। वह व्यक्तिवाद इसमें नहीं, जो व्यक्तित्व की अवहेलना करता है। युग के यथार्थ ने सौन्दर्यबोध के भी नए द्वार खोले हैं।

व्यक्ति की विवशता भी नए कवियों को मान्य है: वह भी यथार्थ है। वह पराजित भी है: उस पराजय को वह सुख से भोगता है। कारण यह कि पराजय एक व्यक्ति की नहीं है: प्रायः सभी समकालीन लोगों की पराजय है। उसकी कुंठाओं की भी यही दशा है।

संक्षेप में नई कविता का यही जीवन-दर्शन है। इसी दर्शन की पृष्ठभूमि पर नई कविता का अनुभूति-पक्ष खड़ा है। इसमें निराशा, पलायन, पराजय, वासना, कुंठा, व्यक्ति स्वातंत्र्य, अनास्था, क्षणवादिता, बौद्धिकता और वह सब कुछ है। जो मानव के अनुभव में आता है।

---

१. दे० रूपांबरा (भूमिका) पृ० १०, ११

२. लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ० ४

४. नई कविता का अनुभूतिपक्ष—

समस्त अनुभूतियाँ मानव-मन और उसकी परिस्थितियों पर केन्द्रित हैं। पुराने मान-मूल्य बदल गए हैं। कुछ लोग विगत परम्पराओं की समाधि पर अब भी आँसू बहाते हैं। अधिकांश ऐसे हैं जो वर्तमान से असन्तुष्ट हैं। नई आस्था अभी पूरी तीव्रता के साथ प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है। पर मानववादी मूल्य सर्वग्राह्य होते जा रहे हैं। आवश्यकता यह है कि भविष्य के प्रति आशावान् रहा जाय। नई कवितायें यदि असन्तोष-जन्य अनुभूतियाँ है जो आशापूर्ण भविष्य भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। जिन सामाजिक या धार्मिक संस्थाओं के प्रति मानव का रागात्मक सम्बन्ध चला आ रहा था, वह समाप्त ही हो गया। जीवन के नवीन यथार्थ से नए कवि को अनुभूति मिलती हैं। सभी सामाजिक मूल्य व्यक्ति की सापेक्षता में व्यवहार्य हो सकते हैं। रीति या व्यवस्था और उनको शाश्वत मानना व्यक्तित्व का अपमान सा लगता है। इनसे बचने के लिए आत्म-रक्षा का स्वर ऊँचा करना आवश्यक हो गया। विगत युगों में मनुष्य का भावनाओं के आधार पर भी शोषण होता रहा है। इनके आधार पर मनुष्य को यन्त्र बना कर चलाया गया है। आत्मरक्षा का इस स्थिति में एक ही उपाय है—बौद्धिकता। इस प्रकार नए कवि की अनुभूतियों के साथ बौद्धिक तत्त्व भी संग्रथित है। इन परिस्थितियों ने नवीन अभिव्यंजना की ओर कवि को उन्मुख किया। छायावादी या प्रगतिवादी शब्दावली उसकी नवीन मनःस्थिति का साथ नहीं दे सकती।

नई कविता में संवेदना-स्तर से रस-संचय होता है। संवेदना मात्र आन्तरिक नहीं, बाह्य भी है। मानव मात्र की अन्तर्वेदना हमारी संवेदना से सम्बद्ध हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति का समष्टिगत विस्तार भी होता है और समष्टि का व्यष्टिगत संकोचन भी। दोनों ही संवेदना-स्तर को पूर्ण करते हैं। मानव के व्यक्तित्व की सामूहिक चेतना भी भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।

जहाँ तक आज के जीवन-सन्दर्भ का प्रश्न है, यह वही नहीं है जो आज से २०-२५ वर्ष पूर्व था। नवीन सन्दर्भ से पृथक् विकसित नहीं होता। व्यक्तित्व और सन्दर्भ के बीच क्रिया—प्रतिक्रिया का सम्बन्ध रहता है। सन्दर्भ-व्यक्तित्व के प्रकाश में नए रंग ग्रहण करता है। सन्दर्भ में व्याप्त नवीन द्वन्द्वों के साथ नवीन अनुभव और नवीन रागात्मकता विकसित होते हैं। इन अनुभवों, और अनुभूतियों के प्रकाश में जीवन की नवीन व्याख्या जन्म लेती है। नई कविता में मानव के व्यक्तित्व और जीवन की व्याख्या और विवेचना का पक्ष भी प्रबल रहता है। यदि परिस्थितियाँ अत्यन्त जटिल होकर व्यक्तित्व को घोंटने लगती हैं, तो विद्रोह का स्वर भी फूट निकलता है। जर्जर अहं के साथ कवि की जो सहानुभूति जगती है, वह प्राण-पण से उसकी पुनर्प्रतिष्ठा में कृत-संकल्प हो जाती हैं। यही सहानुभूति को सक्रियता मिलती है। कल्पना वायवी न रह कर, यथार्थ विचार के आश्रित होकर अपना कार्य करती है। उसका कार्य वस्तु और शिल्प का अनुभवाश्रित और यथार्थ पर आधारित

संयोजन होता है। इस सबके साथ एक बौद्धिक जागरूकता भी बनी रहती है। यही नए कवि के अन्तराल और उसकी साधना का मनोवैज्ञानिक रूप है। बौद्धिक जागरूकता विश्लेषण को जन्म देती है। यह विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं है। इसके साथ अनुभव और अनुभूतियाँ सदैव लगे रहते हैं। विश्लेषण मृत परम्पराओं के असली रूप को प्रकट करता है और जीवन के सजीव सन्दर्भों के प्रति एक ललक भी उत्पन्न करता है। वस्तु-परिज्ञान संवेदना से निरपेक्ष नहीं रह सकता। कवि के संवेदना, अनुभव, ज्ञान, विवेक और विश्लेषण से युक्त अन्तर्मन में अनुभूति अपने स्वस्थ, सहज और सजीव रूप में विद्यमान है। उसमें जो तीव्रता है, वह बौद्धिक जागरूकता का और यथार्थ के स्तर-विश्लेषण का परिणाम है। उसका जो अभिव्यक्ति पक्ष है, वह इस प्रकार की अनुभूति की अपनी आवश्यकता है।

५. नवीन भाव-बोध—

नयी कविता का भाव बोध युग के समग्र साक्षात्कार से सम्बद्ध है। इसमें सत्य के कटु और सरल, दोनों ही रूप मिलते हैं। उसमें पलायन की प्रवृत्ति प्रायः नहीं है। 'नई कविता का भाव-बोध...रहस्य में छिपने के बजाय विवेक की आँच में तपना अधिक श्रेयस्कर समझता है।"[१] भाव-बोध के नवीन स्तरों की खोज भी नए कवि ने की है। इससे नवीन दृष्टि और नवीन मूल्य मिलते हैं। नवीन सत्यों के अन्वेषण के लिए वह कृत-संकल्प है। नवीन भाव-बोध 'निराला' जी के कुकुरमुत्ता से आरम्भ होता है। यह बौद्धिक है। भाव-बोध क्षणस्थ सत्य का है। इसलिए अधिक तीव्र और गहरा है। भाव-बोध के मानवीयकरण की ओर ही नए कवि की प्रवृत्ति है।

नई कविता का भावबोध परम्परायुक्त भावबोध से भिन्न है। कारण यह है कि वह 'आधुनिक' है। समस्त चिन्तन-क्रम नवीन है। आज का जीवन-सत्य वह आजके सन्दर्भ में ही देखना चाहता है। हृदय और संसार दोनों ही इसमें संम्पृक्त हैं। इसका लक्ष्य मात्र आत्मतुष्टि नहीं, आत्म-उपलब्धि है। आत्मतुष्टि पतनोन्मुख भी हो सकती है। जिन वर्जनाओं से छायावादी भावबोध भयभीत था, उनसे नया कवि नहीं। स्पष्टवादिता उसका धर्म है—चाहे कुछ को वह कटु लगे। यही नए कवि की ईमानदारी है। आज का कवि यह भी आवश्यक समझता है कि परम्परा-ग्रस्त भाव-बोध की स्वच्छन्द स्थापना करे। अराजकता या अनुशासन हीनता सत्यान्वेषण की साधना को तीव्र और जागरूक बनाने का साधन है। विवेक से भावबोध परमार्जित है। कहीं कहीं लगता है कवि भटक रहा है। पर यह सब अस्थायी निरीक्षण है। विवेक की सीमा से बाहर का भावबोध अस्वीकार्य है। सत्य को भी प्रयोगशील होना पड़ता है। प्रयोग एक बौद्धिक प्रक्रिया है। आज के युग में बौद्धिकता पाप नहीं है।

नई कविता का भावबोध समन्वय में विश्वास नहीं करता। समन्वयवाद के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है : 'यह समन्वयवाद छायावाद के 'गुडविल

१. लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ० ५८

मिशन' का भग्नावशेष हैं जिनकी न तो कोई धुरी है और न भविष्य है। राष्ट्रीय आन्दोलन का जीता-जागता राजनैतिक 'मुहावरा' आज साहित्य में प्रयुक्त हो रहा है, जिसका परिणाम केवल दिग्भ्रम पैदा करना है।'[1] भावबोध नया है और नई सम्भावनाओं से युक्त है। छायावादी कवि के मोह पर व्यंग्य करते हुए ये स्वर कितने शक्तिशाली हैं—

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो : देह, मन, आत्मा की रचना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो।

कटुता, अवसाद, निराशा भी कवि को अभिव्यक्ति की प्रेरणा और अनुभूति देते हैं। इनको भी नई कविता में स्थान मिला है। निराशा और अवसाद जब युग-जीवन की सापेक्षता में उतरते हैं, तो सत्याश्रित व्यंग्य और भविष्य के लिए सन्देश बन जाते हैं। भवानीप्रसाद मिश्र की गीत-फ़रोश' कविता में अवसाद व्यंग्य बन कर कितना प्रभाव-सम्पन्न हो गया है। इसमें विवशता का स्वर कितना देश-काल सापेक्ष है—

यह गीत रेशमी है यह खादी का
यह गीत पित्त का है यह बादी का
कुछ और डिजायन भी हैं, ये इल्मी—
यह लीजे चलती चीज़, नयी फ़िल्मी
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप
क्या करूँ मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूं
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।

जब युग की यथार्थता स्वीकार्य है, तो निराशा, पराजय और अवसाद से कैसे बचा जा सकता है।

६. सौन्दर्य-बोध—

सौन्दर्य-बोध भी नवीन परिवेश में ही स्थित है। परिवेश यथार्थ से ओत-प्रोत जीवन ही है। यथार्थ और विवेक के बीच सौन्दर्य-बोध और सक्रिय बनता है। सौन्दर्य के शुभ और अशुभ दोनों ही पक्ष अपने अपने स्थान पर सुशोभित हैं। नये कवि की दृष्टि में सौन्दर्य किसी मूल सत्ता की प्रतिच्छाया नहीं है। सुरूप और कुरूप में अनिवार्य सम्बन्ध मानकर नई कविता चलती है। दोनों ही जीवन के सत्य हैं। रहस्योन्मुख जिज्ञासा का नए सौन्दर्य-बोध में नितांत अभाव है। वह सजीव अनुभूति से पुष्ट है। सौन्दर्य जीवन की वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं है। यथार्थ ने कहीं-कहीं सौन्दर्य को चिह्नित कर देता है। जो सौन्दर्य अब तक कोमल और आकर्षक उपकरणों में देखा जाता था, वह श्रम-श्लथ श्रमिक में भी दिखाई पड़ने लगा। सौन्दर्य के

१. 'नयी कविता के प्रतिमान', पृ० ७०

परिप्रेक्ष्य में जो असुन्दर है, उससे नया कवि पलायन नहीं करता। उसके साथ वह सामंजस्य भी नहीं करता। असुन्दर को सुन्दर की सापेक्षता में सजा देता है। यहाँ भी विवेक इस सापेक्ष झाँकी का शोधन करता है। सौन्दर्य असुन्दर और जीवन के कठोर सत्य के साथ उपस्थित होकर इतना विचित्र हो गया है कि नई कविता का समस्त विधान असुन्दर ही प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि सुन्दर जीवनव्यापी होकर जीवन के यथार्थ और सत्य से बिभिन्न हो गया है। इसे सौन्दर्य-बोध का सीमा-विस्तार ही मानना पड़ेगा। सर्वेश्वरदयाल ने इस विस्तार को इस प्रकार व्यक्त किया है—

आज की दुनियाँ में
विवशता
भूख
मृत्यु
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती है।
बिना आकर्षक के
दूकानें टूट जाती हैं
शायद कल उनकी समाधियाँ नहीं बनेंगी।
जो मरने के पूर्व
कफ़न और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे...
ओछी नहीं है दुनियाँ
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उसका
सौन्दर्य बोध बढ़ गया है

इस व्यंग्य में आधुनिक सौन्दर्य-बोध समाया हुआ है।

असुन्दरता को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता है। यह भी सौन्दर्य-बोध का ही एक अंग है। सौन्दर्य-बोध के लिए असुन्दर एक आवश्यक तत्त्व है। सौन्दर्य का सम्बन्ध 'लघु' से हो गया है। यदि इसमें सौन्दर्य का प्रभाव दिखलाई पड़ता है तो इसलिए कि सौन्दर्य के भव्य और महान् से सम्बद्ध चित्रों से इस लघु' पर आधारित सौन्दर्य-चित्रों से तुलना करने लगते हैं। जिस प्रकार सत्य भी खण्डों में बिखरा हुआ है, उसी प्रकार सौन्दर्य भी खण्डित है। सौन्दर्य एक धारा है जिसका रूप लहर-लहर में निखरता है। यही रूप इस धारा का समवेत सौन्दर्य है। वह युग गया जब मानवीय करुणा में ही सौन्दर्य को सीमित कर दिया जाता था। आज जहाँ साहस है, शौर्य है, स्वाभिमान है वहाँ सौन्दर्य अधिक छलकता है। जब अपनी सीमाओं में बँधकर भी अपने स्वाभिमान को नहीं छोड़ते तो सौन्दर्य और भी खिल जाता है।

भारती की कविता में यह सौन्दर्य कैसा उभरा है—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय।
बड़े बड़े महारथी
अपने अपने पक्ष को असत्य मानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।

इसमें आत्मविश्वास का सौन्दर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य की सीमाओं मे विस्तार हुआ है। सौन्दर्य जीवन के सत्य और यथार्थ से विच्छिन्न नहीं रहा। इसका केन्द्र 'लघु' हो गया है। असुन्दर का तिरस्कार नहीं : यह सत्य के सन्दर्भ का ही एक भाग है।

८. नई कविता और जीवन का यथार्थ—

जीवन का सत्य ही सबसे बड़ा यथार्थ है। जीवन के प्रत्येक रूप में आस्था ही यथार्थ है। इस आस्था के पीछे यह विश्वास रहता है कि जीवन निस्सार नहीं है। जीने की इच्छा मनुष्य की मूलभूत इच्छा है। इसमें सरसता भी है और कटुता भी है। जीवन व्यापक भी है और प्रेरणामय भी। समग्र रूप में जीवन भोग्य है। जीवन का कोई तथ्य-सत्य, कोई क्षण मूल्य ही नहीं है। जीवन से निरपेक्ष सौन्दर्य निराधार है : इससे विमुख दर्शन थोथा है, धोखा है। जीवन का अधूरापन भी अपने में एक सौन्दर्य समेटे है। हमारी गलतियाँ और सीमाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक शब्द में, जीवन के प्रति आस्था सबसे बड़ा यथार्थ है। यह आस्था सक्रिय है। सक्रियता जीने में, समस्याओं से जूझने में प्रकट होती है। न यह अन्तर्मुखी और है न ऊर्ध्वमुखी। यह ठोस धरती से सम्बद्ध है। मनुष्य का व्यक्तित्व विशिष्ट होकर भी वर्ग-चेतना से संयुक्त है।

मानव का समस्त ऐतिहासिक विकास-पथ, उसके विकास-कालीन अनुभव और प्रयोग, उसका संघर्ष और निष्कर्ष सभी मानव-जीवन के गतिशील यथार्थ के परिचायक हैं। वेदना, कुरूपता, प्रतारणा भी उतने ही सशक्त यथार्थ हैं, जितने सुख, शान्ति, सुन्दरता आदि। विरोधी या बाधक तत्त्वों में भी जीने की प्रेरणा अन्तर्हित है। असुन्दरता हमारे बौद्धिक और रागात्मक विकास की सीमाएँ हैं।[1] इनसे भागना नहीं हैं। मानवीय सन्दर्भों के रूप में इनको भी स्वीकार कर के चलना है। वैज्ञानिक अनुसंधान जीवन के नवीन यथार्थ-स्तरों को प्रकट करते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के

१. लक्ष्मी कान्त वर्मा, नई कविता के प्रतिमान, पृ० १०६

प्रति हमारी दृष्टि रहस्यात्मक न होकर यथार्थ होती जाती है। पुरानी दृष्टि बदलती रहती है।

मानव जीवन को ईश्वरवाद नकारात्मक बना देता है : मानव जीवन ईश्वर प्रदत्त है और उसी से परिचालित है। मार्क्सवाद उसे निर्जीव कठपुतली बना देता हैं। वास्तव में मानव को आत्मनिर्णय का अधिकार विवेक प्राप्त है। अपनी संकल्प-शक्ति और धारणा-शक्ति से वह जीवन के यथार्थ से सम्बन्ध स्थापित करता है। यथार्थ की चुनौतियों को मनुष्य इन्हीं के आधार पर स्वीकार करता है।

यथार्थ के ग्रहण और चित्रण की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं। यथार्थ का शुद्ध चित्रण भी हो सकता है। अपने विशिष्ट गुणों से यथार्थ को प्रभावित करना और इस रूप में उसका ग्रहण दूसरा प्रकार है। तीसरा प्रकार है यथार्थ के चित्रण को किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम बना देना। तीसरा प्रकार वस्तु सत्य को नहीं देख पाता। उनकी दृष्टि में समाज-सत्य ही प्रमुख रहता है। व्यक्ति इस विधान में टूटता सा लगता है। नया कवि व्यक्ति में निष्ठा रखता है। उसे अपनी अपूर्णता का पूर्ण बोध है। गिरिजा कुमार माथुर की रचनाओं में अपूर्णता-जन्य असन्तोष है—

है अन्त हुआ जाता मेरा
इन अन्तहीन इतिहासों में
मुझ पर लम्बी छाया पड़ती
किसकी आधी आवाज़ भरी
मेरे बोझीले गिरते हुए उतारों में
मैं अधिकारी न होने वाली बातों का
मैं अनजाना, मैं हूँ अपूर्ण।

यह असन्तोष, कहीं कहीं व्यक्तिनिष्ठा और सामाजिक दायित्व के संघर्ष में, कहीं कुंठा में व्यक्त हुआ है। प्रगतिवादियों का यही स्वर था। नई कविता इन स्वरों से आगे बढ़ी है। इसने यथार्थ के स्तरों को समीप से देखा है। उसको उसके औचित्य के साथ स्वीकारा भी है। वह सब कुछ सहना चाहता है : भोगकर चलना चाहता है—

कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा ?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना,
इस महा जीवन सफर में अन्त तक कटिबद्ध :
सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा
मुझे हर आघात सहना
गर्भ निश्चल मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध। —कुँवर नारायण

नई कविता में सौन्दर्य और यथार्थ एक दूसरे के पूरक हैं। सौन्दर्य जीवन की सीमाओं में ही पनपता है। नवीन अनुभव यह हुआ—

कर्म-रत हो
स्वप्न मत देखो
कहीं उन्माद रह जाए न भौरों का
निरर्थक गीत उद्दीपन
इस गली के छोर पर बुनियाद डालो :
कोठरी के दीप की लौ
सेंकती ठंडा अँधेरा
इन्हीं पर्तों में कहीं सोया हुआ है
रूप का गोरा सवेरा —कुँअर नारायण

आज का कवि अपने सामने के यथार्थ से पूर्ण अवगत है। वह केवल द्रष्टा नहीं है : इतिहास के मोड़ों में सक्रिय भाग लेने वाला है। न कुंठाओं से अभिभूत है और न वर्जनाओं की परवाह करता है। वह अपने युग के यथार्थ के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है—

बीसवीं सदी की जटिल समस्याओं ने
मुझे उत्पन्न किया
अकाल मृत्यों के परिवार ने
मेरा लालन-पालन किया
शत-शत वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक
ग्रंथियों से मेरा निर्माण हुआ,
आगे-पीछे के युग ने
मुझे हैरत से देखा—
यह—यह क्या है ?
× × ×
कि मैंने अनुभव किया—
मैं तीनों देवताओं को सम्मिलित शक्तियों का
नया पुरुष रूपान्तर हूँ। —राजेन्द्र किशोर

कटुता को स्वीकार करके एक हो दृष्टि प्राप्त होती है। कटुता जीवन को उच्छृङ्खल नहीं बनने देती : उसे उत्तरदायित्व की ओर ले चलती है। आँसू भी आते हैं, पर ये कायतरता या दुर्बलता जन्य ही नहीं होते—

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता।

—विजयदेवनारायण साही

इस प्रकार यथार्थ समग्र रूप में सामने है। इसके प्रति कवि स्वाभिमान और आत्म-विश्वास को लेकर जागरूक है। यथार्थ का वह सब है जो प्रगतिवाद में था। कुंठा का यथार्थ भी है। पर यह माध्यम नहीं हैं। उसके प्रति नई कविता का दृष्टिकोण स्वस्थ और आशापूर्ण है। आधुनिक यथार्थ-बोध सम्पूर्ण जीवन के प्रति हमें आस्थावान् बनता है। आस्था अध्यात्म या दर्शन से पुष्ट नहीं है, वह सक्रिय है, सबल है। यह आस्था यथार्थ से उत्पन्न दर्द को नवीन अर्थों तक ले जाने के लिए तत्पर है। व्यक्तिगत चेतना सामूहिक चेतना को छोड़ कर नहीं चली—

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह सबका महत्त्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख-रख कर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है
सबने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सबका जीवन है भार
और सब जीते हैं
बेचैन न हो
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरना है।
तब एक ज्योति मिल जाती है
जिसके मंजुल प्रकाश में सबके अर्थ नये खुलने लगते

... ...

हर एक दर्द को नए अर्थ तक जाने दो। —धर्मवीर भारती

९. नई कविता में मानववाद—

नई कविता के केन्द्र में मानव है। प्रगतिवादी कवियों ने मानव-मूल्यों के ऊपर वर्गगत मूल्यों की स्थापना की थी। नई कविता ने इस दृष्टिकोण के प्रति प्रतिक्रिया की। नई कविता मानव विशिष्टता में विश्वास कर के चलती है, विशिष्ट मानव में नहीं। प्रत्येक कवि अपने अहं के प्रति जागरूक, निष्ठावान और रागपूर्ण है।[1] कवि को अपना कुंठा-जर्जर अहं दिखलाई पड़ता है—

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़े सी ताने-बाने सी बुनती
स्वर से, शब्दों से, भावों से
और वाणी से कहती-सुनती
तड़प तड़प कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती

---

१. अज्ञेय : "संक्षेप में यह कहूँ कि मैं व्यक्ति का अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ, समाज के प्रति भी। यह कोई नई बात नहीं। पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ और समाज के प्रति दायित्व को उसी से उत्पन्न।"

मेरी कुण्ठा क्यारी कुंती ।[1]

इस "शंकाकुल मन:स्थिति, भीतरी घुटन और दुविधा में वह नई शक्ति छटपटा रही थी जो एक ओर छायावाद की परम्परा से उद्विग्न थी तो दूसरी ओर प्रगतिवाद के आडम्बर से खीझी हुई थी ।"[2] एक ओर उसे अपना खाली मस्तक दिखलाई पड़ता है—

मस्तक इतना खाली खाली
लगता जैसे
हो कोई सड़ा हुआ नारियल
× × ×
वाणी इतनी खोखली हुई
ज्यों बच्चों की गिलबिल गिलबिल —भारती : जाड़े के शाम ।

कभी-कभी उसे अपने में—मानव में—पुरुषार्थ की कमी का अनुभव भी होता है ।

कभी रोया कभी बड़बड़ाया
कभी मुट्ठी बाँधी समाज पर
कभी नाराज़ हुआ राज पर
कभी स्वयं अपने पर झल्लाया । कभी साथियां पर ।
× × ×
बस वही नहीं बना
जिसके लिए माने जना
याने पुरुषार्थ ![3]

इतना सब यदि जीवन का यथार्थ है, तो पुरुषार्थ और आत्मविश्वास भी जीवन के यथार्थ के दूसरे पहलू को व्यक्त करते हैं । अज्ञेय जी के स्वरों में आत्मविश्वास देखिए—

ठहर ठहर आततायी ! ज़रा सुनले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहारले—
क्षण भर स्थिर खड़ा रहले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सहले—
नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी आज तुझको पुकार रहा मैं—
रणोद्यत, दुर्निवार ललकार रहा मैं—
कौन हूँ मैं ?
तेरी दीन, दुखी पददलित पराजित

---

१. अज्ञेय : निकष ३-४
२. लक्ष्मीकांत वर्मा : नई कविता के प्रतिमान, पृ० १४३
३. भवानीप्रसाद मिश्र, निष्कलंक संतान, 'आजकल', जनवरी, '६०

आज जो कि क्रुद्ध सर्प सा प्रतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।

इस कविता में एक ओर प्रबुद्ध शक्ति है और दूसरी ओर विवेक। कवि की अनुभूति 'मैं' का विस्तार कर के 'हम' तक पहुँच रही है। इन पंक्तियों में मानव की विशिष्टता का स्वर अन्तर्निहित है। 'मैं' का विस्तार मानव का ही विस्तार है। कवि 'मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित' कह कर मानव के व्यापक सन्दर्भ के साथ उसकी एकता की घोषणा कर रहा है।

यह नहीं कि नए कवियों में व्यक्तिगत अनुभव और अनुभूति मिलते ही नहीं। इनकी योजना इस प्रकार की जाती है कि साधारण जीवन की भावना से दूर न पड़े। अनुभव को एक ऐसे स्वाभाविक सन्दर्भ में रखा जाता है कि वह सामान्य बन जाता है। गिरिजा कुमार माथुर की एक कविता लीजिए—

आज अचानक सूनी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलावें
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग भरी उस मिलन रात में।

इसमें फैशनेबुल मैनरिज्म नहीं। एक कविता इसी प्रकार की नेमिचन्द्र जैन की देखिए—

यह मधुमास लजीला चुपचुप
तेरे उर के आँगन को
गीला कर-कर जाता होगा री
परिमल के मिठास से भाराकुल
यह बासन्ती बयार
उलझ उलझ खोल-खोल देता होगा री
तेरा कच संभार सुरभिमय
... ...
मैं एकाकी
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी।

इस प्रकार व्यक्तिगत संवेदना का स्वर भी अपनी सजीवता में उत्फुल्ल है। यह स्वर 'दूसरे तार सप्तक' तक इस रूप में सुनाई पड़ने लगा था। तार सप्तक का कवि वातावरण में अपने को रख कर पहँचानने की चेष्टा में है। युग के ध्वंस में उसे जीवन की खोज करनी थी: 'इसी ध्वंस मे मूर्च्छित हो कहीं पड़ी हो नई जिन्दगी, क्या पता?'

(भारती) उन कवियों में दृष्टि की व्यापकता भी मिलने लगी थी। रूढ़ परम्पराओं को तोड़ने की प्रेरणा भी इसमें थी। नये कवि ने इसे ग्रहण किया और सन्दर्भ को और भी मुखर बनाकर मानव और उसके जीवन को देखने-समझने का प्रयास किया। मानव की मुक्ति का प्रश्न आज जैसे बोध के छोरों को छू रहा है। आज उसका आत्म विश्वास चोट खाए साँप सा फुकार रहा है। कवि की साधना है कि मानव को अपना खोया स्वाभिमान और गौरव मिले। उन समस्त संस्थाओं और नियम-विधानों की नींवें हिल गई हैं, हिला दी गई हैं जो मानव के ऊपर दुर्वह भार बन कर लदे हुए थे। 'महामानव' और 'देवदूत' के आधार पर जो भटकाव मानव के लिए गढ़े गए थे, वे अब नए कवियों की चुनौतियो से झल्ला उठे हैं। 'लघु मानव' अपने को पहचान गया है। उसकी हुंकार—

हम छोटे नए लोग
खोजों के पीछे पागल हैं
अनस्पर्श छूने को व्याकुल हैं
अनगढ़ गढ़ने में रहते है हम।
आ—जमा रहे हैं वे रंग
जो उड़ पायें धूप में।
हम छोटे नये लोग नीव और सीढ़ियाँ। —पुरुषोत्तम खरे

महामानव की प्रतिमा टूट रही है। उससे सम्बद्ध परम्पराएँ और रूढ़ियाँ ध्वस्त होती हैं। यह इतिहास का एक नया क़दम है—

मूर्ति तो हटी परन्तु सामने डटा था प्रश्न चिह्न
मूँद लें वे आखें या कि प्रतिमा गढ़े नयी
हर अन्धी श्रद्धा की परिणति है यह खंडन
हर खण्डित मूर्ति का प्रसाद है यह प्रश्न चिह्न।

—भारतभूषण अग्रवाल

इस प्रकार महामानव का चमत्कार-पूर्ण रूप समाप्त हो रहा है। साथ ही 'धर्म' 'नियति' जैसे मूल्य भी धराशायी हैं और मानव पर विजयी हैं। उसकी विजय का रूप 'अनाम' की इस कविता मे देखिए—

शिव रहूँ मैं देह का हर पक्ष छू कर
मृत्यु तक मेरी विजय हो :
पी गरल जब-जब मरण सा व्योम नीला मैं लगूँ
तब तब उदय हो......
सूर्य संतति
तुम मुझे मेरे सृजन में पूछना
मैं कौन हूँ।

इस प्रकार 'लघुमानव' ने महामानव को धक्का दे दिया है। धर्म आदि की शिलाओं

को चूर कर दिया है। इस मानव की प्रतिष्ठा नई कविता ने की है।

१०. नई कविता और प्रेषणीयता—

बोध नया : यथार्थ नया : सन्दर्भ नया : वस्तु नई और रूप-विधान नया, तब प्रेषणीयता का प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। नई रुचियों से प्रेरित नवीन शिल्प के साथ मैत्री स्थापित करने मे कुछ समय लगता ही है। जान कौपर पोवीज ने एक बार लिखा था :[१] कोई ऐसी कलाकृति सामने आजाये जो बिल्कुल असाधारण हो, या किसी ऐसे साहित्यिक परिणाम को समझना-ग्रहना आवश्यक हो उठे जिसे पहले कभी जाना न हो, तब यह स्वाभाविक है कि हमारी अभिरुचि एक अशान्ति और घबराहट-सी अनुभव करने लगे। सचमुच, कभी-कभी तो बडी पीड़ा और आन्तरिक व्यथा तक हुआ करती है। वास्तव में यह सब अनिवार्य है। कुछ भी अनुचित या अयुक्त इसमें नहीं। जो इससे द्योतत होता है वह इतना ही कि उस नई कृति की सृजन-शक्ति हमें प्रभावित कर रही है : हमारी अब तक की धारणाओं को शिथिल और आगे के लिए दृष्टिपथ का विस्तार कर रही है। ऐसा जब होगा तब हमारे मन और बुद्धि के क्षेत्र में एक विशिष्ट उत्तेजना आयेगी ही। इतना ही नहीं, हमारी अनेक वैयक्तिक दम्भ-भावनाओं को मानो कोई चीर-चीर तक देगा। पर यह तो अभिरुचि के भाव और स्वभाव मे ही आता है।

साहित्य के समाज-वैज्ञानिक अध्येता भी दुरूहता के व्यापक तत्त्व को देख कर स्तब्ध हैं। बीसवीं शती के साहित्य की यह विशेषता किसी से छिपी नहीं है।[२] इसमें सन्देह नहीं कि नई कविता की भाषा और उसका प्रतीक-विधान सब अनगढ़ और खुरदरे से लगते हैं। पर यह स्वाभाविक है। हम उन पूर्वकालीन ताजमहलों से इस 'लघु' पर जीवनोपयोगी घर से तुलना करते है। हम पूर्वकालीन रूपों की रेशमी झिलमिल को भूल नहीं पाते। ये ही पूर्वाग्रह बन जाते हैं। नवीन आग्रहों के लिए भाषा का नवीन शृङ्गार करना ही होगा। जब पुराने प्रतीकों के अर्थ और द्योतन रूढ़ हो जाते हैं, तो सर्वथा नवीन प्रतीकों की योजना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। इस नवीन विधान में कुछ समय तक दुरूहता बनी रहती है। सामान्यत: नई कविता की दुरूहता के निम्नलिखित कारण माने जाते हैं—[३]

१. नई कविता आज के मानव के जटिल संवेग को अभिव्यक्ति देती है।

---

१. Ortega Y Gasset says that the primary characteristic of 20th century art is its unpopularity; 'moreover, it is anti-popular. Any of its works automatically produces a curious effect on the general public. It divides the public into two groups : one very small formed by those who are favourably inclined towards it; another very large the hostile majority." New Jercy, Princeton University Press 19.8, P. 5.

२. ज्ञानपीठ पत्रिका, १९६३, वर्ष २ अङ्क ६ : पृ० २ से उद्धृत।

३. गंधदीप, १९६३, पृ० ४६ : रामदरश मिश्र

अतः उसमें दिखाई पडने वाली दुरूहता एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है।

२. नई कविता मुक्त आसंगों की कविता है। वह मनुष्य के सरल-तरल भावों और अनुभूतियों का मार्ग छोड कर उसके चक्करदार और पेचीदे आंतरिक व्यक्तित्व की गलियों में भटकती है और वहाँ प्राप्त होने वाले ग्राह्य सत्यों का उद्-घाटित करती है। मानव का अन्तर्मन विचारों और भावों से शृङ्खलित एक सुनि-योजित चेतनापुंज नहीं है, बल्कि वह तमाम बिखरी हुई असम्बद्ध चेतनाओं और स्मृतियों का समुदाय है।

३. नई कविता में बिंबों की प्रधानता है। नया कवि जो कुछ कहना चाहता है, बिंबों के माध्यम से कहता है। बिम्बों के प्रयोग से कविता में अधिक सांकेतिकता और मर्मस्पर्शिता आती है। बिम्बों द्वारा व्यक्त होने वाला प्रभाव अधिक पैना और स्थायी होता है। बिम्बों के क्षेत्र में भी कविता खण्डित बिम्बों को अधिक महत्व देती है।

४. नई कविता के समर्थकों का एक पक्ष यह भी है कि कवियों का अर्थ खुलना आवश्यक नहीं, वह तो एक प्रभाव मात्र छोड़ती है।

इतना निश्चित है कि नयी कविता के साथ प्रेषणीयता की समस्या बनी हुई है। वस्तु की जटिलता रूप की जटिलता में झलक आती है। कभी-कभी ऐसा भी आभास होता है कि कुछ नई कविताओं में जटिलता भावगत और अर्थगत न होकर शिल्पगत ही है।

खंडित-बिम्ब योजना के कारण भी दुरूहता अवश्य है। ये बिम्ब बीच-बीच में कुछ दूरियाँ छोड़ कर एक वस्तु के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करने के लिए नियोजित होते हैं। दूरियाँ दिशाओं के वैविध्य से मिल कर दुरूहता को जन्म देती हैं। इनमें एकसूत्रता भी नहीं रह पाती। मूल सूत्र को पकड़ पाना कठिन हो जाता है।

जहाँ तक शब्दावली का प्रश्न है, वह मिश्रित है। उसमें देशी विदेशी, बोलचाल के और वैज्ञानिक शब्द भरे पड़े हैं। नये कवि का यह विश्वास सा हो गया है कि कविता की भाषा और बोलचाल की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए।[१] इसलिए गद्य-भाषा और नई कविता की भाषा में अन्तर नहीं रह गया है। पर काव्यात्मक भंगिमा केवल भाषा पर निर्भर नहीं रहती। व्यंग्य का तत्त्व नई कविता में प्रखर है। इसकी योजना में सामान्य भाषा और विधान को ही एक बारीक भंगिमा दी जाती है। अज्ञेय जी की 'साँप' कविता का व्यंग्य देखिए—

साँप तुम सभ्य तो हुये नहीं, न होगे।
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूँ, उत्तर दोगे ?
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहाँ पाया।

नगर की सभ्यता पर यह करारी चोट है।

१. अज्ञेय : आत्मने पद,-कविकर्म, : परिधि, माध्यम, मर्यादा : पृ० १९५

११. उपसंहार—

नई कविता एक नवीन लता है। अनेक झंझावात यह झेल चुकी है : और भी अभी झेलने हैं। पर इसमें गति है, जीवन है और मनुष्य एवं उसके व्यक्तित्व के नवीन क्षितिजों का अन्वेषण है। उसके केन्द्र में मानव है—समग्र मानव, लघु मानव। जीवन में इसका विश्वास है—इसके एक एक क्षण के स्पन्दनों से इसे प्यार है। नैतिकता का स्वर बदल गया है : यह जीवन के यथार्थ से पृथक् कुछ नहीं हो सकती। नैतिकता आप्त स्रोत से आकर हमारे जीवन पर चढ़ बैठे, यह नये कवि को स्वीकृत नहीं। वह जीवन से अनुशासित होकर ही जीवन के साथ मिल कर चल सकती है। साथ ही, इस कविता-धारा की यह मान्यता नहीं कि समाज आवरण बिना ओढ़े या सामाजिक उत्तरदायित्व को बिना प्राथमिकता दिये कोई कविता महान् नहीं हो सकती। समाज के प्रश्न लघु-परिवेश के द्वारा भी व्यक्त किए जा सकते हैं। रूढ़ सांस्कृतिक स्तर भी तिरोहित हो चले हैं। सांस्कृतिक मोह और पूर्वाग्रह जीवन को जड़ बना देते हैं। संस्कृति का सम्बन्ध मानव की अनुभूतियों के स्तरों से सम्बद्ध है। संस्कृति ऐसी हो जो हमें जीवन के प्रति निष्ठावान बनाए। नई कविता के स्वरों में बौद्धिकता की भी गूँज है : विज्ञान युग-धर्म भी है। भावुकता की तरल रेखाएँ आधुनिक जीवन के कटु यथार्थ का बोझ संभालने में अशक्त हैं। हमको इसके लिये अपने भाव-बोध को बौद्धिक और विवेकपूर्ण बनाना ही होगा। पुरानी भावुकता की तरलता के खोने पर कुछ लोग पश्चाताप कर सकते हैं, पर भाव-बोध की नवीन आवश्यकताओं से कोई आँखें नहीं बन्द कर सकता। नई कविता स्वतंत्र और जीवन से अनुप्राणित सृजन-प्रक्रिया में विश्वास करती है। कुंठा, वर्जन या 'वाद' के आग्रह इसको जड़ीभूत नहीं कर देते। सृजन की प्रेरणा जीवन के ठोस यथार्थ से मिलती है। सृजन केवल अभिव्यक्ति नहीं है। कल्पना का कार्य है सन्दर्भ और परिवेश का एकांगीकरण। इस समन्वित रूप की संवेदना को सहज रूप में अभिव्यक्त करना कवि की विवशता भी बन जाती है और आवश्यकता भी। नई कविता का लक्ष्य है मानव के व्यक्तित्व को हर प्रकार का उभार देना। इसके साथ ही उसकी उखड़ी हुई चेतना को आत्मविश्वास और जीवनेच्छा का सुदृढ़ आधार प्रदान करना भी उसकी सृजन-क्रिया का उद्देश्य है। अहं के प्रति शत-प्रतिशत ईमानदार रहते हुये भी व्यक्ति समाज के उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह कर सकता है, यही जीवन-सन्देश इस कविता से मिलता है। कुल मिला कर यह भविष्य वाणी की जा सकती है कि यह लता मरेगी नहीं : बढ़ेगी, फैलेगी।

३१

वात्सल्य रस और 'सूर'

१. प्रस्तावना

सूर के पूर्व भी वात्सल्य रस के कवि हुए और उनके पश्चात् भी। पर, इस समस्त परम्परा में सूर का स्थान अन्यतम है। भारतीय साहित्य में ही नहीं, सूर के वात्सल्य का विश्व-साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह मात्र भावुकता और पक्ष-पात नहीं, यथार्थ है। सूर से पूर्व संस्कृत के कवियों ने भी वात्सल्यवर्णन किया है। आदि कवि वाल्मीकि ने भी इसका स्पर्श किया है, पर उनका वात्सल्य वर्णन एकाङ्गी हैं : केवल वियोग वात्सल्य को ही उन्होंने उभारा है। वस्तुतः वाल्मीकि करुण के कवि हैं। इससे वात्सल्य भी स्नात है। महाभारत में भी यत्र-तत्र वात्सल्य के चित्र हैं। पर यहाँ पुत्र-कामना,[१] पुत्र-सुख[२] का ही अधिक वर्णन हुआ है। सत्यवती अपने चिरवियुक्त पुत्र व्यास को स्तन्य से स्नात कर देती है।[३] पर, इस प्रकार के शुद्ध वात्सल्य के चित्र अति विरल हैं। श्री मद्भागवत में भक्ति-मिश्रित वात्सल्य रस का स्रोत अजस्र है।[४] यहाँ पुत्र जन्मोत्सव, बालक्रीड़ा, बालस्वभाव, मातृ-मनोभाव आदि

---

१. पाण्डु का पुत्र-कामना, महाभारत, आदिपर्व, ११६। १५-१७; शर्मिष्ठा की पुत्र-कामना, वही ८२।८६।

२. शकुन्तलोपाख्यान, आदिपर्व, ७४ ५३-५४

३. आदिपर्व, १०४.२५, २६

४. दशमस्कन्ध, अध्याय ५—२८ बाललीला का वर्णन।

के सुन्दर चित्र मिलते हैं। वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष कवि-कल्पना से सजीव हुए हैं। पर भागवतकार आलम्बन के अलौकिकत्व को याद करता रहता है। बाणभट्ट ने हर्ष के प्रति प्रभाकरवर्धन के वात्सल्य की सक्षिप्त पर मार्मिक अभिव्यक्ति की है।[1] कादम्बरी में अनेवत्र वात्सल्याभिव्यक्ति हुई है। इसमें विस्तार और रस-परिपाक दोनों ही उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार दण्डि रचित दशकुमारचरितम् में भी वात्सल्य के कुछ स्थल हैं।[2] कालिदास के प्राय: सभी ग्रन्थों में वात्सल्य-प्रेम का प्रदर्शन मिलता है। रघुवंश में दिलीप का रघु के प्रति वात्सल्य के और रघु की शिशु-क्रीड़ा के महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। साथ ही पुत्रैषणा और पुत्र-सुख भी वर्णित हैं। शाकुन्तलम् में शकुन्तला के प्रति कण्व का पुत्री-प्रेम तथा दुष्यन्त का सर्वदमन के प्रति वात्सल्य-प्रेम सजीव हैं। भवभूति ने भी लव-कुश के प्रति राम के प्रेम की अभिव्यक्ति की है।[3] स्वयंभू आदि अपभ्रंश के कवियों ने भी वात्सल्य का वर्णन किया है, पर अत्यल्प। हिन्दी में चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज के जन्मोत्सव और उसकी बाल छवि का वर्णन किया है।[4] जायसी ने रत्नसेन की माता का वियोग-वात्सल्य तथा बादल का रण-क्षेत्र-गमन इसी रस से भिगो दिया है। अन्य प्रेमगाथाकारों ने प्रबन्ध के आग्रह से वर्णन किया है। इस प्रकार वात्सल्य-रस की परम्परा तो अक्षुण्ण है, पर सूर के वात्सल्य वर्णन में जो सर्वांगीणता और मार्मिकता है, वह सारी परम्परा में नहीं मिलती। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि सारी परम्परा में प्रबन्ध-गत वात्सल्य ही मिलता है। वात्सल्य की अनुभूतियों को गीतों के रूप में अभिव्यक्ति नहीं मिली। वास्तव में सूर ने वात्सल्य को रस-दशा तक पहुँचाया। सूर को वात्सल्य-सम्राट् कहना अत्युक्त नहीं है। अन्य अष्टछापी कवियों और तुलसी ने भी वात्सल्य पर लिखा। पर सूर की कोटि सर्वोच्च ही बनी रही।

१ वात्सल्य का रसत्व—

संस्कृत के साहित्य शास्त्र में वात्सल्य रस की दृष्टि से आचार्यों के तीन वर्ग मिलते हैं: कुछ ने वात्सल्य को रस रूप में स्वीकार ही नहीं किया, कुछ ने अन्य रसों में उसका अन्तर्भाव कर दिया और कुछ आचार्यों ने उसके रसत्व को स्वीकार कर लिया। भरत ने रस-संख्या आठ ही मानी है। भरत के शान्त और वात्सल्य के उल्लेखों को प्रक्षिप्त माना जाता है। दण्डी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, जगन्नाथ, भानुदत्त ने वात्सल्य को रस-सूची में स्थान नहीं दिया।

दाम्पत्य-रति के अन्तर्गत वात्सल्य, मैत्री, सौहार्द, भक्ति आदि का समावेश नहीं हो सकता। इनके लिए कुछ आचार्यों ने 'प्रेयस' की कल्पना की। रुद्रद ने प्रेयान

१. हर्षचरित, ५।९६
२. उच्छ्वास ४, ५
३. उत्तर रामचरित ६।१३; ६।२२
४ पृथ्वीराजरासो, पहला समय

नामक एक दसवाँ रस माना।[1] प्रेयान् को वात्सल्य के पर्याय के रूप में माना गया है। 'प्रेयस्' शब्द का उसी अर्थ में हरिभक्ति रसामृत सिंधु में भी प्रयोग मिलता है। उद्भट ने रसवद् अलङ्कार के साथ प्रेयस का कथन किया है। कोई भी भाव उसमें समाविष्ट हो सकता है।[2] भामह के अनुसार 'प्रेयस' का स्थायी भाव प्रीति है। इसकी अनुभूति दाम्पत्य-प्रेम से पृथक् है। दण्डी ने भी इसको स्थायी प्रीति मानते हुए इसे रत्याश्रित शृङ्गार से भिन्न माना है।[3] दाम्पत्य प्रेम से पृथक् माने जाने वाले प्रेयस्, वात्सल्य, प्रीति और भक्ति[4] को भोज ने प्रेयस के अन्तर्गत ही रखा है।[5] दशरूपक-कार ने प्रीति और भक्ति का अन्तर्भाव क्रमशः हर्ष और उत्साह में माना है।[6] हेमचन्द्र के अनुसार वात्सल्य, स्नेह और भक्ति 'रति' में ही अन्तर्भूत है।[7] उनके अनुसार वात्सल्य भाव मात्र है, स्वतंत्र रस नहीं।

भोज ने वात्सल्य का किसी अन्य भाव या रस में अन्तर्भाव नहीं किया। वैसे उनकी दृष्टि में शृङ्गार ही मूल रस है। उन्होंने लिखा है कि शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, वीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त नाम के दस रसों को विद्वान् मानते हैं, पर हमारी दृष्टि से रसनीयता के कारण शृङ्गार ही रस है।[8] वात्सल्य रस को पृथक् मानने वाले आचार्यों की ओर इसी प्रकार का संकेत कृष्ण वर्मा ने भी किया है।[9] हरिपाल देव ने १३ स्वतंत्र रस माने हैं; इनमें ११ वाँ रस वात्सल्य है।[10] कवि कर्णपूर गोस्वामी ने वात्सल्य के रसत्व को स्वीकार किया है।[11] विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से वात्सल्य को स्वतंत्र रस कहा और इसके अङ्ग-उपाङ्ग की विस्तृत व्याख्या भी की।[12] विश्वनाथ ने इस रस को मुनीन्द्र सम्मत बतलाया है जिन्होंने उसे दसवाँ रस कहा है। भक्ति से सम्बन्धित आचार्यों ने भक्ति के पाँच भाव माने हैं: कान्त, वत्सल, सख्य, दास्य और शान्त। वत्सल भक्ति रस की स्वीकृति प्रायः सभी भक्ति के आचार्यों ने की है।[13] भक्ति के सभी आचार्यों ने इसका अङ्गाङ्ग-निरूपण भी विस्तार के साथ किया है। कहने की आवश्यकता नहीं

१. वी० राघवन, दि नम्बर आफ रसज्, पृ० १०७
२ वही, पृ० १०७
३. काव्यादर्श, २ २८१
४ दि नम्बर आफ रसज्, पृ० १०८-६
५ सरस्वती कण्ठाभरण, ५।१६६
६. दशरूपक ४ ७४
७. दि नम्बर आफ रसज्, पृ० १११
८. शृङ्गार प्रकाश १।६
९. मन्दारमरन्द चम्पू, दि० नम्बर आफ रसज्, पृ० १०६
१०. वही, पृ० ५५
११. वही, पृ० १०६
१२. साहित्यदर्पण, ३ २५१-२५४
१३ रूपगोस्वामी, हरिभक्ति रसामृत सिन्धु ५।६५-६८; मधुसूदन सरस्वती, श्रीभगवद् भक्ति रसायन, आदि।

कि सूर के वात्सल्य की रूप-रेखा भक्ति के आचार्यों के निरूपण से कुछ-न-कुछ प्रभावित है। वैसे उनकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत वल्लभाचार्य की बाल-भावाकुल भक्ति-पद्धति में है।

२. वात्सल्य : तत्त्व निरूपण—

कवि कर्णपूर गोस्वामी के अनुसार इस रस का स्थायी भाव ममता है। मन्दारचम्पूकार ने करुणा को वात्सल्य का स्थायी माना है। इसका स्थायी भाव वत्सलता ही मानी जानी चाहिए। आश्रय ये हो सकते है : माता-पिता, गुरुजन, परिजन आदि। आलम्बन पुत्र, पुत्री, शिष्य, शिशु तथा अन्य अनुकम्पेय। उद्दीपन में शिशु के गुण, चेष्टा तथा प्रसाधन आते है। प्राकृतिक उद्दीपनों में वे सभी वातावरण आ जाते हैं जिनमें बच्चे के प्रति प्यार बढ़ता है। आलिङ्गन, स्पर्श, चुम्बन, सस्नेह देखना, पुलक, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त, नवाँ सात्त्विक भाव स्तनस्राव भी माना गया है। आशङ्का, हर्ष, गर्व, आवेग, पुलक, स्मृति, विस्मय आदि सञ्चारी हैं।

वात्सल्य के मुख्य से दो भेद माने जा सकते हैं : वत्सल भक्ति रस तथा सामान्य वात्सल्य रस। इसका सम्बन्ध रति से भी कुछ विद्वानों ने जोड़ा है। भक्ति-रस से तो इसका सम्बन्ध है ही। प्रेम कारुण्य, आकांक्षा, वीर, और हास्य का मेल भी इससे होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से पुत्रैषणा या शिशु-रक्षा मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों में आती हैं। इस मूलवृत्ति को मनोवैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली माना है। इसके मूल में किसी ने मानवमन का परोपकारी भाव माना है। कुछ ने शिशु के साहचर्य से आत्यन्तिक आनन्द की पुनरावृत्ति को इसके महत्त्व का कारण माना है। वृद्धावस्था में अपत्य द्वारा की जाने वाली सेवा की कल्पना को ही कुछ मनःशास्त्री मुख्य स्थान देते हैं। वास्तव में अपत्य की अभिलाषा प्रत्येक दम्पति को होती है। आजीवन अविवाहित पुरुष-स्त्रियों में भी यह भाव देखा जा सकता है। मानवेतर प्राणियों में भी इसकी स्थिति देखी जा सकती है।

वात्सल्य भाव हमको एक अमायिक आनन्द प्रदान करता है। क्योंकि इसमें स्वार्थ या बदले की भावना की गंध नहीं होती। इससे आनन्द प्राप्त होने का एक और कारण है। अपनी संतान में मनुष्य अपनी आत्मा का विस्तार देखता है। इसी से 'आत्मा वै जायते पुत्रः' कहा गया है। मनुष्य अपने अस्तित्व को अमर रखने की कामना करता है। अपनी मृत्यु के अनन्तर भी उसे अपनी संतान में अपने अस्तित्व का नैरन्तर्य दीखता रहता है। अतः उसकी अमरैषणा भी तृप्त होती है। अपनी

संतति के विकास में उसे अपना ही विकास दिखलाई देता है।[1] पिता जिन महत्वाकांक्षाओं को अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सका था और अपूर्णता की पीड़ा का अनुभव कर रहा था, उनकी पूर्ति अपने पुत्र में वह देखता है। यह स्वात्य प्रेम (नार-सिस्टिकलव) की स्थिति है।[2] इन कारणों के अतिरिक्त बच्चा अपने नैज गुणों के कारण भी वात्सल्य का पात्र है। उसकी अमायिकता, सरलता, कोमलता आदि बरबस आकर्षित करने वाले गुण हैं। उसकी बोलचाल की मिठास में कौन नहीं रम जाता।

वात्सल्य भाव का आवेश स्त्री में अधिक माना जाता है। माता के रूप में उसका संसर्ग भी बालक के साथ अधिक होता है। मातृत्व नारी का सबसे अधिक गौरवमय अधिकार है। इससे वंचिता नारी एक कसक छुपाये रहती है। माता-पिता के वात्सल्य में प्रकृति का भी अभिप्राय सन्निहित है : इस भाव के साथ सृष्टि और उसकी क्रम बद्धता सम्बद्ध है। इसलिए सृष्टि के सूक्ष्मतम और आदि जीव अमीबा से ही इस भाव की उत्पत्ति है : अमीबा के स्वत. दो टुकड़े हो जाते हैं, एक नर, दूसरा मादा फिर उनके संयोग से सृष्टि चलती है। वात्सल्य भावना का उन्नयन और विस्तार सामाजिक जीवन में भी महत्वपूर्ण हो जाता है। प्राणिमात्र तक सहृदयता प्रसृत हो जाती है। राजा में भी वात्सल्य के आदर्श की कल्पना की गई है : राजा संततिवत् प्रजा का पालन करे ! संक्षेप में कहा जा सकता है कि वात्सल्य मानव-मन की एक अत्यन्त बलवती आदि वृत्ति है। प्रकृति का सृष्टि-अभिप्राय इसके साथ सम्बद्ध है। वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करके एक व्यापक क्षेत्र में सक्रिय होने की शक्ति और सम्भावना से यह युक्त है।

३. हिन्दी भक्ति साहित्य और वात्सल्य रस—

निर्गुण भक्त कवियों में वात्सल्य का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वैसे कबीर ने अपने को भगवान का बालक माना है :

हरि जननी मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा॥
सुत अपराध करै दिनकेते। जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥

---

१. "This factor consists of the process whereby the parent identifies himself with his child, as it were incorporates the child into his larger self and is thus able to take pleasure in the increasing powers of the child as if they were his own."
[Flugel. Psycho, A study of the Family, P. 168]

२. "The parent who seeks in his child the achievement of his own frustrated ambitions is expressing in his parental love a form of narcissistic love.
[David Beres Psycho analysis and social work, P. 71]

कबीर ने भगवान् पर मातृ-सुलभ वात्सल्य के आश्रयत्व का आरोप किया है। स्वयं अपने को आलम्बन के रूप में रखा है। आगे चल कर यह सम्बन्ध भक्त-वत्सलता में बदल जाता है। भक्त शिशु रूप में नहीं, भक्त के रूप में भगवान की वत्सलता का अधिकारी बनता है।

सगुण भक्त कवियों में क्रम उलट गया : भगवान् की शिशु रूप में भी आराधना की जा सकती है। भक्त स्वयं वात्सल्य का आश्रय बन जाता है। यद्यपि बंगाली वैष्णव आचार्यों ने वात्सल्य रस-परक भक्ति का निरूपण किया[1] पर बंगाली वैष्णव कवियों में माधुर्य का प्राधान्य रहने से, वात्सल्य की कलात्मक परिणति न हो सकी। विद्यापति के काव्य में भी माधुर्य-गत संवेगों का ही आकलन मिलता है। प्रेमगाथाकारों ने प्रबन्ध की आवश्यकता से प्रेरित होकर वात्सल्य का चित्रण किया है : वस्तुत उनका मुख्य रस शृङ्गार ही है। अष्ट छाप के कवियों में सूर के पश्चात् परमानन्ददास का स्थान है। इन्होंने भी वात्सल्य रस से अपनी वाणी का शृङ्गार किया है। तुलसी ने राम और कृष्ण दोनों के वात्सल्य पर लिखा है। पर उनका मुख्य रस दास्य-भक्ति है। अतः वात्सल्य मुख्यतः प्रबन्ध की आवश्यकता के अनुसार ही है। उसमें रूप-वर्णन का प्राधान्य है। हिन्दी के भक्ति साहित्य मे सूर का स्थान ही इस दृष्टि से अन्यतम है।

४ सूर का वात्सल्य—

४·१ परिमाण—सूर ने वात्सल्य रस से आप्लावित ५८० पदों की रचना की है। परिमाण की दृष्टि से भी कोई कवि सूर से तुलनीय नहीं है। डा० श्रीनिवास शर्मा ने इन पदों का प्रसंगों के अनुसार विभाजन इस प्रकार किया है[2]—

पुत्र-जन्म : उत्सव : आनन्दोल्लास	:	४४ पद
विभिन्न संस्कारों के अवसर पर सुखानुभूति	:	१० ,,
बाल-छवि-वर्णन	:	३५ ,,
बाल-स्वभाव-चित्रण	:	४६ ,,
बाल-क्रीड़ा : चेष्टाएँ	:	७६ ,,
उलाहने	:	८२ ,,
मातृहृदय	:	१९५ ,,
वियोग वात्सल्य	:	८९ ,,
		५८०

इस तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सूर के वात्सल्य का केन्द्र मातृ-हृदय है। वस्तुतः वात्सल्य में आश्रय का महत्वपूर्ण स्थान होता है। आरम्भिक स्थितियों में आलम्बन मूक चेष्टाओं से युक्त होता है। उसकी वे चेष्टाएँ न जाने कितनी आशा-

१. विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एषः वत्सलता मात्रः प्राक्तो भक्ति रसो बुधैः॥ हरिभक्तिरसामृत सिंधु

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस, पृ० ६८

अभिलाषाओं में माता के हृदय को उलझा देती हैं। जब वह बोलता है तो अपनी निजी, तुतली भाषा में। वह भाषा मातृहृदय में माधुर्य घोल देती है। वात्सल्य-वियोग से विक्षुब्ध मातृहृदय का चित्रण न जाने कितनी ज्ञात-अज्ञात पीड़ाओं का उद्घाटन करता है। इसलिए वात्सल्य में आश्रय का ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। उक्त पदों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसंगों में भी वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है। इनकी सूची डा० श्री निवास शर्मा ने इस प्रकार दी है—

होड़ लगाकर गोदोहन करते समय	:	३
यशोदा से खिलौने सँभाल कर रखने के लिए कथन	:	३
भौंरा चकडोरी खेल	:	१
गोवर्धन पूजा : गोवर्धन धारण	:	१६
वरुण से नंद को छुड़ाना	:	१
वृषभासुर वध	:	१
पनघट के उलाहने	:	१५
राधा के प्रति अभिव्यक्त वात्सल्य	:	५
		५२

इन प्रसंगों में भी मातृ-हृदय को ही केन्द्र माना गया है।

४. २. **जन्म : जन्मोत्सव**—महापुरुषों के जन्म की परिस्थितियों और तत्सम्बन्धी अभिप्रायों की एक परम्परा मिलती है। उनका जन्म मनोरम परिस्थितियों में भी हो सकता है। तुलसी के राम का जन्म ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ।[1] कालिदास की पार्वती का जन्म भी ऐसी परिस्थितियों में हुआ।[2] दूसरा अभिप्राय इसके विपरीत मिलता है। कृष्ण के जन्म की परिस्थितियाँ भीषण-भयंकर; भाद्रपद, कृष्णपक्ष, अर्द्धरात्रि, घनाच्छादित आकाश, सूचीभेद्य, अंधकार, कंसकीकारा दुर्निवार अनिष्ट की आशंका से उद्विग्न माता पिता, जन्म-जीवन पर मृत्यु की छाया। अनेक देवताओं और महापुरुषों के जन्म की ये परिस्थितियाँ भी मिलती हैं। लोक-प्रचलित नलोपाख्यान में नल का जन्म माँ की असहायावस्था में होता है। गणेशजी भी वनस्थ एकान्त गुहा में माता के साथ रहते हैं। हनुमानजी की माँ पर भी कलंक आरोपित करके उसके सास-ससुर निकाल देते हैं। उसी असहायावस्था में उनका जन्म होता है। देवकी भी वंदिनी थी। इस प्रकार एक लोकप्रिय अभिप्राय का प्रयोग यहाँ मिलता है।

जन्म होते ही कृष्ण को अपने माँ-बाप से पृथक् होना पड़ा। वह अपने मामा

---

१. सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन मनचाऊ॥
बन कुसुमित गिरिगन मनीआरा। स्रवहिं सकल सरिताऽमृत धारा॥ [मानस]

२. प्रसन्नदिक्पांसुविविक्त वातं,
शंखस्वनानन्तर पुष्प वृष्टिः।
शरीरिणां स्थावर जंगम नां,
सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव। [कुमारसंभव]

का शत्रु है। यूनानी लोकगाथाओं में, जियस भी अपने पिता द्वारा निकाला जाता है। क्रीट की एक गुप्त गुहा में उसका पालन-पोषण होता है। शिवपुत्र कुमार का पालन-पोषण भी अन्यत्र होता है। उसको पार्वती नहीं, अग्नि ने धारण किया। अन्ततः कृत्तिकाओं (षडमातृकाओं) ने उसका पालन पोषण हुआ। इस प्रकार कृष्ण-कथा का यह अभिप्राय पर्याप्त व्यापकता रखता है। कृष्ण का परित्याग करने के समय देवकी का वात्सल्य फूट पड़ता है—जब वसुदेव अपनी असहाय वस्था का वर्णन करते हैं—

'ऐसौ को समरथ त्रिभुवन में, जो यह बालक नेंकु उबारै।
खड्ग धरे आवै, तुव देखत, अपनें कर छिन माहँ पछारै।'
यह सुनतहिं अकुलाइ गिरीधर, नैन नीर भरि-भरि दोउ ढारै।

जिन वसुदेव और देवकी ने पूर्वजन्म में तपस्या करके यह अलभ्य वरदान प्राप्त किया कि कृष्ण बाल रूप में इन्हीं के यहाँ जन्म लेगा, उस वरदान का फल यों ही उनसे लिया जा रहा है, यह सोचकर देवकी का हृदय कराह उठा। तब कृष्ण का दिव्य रहस्य, और उनकी शक्ति प्रकट हुई। पहरेदार सो गए : बन्दी-गृह के द्वार मुक्त हो गये। माता ने कृष्ण का चतुर्भुज रूप देखा। इस प्रकार देवकी को तो सन्तोष हुआ, पर सारा वातावरण वात्सल्य के परिपाक के लिए उपयुक्त नहीं रह गया। अतः कृष्ण को गोकुल पहुँचा दिया गया। गोकुल में शिशु की रक्षा हुई : देवकी सन्तुष्ट है और पाठक भी। तुलसी और सूर की वात्सल्य-भावना में यह एक मौलिक अन्तर है। तुलसी के राम अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन अपनी माँ को कराते हैं। अतः कौशल्या के वात्सल्य का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। बालराम का रहस्यम रूप उसके वात्सल्य को मुक्त नहीं होने देता। देवकी की स्थिति कौशल्या जैसी है। पर कृष्ण एक ऐसी 'माँ' के पास जाकर अपना लीला विस्तार करते हैं, जिसे उनके रहस्यमय रूप का कुछ भी पता नहीं था।

४. ३. जन्मोत्सव—गोकुल वासियों को यह भी पता नहीं था कि कृष्ण का जन्म वहाँ नहीं हुआ। यशोदा और नन्द ही नहीं, सारे ब्रज के गोप-गोपी वात्सल्य के आश्रय बन जाते हैं। सारा ब्रज आनन्द से आप्लावित हो जाता है। यशोदा पुत्र-जन्म के हर्ष का वहन नहीं कर सकी। उसने नन्द को बुलाया—

जागी महरि, पुत्र मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर में न समाइ।
गद्‌गद् कंठ, बोलनहिं आवै, हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ॥

यदि अनुभाव और सात्विक मातृ-हृदय की कहानी नहीं कह देते तो, हम कैसे उसे जानते : शब्द तो पगु हो रहे हैं। उसके जन्म-जन्म के पुण्यों ने सघन घटा की भाँति रस की अविरल वर्षा की : यशोदा का अन्तर्बाह्य भीग उठा।

'झगरिन' और सारे नेगी पगली माँ के हृदय को समझते हैं। आज इसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है। सभी को पूर्ण काम कर सकती है। मा! झगरिन ने स्पष्ट कह दिया—

जसुदा नार न छेदन दै हौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं।

पहले तो यशोदा खीझी। नहीं खीझती तो वातावरण सजीव कैसे बनता। पर अन्त में उसने हार ही नहीं, थाल भर कर मोती भी दिए—

दीन्हौ हार गरें, कर कंकन, मोतिनि थार भरै।

बंदीजन, मागध और सूत प्रशस्ति गाने लगे। ऋषि-ब्राह्मणों ने आशीर्वादों की वर्षा की। ढाढ़ी ढाढ़िन ने गाजे-बाजे से घर को भर दिया। मालिनि सुगंधित पुष्पों के बन्दनवार बाँधने लगी। एक विचित्र ढाढ़ी भी आया। उसने रास्ते में याचकों को राज-सज्जा से युक्त जाते देखा था—

मोहिं मिले मारग में, मानो जात कहूँ के भूप।

पर वह तो कुछ नहीं माँगता। उसने कहा—

जसुमति-सुत अपनें पाइनि चलि, खेलत आवै आँगन।
जब हँसि कै मोहन कछु बोलै, तिहिं सुनि कै घर जाऊँ।

पर यह सब आज कैसे हो सकता है? बालकृष्ण को कुछ बड़ा तो होने दो! पर यह तो एक विचित्र ढाढ़ी है, टल ही नहीं सकता। वह तो तब तक यहीं रहेगा :

'द्वारैं रहौं, देहु इक मंदिर, स्याम-सुरूप निहारौं।'

यह तो बड़ा अनुभूतियों का धनी है। उस ढाढ़ी ने अपना नाम भी बतलाया—

'हौं तेरौ जनम-जनम कौ ढाढ़ी, सूरजदास कहाउँ।

तथा

'हौं' तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, 'सूरदास' मोहिं नाऊँ।'

इससे बड़ी अनुभूति की साधना क्या होगी। सूरदास की अनुभूति-समाधि में अद्भुत वात्सल्य के अनुकूल जन्मोत्सव मनाया जा रहा है। कवि तटस्थ नहीं है। आनन्दोल्लास में वह आग्रीव निमज्जित है।

ब्रज की एक से एक युवती और सुन्दरी गोपियाँ और गोप आज न जाने कितना नाचेंगे, गायेंगे। सम्भवतः युग-युग तक यह आनन्द उमड़ता रहेगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि गोपियों के मन में उच्छलित वात्सल्य युवतियों की शृङ्गार-सज्जा के रूप में प्रकट हो रहा है : शृङ्गार कर तो लिया, पर आनन्द के अतिरेक से ये पगलियाँ अपने को सम्हाल भी पायेंगी—

सुनि धाई ब्रजनारि सहज सिंगार किए।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिए॥
कसि कंचुकि, तिलक लिलार सोभित हार हिये।
कर कंकन, कंचन थार, मंगल साज लिये।
सुभ स्रवननि तरल तरौना, बेनी सिथिल गुही।
सिर बरषत सुमन सुदेस, मानौ मेघ फुही।

मुख मंडित रोरी रंग, सेंदुर माँग छुही ।
उर अंचल उड़त न जानि, सारी सुरंग सुही ।
ते अपनैं अपनैं मेल निकसीं भाँति भली ।
मनु लाल मुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चलीं ।
गुन गावत मंगल गीत, मिलि दस पाँच अली ।
मनु भोर भए रवि देखि, फूलीं कमल कली ।

ब्रज की बीथियाँ इन्द्र धनुप बन गई हैं। सभी गोपी-गोपों का समुचित सम्मान नन्द यशोदा ने किया। शोभा का समुद्र ही उमड़ पड़ा : प्रत्येक गली को उसकी लहरों का प्यार मिला—

सोभा-सिंधु न अंत रही री ।
नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बहीरी ।

स्वर्ग से देवता भी धरती के इस रंगीन यौवन को देख रहे हैं। गायों के थनों में दूध उमड़ने लगा। जमुना-जल भी उछलने लगा। इस उत्सव की रूपरेखा में दिव्य तत्त्व प्रायः प्रच्छन्न हैं। जन-समूह का आनन्दोल्लास एक ओर तो वात्सल्य से प्रेरित है। दूसरी ओर सारा ब्रज यशोदा के वात्सल्य के अभूनपूर्व आश्रयत्व पर सारा ब्रज आश्चर्यचकित है। कहीं भी सूर ने यह स्पष्ट संकेत नहीं दिया कि यह जन्मोत्सव इसलिए इतने बड़े पैमाने पर मनाया जा रहा है कि कृष्ण अवतरित ब्रह्म है। सारा वातावरण स्वाभाविक और मानवीय है।

जन्मोत्सव से सम्बद्ध लोकानुष्ठानों का भी सूर ने चित्रण किया है। इस समय दिव्य या वेद ध्वनि का स्वर सुनाई नहीं पड़ता। लोक-वाणी समस्त वातावरण को यथार्थता प्रदान करती है। यशोदा झगरिन से बिगड़ती है : तू जल्दी नार क्यों नहीं काट देनी; इसमें हवा भर जायगी।[1] नारियाँ दधि, रोचन, दूब लेकर नन्द-भवन की ओर झमकती हुई जा रही हैं। सभी के सिरों पर दूब रखी जा रही है।[2] ब्रज की नवेलियाँ रच-पच कर साथिया रख रही हैं। सात सींकें भी शकुन की लगाई जा रही हैं।[3] चतुर्दिक मंगल बधाए गूँज रहे हैं। 'सोहिला' भी गमक रहा है।[4] नाइन सुहागवतियों के पैरों में महावर लगा रही हैं और नेग भी एक लाख टके से कम नहीं लेगी।[5] बढ़ई पालना गढ़ कर ले आया—अगर चन्दन का बना और ईंगुर से रंगा।[6] इस प्रकार लोक सांस्कृतिक वातावरण का सूर ने सजीव बनाया है।

---

१ वेगिहिं नार छेदि बालक कौ, जानि बयारि भराई। सू० सा० पृ० २६२
२. इक दधि गोरोचन-दूब, सबकें सीसधरें। वही, २६६
३. द्वार सथिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ। वही, २६७
४. सोहिला ब्रज का एक लोकगीत है, जो जन्मोत्सव पर गाया जाता है।
५. नाइनि बोलहु नव रंगी (हो) ल्याउ महावर बेग।
लाख टका अरु झूमका (येउ) सारी दाइ कौं नेग। सूरसागर, १०।४०
६. अगर चन्दन कौ पालनौ (रंगि) ईंगुर ढार-सुढार। वही

४ ४. **पालना**—पालने पर आने के साथ ही सूर के वात्सल्य की दो धाराएँ पृथक्-पृथक् बहने लगती हैं। बालदेव के रूप में कृष्ण लोकोपकारक, दानवीयशक्तियों का नाश करता है। दूसरी ओर मानवीय धरातल पर अपनी माँ की वात्सल्य भावना का आलम्बन करके वह बाल-चेष्टाएँ और बाल-लीलाएँ करता है। सूर-साहित्य में वात्सल्य की यह गङ्गा-जमुनी बहुत महत्त्व रखती है। दोनों धाराएँ एक-दूसरी को वेग प्रदान करती हैं। अलौकिक दुष्ट-विनाशक लीलाएँ लोक-मानस को परितृप्त करती हैं। शीघ्र ही पाठक अपने को उस यशोदा के पास पाता है, जो दानवों के झमेले में पड़े कृष्ण को देखकर रो उठती है और अपने लाल को सुरक्षित पाकर दान-पुण्य देती है। यशोदा के साथ साधारणीकृत होकर वह अपने विजयोल्लास को एक अन्य प्रकार से भी देखता है। साथ ही यशोदा के प्राणाधार कृष्ण को सङ्कट में पड़ा देख कर, उसमें एक आश्चर्य कुतूहल, जिज्ञासा और एक चिन्ताकुल वेदना का अनुभव करता है। वास्तव में यह वेदना पाठक की अपनी नहीं है, क्योंकि उसकी उद्बुद्ध चेतना कृष्ण के अलौकिकत्व से ओत-प्रोत है। पर यशोदा-माता की दृष्टि से ही वह उसका अनुभव करता है।

यशोदा का कन्हैया पालने पर झूल रहा है। उसके आसपास आत्म-निर्गत लोरी गीतों की अनुगूँज है। एक-एक शब्द और यशोदा की एक-एक क्रिया में वात्सल्य की सौ-सौ फुहारें बरस रही हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।

कन्हैया भी अटपटी चेष्टाएँ कर रहा है। कभी वह आँखें बन्द करता है, कभी अधर फड़काने लगता है। कभी माँ की ओर अपनी भुजा फैलाता है, कभी किलकारी करता है। और उसी समय पूतना आगई। इतनी विशालकाय पूतना का वध कृष्ण ने कर दिया। पर यशोदा का वात्सल्य इस अलौकिक घटना से विचलित नहीं हुआ। उसका स्वर वही चिर-परिचित मातृ-स्वर है—

जसुमति बिकल भई, छिन कलना।
लेहु उठाइ पूतना-उर तें, मेरौ सुभग साँवरौ ललना।

पूतना के पश्चात् कृष्ण को मारने के लिए बकासुर आया। उसको भी बालकृष्ण ने पूतना वाला मार्ग दिखा दिया। पर यशोदा को कुछ ज्ञात ही नहीं कि क्या हुआ। एक बार कृष्ण की यह मुद्रा बनी—

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनें रँग खेलत।

यशोदा की लोरियाँ चल रही थीं और उसकी दृष्टि कृष्ण की मुद्रा पर थी। सारी सृष्टि में हलचल मची है: 'उछरत सिंधु धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ' से सूर ने प्रलय की सूचना दी। पर यशोदा के वात्सल्य को यह हलचल छू भी नहीं सकी। शकटासुर आया। बालकृष्ण के एक पदाघात से शकट-भञ्जन हुआ। पर 'उन ब्रज-

बासिन बात न जानी ।' यदि जान जाते तो वात्सल्य का क्या होता । यशोदा केवल सुत बालकृष्ण की छवि निरखती रही ।

४. ५. उलटना—यशोदा कृष्ण को सुलाकर गृह-कार्य में संलग्न हो गई । इतने में नन्द ने एक घटना देखी : कृष्ण खेलते-खेलते उलट गए । उन्होंने उल्लास से आतुर होकर यशोदा को बुलाया । जो यशोदा कृष्ण की मुद्रा से हलचलित सृष्टि और प्रलय संकेत से विचलित नहीं हुई वह कृष्ण के उलटने की घटना से आनन्दविभोर हो गई । इतनी बड़ी घटना हो जाय और वात्सल्य रस उत्सव का रूप धारण न करे ! —

महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूमन लागी ।
जिरजीवौ मेरौ लाड़िलौ, मैं भई सभागी ।
एक पाख त्रय मास कौ मेरौ भयौ कन्हाई ।
पटकि राल उलटौ पर्यौ, मैं करौं बधाई ।

फिर क्या था ब्रज-नवेलियों के समूह उमड़ कर नन्द-गृह की ओर आने लगे । घर-घर आनन्द-बधाए हुए । बालक की चेष्टाएँ न जाने वात्सल्य को कितना उद्दीपन करती हैं । माता उसके मुख को चूम लेती है और उस पर मन-प्राण से बलि जाती है । फिर अपने कन्हैया को यशोदा ने सुला दिया । पर मन एक अभिलाषा में झूलता रहा—

नन्द-घरनि आनँद भरी सुत श्याम खिलावै ।
कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे, कहि, विधिहि मनावै ।
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की, देखौं इन नैननि ।
कबहिं कमल मुख बोलिहैं, सुनिहौ उन बैननि ।

माता का हृदय इन अभिलाषाओं में उमड़ा पड़ रहा है । यदि उसका बस चले तो आज ही बालकृष्ण को बड़ा करले ।

फिर तृणावर्त का सङ्कट आया । वह यशोदा की गोद को खाली करना चाहता था । कृष्ण को उड़ा ले गया । जब तृणावर्त नष्ट हो गया, तब ब्रजयुवतियाँ कृष्ण को घर ले आईं । कृष्ण बच गया, यह सोच कर यशोदा ने संतोष-लाभ किया । लीला का अलौकिक पक्ष उसे विस्मृत हो गया । उसने सोचा किसी पूर्व पुण्य ने कृष्ण की रक्षा की है—

ना जानौं धौं कौन पुन्य तैं, को करिलेत सहाइ ।
वैसौ काम पूतना कीन्हौ, इहिं ऐसौ कियौ आइ ।

यशोदा कहीं इस रहस्य को सुलझाते-सुलझाते ब्रह्म-कृष्ण का ध्यान न करने लगे ! कैसे कर सकती है ? उसे किलकते कृष्ण के मुँह में दो दँतुलियाँ जो दीख गईं : 'हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली ।' जो कल्पना अलौकिकता की ओर जा रही थी, वह समग्र रूप से दूध की दँतुलियों पर केन्द्रित हो गई । नन्द को बुलाया गया । वात्सल्य भाव ने एक पर्व का रूप धारण किया । यशोदा तो दाँत

ही देख रही थी, पर उसे तीनों लोक मुँह में दिखलाई पड़ने लगे। पगली यशोदा! इसको अलाइ-बलाइ समझा, उसने। अब टोना-टोटका करती फिर रही है—

मुख में तीनि लोक दिखराए, चकित भई नँद-रनियाँ।
घर-घर हाथ दिखावति डोलति, बाँधति गरैं बघनियाँ॥

अब तो निश्चय होगया कि कृष्ण को अलौकिकत्व का कोई भी प्रदर्शन यशोदा से उसका वात्सल्य का आश्रयत्व नहीं छीन सकता।

४. ६. **नामकरण**—गर्ग ने कृष्ण का नामकरण किया। नामकरण क्या किया समस्त अलौकिकता का कथन कर दिया। समस्त ज्योतिष-विधान की अनुकूलता बतला कर माता यशोदा के भाग्य को सराहा। यशोदा ने अलौकिकता पर कोई ध्यान नहीं दिया।

४. ७. **अन्न प्रासन**—इस उत्सव के लिए एक शुभ दिन निश्चित किया गया। गीत-नाद होने लगे। अनेक व्यञ्जन बने; बड़ी ज्योनार हुई। यशोदा ने देखा कि सारे ब्रज की दृष्टि कृष्ण-छवि का पान कर रही है। यशोदा न जाने किन-किन आशंकाओं में उलझने लगी। उसने सारे रोग-बलाओं को अपने ऊपर बुलाया—

ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी॥

हो सकता है किसी की दृष्टि ही लग जाय। अतः माता मसि-बिंदु लगाने का टोटका करती है—

लालन, वारी या मुख ऊपर।
माई मेरेहि दीठि न लागै, तातैं मसि-बिंदा दियौ भ्रूपर॥

इस प्रकार यशोदा का आलंबन नित्य नवीन छवियों से विभूषित होने लगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता है, कृष्ण की छवि-रेखाएँ उभरती-विकसती जाती हैं। यशोदा का वात्सल्य और भी सघन होता जाता है। उसका कन्हैया उसके हृदय में और भी गहरा उतर गया। अब सूर भी उसके छवि-चित्र प्रस्तुत करने लगा। अब तक कवि-प्रतिभा यशोदा के मर्मोद्घाटन में लगी थी। पर अब कृष्ण इतना छविमान होने लगा कि उसका चित्रण बरबस होने लगा—और यशोदा अशेष रूप से पुत्र की अनिंद्य छवि में उलझने लगी—

लाल हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि-मन विहँसनि, भृकुटी विकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध दँतुलियाँ विहँसत, मनु सीपज घर कियौ वारिज पर॥

४. ८. **वर्षगाँठ**—समय जाते क्या देर लगती है! कृष्ण एक वर्ष का हो गया। सारा ब्रज वत्स कृष्ण की वर्षगाँठ का उत्सव मनाने के लिए उमड़ पड़ा। यशोदा का आनन्द-विनोद सीमाओं में नहीं रह सका। उसने कृष्ण को नहलाया : सजाया। कृष्ण ने वर्षगाँठ का डोरा खोला। विधि-विधान से यह उत्सव सम्पन्न कराया गया।

यहाँ तक कृष्ण की बाल-लीलाओं की आरम्भिक स्थिति समाप्त हो जाती है। इस आरम्भिक स्थिति में आश्रय के निरूपण में कवि की प्रतिभा रमी रही। आलंबन अभी अधिक सचेष्ट नहीं था। पर वर्षगाँठ तक आते-आते उसकी छवि निखरने लगी। आलम्बन की चेष्टाएँ कुछ सुनिश्चित हुईं। वात्सल्य की गति परिपाक की ओर होने लगी। आलम्बन की चेष्टाओं के चित्रण में उद्दीपन की सघनता अभिप्रेत है। इससे आश्रय का रूप व्यंजित होता है। आलंबन के अंग-प्रत्यंग आभूषणों से भी सुसज्जित हो गए।

४. ९. **घुटरवों चलना**—चलने की क्रिया से सूर के वात्सल्य की दूसरी स्थिति आरम्भ होती है। कृष्ण का श्याम वपु रज-रजित होकर और भी कांतिमान हो उठता है। कमर की करधनी और पैरों के नूपुरों की झंकार से यशोदा का घर झंकृत हो जाता है। यशोदा की सारी आशा-अभिलाषाएँ एक लता की भाँति फल-फूल रही हैं। नव-किसलयों से यह सुसज्जित होती जाती है। मक्खन भी एक हाथ में है और कुछ मुख से भी लिपटा है। सूर ने एक चित्र ले लिया—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।।

इसी अवस्था में बालकृष्ण को अपना प्रतिबिम्ब भी मणिमय आँगन में दिखाई देने लगा। उसके प्रति भी उसकी बालोचित प्रतिक्रिया होती है। अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिए बालकृष्ण दौड़ना चाहता है—

'मुख प्रतिबिंब' पकरिबे कारन, हुलसि घुटुरुवनि धावत।

इस अवस्था में जो विशिष्ट बालछवि प्रकट हुई, उसका पान यशोदा बहुविध करती है। सूर के आलंबन-चित्र इस समय गतिमय और वैविध्यपूर्ण हो जाते हैं। आलंबन की गति का क्षेत्र अब पालना या माता की गोद ही नहीं रहे। वह आँगन में आ गया है। उसके मूक आभूषण भी मुखर हो गए। यही नहीं कुछ तुतले वचन भी उसके मुख से निकलने लगे।

सूर ने यहाँ बालछवि के बड़े ही पूर्ण और सांग चित्र दिए हैं।

४. १०. **पैरों चलना**—माता की अभिलाषा बढ़ती ही जाती है। अब उसे अपनी एक अभिलाषा याद आई, 'कब धरनी पग द्वैक धरै।' अब यशोदा कृष्ण की तनक-तनक भुजाओं को पकड़ कर खड़ा होना सिखा रही हैं।

तनक-तनक भुज पकरि कै, ठाढ़ो होन सिखावै,
लरखरात गिरि परत हैं, चाल घुटुरुनि धावै।
पुनि क्रम-क्रम भुज टेकि कै, पग द्वैक चलावै।।

सूर ने यह सब देख लिया था। जब कृष्ण गिर-गिर पड़ता है, तब सूर एक अद्भुत स्थिति की कल्पना करता है। जिसने त्रिपद में समस्त ब्रह्मांड को नाप लिया था, वह भी आज इन शिशु-लीलाओं को कर रहा है। पर यह बात सूर इस प्रकार संकेत में

बतलाता है कि माता न सुन ले। कहीं ऐसा न हो कि उसका उमड़ता हुआ वात्सल्य बाधित हो जाय।

जब कृष्ण कुछ-कुछ खड़ा होने लगा, तब माता उसे चलाने का प्रयत्न करती है। चित्र इस प्रकार बनता है—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया॥

इस चित्र के साथ यशोदा की अनेक मनौतियाँ बिखर पड़ीं; 'कबहुँक कुलदेवता मनावति चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया।' अब कृष्ण आँगन में खेलने लगा। बलराम उसके साथी बने। अब किंकिणी के शब्द की अपेक्षा पैरों की पैंजनी अधिक आकर्षक हो गई। छवि को देखकर टोटका-टोना भी यदा-कदा करती है। कभी-कभी नंद-बाबा भी कृष्ण को चलना सिखाते हैं। इस प्रकार यशोदा की अभिलाषा पूर्ण हुई—

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करति ही, सो देखत नँद घरनी॥

सूर कभी-कभी यशोदा की दृष्टि को छिपा कर अवतार-गाथा या अलौकिकता का कथन भी कर देते हैं। यशोदा कृष्ण के चलने से संतुष्ट नहीं हुई। वह उसे नाचना भी सिखलाती है—

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी।
तारी दै-दै गावहीं मधुरी मृदु बानी॥

यह एक नवीन छवि है। सूर इसके भी कई चित्र अंकित करता है।

यहीं पर सारे ब्रज की गोपियाँ इस छवि की ओर आकर्षित होने लगी हैं। कृष्ण की छवि अब उनकी चर्चा का विषय हो गया। वे अपना तन-मन कृष्ण पर निछावर करने लगीं। कोई-कोई तो यशोदा से कह भी देती हैं—

मैं मोही तेरे लाल री।
निपट निकट ह्वै कै तुम निरखी, सुंदर नैन बिसाल री॥

इस प्रकार छवि का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता जाता है।

४. ११. मथानी प्रसंग— यशोदा दधि-मंथन करती है। कृष्ण मथानी पकड़ लेता है। इसमें समुद्र-मंथन का प्रतीक घटित हो जाता है। समुद्र-मंथन के समस्त शेषादि उपकरण घबराने लगते हैं। सूर थोड़ी देर इस अलौकिक-व्यंजना में रमता है। फिर उसे यशोदा खींच लाती है। सूर सब कुछ भूल जाते हैं। यशोदा उनसे [illegible] करने को कहती है और मक्खन देने की बात कह कर बहलाती है—

नंद जू के बारे कान्ह, छाँड़ि दै मथनिया।
बार-बार कहति मातु, जसुमति नंदरनिया।
नेकु रहौ माखन देउँ, मेरे प्रान धनिया।

अब कृष्ण का ध्यान कुछ इधर-उधर हुआ। सूर को एक और मनोरम झाँकी मिल गई। मथने की घर्घर ध्वनि के साथ कृष्ण नाचने लगा।

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ (री)।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग नूपुर, सहज मिले सुरदोइ (री)।

इस अवसर के भी कई छवि-चित्र सूर की कल्पना में बरस पड़े।

४. १२. कृष्ण का बोलना—सूर को सदा अधिक आकर्षक कृष्ण के अंगों की लघुता रही। 'तनक-तनक', 'छोटी-छोटी' आदि शब्दों से प्रकट होता है कि सूर की कल्पना में विराट का विरोध 'तनकता' में प्रकट हो गया है। आपको याद है एक बार यशोदा ने अभिलाषा की थी : 'कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।' तोतली वाणी तो कुछ दिन पहले ही सुनाई पड़ने लगी थी, अब तो कृष्ण—

कहन लागे मोहन मैया मैया।
नंद महर सौं बाबा-बाबा, अरु हलधर सौं भैया॥

अब चित्रों को मुखरता मिली। इस स्थिति में कई समस्याएँ पैदा हुईं। मक्खन के पात्र में कृष्ण को अपना मुख दीखा। वे नंदबाबा के पास शिकायत लेकर गए : कोई मेरा मक्खन खाए जा रहा है : 'या घट मैं काहू कौ लरिका, मेरौ माखन खायौ।' नंद ने जब सुनाई नहीं की, तो कृष्ण को लगा कि वे मेरा अनादर कर रहे हैं; तब मा के पास रोते-ठनकते आए : 'कह्यौ जाइ जमुमति सौं ततछन मैं जननी सुत तेरौ।' अब कृष्ण मक्खन रोटी माँगने लगा। नहीं मिलने पर या देर होने पर वह आँगन में लेट जाता था। तब माँ जैसे-तैसे बहलाती है। और आज एक और बात कृष्ण कहने लगा—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

ये समस्याएँ तो जैसे-तैसे सुलझीं। यशोदा ने एक दिन चन्द्रमा दिखलाया। और कृष्ण कहने लगा—

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबही, तेरी गोद न ऐहौं॥

पहले माता ने नई दुलहिन लाने का वचन देकर श्याम को बहलाना चाहा—

'हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।'
'तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं॥'

अन्त में पानी में उसकी परछाँई दिखलाई। पर कृष्ण की झगरी रुकी नहीं। तब यशोदा ने कहा : आकाश में एक पक्षी को भेज कर मैंने यह चन्द्रमा तेरे लिए मँगवाया है। जैसे-तैसे चंचल कृष्ण सोया। यशोदा ध्यान में डूबी : 'मेरौ आजु अतिहिं बिरुझानों!' पर बाल कृष्ण नहीं सोया। तब माता ने एक कहानी कही : 'एक राम थे…।'

४. १३. **बाल-छवि**— कृष्ण की बाल-छवि के सूर ने पात्रों के अनुसार अनेक चित्र अंकित किए हैं। गोपियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और यशोदा पर भी। यशोदा में वात्सल्य की वृद्धि हुई और गोपियों में प्रेम की।

४. १४. **बाल-क्रीड़ा**—पहले क्रीड़ा घर-आँगन में चलती रही। पीछे बड़ी कठिनाई से कृष्ण अपने घर की देहरी लाँघ सके : मा ने ही सिखा दिया। धीरे-धीरे घर से बाहर निकलने लगे : 'भीतर तैं बाहर लौं आवत।' बाहर अनेक बालक मिलते हैं, पर अभी पैर ठीक तरह जमते नहीं—

बिहरत बिबिध बालक संग।
डगनि डगमग, पगनि डोलत, धूरि-धूसर अंग॥

अब पैर तो ठहरने लगे। पर खेलना आया नहीं। अभी ग्वालों के दौड़ वाले खेलों में भाग लेने की शक्ति बालकृष्ण में कहाँ है। अतः बलराम इन्हें खेलने से रोकते हैं : 'बरजै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागैं गोड़।' पर कृष्ण कहाँ रुकने वाले—

तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जात॥

पहले तो माने नहीं। अब हार गए। कहने लगे : 'जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ो।' सखाओं ने ताली बजाकर खिल्ली उड़ा दी। रोते-रोते महाशय घर आए। माता ने पूछा : क्यों रोते हो ? कृष्ण ने कल्पना शक्ति से काम लिया—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ
मोसों कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।

पर शायद रंग कोई अधिक चढ़ा नहीं। तब कृष्ण ने कहा—

तू मोही कों मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।

और मोहन का मुखमंडल रिस से तमतमा गया। उस मुख-छवि पर यशोदा रीझ गई। बलभद्र को बुरा भला कहा। इतना ही नहीं अनजान, भोली मा ने एक शपथ खाई—

'सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।'

और कहा, तू अपनी गायें अलग कर ले। मेरा बेटा सबसे राजा है सारा गाँव तेरा है। चाहे जहाँ खेल कर—

न्यारौ जूथ हाँकि ले अपनौ, न्यारी गाइ निवेरौ।
मेरौ सुत सरदार सबनि कौ, बहुत कान्ह बड़ेरौ॥

कृष्ण ने फिर भी कहा : 'खेलन अब मेरी जाइ बलैया।' नन्द-बाबा भी पीछे खड़े होकर ये सारी बातें सुन रहे थे।

इस प्रकार आश्रय और आलंबन दोनों ही अब अपने-अपने स्थान पर सजग-सचेत हैं। एक दूसरे को छका देने के लिए तर्क देते हैं। आलंबन की मुखर चेष्टाएँ अन्त में इतनी अधिक उद्दीपक हो जाती हैं कि आश्रय रस-मग्न हो जाता है। विजय आलंबन की ही रहती है।

यशोदा इस बात से तो प्रसन्न है कि उसका छगन-मगन अब इतना बड़ा हो गया। पर, अब वह दूर तक खेलने निकल जाता है। माता का हृदय न जाने कैसी शंका-आशंकाओं से भर जाता है। कभी कहती है : 'मारेगी काहू की गैया।' अन्त में यशोदा अन्तिम अस्त्र चला देती है :—

'दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, बन में आए हाऊ।'

बन में हाऊ आ गया है। यह सुन कर बालकृष्ण सहम भी जाता है। आश्रय के तर्क न जाने कितने मधुर पर मिथ्या होते है। आलंबन की अविकसित मानसिक स्थिति में ये तर्क जो प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, उसका चित्रण सूर के वात्सल्य-वर्णन में प्रमुख स्थान रखते हैं। अब कृष्ण बड़ा हो गया, पर मा का आँचर पीना अभी नहीं छोड़ता। तब माता तर्क देती है—

जसुमति कान्हहिं यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति।।
ब्रज लरिका तोहिं पीवत देखत, हँसत लाज नहिं आवति।
जै हैं बिगरि दाँत ये आछे, तातें कहि समुझावति।।

इस प्रकार क्रीड़ा के प्रसंग में आश्रय और आलंबन का समान रूप से चित्रण किया गया है। बच्चों की मनोवृत्तियों का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

४. १५. माटी भक्षण—अब कृष्ण कुछ अपराध भी करने लगे। मिट्टी खाने की ओर सभी बालक प्रेरित होते है। कन्हैया ने भी मिट्टी के ढेले-पर-ढेले उड़ाए। साथ के ग्वाल-बालों ने इसकी शिकायत यशोदा से की। कन्हैया कुछ कम थोड़े ही है, उसने साफ मना कर दी। एक दिन यशोदा ने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया। अब यशोदा ने साँटी तो हाथ में ली और कृष्ण को धमकाना आरम्भ किया—

इक कर सौं भुज गहि गाढ़ें करि, इक कर लीन्हीं साँटी।
मारति हौं तोहि अबहिं कन्हैया, बेगि न उगिलै माटी।।

कृष्ण ने फिर भी अपराध स्वीकार नहीं किया। उसने अपना मुँह खोल दिया। यशोदा ने तीनों लोक 'तनक' से मुख में देखे। साँटी गिर पड़ी : मन में यशोदा आकुल हुई। उसने कृष्ण से मुख बन्द करने को कहा। उसने यह बात नन्द से कही। नन्द को विश्वास नहीं हुआ। वात्सल्य-बौरी यशोदा इस सबसे प्रभावित नहीं हुई। उसका हाथ दिखलाती फिरी—

घर-घर हाथ दिखावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी।

वात्सल्य की इतनी दृढ़ता वहाँ देखी जा सकती है कि अलौकिकता की प्रचण्ड आँधी भी इसे नहीं हिला सकती।

४. १६. उलाहने—कृष्ण का रूप और उसकी चेष्टाएँ जहाँ वात्सल्य का उद्दीपन करती थीं, वहाँ गोपियों में शृङ्गार-भावनाएँ भी उनसे जाग्रत होने लगीं। कृष्ण अब चोर हो गया। घर-घर जाकर माखन की चोरी करने लगा। वास्तव में गोपियाँ हृदय से चाहती थीं कि कृष्ण हमारे घर चोरी करने के लिए आवे। पर, वे

यशोदा को उलाहने देने भी आती थीं। उलाहना देना तो कृष्ण के दर्शन और उसके बत-रस के आस्वादन का बहाना था। कृष्ण के बालोचित तर्क भी अपनी सुरक्षा में सुनाई पड़ते हैं। जब पकड़े गए, तब कहते हैं—

'मैं जान्यौ यह घर मेरो है, या धोखे में आयौ।
देखत हौं गोरस में चीटीं काढ़न को कर नायौ॥

चोरी तो चोरी, कृष्ण दधि-भाजन-भंजन भी करता था। असमय बछड़े भी छोड़ देता था। न जाने क्या-क्या करतूतें ग्वाल मंडली से वह कराता था। अन्त में यशोदा को उपालम्भ देने गोपियाँ आई। यशोदा को कैसे विश्वास आए—

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जाने दधिकी चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनि जीभ करै किन थोरी॥

यशोदा के सामने कृष्ण की भी चढ़ बनी। उसने उल्टा आरोप लगाया कि तेरा बेटा मेरी ही मुरली चुराकर ले गया—

आँखें भरि लीन्हीं, उराहनौं देन लाग्यौ।
तेरौ ही सुवन मेरी मुरली लै भाग्यौ॥

अन्त में यशोदा को कृष्ण की माखन-चोरी पर विश्वास हो जाता है। जब कृष्ण को इस विश्वास का पता चलता है, तब कृष्ण साश्रु होकर अपनी बात कहते हैं। यशोदा का हृदय पिघल जाता है। सब अपराध हवा हो जाते हैं। माता के परिवर्तित हृदय की अभिव्यक्ति सूर ने इस प्रकार की है—

जननी के खीझत हरि रोए, झूँठहिं मोहि लगावति छगरी।
सूर स्याम मुख पोंछि जसोदा, कहति सबै जुवती हैं लँगरी॥

इस प्रकार माखन चोरी के उलाहने की क्रिया-प्रतिक्रिया में वात्सल्य के आश्रय और आलंबन के मनोरम रूपों का उद्घाटन होता है। वात्सल्य उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता है। अनेक पदों में वात्सल्य चरम पर पहुँच जाता है।

उलाहने केवल माखन-चोरी से ही संबंधित नहीं हैं, शृङ्गारिक भी हैं। कृष्ण शृङ्गारिक अपराध भी करने लगा। पर यशोदा की दृष्टि में वह नितान्त बालक है। वह इन बातों को क्या जाने। गोपी ने कृष्ण की शिकायत की—

बाँह पकरि चोली गहि फारी भरि लीन्ही अँकवारि।'

तब यशोदा कहती है—

मदमाती इतराती डोलै सकुच नहीं करै सोर।
मेरो कुँवर कन्हैया कहाँ तनक सौ, तू है कुचनि कठोर॥

कृष्ण भी अवसर पाकर गोपी की शिकायत इस प्रकार करते हैं—

खेलत तें मोहि बोल लियौ इहिं, दोउ भुज भरि दीन्ही अँकवारि।
मेरे कर अपने उर धारति, आपुनि ही चोली धरि फारि॥

४. १७. **मातृ-हृदय**—इस प्रकार सूर ने वियोग-वात्सल्य से पूर्व विविध बाल-लीला-विलास में क्रमशः आश्रय और आलंबन का विशद चित्रण किया है।

मातृ हृदय का सबसे बड़ा पारखी सूर है। "कहा जाता है कि सूरदास बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय हैं, मैं कहूँगा सूरदास मातृ हृदय का चित्र खींचने में अपना सानी नहीं रखते।"[1] सूर का यशोदा के हृदय के साथ पूरा तादात्म्य है। अन्य अवसरों पर यशोदा के अत्यन्त कोमलता और क्षणिक कठोरता से युक्त हृदय का सूर ने स्वाभाविक चित्रण किया है। उसका हृदय कितनी मधुर अभिलाषाओं से परिपूर्ण है: 'जसुमति मन अभिलाष करै।' यशोदा का हृदय जब लोक-विश्वासों और टोने टोटकों की शरण लेता है, तो स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। मंत्र, यंत्र, तंत्र, राई-नौंन उतारना, कुल देवता की मनौती, दान-पुण्य अदि कितने ही उपायों से माता का शंकालु हृदय पुत्र-क्षेम की योजना करता है। धूल-धूसरित कृष्ण की धूल को जब अपन अचल से से झाड़ता है, तब उसका हृदय का अनुभूति पूर्ण हो जाता है। कृष्ण को किसी बात पर राजी करने के लिए भोले, और झूठे-सच्चे तर्कों का आश्रय माता लेती है। आंख-मिचौनी में यशोदा कृष्ण को छुपे हुए बालकों का संकेत दे देती है। जब उसका कन्हैया विजयी हो जाता है तो गर्व से फूला नहीं समाती—

हँसि-हँसि तारी देत सखा सब भये श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहत जसोदा जीत्यौ सुत मोर॥

उलाहनों के समय उसके कोमल और कठोर हृदय की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर हुई है। एक दिन माता ने उसे ऊखल से बाँध दिया था। कृष्ण हिचकियाँ लेकर रोने लगा। गोपियों से नही देखा गया, बाल कृष्ण का यह अश्रु-प्रवाह। उन्होंने यशोदा से कहा: कृष्ण को छोड़ दो। कहो तो मक्खन हम घर से लाकर तुम्हें देदें। अब यशोदा का सारा रोष गोपियों पर उतरा। उन्होंने क्यों शिकायत की। अब भली आदिमिन बनती हैं—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायों, तनकहि माखन खात॥

कृष्ण के गोचारण के समय एक-एक क्षण कठिनाई से कटता था। यदि बिना कलेवा के कृष्ण गोचारण को चला जाय, तो मा के हृदय की बेचैनी वही जानती है। कृष्ण ने एक दिन झूठ-मूठ शिकायत कर दी कि समस्त ग्वाल मुझ से ही गायें घिरवाते हैं। माता उबल पड़ी—

"यह सुनि मात जसोदा ग्वालिनि गारी देत रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कों आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिंगाइ।"

कृष्ण ने गिरराज उठाया। यशोदा आश्चर्य चकित है। कन्हैया का हाथ दुख रहा होगा। उसे दबाती हुई अपनी छाती से लगाती है—

गिरिवर कैसे लियौ उठाइ।
कोमल कर दाबति महतारी, यह कहिलेति बलाइ॥

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य, पृ० १२०

यशोदा के अतिरिक्त सूर ने राधा की मा का चित्रण भी रुचि से किया है।

४. १८. **वियोग-वात्सल्य**—सूर ने संयोग वात्सल्य का चित्रण चरम पर पहुँचा दिया है। पर वियोग-वात्सल्य का प्रभाव उससे कहीं अधिक है। सयोग की उत्कटता वियोग के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। संयोग के बीच में भी वियोग के संक्षिप्त स्थल आते रहे। कालिय-दमन के लिए जब कृष्ण यमुना में कूद पड़ते हैं, तब भी यशोदा की विह्वलता देखने योग्य है। वह वियोग विस्तृत नहीं है। पर मार्मिकता में कोई कमी नहीं है। इस समय करुण वियोग-वात्सल्य की अभिव्यक्ति कवि ने की है। यशोदा की व्यग्रता देखिए—

'खन भीतर खन बाहिर आवति, खन आँगन इहि भांति।
सूर स्याम को टेरत जननी, नेकु नहीं मन सांति॥

वियोग वात्सल्य का दूसरा अवसर कृष्ण के मथुरा-गमन के समय आता है। जो यशोदा कृष्ण को दूर भी खेलने नहीं जाने देती थी, वह आज अपने छगन-गमन को मथुरा जाता हुआ देख रही है। वह मथुरा, जहाँ कृष्ण के जीवन के लिए अनेक संकट है। इस अवसर को चार भागों में बाँटा जा सकता है; मथुरा गमन का, नन्द आदि का कृष्ण के बिना ही लौट कर आ जाना, वियोग में कुछ समय बीत जाने पर नन्द-यशोदा का वार्तालाप, तथा उद्धव के आगमन के समय।

४. १८१. **मथुरा गमन के समय**—अक्रूर व्रज में आ गया। अपने प्रेम का कथन करके माता उनको रोकना चाहती है। कभी वह कहती है कि ये बच्चे असमर्थ हैं। ये राजदरबार के नियमादि भी तो नहीं जानते। पर यह पगली नहीं जानती कि उसके आँसुओं में डूबे ये प्रयत्न भी अब कृष्ण को नहीं रोक सकते। तब उसने सारे ब्रज को दुहाई दी—

जसुदा बार-बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै!

वह सब कुछ त्याग सकती है, पर उसका कन्हैया उसकी आँखों से ओझल न हो—

बरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहि बन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ॥

यदि यह चला जायगा, तो माता किसको हँस-हँस कर बुलायेगी। पर कृष्ण स्वयं चलने के लिए तैयार हैं। यह जान कर यशोदा को और भी दुख है। न जाने अतीत की कितनी बाल-क्रीड़ाएँ चल-चित्रों की भाँति उसके मन में तेजी से घूम रही हैं। भविष्य का सूची भेद्य अंधकार भी यशोदा की रूखी-सूखी आँखें देख पा रही हैं। इस सब में यशोदा की चेतना खो गई—

'सूरदास अवलोकि जसोदा धरणि परी मुरझाई।'

यशोदा का विश्वास है कि कृष्ण तो इतने निष्ठुर नहीं थे। पर अक्रूर ने कोई टोना कर दिया है। इसी से वे उनके साथ लगे फिरते हैं: बोलते भी नहीं। यशोदा इसी प्रकार अर्द्ध चेतनावस्था में थी। उसी समय किसी ने कहा: कृष्ण जाना चाहते हैं।

यशोदा पृथ्वी पर लोट गई। अब यशोदा को ब्रज उजड़ा हुआ दीख रहा है। यशोदा को निश्चय हो गया कि अब ये चले ही जायँगे। उसने कहा, एक बार तो देख लो! एक बार तो और मेरी छाती से लग जाओ। तुम्हारे जाने पर तो सारा ब्रज अंधकार में लीन हो जायगा—

मोहन नेकु बदन तन हेरो।
राखो मोहिं नात जननी को, मदन गोपाल लाल मुख फेरा॥
पाछे चढ़ो विमान मनोहर, बहुरो यदुपति होत अँधेरो।
बिछुरत भेंट देहु ठाढ़े ह्वै निखो घोष जनम को खेरो॥

'राखो मोहिं नात जननी को' में कितनी मर्मस्पर्शी, करुण व्यंजना है। कृष्ण वैसे चलते-चलते कह गए 'आवहिंगे दिन चार-पाँच में हम हलधर दोउ भैया।'

४. १८२. नंद का लौटना—कृष्ण के साथ नन्द बाबा भी गए। वहाँ जाकर कृष्ण ने कंस आदि को मार दिया। उग्रसेन राजा बने। माता-पिता को उन्मुक्त किया। नन्द तथा उनके साथी ग्वालों को विश्वास था कि अब कृष्ण चलेंगे। कृष्ण की विजय से उनका मस्त गर्वोन्नत था। कृष्ण ने एक दिन नन्द से बड़ी ही नीरस और औपचारिक बातें कीं। उन्होंने कहा, मैं पृथ्वी का भार उतारने को आया हूँ। संसार में मिलना जुलना तो चार दिन का है। आपने मेरा जो पालन-पोषण किया, उसके लिए कृतज्ञ हूँ—

मिलन हिलन दिन चारि कौ तुम तो सब जानौ।
मो को तुम अति सुख दियौ सो कहा बखानौं॥

नन्द के हृदय को बड़ी ठेस लगी। सौ-सौ नागिनों का दंश उनको अनुभव हुआ। उन्होंने कहा कि तुम तो इस प्रकार बातें कर रहे हो। मेरी आँखों से अश्रु वर्षा हो रही है। तुम अब ब्रज चलो। माता तुम्हारी बाट जोहती होगी। पर सब व्यर्थ। नन्द का दुख सूर के शब्दो में—

व्याकुल नंद सुनत ए बानी।
डसी मानो नागिनी पुरानी॥

नंद यशोदा से जाकर यह सब कैसे कहेंगे। उसका कलेजा तो दो टूक हो जायगा—

अरध श्वास चरण गति थाक्यो, नैनन नीर न रहाइ।
सूर नंद बिछरे की वेदन मो पै कहिय न जाइ॥

'माया मोह मिलन और बिछुरन ऐसे ही जग जाइ' का नग्न और निष्ठुर सत्य नन्द की छाती को जला रहा है। अन्त में उन्होंने पिता की मर्यादा को छोड़ा और कृष्ण के चरण पकड़ लिए :

'धाइ चरन परे हरि के, चलहु ब्रज को स्याम।'

अन्त में नन्द बड़ी दृढ़ता से कहते हैं—

'मेरे मोहन तुम बिन नहिं जै हौं।
महरि दौरि आगे जब ऐहै कहा ताहि मैं कै हौं॥

पर कृष्ण विचलित नहीं हुए। उन्होंने यशोदा के लिए भी संदेश दिया कि तुमने जो उपकार किया है उससे हम उऋण नहीं हो सकते। ऐसा कहकर कृष्ण उठकर चल दिए : 'उठे कहि माधौ इतनी बात।' वियोग वात्सल्य का इससे निष्ठुर उद्दीपन नहीं हो सकता। जिस पर नन्द प्राण निछावर करते थे, उसकी यह उदासीनता! नन्द का हृदय दहक रहा था—"धकधकात मन बहुत सूर उठि चले नन्द पछतात।' आगे पैर ही उनके नही पड़ रहे थे। उनके ब्रज वापस पहुँचने पर यशोदा और ब्रज की क्या दशा होगी, यह सोच कर पैर ही आगे नहीं पड़ते : "अध-अध पद अब भई कोटि गिरि जौ लगि गोकुल पैठो।" नन्द कृष्ण के विरह से संतप्त हैं और यशोदा के व्यंग्यों की कल्पना करके आकुल हैं।

नंद को जिसकी आशंका थी वही हुआ यशोदा और रोहिणी पुत्र मिलन की आशा से नन्द की ओर बढ़ीं। पर वे तो अकेले ही लौट आये यशोदा ने रोष में सारा दोष नन्द पर रखा। दशरथ भी तो पिता थे, जो पुत्र-शोक में मर गए। अभी लौट कर जाओ और कृष्ण को लेकर आओ।

'छाँड़ि सनेह चले कंत मंदिर दौरि न चरन गह्यौ।
फटि न गई बज्र की छाती, कत सूल सह्यौ॥

नद को झुँझलाहट हुई। उन्होंने यह सब किया था। उन्होंने कहा, मैं बहुत मना करता था, पर तुम कृष्ण पर रोष करती रहती थीं : मारा ही करती थी—

तब तू मारिबोइ करति।
रिसनि आगे कहि जो आवत, अब लै भाँड़े भरति॥

यशोदा भी व्यंग्य करती—

नंद ब्रज लीजौ ठोकि बजाइ।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जह गोकुल के राय॥

४. १८३. स्मृतियाँ—अंत में माता समझ गई कि कृष्ण ही नहीं आए। अब उसके लिए चावों में डूबे रहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया। सभी लोग समझाते हैं, पर नवनीत को देख कर माता के हृदय में शूल होने लगता है।

यद्यपि मन समझावत लोग।
शूल होत नवनीत देख, मेरे मोहन के मुख जोग॥

अनेक प्रकार के मनो भाव यशोदा के हृदय में चलने लगे। 'चिन्ता' होती थी—

प्रातःकाल उठि माखन रोटी को बिन माँगे दे है।
अब उठि मेरे कुँवर कान्ह को, छिन-छिन अंकन लें है॥

कहीं कृष्ण संकोच करें और भूखे ही रह जायँ यशोदा का हृदय इस चिंता में जल रहा है। फिर कभी 'अभिलाषा' करती है :—

कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कह कैसौ सचुपैहौं।
कब मो पै माखन मांगेगो, कब रोटी धरि दै हौं॥

खेलने के स्थान, खरिक, आदि को देखकर 'स्मरण' होता है : :दुहत देखि औरिन के

लरिका प्रान निकसि नहिं जा तइ' । कभी दोनों विरही पति पत्नी कृष्ण के गुण-कथन में समय बिताते थे । एक दिन माता 'प्रलाप' कर उठी + इस प्रकार विरह के सभी मनोभाव सूर में मिल जाते हैं ।

४. १८४: **उद्धव का आगमन**—इस घटनाने यशोदा और सभी ब्रजवासियों की आशा-लता पर तुषार-पात कर दिया । उद्धव ने कुशल समाचार कहे । यशोदा ने अनेक बातें पूछी । अन्त में वह संदेश देती है । उसका हृदय टूट रहा था । उसके मन में एक उक्ति गूंज रही है : 'हौं माता तू पूत ।" पर आज वही कह रही है : 'हौं तौ धाय तिहारे सुत की ।' बड़ा विलक्षण व्यंग्य है । देवकी को एक संदेश भेजती है—

'प्रात उठत मेरे लाललड़ैतिहिं माखन रोटीं भावै ।' .

वह कहती है कि मैंने न जाने कितने कष्ट उसे दिए थे । अब कह देना कि उनसे कोई काम नही लूंगीं—

गाइ चरावन कुंवन कान्ह सों भूलिन कबहूँ कैं हों ।
करत अन्याय न बरजौं कबहूं, अरु माखन की चोरी ।।

कृष्ण ने खिलौनों और बंशी की रक्षा करने को कहला भेजा था । यशोदा ने वे सब भी उद्धव को देदिये । अत में आशीर्वाद देने के अतिरिक्त माता कुछ नही कर सकी—

कहियौ जसुमति की आसीस ।
जहाँ रहौ वहाँ नंद-लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस ।।

उद्धव के आगमन पर वात्सल्य-वर्णन चाहे संक्षिप्त हो, पर बड़ा व्यंजना पूर्ण है ।

४. २. **उपसंहार**—सूर का वात्सल्य-वर्णन अत्यन्त मौलिक है । यह चित्रण इतना क्रमिक सुशृङ्खल और पूर्ण है, कि कोई भी कड़ी लुप्त नहीं है । अनेक भावों की पुनरावृत्ति तो है, पर नवीनता लिए हुए । वर्णन में अलौकिकता भी कम नहीं है, पर उसका प्रभाव अन्यत्र पड़ता है, वात्सल्य के आश्रय और प्रवाह पर नहीं । रस का प्रवाह निर्बाध है । समस्त लीला-विस्तार नितांत मानवीय है । भक्ति की भावना रहने के कारण वात्सल्य के साथ अद्भुत का भी मिश्रण है। यह भक्तिपरक वात्सल्य का सहायक है। वात्सल्य के साथ हास्य का समावेश तो अनेकत्र है । गोपियों के संदर्भ-में शृङ्गार का भी कुछ पुट आ गया है । कुल मिला कर सूर का वात्सल्य अभूतपूर्व है ।

३२

सूर की राधा

१. पृष्ठभूमि
२. राधा : सूर पूर्व विकास की झाँकी
२. विशदीकरण
४. ब्रज में राधा
५. वल्लभ-सम्प्रदाय और राधा
६. सूर की राधा
आध्यात्मिक स्वरूप
प्रेम का विकास
केलि विलास
विरहिणी राधा
७. राधा कृष्ण मिलन
८. उपसंहार

०. १. सूर—साहित्य में राधा का जो स्वरूप मिलता है, उस पर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। परम्परागत साहित्य में राधा की रूपरेखा का विकास हुआ है। सूर की प्रतिभा, कल्पना और मौलिकता की किरणों ने राधा को और भी प्रोद्भासिन कर दिया। जिस-प्रकार वात्सल्य के प्रकरणों को सूर समस्त अलोकिकता से आविष्ट रखते हुए भी मानवीय धरातल पर रख सके, उसी प्रकार राधा और राधा पर केन्द्रित प्रेम को बहुत दूरी तक स्वाभाविक और शुद्ध मानवीय स्पर्शों से सजल रख सके। बंगाली वैष्णव कवियों ने पूर्व राग, सहेट-मिलन, मान और रास के प्रसंगों में राधा के व्यक्ति को जो काव्यशास्त्रीय शृङ्गारिक उभार दिया है, वह रहस्यवादी स्वर्णाभा में अत्यन्त मनोरम है। उसमें भक्ति-रसात्मक शृङ्गार-सिक्त काव्य के लिए अविरल प्रेरणा विद्यमान है। पर सूर ने अपने निजी स्रोतों से राधा के रूप को जो लौकिकता प्रदान की है, उसके शृङ्गार को शुद्ध काव्यशास्त्रीय प्रणाली से मुक्त करके जो लोक-साहित्यक रूप प्रदान किया है, और उसके कृष्ण-प्रेम का जो क्रमिक और प्रबन्धात्मक विकास चित्रित किया है, वह सूर की प्रातिभ साधना की अद्वितीय सफलता को प्रकट करता है।

०. २. **राधा : सूर पूर्व विकास की झाँकी**—राधा के विकास पर ज्योतिष, तंत्र, त्रिपुरा 'सुन्दरी' सिद्धान्त, शैव-दर्शन, और आभीरों के प्रेम दर्शन का प्रभाव माना जाता है। पर इन सभी प्रभाव स्रोतों के विश्लेषण और राधा के रूप-विकास पर उनके

प्रभाव का आलेखन विषय का मात्र दार्शनिक विस्तार कर सकेगा, साहित्यिक नहीं। यहाँ संक्षेप में राधा के विकास का सर्वेक्षण कर लेना पर्याप्त और समीचीन होगा।

राधा का बीज वेद में भी खोजने का प्रयत्न किया गया। 'स्तोत्रं राधानां पते'[1] में आए 'राधाना' शब्द से राधा का सम्बन्ध जोड़ा गया। पर यहाँ केवल बाह्य-ध्वन्यात्मक के साम्य मात्र है। वेद में राधा शब्द धन, अन्न, समृद्धि, पूजा, नक्षत्र अर्थों में प्रयुक्त है, इनकी देवी के रूप में नहीं है। वैसे तो दूरान्वय प्रतीत होता है, पर हो सकता है कि आज इनकी देवी के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होने लगा हो। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि राधा का मंजुल रूप-विन्यास आभीरों के लोक-साहित्य के अमायिक वातावरण में हुआ।[2] डा० द्विवेदी ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है : "राधा आभीर जाति की प्रेम-देवी रही होगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसीलिए आर्यग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है।[3]" आगे उन्होंने यह भी अनुमान किया कि राधा आर्यों की ही प्रेम-देवी रही होगी, जिसे आगे चलकर कृष्ण वार्ता में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। कुछ विद्वानों ने सांख्य की 'प्रकृति' का ही रूपांतर और नामांतर राधा में देखा।[4] तंत्र वादियों ने तंत्रों में वर्णित 'शक्ति' का वैष्णवीकृत विकास राधा के रूप में माना। जयदेव आदि बंगाली वैष्णवों के साहित्य में चित्रित राधा के पीछे सहजिया और शाक्त प्रभाव माना जाता हैं।[5] इस दृष्टि से राधा का क्रमिक रूप-विलास भी सिद्ध हो जाता है। कुछ विद्वानों ने कृष्ण को सूर्य माना है। राधा उसी प्रपंच में है। गोप-गण तारे हैं। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति से भी राधा के उद्भव की बात सोची गई।[6] रास-लीला नक्षत्र मंडल की संपूर्ण वृत्ताकार गति हैं। राधा विशाखा नक्षत्र है। या यह अनुराधा नक्षत्र का प्रतीक है। कार्तिकी पूर्णमा को सूर्य (कृष्ण) विशाखा (राधा) में स्थित होता है।

आलवार साहित्य में भी राधा संबंधी संकेत मिलते हैं। इनके साहित्य में कृष्ण के साथ एक प्रमुख गोपी की कल्पना मिलती है। इस प्रमुख गोपी का नाम 'नाप्पिनाइ' है। यह शब्द पुष्पवाचक है इस लीला में 'कुरवैकुट्ट' नामक एक तमिल नृत्य का भी उल्लेख है। नाप्पिनाइ का राधा से पूर्ण साम्य है, पर नाम साम्य नहीं है।

प्राचीन शिला लेखों में भी राधा का उल्लेख मिलता है। बंगाल में पहाड़पुर की खुदाई में एक मूर्ति मिली है। उसमें राधा-कृष्ण लीला को परिलक्षित बतलाया

---

१. ऋग्वेद, १।२०।२६
२. Dr. Bhandarkar, Vaishnavism, Shaivism and other Religious Systems,' P. 38
३. सूर साहित्य, पृ-१६-१७ (संशोधित संस्करण)
४. डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १७५
५. डा० शशिभूषणदास पृ० ३-४
६. भारतवर्ष (पत्र) माघ १३४०, वगान्द, योगेश चन्द्रराय।

जाता है।[1] धारा के अमोघवर्ष के ८८० ई० के शिला लेख में कृष्ण-प्रिया के रूप में राधा का उल्लेख है।[2] मालवा के पृथ्वी-वल्लभ मुंज के सन् ९७४ ई० तथा ९७९ ई० के ताम्र-पत्रांकित लेखों में मंगला चरण राधा संबंधी है।[3] इसमें राधा के विरह में आतुर विष्णु की ओर संकेत है। इससे प्रतीत होता है कि ईसा की चौथी-पाँचवी शती से ९ वीं- १० वीं शती तक राधा की पूजा, उसकी प्रेम-लीला, तथा उसमें विरह लोकप्रिय हो गये थे।

पुरातात्त्विक परम्परा के साथ-साथ साहित्यिक परम्परा भी क्रमिक है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य में राधा संबंधी उल्लेख मिलते हैं। 'गाहा सतसई' (गाथा सप्त-शती) के अनेक पद्य गोपी-राधा-कृष्ण प्रेमामृत से शराबोर है। सतसईकार ने कहा : कृष्ण ने अपने मुख-श्वास द्वारा राधिका के कपोल पर लगे धूलिकणों का निवारण कर दिया है। इस से अन्य गोपियों का महत्व न्यून हो गया है।[4] इस पद्य में शृङ्गारिकता तो व्यञ्जना पूर्ण है ही, राधा की गोपियों में विशिष्ट स्थिति भी स्पष्ट है।

राधा शब्द पंचतंत्र में भी आया है। इसमें नामोल्लेख मात्र है। भट्ट नारायण कृत वेणी-संहार में रास परायण कृष्ण-प्रेमिका राधिका का स्पष्ट संकेत है।[5] इसके श्लोक में यमुना-तट पर कृष्ण से कुपित होकर क्रीड़ा-त्याग करके राधा जाती है और कृष्ण उसका अनुसरण करते हैं। मुंज के दरबारी कवि धनंजय ने दो श्लोकों में शृङ्गारमयी राधा का उल्लेख किया है।[6] काव्य-शास्त्र में भी राधा का शृङ्गारी रूप प्रतिष्ठित रहा। आनंदवर्द्धन ने ८५० ई० राधा का चित्रण किया। कृष्ण उद्धव से राधा की कुशल-क्षेम पूछते हैं। इसके साथ वे यमुना-तीर के ततावेश्म की ओर संकेत करते हैं।[7] नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में (१०६८ ई०) राधा विषयक एक श्लोक दिया है। मुंज के पश्चात् मालवा के राजा भोज (१००४ से १०४५ ई०) ने 'सरस्वती कंठाभरण' में राधा सम्बन्धी आठ प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं। इनमें से अंतिम श्लोक लीलाशुक के कृष्णकर्णामृत से लिया गया है। वक्रोक्तिकार कुंतक ने ध्वन्यालोक से एक श्लोक उद्धृत किया है। इसका भाव इस प्रकार है : राधा कृष्ण के वस्त्र पहनकर यमुना के पुलिन पर गद्-गद् कंठ से कृष्ण के विरह में गान करती है। इससे जलचर भी व्याकुल हो जाते हैं। त्रिविक्रम भट्ट के 'नलचम्पू' (दसवीं शती) में कला-कुशल राधा का उल्लेख है। क्षेमेन्द्र (१०६५ ई०

१. गंगा पुरातत्त्वांक : पहाड़पुर की खुदाई : के० एन० दीक्षित।
२. के० एम० मुंशी, गुजरात और उसका साहित्य, पृ० १२६-२७
३. प्राचीन लेख माला, प्रथम भाग, सं०१
४. गाहा सतसई, १।२९
५. वेणी-संहार, १।१
६. दश रूपक, परिच्छेद ४
७. ध्वन्यालोक।

के आस-पास) अपने 'दशावतार चरित' में चार श्लोक दिए हैं। इसमें भी प्रेम-शृङ्गार स्पष्ट है। हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में राधा-विषयक दो शृङ्गारी श्लोक मिलते हैं। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'नाट्य-दर्पण' में भेज्जल कवि-कृत नाट्यपरक ग्रंथ 'राधा-विप्रलम्भ' का उल्लेख किया है। शारदा तनय ने 'भावविलास' में 'रामा-राधा' नामक नाटक का उल्लेख किया है। कवि कर्णपूर ने अपने अलंकार कौस्तुभ में कंदर्प-मंजरी नाटिका का वर्णन किया है। यह भी राधा से सम्बद्ध मानी जाती है। अपभ्रंश साहित्य में भी राधा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। प्राकृत पैंगलभ में कृष्ण का वर्णन राधा के प्रेमी के रूप में मिलता है। इस प्रकार ईसा की आरंभिक शताब्दियों से लेकर १२ वीं शती तक के साहित्यिक, काव्यशास्त्रीय और पुरातात्त्विक साक्षों से यह स्पष्ट होता है कि राधा प्रेम, शृङ्गार, संयोग-वियोग, केलि-क्रीड़ा आदि की देवी बन गई थी। उसका सम्बन्ध कृष्ण से हो गया था। उसके रूप-विकास में ज्योतिष, तंत्र आदि ने योगदान दिया।

०. ३. **विशदीकरण**—जयदेव ने राधा को सर्व प्रथम विशद रूप प्रदान किया। यद्यपि राधा को दार्शनिक या आध्यात्मिक रूप सर्व प्रथम निम्बार्क ने दिया प्रतीत होता है (११५० ई०), पर काव्य के माध्यम से भक्ति के क्षेत्र में राधा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय पीयूषवर्षी जयदेव को है। राधा-केलि वर्णन को हरि स्मरण और काव्यानन्द दोनों के लिए उन्होंने माना।

'यदि हरिस्मरणेसर संमनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावली; शृणु तथा जयदेव सरस्वतीम्॥

राधा का रूप-सौन्दर्य यहीं अपने चरम पर पहुँचा। राधा-कृष्ण की मधुरा भक्ति का उत्कृष्ट रूप खड़ा हुआ। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से जयदेव ने राधा को एक प्रेमिका, परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया। राधा ने लोक-लाज का उल्लंघन कर दिया है। विरह में सुलगती भी है और संयोग में पुलकित भी होती है। राधा की अनुभूतियों की मांसलता सूक्ष्म, आध्यात्मिक अनुभूतियों से दब नहीं गई है। वैसे राधा का भक्तिपरक रूप भी व्यंजित है। कुञ्ज-निकुञ्ज अपूर्व शोभा से झूम रहे हैं। इन्हीं में पूर्वरागाकुल, मानिनी और विलासिनी राधा कहीं छुपी है। उसका प्रेमोन्माद भी अद्वितीय है। सम्भवतः जयदेव सुदूर-प्रवास-विरह की कल्पना मात्र से काँप उठे।

चण्डीदास बंगाल के सूरदास हैं।[1] इन्होंने सहजिया वैष्णवों की भावना का समावेश करके राधा-प्रेम को अत्यन्त द्रुत और कमनीय बना दिया। चण्डीदास की राधा भी परकीया है। उसे भी अपने उत्कट प्रेम और सामाजिक मर्यादा के संघर्ष के क्षणों का कटु अनुभव करना पड़ता है। जयदेव की राधा साहित्य-शास्त्रीय और कामशास्त्रीय उपकरणों से सुसज्जित है और भक्ति-व्यंजना की किरणों से आलोकित है। चण्डीदास अपनी राधा को लोक-साहित्यिक उपकरणों से स्वाभाविकता देते हैं। परकीया होते हुए भी वह कृष्ण में पतिभाव रखती है : तुम मोर पति, तुम

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १८४

मोर पति, मन नाहिं आन भय।' राधा किसी गहन दार्शनिक भाव से भी बोझिल नहीं है। उसमें अशेष समर्पण आकर्षक है। विरहासक्ति का संयोग चण्डीदास ने योगिनी राधा में किया है। यह ब्रज बलि साहित्य का शृङ्गार है। चण्डीदास ने शारीरिक सौन्दर्य के भीतर अन्तर्हित मानसिक सौन्दर्य की किरणों की मधुर संयोजना की है।

विद्यापति में राधा का मांसल सौन्दर्य अपने चरम पर है। 'असल बात यह है कि राधिका की सारी शरीर-चेष्टाओं के भीतर भगवान् को सन्तुष्ट करने की भावना है।'[१] विद्यापति की राधा वयःसंधि पर स्थित है। कभी कभी इसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि राधा में प्रेम की प्रखरता न्यून और विलास की मात्रा अधिक है। विद्यापति सम्भवतः यह भी भूले हुए हैं कि राधा को भक्ति के अनुकूल बनना है। वह काव्यशास्त्रीय नायिका भी है। मान, अभिसार, दूती, मिलन आदि कामशास्त्रीय विधान भी सुचारु रूप से व्यवस्थित है। विद्यापति की राधा में जयदेव की राधा की भाँति अधिक मांसल सौन्दर्य और चण्डीदास की राधा का उन्माद भी है।

इन तीनों का साहित्य चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति-भावना के साथ एकाकार होता गया। सहजिया तथा तांत्रिक स्रोतों से आगत परकीया भाव प्रगाढ़ होता गया। साथ ही भक्ति राधापरक होती गई।

पौराणिक साहित्य में राधा तत्त्व का सर्वाधिक निरूपण ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है।[२] निम्बार्क साहित्य में राधा को कृष्ण की स्वामिनी लिखा गया है।[३] ब्रह्मवैवर्त में राधा का माहात्म्य प्रतिपादित किया है। 'राधा' शब्द की भावात्मक व्युत्पत्तियाँ भी यहाँ उपलब्ध होती हैं।[४] पद्म पुराण में राधा-पूजन का माहात्म्य विस्तार से दिया गया है।[५] वृन्दाबन का माहात्म्य कथन भी इस पुराण में मिलता है।[६] इस प्रकार राधा का बहुविध शृङ्गार-संस्कार भारतीय साहित्य में होता रहा।

१. ब्रज में राधा—

काश्मीरी शैवागमों से लेकर दक्षिण में आलवार साहित्य तक, बंगाल से लेकर गुजरात-मालवा तक, राधा साहित्य की लुप्त-प्रकट धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। ब्रज में बंगाली कवियों की प्रतिभा से स्नात राधा ने प्रवेश किया है। रूप और सनातन ने वृन्दाबन की क्रीड़ास्थलियों की खोज की। निम्बार्कीय राधा तत्त्व का विस्तार भी वृन्दाबन के कुञ्ज-निकुञ्जों में हुआ। वृन्दाबन में राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व कृष्ण से भी बढ़ गया। इनके आचार्यों ने भी

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १८३
२. H. H. Wilson, Hindu Religion, P. 113
३. Monier Williams, Religious Thought and Life in India, Part I, P. 146
४. ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, अध्याय १३
५. पद्म पुराण, उत्तराखण्ड : राधाष्टमी व्रत प्रसंग।
६. वही : पाताल खण्ड

रास-मण्डलों की स्थापनाएँ कीं और केलि-स्थलों का निरूपण किया। इस प्रकार वृन्दाबन राधामय हो गया।

२. वल्लभ-सम्प्रदाय और राधा—

पर ब्रज में दूसरे प्रकार के भक्ति-केन्द्र भी बन रहे थे। वल्लभाचार्य जी ने गोकुल, मथुरा और गोवर्द्धन में कृष्णपरक भक्ति के केन्द्रों की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में राधा रही तो अवश्य, पर भिन्न रूप में। दक्षिण की उपासना में गोपी-भाव तो मान्य था। राधा-भाव स्पष्ट रूप से उसमें समाविष्ट नहीं था। वल्लभाचार्य जी ने सम्प्रदाय में वात्सल्य का प्राधान्य रखा। गोपी-भाव को भी रखा। पर राधा-भाव का प्रवेश उन्होंने नहीं होने दिया। राधा-तत्त्व की प्रतिष्ठा गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी के समय में हुई।[1]

अष्ट छाप के कवियों ने राधा के सम्बन्ध में साहित्य रचा। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा और गोपियों की स्थिति इस प्रकार थी : 'नित्य गोलोक में होने वाले रस रूप कृष्ण के रास की गोपिकाएँ भगवान् की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति है।.....कृष्ण धर्मी हैं और गोपिकाएँ उनका धर्म है। दोनों अभिन्न हैं। सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। भगवान की रस शक्तियों के बीच की रस की सिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी रूपा हैं। भगवान् रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रस शक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।[2]

३. सूर की राधा—

इस प्रकरण को चार भागों में बाँटा जा सकता है : सूर की राधा का आध्यात्मिक स्वरूप, राधा के प्रेम का विकास, केलि-विलास तथा विरहिणी राधा।

३. १. आध्यात्मिक स्वरूप—सूर ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष के रूप में निरूपित किया है। कहीं-कहीं इन दोनों में अभेद बतला कर अद्वैतता की स्थापना की है।

'प्रकृति पुरुष, नारी मैं वै पति, काहैं भूलि गई।'[3]

कहीं-कहीं राधा को जगत् की उत्पादिका शक्ति के रूप में माना गया है। पर सूर ने राधा का आध्यात्मिक स्वरूप इतनी रुचि और इतने विस्तार के साथ नहीं दिया, जितना उनके शृङ्गार-निरूपण में मिलता है। हो सकता है कि यह वृन्दाबन के निकुन्ज-लीलावादी भक्ति सम्प्रदायों का प्रभाव हो। सभी गोपियाँ राधा के अङ्गांङ्ग हैं। वल्लभाचार्य जी ने कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा को मान कर उन्हें कृष्ण से अभिन्न कहा है। सूर ने कृष्ण को राधा के वशवर्ती भी कह दिया है—

---

१. डा० दीनदयालु गुप्त. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५२६-२७

२. वही ५०५-६

३. सूर सागर (ना० प्र० सभा) पद १६८८

पुनि पुनि कहति ब्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि।
× × × ×
हम विमुख तुम करुण सङ्गिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहि न एक सनेह।[१]

इस प्रकार राधा के तात्त्विक रूप का आभास सूर ने यहाँ-वहाँ दिया है।

३. २. प्रेम का विकास—सूर ने राधा को न वयःसन्धि की स्थिति में ही देखा और न पूर्ण प्रगल्भा के रूप में ही। उनको राधा-कृष्ण के प्रेम का स्वाभाविक विकास अभीष्ट है। अतः उनकी बाल्यावस्था से ही वर्णन का आरम्भ होता है। कृष्ण माखन चोरी, गोचारण, दुष्ट दलन के द्वारा अन्य गोपियों के मन में पैठ चुके थे। उनकी लोक-लाज टूटती ही जा रही थी। सभी कृष्ण की ओर आकर्षित थीं। कृष्ण ने एक दिन उड़ती हुई दृष्टि से राधा को देखा और देखते हुए निकल गए। राधा ने उनकी दृष्टि को भाँप लिया। उसने सखी को बतलाया—

ब्रज लरिकन सँग खेलत डोलत, हाथ लिए चक डोरि।
'सूर' स्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियौ अँजोरि॥

वैसे राधा का कृष्ण की ओर आकर्षण कृष्ण के पश्चात् हुआ, पर अन्तर कुछ क्षणों का ही था। राधा सौन्दर्य निधि थी। स्वर्णाभ वर्ण था। आखें आकर्ण विशाल थीं। माथे पर रोली का टीका और नीलवस्त्रों से आवृता राधा! किसका मन न मोह लेगी यह अनिंद्य सुन्दरी! —

औचक ही देखी तहँ राधा नैन, बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
'सूर' स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

इस अनुपम सौन्दर्य पर रसिक शिरोमणि रीझ गए। ब्रज की सभी बाल-युवतियों को तो ये पारखी परख चुके हैं। यह मणि कहाँ छिपी रही। वे धीरे से राधा के पास गए: तुम कौन हो? कहाँ रहती हो? आदि प्रश्नों से परिचय आरम्भ किया। राधा ने भी कृष्ण पर व्यंग्य करते हुए उत्तर दिया—

बूझत स्याम 'कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।'
'काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहत आपनी पौरी।
सुनत रहत स्रवनन नँद-ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।'
'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलौ मिलि जोरी।'
'सूरदास' प्रभुरसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी।'

---

१. सूर सागर (ना० प्र० सभा) पद २४६०

सूर ने अपनी टिप्पणी से सारा मामला स्पष्ट कर दिया। 'संग मिलि जोरी' से इन दोनों के युग्म की सूचना मिलती है। कृष्ण ने अपना परिचय भी दिया और राधा को अपने घर खेलने आने का निमंत्रण भी दिया—

'खेलन कबहु हमारें आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।
द्वारै आइ टेरि मोहि लीजौ, कान्ह हमारौ नाउँ॥

कृष्ण ने अन्त में यही कहा कि और कोई बात नहीं है, तुम्हारा भोलापन देखकर मन तुम्हारे साथ रहने को करता है : 'सूधी निपट देखियत तुमकौ, तातैं करियत साथ।' राधा के मन में भी इस प्रणय-निमंत्रण से कम गुदगुदी नहीं हुई। पर प्रेम की बात योंहीं नहीं कह दी जाती। सखियों से सगर्व शैली में राधा ने कहा—इनके घर कौन जाता है। हम क्या कोई ऐसे हैं कि घर-घर घूमें ! हमारी भी प्रतिष्ठा है—

'संग सखी सौं कहति चली यह, को जैहै इनकै घर।'

पर प्रेम की बेलि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह भाव-प्रसूनों से लद गई। राधा का समस्त व्यक्तित्व ही उसमें उलझ गया। राधा और कृष्ण दोनों ही नवीन प्रेम के रस में पग गए। एक दिन राधा यशोदा के घर गई। कृष्ण ने उसका परिचय करा दिया: "मैया री तू इनको चीन्हति, बारम्बार बताई (हों)।" यशोदा ने भी राधा का रूप रङ्ग देखा और गद्गद् हो गई—

'नामु कहा है तेरौ प्यारी।
बेटी कौन महर की है तू, कहि सु कौन तेरी महतारी।
धन्य कोख जेहि तोको राख्यो, धन्य घरी जिहि तू अवतारी।
धनि पितु मातु धन्य तेरी छबि, निरखति यों हरि की महतारी।'

यशोदा के मन में उसके सौन्दर्य ने न जाने कितनी कामनाओं की वर्षा कर दी। उसने राधा का शृङ्गार किया : 'जसुमति राधा कुँवरि सँवारति।' शृङ्गार क्या किया, उसे तो नवेली दुलहिन ही बना दिया। और अन्त में तिल-चाँवरी से उसकी गोद भी भर दी। यशोदा ने अनजान में ही स्वकीया की भूमिका बना दी। राधा का दुलहिन के रूप में शृङ्गार करा के सूर ने बड़े कौशल से राधा को स्वकीया बना दिया। जब निश्चिन्त होकर यशोदा ने राधा से कृष्ण के साथ खेलने के लिए कह दिया :

खेलो जाइ श्याम सँग राधा।
यह सुनि कुँवरि हरख मन कीन्हों, मिट गई अन्तर बाधा।

इस प्रकार बाल-काल से ही प्रेम विधि-विधान के साथ विकसित होने लगा। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति उत्सुकता और अभिलाषा जाग्रत हो गई।

अब यह प्रेम-प्रसङ्ग ब्रज में चर्चा का विषय बनने लगा। दोनों किसी-न-किसी बहाने एक दूसरे से मिलने लगे। सखियाँ सब समझने लगीं। सखियाँ प्रेम के सम्बन्ध में राधा को ताने देने लगीं : 'राधा ये संग हैं री तेरे।' वे कहने लगीं : 'अब तो घर से बन-ठन के निकलती हो ! घर में ही क्यों नहीं बैठी रहतीं ! 'कै बैठी रहि भवन

आपनें, काहे कौं बनि आवै ।' यह तुम्हारा बचपन तो कहा नहीं जा सकता । तुम इतनी छोटी भी अब नहीं हो : 'लरिकाई तबही लौं नीकी, चारि बरष कै पाँच ।' पर प्रेम कहीं रुकता है । राधा अनजान में ही धीरे-धीरे सर्वस्व समर्पित कर चुकी । राधा ने यशोदा की बात अपनी माँ से जाकर भी कह दी थी । उसकी माँ भी सजग रहने लगी । एक दिन राधा ने साँप के काटने का बहाना किया और गारुड़ी कृष्ण को बुला लिया ।[1] राधा की माँ ने उसे रोकना चाहा । इस पर राधा ने अपने अन्तर्यामी कृष्ण से कहा—

राधा विनय करति मनहीं मन, सुनहु श्याम अन्तर के यामी ।
मातु पिता कुल कानिहि मानत, तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी ।

इस प्रकार राधा का प्रेम सघन से सघनतर होता गया ।

३. ३. **केलि-विलास**—अब राधा कृष्ण से मिलने के लिए खरिक में जाने लगी । यहाँ संक्षिप्त सम्भोग के स्फीत क्षण उपस्थित होने लगे । राधा माता से कभी-कभी यशोदा से कह भी जाती थी : 'कुँवरि कह्यौ मैं जाति महरि, घर ।' इसी बीच कृष्ण अपनी आँखों के संकेत से राधा को बुला लेते थे—

सैन दै प्यारी लई बुलाइ ।
खेलन कौं मिलि करि कै निकसै, खरिकहिं गए कन्हाइ ।
जसुमति कौं कहि प्यारी निकसी, घर कौ नाउँ सुनाइ ।
कर दोहनी लिए तहँ आई, जहँ हलधर के भाइ ।

इस प्रकार बाल-काल में ही संक्षिप्त सम्भोग होने लगा । एक दिन नन्द बाबा कृष्ण को लेकर खरिक में गए । उसी समय राधा भी वहाँ आई । नन्द ने कृष्ण की रक्षा का उत्तरदायित्व राधा को सौंपा : 'सूर' स्याम देखैं रहि हौ, मारै जनि कोइ गाइ ।' राधा ने कृष्ण से कहा : अजी सुनते हो बाबा की बात । अब याद रखो : 'मोहि छाँड़ि जौ कहूँ जाहुगे, ल्याऊँगी तुमकौं धरि ।' अब वर्षा का वातावरण हुआ : 'गगन घहराइ जुरी घटा कारी ।' नन्द ने राधा से कहा कि कृष्ण को घर ले जाओ । मार्ग में संक्षिप्त सम्भोग हुआ । यहाँ सूर श्लील-अश्लील के विचार से मुक्त हैं । बाल्यकाल में पूर्ण शृङ्गारमय संक्षिप्त मिलन सूर ने विस्तार के साथ कराए हैं । सुरतांत की कल्पना भी की गई—

हरि हँसि भामिनी उर लाइ ।
सुरति अन्त गोपाल रीझे, जानि अति सुखदाइ ।

अब राधा कृष्ण पर अधिकार जनाने लगी । राधा ने कृष्ण से कहा कि मेरी गाएँ तुम्हीं दुह दो ! यदि मैं दुहूँगी तो दूध की बूँदों से मेरी चूनरी का रँग फीका पड़ जायगा । यदि पारिश्रमिक चाहिए तो धूमरी गाय का मीठा दूध कुछ तुम पी लेना

---

१. हरि गारुड़ी तहाँ तब आए ।
यह बानी वृषभानुसुता सुनि मन-मन हरष बढ़ाए ।

और कुछ मुझे दे जाना।[1] इस प्रकार हास-परिहास, लीला-विलास की न जाने कितनी बालोचित स्थितियाँ सूर की प्रतिभा ने अङ्कित की हैं।

रासलीला आदि में राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। सारा ब्रज जान गया कि कृष्ण राधा के वश में है।[2] राधा का वैशिष्ट्य विवाह से भी हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के विवाह का वर्णन मिलता है। सूर की राधा का भी आज विवाह होगा। कुञ्ज ही उसके लिए मण्डप है और प्रेम की ग्रन्थि ही विवाह का बन्धन है।[3] रास ही गंधर्व विवाह है—

जाकौ व्यास बरनत रास।
है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनौ विविध विलास।

'एक प्रान द्वै देह' तो पहले से ही हो चुके थे। यशोदा ने राधा को दुलहिन उस दिन बनाया था। विवाह आज सम्पन्न हुआ।

राधा को कृष्ण के प्रेम पर पूर्ण विश्वास हो गया। एक सखी ने यह भी कहा कि यह प्रेम एकाङ्गी है। अर्थात् कृष्ण के प्रेम पर विश्वास नहीं किया जा सकता—

सजनी स्याम सदाई ऐसे।
एक अङ्ग की प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे।

राधा ने सखी को डाँट दिया। उनके हृदय का अखण्ड विश्वास तिलमिला उठा। अब भला या बुरा कहने से कोई लाभ नहीं अब तो वे अपने हो चुके हैं—

स्यामहिं दोष देहु जनि माई।
वे जौ भले-बुरे तो अपने......।

यदि हम भले हैं तो सब भले हैं : 'आपु भलाई सबै भलेरी।' कृष्ण मुझे भूल नहीं सकते। राधा अपने कृष्ण पर अधिकार के प्रति पूर्ण विश्वासमयी है। वास्तव में कृष्ण राधा के इशारे पर नाचते थे : 'मोहन कौं मोहिनी लगाई संगहि चले डगरिकै।' बात बढ़ती ही गई। राधा के सम्बन्ध में फिर इधर-उधर चर्चा होने लगी। सभी को विवाह का भेद ज्ञात नहीं था। राधा ने एक दिन श्याम से एकान्त में कहा—

स्यामहिं बोलि लियौ ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि माँझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानि हैं स्याम मतारी।

कृष्ण तो थोड़ी देर चुप रहे, पर श्याम के सखाओं ने कह दिया—

'सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसि है संसार।'

---

१. बलि जाऊँ गैया दुहि दीजै।
बूँद परत रँग ह्वै है फीकौ, सुरँग चूनरी भीजै।
मीठौ दूध गाइ धूमरि कौ, कछु दीजै कछु पीजै।
२. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जा के श्याम अधीन।
३. तब देत भांवरि कुञ्ज मण्डप, प्रीति ग्रन्थि हियैं परी

राधा ने भी सोच लिया कि जो हँसे, हँसे अब तो कृष्ण से ही प्रेम बढ़ रहा है। यह भी विधाता की प्रेरणा से ही हो रहा है: 'अब तौ स्यामहिं सौं रति बाढ़ी, विधना रच्यौ सँजोग।' राधा को कृष्ण के प्रेम पर गर्व का अनुभव होने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं। रूप-गर्विता राधा की इस गर्व के मिलने पर यह गति हो गई—

राधा हरि के गर्व गहीली।
मंद-मंद गति मत्त मतंग ज्यों, अंग-अंग सुख-पुन्ज भरीली।

कृष्ण की विशिष्ट सहचरी होने पर यह सब स्वाभाविक था। सभी सखियाँ राधा के इस सौभाग्य के प्रति स्पर्द्धा करने लगीं। "तो सी को बड़भागिन राधा, यह नीकैं करि जानी।" इस सबने राधा को मानवती बनने की प्रेरणा दी।

सूर की राधा मान करती है। कृष्ण बेचारे क्या मान करेंगे। राधा सहेतु मान भी करती है और निर्हेतु भी। कृष्ण के शरीर में रतिचिह्न देखकर भी राधा अन्य गोपी के साथ विहार का अनुमान करके मान कर बैठती हैं। कृष्ण विविध प्रकार से राधा को मनाते हैं। कृष्ण वेश बदल कर भी राधा के पास आते हैं। निर्हेतु मान भी सूर ने चित्रित किया है। प्रिय के वक्ष पर अपना प्रतिबिम्ब देख कर, राधा अन्य सखी का अनुमान करती है और मानवती हो जाती है—

पियहिं निरखि प्यारी हँसि दीन्हौ।
रीझे स्याम अंग-अंग निरखत, हँसि नागरि उर लीन्हौ।
आलिंगन दै अधर दसन खँडि, कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सों नासा लै जोरत, नैन-नैन परसावत।
इहि अन्तर प्यारी उर निरख्यौ, झझकि भई तब न्यारी।
'सूर' स्याम मोकों दिखरावत, उर ल्याए धरि प्यारी॥

इस प्रकार मान में राधा के स्वाभिमान का मूल्य होता है। दोनों के प्रेम को प्रगाढ़ करने के माध्यम के रूप में मानलीला का वर्णन है।

सङ्कीर्ण सम्भोग के लिए भी सूर अनेक प्रकार की लीलाओं का वर्णन करते हैं। इन लीलाओं में राधा कृष्ण का मिलन तो होता है, पर इस परस्पर मिलन और क्रीड़ा में पूर्णानन्द नहीं होता क्योंकि मान और छेड़छाड़ के कारण राधा के मन में कुछ खीझ बनी रहती है। इन लीलाओं में प्रमुख ये हैं: रासलीला, दानलीला, नौका-विहार-लीला, जल-क्रीड़ा, जलस्नान लीला तथा कुन्ज-विहार लीला। इन समस्त लीलाओं में शृङ्गारिक भावना तो ओतप्रोत है पर शृङ्गार पूर्ण परिपक्व होकर सम्पन्न सम्भोग का रूप धारण नहीं कर पाता।

उक्त लीलाओं का उपक्रम प्रेम को घनीभूत करने के लिए आगे सूर ने कुछ ऐसी लीलाओं का वर्णन किया है, जहाँ सम्भोग अपने पूर्ण सम्पन्न रूप में है। राधा के मन में खीझ के स्थान पर उल्लास और उत्साह आ जाता है। आनन्द इन लीलाओं में चरम का स्पर्श कर लेता है। सम्पन्न सम्भोग की लीलाएँ ये मानी जा

सकती हैं : वसन्तलीला, होलीलीला, डोललीला, झूलन लीला, निद्रा और धूर्तता। होली लीला में राधा-कृष्ण अपनी सखियों और सखाओं के साथ पूर्ण आनन्द लेते हैं। श्यामा-श्याम की जोड़ी आज हिंडोले में शोभित है—

झूलत अति आनन्द भरे।
इत श्यामा उत लाल लाड़िलो, बैयाँ कण्ठ धरें।
बोलत मोर, कोकिला, अलिकुल गरजत हैं घन घोर।
गावत राग मल्हार भामिनी, दामिनि की झकझोर॥

छल या धूर्तता से मिलन की स्थितियों का भी सूर ने स्वाभाविक चित्रण किया है। राधा अब पूर्ण चतुर हो गई है। बिना कृष्ण से मिले कल नहीं पड़ती, पर मिले कैसे। सूर की राधा अपनी माला खो जाने का बहाना करती है। माता ने जब यह सुना तो उसने बड़ा रोष किया—

जननी अतिहीं भई रिसहाई।
बार-बार कहै कुँवरि राधिका, मोतिसरि कहाँ गँवाई।

राधा ने उत्तर दिया—

सुनि री मैया काल्हिहीं, मोतिसरी गँवाई।
सखिनि मिलै जमुना गई, धौं उनहिं चुराई।
कीधौं जल ही में गई, यह सुधि नहिं मेरैं।
तब तैं मैं पछितातिहौं, कहति न डर तोरैं।

राधा कहती है, जायगी कहाँ मेरी माला। अब मुझे याद आई कि किसने मेरी माला ली है। मैं अभी एक क्षण में ले आती हूँ। मेरे साथ किसी के आने की आवश्यकता नहीं—

जैहैं कहाँ मोतिसरि मेरी।
अब सुधि भई लई वाही नें, हँसति चली वृषभानु किसोरी।
अबहीं मैं लीन्हे आवति हौं, मेरे संग आवै जनि कोरी।

कोई यदि साथ आता तो भेद खुल जाता। राधा ने कृष्ण को इशारा दिया। कृष्ण ने भी गाय के ब्याने का बहाना किया और दोनों का सम्भोग हुआ—

'सैन दै नागरी गई बन कौं।

× × ×

चले अकुलाइ बन धाइ, ब्याइ गाइ देखिहौं जाइ, मन हरष कीन्हो।

इस प्रकार सूर ने राधा को परम लीलावती और कलावती के रूप में चित्रित किया है। उसका भोलापन भी इतना मनोरम था कि कृष्ण जैसे रसिकशिरोमणि विमोहित हो गये और उसका चातुर्य भी ऐसा है कि दर्शक चकित हैं।

राधा ने प्रेम-वैचित्र्य के क्षणों का भी अनुभव किया है। "प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-कथा की जो अनुभूति होती है, उसे

प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं।"[१] राधा ने अपने इन दुरंगे क्षणों के अनुभव को इस प्रकार अपनी सखी से कहा—

> श्याम सखि नीके देखे नाहीं।
> चितवत ही लोचन भरि आए, बारबार पछिताहीं।
> कैसे हू करि इकटक राखति, नैकहि में अकुलाहीं।
> निमिष मनो छवि पर रखवारे, ताते अतिहि डराहीं।

प्रेम वैचित्र्य के क्षणों में प्रेम का चरमोत्कर्ष रहता है। एक और उदाहरण राधा के प्रेम वैचित्र्य का लीजिए—

> राधेहि मिलेहु प्रतीति न आवति।
> यदपि नाथ बिधुबदन बिलोकति, दरसन को सुख पावति।
> भरि भरि लोचन रूप परमनिधि, उर में आनि दुरावति।
> बिरह-बिकल मति दृष्टि दुहुँ दिसि, सचि सरधा ज्यों धावति।
> चितवत चकित रहति चित अन्तर, नैन निमेप न लावति।
> सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि, बितर्क बनावति।
> कबहुँक करति बिचारि कौन हौं, को हरि केहि यह भावति।
> 'सूर' प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति।

ऐसे ही कई पदों में सूर ने सम्भोग कालीन मधुर वेदना को चित्रित किया है।

३. ४. विरहिणी राधा—सयोगिनी राधा अपने में जितनी प्रगल्भ है, उससे भी अधिक विरहिणी राधा है। एक दिन कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर आ गया। समस्त ब्रज आकुल-व्याकुल हो गया। कृष्ण ने मथुरा जाने का समाचार राधा को भी सुनाया। राधा अवाक् रह गई—

> हरि मोसों गौन की बात कही।
> मन गह्वर मोंहि उतर न आयौ, हौं सुनि सोचि रही।

बिना पूर्णिमा के ही जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो: 'बिनु परबहिं उपराग आजु हरि, तुम है चलन कह्यो।' कृष्ण को रोकना सम्भव नहीं था। वे चले गये। पर क्या राधा रोकने का कुछ प्रयत्न भी नहीं कर सकती थी? जब अक्रूर के रथ की धूल भी अदृश्य हो गई, तब उसे इसका पश्चाताप हुआ। उस समय क्या लज्जा करनी थी: इस निष्क्रियता के स्थान पर तो मृत्यु आ जाती—

> तब न बिचारी यह बात।
> चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाड़ी पछतात।
> निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै, थकित भई जलपात।
> जब रथ भयौ अदृष्ट अगोचर, लोचन अति अकुलात।

जब कृष्ण जा रहे थे तब राधा यह समझ नहीं सकी कि क्या हो रहा है। पर उनके विदा होते ही, राधा का हृदय सौ-सौ बिच्छुओं के दंश का अनुभव करने लगा। अब

१. डा० द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० २०३

सारी रात तारे गिनते बीतती है। उसके ध्यान से रथ में बैठते हुए कृष्ण की झाँकी नहीं हटती—

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गगन गगन के तारे, रसना रटत गोविद हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी, कहि न सकत कछु काम दही।
इतनैं मन व्याकुल भयी सजनी, आरज पन्थहुँ तें बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे, किती दूरि मथुरा नगरी॥

आश्चर्य तो यह है कि उस समय हृदय नहीं फट गया—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र तें भारी, रहि कै पापी कहा कियो।

कृष्ण को पहुँचा कर नन्द आदि लौट आए। उन्होंने मथुरा की सारी घटनाएँ सुनाई। राधा से किसी ने यह भी कह दिया कि वे कुब्जा से प्रेम करने लगे हैं। राधा ने कहा—

कैसी री यह हरि करि हैं।
राधा कौ तजि हैं मनमोहन, कहा कंस दासी धरि हैं।

अब सारे ब्रज की दृष्टि विरह संतप्ता राधा पर है। उसी को लक्ष्य करके सभी कृष्ण को दोष देते हैं : क्या राधा के प्रेम का यही मूल्य है? कोई कहता है : 'करि गए थोरे दिन की प्रीति।' कोई कहता है : 'प्रीति करि दीन्हीं गरैं छुरी।' कोई-कोई तो यहाँ तक कह देता है कि उनको प्रेम का निर्वाह करना ही नहीं आता : 'प्रेम निवाह कहा वे जानें।' इस प्रकार ब्रज में तरह-तरह की बातें चलती रहीं। परदेशी के प्रेम का क्या विश्वास। राधा को यह सब अच्छा नहीं लगता था। उसे इन आरोपों से खीझ ही होती थी। उसे तो कृष्ण-मिलन की युक्ति चाहिए—

बातनि सब कोइ जिय समुझावै।
जिहि बिधि मिलनि मिलैं वै माधौ, सो बिधि कोउ न बतावै।

राधा सब से कहती है : कृष्ण के प्रेम में कमी नहीं। उनको दोष देना ठीक नहीं। सम्भवतः मेरा प्रेम ही कपटीला था—

सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातैं मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु।

इससे बड़ा विश्वास दुर्लभ है। अब राधा को लगता है कि सारा जीवन विरह में जलते-जलते ही बीतेगा। प्रिय-मिलन के कुछ भी लक्षण नहीं हैं। इसी प्रकार राधा का दीन जीवन व्यतीत होने लगा।

एक दिन राधा ने सुना कि कृष्ण का संदेश लेकर उसके एक अन्तरङ्ग सखा उद्धव आये हैं। यह एक नई घटना थी। इससे पहले कृष्ण को पथिक के द्वारा राधा

सन्देश भिजवा चुकी थी। सन्देश यह था : माधव, यह कच्चे जीवन का कुछ ठिकाना नहीं है। क्या आप इतनी कृपा करेंगे कि एक बार दर्शन दे जायें—

बारक जाइबो मिलि माधौ।
को जानै तन फूटि जाइगो, सूल रहो जिय साधौ।
पहुनेहु नन्द बबा के आवहु, देखि लेउँ पल आधौ।

एक दिन विरहाकुल राधा ने माधव का एक चित्र बनाया था। चित्र बड़ा सजीव और यथार्थ उतरा। इतना कि राधा सोचने लगी, यह बोलेगा। पर शब्द कहाँ ! और फिर वही असीम-अतल विरह-बारिधि—

मैं सब लिखि सोभा जु बनाई।
सजल जलद तन बसन कनक रुचि, उर बहु दाय सुहाई।
× × × ×
सूरदास मृदु बचन स्रवन लगि, अति आतुर अकुलाई॥

पर कृष्ण तो आए नहीं, उद्धव आये। राधा उनका स्वागत करने आगे बढ़ी और पैर डगमगा गए। वह गिर पड़ी—

चलत चरन गहि रह गईं, गिरि स्वेद सलिल रस भीनी।
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटी कंचुकि झीनी।

राधा आँसुओं में जैसे डूबती जा रही थी। उद्धव का समस्त ज्ञान-योग उस अश्रु-पारावार के किनारे अवाक् और किंकर्तव्य विमूढ़ खड़ा था। पर राधा की यह दशा उद्धव मन की गहराइयों में उतरती जा रही थी। उसका चेतन-मन तो ज्ञान के समर्थन में लीन था, पर अचेतन विह्वल हो गया। अचेतन मन के उद्गार तब निकले, जब उन्होंने लौट कर कृष्ण से राधा की दशा का वर्णन किया—

उमगि चले दोउ नयन विशाल।
सुनि-सुनि यह संदेश श्यामघन, सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन वपु उरजनि के अन्तर, जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर श्रृङ्ग तें, जाइ मिले सम शशिहि सनाल।

आँसुओं की नदी ही उमड़ रही थी—

तुम्हरे बिरह ब्रजराज, राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते यान चढ़ी॥

जिन 'विशाल नयनो' ने कभी नट नागर को उलझा लिया था, आज आँसुओं में डूब-उतरा रहे हैं। इन्हीं में रूप और रस का अतल पारावार कभी उमड़ता था। जो आँखें कभी सौन्दर्य की मदिरा की वर्षा करती थीं, आज 'नैननु होड़ बदी बरखा सों।'

राधा के मन में दुहरी पीड़ा है। प्रेम असफल होना चाहता है और लोक का उपहास भी सहना पड़ता है। राधा को मिलन के विगत क्षणों की याद विह्वल कर

रही है। मिल कर बिछुड़ने की पीड़ा को कौन समझता है। वही समझ सकता है, जिसको अनुभव हुआ हो : "मिलि बिछुरे की पीर सखीरी, बिछुर्‌यो होइ सो जानै।" कृष्ण जन्म लेकर ब्रज की ओर आए ही क्यों ? न आते और न मेल होता : "बरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा कै आये।" राधा के लिए 'बिनु गुपाल बैरिन भई कुञ्जें।" वर्षा आती थी और राधा की आँखों में समा जाती थी : "कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए।' इस प्रकार राधा का जीवन भीतर ही भीतर बताशे सा घुलने लगा। इस प्रकार दिन-दिन छीजने से क्या लाभ है ? यह उसके लिए असह्य हो गया :

> दुसह बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
> सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि सोचि करमीजै।

राधा उद्धव से न जाने क्या-क्या कहना चाहती थी। हृदय की पीर की अभिव्यक्ति से उसका मन हल्का हो जाता : 'बिन ही कहैं आपने मन में, कब लगि सूल सहौं।' पर समस्त तरल अभिव्यक्तियाँ जम कर रह गईं। गला रुँध गया और आँखों में पानी उमड़ आया। जिस भाषा का प्रयोग राधा करना चाहती थी, उसने आँसुओं की भाषा का रूप धारण किया—

> कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन।
> नैन जलि भरि रोइ दीनी, ग्रसित आपद दीन।

राधा जब न बोल सकी, तब उसकी ओर से सखियों ने उद्धव से बातचीत कीं। हमने एक निर्मोही से प्रेम किया : 'प्रीति करि निरमोहि हरि सौं, काहि नहिं दुख होइ।' हमें ज्ञात नहीं था कि वह कपटी बाहर से प्रेम दिखा कर भीतर के कपट को इस प्रकार छुपाए रहेगा। यह तो ओछे आदमियों की प्रीति है—

> ऊधौ अति ओछे की प्रीति।
> बाहर मिलत, कपट भीतर यौं, ज्यौ खीरा की रीति।

पर अब कहने से क्या लाभ। हमारे सारे स्वप्न मन में ही तड़प कर रह गये : 'मन की मन हीं माँझ रही।' अन्त में यही कह दिया कि यदि हो सके तो एक बार उनके दर्शन करा दो उद्धव जी।

पहले तो कृष्ण ने राधा के प्रेम को यों ही समझा था। पर अन्ततः कृष्ण को उस प्रेम के छूट जाने का पश्चाताप हुआ। राधा का मूल्य उन्हें अपने समस्त वैभव से भी ऊँचा दिखलाई देने लगा। उनका अन्तर्मन राधा के प्रेम की मधुरिमा की स्मृति से आप्लावित रहता है। एक दिन उन्होंने उद्धव से कह ही दिया : 'सूर चित तें टरति नाहीं, राधिका की प्रीति।'

अब राधिका की अन्तिम झाँकी शेष है। उसके मन की पुकार को निष्ठुर श्याम ने सुना। पुनर्मिलन की स्थिति लाई गई। कृष्ण ने ब्रज को संदेश भेजा : प्रभास क्षेत्र में मुझ से मिलो। कृष्ण न जाने क्यों ब्रज में आकर प्रेमियों से भेंट करना नहीं चाहता। उसके आते ही ब्रज में जो करुणा और प्रेम की धारा उमड़ती, वहाँ

आते ही उसकी समस्त चेतना विगत स्मृतियों की जो घटाएँ घिर जातीं, सम्भवतः कृष्ण उनसे फिर निकल नहीं पाता। इसलिए पुनर्मिलन प्रभास-क्षेत्र में होगा। राधा को पुनर्मिलन की आशा ने विह्वल कर दिया : 'अञ्चल उड़त, मन होत गह गहौ, फरकत नैन खये।' पर अभी राधा से भेंट नहीं हुई। कृष्ण वैसे आ तो गए हैं। पर मानिनी राधा क्यों दौड़ कर जायगी। मन में वैसे भारी विकलता भी हो रही है—

राधा नैन नीर भरि आये।

कब धौं मिले श्याम सुन्दर सखि, यदपि निकट हैं आये।

पर कृष्ण बदले हुए हैं। समस्त साज-सज्जा, भीड़-भाड़, ऐश्वर्य-वैभव राजकुलोचित है। कहाँ ब्रज का साँवला और उसकी निश्छल लीलाएँ और कहाँ यह सब। कृष्ण के साथ विविध वेश-भूषा में नागरियाँ और कहाँ ब्रज की गँवारिन नवेलियाँ। आने की सूचना पाकर सभी अभ्यर्थना के लिए खड़ी थीं। राधा भी एक ओर चुप खड़ी थी। रुक्मिणी की जिज्ञासा शान्त न रह सकी। पूछ उठी : 'प्रिय इनमें को बृषभानु किसोरी।' जिसकी याद आपको कभी नहीं भूलती : 'जाके गुन-गनि गुथति माल, कबहूँ उर में नहि छोरी।' कृष्ण कुछ देर चुप रहे। तब रुक्मिणी ने फिर पूछा : 'नेंक हमें दिखरावहु, अपने बालापन की जोरी।' तब कृष्ण ने दूर से दिखला दिया : 'वह देखो जुवतिन में ठाढ़ी नील बसन तन गोरी।' इसी 'नील वसन' में राधा उस दिन थी, जब श्याम ने उसे पहली बार देखा था। पर कृष्ण इस रूप में उस दिन नहीं थे। राधा को सब कुछ अजनबी लग रहा था। कृष्ण के ऐश्वर्य को देख कर वह रुद्धवाक् थी : "सूर देखि वा प्रभुता उनकी, कहि नहि आवे बात।" रुक्मिणी और कृष्ण राधा की विवशता को समझ गए। रुक्मिणी, राधा को अपने घर ले गई। राधा और रुक्मिणी एक स्थान पर बैठी थीं, प्रेम पूर्वक। कैसा अद्‌भुत संयोग था। सूर ने यहाँ दोनों को ठकुरानी कहा : 'प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोऊ ठकुरानी।'

वह क्षण आगया। अब मिलन होगा। राधा-माधव भेंट कोई साधारण घटना नहीं है। माधव जिस राधा की मनोरम स्मृतियों को लेकर अब तक का समय काट सके और राधा जिस कृष्ण की आत्मगत मूर्ति पर नीराजन समर्पित करती रही, आज एक दूसरे के पास हैं। यदि आज भी अन्तर रह गया, तो अभेद कब होगा। आज दोनों ही एकमेक हो जायँगे। आज दोनों में से किसी ने चूक नहीं की—

राधा माधव भेंट भई।

राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।

माधव राधा के रंग रांते, राधा माधव रंग रई।

माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई।

अब सूर की वाणी रुद्ध हो गई। पर जो कह दिया, वह भी सूर की अद्वितीय सफलता है। अन्यथा, इन क्षणों को वाणी देना किसके बस की बात है।

पर राधा चुप थी। आज राधा कुछ बोल न सकी। आनन्द का समुद्र गम्भीरतम था। उसकी समस्त हलचल अन्तर्मुख हो गई थी। बाह्य अभिव्यक्ति

अनुभावों में न हो सकी। राधा को यह हो क्या गया। उसने समझा जैसे शृङ्गारिक अनुभावमयी व्रज लीलाएँ तो उपक्रम थीं, इस अशेष मिलन की। उनकी स्मृति से तो अब लाज आती है। फिर भी वह सब कुछ भी उपेक्षा की वस्तु तो नहीं थी। आज यदि राधा अनुभाव-वती हो जाती, कृष्ण से साङ्ग मिलन करती तो कौन रोकता। पर इस पगली के भाग्य में तो पछताना ही लिखा है। तब मन की कर न सकी और अब पश्चाताप से सुलग रही है—

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आये हौं रही ठगी-सी, जैसे चित्त घनी।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो, कमलकुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल, जलधारा जु बनी।
कञ्चुकी तैं कुच-कलश प्रकट है, टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अतिलाज मनहिं मन, समुझत निज करनी॥

सूर की राधा की यही अन्तिम झाँकी है। चिर-विरह की ज्वाला से विदग्ध ! अब इसका मिलन कभी नहीं होगा। मिलन होना शेष भी नहीं रहा। इससे अधिक मिलन क्या होगा। यह तो तद्रूपता है: 'कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।' राधा का लक्ष्य कृष्ण को पाना नहीं है। उनकी तृप्ति ही उसका साध्य है। सूर ने राधा की यह झाँकी प्रस्तुत करके हिन्दी गीति-काव्य का उद्धार किया। महाकाव्य की नायिका यदि 'सीता' के रूप में तुलसी ने सँजोई और उसके व्यक्तित्व को सती के आदर्शों से अभिमण्डित कर दिया, तो 'सूर' ने समस्त शृङ्गार, सौन्दर्य, सौकुमार्य, तरलता, अनुभूति और मधुरिमा से सुसज्जित करके एक गीतिकाव्योचित नायिका की प्रतिष्ठा की। आज तक यह राजेश्वरी, निकुञ्जेश्वरी और सौन्दर्याधिष्ठात्री राधा उतनी ही सरल और सद्य बनी हुई है।

३३

तुलसी और नारी

१. प्रस्तावना
२. लोक, शास्त्र और नारी
३. नारी समस्या और मनोवैज्ञानिक पक्ष
४. वैराग्य और नारी
५. तुलसी का नारी चित्रण
६. विभिन्न नारी-पात्र
७. समस्या का समाधान
८. उपसंहार

०. प्रस्तावना—

डा० नगेन्द्र ने तुलसी के नारी-विषयक विचारों के सम्बन्ध में लिखा है : "तुलसीदास के रामचरित मानस तथा अन्य ग्रन्थों में, विभिन्न प्रसङ्गों में ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं, जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति किसी रूप में भी न्याय नहीं करतीं। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य, बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निन्दा की है।"[1] लोक के सबसे अधिक निकट और उसके सबसे बड़े कवि-प्रतिनिधि की जन-जन व्यापी लोकप्रियता को इस सबसे बड़ी ठेस लगी है। नगेन्द्र जी के निष्कर्ष का आधार तुलसी की नारी विषयक वे स्पष्टोक्तियाँ हैं जो किसी पात्र द्वारा या किसी प्रसङ्ग में कवि के द्वारा व्यक्त हुई हैं। पर, इस प्रकार की नीत्यात्मक उक्तियाँ आप्त और आर्ष से सम्बन्धित होती हैं और उन्हें तर्क की अपेक्षा परम्परा का अधिक बल प्राप्त होता है।[2] इन उक्तियों में कवि-कलाकार का समग्र व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित नहीं होता। समाज और उसकी रूढ़ मान्यताओं के प्रति चेतन मस्तिष्क ही इस प्रकार के कथनों के लिए उत्तरदायी हैं। शास्त्रानुशासन और लोक-परम्परा इन दो तत्त्वों से तुलसी की नारी सम्बन्धी कटूक्तियों का जन्म हुआ है। कवि के व्यक्तित्व की अविकल झलक तो उन चित्र-योजनाओं में होती है जिनकी संरचना में कवि की प्रतिभा, कल्पना और अन्तरात्मा की समन्वित साधना निहित रहती है। यदि कवि के साथ न्याय करना है तो शास्त्रानुकूल कटूक्तियों और नारी सम्बन्धी चित्रण दोनों का अध्ययन करना होगा।

---

१. विचार और विश्लेषण (दिल्ली, १९५५) पृ० ४३
२. यह बात डा० नगेन्द्र ने स्वयं मानी है : 'वास्तव में तुलसी की कई कटूक्तियाँ उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति-वचनों का सीधा अनुवाद है। वही, पृ० ४६

१. लोक-शास्त्र और नारी—

लोक और शास्त्र की धारणाओं से तुलसी की नारी विषयक सिद्धान्तोक्तियों का सम्बन्ध है। संक्षेप में इन धारणाओं के विकास को देख लेना समीचीन होगा। 'मानव' या 'मनुष्य' नाम इस बात को सूचना देते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से ही आदि में पुरुष की स्थिति मानी गई है। संसार की अधिकांश सृष्टि-कथाओं के अनुसार नारी का जन्म पुरुष के पश्चात् ही हुआ। कहीं-कहीं पुरुष और नारी का जन्म साथ-साथ भी माना गया है।[१] कहीं-कहीं यह कल्पना भी मिलती है कि पुरुष की सृष्टि तो स्वयं ईश्वर ने की है और नारी-सृष्टि का कार्य 'शैतान' को सौंप दिया गया।[२] इस सब से यही ध्वनित होता है कि सभी देशों की लोकवार्ता में नारी की अधमता की मान्यता रही है। तुलसी की उक्ति की पृष्ठभूमि में यही है—

'अधम तें अधम, अधम अति नारी।'[3]

लोक ही नहीं वेद की दृष्टि में भी नारी हीन है—

कहँ हम लोक-वेद विधि हीनी।
लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥

जिस प्रकार जाति-विधान में धीरे-धीरे ऊँच-नीच की भावना प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार नारी के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किए जाते रहे हैं। नारी पर अधमता, हीनता और अबलात्व का आरोप किन परिस्थितियों में हुआ?

मानव का आरम्भिक इतिहास मुख्यतः भोजन-संग्रह का इतिहास है। इस कार्य में नारी और पुरुष समान नहीं रह सके। प्रजनन और पोषण के कार्यों ने नारी के कार्य-क्षेत्र को तथा उसकी गति को सीमित कर दिया। 'घर' और 'भोजनशाला' उसकी सीमाएँ बन गए। ऋग्वेदीय 'जायेदस्तम्'[४] तथा 'गृहिणी गृहमुच्यते' की भावनाएँ इसी स्थिति से सम्बन्धित हैं। घर के आसपास रह कर अन्न सङ्कलन और वनस्पति चयन के कार्य उसके अन्न-संग्रह-कार्यों की इति बन गए। जब उसकी गति की सीमाएँ इतनी संकुचित हो गईं, तो अनुभव-जन्य ज्ञान भी सीमित होने लगा। उसे निरीक्षण और अनुभव के लिए सीमित क्षेत्र ही प्राप्त हुआ। यही नारी की बौद्धिक हीनता का आरम्भिक हीनता का कारण बन गया। नारी की इसी हीनता की प्रतिध्वनि तुलसी की निम्न उक्ति में है—

'नारि सहज जड़ अज्ञ।'

किन्तु पुरुष की स्थिति इनसे भिन्न थी। वह आखेटक था। उसके अस्त्रों का प्रभाव विस्तृत था। उसकी गति अप्रतिहत थी। प्रकृति के निरीक्षण और नवीन परिस्थितियों का सामना करने के अधिक अवसर उसे मिलते थे। इस प्रकार जहाँ उसके शारीरिक

---

१. Dictionary of Folktlore, Vol. II, P. 1180

२. वही

३. मानस : अरण्यकाण्ड : शबरी प्रसंग।

४. ऋग्वेद, १०।५३।४ [जाया (=स्त्री)+ईन्+अस्तम्=स्त्री ही]

बल में वृद्धि होती थी, वहाँ उसका बौद्धिक प्रशिक्षण और विस्तार भी होता था। समस्त ज्ञान-विज्ञान पर उसके एकाधिकार की भूमिका बनने लगी। पुरुष की इस पृष्ठभूमि में नारी का 'अबला' और 'सहज जड़ अज्ञ' हो जाना स्वाभाविक था।

कृषि-युग में नारी की स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ। अब रक्त, व्यवसाय एवं वर्ण के आधार पर समाज में वर्ग-विभाजन हुआ। इस विभाजन के साथ भी ऊँच-नीच की भावना सम्बद्ध रही। वर्ण-व्यवस्था के समय नारी की स्थिति में कुछ सुधार होने की आशा दिखलाई देती है। उच्चवर्गीय स्त्री निम्नवर्गीय पुरुषों से श्रेष्ठ मानी जा सकती थी। निम्नवर्गों के लिए कुछ अदेय अधिकार उच्चवर्गीय नारियों को प्राप्त होंगे। फिर भी सामान्य नारी को पशु और शूद्र की कोटि में ही रखा गया। तुलसी की यह कुख्यात अर्द्धाली इस तथ्य को स्पष्ट करती है—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।

भारतीय धर्म-शास्त्र में नारी के सम्बन्ध की इस मान्यता की सदीर्घ परम्परा है। नारी, शूद्र और पशु को समान स्तर पर रखने की चेष्टा शतपथ ब्राह्मण में भी मिलती है।[1] यहाँ एक विधान मिलता है : प्रवज्या (की शिक्षा) देते समय स्त्री, शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी को न देखे। पाराशर स्मृति में एक विधान यह मिलता है :[2] जो व्यक्ति शिल्पी, कारीगर, शूद्र अथवा स्त्री को मारे, उसे दो प्राजापत्य व्रत करने चाहिए। मनुजी ने द्विज के शारीरिक शौच के लिए तीन बार आचमन करने तथा स्त्री एवं शूद्र की शुद्धता के लिए एक बार जल छूने मात्र का विधान किया है।[3] मनुस्मृति में यह भी लिखा है कि स्त्री और शूद्र का जूठा खाने पर सात दिन जौ का दलिया, प्रायश्चित स्वरूप, खाना चाहिए।[4] पारस्कर गृह्य सूत्र ने समावर्तन के पश्चात् स्त्री, शव, शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी को न देखने और उनसे न बोलने का आदेश दिया।[5] बौधायन के अनुसार सफलता के निमित्त व्रत करने वाले ब्रह्मचारी को स्त्री और शूद्र के साथ सम्भाषण नहीं करना चाहिए।[6] इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की स्थापना के समय स्त्री और शूद्र को अनेक दृष्टियों से समान स्तर पर रखा गया। तुलसी की उक्त अर्द्धाली इस सुदीर्घ शास्त्र-परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है।

अब पुरुष ने ज्ञान का भी संयोजन किया। शारीरिक बल का मूल्य अपेक्षाकृत कम होने लगा। पुरुष ने ज्ञान-भण्डार पर भी एकाधिकार रखना चाहा। तथाकथित निम्न वर्गों को 'वेद'-पाठ, श्रवण और स्मरण से वंचित करने में 'शास्त्र' प्रवृत्त हुआ।

१. शतपथ० १४।१।१।३१
२. पाराशर स्मृति ६।१६
३. मनु० ५।१३९
४. वही, ६।१५३
५. पारस्कर गृह्य सूत्र (बम्बई, १९१७) २ ८.३
६. बौधायन धर्म सूत्र [काशी, संस्कृत प्रकाशन] ४ ५.४

सांख्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार शूद्र अथवा रजस्वला स्त्री के निकट वेद-पाठ नहीं किया जा सकता।[१] इस प्रकार केवल रजस्वला स्त्री शूद्र के समान मानी गई। पर, बृहन्नारदीय पुराण ने व्यवस्था दी : स्त्री और शूद्र के समीप वेद-पाठ करने से कोटि कल्पों तक नरक यातना भोगनी पड़ती है।[२] इस प्रकार पुराण ने सामान्यतः नारी को शूद्र के समकक्ष रखा। 'वेद' के उच्चतम ज्ञान के अतिरिक्त कुछ अन्य ज्ञान-शाखाओं पर नारी का अधिकार स्वीकृत किया गया। आपस्तंब के अनुसार वेदत्रयी तो नारी की पहुँच से बाहर थी, पर उसे अथर्व का उपदेश पाने का अधिकार था।[३] पुराण-कथा सुनने का अधिकार भी नारी को था। गूढ़-ज्ञान पर नारी का अधिकार नहीं माना गया। तुलसी ने ज्ञानाधिकार के सम्बन्ध में पार्वती से उक्ति कराई है—

'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन—क्रम—वचन तुम्हारी॥
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

पार्वती गूढ़ अध्यात्म तत्त्व पर नारी होने के नाते अधिकार नहीं रखतीं थी। पर दासी और आर्त होने के नाते उस तत्त्व को जानना चाहती हैं।

'दासी' के रूप में नारी की मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय है। बल-बुद्धि-प्रमत्त मनुष्य की अज्ञ, अबला और जीवन-निर्वाह के लिए पुरुष-मुखापेक्षी नारी को अपने अधीन समझने और रखने की बात यों ही समझी जाती है। नारी की स्वतंत्रता के प्रति पुरुष सशंक था। नारी की स्वतंत्रता लोक और शास्त्र दोनों में अमान्य हो गई। जीवन की प्रत्येक अवस्था में उसे पराधीन रहना चाहिए। युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में उसे रहना चाहिए।[४] इसी तथ्य को तुलसी ने इस प्रकार कहा—

'जिमि सुतंत्र होइ बिगरइ नारी।[५]

कुमारावस्था में कुमारी के आचार पर दृष्टि रखने वाला पिता है। उसके कौमार्य की रखवाली उसका भाई करता है। पति की पराधीनता अनेक दृष्टियों से थी। आर्थिक पराधीनता अत्यन्त जटिल थी। यहाँ तक कि स्त्री, पुत्र और दास जो कुछ कमाते थे, वह स्वामी की सम्पत्ति समझी जाती थी।[६] रोम में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी।[७] ग्रीस में भी नारी की परतंत्रता घोषित की गई।[८] राजनैतिक क्षेत्र भी नारी के लिए वर्जित था। नारी की मनोवृत्ति इस सम्बन्ध में यह बनी—

---

१. सां० गृ० सू० ४.७.४७
२. बृ० पु० १४।१४३
३. बुइलर संपादित आप० धर्म० (बम्बई, १८६४)
४. याज्ञवल्क्य, आचार अध्याय ८५
५. मानस : किष्किन्धा० : वर्षा-वर्णन।
६. शुक्रनीतिसार, ४।५।२६५
७. W. A. Hunter, Introduction to Roman Law, (London, 1934) P. 24
८. Ency. of Social Sciences, Vol. 15, P. 442

कोउ नृप होउ हमें का हानी ।
चेरी छाँड़ि न होइहिं रानी ॥

अन्य देशों में भी नारी की यही राजनैतिक उदासीनता बनी रही। ग्रीस में प्लेटो ने तो नारी के सम्बन्ध में कुछ उदार विचार रखे।[१] पर अरस्तू ने इस क्षेत्र में स्त्री और पुरुष में भेद माना। उसके अनुसार प्रकृतितः मनुष्य स्त्री से उच्चतर है। अतः वह शासन करे और स्त्रियाँ शासित रहें।[२] इस प्रकार सभी प्राचीन सभ्य देशों में स्त्री के लिए राजनैतिक क्षेत्र का प्रवेश-द्वार बन्द रहा।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विकास की आरम्भिक स्थिति से लेकर मध्यकाल के अन्त तक नारी की हीनता लोक और शास्त्र दोनों ने ही घोषित की। इसकी परम्परा दीर्घ और प्रबल रही। तुलसी की उपर्युक्त उक्तियों में लोक और शास्त्र की इसी परम्परा की गूँज है। ये या तो पुरुष की पर्दोक्तियों, या नारी की विनयोक्तियों के रूप में प्रकट हुई हैं। कहीं-कही मात्र परम्परा-कथन है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तुलसी का समर्थन भी इन मान्यताओं को प्राप्त है।

२. नारी समस्या का मनोवैज्ञानिक पक्ष—

पुरुष ने नारी की मूल प्रकृति और उपार्जित स्वभाव में कुतत्त्वों का समावेश करके उसकी हीनता सिद्ध की है। कुछ अवगुणों का आरोप नारी पर किया गया। शास्त्र में नारी के आठ अवगुणों की गणना की गई है।[३] ये हैं: साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, अशौच तथा अदाया। तुलसी ने भी यह गणना की—

नारि–सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस, अनृत, चपलता, माया। भय, अविवेक, असौच, अदाया॥

इनमें से 'भय' तो जन्मजात प्रवृत्ति है। शेष अवगुणों का विभिन्न परिस्थितियों में विकास हुआ है। 'चपलता' में मनोनिग्रह के अभाव की ध्वनि है। मानसिक प्रशिक्षण ही नारी का विशेष नहीं हो सका। नारी के साहित्यिक चित्रों में इस अवगुण को अधिक दिखलाया गया है। 'मानस' की 'सती' को इसी के कारण सङ्कट उठाना पड़ा। इसी के कारण नारी-स्वभाव पुरुष के लिए एक रहस्य बना रहा: 'बिधिहुँ न नारि-हृदय गति जानी।' चपलता की भाँति अविवेक भी परिस्थिति-जन्य है। उससे न विवेक की आशा की जा सकती है और न उसमें वह विकसित ही हो सका। नारी से एक ऐसे अटल विश्वास की अपेक्षा की गई कि वह योग्य-अयोग्य सभी प्रकार के पति को देवता समझे। अपने जीवन-साथी के चुनाव में भी उसे विवेक की अपेक्षा, विश्वास से ही अधिक काम लेना पड़ा।

---

१. Plato argued 'that since as far as the state is concerned, there is no difference between the natures of man and woman',
(quoted, Ency. of Social Sciences, Vol 15 P. 442)

२. वही।

३. अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।

वृद्ध, रोगवस, जड़, धन हीना । अन्ध, बधिर, क्रोधी, अति दीना ।।
ऐसेउ पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।[१]

इसी विवेक-शून्य स्थिति को नारी का सबसे बड़ा आदर्श माना गया ।

साथ ही माता रूप में, पुत्र-रक्षा के अवसर पर भले-बुरे के विवेक को छोड़ देना नारी का प्रकृतिगत कर्तव्य हो जाता है । कैकेयी इसी प्रकार के अविवेक से जड़ित है । 'माया' और 'अनृत' नारी को अपनी रक्षा के लिए आवश्यक हैं । नारी को इतने जटिल वातावरण में रहना पड़ता है कि उसका अस्तित्व ही भँवर में पड़ जाता है । एक ओर पति की तुष्टि का प्रश्न है, दूसरी ओर शिशु-पोषण का । इस परिस्थिति ने माया और अनृत को व्यक्तित्व-रक्षा के साधनों के रूप में अपनाने की प्रेरणा दी । माया का प्रयोग अपने मन के निश्चय के पूर्ण करने में भी नारी करती है । विकास में पुरुष नारी का शारीरिक पूरक तो बन सका पर मानसिक पूरक न बन सका । मानसिक क्षति पूरक तत्त्व माया बनी ।

'अनृत' या तो 'माया' के साथ लगा रहता है या 'भय' के साथ । 'सती' का अनृत भय के कारण था :

सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ ।
भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ ।।

अनृत भी सुरक्षा-योजना का ही एक पक्ष है । 'अशौच' का आरोप स्वाभाविक था । जो कार्य हरिजन को करना पड़ता है, वही कार्य माता को भी एक स्थिति में करना होता है । 'मासिकधर्म' को पुरुष ने सदा ही अशुचि माना । पुरुष इस अशुचिता से मुक्त था । अतः पुरुष सुरक्षा-पूर्वक इसका आरोप नारी पर कर सका । 'अनुसूया' ने स्वीकार किया—

'सहज अपावनि नारि ।'

'अदाया' की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि अत्यन्त जटिल है । एक ओर नारी की कोमलता है । दूसरी ओर नारी की प्रस्तरोपम कठोरता । नारी का हृदय विषमान्वयों से पूर्ण है । नारी जिस समय एक कार्य-प्रणाली निश्चय कर लेती है, उस समय वह यह नहीं सोचती कि उसे उसका क्या मूल्य चुकाना होगा । अपने प्रेमी के सम्मुख रसार्द्र नारी अविलम्ब सर्व-समर्पण कर सकती है । पर, यदि उसे विश्वास हो जाय कि उसने अपना विश्वास एक अपात्र में ढाला है, तो उसका हृदय पत्थर हो सकता है । जब कैकेयी दशरथ के प्रेम के प्रति सशङ्कित हो गई, तो वह 'अदाया' से भर उठी । 'शूर्पणखाँ' की 'माया' उसके दृढ़ निश्चय और अमर्ष का परिणाम थी । दृढ़-निश्चय ने उसे सुन्दर रूप धारण करने के लिए प्रेरित किया । अमर्ष और प्रतिहिंसा ने उसे निर्दय और भयङ्कर रूप में प्रकट होने को बाध्य किया ।

नारी के सम्बन्ध में यह भी विश्वास चला आ रहा है कि यौन-वृत्ति नारी के समस्त व्यक्तित्व को अभिभूत किए रहती है । पुरुष की अपेक्षा नारी में काम-विकास

१. रा० मानस, अरण्य० : अनुसूया प्रसंग ।

अधिक माना जाता है। इस दृष्टि से नारी की विश्वास-पात्रता समाप्त हो जाती है। उसके सम्बन्ध में लोक-शास्त्र सम्मत अविश्वास का इतना भयङ्कर रूप बना—

भ्राता, पिता, पुत्र, उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी।
जिमि रवि-मनि द्रवि रबिहिं बिलोकी॥

इसी विश्वास के आधार पर अनेक वार्ताओं का जन्म हुआ। वैदिक साहित्य का यम-यमी सम्वाद बहन के 'भ्राता' के सौन्दर्य पर आसक्त हो जाने की बात कहता है। वास्तव में 'काम' नारी की शक्ति है। इसके आधार पर नारी पुरुष से बल-प्रतियोगिता कर सकती है। काम का बल नारी ही है। काम शक्ति की वाहिका नारी है—

लोभ के इच्छा, दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष वचन बल, मुनिवर कहहिं विचारि॥

इस प्रकार मानव-समाज के विकास में नारी की स्थिति पुरुष से विचित्र बनती गई। इसी स्थिति के आधार पर सामाजिक कार्यों और गुण-दोषों का विभाजन हुआ। दोनों के लिए शास्त्र ने भिन्न भिन्न नियम-विधान, आचार-संयम निश्चित किए। नारी जाने-अनजाने अपनी स्थिति के प्रति जागरूक रही है। नारी का यही परम्परा-विकसित रूप तुलसी की अनेक उक्तियों में व्यक्त हुआ है।

३. वैराग्य और नारी—

योग चित्तवृत्तियों का निरोध है। इस निरोध-साधना में नाथ-योगियों ने भी नारी को बाधक माना था।[1] सन्तों ने भी इसी परम्परा के साथ अपना स्वर जोड़ कर नारी को योग-साधना का बाधक तत्त्व माना। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का वैराग्य-पूर्ण चित्रण सुन्दरदास ने किया। तुलसी ने भी एक प्रसङ्ग में इसी आधार पर नारी की भर्त्सना की है। अरण्यकाण्ड में देवर्षि नारद के प्रति रामजी का यह कथन है—

सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहँ नारि बसंता॥
जप-तप-नेम जलाश्रय भारी। होइ ग्रीषम सोषय सब नारी॥

और—

बुधि, बल, सील, सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना॥

नारी की जो माँ की स्थिति है, उसके अनुसार उसमें मोह, ममता, काम आदि होने ही चाहिए। तप मनुष्य की आदर्श साधना है। मनोनिरोध पर आधारित जो साधनाएँ हैं, उन्हें एक प्रकार से आदर्शवादी साधना कहा जायगा। इस साधना में, चाहे इस्लाम हो, चाहे ईसाई धर्म, नारी के परित्याग की बात कही ही जायगी।[2] नारी मूर्तिमान प्रवृत्ति है : निवृत्ति से उसका समझौता नहीं है। नारद जैसे तपी को नारी में व्याप्त प्रवृत्ति से बचना ही चाहिए।

---

१. गोरखबानी, पृ० ८
२. Ency. of Social Sciences, Vol. 15, P. 439

दूसरी ओर शिव का प्रसङ्ग है। शिव जहाँ योगियों के इष्ट हैं, वहाँ अर्द्धनारीस्वर हैं। सती के शरीर-त्याग से उनमें वैराग्य भर गया। पर अर्द्धनारीश्वर नारी के बिना विकल हैं। काम तो अपनी कलाओं से शिव को विचलित न कर सका, पर दनुज-निधन के अभिप्राय से, शिव का आकर्षण फिर नारी की ओर हुआ। भारतीय दृष्टि से दाम्पत्य की सफलता हितकर सन्तति को जन्म देना है।

४. तुलसी का नारी-चित्रण—

शास्त्र, सदाचार, योग आदि से समन्वित नारी-विषयक विचारों का प्रतिपादन मानस के नारी दर्शन का एक अङ्ग है। नारी-चित्रण उस दर्शन का अधिक आकर्षक रूप है। नारी-पात्रों के चरित्र में तुलसी ने लोकनायकोचित निष्पक्ष न्यायदृष्टि रखी है। नारी का व्यक्तित्व भी वहाँ उभरा है। डा० नगेन्द्र का अभिमत इस प्रकार है : "...सीता, कौशल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी ने केवल राम के नाते से ही किया है। इन पात्रों की महिमा मूलतः राम की ही महिमा है।"[१] आगे वे लिखते हैं : "इन पात्रों के व्यक्तित्व भी अपने आप में कोई विशेष प्रबल नहीं हैं।" तीसरी प्रतियुक्ति यह है : "...मान लीजिए तुलसी ने सीता, कौशल्यादि का महिमागान किया भी है, फिर भी तो यह व्यक्तियों का ही महिमा गान हुआ, नारी जाति की तो उन्होंने सदा निन्दा ही की है।" इन युक्तियों में सार अवश्य है। पर सम्भवतः विद्वान् आलोचक की दृष्टि सीता आदि मुख्य नारी पात्रों के चित्रण पर है। तुलसी की दृष्टि की परीक्षा कैकेयी तथा राक्षस-स्त्रियों के चित्रण के आधार पर होनी चाहिए। जहाँ तक नारी-जाति की भर्त्सना का प्रश्न है, पहले विचार किया जा चुका है : उसमें परम्परा-निर्वाह अधिक है, तुलसी के व्यक्तित्व का योग और समर्थन कम। यहाँ कुछ नारी-चित्रों पर विहङ्गम दृष्टि डाल लेना अभीप्सित है।

४. १. सीता—आध्यात्मिक दृष्टि से सीता आदि शक्ति है : 'आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।' विवाह से पूर्व सीता का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से भी आकर्षक है। राम का सीता के प्रति आकर्षण काम प्रभावित है : 'मानहुँ मदन दुन्दुभी दीनी।' पर सीता राम के रूप से प्रभावित होने पर भी लज्जा से युक्त है। रूप के प्रभाव के साथ धनुष-यज्ञ, शक्ति-परीक्षण की भी योजना है। रूप और शक्ति के बीच एक संघर्ष है। सीता का अन्तर्मन भावी आशङ्काओं से क्षुब्ध हो उठता है। दाम्पत्य जीवन में सती और पतिव्रता के रूप में सीता का व्यक्तित्व उभरता है, राम की महिमा के कारण नहीं। अनुसूया ने घोषणा की : 'सुनि सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।' इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से सीता एक आदर्श की प्रतीक बनी। इसी आदर्श की पूजा एक दिन स्वयं राम ने की—

एकबार-चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

---

१. विचार और विश्लेषण, पृ० ४७

सीता का व्यक्तित्व एक आदर्श गृहिणी के रूप में भी उभरता है—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवत बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करहीं। रामचन्द्र आयसु अनुसरहीं॥

अग्नि-परीक्षा के अवसर पर सीता के व्यक्तित्व की रेखाएँ विश्व-ज्योति की किरणें बन जाती हैं। राम के व्यक्तित्व में वहाँ कोई आकर्षण नहीं है। वह लोक से अभिभूत है। राम के दुर्वादों को सुनकर राक्षसियाँ भी क्षुब्ध थीं: उन्होंने सीता की पवित्रता के संघर्षमय क्षणों को देखा था—

तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सबै, लागीं करै बिषाद॥

और सीता? न भय, न विषाद, न क्षोभ। सत्य पर दृढ़—

पावक प्रबल देखि बैदेहीं। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही॥
जौं मन बच क्रम भय उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सबकै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखण्ड समाना॥

फिर दो वीर पुत्रों को जन्म देकर सीता मातृत्व का आदर्श बनी। यद्यपि यह व्यक्तित्व का ही चित्रण है, फिर भी समस्त नारी-जाति का चरमादर्श इसमें प्रतिबिम्बित है। साथ ही सीता के व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्र हुआ है। वह राम-महिमा की बैसाखियों पर नहीं चलता।

४. २. **सती**—सती के चरित्र-चित्रण में आदर्श अधिक है। 'सती' में यथार्थ अधिक है। सीता के विरह से आकुल राम के प्रति जब शिव को वह प्रणाम करती देखती है, तो उसका विश्वास जम नहीं पाता। वह संशय-ग्रस्त हो जाती है। वह राम का परीक्षण करना चाहती है। अन्त में राम का परब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता है। यहाँ भय ने अनृत की प्रेरणा दी। उसने शिवजी से झूँठ बोला: 'कछु न परीछा लीन गुसाईं।' शिवजी ने उसे दण्ड दिया: उसका पत्नी रूप में परित्याग कर दिया: 'एहि तन सतिहिं भेंट मोहि नाहीं।' पर इस दण्ड-विधान को वे सती के सामने व्यक्त नहीं करते। सती को दुविधा में जलते हुए छोड़कर शिव समाधिस्थ हो जाते हैं। वह पति-परित्यक्ता होकर जीने से मृत्यु को वरणीय समझती है। अन्त में सती ने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर लिया। मरते-मरते भी शिव की वररूप में याचना करती रही—

सती मरत हरिसन बरु माँगा।
जनम-जनम सिव पद अनुरागा॥

इस प्रकार सती का व्यक्तित्व आदर्शोन्मुख है। सती के व्यक्तित्व की यह ऊँचाई न राम के नाते है। और न शिव के कारण ही।

४. ३. **पार्वती**—सती पार्वती रूप में अवतरित हुई। पति के लिए कठोर साधना से पार्वती के व्यक्तितव का आरम्भ होता है। शिव की प्राप्ति हुई। सती के संशय से वह भी ग्रस्त हुई। इस बार शिव जी ने पार्वती की जिज्ञासा का भलीभाँति

समाधान किया। समस्त ज्ञान-विज्ञान को भक्ति से अनुरञ्जित करके शिवजी ने बतलाया। समस्त स्त्री जाति इस भक्ति-दर्शन की अधिकारिणी है। पार्वती का व्यक्तित्व सीता से भी अधिक उभरा है। अन्त में पार्वती की वन्दना के स्वर सुन पड़ते हैं—

जय जय जय गिरिराज किसोरी।
जय महेस मुख चन्द्र चकोरी॥

इस प्रकार तुलसी ने नारी-चित्रण में नारी के साथ पूर्ण न्याय किया है।

४. ४. **कैकेयी**—कैकेयी के चरित्र-चित्रण में तुलसी ने पूर्ण न्याय-दृष्टि रखी है। यह वह नारी-पात्र है जिसे 'राम के नाते' भर्त्सना सहनी पड़ी है। तुलसी ने कैकेयी की सुरक्षा ही की है। देवताओं का षड्यंत्र कैकेयी की वरदान-याचना की पृष्ठभूमि में है—

'बिघन मनावहिं देव कुचाली।'

कैकेयी को सभी पुत्रों के प्रति समान प्रेम करने वाली माता के रूप में चित्रित किया गया है—

'प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरे।'

पर मन्थरा ने नारी के यथार्थ का स्पर्श किया। प्रेम की प्रतियोगिता में नारी अपने उग्रतम रूप में रहती है। सौतिया डाह ने बड़े-बड़े संघर्षो को जन्म दिया है। मन्थरा ने इसी को उभारा—

'जर तुम्हारि चह सवति उखारी।'

फिर मातृत्व का स्पर्श किया—

'पठए भरत भूप ननिअउरे।'

इन परिस्थितियों में नारी का धैर्य और विवेक नहीं रह पाता। वह उग्र रूप में हो जाती है। 'माया', 'अनृत', 'अदाया' सभी तत्त्व उसमें भर उठते हैं। उसने निश्चय किया—

नैहर जनमु भरब बरु जाई।
जिअत न करति सबति सेवकाई॥

फिर भी उसके मन की विकृति का उत्तरदायित्व कवि ने पराप्राकृतिक शक्तियों पर माना है। देवताओं की प्रेरणा से सरस्वती ही उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर गई—

नामु मन्थरा मन्दमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥

इस प्रकार तुलसी नारी-चित्रण में इतने सावधान हैं कि कैकेयी की ही नहीं, मन्थरा की भी रक्षा करते हैं। तुलसी ने तथाकथित अधम नारी-पात्रों का चित्रण भी सहानुभूति के साथ किया है।

४. ५. **राक्षस-नारियाँ**—राक्षस-नारियों का भी तुलसी ने भव्य चित्रण किया है। मन्दोदरी और तारा का चित्रण राम के सम्बन्ध से भव्य माना जा सकता है

फिर भी उनकी दूरदर्शिता और नीति-परायणता योहीं नहीं उड़ाई जा सकती। 'लङ्किनी' तक का चरित्र-चित्रण सावधानी से किया गया है। पुरुष पतित होकर राक्षस बन सकता है, पर नारी राक्षसी नहीं हो सकती। जलन्धर ने समस्त देवों को पराजित कर दिया था। पर अपनी सती नारी के बल से वह अबध्य बना रहा—

परम सती असुराधिप नारी। तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी॥

देवताओं ने उसके सतीत्व को नष्ट किया। तब वह पराजित हुआ।

'मानस' में नारी के लगभग समस्त वर्गों को प्रतिनिधित्व मिला है। गार्गी की परम्परा में अनुसूया है। अधम नारियों का प्रतिनिधित्व शबरी करती है। मन्द-मति मन्थरा है। यथार्थ नारी कैकेयी है। आदर्श नारियाँ हैं—सीता, सती, पार्वती। राक्षस नारियाँ भी हैं। ग्राम-बधूटियों की भी छटा छिटकी हुई है। और प्रत्येक वर्ग की नारी का चित्रण तुलसी ने न्यायपूर्वक किया है। सभी के व्यक्तित्व स्वतंत्र और मुखरित हैं।

५. समस्या का समाधान—

तुलसी का भक्ति-पथ ऊँच-नीच को नहीं मानता। शबरी को उत्तर देते हुए तुलसी के राम कहते हैं—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन, बल, परिजन, गुन, चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

'मानउँ एक भगति कर नाता' कह कर नारी को भक्ति-पथ में आने की सुविधा दी गई। तुलसी में नारी की अपनी अधीनता के प्रति एक मूक क्रान्ति भी सुनाई पड़ती है। पार्वती की माता इस क्रान्ति को स्पष्ट करती है—

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥

इसमें एक विवशता भी है और क्रान्ति भी। सीता की माता भी सीता की विदाई पर कहती है कि विधाता ने हम नारियों को क्यों रचा—

बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी।
कहहिं बिरंचि रची कत नारी॥

शास्त्र इसी पराधीनता को पतिव्रत बना देता है। तुलसी ने दाम्पत्य की मोहक परिणति में पराधीनता की कटुता को समाप्त कर दिया है।

कामुकता के आधार पर भी तुलसी ने नारी की भर्त्सना नहीं की। तुलसी की दृष्टि में यदि पतन हो सकता है तो स्त्री-पुरुष दोनों का ही हो सकता है। इस दृष्टि से नारी और पुरुष एक ही धरातल पर हैं। यदि नारी कामान्धता में पिता, पुत्र, भ्राता का विवेक खो बैठती हैं, तो पुरुष भी ऐसा ही कर सकता है—

'नहिं देखहिं कोइ अनुजा-तनुजा'

काम ने जब विस्तार किया, तब—

'अबला बिलोकहिं पुरुषमय, जग पुरुष सब अबलामयं।'

यदि नारी अपने सतीत्व को छोड़ कर पतित हो जाती है—

'गुन-मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर-पुरुष अभागी।'

तो पुरुष का पतन भी हो जाता है—

कुलवंति निकारहिं नारि सती।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥

इस प्रकार तुलसी ने पुरुष और नारी के सम्बन्ध में जहाँ अपने विचार व्यक्त किए हैं, वहाँ उनकी दृष्टि निष्पक्ष और सन्तुलित है। जहाँ तक सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, तुलसी ने नारी के साथ भी न्याय किया है। धनुष-यज्ञ में नर-नारी दिनों वर्गों को ससम्मान यथास्थान बिठाया गया—

कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि।

राम-राज्य में चातुर्य की दृष्टि से नर-नारी समान थे—

नर अस नारि चतुर सब गुनी।

उनकी दृष्टि में यह अन्याय है कि नारी से पतिव्रत की आशा की जाय और पुरुष को एक-नारी-व्रत के नियम से स्वतंत्र रखा जाय। अतः रामराज्य में यह हुआ—

'एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन-बच क्रम पति हितकारी।'

इस प्रकार रामराज्य में नारी और पुरुष की समान स्थिति की ओर तुलसी ने संकेत किया है। दोनों ही अपने कर्तव्य-पालन करके कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। यही तुलसी का लोकनायकत्व है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि केवल रूढ़ धारणाओं को रूपान्तरित करने वाली उक्तियों के आधार पर तुलसी को नारी-विरोधी ठहराना उपयुक्त नहीं है। उनके नारी के प्रति जो विचार हैं, उनका प्रतिनिधित्व इन उक्तियों के द्वारा नहीं होता। यह तो नारी सम्बन्धी विचारों का शास्त्रोक्त रूप है। कहीं भी इनका स्पष्ट समर्थन तुलसी ने नहीं किया। रामराज्य की योजना तथा नारी के चरित्र-चित्रण में निश्चय ही तुलसी निष्पक्ष हैं और उन्होंने ऐसे स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले नारी पात्रों की सृष्टि की है, जिनमें उनकी न्याय-दृष्टि भी स्पष्ट है। केवल एक ही दोष तुलसी पर लगाया जा सकता है कि उन्होंने नारी विषयक शास्त्रीय, अनुदार विचार-धारा को भी 'मानस' में स्थान दिया है।

३४

तुलसी-साहित्य : विकास क्रम

१. प्रस्तावना
२. तुलसी की रचनाओं का क्रम
३. तुलसी का व्यक्तित्व
४. रचनाओं का क्रम
५. शैली-स्तर-प्रथम स्थिति, शैली स्तर-द्वितीय स्थिति, शैली स्तर-तृतीय स्थिति
६. वस्तु-विकास
७. भाव-विकास
८. उपसंहार

१. प्रस्तावना—

तुलसी से अधिक हिन्दी का कोई कवि लोकप्रिय नहीं हुआ। लोकप्रियता में उनकी समानता भी कोई नहीं कर सकता। स्मिथ ने तुलसी को अपने युग का सबसे महान् व्यक्ति कहा है।[१] ग्रियर्सन ने, तुलसी की प्रभाव-विस्तृति और लोकप्रियता की चर्चा करते हुए उन्हें भारत की ही नहीं, एशिया की एक महान् प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया।[२] जीवन को इतनी बड़ी सीमा तक प्रभावित करके तुलसी ने अपना स्थान विश्व-साहित्य में भी सुरक्षित कर लिया है। भौगोलिक दृष्टि से भी तुलसी साहित्य विश्व-साहित्य बनता जा रहा है: कई विदेशी भाषाओं में उसका रूपांतरण भी हुआ है और विश्व के कुछ विश्वविद्यालयों में तुलसी पर अध्ययन भी हुआ है और चल रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है : 'जिनकी रचना सर्वप्रिय होती है, वे ही विश्व-कवियों की श्रेणी में आते हैं। विश्व का अर्थ 'सर्व' है। 'विश्व' का भौगोलिक अर्थ भी उन्हीं कवियों के लिए इस विशेषण में सार्थक होता है। महाकवि तुलसीदास ने जो कुछ लिखा वह अभी विश्व-काव्य के रूप में भले ही न आया हो, पर रामचरित मानस विश्व-काव्य के इस अर्थ में पूर्णतया प्रतिष्ठित है।"[३] विश्व-

१. V. A. Smith, Akbar, the Great Moghul, 2nd Ed., P. 417.

२. "I give much less than the usual estimate when I say that fully ninety millions of people base their theories of moral and religious conduct upon his (Tulasidas) writings. If we take the influence exercised by him at the present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia" —Encyclopaedia of Religious Ethics.

३. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० २२७

कवि के रूप में तुलसी का अध्ययन होना अभी शेष है। वैसे तुलसी पर बहुत लिखा गया है। इतना लिखा गया है, जितना सम्भवतः हिन्दी के किसी कवि पर नहीं लिखा गया। इतना सब होते हुए भी लगता है कि जितना लिखा जाना चाहिये था, उतना नहीं लिखा गया। इस प्रकार की भावना किसी कवि की महान् प्रातिभ साधना को ही सिद्ध करती है। अध्येताओं को और अधिक आत्म-विश्वास की आवश्यकता है कि तुलसी को विश्व-कवि के रूप में अधिष्ठित कर सकें। आवश्यकता इस बात की भी है कि भावुकता और चारण की जैसी प्रशस्ति से अपने अध्ययन को मुक्त करके अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर, सभी आधुनिक पद्धतियों से तुलसी-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इस निबन्ध में तुलसी की रचनाओं के क्रम का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभिप्रेत है।

२. तुलसी की रचनाओं का क्रम—

बाबा वेणीमाधवदास ने 'मूल गोसाई चरित' में रचनाओं का यह काल-क्रम दिया है :

१. राम गीतावली तथा कवितावली के कुछ छन्द	सं० १६२८ से ३१ तक
२. कृष्ण गीतावली	सं० १६२८
३. रामचरितमानस	सं० १६३१
४. दोहावली	सं० १६४०
५. सतसई और रामविनायावली (विनय पत्रिका)	सं० १६४२
६. रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल	सं० १६४३
७. बाहुक	सं० १६६९
८. वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा प्रश्न, बरवै रामायण	सं० १६६९

यह तेरह ग्रन्थों की सूची है। कवितावली का उल्लेख इसमें नहीं है। कविता-वली एक समय और स्थान पर लिखी रचना नहीं है। विभिन्न स्थानों और समयों पर रचित कविताओं का संग्रह है।[1] शिवसिंह सरोज में जो सूची मिलती है, वह इससे भिन्न है।[2] इसमें छन्दावली, कुन्डलियाँ रामायण, रामशलाका संकटमोचन, करखा, छन्द, रोला-छन्द, झूलना छन्द का उल्लेख इस सूची में है। 'मूल गोसाई चरित' में नहीं है। बाहुक और संदीपिनी का इस सूची में उल्लेख नहीं है। जार्ज ग्रियर्सन ने पहले इनके २१ ग्रन्थों की बात कही थी[3], पीछे उन्होंने १२ ग्रन्थों की सूची दी।[4] उनकी दृष्टि

१. डा० भगीरथ मिश्र, तुलसी रसायन, पृ० ६५

२. शिवसिंह सरोज, पृ० ४२६

३. Indian Antiquary, Vol. XXII, 1893, P. 122 में इन ग्रन्थों की सूची है : मानस, गीतावली, कवितावली, छप्पय रामायण, राम सतसई, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, वैराग्य-संदीपिनी, रामलला नहछू, बरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न (राम-सगुना-वली) संकट मोचन, विनय-पत्रिका, झूलना, श्रीकृष्ण गीतावली।

४. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12, P. 470 : कवितावली, दोहावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय पत्रिका और रामचरित मानस, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामाज्ञा।

में १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं। बंगवासी प्रेस ने १७ ग्रन्थ भेंट किए।[1] इस सूची में तीन रचनाएँ ऐसी हैं जिनका ग्रियर्सन ने उल्लेख नहीं किया : कलि धर्मा धर्म-निरूपण, हनुमान चालीसा, रामायण छन्दावली। ग्रियर्सन की सूची की चार रचनाएँ छोड़ दी गई हैं : रामशलाका, करखा रामायण, शेला रामायण और झूलना रामायण। कुल मिलाकर २४ ग्रन्थ होते हैं। मिश्र-बन्धुओं ने 'पदावली रामायण' और जोड़ कर संख्या पच्चीस कर दी है। इस सूची में से उन्होंने १२ ग्रन्थों को प्रामाणिक और १३ को अप्रामाणिक माना है।[2] अधिकांश विद्वान ग्रियर्सन के बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं। रचनाओं का काल-क्रम निश्चित करना कठिन है। कारण यह है कि तुलसी ने अपनी केवल तीन कृतियों का रचना-काल दिया है। ऊपर 'मूल गोसाईं चरित' का कालक्रम डा० माताप्रसाद गुप्त को मान्य नहीं है। उन्होंने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि और वैज्ञानिक पद्धति से तुलसी की रचनाओं का स्वच्छ काल-क्रम निर्धारित किया है। क्रम-तालिका इस प्रकार है[3] —

अ.	प्रारम्भिक (सं० १६१६-२५)		
	१. रामलला नहछू	स० १६१६	अवस्था २७ वर्ष
	२. रामाज्ञा प्रश्न	१६२१	३२ वर्ष
आ.	मध्यकालीन (सं० १६२६-४५)		
	१. जानकी मंगल	१६२६	३८ वर्ष
	२. रामचरित मानस	१६३१	४२ वर्ष
	३. पार्वती मंगल	१६४३	५४ वर्ष
इ.	उत्तरकालीन (सं० १६४६-६०)		
	१. गीतावली	१६५८	६९ वर्ष
	२. विनय पत्रिका	१६५८	६९ वर्ष
	३. कृष्ण गीतावली	१६५८	६९ वर्ष
ई.	अन्तिम और अपूर्ण (१६६१-८०)		
	१. बरवै।		
	२. सतसई दोहावली।		
	३. कवितावली।		
	४. बाहुक।		

प्रस्तुत अध्ययन में इसी कालक्रम को आधार बनाया गया है। वैराग्य संदीपनी भी सम्भवतः उत्तरकालीन है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३८४

२. हिन्दी नवरत्न, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८१-१०१

३. तुलसीदास, प्रयाग, १९५६, पृ० २७६

३. तुलसी का व्यक्तित्व : संघर्ष—

उक्त रचना क्रम पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन के पूर्व कवि के जीवन-संघर्ष की संक्षिप्त झाँकी उचित होगी। तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह दरिद्रता की चक्की में पिस रहा था। जन्मोत्सव न जाने कितनी काली रेखाओं में उलझ गया। कितना अभागा बालक कि जन्म के कुछ दिन पश्चात् माता-पिता के वात्सल्य की छाया से वह वंचित हो गया।[१] न जाने बालक तुलसी के भाल में कितनी कुटिल लेखाएँ भर दीं। माता-पिता तो चले गए और बालक को इतनी छोटी अवस्था में ही भिक्षा-वृत्ति अपनानी पड़ी। द्वार-द्वार उसने दाँत निकाल कर, पैरों गिरकर अपनी दीनता प्रकट की।[२] दुर्भाग्य ही रहा कि किसी ने बात भी नहीं पूछी बड़े-बड़े तथा कथित दयालु सुन कर ही रह गये। किसी ने बात तक न पूछी।[३] दुर्भाग्य की सीमा देखनी हो तो देखिए कि कुत्तों के लिए फेंके गए रोटी के टुकड़ों को देखकर बालक तुलसी ललचा रहा है।[४] कलियुग में मीत तो स्वार्थ के होते ही हैं: उन्होंने भी तुलसी को धीरज नहीं दिया।[५] इन बाल्य कालीन भाग्य-व्यंग्यों से बाल तुलसी का कोमल मन छलनी हो गया: संसार की कुटिलताओं के साँप प्रतिक्षण उसे काटते रहते थे। यदि उसे कहीं शरण मिली तो संतों के समाज में। उन्होंने तुलसी को आश्वासन दिया। राम पशु और पापियों को भी शरण देते हैं।[६] वेदनाओं की भीड़ में संतों की दी हुई आशा-किरण से खलबली मच गई। राम का आश्रय हनुमान जी के माध्यम से प्राप्त हुआ। तुलसी ने आभार स्वीकार किया।[७] उन्होंने कहा कि तुम्हारे दिए टुकड़ों से ही मेरा पोषण हुआ।[८] इस प्रकार दर-दर भटकते-टूटते तुलसी को हनुमदाश्रम प्राप्त हुआ।[९] सम्भवत: किसी हनुमान-मन्दिर की ओर से उनकी जीविका की व्यवस्था हो गई थी। इसी सन्त समाज में से एक महात्मा से तुलसी ने दीक्षा ली। गुरु नरहरिदास का तुलसी ने अनेकत्र नाम लिया है.[१०] इन्होंने व्यथित तुलसी को राम-रहस्य समझाया। वहीं तुलसी के काव्य-कल्पवृक्ष के रूप में आगे चलकर फला-फूला।

---

१. 'मातु पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई'
—कवितावली, उत्तर, ७३

२. द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ। —विनय पत्रिका, २७५

३. 'हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषन काहू'
—विनय पत्रिका

४. 'नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकनि लालि ललाई।' —कवितावली, उत्तर, ५७

५. 'स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।'—विनय पत्रिका

६ दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तो से पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहू।— विनय-पत्रिका

७. 'बालक बिलोकि बलि बारेतें आपनो कियो,'—हनुमान बाहुक, २१

८. 'पालो तेरे टूक के परे हूँ चूक मूकिए न'—वही, ३४

९. वही, २९

१०. बंदौं गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।' मानस : बाल : वंदना।

इस प्रकार आर्थिक परिस्थितियों और निराशा की झाड़ियों से जूझता हुआ, उलझता-सुलझता तुलसी संतों, गुरु और हनुमान की शरण में आया।

काम-संघर्ष भी जटिल रहा। राम के सम्मुख तो हो गये थे और राम के रहस्य को भी उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। पर अभी एक मूक पीड़ा की भाँति यह राम-रसायन चेतना के रहस्य-स्तरों में समाया रहा। प्रेरणा बलवती नहीं हुई थी। काम-संघर्ष की जटिलता ने प्रेरणा दी। राम के सम्मुख होने के पश्चात् तुलसी ने लोक-जीवन में पदार्पण किया। आर्थिक थपेड़ों से जर्जर व्यक्तित्व जब विवाह के रूप और प्रेम से भरे वातावरण में आया तो, काम की वायु आँधी बन गई।[1] नारी के काम-संकेतों में उलझ कर तुलसी ने न जाने कितने अंधकार को अपने अहं के आसपाप केन्द्रित कर लिया। 'बाहुक' में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयौ,
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोक-रीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं॥
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनी कुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाई भयो भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥[2]

है तो किंवदन्ती, पर है शक्तिशाली, एकरूप, व्यापक और यथार्थ। कवि ने इसका उल्लेख नहीं किया। प्रियादास ने 'भक्तमाल' में आए तुलसी विषयक छप्पय की टीका का आरम्भ ही इसके उल्लेख से किया। वह किंवदन्ती पत्नी सम्बन्धी अत्यधिक आसक्ति की है। पत्नी के भर्त्सनामय प्रेरणा से तुलसी साहित्य-रचना और भक्ति भावना में प्रवृत्त हुए। पूर्व संस्कारों को झंकृत-जाग्रत करने के लिए रत्नावली शारदा बन गई। महाकवि निराला ने इस क्षण का लेखा यों प्रस्तुत किया है। रत्नावली के मुख से ये जलते शब्द निकले—

"हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ-हाड़ चाम!
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए!"

तुलसी ने यह सुनकर दृष्टि उठाई और सामने एक अनल-प्रतिभा देखी: उससे वासना जल गई और पूर्व संस्कार जग उठा—

१. 'जोवन ज्वर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरे मदन बात।'—विनय-पत्रिका, ८३
२. बाहुक, ४०

'जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, बामा, वह न थी, अनल-प्रतिमा वह।

दूसरी दृष्टि में उन्होंने रत्ना में शारदा के दर्शन पाये। उसका अन्तर्मन-पक्षी आत्मा की अनन्त नीलिमाओं में उड़ता गया, उड़ता गया—

दृष्टि से भारती से बँध कर
कवि उठता हुआ चला ऊपर;
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा।

कितने ही ज्योति-निर्झरों से कवि की प्रतिभा स्नात हो गई। अभूतपूर्व झंकारों से कवि के मन का शून्य निनादित हो गया। वैराग्य तो जगा पर लोकोन्मुख वैराग्य। रत्ना की ज्योति कवि के चेतन के कण-कण में समा गई। एकमूर्ति कवि के व्यक्तित्व में इतनी गहराइयों में उतर गई कि वह कभी भी कवि के शब्दों में अवतरित नहीं हुई।

चल मंद चरण आए बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर।[1]

तुलसी के जीवन की इन झलकियों से उनके जीवन का वह संघर्ष स्पष्ट हो जाता है जिसकी पीड़ाओं को लेकर वे काव्य-साधना में निरत हुए। तुलसी के व्यक्तित्व की वह शक्ति भी स्पष्ट है जिसके कारण उनका जीवन टूटा नहीं। आर्थिक संघर्षों ने उनके जीवन को आध्यात्मिक तट की ओर मोड़ दिया। पीड़ा के इस उदात्तीकृत रूप को कविता की धारा में परिवर्तित करने का श्रेय उनके यौन संघर्ष को है। उमड़ता हुआ वासना-प्रवाह एक सुदृढ़ चट्टान से टकराया और काव्य-कानन को सींचने लगा। इस परिस्थिति ने गुरु-मुख से निःसृत राम-रहस्य को अनुभूतिमय बना दिया।

३. रचनाओं का क्रम : मनोवैज्ञानिक संघर्ष—

यह संघर्ष तीन स्तरों पर देखा जा सकता है : शैली, वस्तु और भाव। यह विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए ही है।

३. १. शैली-स्तर— प्रथम स्थिति-शैली की दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तुलसी की रचनाओं का इस प्रकार वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :

---

१. उक्त समस्त उद्धरण, निरालाजी के 'तुलसीदास' से हैं।
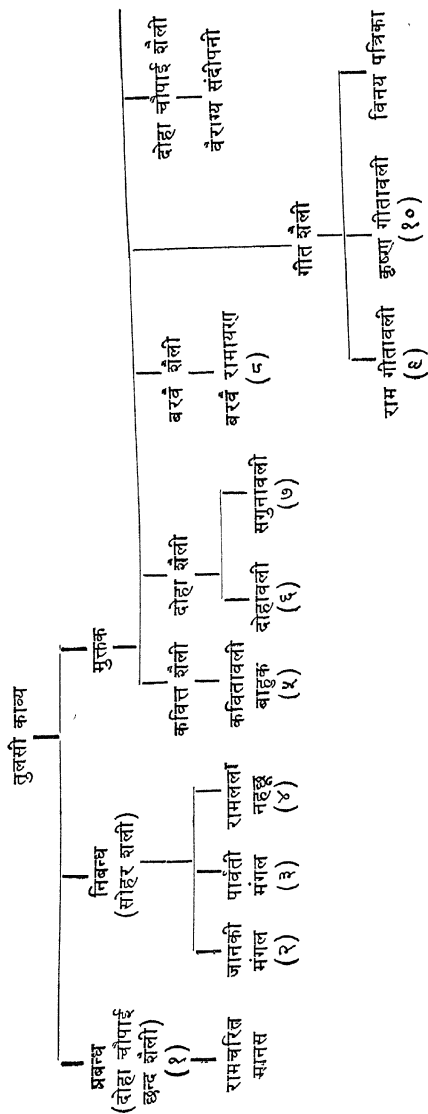
यह वर्गीकरण दुहरा है : इसका मूलाधार शास्त्रीय-बंध है। बंध को प्रयुक्त छन्द के आधार पर शाखाओं में बाँटा गया है। बंध की दृष्टि से उस युग में एक संघर्ष दिखलाई पड़ता है। तुलसी के पूर्व निर्गुणियाँ सन्तों ने महाकाव्य या प्रबन्ध को ग्रहण नहीं किया। उनको आवश्यकता भी नहीं थी। उनको किसी का चरित्र नहीं कहना था : निर्गुण का चरित्र ही क्या? तुलसी के युग में दो चरित्र गेय बन गये : राम और कृष्ण। कृष्ण का चरित्र विभिन्न लीलाओं का संग्रह मात्र था। उसमें प्रबन्धोचित एकसूत्रता का अभाव था। यदि कोई सूत्र-बिन्दु था, तो उसका विकास एक सीधी रेखा में न होकर, वृत्ताकार होता था। प्रसंगों की घटनाएँ अपने आप में

वस्तुविस्तार इतना नहीं रखती थीं। उनकी भाव-स्फीति गीति शैली में ही सम्भव थी। इस प्रकार सूत्र विधान इस प्रकार हुआ : एक दीर्घवृत्त जिसके केन्द्र में कृष्ण; उस दीर्घवृत्त में अनेक प्रसंग वृत्त; और इन प्रसंग वृत्तों में अनेक भाव-वृत्त, जिनके केन्द्र में संक्षिप्त घटना। कृष्ण को लेकर प्रबन्ध रचना या तो महाभारत को लेकर हो सकती थी या द्वारका की प्रेम-कथाओं को लेकर। इन दोनों ही पद्धतियों पर तेलुगु साहित्य में 'अष्टदिग्गजों' ने तथा अन्य कवियों ने भी प्रबन्धों की रचना की। हिन्दी में ब्रजकृष्ण मान्य था : इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध-रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। गीत की बाढ़ तो आई पर गीत प्रसंगापेक्षी बने। केवल मीरा ने ऐसे गीतों की रचना अवश्य की जिनका केन्द्र कोई प्रसंग नहीं था। शुद्ध प्रणय-निवेदन ही गीत में स्फीत है। मीरा ने प्रसंगापेक्षी गीत कम गाए। मीरा के प्रसंग-मुक्त गीतों में दो ही पक्ष हैं : कवयित्री और प्रिय। प्रसंगापेक्षी गीतों में तीन पक्ष हैं : कवि, लीला-प्रसंग और आराध्य। सूर आदि कवियों ने अपना प्रणय-निवेदन सीधे नहीं किया : चाहे वैयक्तिक साधना में सम्बन्ध सीधा हो। यदि सीधे-सीधे कुछ कहा तो दास के रूप में विनय को स्फीति प्रदान की। इस प्रकार इस युग के एक क्षितिज पर गीतों की उषा अनिर्वचनीय लालिमा में मुस्करा रही थी। इन गीतों में लोक-गीत शैली यदि कुछ मिलती है तो मीरा में है। अन्यथा जो लोक-गीत शैली कबीर आदि में थी, वह लुप्त हो गई थी। गीत का बाह्याकार सङ्गीत-शास्त्र की दृष्टि से नियोजित था और केन्द्रस्थ भाव-रस की संयोजना रस-शास्त्र की दृष्टि से होती थी। इस प्रकार गीत भी शास्त्रीयता से प्रभावित और सीमित हो गया था। वैयक्तिक अनुभूतियाँ प्रसंग पर आधारित हो गई थीं।

युग के दूसरे क्षितिज पर प्रेम-गाथा का सूत्र-वितान था। कथा की दृष्टि से लोक-कथा मान्य थी। विधान की दृष्टि से शुद्ध महाकाव्य का विधान नहीं, कहानी का सा सूत्र-विकास ही मिलता है। मसनवी की शास्त्रीय पद्धति इनको अवश्य मान्य थी।

तुलसी में शैली का वैविध्य बहुत मिलता है। शैली वैविध्य की दृष्टि से केशव तुलसी से तुलनीय है। पर केशव के शैली वैविध्य के पीछे शास्त्रीय और चमत्कार की दृष्टि थी। तुलसी का शैली वैविध्य इन दोनों ही दृष्टियों से शून्य है। केशव की शैली में लोक को स्थान नहीं। तुलसी लोक शैली से ही अपनी काव्य-साधना का आरम्भ करते हैं। काव्य-साधना के आरम्भ में तुलसी का मानसिक संघर्ष बड़ा जटिल था। आरम्भिक दुर्भाग्य और हीनता ग्रन्थि बनते-बनते बचे थे। सन्त-समागम ने ग्रन्थि के निर्माण से पूर्व ही दैन्य की दिशा उदात्त की ओर मोड़ दी। लोक-जीवन में प्रविष्ट होने पर क्षति-पूरक प्रेम-भावना उद्दाम वासना के रूप में परिणत होकर एक झटके के साथ रुक गई। पहली प्रतिक्रिया में विनय-गीतों की आत्म-निवेदनात्मक शैली की आवश्यकता निहित थी। दूसरी में कुण्ठित वासना किसी ऐसी शैली की खोज में थी कि दमित शृङ्गार-भावना प्रकट हो सके।

डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जिसे शास्त्रीय दृष्टि से निबन्ध-शैली कहा है, वस्तुतः वह लोक-गीत शैली ही है। लोक-गीत का वातावरण अत्यन्त उन्मुक्त होता है। वहाँ श्लील-अश्लील की भावना स्तब्ध रहती है। शास्त्रीयता भी इस शैली के दुर्दम प्रवाह को नियन्त्रित नहीं कर सकती। इसमें समाविष्ट शृङ्गार, जीवन का भाग बन कर आता है। तुलसी ने लोक-गीतों की शैली को ही अपनाया।

लोक गीत दो प्रकार के होते हैं: उमंग, उल्लास और क्रीड़ा से परिपूर्ण और आनुष्ठानिक। प्रथम प्रकार के गीत ऋतु-उत्सवों या सामान्य मनोविनोद से सम्बन्धित होते हैं। इन गीतों की गति तीव्र होती है। इनमें परिवर्तन भी अधिक होता है। नवीन कवि भी ऐसे गीतों की रचना करते रहते हैं। पर आनुष्ठानिक गीत एक बार अनुष्ठान के अङ्ग बन कर दीर्घकाल तक चलते रहते हैं। मनुष्य जीवन के दो प्रमुख अवसर हैं: पुत्र-जन्म और विवाह। इन दोनों से ही सम्बन्धित अनुष्ठान गीत प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। तुलसी ने विवाह से सम्बन्धित गीतों की रचना की। इन गीतों की शैली सामूहिक गीत-शैली होती है। वैयक्तिक भावनाओं का इनमें कम स्थान रहता है। वस्तुतः इन गीतों में आदिम मन और सामूहिक अवचेतन के तत्त्व संग्रथित रहते हैं। तुलसी ने इन्हीं तत्वों का समावेश करके इस शैली को यत्किंचित व्यवस्थित किया। लोक-गीत बाह्य व्यवस्था की भी चिन्ता नहीं करता। उसकी मात्रा-गत व्यवस्था आवश्यकतानुसार ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व के रूप में गाकर ही रखी जाती है।

'रामलला नहछू' की रचना सोहर छन्द में हुई है। यह छन्द शुभ माना जाता है। आनुष्ठानिक गीत का केवल अर्थ ही नहीं उसकी समस्त ध्वनियाँ, उसका छन्द, उसकी लय सभी सुनिश्चित हो जाते हैं और मङ्गलमय माने जाते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसे विवाह के समय का माना है। पं० रामगुलाम द्विवेदी ने इसे उपवीत के अवसर का माना है। डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार यह गीत ऐसा है जो दोनों ही अवसरों पर गाया जा सकता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी कुछ प्रसङ्गगत असङ्गतियों की ओर संकेत किया है। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि लोकगीत रचने वाले तुलसी की दृष्टि कालक्रम पर नहीं रही। उनको एक आनुष्ठानिक गीत लिखना था। सामान्य पात्रों के स्थान पर राम, कौशल्या, दशरथ आदि को रखकर इसका स्तर ऊँचा करना था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि माङ्गलिक अवसरों पर गाए जाने वाले लोक-गीतों में पहले राम-सीता आदि नहीं थे। सर्वत्र ही इस प्रकार के गीतों में आदर्श और लोक-प्रसिद्ध पात्रों का उल्लेख होता है। लोक-मानस फिर इसका ध्यान नहीं रखता कि विवाह मिथिला में हुआ और नहछू कैसे अयोध्या में हो सकता है। उसके ध्यान में केवल वे सम्बन्धी रहते हैं जो अनुष्ठान में सक्रिय रहते हैं। तुलसी ने उस गीत-शैली को इसी प्रकार युक्त रखा है। जानकी मङ्गल और पार्वती मङ्गल भी इसी अनुष्ठान से सम्बद्ध हैं।

'नहछू' गीत का क्षेत्र सीमित है : इस गीत का प्रचार भी स्थानीय प्रतीत होता है और शिष्ट साहित्य में भी इसका प्रवेश नहीं हुआ। मङ्गल-गीत की परम्परा अखिल भारतीय है। वैवाहिक अनुष्ठान में धर्म और काम का मिश्रण है। वैयक्तिक रूप से दो भिन्न लैंगिक आत्माओं का गठबन्धन है। सामूहिक रूप से भी हर्षोत्कर्ष का पारावार उमड़ पड़ता है। यह अनुष्ठान इसी भूमिका में मङ्गलमय है। विवाह सम्बन्धी इस गीत शैली का धार्मिक और लौकिक साहित्य मे १४ वीं शती के आरम्भ से ही प्रयोग होने लगा था। जैन साहित्य में 'द्रव्य' और 'भाव' विवाह मिलते हैं। 'द्रव्य विवाह' पति-पत्नी का सम्बन्ध लौकिक दृष्टि से जोड़ते हैं । 'भाव विवाह' आध्यात्मिक रूपकों से सम्बद्ध हैं। कवियों ने जैनाचार्यों के दीक्षा-ग्रहण के अवसर को लेकर 'दीक्षा कुमारी' या 'संयमश्री' को कन्या मानकर इनके साथ, उनके विवाह के रूपक सम्पन्न किए हैं। 'संयमश्री विवाह वर्णन' जैसे काव्यों में ये ही रूपक हैं। आभ्यन्तरिक विवाहों की भी परम्परा मिलती हैं : आत्मा के कुछ विशेष गुणों को कन्या के रूप में कल्पना करके, उनके साथ आत्मा का विवाह रचाया जाता है। यह परम्परा अपभ्रंश में बलवती रही। आध्यात्मिक विवाह की यह परम्परा कबीर के 'आदिमङ्गल' तक चली आई है। मीरा के काव्य में विवाह आध्यात्मिक प्रेम से उच्छलित आत्मगीतों में ढल गया था। पृथ्वीराज रासो में 'विनय मङ्गल' मिलता है। एक ब्राह्मणी संयोगिता को विनय-मङ्गल पढ़ाती थी। समस्त भारतीय साहित्य में मङ्गल-काव्यों की परम्परा मिलती है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे 'मङ्गल' छन्द भी सुनिश्चित हो गया था। आचार्य हेमचन्द्र ने 'छन्दानुशासन' में धवल और मङ्गल छन्द का निर्देश किया है। इस उल्लेख के अनुसार मङ्गल छन्द के प्रथम द्वितीय चरण में २० या २१ मात्राएँ, और तृतीय व चतुर्थ चरण में २२ या २३ मात्रायें होती हैं। अन्य-अन्य छन्दों में होने पर उनका नाम उत्साह मङ्गल, दोहक मङ्गल होता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद ने तुलसी के मङ्गल काव्यों के छन्द विधान के सम्बन्ध में लिखा है : "हस्तलेखों में अधिक संख्या में प्रयुक्त छन्दों का नाम मङ्गल छन्द दिया हुआ है। दूसरा छन्द प्रसिद्ध हरिगीतिका है। जो चार-चार मङ्गल छन्दों के अन्तर पर आया है। प्राचीन पद्धति के अनुसार दो-दो चरणों की एक संख्या मानी गई है। मङ्गल छन्द वस्तुतः मात्रिक हंसगति छन्द है जिसमें ११ और ९ के विश्राम से प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं।"[2] मिश्रजी ने जानकी मङ्गल को मानस के अनन्तर की रचना माना है।[3] पर डा० माताप्रसाद गुप्त के तर्क जो इन्हे प्रारम्भिक रचना मानने के पक्ष में है, उपेक्षित नहीं किए जा सकते।

---

१. 'भारतीय साहित्य', जनवरी १९५६, पृ० १३९—१६२

२. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० २८७

३. वही

ऐसा प्रतीत होता है कि विरक्त होने के पूर्व ही इन रचनाओं की भूमिका तुलसी के मस्तिष्क में थी। उन्होंने 'नहछू' की सोहर शैली को उन्मुक्त मन से ग्रहण किया। लोक और शास्त्र का सांस्कृतिक संघर्ष कवि के मन में तब तक नहीं उठा था। उन्होंने शुद्ध लोक शैली को ग्रहण कर लिया। मौखिक परम्परा गीत में जो अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है, उसका मार्जन कर दिया गया और सुरुचि का ध्यान रखते हुए नहछू की रचना कर दी गई। शैली सम्बन्धी द्वन्द्व इसमें नहीं है। 'मङ्गल काव्य' नहछू से आगे की स्थिति की सूचना देते हैं। तुलसी के मन में लोक शैली का आकर्षण तो बना हुआ है, फिर भी आंशिक रूप से छन्द शास्त्र और शिष्ट साहित्य में समाहृत शैली का ग्रहण उनके आकर्षण की शास्त्रीय दिशा का सूचक है। जैन कवियों और कबीर की भाँति अप्रस्तुत विधान और रूपक शैली को कवि ने ग्रहण नहीं किया है। इससे लोक का आग्रह फिर भी प्रबल ही रहा। प्रणय शैली में माहात्म्य कथन कर दिया गया है—

उपवीत ब्याह उछाह जे सिय-राम-मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिन पावहीं॥

इससे प्रतीत होता है कि तुलसी केवल वैवाहिक अवसर के लिए ही इस शैली का उपयोग नहीं कर रहे, उसको अन्यथा भी गाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि तुलसी का व्यक्तिगत अन्तर्द्वन्द्व इस शैली मे प्रकट नहीं है। लोक, पुराण और शास्त्र का त्रिकोणात्मक संघर्ष अवश्य परिलक्षित होता है। पर अभी कवि लोक+पुराण के तट पर ही अधिक बँधा है। मुनि मानस का आग्रह अभी नहीं है। सामूहिक उपचेतन को लोक-गीत में अभिव्यक्ति मिलती है। तुलसी ने इस अभिव्यक्ति को एकरूपता और काव्योचित व्यवस्था देकर रुचि का परिष्कार करना चाहा।

३. २. द्वितीय शैली-स्तर—'रामाज्ञा प्रश्न' लोक मानस की एक और दिशा का स्पर्श करने वाली रचना है। किंबदन्ती यह है कि इसकी रचना एक गङ्गाराम नामक ज्योतिषी के लिए की गई थी। यद्यपि काल-क्रमानुसार डा० गुप्त ने जानकी-मङ्गल और पार्वती-मङ्गल को विकास की दूसरी स्थिति में मानस के साथ रखा है। पर शैली और मनःस्थिति के अनुसार उसका स्थान प्रारम्भ में नहछू के साथ होना चाहिए। 'रामाज्ञा प्रश्न' शैली की दृष्टि से एक विकसित दिशा का सूचक है। इसमें प्रबन्ध के बीज हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे मुक्तक के अन्तर्गत रखा है। पर कथा-विधान को देखते हुए यह प्रबन्ध के ही अधिक समीप दिखलाई देती है। तुलसी के मन का एक द्वन्द्व तो लोकगीत और परिनिष्ठित शास्त्रीय काव्य के बीच है। दूसरा द्वन्द्व प्रबन्ध और मुक्तक के बीच चलता प्रतीत होता है। नहछू और मङ्गलों में बौद्धिक तत्त्व और उद्देश्य इतने मुखर नहीं हैं। अधकचरे ज्योतिषियों या तथाकथित 'मन्तर-जन्तर' करने वाले लोक के अविकसित जनसमूह का शोषण करता आया है।

उस काल में निर्गुणियाँ सम्प्रदायों के अवपतित सन्त भी यह करने लगे थे। जिस प्रकार प्रचारवादी धर्म संगठन आदिम जातियों में प्रचार के द्वारा उपनिवेश बनाते हैं, उसी प्रकार प्रचारवादी धर्म पंथ लोक-मानस का शोषण करके अपने क्षेत्र का विकास करते हैं। भावी आशंकाओं से आतंकित करके लोक के वर्तमान को ये ज्योतिषी या तथाकथित सन्त विषमय बना देते हैं और उसकी पसीने की कमाई पर आक्रमण करते हैं। तुलसी का मन लोक की इस दुर्दशा से पीड़ित था। सगुन वाली संस्था की जड़ें लोक मानस में गहरी चली गई थीं। इनका एकबारगी उच्छेद सम्भव नहीं था। तुलसी ने एक शैली को सोद्देश्य नियोजित किया। पर शैली का स्त्रोत लोक गीतों में नहीं है। यह दोहा शैली में हैं। दोहा शुद्ध लोक-छन्द तो नहीं था, इस छन्द से लोक का घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है। इसके शैली निर्धारण में ज्योतिष का उद्देश्य कार्य कर रहा है। राम कथा का सम्पूर्ण रूप इसमें नियोजित है। सगुन वाली प्रवृत्ति का निराकरण नहीं, उसकी उदात्तता और उसको आशामय बनाने की चेष्टा ही इस शैली में उद्दिष्ट है। इस शैली में भी कवि का मानसिक संघर्ष न जाने कहाँ सो रहा है। केवल कवि का लाक-व्यवहार पक्ष ही प्रबल है। लोक के प्रति अनुरक्ति अवश्य परिलक्षित है। लोक-जीवन के प्रति मङ्गल-कामना का बीज भी इसमें जमता प्रतीत होता है।

प्रबन्ध का यह छोटा-सा बीज महाकाव्य का विशाल वृक्ष आगे की स्थिति में बन जाता है। महाकाव्य शैली शास्त्रीय परिनिष्ठित काव्य का उच्चतम विकास है। इसमें कवि का अन्तर्मन अपने स्पन्दनो को जातीय सभ्यता और संस्कृति के साथ इतना घुलामिला देता है कि समूह और समाज के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। इस शैली के गठन और संविधान के प्रति काव्य-शास्त्र भी अत्यन्त सजग रहा है : न जाने कितने नियम और कितने वर्जनों में महाकाव्य शैली को बाँधने की चेष्टा की गई है। कवि की वैयक्तिक पीड़ाओं को खुल कर व्यक्त होने की सुविधा इसमें नहीं मिलती। लोक की रुचि और क्षमता 'पुराण' – विधा से तो रस-ग्रहण करती है, पर शुद्ध शास्त्रीय महाकाव्य के जटिल सूत्र-विधान को देख कर लोक की बुद्धि चकरा जाती है। चरित-काव्य शैली से भी लोक का कुछ परिचय रहता है। तुलसी के मानसिक द्वन्द्व की यही भूमिका रामचरित मानस को मिलती है। उनकी दृष्टि में लोक की क्षमता की सीमाएँ भी हैं, उनको लोक-कल्याण की चिन्ता भी है, अपनी वाणी को लोक तक पहुँचाना भी है। दूसरी ओर महाकाव्य के अनुष्ठान की शास्त्रीय विधियाँ भी हैं। उनकी बुद्धि और प्रतिभा लोक-शैली की सीमाओं में अकुला भी रही है। पर यह छोड़ते बनता नहीं। भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा कवि को लोकोन्मुख बना रही है। साथ ही धर्मशास्त्रीय मान, मूल्य और आदर्श अपनी महाकाव्योचित स्थापना चाह रहे थे। कवि इस मुनि-मानसीय आग्रहों के प्रति भी सजग है। लोक-मानस की कल्पना-शीलता महाकाव्य के कथा भाग में रुचि लेती है। आदर्शों की स्थापना में उसे विशेष रुचि मिलती नहीं। गाथा भाग में यदि आदर्श इस प्रकार मिला दिए जायँ कि लोक को कथा के आस्वाद में किरकिराहट का अनुभव न हो

और उसके स्वाद में मिलकर वे अनजान में ही उसके पाचन-यंत्र तक पहुँच जायँ तो लोक एक स्वास्थ्य का अनुभव करता है और उस रचना की आरती उतारता है : 'आरति श्री रामायण जी की।' वाल्मीकि ने इसी शैली को अपनाकर राम की गाथा को अमर बना दिया था।[1] वाल्मीकि ने कथा भाग को मूल्य और आदर्शों की शुष्क पपड़ी के नीचे कथा के अंकुरों को जड़ीभूत नहीं हो जाने दिया। 'रघुवंश' प्रभृति महाकाव्यों में राम-कथा वर्णनों का और काव्यशास्त्रीय विधान इतना जटिल होता चला गया, कि लोक रुचि उस अभिजात वर्गीय बौद्धिक-विनोद की ऊँचाइयों तक न पहुँच सकी। पुराण-कथा की परम्परा में तो लोक अनुरक्त रहा, पर शुद्ध काव्य की लोक में परम्परा नहीं बनी। तुलसी का वैयक्तिक प्रेम लोक-प्रेम में परिणत हो गया था और लोकानुकूल शैली की खोज में था। कथा तो सुनिश्चित थी। कथा के पात्रों में किन्हीं विशेष मूल्यों की स्थापना की समस्या भी कवि के सामने नहीं थी। पात्र और मूल्य एकाकार हो चुके थे। समस्या शैली की थी। शास्त्र-निरपेक्ष लोकानुकूल शैली हमें स्वयंभू में मिलती है।[2] स्वयंभू शैली की दृष्टि से लोक-क्रान्ति का प्रतीक है। लोक-रुचि को समझते हुए उन्होंने लोक को कथा-रस की सूचना दी। कथा-रस की योजना इस प्रकार हुई कि राम-प्रेम जगे—

> जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।।
> होइ अहिं रामचरण अनुरागी। कलिमल रहित सुमङ्गल भागी।।

लोक के परम्परा-प्रेम को भी तुलसी समझते थे। उन्होंने राम-कथा की मौखिक परम्परा की ओर संकेत करके लोक के विश्वास को प्राप्त किया : 'सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा', 'सोइ सिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा', 'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा', 'तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा' और 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी' आदि उक्तियों में मौखिक परम्परा की प्रमुख कड़ियां के संकेत दिए गए हैं। इसी कहने-सुनने की परम्परा से लोक का निजी सम्बन्ध है। इन कड़ियों में मुनि-मानस और जनमानस दोनों ही ध्वनित हैं। चार सम्वादों में से शिव-पार्वती, भुसुण्डी-गरुड़ के सम्वाद लोक-मानस की कल्पना-भूमि के अधिक निकट हैं। इस प्रकार लोक-गाथा शैली सम्पन्न हो जाती है। स्वयभू ने 'देशी भाषा दोहा तट उज्ज्वल' और विद्यापति ने 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' लिख कर लोक-भाषा के पक्ष का समर्थन किया था। तुलसी को भी 'भाषा-भनिति प्रभाउ' में विश्वास था। प्रतीक और अलङ्कार-विधान 'गिरा ग्राम्य' के शासन मे ही रहा : ये तुलसी के भाषा के सहज प्रवाह को शासित न कर सके। इस प्रकार तुलसी का लोक-प्रेम और उनकी नागरिक रुचि दोनों ही मानस की शैली में समन्वित हैं। उद्दिष्ट श्रोता वर्ग की व्यापकता तुलसी की दृष्टि में थी—

---

१. यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरिताश्च महीतले।
तावत् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

२. स्वयंभू का सङ्कल्प देखिये, हिन्दी काव्यधारा [राहुल सांकृत्यायन] पृ० २४-२५

श्रोता त्रिविधि समाज पुर, ग्राम—नगर दुहुँकूल।
सन्त सभा अनुपम अवध, सकल सुमङ्गल मूल॥

तुलसी महाकाव्य शैली को लोक-धरातल पर रख सके, यही उनका वैशिष्ट्य है। 'मानस' एक लोक-महाकाव्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि शास्त्रीय विधान उपेक्षित है। महाकाव्य के सम्बन्ध में जितनी भी शास्त्रीय मान्यताएँ हैं, उसके विधान में जितने भी आवश्यक तत्त्व माने गए हैं, उन सबका निर्वाह कुछ इस ढङ्ग पर है कि लोक यह अनुभव कर सके कि उसी की उन्मुक्त कल्पना, स्वाभाविक रूप में इस रूप में मूर्तिमान हुई है। इसीलिए लोक ने अपनी थाती समझ कर इसी शैली को सदा-सदा के लिए सहेज लिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तुलसी के लोकानुरक्त मन ने आदर्श और व्यवस्था की बौद्धिक सूत्र-योजना के साथ समन्वय किया। लोक-प्रेम राम-प्रेम में परिणत होकर इस शैली में समा गया।

३. ३. **शैलीस्तर : तृतीय स्थिति**—'मानस' की स्थिति में लोक-गाथा के शास्त्रीयकरण का प्रयत्न मिलता है। महाकाव्य की शैली की प्रगल्भता की पर्त इतनी मोटी नहीं हो पाई कि गीत-शैली के अंकुर सदा के लिए सो जायँ। लोक-गीत शैली तो दब गई। अब आत्मा में सञ्चित वैयक्तिक अनुभूतियों का आन्दोलन होना था। महाकाव्य-शैली में लोक की प्रमुखता हो गई : लोक-मङ्गल चरम पर पहुँचा। पर वैयक्तिक पीड़ा और कसक को न शब्द मिले न शैली। पर इस स्थिति में पहुँच कर आत्माभिव्यक्ति किस रूप में की जाय, यही समस्या थी। कवि ने फिर अपनी वैयक्तिक अभिव्यक्तियों को एक बार विरमाया। पर महाकाव्य की सीमाओं में कुछ प्रसङ्गों की तथा कुछ पात्रों की यथोचित भाव-स्फीति नहीं हो पाई थी। अयोध्या भाव-क्षेत्र था। इसके सौन्दर्य को छोड़ कर कवि राम के साथ ही चला गया था और अधिकांश कर्म-सौन्दर्य के चित्र सँजोता रहा। बीच-बीच में भाव-शवलित अवसर आते रहे। कवि ने उनकी उपेक्षा तो नहीं की, पर उसके मन में सदैव एक शङ्का बनी रही कि सम्भवतः उन भावोद्वेलित क्षणों के साथ न्याय नहीं कर पाया। कौशल्या का वात्सल्य तुलसी से न्याय चाह रहा था। विरहिणी माता के आँसुओं की पुकार कवि सुन रहा था। दुलहिन सीता और दूलह राम की छवि उनकी आँखों में भर-भर आती थी। कवि समझने लगा कि महाकाव्य शैली के निर्वाह के बन्धन ने यह भाव-प्रसार रोक रखा था। पात्रों की वैयक्तिक आशा-अभिलाषाएँ राम के सन्दर्भ में ही बुरी-भली लगतीं थीं। कवि-मानस उत्पीड़ित हो उठा। सभी अर्ध-विकसिक भाव-प्रसङ्ग और सकुचे-सिमटे पात्रों की पीड़ा को कवि ने 'गीतावली' का रूप दिया।

'गीतावली' की शैली प्रसङ्गापेक्षी गीतों की शैली है। कवि की अपनी सम्वेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति जिन गीतों में होती है, वे 'विनय-पत्रिका' में प्रकट हुए। कवि ने अपने मन के वासना-जन्य संघर्ष को महाकाव्य की प्रगल्भ शैली और नैतिक आदर्शवाद के घटाटोप में उलझाने का प्रयत्न किया। पर उनके

अन्तर्मन की कुण्ठाएँ और दमित वासनाएँ कभी-कभी अपनी आँधी से महाकाव्य-तरु को झकझोर देती थीं। मन की यह आँधी विनय-पत्रिका के गीतों में स्वर बन कर समा गई : कवि की व्यथा ज्यों की त्यों व्यक्त है। मन का प्रेरणा स्रोत कलियुगी समाज है। इन गीतों में व्यथित मन की करुण पुकार है। इनके अन्तराल में एक सामान्य सूत्र सञ्चरित है : उदात्तीकरण का। ये आत्मोन्मुख गीत शैली की दृष्टि से मीरा के गीतों के समकक्ष हैं। भाव अपने निजी हैं। उदात्तीकरण की योजना सङ्गत और क्रमिक है। आरम्भ के स्तवन-गीत इन गीतों के साथ मेल नहीं खाते। वैसे इन गीतों के विशेषण-जाल में भी व्यग्र मन की ऊहापोह किसी-न-किसी रूप में है।

इसी स्थिति में कृष्णगीतावली की रचना होती है। तुलसी की जो सौन्दर्य-शृङ्गार वृत्ति राम-कथा के माध्यम से व्यक्त नहीं हो सकती थी, वह 'कृष्ण गीतावली' मे हो गई। यह वस्तु-विकास की बात रही।

'कवितावली' मुक्तक शैली में है। मुक्कत के धात्वर्थ के अनुसार (मुक्त+कन्) ये पूर्णतया अन्यनिरपेक्ष होते हैं। अपने आप में ही पूर्ण हैं। तुलसी ने रामकथा के प्रसङ्गों और भावों को तो लिया है, पर कथा-क्रम के निर्वाह का आग्रह नहीं है। इन मुक्तकों में तुलसी की वैविध्य-प्रियता और चमत्कार-क्षमता कुछ-कुछ प्रकट है। नाद-चित्र भी अनूठे हैं और गीत-चित्र भी। पर चमत्कार-क्षमता में रस-चर्वणा का तत्त्व खो नहीं गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तुलसी के ये मुक्तक काव्य-साधना के बीच उठने वाले विविध भावों की झाँकी हैं। लोक-गीतों से लेकर महाकाव्य तक जिस कवि की साधना चली हो, उसमें वैविध्य के प्रति एक आकर्षण माना जा सकता है। 'दोहावली' को साथ लेकर यह कहा जा सकता है कि तुलसी ने मुक्तक में गृहीत किसी भी छन्द रूप को नहीं छोड़ा। अलङ्कारगत चमत्कार 'बरवैरामायण' में भी है। इसका विकास भी मुक्तकों के रूप में हुआ प्रतीत होता है। 'बाहुक' भी मुक्तक-कालीन रचनाओं में है। इसका उद्देश्य अन्य मुक्तकों से भिन्न है। मुक्तक शैली की आवश्यकता तुलसी को इसलिए भी हो सकती है कि अपने समय के सम्बन्ध में भी कह सके। वृद्धावस्था में तुलसी वैविध्य-प्रदर्शक मुक्तकों की रचना में तत्पर हुए, यह बात कुछ असङ्गत सी लगती है। इस दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि इनकी रचना वृद्धावस्था में नहीं हुई। समय-समय पर ये लिखे जाते रहे। अन्त में इनका संग्रह कर दिया गया होगा। हनुमान-बाहुक और वैराग्य सन्दीपनी की रचना तो वृद्धावस्था के मनोविज्ञान के अनुकूल ही है। 'कवितावली' और 'बरवै' में जो विलास-चमत्कार मिलता है, वह कवि की यौवनावस्था का मनोविज्ञान ही ध्वनित है।

३. २. वस्तु-विकास—तुलसी की रचनाओं में वस्तु-क्रम को भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम तुलसी का आनुष्ठानिक काव्य आता है। तुलसी लोक-मानस की इस प्रवृत्ति से परिचित थे कि आनुष्ठानिक साहित्य को वेद-मंत्र की सी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। कभी-कभी अनुष्ठान सम्बन्धी गीत वेद-मंत्रों के साथ-साथ चलते हैं और कभी (निम्न वर्गों में) ये ही वेद-मंत्र का स्थान ले लेते हैं। 'नहछू'

एक संस्कार गीत है । इसमें लोक-व्यवहार का भी उल्लेख है । कौशल्या की जिठानी इस समस्त संस्कार का नियंत्रण करती है ।[१] कौशल्या राम को गोद में लेकर बैठती है ।[२] मण्डप बनाना, राम को स्नान कराना, राम के सिर पर माता का आँचर रखना तथा नख-छेदन इस अनुष्ठान की क्रियाएँ हैं । संस्कार के लिए सजीव वातावरण प्रस्तुत किया गया है । भारतीय हिन्दू समाज के अनुष्ठानों में विविध जातियों का सहयोग रहता है । तुलसी ने अहीरिनि, तँबोलिन, दरजिन, मोचिन, तथा नाइन जैसी जातियों की स्त्रियों को जुटाया है । दूसरी आवश्यकता गायन की है । कोई हिन्दू-अनुष्ठान गीत-नाद के बिना नहीं होता । व्यंग्य-गीत और गालियाँ न जाने कितना रस घोल देते हैं । गीत का स्वर कितना तीखा, पर सरस है—

काहे रामजिव साँवर लछिमन गोर हो ।
की दहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो ।
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन कहो ।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनायक हो ।।

यहाँ मर्यादा आदि का प्रश्न उठाना व्यर्थ है । तुलसी अनुष्ठान के विनोदमय यथार्थ में डूबे हुए गाए जा रहे हैं । लोक में तो ऐसे ही भावों के गीत गाए जाते है । उपर्युक्त जातियों की स्त्रियों की सौन्दर्य-मुद्रा और साज-शृङ्गार का चित्रण तुलसी ने बड़ी रुचि से किया है । अहीरिन का जौवन तो इतना उभरता-उकसता हुआ है कि दशरथ का मन भी चञ्चल हो गया—

अहिरिन हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो ।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो ।[३]

तंबोलिन का सलोना रूप तो मन को बरबस खींच लेता है और अपनी क्षीण-कटि को ही लचकाती आती है । नाइन का तो स्थान इस अनुष्ठान में केन्द्रीय है । उसकी तो चंचल आँखें आकाश-पाताल चल रही हैं । इस प्रकार वह छू-संस्कार का समस्त यथार्थ इस गीत में समाविष्ट है । तुलसी का मन उमङ्ग में है । वास्तव में ये जातियाँ ऐसे अवसरों पर नव-युवकों का मन खींचने की चेष्टा ही करती हैं । तुलसी इस वस्तु विधान में किसी मर्यादा से नियंत्रित नहीं हैं ।

मङ्गल काव्यों में तुलसी की प्रबन्ध-प्रिय प्रतिभा को एक व्यथा-सूत्र मिल जाता है । व्यथा सूत्र को वर्णनों के सम्भार से अलग रखकर कवि उसका स्वाभाविक विकास

---

१ यहाँ पर यह प्रश्न उठाना व्यर्थ ही है कि 'कौशल्या की कोई जिठानी थी या नहीं' लोक-संस्कार के अनुसार वर-कुटुम्ब की या ग्राम-नगर की ही किसी बड़ी-बूढ़ी को यह सम्मान दिया जा सकता है ।

२. गोद लिए कौसल्या बैठी रामहिं हो ।

३. मालविकाग्नि मित्र में अग्निमित्र रानी की सखी के शारीरिक सौन्दर्य पर अनुरक्त हो जाता है—

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नत कुचयोः ।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवित भेद दायाति । ३.६

करता है। पारवती-मङ्गल और जानकी-मङ्गल के कथा-प्रसंग लोकप्रिय हैं ही। अनुष्ठान-भाग का भी पूर्ण विधान तुलसी ने किया है। गीतों मे तुलसी शृङ्गार में इतनी रुचि नहीं लेते जितनी आशीर्वादों और मङ्गल-कामनाओं में वैसे गालियाँ भी गाई जा रही हैं—

> जुवा खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह।
> जीति-हारि-मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह।

इन व्याहुलों में सामूहिक उमङ्ग के चित्र तो भरपूर हैं, पर शृङ्गार मर्यादा को नहीं तोड़ता। तुलसी की शृङ्गार-प्रवृत्ति पर सीता-पार्वती के आते ही कुछ अंकुश लग जाता है। नहछू के चित्र में सीता नहीं थी। अतः जातियों के सौन्दर्य-शृङ्गार और उनकी ओर फिसलती हुई आँखों का चित्रण तुलसी ने निर्द्वन्द्व भाव से कर दिया। मङ्गल-काव्यों से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मर्यादा तत्व आता दिखलाई पड़ता है।

प्रबन्ध रचनाओं में राम की गाथा है। गीत और मुक्तकों में भी कथा चलती है। अतः कथावस्तु के रूप-विकास को यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से पहले देख लेना समीचीन होगा। 'जानकी-मङ्गल' से तुलसी राम कथा की ओर उन्मुख होते हैं। रामाज्ञा प्र न में कथा अपने बाह्य ढाँचे में पूर्ण हो जाती है। 'मानस' में उसका आदर्श जीवन मूल्यों और दार्शनिक चिंतन से शृंगार होता है। 'गीतावली' में कुछ पात्रों या घटनाओं का भावात्मक सौन्दर्य प्रकट किया गया है। वस्तु की दृष्टि से तुलसी ने कुछ घटनाओं में परिवर्तन किया है। जैसे जानकी-मङ्गल, मे रामाज्ञा प्रश्न और गीतावली में विवाह की लग्न-पत्रिका शतानन्द ले जाते हैं। मानस में यह बात नहीं है: दूत राम-विवाह की सूचना लेकर जाता है। परशुराम-प्रसङ्ग जानकी मङ्गल, रामाज्ञा, और गीतावली में विवाहोपरान्त राम की अयोध्या यात्रा के समय घटित होता है। मानस में यह विवाह के पूर्व और धनुर्भग के पश्चात् आता है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद भी केवल 'मानस' में ही मिलता है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर बंदीगण जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा रामाज्ञा के अतिरिक्त सभी रचनाओं में करते हैं। धनुर्भग के समय लक्ष्मण दिक्पालों को सावधान करते हैं। यह प्रसङ्ग रामाज्ञा में नहीं है। इन स्थूल प्रसङ्गों में परिवर्तन हुआ है। 'रामाज्ञा' में तुलसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कथा-वस्तु की भाव-सज्जा आदि की ओर सचेष्ट नहीं है। अतः कथा-व्यवस्था का मूल ढाँचा ही मिलता है। प्रसंगों की भाव-विस्तृति की दृष्टि से रामचरित मानस और 'गीतावली' का इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण होगा।

	रामाज्ञा प्रश्न	मानस	गीतावली
१. पुष्प बाटिका प्रसङ्ग	×	√	√
२. धनुर्भग में राजाओं को असफल देखकर जनक का रोष और पश्चाताप............	×	√	√
३ इस पर लक्ष्मण का उत्तर..................	×	√	√

	रामाज्ञा प्रश्न	मानस	गीतावली
४. धनुर्भंग के पूर्व लक्ष्मण का दिक् कुंजरों को सावधान करना........................	×	√	√
५. केवट संवाद..................................	×	√	×
६. निषाद् राज प्रसङ्ग................................	×	√	×
७. चित्रकूट में जनक का आगमन......	×	√	×
८. विरहिणी सीता का त्रिजटा से भस्म होने के लिए अग्नि-याचना.................	×	√	√
९. लंका में हनुमान-विभीषण भेंट...........	×	√	√
१०. अशोक बाटिका में हनुमान की उपस्थिति में सीता-रावण संवाद	×	√	√
११. रामेश्वर की स्थापना..........................	×	√	×
१२. हनुमान का प्रेम-सन्देश.......................	×	√	√
१३. हनुमान-रावण-संवाद	×	√	√
१४. अंगद का दौत्य..............................	×	√	√
१५. सीता-निर्वासन : लवकुश-प्रसंग	√	×	√

इस तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट होता है कि रामाज्ञा प्रश्न में राम कथा के भावात्मक प्रसङ्गों की ओर तुलसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। ऊपर की सूची के ५, ६, ७, १० संख्यक प्रसंगों की भावात्मक स्फीति मानस में पर्याप्त हो चुकी थी। अत: गीतावली में उनकी भावात्मक विस्तृति तुलसी की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता नहीं रही। 'उत्तर रामचरित' का प्रसङ्ग (१५) अत्यन्त करुणा-कलित प्रसङ्ग है। इसमें सीता का व्यक्तित्व राम के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र होकर महत्ता प्राप्त करता है। रामचरित मानस के तुलसी की समस्त मानसिक प्रक्रिया राम के आदर्शीकरण की ओर नियोजित हैं। इस प्रसङ्ग से सम्भवत: राम के व्यक्तित्व को कुछ ठेस लगती है। 'मानस' में जब इसको स्थान नहीं मिला, तो निर्वासित पर उज्ज्वल सीता की मूर्ति तुलसी की मानसिक पीड़ा और कसक बनती गई। वह कसक 'गीतावली' में प्रकट हो गई। 'रामराज्य' की कल्पना को कोई क्षति न पहुँचे इसलिए तुलसी ने रामाज्ञा में वर्णित प्रसङ्ग को मानस में छोड़ दिया। वही अधिक बल के साथ गीतावली में पुनरुज्जीवित हो गया। अधिकांश प्रसङ्ग 'मानस' के समान ही रहे।

यही तुलना पर्याप्त नहीं है। गीतावली में कुछ ऐसी स्वतन्त्र भाव-स्थितियों की उद्भावना भी तुलसी ने की, जो न मानस में मिलती हैं और न रामाज्ञा प्रश्न में। मानस में इन स्थितियों का न आना 'महाकवि' की विवशता थी। 'गीतावली' में इन स्फीत-क्षणों को वाणी देना 'गीतकार' तुलसी की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन गया। इन विशिष्ट स्थितियों की सूची इस प्रकार है :

(क) 'मानस' का 'महाकवि' तुलसी बनवास के समय से ही राम के साथ चला गया था। वह कौशल्या-विरह का अनुभव नहीं कर सका। समस्त मानस में 'कौशल्या' के विरहाश्रुओं को एक भी शब्द नहीं मिला। साश्रु कौशल्या की मूर्ति जब 'महाकवि' तुलसी के अन्तराल में जग जाती थी, तो तुलसी तिलमिला जाता था। यह पीड़ा गीतावली में व्यक्त हुई।[1] माता ही नहीं राम के घोड़े भी यहाँ विरह विह्वल हैं।[2]

कौशल्या के आँसू मानस में राम-बन-गमन के समय आदर्श में छुप जाते हैं। अपनी अभिव्यक्ति के लिए वे मचलते-सिसकते रह गए : कौशल्या का उच्चादर्श इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु-मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

इसी प्रकार सुमित्रा के आँसू भी आदर्श में दब गए। कौशल्या के आँसुओं का अवतार गीतावली में हो गया। पर सुमित्रा के आँसू वीरमाता के हृदय की भावना बन गई। लक्ष्मण-मूर्च्छा का समाचार पाकर सुमित्रा ने अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को भी जाने की प्रेरणा दी।[3] इस प्रकार बनवास के अनन्तर अयोध्या की स्थिति की भाव-प्रवणता गीतावली में प्रकट हुई।

(ख) 'मानस' का महाकवि मर्यादाओं से पूर्णरूपेण बँधकर चला है। अतः शृङ्गार-संकेत अत्यन्त सीमित और मूक हैं। गीतावली में ये शृङ्गार-संकेत भी कुछ उभार पा सके। राम-सीता का दूलह-दुलहिन रूप भी अधिक निखरा है। पर उनका केलि-ग्रह प्रस्थान चित्रित करते गीतकार तुलसी का भी हाथ काँप गया। लक्ष्मण और उर्मिला के सम्बन्ध में यह संकेत अवश्य किया गया है—

सोभा सील सनेह सोहावने समउ केलि ग्रह गौने।'[4]

साथ ही चित्रकूट का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन करके, तुलसी ने राम-सीता के मधुर हास-विलास की भी चर्चा की है। राम ने स्वयं अपने हाथ से शैया बनाई। परस्पर प्रेम-पान की प्यास बढ़ने लगी—

निजकर राजीव-नयन पल्लव दल रचित सयन।
प्यास परसपर पियूष प्रेम-पान की।[5]

(ग) वन-यात्रा के समय सीता का आदर्शवादी रूप खड़ा करके 'महाकवि' तुलसी मानस में वन-पथ पर अग्रसर सीता का सुकुमार और श्रम कण मडित चित्र प्रस्तुत न कर सके। 'गीतावली' में उनका ध्यान इस ओर जा सका।[6] परिश्रान्त

१. गीतावली, अयोध्या० ५१–५५; ८३–८७; लङ्का १७–२०
२. गीतावली, अयोध्या० ८६, ८७
३. गीतावली, लङ्का काण्ड, १३
४. गीतावली, बाल० १०५
५. गीतावली, अयोध्या० ४४
६. गीतावली, अयोध्या० १३, १४

सीता कभी 'कहौ सो विपिन है धौं केतिक दूरि' पूछती है और कभी राम की आँखें बरबस साश्रु हो उठती हैं, 'तुलसिदास प्रभु प्रिया बचन सुनि नीरज नयन नीर आए पूरि।'

इनके अतिरिक्त कौशल्या का वात्सल्य भी गीत की शैली पाकर कुछ निर्द्वन्द्व हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कि मानस में तुलसी शास्त्र और लोक की मर्यादा से बँधा-सधा चलता है। गीतकार तुलसी इस बन्धन से कुछ मुक्ति का अनुभव करता है।

और भी कुछ भावात्मक स्थल गीतकार तुलसी को बिरमा सके। जटायु के प्रति राम ने पितृ-स्नेह तथा शबरी के प्रति मातृ-स्नेह व्यक्त किया है। अशोक-बाटिका में सीता और मुद्रिका का संवाद भी कराया गया है। इसमें विरहिणी सीता की मानसिक अस्तव्यस्तता प्रकट होती है। गीतकार तुलसी ने विभीषण-शरणागति को भी कुछ भिन्न रूप से रखा है। विभीषण ने जो किया, वह राम के सन्दर्भ में ही श्रेष्ठ कहा जा सकता है। गीतावली का विभीषण रावण से तिरस्कृत होकर, राम के पास जाना चाहता है, पर इससे पूर्व माता की अनुमति लेने भी जाता है। माता उससे भाई को क्षमा करने के लिए कहती है।[1] फिर वह कुबेर से भी परामर्श करता है। अन्ततः शंकर उसे जाने की प्रेरणा देते हैं—

तहँई मिले महेस, दियो हित-उपदेस,
'राम की सरन जाहि, सुदिन न हेरै।
जाको नाम कुंभज, कलेस सिंधु सोखिबे को।
मेरो कह्यो मानि, तात! बाँधै जिनि बेरै।[2]

इस प्रकार शंकर की आज्ञा को जोड़कर तुलसी ने विभीषण के भ्रातृद्रोह को कुछ परिमार्जित किया। 'मानस' के उत्तर कांड में राज्याभिषेक के अनन्तर तुलसी आदर्शवादी चित्रण और शास्त्र निरूपण में पड़ गये हैं। राम की प्रजावत्सलता उभरी है, या कलियुग के संदर्भ में राम-भक्ति की महिमा है। जनजीवन के आनन्दोल्लास के लिए 'महाकवि' को अवकाश नहीं मिला। गीतावली के तुलसी ने दोलोत्सव, दीपमालिका और बसन्त का वर्णन किया है। इन उत्सवों में राम और सीता प्रजाजनों के साथ उत्सवों में निस्संकोच भाग लेते हैं।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि तुलसी ने जो वस्तु-विधान मानस के वातावरण के अनुकूल किया, गीतकार तुलसी ने उसमें भावात्मक परिवर्तन-परिवर्द्धन किया। मानस के कुछ सूत्र तुलसी को यहाँ भी आकर्षित करते रहे; जैसे ग्राम-बधुओं का प्रसंग।

कवितावली में वस्तु विधान लगभग गीतावली के समान ही रहा। गीतावली में जहाँ भावात्मक स्फीति की गई है, वहाँ कवितावली में चित्र-योजना की ओर मुक्तककार तुलसी की दृष्टि है। बाल काण्ड में बालक राम के रूप-चित्र बड़े मुखर

१. 'कहा भयो तात लात मारे, बड़ो भाई है।' —गीतावली सुन्दर० २६
२. वही, २७
३. वही, उत्तर० १८–२३

हैं। धनुष यज्ञ के चित्र नादात्मक हैं। अयोध्या काण्ड में केवट का वह सूत्र फिर से अवतार लेता है जो गीतावली में लीन हो गया था। मानस के इस प्रसंग को कविता-वली में बड़ा ही काव्यात्मक रूप दिया गया है। श्रमकण मंडित सीता का चित्र भी विशद है—'झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।' गीतावली की संकेत पंक्तियों ने कवितावली में चित्र का रूप धारण किया। ग्राम-बन्धुओं के चित्रों में एक नई भंगिमा कवितावली में दिखलाई पड़ती है—प्रश्न हुआ : 'कहौ साँवरे से, सखि रावरे को हैं ?" और सीता का उत्तर था—'तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।'

सुन्दर काण्ड में तुलसी को हनुमान मिल जाते हैं। गीतावली में मानस की विरहिणी सीता का उभार-परिष्कार हो चुका था। पर लङ्का-दहन और अग्नि की लपटों से सुशोभित हनुमान और उनके रौद्र रूप के चित्रण से तुलसी को सन्तोष नहीं हुआ था। हनुमान से तुलसी का बड़ा ही गहन सम्बन्ध बाल्यकाल से ही था। किंब-दन्ती के अनुसार तुलसी की काव्य साधना भी हनुमान जी के संकेतों पर चली। तुलसी ने मानस के आरम्भ में कवीश्वर-कपीश्वर की वंदना की है। इनका सारा पराक्रम मानस में एक-दो पंक्तियों में सीमित हो गया है : 'जारा नगरु निमिष एक माहीं' कवितावली में तुलसी ने हनुमान के इस चित्र को अधिक विस्तृत कर दिया है। लङ्का काण्ड के वस्तु विधान में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। केवल युद्ध के चित्रों को द्वित्व ध्वनियों के प्रयोग से अधिक ध्वन्यात्मक बनाया गया है। उत्तर कांड समकालीन परिस्थितियों के स्पष्ट कथनों का वस्तु सूत्र नया मिलता है। यद्यपि कलि-में वर्णन के व्याज से समकालीन परिस्थितियों के संकेत मानस में भी मिलते हैं, पर इतने सीधे कथन नहीं थे। ये वस्तु सूत्र कवितावली और विनयपत्रिका में स्पष्ट है।

विदेशी शासन दण्ड पर आधारित था।[1] दुर्व्यवस्था यहाँ तक थी कि कृषक को खेती की सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं और भिखारी को भिक्षा नहीं मिलती थी। वणिक का व्यापार ठीक नहीं चलता था। दरिद्रता सभी को आक्रान्त कर रही थी।[2] पेट भरना तक दुर्लभ हो गया था। इसी कारण अधर्म और दुराचार फैल रहे थे। पेट की खातिर अपने बेटा-बेटी को भी माता-पिता बेच देते थे। पेट की आग में सभी जल रहे थे।[3] महामारी जैसे रोगों का प्रकोप भी जनता पर रहता था। इस प्रकार तुलसी जैसा लोक-मङ्गल की साधना में निरत तुलसी कवितावली में फूट पड़ा है। महाकवि का ध्यान इस ओर था, पर सामान्य रूप से, पौराणिक शैली में[4] कलि-निरूपण ही कर सका।

---

१. गोंड गँवार नृपाल कलि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद अब केवल दंड कराल।

२. कवितावली, उत्तर० ९७

३. वही, ९६

४. श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार का कलि-निरूपण मिलता है। १२।२, ३

वैयक्तिक और सामाजिक पीड़ाएँ कवि अनुभव करता रहा और विनय-पत्रिका में वह धारा बाँध तोड़ कर बह चली है। अपनी दीनता का वर्णन उन्होंने विस्तार के साथ किया है। इसमें समाज का दैन्य भी व्याप्त है। हारे हुए व्यक्ति की भाँति तुलसी राम की कृपालुता पर अपना विश्वास जमाते हैं और समस्त समाज को इस ओर प्रेरित भी करते हैं। महाकवि ने तुलसी के अहं को इतना अभिभूत कर दिया था कि, वह खुल कर प्रकट नहीं हो सका। वह विकल अहं विनय-पत्रिका के आत्म-गीतों में ढल गया। विनय-पत्रिका तुलसी के मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से उनकी अन्तिम रचना होनी चाहिए।

डा० माता प्रसाद गुप्त ने कवितावली, बाहुक, बरवै, सतसई आदि को उत्तर कालीन रचनाओं के रूप में स्वीकृत किया है। वस्तुतः ये संग्रह-ग्रन्थ हैं। इनकी रचना समय-समय पर होती रही। इन सभी में—बाहुक और सतसई को छोड़ कर—कवि की कल्पना काव्य के कला-पक्ष के शृङ्गार मे लगी प्रतीत होती है। कवितावली में नाद-सौन्दर्य लाने का प्रयत्न मिलता है। 'बरवै' में शृङ्गार की छाया स्पष्ट है। अलङ्कार-योजना भी बरवै रामायण में सायास दिखलाई पड़ती है। कुछ लोग तो यहाँ तक इसके अलङ्कारों से प्रभावित हुए कि इसे एक अलङ्कारों का उदाहरण-ग्रन्थ ही कहने लगे। इसमें विशाल नयनों वाली बाला का चित्र है, जो कवि का मन मोह लेती है—

बड़े नयन कटि भ्रकुटी भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहिं मनोहर बाल॥

और भी अनेक बरवै हैं जो तुलसी की शृङ्गार-प्रियता को स्पष्ट करते हैं—

भाल तिलक सर सोहत भौंह कमान।
मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥
का घूँघट पट मूँदहु अबला नारि।
चाँद सरग तर सोहत यहि अनुहारि॥

इस शृङ्गार-प्रियता में शास्त्रीयता का कुछ संस्पर्श तो है, पर लोक-भाषा में ढलकर यह शृङ्गार लोक-गीतों में उपलब्ध शृङ्गार के समकक्ष हो गया है। 'नहछू' में मिलने वाले कुछ शृङ्गार चित्रों का ही विकसित रूप बरवै रामायण के शृङ्गार-चित्रों में अवगत होता है। कुछ बरवै छन्दों में तुलसी की वृद्धावस्था की भी झलक मिलती है। जैसे—

भरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत, समुझि परिनाम॥

ये ही यह सिद्ध करते हैं कि बरवै रामायण का विकास हुआ है। अन्त में यह संग्रह पूर्ण कर दिया है। उत्तर काण्ड की वस्तु-योजना कवितावली के उत्तर काण्ड की योजना के समान है। इसमें विविध देवी-देवताओं सम्बन्धी बरवै भी हैं।

इस प्रकार वस्तु योजना की दृष्टि से बरवै रामायण कवितावली के समकक्ष आती है।

४. भाव-विकास—

ऊपर के विवेचन के प्रकाश में तुलसी की साधना के भाव-पक्ष के विकास को देखा-समझा जा सकता है। तुलसी का राग केन्द्र सर्वप्रथम दैन्य से अभिभूत हुआ था। बाल्यकालीन परिस्थितियों ने तुलसी की चेतना को उद्वेलित कर दिया था। इससे दैन्य और दास्य के संस्कार तुलसी की प्रकृति को प्राप्त हुए। पर ये संस्कार कविता का रूप धारण एकदम नहीं कर सके। वैवाहिक जीवन की मधुर छाया में कुछ दिन तुलसी ने जीवन-यापन किया। इसी शीतलता में दैन्य कहीं छुपा रहा। शृङ्गार और वासना की अग्नि अधिक प्रज्वलित हुई। कवि की प्रतिभा ने इन क्षणों में लोक गीतों में निविष्ट निश्छल शृङ्गार देखा। कवि ने इस शृङ्गार को लोक-शैली के साथ ही आत्मसात् किया। इस शृङ्गार की आरम्भिक झाँकी 'नहछू' और 'मंगल-काव्य' में मिलती है। न इनमें निपुणता ही अधिक है और न अभ्यास ही अधिक झलकता है। अभ्यास और निपुणता का संस्पर्श 'बरवै' रामायण के शृङ्गार में कुछ-कुछ परिलक्षित होता है। अलङ्कार-योजना निश्चित ही कवि की निपुणता का परिचय देती है। शास्त्राभ्यास और निपुणता ने कवितावली की धारा को भी पकड़ा। उसमें शृङ्गार की छाया तो छूटी हुई सी मिलती है, पर चित्रण-कौशल, नाद-सौन्दर्य, विविध छन्द-विधान अपने चरम पर है। शैली पर जो लोक का पलोथन बरवै रामायण तक लगा रहा, वह कवितावली मे छूट जाता है। जिन आरम्भिक रचनाओं में लोकगत शैली और भाव अपने शुद्ध रूप में हैं, उनकी स्थिति काव्य-साधना के साथ अधिक समय तक नहीं चल सकी। 'कवितावली' और बरवै की प्रेरणा और रचना काव्य साधना की प्रत्येक स्थिति में बनी रही।

रामचरित का सूत्र पहले भी मिलता है, पर इसका महाकाव्योचित रूप राम-चरित मानस में प्रकट हुआ। इस समय तक कवि की लोक और शास्त्र से पुष्ट शृङ्गार वृत्ति एक ठेस खाकर भक्ति-शृङ्गार की मर्यादा में बँध चुकी थी। 'अभ्यास' और 'निपुणता' की साधना ने प्रतिभा का यथेष्ट परिष्कार कर दिया था। जीवन के आदर्श और मूल्य कवि की अनुभूतियों में ढल चुके थे। समकालीन जीवन की जटिलता के प्रति भी कवि सजग था। इसी भाव-भूमि में 'मानस' की रचना हुई। बाल्यकालीन दैन्य और दास्य के संस्कार फिर से जग गए। दैन्य सामूहिक रूप से पीड़ित कवि लोक-मंगल से मंडित रामराज्य की स्थापना करने में लग जाता है। सामूहिक दैन्य का विस्फोट ही रामराज्य में प्रतिफलित होता है। इसमे भक्ति रस ही भाव-भूमि को सिंचित कर रहा है। तुलसी का व्यक्ति मानस में प्रकट नहीं होता: उसका 'महाकवि' सामाजिक जीवन के आदर्शों, मानों और मूल्यों की उज्ज्वल आभा में लीन है।

'महाकवि' के प्रति तुलसी की वैयक्तिक भावनाओं ने प्रतिक्रिया की। महाकवि लोक और वेद सम्मत आदर्शों की योजना में तो संलग्न रहा, पर राम-कथा में आए हुए सभी पात्रों और प्रसङ्गों का भावात्मक विकास न कर सका। न वात्सल्य पनप पाया, न वैवाहिक शृङ्गार, न उर्मिला कहीं दिखलाई पड़ी और न उसका केलि-गृह। आदर्शो के विधान ने जैसे कथा के पात्रों और प्रसङ्गों को जड़ीभूत कर दिया था। उन सभी की भाव-रेखाएँ फैलकर तुलसी के 'महाकवि' को घेरने लगीं : महाकवि जकड़ कर कराह उठा। 'महाकवि' की इन भावात्मक त्रुटियों का मार्जन गीतकार तुलसी ने किया। उसमें प्राप्त आदर्शो की ध्वनि अत्यन्त क्षीण हो गई। सम्बन्धों के आदर्श मधुरिमा में ढल गए। सभी पात्र आदर्शगत जाड्य से मुक्त होकर जीवन के भाव-सन्दनों में झूलने लगे। इस प्रकार 'गीतावली' की संरचना के भाव-सूत्र प्रगाढ़ हुए। गीतकार तुलसी का और भी भव्य रूप कृष्ण गीतावली में प्रकट हुआ। इन दोनों रचनाओं को करके तुलसी का विकल व्यक्तित्व फिर से संगठित और संयोजित हुआ। मानव-मन के सभी भावों को अभिव्यक्ति मिली। वैसे जब कल्पना अधिक उन्मुक्त होना चाहती है, तो मर्यादा की डोर उसे खींच अवश्य लेती है। जो भाव राम के प्रसङ्ग में वर्जन का अनुभव करते थे, वे कृष्ण गीतावली में उन्मुक्त हो गये। ये दोनों रचनाएँ भाव की दृष्टि से परस्पर पूरक बन गई। शृङ्गार के संयोग और वियोग पक्ष कृष्ण-वार्ता में ही चरम को प्राप्त कर सकते थे। मर्यादा पुरुषोत्तम का बाल-वर्णन कुछ घुटन का अनुभव कर रहा था। कृष्ण के साथ वह स्वाभाविक विकास पा सका।

गीतकार तुलसी अब आत्मोन्मुख हुआ और विनय-पत्रिका की रचना हो गई। विनय पत्रिका परिवेश से आक्रान्त अथवा मनोवैज्ञानिक भाषा में उनके मन की दमित इच्छाओं की उत्पीड़क वेदना से क्लान्त आत्मा की पुकार है। जिन इच्छाओं को आदर्श की शिलाएँ या परिस्थिति की चक्की कुचलती-पीसती रहीं, वे उनके अन्तर्मन से निकल कर उनकी चेतना में चुभती हैं। उदात्तीकरण के अनेक मार्ग सुझाये जाते हैं पर सभी व्यर्थ रहते हैं। अन्ततः अपने को असहाय पाकर, कवि की पुकार विनय-पत्रिका के गीतों में समा जाती है। इस प्रकार अन्ततः कवि अपनी आत्मानुभूतियों को गीतों के रूप में देकर कवि-कर्म से विदा लेता है। विनय-पत्रिका कला और भाव दोनों ही दृष्टियों से साधना की चरमावस्था है।

३५

तुलसी का 'रावण' : एक सांस्कृतिक अध्ययन

१. भूमिका
२. रावणोदय
३. रावण और राक्षस
४. रावण की तपस्या
५. लंकापति रावण
६. रावण का संघर्ष
७. राम-रावण युद्ध
८. उपसंहार

१. भूमिका—

रावण का अध्ययन दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है : एक तो प्रतिनायक का अध्ययन नायक के अध्ययन का एक प्रकार है ; दूसरे, मनोविज्ञान की दृष्टि से पतित और 'दुष्ट' का अध्ययन वैज्ञानिक सहानुभूति के साथ करके उसके असाधारण व्यवहार के व्यक्त-अव्यक्त कारणों की समीक्षा करना आधुनिक दृष्टि से एक सामाजिक आवश्यकता है। रावण पौराणिक साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिनायक है। आधुनिक लेखकों और कुछ कवियों ने रावण के चरित्र का अध्ययन और नवांकन भी किया है। प्रस्तुत अध्ययन में रावण की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए उसकी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'तुलसी' ने जिस रूप में रावण को चित्रित किया है, उस रूप को प्रस्तुत अध्ययन का आधार बनाया गया है।

२. रावणोदय—

रावणोदय के लिए तुलसी ने कुछ कारण-कथाओं का नियोजन किया है। राम के अवतार के लिए आदर्शवादी कारण दिए गये हैं।[1] इन कारणों में असुरों को नष्ट करना शुद्ध कारण नहीं है : वह सुर, धर्म और वेद की पुनर्स्थापना की ही भूमिका है। रावण के जन्म का कारण 'शाप' है। नारद ने वैसे, बन्दरों की सहायता लेने[2] और नारि-विरह से संतप्त होने[3] का शाप राम को दिया ; पर यह

१. असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निजश्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसदजस. राम जन्मकर हेतु ।। बाल० १२१

२. कपि आकृति तुम्ह कीन्ह हमारी।
करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।' बाल० १३६-१३७ दोहों के बीच

३. मम अपकार कीन्ह तुम भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी। वही

कारण गौण है। रावण अपने पूर्वजन्मों में ऐसा नहीं था। भगवान् विष्णु के द्वारपाल-जय और विजय-क्षिप्र-शापवश हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष हुए जिनका वध क्रमशः वराह और नृसिंहरूप भगवान् ने किया। ये ही आगे के जन्म में रावण और कुम्भकर्ण के रूप में अवतरित हुए।[1] एकबार देवता जलंधर से पराजित हो गए। शिवजी ने जलंधर का अन्त करने का प्रयत्न किया, पर उनका प्रयत्न निष्फल हुआ, क्योंकि जलंधर की पत्नी के सतीत्व का कोई सामना नहीं कर सकता था। भगवान् ने छल करके जलंधर की पत्नी का व्रत-भङ्ग किया। उसने भगवान् को शाप दिया। उस सती-शाप को सत्य सिद्ध करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ा। जलंधर रावण हुआ[2]। इसके पश्चात् नारद-मोह की कथा है। नारद ने एक राजकन्या के स्वर्गिक सौन्दर्य से आकृष्ट होकर विष्णु से रूप-याचना की जिससे वह राजकन्या उनका वरण कर ले। विष्णु ने उन्हें कपि-रूप प्रदान किया। नारद का मद-खंडन हुआ। शिवजी के दो गणों ने उनसे दर्पण में मुँह देखने को कहा, नारदजी ने शिव-गणों को शाप दिया[3]। पीछे उनका समाधान किया : तुम विपुल बल से युक्त निशिचर बनोगे और समस्त विश्व को बलपूर्वक जीत लोगे। तब विष्णु, नर रूप में प्रकट होकर तुम्हारा उद्धार करेंगे।[4] यहाँ तुलसी ने रावण और कुम्भकर्ण का नाम नहीं लिया, पर उनका तात्पर्य उन्हीं से है। फिर प्रतापभानु की कथा है। इसको तुलसी ने विस्तार से दिया है। कैकय देश के राजा सत्यकेतु के दो पुत्र थे : प्रतापभानु और अरिमर्दन। सत्यकेतु के पश्चात् प्रतापभानु सिंहासनासीन हुआ। प्रतापभानु ने अपने बाहुबल से समस्त विश्व को जीत लिया। प्रजा अत्यन्त सुखी और धर्माचरण पर दृढ़ थी। प्रतापभानु भी धर्म के मार्ग से कभी विचलित नहीं होता था। उससे पराजित एक राजा ने तापस वेश धारण करके प्रतापभानु को पथ-भ्रष्ट किया। उससे ब्राह्मण-विजय करने को उसने कहा और स्वयं उसका सहायक बना। एक दिन ब्राह्मणों को निमन्त्रित कराके उसने सामिष आहार परसवा दिया। आकाशवाणी हुई : ब्राह्मणो सावधान ! भोजन न करना। ब्राह्मणों ने इस षड्यन्त्र को समझ कर प्रतापभानु को शाप दिया : तुम सपरिवार निशिचर बनो।[5] आकाशवाणी ने फिर ब्राह्मणों से कहा ; तुमने अकारण शाप दिया है। इसमें राजा

---

१. भए निसाचर जाइ तेइ महावीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान।। बाल० १२२

२. तहाँ जलंधर रावन भयऊ।
रन हतिराम परम पद दयऊ।। बाल० १२३-१२४ दोहों के बीच।

३. होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेउ हमहि सो लेहु फल, बहुरि हँसेउ जनिकोउ।। बाल० १३५

४. निसिचर जाइ होहु तुम दोऊ। वैभव विपुल तेज बल होऊ।
भुजबल विस्व जितब तुम जहिआ। धरिहहिं विष्णु मनुज तनु तहिआ।।
बाल० १३८-३९ के बीच

५. जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार। बाल० दो० १७३

का किंचित् भी दोष नहीं है। किन्तु ब्रह्म-शाप अन्यथा नहीं हो सकता। प्रतापभानु कालान्तर में रावण बना : उसका भाई अरिमर्दन कुम्भकर्ण हुआ : धर्मात्मा मंत्री विभीषण के रूप में अवतरित हुआ : तथा अन्य पुत्र-सेवक अनेक राक्षसों के रूप में प्रकट हुए।[1] इन सब का जन्म पुलस्त्य-कुल में हुआ। फिर भी ये शापवशात् पापयोनि हुए।[2]

इस प्रकार रावण तथा उसके परिवार के उदय का कारण ब्राह्मणों का शाप ही निरूपित किया गया है। एक बात द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणों ने उक्त शाप प्रायः अकारण ही दिए। जय-विजय को दिया जाने वाला शाप खींचतान करके भी औचित्य की सीमा में नहीं आ सकता। दो शापों की पृष्ठभूमि में शैव तत्व ही है। जलंधर रावण हुआ और जलंधर शिवजी के द्वारा अपराजेय रहा। इसमें शैव तत्त्वों की पराजय और वैष्णव तत्त्वों का उत्कर्ष ही प्रतिध्वनित है। नारद के द्वारा अभिशप्त गण रावण-कुम्भकर्ण बने। इस शाप के पीछे भी नारद की विकृत, मोह-ग्रस्त, विवेकशून्य और असन्तुलित मनःस्थिति थी। अतः इस शाप का अनौचित्य स्वतः सिद्ध है। प्रतापभानु तो नितान्त निर्दोष था। उसके अभिशप्त होने पर तो आकाशवाणी हुई—

बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा॥

अनुचित होते हुए भी शाप-वाक्य ब्राह्मण-मुख से निर्गत होने के कारण अन्यथा कैसे हो सकते हैं![3] यह एक मनोवैज्ञानिक व्यंग्य है। पैतृक परम्परा निष्कलंक और निश्छल होते हुए भी 'राक्षसत्व' का उदय हुआ। वातावरण—कीर्ति-धवल पुलस्त्यकुल —भी ब्रह्मशाप के प्रभाव से निष्क्रिय हो गया। साथ ही समस्त वातावरण अलौकिकता से ओतप्रोत है। इस विवेचन से एक बात और स्पष्ट होती है। तुलसी ने रावण के उदय की परिस्थिति को इस प्रकार चित्रित किया है कि रावण निर्दोष सिद्ध हो जाता है। उसका राक्षसत्व कभी ब्राह्मण-दर्प पर तथा कभी परिस्थिति पर एक दारुण व्यंग्य बनकर अट्टहास करने लगता है। तुलसी ने रावण की पृष्ठभूमि में उन कारणों की स्थापना की है, जो उसके नियंत्रण से बाहर थे।

---

१. काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥
दससिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥
भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भयउ सो कुंभकरन बलधामा॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयउ बिमात्र-बन्धु लघु तासू॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्णुभगत बिग्यान निधाना॥
बाल० दोहा १७५-१७६

२. उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर श्रापबस, भए सकल अघरूप॥ बाल० दोहा १७६

३ भूपति भावी मिटहिं नहिं जदपि न दूषन तोर।
किए अन्यथा होइ नहिं बिप्रश्राप अति घोर॥ बाल० दोहा १७४

वाल्मीकि ने भी रावण के उदय की कथा में उन तत्त्वों को सजाया है, जो रावण के वश में नहीं थे। पर कथानक अधिक ऐतिहासिक, जातीय और सांस्कृतिक है। सांस्कृतिक दृष्टि से सुर-असुर-संघर्ष ही रावण के उदय की भूमिका में है। रावण एक मिश्रित विवाह से उत्पन्न हुआ : राक्षसी मा और देव पिता तत्त्वत: ये दोनों तत्त्व परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार रावण का जीवन, मन और शरीर दो विरोधी तत्त्वों के अनन्त संघर्ष के लिए युद्ध-क्षेत्र बन जाता है। यह विवाह इस प्रकार हुआ : लंका पहले राक्षसों की थी। राक्षस पराजित हुए और विष्णु-भय से रसातल में शरण लेने चले गये। देवों की ओर से लङ्का के राज्य को सम्हालने के लिए वैश्रवण नियुक्त हुआ। वह दिक्पाल हुआ और अनन्त सम्पत्ति का स्वामी हुआ। राक्षसों के तीन नेताओं में से एक सुमाली नामक राक्षस एक बार लंका के पास होकर गया। उसने पुष्पकारूढ़ वैश्रवण को देखा। उसके रूप-सौन्दर्य को देखकर सुमाली प्रभावित हुआ और क्रोध-संतप्त रसातल को लौटा। उसने लङ्का की पुनर्प्राप्ति को बात सोची।[1] सुमाली ने अपनी पुत्री केकसी को अपने पास बुलाया और उससे कहा : तुम विवाह-योग्य हो। कोई वर तुम्हारी खोज में नहीं आता। प्रजापतियों की परम्परा के वैश्रवण के पास जाओ और अपने आपको उसके लिए प्रस्तावित करो। तब तुमसे धनेश्वर जैसे सूर्यवत् भास्वर पुत्र उत्पन्न होंगे।[2] केकसी पिता की आज्ञा से वहाँ गई। वैश्रवण तपस्या-रत था। केकसी ने ऋषि के पूछने पर, अपना अभिप्राय व्यक्त किया : मेरा नाम केकसी है। पिता की आज्ञा से आपके पास आई हूँ। मैं युवती हूँ आप मेरी कामना को समझ ही सकते हैं।[3] वस्तुत सुमाली के कथनानुसार वर, बधू की खोज में जाया करते थे,[4] पर केकसी के द्वारा उसने नियम-विरुद्ध कार्य कराया। वैश्रवण केकसी के प्रस्ताव में अन्तर्हित षड्यन्त्र को समझ गया। इस प्रस्ताव के प्रति जटिल प्रतिक्रिया हुई : वैश्रवण के सामने भावी अकल्याण था; उसकी इच्छा इस विवाह के विरुद्ध थी; उसका प्रेम केकसी के प्रति असम्भव था। पर एक युवती के प्रस्ताव को ठुकराना अमानवीय पाप समझा जाता था। फलतः कुण्ठित और अप्रसन्न मन:स्थिति में उसे केकसी को स्वीकार करना पड़ा। वैश्रवण ने स्वीकार करते समय कहा : तुम्हें इस सकट काल में मैं स्वीकार तो करता हूँ पर तुम्हें सावधान भी करता हूँ कि तुम्हारी इच्छा पूर्ण नहीं होगी : तुम्हारी कोख से बुरे पुत्र उत्पन्न होंगे।[5] दारुणरूप, क्रूरकर्मी राक्षसों को ही तुम जन्म दोगी! यह मात्र भविष्य-कथन नहीं था : एक

---

१ वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ८ श्लोक ५-६

२. वही श्लोक १२-१३

३ वही, श्लोक १४-२०

४. वही, श्लोक ८-९। यह कथा आजकल की प्रथा के विपरीत है। आज अधिकांश में वधू के पक्ष के गुरु-जन वर की खोज में जाते हैं। पर कुछ जातियों में इसकी उल्टी प्रथा भी है। हो सकता है कि असुर जाति की यह विशेषता हो, जिसकी ओर सुमाली संकेत करता है।

५. वही, श्लोक २३-२४

ऋषि का दृढ़ निश्चय था—संकल्प था। इसमें भावी संतान के प्रति प्रतिक्रिया बोल रही है। भविष्यवाणियाँ ही 'सजेशन' बन जाती हैं और अपना प्रभाव दिखाती हैं।[१] इस प्रकार रावण के उदय की पैतृक पीठिका अत्यन्त जटिल और संघर्षशील तत्वों से विनिर्मित है। वैश्रवण के मुख से इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से युक्त भविष्यवाणी जब केकसी ने सुनी, तो उसने कहा : आप जैसे ब्रह्मवादी से इस प्रकार के पुत्रों का जन्म लेना शोभा नहीं देता : कृपा करो।[२] इस अनुनय पर उसने ध्यान देते हुए कहा कि केवल अन्तिम पुत्र धर्मात्मा होगा। उसका चरित्र मेरे जैसा होगा। इस समस्त परिस्थिति में जातीय संघर्ष और मनोवैज्ञानिक क्षोभ और कुण्ठा का प्रबल बीज है। इन समस्त शक्तियों पर रावण का कोई नियंत्रण नहीं था। इस प्रकार तुलसी और वाल्मीकि के पृष्ठभूमि-चित्रण के अभिप्रायों में मौलिक समानता है; 'शाप' दोनों में ही है। केवल जातीय संघर्ष की बात 'तुलसी' ने छोड़ दी है।

इस पृष्ठभूमि में रावण तथा उसके साथी अन्य राक्षसों का जन्म होता है। तुलसी के अनुसार वे 'कामरूप थे : कुटिल और भयंकर थे : विवेकशून्य थे : निर्दय, हिंसक और पापी थे : और विश्वपीड़क थे।[३] तुलसी ने उनकी रूप-गत भयंकरता को विशद रूप में चित्रित नहीं किया। उनके विश्व-पीड़क रूप पर बल दिया है। वाल्मीकि ने उनके दारुण रूप को विस्तृत रूप में लिखा है।[४] इस रूप की भयंकरता में वैश्रवण के शाप की प्रतिध्वनि है। साथ ही रूप की इस भयकरता में हीनता की ग्रन्थि (inferiority complex) के बीज भी अन्तर्निहित हैं। पिता की उदासीनता और घृणा ने इस ग्रन्थि को और भी जटिल बना दिया होगा। सामाजिक उपेक्षा ने उस ग्रन्थि को भयंकरतम रूप दिया होगा : इस प्रकार 'रावण' आरम्भ से ही हीनता-ग्रन्थि में जकड़ने लगा था। पैतृक संघर्ष वातावरण की कुटिलता से मिलकर और भी दुर्द्धर्ष हो उठा।

---

१. Bandown ने लिखा है : Prophecies will germinate in our minds into veritable-suggestions and will tend to realize themselves and that there is no radical difference between the action of suggestion when its results are purely functional and its action when its results are organic [Suggestions and Auto suggestions]

२ वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ९, श्लोक २५

३ कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयङ्कर विगत विवेका॥
कृपा रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाइ विश्व परितापी॥

बालकाण्ड १७५-१७६ दोहे

४. एवमुक्ता तुसा कन्या राम कालेन केनचित्।
जनयामास वीभत्सं रक्षोरूपं-सुदारुणम्॥
दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलांजनचयोपमम्।
ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्त मूर्धजम्॥

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से रावण में वैदिक वृत्रका भी विकास देखा जा सकता है। सीता (=हल से बना कूण्ड -- furrow) 'इन्द्र' (=वृष्टि के देवता) से संबद्ध हुआ और दाम्पत्य-भाव जागृत हुआ। वृत्र नामक राक्षस ने जल को अवरुद्ध किया। फलत: सीता क्षुब्ध होती है। तब इन्द्र अपनी पत्नी की शक्ति को अपहरण करने वाले वृत्र को अग्नि की सहायता से नष्ट करता है।[1] कालिदास ने भी इस इन्द्र-सीता-वृत्र के रूपक को अलङ्कार-रूप में ग्रहण किया है :[2] अपने प्रियतम शिवजी से वियुक्त पार्वती उसी प्रकार खिन्न है, जिस प्रकार, वर्षा के अभाव में सीता। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक गाथा भाषा का विकार है। इस विकृत रूप में रूपकवत् अथवा विशेषणवत् जो शब्द होते हैं वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त करने लगते हैं। यह भूल जाया जाता है कि ये कवि के दिये नाम है, जिन्होंने शनै: शनै देवत्व प्राप्त किया है।[3] इस व्याख्या के अनुसार 'सीता' ऋग्वेदीय इन्द्र की पत्नी है; 'इन्द्र' विष्णु बनता हुआ 'राम' बन गया। रावण वृत्र है।

३. रावण और राक्षस—

यद्यपि रावण का जन्म पुलस्त्य-ऋषि के पवित्र कुल में हुआ, पर शाप के कारण वह पापयोनि राक्षस बन गया।[4] रावण भयंकर था। साथ ही उसे 'कामरूप' कहा गया है।[5] अश्वमेध यज्ञों के साथ संलग्न राक्षस-वार्ता में उनका विवरण यों दिया है : इनके राजा कुबेर हैं; इनके प्रतिनिधि 'सेलगा' (=पाप करने वाले) हैं; तथा 'देवजन विद्या' इनका ज्ञान है।[6] इस प्रकार 'तुलसी' के 'अघयोनि' तथा 'कामरूप' का स्रोत श्रुति में है। रावण, मन्दोदरी, मेघनाद आदि सभी अपनी इच्छा से रूप बदल सकते थे। वाल्मीकि ने राक्षसों के समस्त लक्षणों का निरूपण वैश्रवण की भविष्यवाणी में कर दिया है। साथ ही वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मा ने अन्य वर के साथ कामरूपता का भी वरदान दिया था।[7] पर तुलसी ने सामान्य रूप से राक्षसों को कामरूप कह दिया है। कामरूपता के साथ वे अनेक माया-विद्याएँ भी जानते थे।[8]

रावण की दस सिर और बीस-भुजाओं वाली कल्पना भी लोक तथा पुराण-संस्कृति की देन है। यह कल्पना भी विश्व के साहित्य में मिलती है। भारत में सहस्रबाहु, तथा शेष-नाग की कल्पना इससे साम्य रखती है। हो सकता है रावण शेष

१. ऋग्वेद, ५।६।११
२. सखीभिरस्रोत्तर मीक्षितामिमां।
वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्॥ कुमारसम्भव, पंचमसर्ग
३. मैक्समूलर, लैक्चर्स ऑन सायंस ऑव लैंग्वेज, पृ० ११
४. उपजे जदपि पुलस्त्यकुल, पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर शाप बस, भए सकल अघरूप॥ बालकाण्ड १७६
५. कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयङ्कर बिगत बिबेका॥ बाल० दोहा १७५-१७६
६. दे० शतपथ ब्राह्मण १३।४।३ (परिप्लवाख्यान)
७. उत्तरकाण्ड, अध्याय १०, श्लोक १०-२६
८. कामरूप जानहिं सब माया। बाल० १८०-१८१

का ही रूपान्तर हो ![1] 'तिफोन' (Typhon) की यौरुपीय कल्पना भी इससे साम्य रखती है : उसके भी कई सिरों की कल्पना की गई है।[2] इसने 'जियस'[3] (Zeus) से युद्ध किया था। जियस के पक्ष में लड़ने वाले एक दानव के सौ हाथों की कल्पना की गई है। भारत में कुछ देवों के अनेक सिर और हाथ माने गए हैं। 'पुरुषसूक्त' में 'ब्रह्म की कल्पना सहस्र सिर, सहस्र हाथ, सहस्र पैर तथा सहस्र आँख वाले 'पुरुष' के रूप में मिलती है। इस प्रकार भारोपीय लोक-कल्पना इसमें मिलती है। रावण के दस सिर और उसकी बीस भुजायें उसकी असाधारण स्थिति को और भी पुष्ट करते हैं। उसके भयंकर रूप को ये और भी भयंकर बनाने वाले तत्त्व हैं। भयंकर आकृति के साथ उसका अनावश्यक और असंतुलित रूप-विन्यास उसके प्रति लोक की घृणा और उपेक्षा को बढ़ा देता होगा। इस प्रकार हीनता की ग्रन्थि जटिल से जटिल तर होती जाती है।

४. रावण की तपस्या—

तुलसी ने रावण के उदय के पश्चात् तीनों भाइयों के उग्र तप का उल्लेख किया है : यह तपस्या ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए की गई थी।[4] वैदिक साहित्य से इतना पता चलता है कि वे इस तपस्या के कारण देवताओं के समान शक्तिशाली हो गए थे।[5] तुलसी ने रावण के तप को उग्र कह कर बात समाप्त कर दी है। वाल्मीकि के इस 'उग्र' तप का स्पष्टीकरण भी किया है। इस तप की पृष्ठभूमि में रावण की माता केकसी का उत्ताप है। केकसी ने धनेश्वर को देखा : उसके दिव्यरूप ने कैकसी के हृदय को ईर्ष्या से भर दिया। उसने रावण को अपने पास बुलाया और उससे कहा : अपने आपको देखो और धनेश्वर को देखो। मेरे पुत्र, यदि तुम मेरे सच्चे पुत्र हो तो वैश्रवण के समान बनने की चेष्टा करो।[6] कवि ने यहाँ कैकसी को

---

१ Mackenzie, Indian Myth and Legend, P. 65

२. Classic Myth and Legend, Mackenzie, P. 14

३. यह भारतीय द्यौस' ही है।

४. कीन्ह विविध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई॥ बाल० १७६-१७७

५. The Asuras performed at the sacrifice all that the Devas performed. The Asuras became thus of equal power with the Devas and did not yet yield to them. [E. Vernon Arnold, The Rigved, P. 59]

६. वाल्मीकि ने इस प्रसंग को यों रखा है—

अथ वैश्रवणो देवस्तत्र कालेन केनचित्।
आगतः पितरं द्रष्टुं पुष्पकेण धनेश्वरः॥
तं दृष्ट्वा कैकसी तत्र ज्वलन्तमिव तेजसा।
आगम्य राक्षसी तत्र दशग्रीवमुवाच ह॥
पुत्र वैश्रवणं पश्य भ्रातरं तेजसावृतम्।
भ्रातृभावे समेचापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम्॥
दशग्रीव तथा यत्नं कुरुष्वामित विक्रम।
यथा त्वमसि मे पुत्र भवे वैश्रवणोपमः॥ उत्तरकाण्ड, ६।४०-४३

राक्षसी कहा है। इस प्रकार कैकसी ने रावण के मन में उलझी हुई हीनता-ग्रन्थि को और उकसाया। रावण ने उत्तर दिया : मैं अपने भाई धनेश्वर के समान ही नहीं बनूँगा, उससे भी आगे बढ़कर रहूँगा। उसी के समान ओज प्राप्त करूँगा। तू अपने हृदय को शान्त कर।[1] इस प्रकार वाल्मीकि ने देवताओं के समान ही नहीं, उनसे आगे बढ़ने के अभिप्राय से रावण की तपस्या को चित्रित किया है। माता का रोष और उत्ताप उस तक को उग्रतर बना देता है। इस प्रसङ्ग का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है : कैकसी=ईर्ष्या (धनेश्वर के प्रति) + घृणा (रावण के प्रति) + प्रेम (रावण के प्रति) + दया (रावण की रूपजन्य हीनता और उपेक्षा से प्रेरित) + महात्वाकांक्षा (मेरा पुत्र भी ऐसा हो)। रावण=प्रताप + क्रोध (अपनी हीनता की घोषणा पर) + मातृ-प्रेम + उत्तेजना। इस जटिल प्रस्तावना में रावण तप निरत हुआ। क्रोध से प्रेरित, हीनता से उत्तेजित और अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए होने वाला तप उग्र होगा ही।[2] 'अमर्ष' ही उसकी प्रेरक शक्ति है। पंडितराज ने अमर्ष की उत्पत्ति के कारण वे ही लिखे हैं, जो रावण के साथ उपस्थित हो गए थे।[3] 'अमर्ष' की प्रतिक्रिया छः रूपों में हो सकती है—

> पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
> वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोध जोऽपि गणोऽष्टकः।। मनु० ७।१४८

इन अभिप्रायों से प्रेरित तपस्या उग्र हो गई। रावण की तपस्या का रूप यह हुआ : वह बिना खाए १० हजार वर्ष तप-निरत रहा। प्रति हजार वर्ष पश्चात् अपने एक सिर को काटकर होम देता था। इस प्रकार नौ हजार वर्ष बीत गए। उसने अपने नौ सिर अग्नि को समर्पित कर दिए। दसवें हज़ार वर्ष के अन्त में जब रावण अपने अन्तिम सिर को काटने वाला था तब ब्रह्मा प्रकट हुए। तुलसी ने इस समस्त पृष्ठभूमि को छोड़ दिया है। केवल 'परम उग्र नहिं बरनि सो जाई' लिखकर सन्तोष किया है।

ब्रह्मा ने कहा : वर माँगो। रावण ने कहा : 'हम काहू के मरहिं न मारे।' अपनी अवध्यता चाही। वृत्र भी अवध्य था : इन्द्र ने एक विशेष शस्त्र से उसका बध किया था : इन्द्र को उसके वध्य अंगों का ज्ञान हो गया था।[4] वाल्मीकि का रावण भी अमरत्व की याचना करता है। इस पर ब्रह्मा ने कहा : मृत्यु से पूर्ण छुटकारा असम्भव है। तब रावण ने कहा : अच्छा; सुपर्ण, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षसों से अबध्य कर दीजिए। ब्रह्मा ने 'तथास्तु' कह दिया। उसे मनुष्य आदि की चिन्ता नहीं थी : वे तो उसके भोज्य थे। ब्रह्मा ने एक अतिरिक्त वर से उसके सिरों को ज्यों का

---

१. वही, उत्तर० ६।४४-४५
२. वही, उत्तर० ६।४६-४७
३. परकृतावज्ञादिनानापराध जन्यो मौन वाक्या रुष्यादिकारणभूतश्चि। पण्डितराजः रसगङ्गाधर।
४. ऋग्वेद, १।३२

त्यों कर दिया। साथ ही उसे काम-रूपता का भी वरदान दिया।[१] तुलसी ने भी तप और वरदान की यही रूपरेखा रखी है, पर उसको अति संक्षेप में रख दिया है—

हम काहू के मरहिं न मारें। बानर मनुज जाति दुइ बारें॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा॥[२]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह वरदान एक व्यंग्य भी था। सम्भवतः रावण अपने सिरों को नहीं चाहता था। उन्हीं के कारण उसके रूप की असाधारणता और दारुणता थी। काम-रूपता का वरदान क्षतिपूरक था। हीनता-ग्रन्थि से उत्पन्न भय-ग्रन्थि का समाधान अधिकांश रूप में रावण को मिल गया। सम्भवतः उसने मनुष्य और वानर को इसलिए छोड़ा कि उसकी हीनता-ग्रन्थि विशेष मुखर न हो जाय। उसके उद्धत दर्प को इन अपवादों के बिना सम्भवतः क्षत-विक्षत होना पड़ता। वाल्मीकि का रावण कहता है कि मनुष्य की मुझे चिन्ता नहीं है। उससे तो मैं स्वयं ही निबट लूँगा। वे तो मेरे लिए तृणवत हैं।[3] इसका एक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है। वह वस्तुतः मनुष्य से भयभीत था। किन्तु अपनी हीनता की ग्रन्थि को छुपाने और गौरव-ग्रन्थि की तुष्टि के लिए उसने मनुष्य से स्वयं ही निपट लेने की बात कही।

५. लङ्कापति रावण—

इस प्रकार बलार्जन और अवध्यता-प्राप्ति के पश्चात् रावण ने सबसे पहले लङ्का को जीता। दलित राक्षस-जाति के उत्कर्ष का आरम्भ हुआ। लङ्का समुद्र में स्थित होने के कारण सुरक्षित थी। मय ने उसका नवनिर्माण किया : यह स्वर्णरचित लङ्का नागों की भोगावती और शक्र की अमरावती से भी अधिक भव्य थी।[४] इस लङ्का को पहले कुबेर तथा उसके वंशज अधिकृत किए हुए थे। वृत्र के सम्बन्ध में भी उल्लेख मिलता है कि देवों से पराजित होकर राक्षसों ने समुद्र में शरण ली थी।[५] वेबीलोन की एक सृष्टि कथा में 'तिअमत' (Tiamat) नामक एक दारुण सर्पिणी-राक्षसिनी की कल्पना मिलती है। उसका नाम ही 'समुद्र' का द्योतक है। वह समुद्र में से ही देवों पर आक्रमण करती थी।[६] रावण भी सागरस्थ लङ्का से देवों पर

१ वाल्मीकि, उत्तरकाण्ड, अध्याय १०।१०-२६। 'वितरामीह ते सौम्य वरं चान्यं दुरासदम्'

२ तुलसी, बाल० १७६-१७७ दोहों के बीच

३ नहि चिन्तामामान्येपु प्राणिष्वमर पूजित।
तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिते मानुषादयः॥ उत्तर० १० २०

४ गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥
सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा॥
भोगावति जस अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्र निवासा॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका। जगविख्यात नाम तेहि लंका॥ बालकाण्ड, १७७।१७८ दोहे

५. रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥ बाल० १७८-१७९

६. G. Pinches, The Religion of Babylonia.

आक्रमरण करने लगा। 'शेष' की कल्पना ने भी रावरण की कल्पना को कुछ तत्त्व दिए हैं। पुराणों के अनुसार दैत्य और दानव समुद्र में रहा करते थे। इस प्रकार राक्षसों का समुद्र-निवास एक सांस्कृतिक अभिप्राय है। इस तत्त्व को समस्त भारोपीय तथा अन्य अन्य संस्कृतियों में भी खोजा जा सकता है। इस प्रकार हीनता-ग्रन्थि के द्वारा उद्वेलित और उसकी जटिलता से पीड़ित रावरण ने भय-ग्रन्थि से बहुत कुछ मुक्ति पाकर समुद्र के एक द्वीप में अपना गढ़ बनाकर अपनी स्थिति को दृढ़ किया।

६. रावरण का संघर्ष—

रावरण का प्रथम संघर्ष यक्षों से हुआ। यक्षों से ही उसने लङ्का को जीता। लङ्का में अतुल धन था। इनको रावरण ने पराजित किया और उनका नगर लेकर उसे ही अपनी राजधानी बनाया।[१] भारतीय संस्कृति और साहित्य में यक्षों के महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं।[२] तुलसी ने उसकी धन-सम्पत्ति का विशेष उल्लेख किया है। रावरण भी उनके अतुलित धन की ओर आकर्षित हुआ था। इन पर आक्रमरण करने का एक काररण यह भी था कि ये मनुष्य से सहानुभूति रखते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे मनुष्यों की सहायता भी करते थे।[३] जैन-साहित्य में इनका मनुष्य-कल्याणकारी रूप भी मिलता है। धन से इस जाति का सम्बन्ध भारत की सभी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं में माना है। सारस्वत कोष के अनुसार यक्ष 'इन्द्र-गुह्य' (=धन-रक्षक) है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार यक्षों का स्वामी कुबेर अष्टनिधियों का स्वामी है।[४] कथासरित्सागर की कुछ कथाएँ भी इसकी पुष्टि करती हैं।[५] इस प्रकार रावरण ने पहली विजय यक्षों पर की। यक्षों के स्वामी कुबेर से ही उसने सम्पत्ति के साथ पुष्पक-विमान भी प्राप्त किया—

एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा।।[६]

रावरण ने यक्ष-विजय से प्राप्त समस्त धन सम्पत्ति को राक्षसों में वितरित कर दिया और उनके जीवन की सुख-समृद्धि से युक्त बनाया।[७] यक्ष-विजय से उसकी आर्थिक स्थिति दृढ़ हो गई। इस प्रकार प्राकृतिक और आर्थिक रूप से अपनी स्थिति को दृढ़ बनाकर रावरण ने अपनी हीनता-ग्रन्थि के मूल काररण देवताओं से संघर्ष करने की बात सोची।

---

१. दसमुख कतहुँ खबरि अस पाई। सेन साजि गढ़ घेरिसि जाई।।
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई।।
फिरि सब नगर दसानन देखा। गयसु सोच सुख भयउ बिशेषा।।
सुन्दर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावरण रजधानी।।

२. 'सी० एच० टानी, दि कथा-कोश' लंदन, १८६५।

३. वही, पृ० ३२

४. जितेन्द्रनाथ बनर्जी, डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, १६५६, पृ० १०५, टिप्पणी १

५. कथासरित्सागर xviii. ४१-४३; ६७-७५

६. बाल० १७८-१७६ दोहों के बीच।

७. जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे।। (वही)

देवता रावण के मूल शत्रु थे।[१] किन्तु देवता सामने आकर युद्ध नहीं करते थे। वे प्रबल शत्रु के सामने से भाग जाते थे।[२] उनके मरण के लिए एक ही मार्ग था : ब्राह्मण या ऋषि अपने यज्ञों, मंत्रों और श्राद्ध आदि अनुष्ठानों से देवताओं को शक्ति प्रदान करते हैं। उनके इस कर्मकांड में बाधा उपस्थित होने से देवता क्षीण-बल हो जायँगे। यह सोचकर रावण ने अपने अव्यक्त शत्रु, ब्राह्मण और ऋषियों से लोहा लेना आरम्भ किया।[३] वैदिक साहित्य में भी मिलता है कि ब्राह्मणों के मत्रों से शक्ति ग्रहण करके ही इन्द्र ने वृत्र को पराजित किया। दधीचि नामक ऋषि ने वृत्र-विनाश के लिए अपनी अस्थियों का दान ही दे दिया था। महाभारत के वनपर्व में इस कथा का उल्लेख है। इस प्रकार राक्षसों के विरुद्ध ब्राह्मण और देवों का गठ-बन्धन प्राचीन काल से ही हो गया था। रावण ने इनसे लोहा लिया। यहाँ तक कि उसने ऋषियों के रक्त-मांस को समाप्त करके उनकी अस्थियाँ ही शेष रहने दीं। राम ने वन-मार्ग पर अस्थिसमूह को देखकर पृच्छा की, तो ऋषियों ने उत्तर दिया : राक्षसों ने ऋषियों को खा डाला है, उन्हीं की हड्डियाँ ये हैं।[४] रावण ने सदर्प देवों पर विजय प्राप्त की और देवताओं ने पर्वत-गुहाओं मे शरण ली—'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।' साथ ही उसने सूर्य, चन्द्र, पवन, वरुण, अग्नि, यम आदि वैदिक देवताओं को बन्दी बना लिया। किन्नर, सिद्ध, मनुज, सुर और नाग भी उसके वशीभूत हो गए।[५] यह रावण की गौरव-ग्रन्थि (Superiority complex) की संतुष्टि का विधान था। वह समस्त देवों के समान ही नहीं, उनसे आगे भी बढ़ना चाहता था। बाल्मीकि ने भी लिखा है कि रावण ने जहाँ अपने समान तथा अपने से अधिक बल वालों का नाम सुना, वहीं जाकर, उनको ललकारा और जीता।[६] जिस-जिस देश में ब्राह्मण और गाय मिलते थे, उनको भी रावण जला देता था।[७] रावण के लिए अब कोई प्रतिभट नहीं रहा—'प्रतिभट खोजत कतहुँ न पाया।' इस प्रकार रावण ने अपना विजयाभिमान पूर्ण किया। यह उसकी हीनताग्रन्थि का दुर्द्धर्ष रूप था। समस्त विश्व को उसने इसी की शक्ति से विजय किया—

---

१. सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे बैरी बिबुध बरूथा॥ बाल० १८०-१८१

२. ते सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई॥ (वही)

३. तिन्ह कर मरन एक विधि होई। कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई॥
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥

४. निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥
अरण्यकाण्ड ८-९ दोहे

५ रवि ससि पवन वरुन धनुधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥
किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥
बाल० १८१-१८२

६. राक्षसं वा मनुष्यं वा शृणुते यं बलाधिकम्।
रावणस्तं समासाद्य युद्धे ह्वयित दर्पितः। उत्तर० ३४।२

७. जेहिं-जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं। बाल० १८२-१८३

ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसबर्ती नरनारी ।।

रावण की हीनता ग्रन्थि ने एक और रूप धारण किया । इसकी क्षति-पूर्ति के लिए उसने स्त्रियों के अपहरण का मार्ग ग्रहण किया । अनेक सुन्दरियों को उसने अपने बाहुबल से जीता ।[1] इसमें अपने देव-बन्धुओं से आगे बढ़ने की प्रतियोगिता भी लक्षित होती है—देवताओं से भी अधिक सुन्दर नारियाँ अपने महल में रखूँगा ! वाल्मीकि ने एक प्रसङ्ग इस सम्बन्ध में दिया है : रावण को एक वेदवती नामक एक सुन्दरी स्त्री हिमालय के गहन-वनों में तपस्या-रत मिली । रावण को उससे ज्ञात हुआ कि वह विष्णु को पति-रूप में वरण करना चाहती है । इस पर रावण ने कहा : विष्णु कौन है ? वह किसी प्रकार मेरे समान नहीं है ।[2] इसमें रावण की अपराजेय हीनता-ग्रन्थि का ही घोष है । रावण का रूप दारुण और वीभत्स था । स्वेच्छा से सम्भवतः कोई स्त्री उसे चाहती नहीं होगी । अतः बलात् अपहरण का मार्ग उसने अनुसरण किया । राक्षसों के साथ अपहरण का तत्त्व हमारे सांस्कृतिक साहित्य में सदैव जुड़ा रहा ।[3] सीता का अपहरण सम्भवतः इसी प्रवृत्ति से सम्बद्ध है । भारोपीय लोक-गाथाओं में राक्षसों के द्वारा अपहरण एक विशेष अभिप्राय बन गया है । बर्न ने भारोपीय कथाओं के अभिप्रायों में एक अभिप्राय इस प्रकार दिया :[4] ।

१. दुलहिन किसी राक्षस के द्वारा अपहृत होती है ।
२. वह पुनर्प्राप्त की जाती है अथवा वह राक्षस के विनाश का कारण बनती है ।

यह अभिप्राय (motif) भारोपीय संस्कृति में प्रमुख रूप से मिलता है । रावण द्वारा सीता का अपहरण इसी के आधार पर है । इसी प्रसिद्ध अभिप्राय को होमर ने 'हेलेन' के अपहरण में रखा है । किन्तु उसमें हेलेन, पेरिस के साथ स्वेच्छा से चली जाती है । भारत के भी कुछ पुराणों में सीता के अपने आप रावण के रथ पर बैठ जाने की बात मिलती है ।[5] रावण ने माया रूप सीता का अपहरण इस प्रकार किया—

क्रोधवंत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ ।
चला गगन-पथ आतुर भयरथ हाँकि न जाइ ।।[6]

---

१. देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि ।। बाल १८२ (ख)

२. कश्च तावदसौ यं त्वं विष्णुरित्यभिभाषसे
वीर्येण तपसा चैव भोगेन च बलेन च ।
स मया नो समो भद्रे यं त्वं कामयसेऽङ्गने । उत्तर० १७।२३

३. धर्मशास्त्रों में राक्षस-विवाहों का आधार अपहरण बताया गया है :
मनु० ३।३५; याज्ञ० १।६१;
आपस्तंबधर्मशास्त्र २।५।१२।२; गौतम धर्मसूत्र ६।१२; वशिष्ठ धर्मसूत्र १।३४; बौद्धायन-धर्मसूत्र १।११।२०।; नारदसूत्र १२।४३; कौटिल्य अर्थशास्त्र २।२; शांखायन, ४।६; आश्वलायनं गृह्यसूत्र १।६।८ आदि ।

४. Burne, Handbook of Folklore, Appendix C

५. दे० कामिल बुलके, रामकथा, सीताहरण प्रसंग ।

६. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड ।

इस प्रकार रावण के जीवन में विरोधी जातियों से दुर्द्धर्ष संघर्ष तथा स्त्री-अपहरण दो प्रधान क्षतिपूरक कृत्य देखे जा सकते हैं। वैदिक साहित्य के इन्द्र-वृत्र संघर्ष में भी यही अपहरण का तत्त्व व्याप्त है। इन्द्र उषा का प्रेमी है।[1] इन्द्र 'सीता' का पति भी हो जाता है : उसे उर्वरापति कहा गया है।[2] वृत्र वर्षा के जल को बादलों में बन्द रखता है : इससे 'सीता' की शक्ति क्षुब्ध हो जाती है। यही वैदिक 'सीता' का अपहरण है। इन्द्र वृत्र-बध करके वर्षा कराता है : यही सीता की पुनर्प्राप्ति है।[3] वृत्र 'गायों' (=किरणों) का अपहरण करता है। वृत्र-बध करके इन्द्र उनको भी मुक्त करता है।[4] यही अभिप्राय पुराणों की विविध कथाओं में उतरता चला आया है। रावण-द्वारा सीता के अपहरण में सांस्कृतिक विकास की एक लम्बी परम्परा है।

७. राम-रावण युद्ध—

किसी सुन्दरी दुलहिन का अपहरण जहाँ लोकवार्ता का प्रधान-तत्त्व है उसी प्रकार उसकी खोज और प्राप्ति भी प्रमुख तत्त्व है। सीता की पुनर्प्राप्ति के साथ ही राम-रावण-युद्ध भी संलग्न है। पीछे देखा जा चुका है कि रावण अन्य राक्षसों की भाँति अनेक माया-विद्याएँ जानता था। राम-रावण-युद्ध में तुलसी ने केवल रावण के बाहु-बल का प्रदर्शन नहीं किया : उसकी विद्या का भी चित्रण किया है। बेबीलोन की पुराण-गाथाओं की 'तियामत' भी अनेक दानवीय सर्पों के साथ समुद्र में रहती थी और देवों के विरुद्ध षड्यंत्र किया करती थी : वह भी प्रायः अबध्या थी। उसके मारने के लिए भी द्वारा एक नायक के चुने जाने की बात कई गई है।[5] राम भी ऐसे ही एक नायक हैं जो प्रायः अवध्य रावण के विनाशार्थ आते हैं। जब एक-एक करके उसके भट-सुभट-महाभट युद्ध में काम आ जाते हैं तब रावण युद्ध में आता है।

रावण के युद्ध के सम्बन्ध में दो तत्त्व हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। ये दोनों सांस्कृतिक, पौराणिक साहित्य के प्रमुख तत्त्व हैं। लोक-सस्कृति भी इन तत्त्वों की पृष्ठभूमि में है। एक तत्त्व रावण के सिरों का बार-बार कटना और बार-बार नए हो जाना है। तुलसी ने लिखा है कि रावण की बीस भुजाओं और दस सिरों का छेदन करने के लिए तीस बाण छोड़े : उनसे वे कट भी गिरे, पर फिर नए हो गये।[6] ये कटे हुए सिर आकाश-मार्ग से जाते हैं : जयजयकार करते हैं और भय-संकुल वातावरण उपस्थित कर देते है।[7] यह तत्त्व उसी अभिप्राय का रूपान्तर है

---

१. मर्त्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋ० १।११५

२. ऋग्वेद ८।२१।३

३. ऋग्वेद, ५।६।११

४. Having slain Vritra he has liberated many mornings and years (That had been) swallowed by darkness [R V, ±. 2. 9 : Tr. H. M. Wilson]

५. Mackenize, Classic Myth and Legend, P. 14

६. तीर तीस रघुबीर पवारे। भुजनि समेत सीस महि पारे॥
काटत ही पुनि भए नवीने !... ... ...रामचरित० लङ्का, ९१-९२

७. काटे सिर नभ-मारग धावहिं। जयजय धुनिकरि भय उपजावहिं। लङ्का० ८-८२ ३

जिसमें राक्षस के रक्त से अनेक राक्षसों के उत्पन्न होने की बात कही गई है। योरोप की अनेक गाथाओं में यह तत्त्व मिलता है।[१] दूसरा तत्त्व रावण के नाभि-कुण्ड में अमृत के वास की बात है। उस अङ्ग का उच्छेदन करने से ही रावण का वध हो सकता था। इस प्रकार के अवध्य राक्षसों के शरीर में कुछ वध्य अङ्ग होते थे। इन्हीं पर आघात होने से वध हो सकता था। इन्द्र को भी वृत्र के वध्य भागों का पता लगाना पड़ा था।[२] किसी अङ्ग विशेष में राक्षस के प्राणों के निवास की बात भारतीय तथा अन्य देशों की लोक-कथाओं का भी प्रसिद्ध अभिप्राय है। तुलसी ने रावण के प्राणों का निवास उसकी नाभि में माना है। विभीषण ने इस रहस्य का उद्घाटन किया।[३] रावण के इसी अङ्ग पर आघात करके राम ने रावण का वध किया। रावण के भयङ्कर युद्ध का वर्णन तुलसी ने किया है। उसकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा, उसकी गरजती हुई हीनता की ग्रन्थि, उसके क्रूर क्षति-पूरक कृत्य, उसकी दानवीय मार्ग से अर्जित विद्या-शक्ति इस युद्ध में अपने चरम पर है। अनेक बार वह वानर-वाहिनी को मूर्च्छित कर देता है। राम भी चकित हो जाते हैं और देवताओं को अनेक बार हाहाकार करना पड़ता है। अन्त में राम ने इकत्तीस शरों का सन्धान किया : इनमें से एक ने नाभि-कुण्ड के अमृत का शोषण किया।[४] इस प्रकार रावण का अन्त हुआ।

८. उपसंहार : उदात्तीकरण—

तुलसी ने रावण का वध कराया : पर उसके हृदय की सहानुभूतिपूर्ण झाँकियाँ भी कुछ कराई हैं। रावण, राम से संघर्ष करता है : उसका आरम्भ सीता-हरण से होता है। सीताहरण से पूर्व तुलसी ने रावण की मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण किया है। वह सोचता है—

सुर-रंजन भंजन महिमारा। जौ भगवन्त लीन्ह अवतारा॥
तउ मैं जाइ बयरु हठि करहूँ। प्रभु सर प्रान तजे भवतरहूँ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रमबचन मंत्रदृढ़ एहा॥ [अरण्यकांड]

उसको भगवान होने का सन्देह इसलिए हुआ कि राम ने उसी के समान बल वाले खर-दूषण का वध कर दिया था। उनका वध भगवान् ही कर सकते थे।[५] यदि वे भगवान् नहीं हैं, कोई राजकुमार हैं, तो मैं उन पर निश्चय ही विजय प्राप्त करूँगा।[६] वास्तव में रावण का हृदय दो विरोधी मनोवृत्तियों का संघर्ष-स्थल था।

१. Classic Myth and Legend, Markenize P. 14.

२. ऋग्० १।३२

३. नाभिकुन्ड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥ [लङ्काकाण्ड : दोहा १०१-१०२]

४. सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर करि रोषा॥ [लङ्काकाण्ड]

५. खरदूषन मोहि समबलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता। [अरण्यकाण्ड २२-२३]

६. जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥ [वही]

पैतृक परम्परा और वातावरण का भी संघर्ष था। उसकी विवेकबुद्धि इस संघर्ष में प्रबल इच्छा-शक्ति के अभाव में, कुण्ठित हो जाती है। वह निश्चयात्मिका बुद्धि के अभाव में उक्त द्विविध निर्णय करता है। यदि उसे सत्य का निश्चय हो जाता तो, वह नष्ट होने से बच सकता था।

रावण : कल्पना कितनी भयङ्कर है। ब्राह्मणों से रक्त-कर वसूल करने वाला, आततायी, सुरारी, अत्याचारी, सीता का अपहर्त्ता—जितना भी सोचिए उसकी भयङ्करता गहन से गहनतर होती जाती है। उस रावण के हृदय में कुछ धुँधली, अस्फुट प्रकाश रेखाएँ तुलसी ने खींच दी हैं। उसकी भयङ्करता को चीरकर उसके हृदय की गहराई में प्रविष्ट होकर प्रकाश-किरणों का अनुसन्धान एक सफल, निर्वैयक्तिक कलाकार का ही कार्य है। इतने विषमान्वयों का समन्वय तुलसी रावण के चरित्र में कर सके। रावण के चित्रण से तुलसी ने यह दिखाना चाहा है कि कोई कितना ही पतित और दुरात्मा हो, उसके भीतर भी सत्य-शिव की रेखा रहती है। इन प्रकाश-रेखाओं को संकलित करके अन्धकार को हराया भी जा सकता है। साथ ही रावण के चित्रण के उक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रावण उन शक्तियों से परिचालित था जो उसके वश में नहीं थीं। वह इतना अजेय हो गया कि राम को उसके विनाशार्थ अवतार लेना पड़ा। यदि अनजान, अचेतन शक्तियों का वह शिकार था, तो उसको दण्डित क्यों किया गया? वस्तुतः वह दण्डित नहीं हुआ : उसको अचेतन की अज्ञात शक्तियों से मुक्ति मिली। 'मोक्ष' मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति उसे हुई। पर जब उसकी पतनोन्मुख वृत्तियों का अवरोध हो गया तब मन्दोदरी के विलाप की यह ध्वनि सुनाई पड़ती है—

तब बस विधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव सिर भुज जम्बुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं॥

वहीं 'तुलसी' की यह वाणी सुनाई पड़ती है : रावण को मुनि-दुर्लभ गति मिली—

अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिन्धु नहिं आन।
जोगि-बृन्द दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान॥

संसार की दृष्टि में यह दण्ड है ; तुलसी की दृष्टि में उद्धार : भक्त यह मानता है कि भगवान् की कृपादृष्टि इसे ही कहते हैं।

३६

बिहारी की कला

१. प्रस्तावना
२. व्यक्तित्व
३. परिस्थितियाँ
४. बिहारी की काव्य-दृष्टि
५. नायिका भेद और बिहारी
६. भाव-पक्ष
(अ) संयोग-वियोग (ब) नखशिख-वर्णन (स) ऋतु-वर्णन-उद्दीपन-पक्ष
(द) भक्ति और नीति
७. कला-पक्ष
(अ) बहुज्ञता (ब) काव्य रूप (स) चित्र-योजना (द) अलङ्कार-योजना
(य) भाषा
८. उपसंहार

१. प्रस्तावना—

बिहारी रीतिकाल की सर्वोच्च प्रतिभा है। सामासिक शैली, सूक्ष्म चित्र-कारिता और नागरिक रुचि का प्रगल्भ विकास बिहारी के काव्य में मिलते हैं। सभी दृष्टियों से बिहारी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। यद्यपि आचार्यत्व सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षा से कवि का मन नहीं डोला, तथापि शास्त्रीय काव्य-विधान, शास्त्रीय रुचि और शास्त्रीय काव्य-प्रसङ्गों का सुरुचिपूर्ण नियोजन बिहारी की प्रतिभा करती रही। लक्षण-ग्रन्थों की रचना न करना, उनके कवि-कर्म के स्वच्छन्द विकास के अनुकूल ही रहा। राज्याश्रित होते हुए भी रूढ़ प्रशस्ति-गायन से अपने को अपेक्षाकृत मुक्त करके, बिहारी ने अपनी प्रातिभ साधना के एक बड़े बोझ को हटा दिया। काव्य-परिमाण के लोभ का भी बिहारी ने संवरण किया। वैसे लक्षण-साहित्य और राज-प्रशस्ति से मुक्त रह कर काव्य का आकार स्वतः भी छोटा हो गया। रीति-कालीन कवियों की परिमाण वृद्धि में पुनरावृत्ति भी आ जाती है। बिहारी इससे भी वंचित रहा। परिमाण में या तो बिहारी ने रुचि नहीं ली, और यदि उन्होंने परि-माण में अधिक साहित्य लिखा भी होगा तो उन्होंने श्रेष्ठतम अंश को ही जीवित रखना श्रेयस्कर समझा। शेष लुप्त नहीं हो गया : सम्भवतः स्वतः बिहारी ने उसकी उपेक्षा कर दी और पाठक पर अनावश्यक बोझ नहीं लादा। उन्होंने उन्हीं दोहों को सुरक्षित रखा 'जो घाव करें गम्भीर' की कसौटी पर खरे उतरें। साथ ही 'देखत में छोटे लगें' की साधना समय-साध्य भी थी। अतः यह भी सम्भव है कि वे कम ही

दोहे बना पाए हों। अन्त में यही कहा जा सकता है कि बिहारी की सतसई परिमाण की दृष्टि से तो छोटी है पर उसका कोई भी दोहा सुरुचि, प्रभाव और कला में निम्नकोटि का नहीं है।[1]

२. व्यक्तित्व—

बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुई। मथुरा में उनका यौवन बीता।[2] बिहारी के जीवन-क्रम के विषय में प्रामाणिक रूप से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। एक स्रोत के अनुसार इनके पिता इनको आठ वर्ष की आयु में ग्वालियर से ओड़छा ले गये। वहाँ ये महाकवि केशवदास के सम्पर्क में आये।[3] बिहारी को केशवदास जैसे आचार्य से काव्यशास्त्र के अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। ओड़छा के पास ही एक ग्राम में निम्बार्क सम्प्रदाय के ही एक महात्मा रहते थे— स्वामी नरहरिदास। इनसे बिहारी ने संस्कृत और प्राकृत पढ़ी। साथ ही वृन्दाबन की मधुरासक्ति का सूत्र भी इनके व्यक्तित्व से आ मिला। ये अपने पिता के साथ वृन्दाबन भी आए और वहाँ टट्टी स्थान (हरिदासी सम्प्रदाय से सम्बद्ध) से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। वृन्दाबन-निवास ने राधावादी मधुर उपासना के बीज इनके जीवन में बो दिए। भक्ति के साथ-साथ राधा को सर्वोपरि मानने वाली रस-भावना इनकी प्रतिभा के लिए वरदान बन गई। इनकी राधा की उपासना सतसई के प्रथम दोहे से स्पष्ट है। वृन्दाबन में इन्होंने मधुर-भावना की शीतल और रस-सिक्त छाया में विद्याभ्यास किया। साहित्य और सङ्गीत के संस्कार भी बिहारी के व्यक्तित्व में दृढ़ हुए। इनका विवाह भी मथुरा की एक चतुर्वेदी कुलोद्भवा नवेली से हो गया। ब्रज ने उनके संस्कारों को, इस प्रकार, और भी दृढ़ किया। इनकी पत्नी भी बड़ी कवयित्री थी। किंवदन्ती तो यह है कि बिहारी सतसई के सभी दोहों की रचना ब्रज की इसी नवेली कवयित्री ने की और उसने अपने पति के नाम से उसे प्रसिद्ध किया। इसको संदिग्ध अत्युक्ति भी कहा जाय, तो भी इतना स्पष्ट है कि इनकी पत्नी कविता भी करती थी और उच्च काव्य-रुचि भी रखती थी। उसने पति की प्रातिभ साधना में पर्याप्त योगदान भी दिया होगा।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः 'यह बात साहित्य क्षेत्र में इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा करती है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। गुणी की कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'
हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २७४

२. एक प्रचलित दोहा है—
जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुँदेलै बाल।
तरुनाई आई सुखद, बसि मथुरा ससुराल॥

३. कहा जाता है कि केशवदास इनके पिता थे। पर अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि इनके पिता केशवदास महाकवि केशवदास से भिन्न थे।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि बिहारी पर केशव की काव्य-शास्त्रीय रुचि बिहारी को आरम्भ में ही मिल गई। साथ ही वृन्दाबन के रसाश्रयी सम्प्रदायों की प्रगाढ़ रसासक्ति ने बिहारी के व्यक्तित्व को एक अजस्र माधुर्य-स्रोत से संपृक्त कर दिया। बुन्देली भाषा तो बाल्यकाल से ही इनकी सहेली रही। व्रज की नवेली ने आकर बुन्देली को ब्रज के रस में डुबो दिया। संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन भी रस-निरपेक्ष नहीं रहा : एक निम्बार्की महात्मा के द्वारा उसका अध्ययन एक विशेष अर्थ रखता है।

इस प्रतिभा और संस्कार को लेकर बिहारी ने राजवंशों में प्रवेश किया। एक सुयोग यह भी रहा कि ये आश्रयदाता की खोज में नहीं निकाले। आश्रयदाता ने ही इनकी प्रतिभा को पहचाना। जब बिहारी वृन्दाबन निवास करते थे, तब एक बार वहाँ आया। वह बिहारी की प्रतिभा से अभिभूत हो गया। वह उन्हें आगरा ले गया। शाहजहाँ के पुत्र-जन्मोत्सव पर जब सभी राजा-महाराजा आगरे आये, तब बिहारी को अपनी प्रतिभा का कौशल दिखलाने का अवसर मिला। सभी बिहारी की रचनाओं को सुनकर चकित रह गये। सभी ने मिलकर बिहारी को वार्षिक वृत्ति दी। इसी वार्षिक वृत्ति के सम्बन्ध में एक बार आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ गये। पता चला कि राजा साहब राज-काज को भूल कर नवोढ़ा रानी के साथ महलों में पड़े हैं। इसी समय बिहारी ने अपने सशक्त व्यक्तित्व से बल प्राप्त करके, और वृत्ति की चिन्ता न करते हुए एक अन्योक्ति की रचना की। इस अन्योक्ति की ध्वनि-किरणों ने राजा को सत्पथ दिखलाया। अन्योक्ति यह है—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
> अली कली ही स्यों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस अन्योक्ति ने बिहारी को राजकवि का सम्मान दिलवाया। अनुश्रुति के अनुसार ये कुँवर रामसिंह के गुरु भी थे। आगरा के निवास-काल में इन्होंने फारसी काव्य के अध्ययन से अपनी प्रतिभा को सम्पन्न किया और रचना को नवीन बारीकियाँ मिलीं। जयपुर-आमेर में इन्होंने सामंतीय विलास-वैभव से सम्पर्क प्राप्त किया। पर उनका रसासक्तिपूर्ण भक्ति से उच्छलित मन इस राज-विलास में अधिक दिन न रम सका। कहा जाता हैं कि सतसई की रचना के पश्चात् इन्होंने जीवन के अन्तिम भाग में फिर ब्रजवास किया और कविता करना छोड़ दिया। इस प्रकार बिहारी के व्यक्तित्व का विकास-विन्यास बहुविध हुआ। राज्याश्रय में रहते हुए भी उन्होंने अपने को प्रशस्ति-गायन से मुक्त रखा। राज्याश्रय इनको अपनी साधना के फलस्वरूप स्वतः प्राप्त हो गया : उसके लिए न प्रयत्न किया और न अपने को बेचा। उनके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता, उक्त अन्योक्ति से व्यक्त होती है। दूसरी अन्योक्ति भी इतिहास-प्रसिद्ध है जिसकी रचना उस समय हुई थी, जब राजा जयसिंह मुगल-भक्ति से प्रेरित होकर किसी हिन्दू राजा के दमन के लिए जा रहे थे—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि ।
बाज पराए पानि पर, तू पंछीनु न मारि ।।

व्यक्तित्व के इन तत्त्वों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी एक विशिष्ट व्यक्तित्व-युक्त कवि है । केशव और उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' का प्रभाव उनकी कविता पर रहा । वृन्दाबन की रस-भक्ति ने उनको भक्तिभाव दिया और उनकी रस-वृत्ति को गहराई भी प्रदान की । फारसी काव्य की बारीकियाँ भी इनकी रचनाओं में समा गईं । राज्याश्रय-जन्य सुख का त्यागपूर्वक भोग करते रहे : इससे ये अपेक्षाकृत स्वच्छन्द बने रहे । कई राजदरबारों का अनुभव होने के कारण ये तत्कालीन जीवन के भव्य चित्र भी दे सके । पंडितराज जगन्नाथ से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

३. परिस्थितियाँ—

जहाँ तक बिहारी के व्यापक परिवेश का सम्बन्ध है, नारी की स्थिति केन्द्रीय थी । बिहारी ने भी जीवन के सुख का स्रोत नारी में ही देखा : 'इक नारी लहि संग रसमय किय लोचन-जगत ।' इस युग का अन्तर्मन विलासगत 'चमक तमक हाँसी सिसक' में इस प्रकार उलझा था कि मोक्ष भी तिरस्कृता पड़ी थी, कहीं ! नारी की देह भोगार्थ ही है, ऐसा माना जाता था : 'क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ।' नारी की छवि के बन्धन को उन्होंने अन्ततः अटूट ही समझा—

या भवपारावार कौ उलंघि लांघि को जाइ ।
तिय-छबि छाया ग्राहिणी, ग्रसै बीच ही आइ ।।

एक मनोवैज्ञानिक सत्य से भी बिहारी अवगत थे : 'किते न औगुन जग करे नै बै चढ़ती बार ।' कोई अपने मधुर बोलों से जीवन के राग को बिगाड़ ही देता है : 'ऐरी रागु बिगारिगौ बैरी बोल सुनाइ ।' और उस चंचला की चितवन से सुजान भी वश में हो ही जाते हैं : 'वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान ' परस्पर रीझना-रिझाना क्या रुक सकता है; यह तो प्रकृति है : 'रूप रिझावन हारु वह ए नैना रिझवार' यह उस युग का मनोविज्ञान है जो बिहारी की वाणी में मुखरित है । शृङ्गार युग रुचि बन गई थी । नायिका के संकेत युग के संकेत बन गये थे । सामन्त युगीन स्थूल परिस्थितियों की पुनरावृत्ति अनावश्यक है ।

४. बिहारी की काव्य-दृष्टि—

जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, बिहारी ने लक्षण-ग्रन्थों का विधिवत परिशीलन किया था । इसकी झलक उनके कवि-कर्म पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है । रीति-शास्त्र उनकी स्वच्छन्द प्रतिभा का आन्तरिक संघर्ष इस रूप में समन्वित कभी नहीं हुआ । उक्तियों में पर्याप्त स्वच्छन्दता भी बनी रही और विधान शास्त्रीय बना रहा । जिस व्यक्ति ने केशव से कवि-शिक्षा ग्रहण की हो और जिसका पण्डितराज जगन्नाथ जैसे व्यक्ति से व्यक्तिगत सम्बन्ध रहा हो, उसकी रचना रीतिबद्ध

तो होनी ही चाहिए। पर बिहारी की विशेषता यह है कि उक्ति और भाव-विधान में अपनी स्वच्छन्दता को अक्षुण्ण बनाए रखा।

केशव के प्रभाव को तो अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, पर केशव का अलङ्कारवाद बिहारी को प्रभावित न कर सका। कविता की शैली तो अवश्य ही सुरुचि पूर्ण अलङ्कार-विधान से विभूषित है, पर अलङ्कार-वर्णन उनका लक्ष्य नहीं था और न वे अलङ्कार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर उसको काव्य का अनिवार्य अङ्ग ही मानते थे। यदि अलङ्कार काव्य के सहज रूप को लांछित करे तो वह त्याज्य है—

करत मलिन आछी छबिहि हरत जु सहज बिकास।
अङ्गराग अंगनु लगै, ज्यों आरसी उसास ॥

अलङ्कारों के प्रति यह बड़ा ही स्वस्थ दृष्टिकोण है। स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्षक होकर अलङ्कार आयें तो कुछ क्षति नहीं, पर यदि उस सौन्दर्य को आभूषण बाधा पहुँचायें तो उनकी योजना एक बड़ा साहित्यिक पाप है—

पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दर्पण कैसे मोरचे, देह दिखाई देत ॥

इन उक्तियों से प्रकट होता है कि कवि की दृष्टि अलङ्कार-विधान के प्रति बहुत आकर्षित नहीं थी। प्रतीयमान अर्थ का उत्कर्ष करे, वहीं तक उनका प्रयोजन है।

तो क्या बिहारी रसवादी थे? 'करी बिहारी सतमई भरी अनेक सवाद' में क्या सवाद रसास्वाद का भाव प्रकट करता है। इसका प्रयोग 'तंत्रीनाद कवित्त रस' में भी मिलता है। यह सत्य है कि बिहारी की दृष्टि रसवाद के अधिक निकट थी। व्यक्तित्व के संस्कार भी इसी प्रकार के थे। पर यह भी सत्य है कि रस उनका साध्य नहीं है। उनको मुख्यत: ध्वनिवादी माना जाता है। ध्वनिवादी दृष्टिकोण होने के कारण शृङ्गार के संकेत-चित्र बड़े मूक-मुखर बन पड़े हैं। सारा सौन्दर्य ही सतसई में ध्वनि का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित दोहा है—

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रङ्ग।
अनबूड़े, बूड़े तरे, जे बूड़े सब अङ्ग।

वाच्यार्थ में अत्यन्त तिरस्कृत होने वाली ध्वनि का सौन्दर्य तो सतसई में अनेक मोहक रूप धारण करके सामने आता है। एक दोहा देखिए—

बेसरि मोती धनि तुही, को पूछे कुल जाति।
निधरक ह्वै पीबो करै, तीय अधर दिन राति।

ध्वनि जिस शक्ति और सौन्दर्य के साथ बिहारी में मिलती है, उतनी रीतिकाल के किसी कवि में नहीं। छोटे से दोहे का वाच्यार्थ व्यंजना के पङ्खों में उड़ता हुआ न जाने कितनी ऊँचाइयों का स्पर्श कर लेता है। बिहारी इस क्षेत्र के चक्रवर्ती कहे जा सकते हैं। जिन अन्योक्तियों का प्रभाव इतिहास की धारा को भी प्रभावित कर सका,

उनकी मूल शक्ति ध्वनि ही है। संकेतार्थ अपनी सूक्ष्मता के कारण चेतना के अधिक स्तरों का स्पर्श करता है। शृङ्गार के दोहों में वर्णनगत अश्लीलता संकेतमय होकर दोष का मार्जन कर लेती है और सूक्ष्म प्रभाव में समा कर अपने मनोवैज्ञानिक अस्तित्व की रक्षा करती है।

५. नायिका भेद और बिहारी—

रीतिकालीन भावोद्वेलन के केन्द्र में अनन्त विलासमयी, और हाव-भाव विभूषिता नारी है। बिहारी ही नहीं अन्य कवि भी नारी के सौन्दर्य के उद्घाटन में सतत प्रयत्नशील हैं। नायिका भेद कामशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों से ही पुष्ट होकर भारतीय काव्य-शास्त्र में एक प्रबल परम्परा बन चुका था। शृङ्गार-रस की ऊँची-नीची सरणियाँ, और सभी तरलताएँ नायिकाओं के भेदों में तरंगायित मिलती हैं। प्रेमपरक आध्यात्मिक साधना का भी मूल-आधार नायिका भेद बन चुका था। सतसई के अनेक टीकाकारों ने उसे नायिका-भेद का ही लक्ष्य-ग्रन्थ माना है। यह तो सत्य है कि शृङ्गार-निरूपण के समय बिहारी की दृष्टि में नायिकाओं की झाँकियाँ भरी थीं। पर यह नहीं, कि नायिका-भेद का एक लक्षण ग्रन्थ लिखना बिहारी को अभीप्सित था। नायिका भेद के बने-ढले साँचे को लेकर रचना करना बिहारी जैसी स्वच्छन्द प्रतिभा को कहाँ स्वीकार्य हो सकता है। न जाने कितनी मौलिक और गहरी रेखाएँ नायिकाओं के परम्परित चित्र पर उभर आई है। स्वकीया का निर्व्याज प्रेम भी बिहारी की रचनाओं में व्याप्त है और परकीया (कन्या; परोढ़ा) का प्रेम भी। सखी और दूती भी प्रेम-व्यवहार और रति-आचार में पण्डिता हैं। सतसई में दूती का कार्य क्षेत्र भी विस्तृत है और उसकी कठिन कार्य करने की क्षमता का भी वर्णन है।

युग-धर्म के अनुसार नायिकाओं के अलङ्कार, नखशिख, लीला, हाव-भाव-अनुभाव, ऋतु वर्णन आदि सभी की योजना अपूर्व है। एक बात विशेष यह है कि नायिका जो टाइप बन गई थी, उसकी व्यक्तिगत स्थिति की ओर 'वह चितवनि औरै कछू' कह कर अपनी दृष्टि फेरी है।

६. भाव पक्ष—

बिहारी सौन्दर्य और शृङ्गार का कवि है। बिहारी की दृष्टि नागरिक सौन्दर्य पर विशेष रूप से केन्द्रित थी। ग्राम्य सौन्दर्य उसे कभी-कभी बरबस खींच लेता है। बाह्य सौन्दर्य के तो कितने ही रङ्गोज्ज्वल चित्र उन्होंने खींचे ही हैं, अनुभाव या सात्विकों का सौन्दर्य अधिक खिला है। अनुभावों का बीज हृदय-गत भावों में है और उसकी बेलिका स्फुरण बाह्य है। इनका सौन्दर्य-वर्णन बरबस भाव सौन्दर्य की तान बन जाता है। सम्भवतः अनुभावगत सौन्दर्य की भावगत तरलता, और उसकी अङ्गगत नैसर्गिक कान्ति बिहारी में अद्वितीय हैं। अनुभावों की कलात्मक संयोजना में उनकी समता करने वाला कोई नहीं।

५.१ संयोग—संयोग प्रेमी और प्रेमिका के परस्पर आकर्षण का परिणाम है। आकर्षण अन्य प्रकार से भी हो सकता है, पर इसका प्रधान प्रकार रूप-सौन्दर्य ही है। नायक का सौन्दर्य तो इस काल के कवि की कल्पना में आया नहीं। पुरुष के सौन्दर्य को नारी ही समझ सकती है। नारी सम्भवतः सबसे अधिक पौरुष की ओर आकर्षित होती है। और पौरुष तो जैसे इस युग में क्षुब्ध हो चुका था। नायिका के रूप-सौन्दर्य ने तो इस युग के कवि को विह्वल कर दिया है। संयोग बहिरिन्द्रिय सन्निकर्ष ही है। प्रिय की वाणी कानों में मिश्री घोल देती है। नायिका बतरस के लोभ से आज क्या कर रही है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

और नायक नायिका के जलते हुए सौन्दर्य में डूब जाना चाहता है। रूप की लपटें चतुर्दिक फैल रही हैं।—

अङ्ग-अङ्ग छवि की लपट उपटति जानि अछेह।
खरी पातरी ऊतऊ लगै भरी सी देह॥

सदैव नागरियों से घिरा रहने वाला बिहारी आज ग्राम की ओर चल पडा है। यहाँ 'खारी पातरी' नागरियाँ नहीं, उभरता-उमड़ता निश्छल मांसल सौन्दर्य जैसे गोरी के अङ्गों में बस गया है। इसमें तो अपूर्व आकर्षण है—

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़॥

सारा वातावरण मादक है। इस सौन्दर्य की अतृप्तिमयी तृप्ति नायक की आँखों को मिलती है।

स्पर्श संयोग की सबसे बड़ी उत्तेजना देता है। त्वचा ज्ञानेन्द्रिय युग-युग से न जाने कितने संयोगानुभव करती आई है। स्पर्श एक सीमा तक श्लील रहता है। स्पर्श अनेक अनुभावों को जन्म देता है। बिहारी ने स्वकीया के स्पर्श का एक अवसर ढूँढ़ा है। हथलेवा (=पाणिग्रहण) का अवसर है। नीचे नायक का हाथ है और ऊपर दुलही का। स्वर्गीय स्पर्श है। इसने अनुभावों की भीड़ लगा दी—

स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेबा ही हाथ॥

ज्यों-ज्यों स्पर्श प्रगाढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों चेष्टा-व्यापार में वेग और द्रुति बढ़ते जाते हैं। रति-क्षण तक पहुँचने की साधना की अन्तिम अवस्था में उत्तेजना बहुत बढ़ जाती है और क्रियाएँ कितनी विविध हो जाती हैं। बिहारी के दोहे में संयोग के चरम से पूर्व के क्षण कितने आवेश-आवेग पूर्ण हैं—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि॥

यहाँ से आगे अश्लीलता का क्षेत्र है। समाज-संसार अब आगे के एकान्त वैयक्तिक क्षणों को नहीं देख सकता। कवि का अन्तर्मन जैसे उन क्षणों को शब्द देने को व्याकुल हो जाता है। समाज भी विचित्र है, सब जानते-समझते हुए भी इन क्षणों की अभिव्यक्ति को अश्लील कहता है। पर, कहता ही है! कवि के लिए यही वह स्थिति है जब ध्वनि, व्यंजना, संकेत आदि सूक्ष्मतम शब्द-शक्ति के रूप कवि के लिए अनिवार्य हो जाते हैं। अब चित्र आपको बनाना है, कवि को नहीं। पर कवि से संकेत लीजिए, नहीं तो कैसे बनायेंगे चित्र। संकेत में कवि आपको एक विचित्र ध्वनि सुनवा रहा है: 'करति कुलाहल किंकिनी मौन गह्यौ मंजीर।' यदि चित्र बना सकते हों तो बनाइये। इस प्रकार शृङ्गार के आरम्भिक संयोग-क्षणों को कवि ने रंगीन अभिधा में सजाया और तरल-क्षणों को ध्वनि में उतारा।

५.२. **वियोग**—बिहारी को वियोग के क्षणों की अनुभूति कम है। रीतिकाल के कवि शृङ्गार के इस पक्ष में आकर चमत्कारी बन जाता है। संयोग के रसाविष्ट क्षण तो इसके अपने थे। वियोग की असली अनुभूति तो वह है जो घनानन्द में सघनतम है। बिहारी की विरहानुभूति तो प्राय: शून्य है। शून्य चमत्कारों के सूत्र-जाल में छिपना चाहता है। कवि का छल ऊहा का चोला पहनता है—

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥
सीरै जतनन सिसिर रितु, सहि बिरहिन तन ताप।
बसिबै को ग्रीषम दिनन, पर्‍यो परोसिन पाप॥

एक चमत्कार दूती के कथन में देखिए—

जौ जाके तन की दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ चलि नेकु बिलोकिए, चलि औचक चुपचाप॥

विरह संतप्ता नायिका का चित्र कहीं-कहीं बड़ा मार्मिक हो गया है—

करके मींडैं कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाइ॥

आज नायिका का विरह के समय के पश्चात् मिलन हुआ है। विरह-दुर्बल शरीर धीरे-धीरे संयोग के क्षणों में अपने विगत, सहज रंग को प्राप्त कर रहा है। उसे इतनी जल्दी जाने की बात कितनी दंश-पूर्ण लगती है। इसमें विरह कितना और स्वाभाविक है—

अजौं न आए सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयति ललन-चलन की बात॥

श्याम की याद में राधा के अविरल आँसू बह रहे हैं, बह रहे हैं। यमुना की धारा भी खारी हुई जा रही है—

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करत तरौंस को, खनिक खरो हो नीर॥

ये बिहारी के वियोग शृङ्गार के कुछ उदाहरण हैं।

५.३. नख-शिख-वर्णन—बिहारी ने नायिका के नख से लेकर उसकी शिखा तक की यात्रा की है। नख-शिख परिपाटी-विहित ही मिलता है। पर बिहारी ने यहाँ भी अपना कुछ वैशिष्ट्य रखा है। नायिका की अरुणाभ उँगलियों का कितना सुन्दर वर्णन किया है—

अरुन बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंग रंगु सी मनौ चपि बिछियनु के भार॥

यह कल्पना और निरीक्षण नवीन ही कहे जा सकते हैं। नायिका के नेत्रों में बिहारी की प्रवृत्ति विशेष रूप से रमी है। हठीले नेत्रों के सम्बन्ध में बिहारी ने कहा: 'नैंना नैंक न मानहीं कितौ कह्यौ समुझाइ।' लज्जा इनको झुकाना चाहती है। लज्जा से नयन झुक तो जाते हैं, पर झुकने पर बड़े तड़पड़ाते हैं: 'लाज नवाएँ तरफरत, करत खूँद सी नैंन।' कितनी बेचैनी इन शब्दों में व्यक्त हुई, अन्त में विजय नेत्रों की ही होती है। खींचने पर और भी वेग से आगे बढ़ते हैं: 'ए मुँह जोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हूँ चलि जाहिं।' इस प्रकार परिपाटी से मुक्त होकर बिहारी ने नयनों के विविध रंगी चित्र खींचे हैं। अर्द्ध प्रकट कुचों के विषय में एक उक्ति देखिए—

दुरें न कुच बिच कंचुकी, चुपरे सादे सेत।
कवि अंकन के अर्थ लों, प्रगट दिखाई देत॥

नख-शिख का उद्देश्य शृङ्गार की उद्दीपन सामग्री का विस्तार करना ही है। बिहारी कामुक नायक 'नारि सलोनी साँवरी' को देखता है और मुग्ध हो जाता है। नायिका उसे नागिन के समान डस जाती है।

५.४. ऋतु-वर्णन : उद्दीपन पक्ष—बिहारी ने प्रकृति का सापेक्ष वर्णन ही अधिक किया है। कहीं-कहीं निरपेक्ष चित्र भी मिलते हैं। शृङ्गार के साथ बसंत उद्दीपन के रूप में सदैव से मिलता रहा है। बिहारी की विशेषता उन चित्रों में हैं, जो निरपेक्ष हैं। वर्षाकालीन अंधकार का वर्णन कितना चमत्कार-पूर्ण हुआ है—

पावस घन-अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवानु॥

चमत्कार ने तो यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा, पर चित्र अपने आप में स्वतन्त्र है। ग्रीष्म का वर्णन भी चमत्कारी शैली में किया है। ऐसे स्थलों पर यह निश्चय करना कठिन होता है कि कवि का ध्यान प्राकृतिक सौन्दर्य पर केन्द्रित है अथवा अलंकार-सौन्दर्य पर। वैसे अधिक समीप से देखने पर अलंकार-सौन्दर्य ही प्रमुख दिखलाई पड़ता है। ग्रीष्म का दोहा लीजिए—

कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोवन सौ कियौ, दीरघ दाघ निदाघ॥

चित्र तो सुन्दर है, पर अलंकार-सौन्दर्य में प्रकृति-सौन्दर्य छुप गया है।

अध्ययन कवि के लिए आवश्यक बतलाया है। लोक-व्यवहार और शास्त्र के ज्ञान से कवि की अनुभूतियाँ संस्कृत होती हैं और अभिव्यक्ति में अप्रस्तुत-विधान समृद्ध होता है। संस्कृत काव्य में बहुज्ञता की प्रतिष्ठा रही : भारवि, माघ, बाण जैसे कवियों की कृतियों में कहीं-कहीं इसकी अतिशयता खटकती है। वस्तुतः निपुणता से प्रतिभा ही उच्चतर है। बहुज्ञता काव्य का अनिवार्य अंग तो कभी नहीं हो सकती, कभी-कभी यह बाधक भी हो जाती है। अभिव्यक्ति में इसका योगदान एक सीमा तक ही माना जा सकता है। साधारणीकरण की दृष्टि से शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा लोक-ज्ञान ही अधिक सौन्दर्य-साधक माना जाता है। बिहारी में बहुज्ञता मिलती है। पं० पद्मसिंह शर्मा इस पर मुग्ध थे : 'गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हतकण्डे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारण, ज्योतिषी का ग्रह-योग, सूम की कंजूसी जिसे देखिये वही कविता के रंग में रँगा चमक रहा है।" बिहारी का अध्ययन भी विस्तृत था और सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति भी उनको प्राप्त थी। उनका व्यक्तित्व व्युत्पन्न था। इसी कारण से उन्होंने बहुज्ञता का काव्योचित प्रयोग किया। नायिका की कमर की तनुता को दर्शन की उक्ति से व्यक्त किया है—

बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति, किये नीठि ठहराय।
सूक्षम कटि परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय॥

नायिका के सौन्दर्य चित्रण में ज्योतिष-ज्ञान का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

मङ्गल बिन्दु सुरंग, मुख ससि, केसर आड़ गुरु।
इकनारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

मङ्गल, चन्द्रमा, वृहस्पति के एक नाडी में स्थित होने पर समुद्र पृथ्वी को जलमय कर देता है। एक और योग इस प्रकार है : तुला, धन, मीन का शनि यदि लग्न में पड़ा हो, तो इस योग में जन्म लेने वाला राजा होता है इसका प्रयोग देखिए कितना कलात्मक ढंग से किया गया है—

सनि कज्जल, चख-झख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस सब देह॥

ज्योतिष के प्रयोग से उक्ति-चमत्कार भी बढ़ जाता है और कवि की कल्पनाशक्ति का उत्कर्ष भी प्रकट होता है।

इसी प्रकार वैद्यक आदि का भी प्रयोग अन्यत्र हुआ है। विषम-ज्वर, नाड़ी-निदान, सुदर्शन, पारद आदि से अनेकत्र श्लेष का सौन्दर्य बढ़ गया है। अन्य राजसी कौतुक-विनोद भी आए है। अनेक उक्तियों में सामयिक ज्ञान का भी प्रयोग हुआ है। प्रजा की दशा का वर्णन देखिए—

दुसह, दुराज प्रजानि कों, क्यों न बढ़ै दुख द्वंद।
अधिक अँधेरौ जग करै, मिलि मावस रविचन्द॥

इस प्रकार बिहारी की कला में शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों का ही सन्तुलित-योग मिलता है।

७.२. काव्य-रूप—बिहारी एक महान् मुक्तककार है। मुक्तक के लिए उन्होंने दोहा छन्द ग्रहण किया जिसकी सफलता कवि सामासिक शक्ति और संकेत-क्षमता पर निर्भर रहती है। दोहे का अस्तित्व पहले प्राकृत पैंगलम् में दिखलाई पड़ता है। अपभ्रंश का बोधक ही दोहा हो गया था। रहीम ने दोहे के सम्बन्ध में लिखा था—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट-कुण्डली, सिमिटि कूद चलि जाहिं॥

इसमें यह भाव भी ध्वनित है कि दोहों के शब्द योजना में कवि को अधिक सतर्क रहना पड़ता है। बिहारी अपने दोहे की भाषा के प्रति अत्यन्त सजग है। बारीक से बारीक, चेष्टाएँ, विविध सात्विक-अनुभाव, चमत्कारी अलङ्कार-योजना, संश्लिष्ट चित्र, सभी कुछ बिहारी ने दोहों में सफलता के साथ उतारा है। कहीं भी भीड़ नहीं है, जो दृश्य को अस्पष्ट और अनावश्यक कोलाहल से युक्त करदे। इसमें आए हुए सदस्य सह-अस्तित्व के सिद्धान्त से अवगत हैं : बिना दूसरे को क्षति पहुँचाए, सबके साथ सहयोग करते हुए, सभी उपकरण अपने कर्तव्य के प्रति सजग हैं। बिहारी ने लक्षण-निरूपण में प्रयुक्त दोहे को इतने अधिक कलात्मक सौष्ठव में ढाल कर हिन्दी में पहले-पहल इसकी स्थापना की। बिहारी से पूर्व भी इसका प्रयोग होता था, पर इसके साथ काव्य-सौन्दर्य कौन कवि इतना रख सका।

मुक्तक के दो गुण माने गये हैं : चमत्कार-क्षमता और रसचर्वण-क्षमता। दोनों ही सतसई के दोहों में मिलते हैं। मुक्तक की सीमाओं में रस-धारा विस्तार के साथ प्रवाहित नहीं हो सकती। भाव की गति गहराइयों की ओर होती है। साथ ही स्थूल सीमाओं का अतिक्रमण संकेतों और व्यञ्जनाओं के द्वारा किया जाता है। बिहारी जैसा शिल्पी उसके बाह्य रूप में बारीकियाँ ला सका और उन्हें भाव-प्रवण भी बना सका।

७.३. चित्र-योजना—बिहारी रीतिकाल का प्रमुख चितेरा है। अनुभाव और सात्विकों का चित्रण सतसई में अद्वितीय है। नायिका का सम्पूर्ण चित्र तो एक दोहे में प्रायः सम्भव नहीं हुआ। नायिका के अङ्ग-विशेष का गतिपूर्ण चित्र बिहारी की कला की विशेषता थी। एक गति-विधायक चित्र बिहारी की नायिका की भौंहों और नासिका का है—

नासा मोरि नचाय दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिए, वहै कटीली भौंह॥

इस चित्र में तीन लघु-दृश्यों का संयोजन है। इनमें नायिका का भाव भी झलक रहा है और चित्र की बाहरी रेखाएँ भी गतिशील हैं। इनका पर्यवसान भाव-संकेतों में हो जाता है।

बिहारी के वर्ण चित्र भी अत्यन्त कलात्मक हैं। इनमें अनुरूप, विषम और मिश्रित वर्ण-योजना करके चित्र का रूप-विन्यास किया जाता है। अनुरूप वर्ण योजना से एक विशेष सौन्दर्य निखरता है। नायिका गौर-वर्णा है। श्वेत साड़ी में उसकी अङ्ग-द्युति किस प्रकार उभरती है—

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति॥

श्वेत साड़ी में लिपटी नायिका की जगमगाहट चित्रित करना ही दोहे का उद्देश्य है।

बिहारी के वे चित्र और भी चमत्कार-पूर्ण हैं जहाँ वर्णों की मिश्रित योजना की गई है। अन्त में उस मिश्रित योजना का समवेत प्रभाव चित्रित कर दिया गया है। इसी वर्ण-मिश्रण का सानुपातिक चित्र 'हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र धनुष छवि होति' वाले दोहे में है। एक और चमत्कार-पूर्ण चित्र नायिका की वय: सन्धि के चित्र में है। धूपछाँह कपड़े की द्युति अन्त में झलकती है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रंग॥

एक दिन बिहारी की कल्पना नायिका की उँगली पर केन्द्रित हो गई। वहाँ उसे रंग की एक त्रिवेणी मिली। उँगली गोरी थी : नख-ज्योति अरुण थी और लोहे का एक छल्ला पहने थी। इस त्रिवेणी पर तप करता हुआ रति-साधक अपूर्व फल की प्राप्ति करता है—

गोरी छिगुन अरुन नख, छला स्याम छबि देइ।
लहत मुकत रति छिनक ये, नैन त्रिवेनी सेइ॥

विरोधी वर्णों की योजना में भी बिहारी पटु हैं। नीली साड़ी में गौर मुख ऐसा लगता है मानो कलिन्दजा में चन्द्रमा की प्रतिच्छाया हो—

छप्यो छबीलो मुखलसै, नीले आँचर चीर।
मनो कलानिधि, झलमले, कालिकी के नीर॥

एक दूसरे चित्र में पीले और लाल रंग की विरोधी योजना की गई है। तात्पर्य यह कि बिहारी ने अपने शब्द-चित्रों में अनेक सीधी-तिर्यक रेखाओं और विविध वर्णों की कलात्मक योजना करके रीतिकालीन काव्यशाला को एक चित्रशाला बना दिया है। रंग स्थिर रह कर ही व्यंजना नहीं करते, उनका दूसरे रंगों के सम्पर्क से जो परिवर्तन होता है, उसका चित्र भी मनोरम होता है। नायिका के गले में मौलश्री की माला पड़ते ही, वर्ण-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है—

पहिरत ही गोरे गरे, यौं दारी दुति लाल।
मनो परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥

यही वर्ण परिवर्तन अनेक चित्रों को सजीव बना रहा है।

कुछ चित्रों की योजना अप्रस्तुत या उपमानों के सहारे की गई है। उपमान विभिन्न स्रोतों से इस प्रकार चुने गये हैं कि एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है।

जैसे बिहारी ने आँखों को सुभट, किबलनुमा, और दलाल कहा है। रूप का उपमान फानूस में जलता हुआ दीपक माना है। यौवन को शासक की संज्ञा दी है। कहीं आँख को तुरंग, कहा है। इन उपमानों की योजना एक चित्र सा पाठक की कल्पना पर खींच देती है।

बिहारी ने मनोभावों के भी चित्र खींचे हैं। एक ही नहीं, आकस्मिक रूप से बदलते हुए भावों के भी चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। सौत अपने पैरों पर महावर लगा कर आई। इससे नायिका को ईर्ष्या हुई। थोड़ी देर में उसको यह ज्ञात हुआ कि महावर तो स्वयं प्रियतम ने लगाया है, तो उसके हृदय में आग सी लग गई।[1] दूसरे दिन नायिका ने देखा कि महावर अच्छी तरह नहीं लगा। सौत के फूहड़पन को देख कर वह हँसी। इतने में ही सौत लजा गई। इससे प्रकट हुआ कि पति ने अपने हाथ से यह लगाया है, तो उसकी हँसी बीच में ही रुक कर निश्वास में बदल गई।[2] इस प्रकार सुखवर्गीय भाव दुःख में बदल जाते हैं। यह सब एक क्षण में होता है। इन क्षणों का नायिका-चित्र अत्यन्त कलापूर्ण हुआ।

७.४. अलंकार-योजना—सादृश्य पर आधारित अलंकारों को सदैव से विशेष सौन्दर्य-विधायक और स्वाभाविक माना जाता रहा है। सादृश्य मुख्यतः तीन प्रकार का होता है : रूप सादृश्य, धर्म सादृश्य और प्रभाव सादृश्य। प्रस्तुत की रूपानुभूति को अधिक तीव्र बनाने और उसके आकार का भावात्मक बोध कराने के लिए रूप सादृश्य मूलक अप्रस्तुत का विधान किया जाता है। बिहारी ने नायिका के अंग-प्रत्यंगों के लिए रूढ़ उपमानों का प्रयोग ही किया है। आँखों के लिए हरिणी की आँखें ही ली गई : 'हरिनी के नैनान तें, हरिनीके ये नैन।' रूढ़ उपमानों के सहारे सौन्दर्यानुभूति कराना कठिन नहीं है। बिहारी ने अनेक प्रकार के सादृश्यमूलक अलङ्कारों को नवीनता देने का प्रयत्न किया है।

सम्भावनामूलक अलङ्कारों में उत्प्रेक्षा का स्थान प्रमुख है। बिहारी में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य विशेष मिलता है। कल्पना भी इसके विधान में मुक्त रहती है और चमत्कार भी पूर्ण रूप से दिखाया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों में जहाँ दूर की कौड़ी लाने की होड़ हो जाती है, वहाँ अलंकार-योजना दुरूह हो जाती है। पर जहाँ लोक-कल्पना का ध्यान रखकर विधान किया गया है, वहाँ सहज सौन्दर्य प्रस्फुटित हो जाता है। नीचे बिहारी की उत्प्रेक्षाओं के दो उदाहरण दिए गए हैं—

तियमुख लखि हीरा जरी, बेंदी बढ़े बिनोद।
सुत सनेह मानौ लियौ, बिधु, पूरन बधु गोद॥
लसत सेत सारी ढक्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि सलिल, रबि प्रतिबिंब बिहान॥

---

१. बिहारी रत्नाकर, २८७
२. वही, ५०७

प्रथम में चमत्कार अधिक है और द्वितीय में सरलता का सौन्दर्य है । कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्प्रेक्षा की योजना में बिहारी की कल्पना उर्वरा हो जाती है ।

कवि की क्रीड़ा-वृत्ति जब बढ़ जाती है, तो अलंकार-विधान चमत्कार-पूर्ण हो जाता है । बिहारी ने चमत्कार-विधान के लिए अलङ्कारों का सहारा भी लिया है और कहीं-कहीं अलंकार को ही चमत्कार का भाग बना दिया गया है । असंगति और विरोधाभास पर आधारित चमत्कार निम्न दोहे में स्पष्ट है—

दृग उरझत टूटत कुटुँब, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ।।

एक कोमलांगी नायिका पर नायक मुग्ध हो गया है । पर अभी कुछ झिझक है जो मिलने में बाधक है । इस स्थिति को समासोक्ति के माध्यम से यों स्पष्ट किया गया है—

सरस कुसुम मँडरातु अलि, नझुकि झपटि लपटातु ।
दरमत अति सुकुमार तनु, परसत मनन पत्यातु ।।

इस प्रकार के चमत्कार-विधान में रस भी समन्वित रहता है । इस उदाहरण में भ्रमर के माध्यम से अर्थ-प्रतीति को रस-सिक्त बनाया गया है । बिहारी में चमत्कारमूलक अलंकारों की प्रयोग में जो सफाई मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । पर इनके प्रयोग से सूक्तियाँ ही जन्मी हैं । रस-सचार उच्चकोटि का नहीं हो पाया है ।

चमत्कार-प्रदर्शन का एक मार्ग अतिशयमूलक अलङ्कारों का विधान है । अपनी उचित सीमा में रहकर ये भाव में सौन्दर्य प्रस्फुटित कर देते हैं और रस का उत्कर्ष भी करते हैं । पर सीमा का अतिक्रमण करने पर चमत्कार ही हाथ रह जाता है । भाव-स्पर्श से जो पुलक होना चाहिए, वह नहीं हो पाता । दो उदाहरण अतिशय मूलक चमत्कारपूर्ण अलंकारों के लीजिए—

औंधाई सीसी, सुलखि, बिरह बरति बिललात ।
बीचहिं सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात ।।
सीरे जतननि सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-ताप ।
बसिबो कौं ग्रीषम दिनन, पर्यौ परोसिन पाप ।।

इसमें वियोग की अनुभूति न जाने कहाँ उलझ कर रह गई है । वस्तु-व्यंजना का चमत्कार तो पर्याप्त है, पर भावहीन है । उक्तियाँ परम्परा-मुक्त और कृत्रिम हैं । पर सर्वत्र ही ऐसा नहीं है । अतिशयता यदि हेतु से पुष्ट हो जाती है तो स्वाभाविकता अधिक आ जाती है । पर इस प्रकार के वर्णन अत्यन्त विरल हैं । कुल मिलाकर बिहारी के अलंकार-विधान के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि बिहारी ने अधिकांश रूढ़ अलंकार-विधान को अपनी विलक्षण कल्पना से नवीन रूप दिया है । साथ ही नवीन उपमानों का प्रयोग भी कम नहीं है । अधिकांश स्थलों पर बिहारी का अलंकार-विधान चमत्कार से मुक्त हो जाता है, रस से नहीं ।

७.५. भाषा—बिहारी उपयुक्त भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं । ब्रजभाषा का इतना परिमार्जन और उसकी इतनी शक्तियों का उद्‌घाटन इनसे पूर्व किसी ने नहीं

किया। बिहारी की भाषा में बुन्देलखंडी और ब्रज का मिश्रण मिलता है। बिहारी ने ब्रज को परिनिष्ठित और पूर्ण साहित्यिक बनाने की चेष्टा की। इस चेष्टा में उन्होंने तत्समों का भी प्रयोग अधिक किया। संस्कृत तत्समों के प्रयोग के कारण ही दोहों के लिए आवश्यक सामायिकता सिद्ध हो सकी। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि ग्रामीण शब्दों के सहज-सौन्दर्य से बिहारी की भाषा शून्य है। उनकी भाषा का सबसे सजीवांश तो इन्हीं शब्दों से निर्मित है। गोरटी, ऊजरी, सलौनी, रंगीली, कजरारे, छैल आदि शब्द ग्रामीण होते हुए भी सौन्दर्य-स्फीत हैं। नायिका के बालों का विन्यास नायक कर रहा है। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इस सन्दर्भ में कितना फब गया है—

रहौ, गुही बेनी, लख्यो गुहिबे को त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुकाये बार॥

'त्यौनार और नीठि' ग्रामीण पर अर्थपूर्ण सिक्के है।

ग्रामीण शब्दों के अतिरिक्त मुहावरों के प्रयोग से भी बिहारी ने अपनी भाषा को प्रवहमान और प्रेषणीय बनाया है। मुहावरों में एक जीवन्त स्पर्श होता है जो अर्थ-प्रतीति को सुबोध और सहज बना देता है। जो अर्थ मुहावरे से व्यक्त होता है, वह अनेक शब्दों से भी नहीं हो सकता। एक ही दोहे में कितने मुहावरों का प्रयोग बिहारी ने किया है—

मूड़ चढ़ाये ऊ रहै, पर्‌यो पीठि कचभार।
रहै गरे परि राखियै, तऊ हियै पर हार॥

अनेक दोहों में मुहावरों का सौन्दर्य बिखरा पड़ा है।

भाषा को रमणीय बनाने का भी बिहारी ने विशेष ध्यान रखा है। शृङ्गार और माधुर्य के परिवेश के अनुकूल वृत्ति-विन्यास, शब्द-चयन, अनुप्रास-विधान सतसई की विशेषता है। आवश्यकतानुसार ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है। माधुर्य गुण से युक्त अनुप्रास योजना देखिए—

रस सिंगार मंजन किए, कंजनु मंजनु दैन।
अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन॥

वर्णों के यथोचित प्रयोग से शब्द-सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, सौन्दर्य छन कर अर्थ को भी रमणीय बना देता है। झीने पट में झिलमिलाती हुई नायिका का चित्र कितने ध्वनि-सौन्दर्य को अपने में समेटे है—

झीने पट में झिलमिली, झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु में, लसति सपल्लव डार॥

यमक, श्लेप, अनुप्रास आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है और मूल भाव अक्षुण्ण रहता है। उसके सहज मूर्तिकरण में बाधा उपस्थित नहीं होती। शुक्ल जी ने बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है : "बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। बिहारी की भाषा इस दोष से

बहुत कुछ मुक्त है।" वैसे कहीं-कहीं छन्दोनुरोध और तुक की आवश्यकता से भाषा विकृत की गई है, पर औरों से कम।

इस विवेचन से बिहारी का भाषा पर अधिकार स्पष्ट हो जाता है।

८. उपसंहार—

बिहारी का व्यक्तित्व अन्य रीतिकालीन कवियों से विशिष्ट है। राज्याश्रित रहने पर भी राज-प्रशस्ति के भार से वे बहुधा अपनी प्रतिभा से मुक्त रख सके। लक्षण-ग्रंथों की रचना से विरत रह कर अपने कविकर्म को उन्होंने स्वच्छन्द रहने दिया। बहुमुखी अध्ययन से उन्होंने अपनी रुचि को परिष्कृत किया और अभिव्यक्ति की बहुविध सज्जा की। नागरिक रुचि और संस्कारों में पलने-बढ़ने पर भी उनकी सौन्दर्य-वृत्ति अन्य दिशाओं से विमुख नहीं रही। जातीय और राष्ट्रीय भावनाओं को भी जीवित रखा। शृङ्गार की अविरल धारा के नीचे वह अन्तर्धारा प्रवाहित रही जो अपने अस्तित्व की सूचना यदा-कदा देती रही। सुना जाता है कि जयसिंह की मुगल भक्ति से वे असन्तुष्ट थे और अपने अन्तिम दिनों में उसे छोड़कर भी चले गए थे। सतसई की रचना का उद्देश्य शृङ्गार को चरमोत्कर्ष प्रदान करना प्रतीत होता है। शृङ्गार मुक्तकों को शास्त्रीय साँचे में ढाल कर उन्होंने यह कार्य सम्पन्न किया। यद्यपि शृङ्गार के आन्तरिक पक्ष की स्फीति नहीं हो सकी, तथापि उसके बाह्य पक्ष का निर्वाह पूर्ण रूप से उन्होंने किया। अनुभावों का विशद वर्णन करके उन्होंने स्थूल, मांसल और गतिशील अङ्गाङ्ग सौन्दर्य को चमत्कृत किया और भाव-संकेतों का कलात्मक नियोजन भी किया। वैसे बिहारी को ध्वनि-सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया जाता है। पर रस चर्वणा, अलङ्कार-योजना और नायिका-भेद की दृष्टि से भी सतसई का स्थान ऊँचा है। अन्योक्ति और सूक्ति पक्ष भी सशक्त है। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास तीनों ही बिहारी की सफलता में योगदान देते हैं।

३७

राष्ट्रलिपि : देवनागरी

१. प्राचीन भारतीय लेख प्रमाण—

लिपि का आविष्कार मानवीय सभ्यता के विकास-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन चित्र-लिपि से अङ्क-लिपि तथा ध्वनि-लिपि तक जो उत्क्रान्ति मनुष्य के विकास की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। लिपि श्रव्य भाषा का दृश्य रूपांतरण है। भारत में लिखने का आविष्कार कब हुआ, यह बार-बार पूछा जाता है। अशोक के शिला-लेखों में ही लिपि-प्रमाण स्पष्ट रूप में मिलता है। इन शिला-लेखों में ब्राह्मी और खरोष्ठी का उपयोग किया गया है। ब्राह्मी लिपि का ही व्यापक प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने लिपि-प्रयोग में स्थानीयता का ध्यान रखा : जिस स्थान पर जो लिपिरूप प्रचलित था, उसी में उसने अपने मन्तव्य उत्कीर्ण कराए। यही कारण है कि एक ब्राह्मी का ही प्रयोग स्थानीय आकृतिगत विशेषताओं के साथ हुआ है।

मेक्समूलर ने यह सुझाव दिया था कि ब्राह्मी लिपि बहुत पूर्वकाल की नहीं है। इसकी पुष्टि में उन्होंने कहा है कि पाणिनि-व्याकरण में लेखन कला का अस्तित्व बताने वाला एक भी शब्द नहीं मिलता। इसके विपरीत बुलर महोदय ने अशोक के शिला-लेखों में प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि को पूर्व से चली आती हुई परम्परित लिपि का विकसित रूप माना है। यह लिपि निश्चित ही अशोक-पूर्व-काल में प्रचलित थी। ईसा पूर्व ६ वीं शती की उत्तरी सेमेटिक फोनेशियन (Phoenician) विशेषताओं के साथ ब्राह्मी की विशेषताओं की समानता के आधार पर कुछ विद्वान् कहते हैं कि भारतीय व्यापारियों ने मेसोपोटेमिया से इस लिपि को लिया और ४०० ईसा पूर्व भारत में इसका प्रचार किया। पं० राजबली पाण्डेय जैसे विद्वान् क्रम को उल्टा मानते हैं। पर पहली बात को भी मान लिया जाय, तो भी अशोक-पूर्व भारत में लेखन-कला की स्थिति सिद्ध हो जाती है। ब्रह्मा, सरस्वती जैसे प्राचीन धार्मिक प्रतीकों के साथ

पुस्तक की कल्पना जुड़ी हुई है। पाणिनि ने एक यावनी 'लिपि' की चर्चा की है। हो सकता है उन दिनों यह विदेशी लिपि भी प्रचलित रही हो।

अन्य पौराणिक उल्लेख भी भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता सिद्ध करते हैं। नारद-स्मृति में लेखन-कला की प्रशंसा इस प्रकार की है : यदि ब्रह्मा ने लेखन-कला न निर्माण की होती तो यह संसार जिस सुस्थिति मे पहुँच सका है, वह न पहुँचा होता। बृहस्पति का कथन है : किसी बात को स्मरण रखने में छः महीने की कालावधि में गड़बड़ी की सम्भावना रहती है। अतः ब्रह्मा ने अत्यन्त प्राचीन काल में पत्रों पर रेखांकित किए जा सकने वाले पत्थरों का निर्माण किया। इस आख्यान को बल देने वाला चित्रण बदामी में शिल्प के माध्यम से किया गया है। उसमें ब्रह्मा के हाथ में, पत्रों का एक गट्ठा दिखलाया गया है। इस प्रकार के लेख आदि भी भारतीय लिपि-सामग्री की प्राचीनता सिद्ध करते हैं।

वेद की मौखिक परम्परा तो अवश्य थी। पर इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि वेद की लिखित प्रतियाँ उपलब्ध ही नहीं होती थीं। वेदों के समान अतिशय महत्त्वपूर्ण और जटिल पद्धतियों और प्रमेयों से परिपूर्ण वाङ्मय तथा ध्वनि-शास्त्र, छन्दशास्त्र तथा खगोल शास्त्र से उनका गौण सम्बन्ध बतलाने वाली पुस्तक, जो कि गद्य में हैं, बिना लेखन-कला-ज्ञान के कैसे उत्पन्न हुई होंगी ? साथ ही वेदों में लेखन-कला सम्बन्धी कुछेक संकेत भी हैं। ऋग्वेद मे कानों पर ८ अङ्क का चिह्न धारण करने वाली गाय का उल्लेख है।[1] अथर्ववेद में एक हस्त-लेख का उल्लेख मिलता है।[2] साथ ही मोहनजोदड़ो और हरप्पा मे मिलने वाले लेख को नही भुलाया जा सकता। यह सम्भव नही है कि उस समय के बाद भारतीय जनता लेखन-कला को भूल गई हो और अचानक अशोक के शिला-लेखों में वह फिर उभर पड़ी हो। इस प्रकार भारतीय लेखन-कला का इतिहास काफी पुराना सिद्ध हो जाता है।

१. ब्राह्मी की उत्पत्ति और उसका विकास—

आरम्भ में ब्राह्मी के लेखों को पढ़ने-समझने की समस्या रही। १४ वीं शती में फिरोजशाह तुगलक ने मेरठ के अशोक स्तम्भ को अनेक पण्डितों की सहायता से पढ़वाने का प्रयत्न किया। पर इस कार्य मे सफलता न मिली। अकबर ने भी यह प्रयत्न किया, पर यश उसको भी नही मिला। ब्राह्मी लिपि के रहस्य का उद्घाटन करने का श्रेय १६ वीं शती के कुछ यूरोपीय पण्डितों को है। एलोरा की गुफाओं के ब्राह्मी लेखों ने उन्हें आकर्षित किया। सन् १७६५ में मेलट ने उस गुफा के लेखों के छापों को विलियम जोन्स के पास भेजा। फिर ये लेख विलफोर्ड के पास भेजे गए। पर ये भी ठीक-ठीक अर्थ न लगा सके।

इन लेखों को सर्वप्रथम ठीक-ठीक पढ़ने का श्रेय लासेन को ही है। इनको पढ़ने में इन्डो-बाट्रियन राजा (Agathocles) के सिक्कों पर खुदी हुई

१. ऋग्वेद, १०।६२।७
२. अथर्व० ७।५० ५

आख्यायिकाओं ने ब्राह्मी के लेखों को पढ़ने में बहुत सहायता दी। लासेन के बाद प्रिन्सेप का नाम आता है। इन्होंने ब्राह्मी के सभी अक्षरों को जान लिया। ग्रियर्सन और 'बुलर' ने इस प्रयत्न को और भी आगे बढ़ाया।

कुछ विद्वान् समेटिक मूल अक्षरों से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते थे।[1] अधिकांश भारतीय विद्वान् मोहनजोदड़ो की लिपि को ही इसका स्रोत मानते हैं। स्व० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में "ब्राह्मी भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज है, मौलिक आविष्कार है।[2]" कालान्तर में ब्राह्मी ही उत्तरी और दक्षिणी रूपों में विभक्त हो गई। यद्यपि विंध्य को इनकी विभाजक रेखा माना गया है, तथापि उत्तरी शैली के कुछ लेख दक्षिण में और दक्षिणी शैली के कुछ लेख उत्तर में प्राप्त हुए। उत्तरी शैली की इससे उद्भूत लिपियाँ ये हैं ; गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी लिपि[3] शारदा लिपि और बँगला लिपि। दक्षिण की लिपियाँ भी इसी से निकली हैं। काल्डवेल ने इसको स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया है।[4] एलिस का विचार यह था : ब्राह्मणों के दक्षिण-प्रवेश से पूर्व तमिल प्रदेशों में जो लेख प्रणाली प्रचलित थी, ब्राह्मणों ने उसमें अपनी आवश्यकतानुसार संस्कृत ध्वनियों का समावेश करके एक मिश्रित ग्रन्थ-लिपि का आविष्कार किया। इसी 'ग्रन्थ-लिपि' से वर्तमान तमिल अक्षरों का विकास हुआ है।[5] कुछ विद्वान् द्रविड़ स्रोत से संस्कृत लिपि का विकास मानते हैं।[6] एम० श्रीनिवास आयंगर के अनुसार तामिल लिपि संस्कृत से नितान्त भिन्न है। पश्चिम एशिया से यह तमिल व्यापारियों द्वारा यहाँ लाई गई : स्वतन्त्र रूप से पनपी और विकसित हुई। पीछे दसवीं शती के लगभग ग्रन्थ-लिपि ने अंशतः इसका स्थान ले लिया। पर तेलुगु-कन्नड़ लिपि का विकास ब्राह्मी से ही हुआ।[7] यहाँ इस विषय पर और अधिक विचार करना अप्रासंगिक होगा। इतना ही यहाँ अभीष्ट है कि ब्राह्मी की दक्षिणी शाखा भी अत्यन्त समृद्ध है।

ब्राह्मी की शाखाएँ बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ विदेशों में भी फैलीं। आज भी कुछ स्थानीय विशेषताओं के साथ वह लिपि विदेशों में आज तक प्रचलित है। इस विदेशी शाखा की लिपियों में उल्लेखनीय ये हैं : सिंहली लिपि, माल्दिवियन लिपि [इन्डियन सागर के 'माल्दिव द्वीप में प्रचलित लिपि], सीरो मालाबारी लिपि [सीरिया-मलाबार में], इन्डोनेशियाई लिपियाँ, चम्पा लिपि [चम्पा द्वीप में] ख्मेर लिपि [चम्पा, कम्बोडिया में], बर्मी लिपियाँ, शान लिपियाँ [स्याम], तथा फिलीपाइन

---

१. डेविडरिंगर, अल्फाबेट, पृ० ३३६-३३७
२. प्राचीन लिपि माला, पृ० २८
३. पीछे नागरी लिपि पूर्वी और पश्चिम शाखाओं में विभक्त हो गई।
४. Comparative Grammar of the Dravidian Languages, P. 123-124
५. वही, पृ० १२५ पर उद्धृत।
६. एडवर्ड थॉमस, रिसेंट पह्लवी डेसीफरमेंट, जर्नल आर. ए. एस. (१८७१)
७. तमिल स्टडीज, (१९१४ मद्रास) पृष्ठ १२८

लिपियाँ। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मी लिपि की शाखाएँ बहुत दूर-दूर तक विदेशों में भी फैली हैं।

२. देवनागरी लिपि का विकास—

देवनागरी भारत की सबसे अधिक सम्पन्न, समृद्ध, शास्त्रीय और बहुप्रयुक्त लिपि है। इसका जन्म-विकास ब्राह्मी से हुआ है। इसके अनेक प्रमाण प्राचीन काल से आज तक बिखरे मिलते हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इस नामकरण का कारण इसका नागर ब्राह्मणों से सम्बद्ध होना बतलाते हैं। कुछ इसकी व्युत्पत्ति 'नगर' से मानते हैं। नगरों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम नागरी हो गया। एक मत के अनुसार तांत्रिक मंत्रों मे कुछ चिह्न बनते थे, जो 'देवनगर' कहलाते थे। इन चिह्नों से कुछ वर्णाकृतियों के उत्पन्न होने के कारण इसका नाम देवनागरी हो गया। तांत्रिक युग में नागर लिपि नाम प्रचलित था। श्री आर० शामा शास्त्री का मत यह है: देवताओं की प्रतिमाओं के बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी, जो कई प्रकार के त्रिकोणादि यंत्रों के मध्य में लिखे जाते थे और वे यत्र देवनगर कहलाते थे। उन देवगरों के मध्य में लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में अक्षर माने जाने लगे, इसी से उसका नाम देवनागरी हुआ।[1] यही मत सबसे अधिक समीचीन है।

नागरी की कई शाखाएँ कालान्तर में हो गई। उत्तर भारत में नागरी लिपि के प्रयोग की अटूट परम्परा दसवी शताब्दी ईसवी से विधिवत पाई जाती है। दक्षिण भारत में आठवी शती तक के कुछ लेख पाये जाते हैं। दक्षिण में इसका नाम 'नंदि-नागरी' मिलता है। दक्षिण में संस्कृत की पुस्तकें इसी नंदिनागरी में लिखी जाती हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, विन्ध्य प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य-भारत और राजस्थान में इस काल के सभी शिला-लेख, ताम्र-पत्र, हस्तलेख आदि में नागरी लिपि ही पाई जाती है। ओझा जी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है: "ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नाई अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं, परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है, जितनी अक्षर की चौड़ाई होती है। ग्यारहवीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और बारहवी शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।. ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी से लगातार अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है।"[2] इस प्रकार देवनागरी का सम्बन्ध प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से है और उसके प्रयोग की एक दीर्घ परम्परा है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ, जैन और बौद्ध धर्मों के ग्रन्थ भी इसी लिपि में लिखे मिलते हैं। इसका विकास कुटिल लिपि से ही हुआ है। इसका सबसे प्राचीन रूप कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा

१. ओझा और पं० केशवप्रसाद मिश्र, नागरी अङ्क और अक्षर। पृष्ठ १०
२. भारतीय प्राचीन लिपि माला। पृष्ठ ६९-७०

महेन्द्रपाल प्रथम के दिध्वा दबौली से प्राप्त वि० सं० ९५५ के दान-पत्र में मिलता है। इसके बाद इसके नमूने सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं।

१४ वीं–१५ वीं शती में नागरी लिपि का विकास दो स्रोतों में हो गया। एक को पूर्वी शाखा कहा जा सकता है और दूसरी को मध्य-देशीय शाखा। दोनों शाखाओं में कई लिपियाँ हैं। पूर्वी शाखा में ये लिपियाँ आती हैं : बिहारी लिपि[1] [इसके तीन भेद हैं—तिरहुती कैथी, मगही कैथी, और भोजपुरी कैथी], मैथिली लिपि[2]। मध्यदेशी शाखा मे गुजराती लिपि, महाजनी लिपि, मालवी लिपि, मोड़ी लिपि। दक्षिणी शाखा का नाम नन्दि नागरी था। इस प्रकार देवनागरी अपने विकास काल में अनेक शाखाओं में विभक्त हो गई। इन शाखाओं ने एक विस्तृत भू-भाग को देवनागरी से सम्बद्ध कर दिया।

३. देवनागरी का विस्तार—

देवनागरी की शाखाओं के विस्तार के सम्बन्ध में अभी कहा जा चुका है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत और महाराष्ट्री भाषाएँ लिखी जाती हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है : 'यह निश्चित है कि अपने देश में निकट भविष्य में शत-प्रतिशत साक्षरता हो जावेगी, ऐसी स्थिति में ४० करोड़ भारतवासियों में से लगभग २० करोड़ देवनागरी लिपि का निरन्तर प्रयोग करेंगे।'[3] इसी विस्तार को ध्यान में रखते हुए देवनागरी को संविधान में राष्ट्र-लिपि के रूप में स्वीकृत किया गया है। नैपाली भाषा में भी इसी लिपि का प्रयोग है।

४. देवनागरी की वैज्ञानिकता—

देवनागरी की वैज्ञानिकता सर्वमान्य है। देशी-विदेशी विद्वान् इसकी वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में एक मत हैं। लिपि-मर्मज्ञ डैविड डिरंगर ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया था : "देवनागरी इज वन ऑव द मोस्ट परफेक्ट सिस्टम्स ऑव राइटिङ्ग। अपार्ट फ्रॉम इट्स वीकनेस, इट हैज़ रिमेण्ड एसेन्श्यली अनऑल्टर्ड फॉर मेनी सेंचुरीज, बीइङ् ऑब्विअस्ली ईजियर टू राइट करेक्टली एण्ड कॅन्सिस्टेण्टली।" वास्तव में देवनागरी संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। इसमें लगभग सारी भाषाओं की ध्वनियाँ उच्चरित रूप में लिखी जा सकती हैं। 'एक पश्चिमी विद्वान् ने देवनागरी की वैज्ञानिकता परखने के लिए कुछ वर्णों की आकृतियों के साँचे मिट्टी के खोखले रूप में बनाये थे। उसने जब उनमें फूंक मारी तो उनमें से लगभग अनुकृत वर्णों-सी ही ध्वनि सुनाई दी थी।'[4] इस प्रकार उच्चारण, अवयव, आभ्यन्तर

---

१. इस नाम की कोई स्वतन्त्र लिपि नहीं है। कैथी के तीनों भेदों का सामूहिक नाम ही बिहारी लिपि है।

२. इसका दूसरा नाम तिरहुती लिपि भी है।

३. देवनागरी लिपि, स्वरूप, विकास और समस्याएँ, पृष्ठ २५

४. श्री बी० जी० आण्डालम्मा, मैसूर; ज्ञानपीठ पत्रिका। जनवरी १९६४, पृष्ठ १२ से उद्धृत।

प्रयत्न और वाह्य प्रयत्नों के आधार पर जो वर्गीकरण है, उसी के प्रतीक रूप स्वर और व्यंजन वर्ण हैं : जैसे अ, इ, आ, ओ के उच्चारण में जैसी मुखाकृतियाँ बनती हैं वैसी ही वर्णाकृतियाँ भी हैं।

देवनागरी में सभी प्रकार की ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं : कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य एवं आनुनासिक। ङ, घ, ठ, ढ, झ, ध आदि ध्वनियाँ रोमन लिपि में नहीं हैं। हिन्दी की महाप्राण ध्वनियों को उर्दू और अँगरेजी में 'ह' के योग से व्यक्त करते हैं। जबकि देवनागरी में महाप्राण के वर्ण ही अलग हैं। मात्राओं की दृष्टि से भी देवनागरी अपने आप में पूर्ण है। ह्रस्व और दीर्घ में स्पष्ट भेद है। उर्दू की भाँति मन्दिर मन्दर, चन्द्र चन्दर, समुद्र समन्दर नहीं बनते। रोमन लिपि की भाँति इ और ई एक नहीं हो जाते।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। साथ ही एक निश्चित ध्वनि के लिए एक निश्चित वर्णाकृति का प्रयोग होता है। एक वर्णाकृति से कई ध्वनियाँ सम्बद्ध नहीं होतीं और कई वर्णाकृतियाँ एक ही ध्वनि को प्रकट नहीं करतीं। इसी कारण से वर्तनी (स्पेलिंग) सम्बन्धी झंझट उपस्थित ही नहीं होती। इसकी वैज्ञानिकता को निम्नलिखित शीर्षकों में रखकर किया जा सकता है :

४.१. **एक ध्वनि : एक चिह्न**—इस दृष्टि से देवनागरी नितान्त वैज्ञानिक है। उर्दू लिपि भी इस दृष्टि से निर्दोष नहीं है। उसमे स के लिए सीन, स्वाद, से—तीन चिह्न हैं। त के लिए दो चिह्न है—ते, तोइ। चाहे मूलतः इन ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर रहा हो, आज भारतीय उच्चारण में इनका उच्चारण एक ही हो गया है। इसी प्रकार संघर्षी ज के लिए ज़ाल, ज़े, ज्वाद, ज़ोय जैसे चिह्न हैं। अँग्रेजी लिपि भी इस दृष्टि से दोष-पूर्ण हैं। स के लिए C (Rice), ss (Fuss) sc. (Crescent), s (Song) आदि का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'श' के लिए कई चिह्न हैं—s, ss, c, sh, tion आदि। क के लिए इसमें c, k, ck, ch चिह्न प्रयुक्त होते हैं। स्वरों में भी इसी प्रकार की अव्यवस्था पाई जाती है। अक्षर ow तो आधे दर्जन चिह्नों से व्यक्त किया जाता है। देववागरी में इस प्रकार की अवैज्ञानिकता नहीं है।

४.२. **एक चिह्न : एक ध्वनि**—इस सिद्धान्त के अनुसार भी देवनागरी वैज्ञानिक है। उर्दू में स्वरों के लिए अधिक संकेत नहीं हैं। अलिफ से ही अ, आ, इ, ई, ए, ऐ, तथा वाव से उ, ओ, औ को प्रकट किया जाता है। यह पद्धति अवैज्ञानिक ही कही जायगी। इसी प्रकार रोमन में ए (a) अ, आ, ए, ऐ, के लिए प्रयुक्त होता है और ओ (o) उ, ऊ, ओ, ऑ तथा ई (e) इ, ए के लिए प्रयुक्त होते हैं। रोमन को पूर्ण बनाने के लिए डाइक्रिटीकल चिह्नों की शरण ली जाती है।

४.३. **पूर्णता, पर्याप्तता**—वैज्ञानिक दृष्टि से समस्त ध्वनिग्रामों के लिए स्पष्ट और पृथक् चिह्न एक लिपि में होने चाहिए। इस दृष्टि से देवनागरी से उर्दू और रोमन दोनों ही पिछड़ जाती हैं। ध्वनिग्रामों की दृष्टि से देवनागरी के ४८ चिह्न

भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को सरलता से व्यक्त कर सकते हैं। रोमन के २६ तथा उर्दू के ३५ चिह्न देवनागरी लिपि की तुलना में अपूर्ण हैं। दक्षिणी भाषाओं की कुछ ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए देवनागरी में कुछ अतिरिक्त चिह्न अवश्य जोड़ने पड़ेंगे। लघु अ, ए, ओ तथा ऑ (Doctor), तथा तमिल की कुछ ध्वनियों के लिए चिह्नों की आवश्यकता है।

४.४. आशु लेखन : लिखने की गति—वैज्ञानिक दृष्टि से देवनागरी में शीघ्रता की मात्रा कम है। मात्राओं, संयुक्ताक्षरों एवं शिरोरेखा के कारण, इसकी गति में अवरोध आ जाता है। लचकदार होने से, तथा बिना कलम उठाये लिखी जाने वाली रोमन तथा मात्राविहीन वक्र एवं चिन्हों के अपूर्ण लेखन के कारण उर्दू लिपि इस दृष्टि से देवनागरी से अवश्य बढ़ी चढ़ी है। पर लिखने की शीघ्र गति वैज्ञानिकता को रखते हुए ही श्रेयस्कर कही जा सकती है। पिटमैन ने देवनागरी से ही प्रेरणा पाकर आशु लिपि (Short hand) का आविष्कार किया था।

४.५. स्पष्टता—वैज्ञानिक लिपि में वर्णों की आकृति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि अल्प भेद से मूल भेद हो जाय या भ्रम बना रहे। घसीट में लिखी जाने पर रोमन और उर्दू में काफी अस्पष्टता आ जाती है। उर्दू में बिन्दु के स्थान भेद या न लगाने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'नानाजी अजमेर गये' को 'नानाजी आज मर गये' पढ़ा जा सकता है। देवनागरी भी ध, भ जैसी आकृतियाँ हैं। इनमें घुंटी लगाने से अस्पष्टता दूर हो गई है। इससे देवनागरी में स्पष्टता पूर्णरूप से आ गई है। देवनागरी में एक त्रुटि अवश्य है कि इ की मात्रा व्यंजन से पहले लिखी जाती है, पर इसका उच्चारण बाद में होता है।

४.६. वर्णात्मक या आक्षरिक—लिपि के वैज्ञानिक होने के लिये यह आवश्यक है कि यह वर्णात्मक हो। इससे स्वर और व्यंजनों में स्पष्ट पार्थक्य बना रहता है। इससे भाषा के विश्लेषण में आसानी रहती है। कुछ ऐसे भी भाषा-वैज्ञानिक हैं जो आक्षरिक लिपि को वैज्ञानिक मानते हैं। इस दृष्टि से वर्ण में स्वर तथा व्यंजन का एक साथ द्योतन नियमानुकूल है। देवनागरी वर्णात्मक नहीं है। किन्तु भाषा का विश्लेषण रोमन की तरह इसमें भी सम्भव है।

४.७. वर्णों का वर्गीकरण—इसमें दो मत नहीं हो सकता कि देवनागरी वर्णमाला का वर्गीकरण नितान्त वैज्ञानिक है। अनेक भाषाविदों ने ध्वनियों के वर्गीकरण की जो व्यवस्था आज दी है, वह हजारों वर्ष पूर्व यहाँ का भाषा-वैज्ञानिक दे चुका था। यहाँ का वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान, मुखरता, मात्रा, घोषत्व, प्राणत्व आदि सूक्ष्म तत्त्वों पर आधारित है। इस दृष्टि से उर्दू और रोमन तो देवनागरी के सामने ठहर ही नहीं सकतीं।

४.८. आकार-प्रकार या स्वरूप—इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। वास्तव में यह तत्त्व सापेक्षिक मूल्य रखता है। कुछ के अनुसार देवनागरी के स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ-मुख-विवर की आकृति स्वर विशेष के आकार से मिलती जुलती है।

इ से अवृत्ताकार, अ से उदासीनता तथा उ से ओष्ठों की गोलाई का भाव निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो प्रयोग-परीक्षण यूरोपीय विद्वान द्वारा किया गया था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सम्भव है o, u में कुछ स्वाभाविक झलक हो। पर यह तर्क कुछ परीक्षण के बाद ही स्वीकृत किया जा सकता है।

४.९. नामकरण तथा मूल उच्चारण एवं लेखन की एकता—लिपि का यह वैशिष्ट्य प्रत्येक वैज्ञानिक लिपि में मिलना चाहिए। संसार भर में इस दृष्टि से देवनागरी ही वैज्ञानिक है। इसके चिह्नों का नामकरण उस ध्वनि के उच्चारण-मूल्य के रूप में किया गया है। इसमें अ का नामकरण एवं उच्चारण अ ही है। अलिफ या ए जैसी व्यवस्था नहीं। रोमन में व का नामकरण डब्ल्यू तथा र का नामकरण आर है। इसी प्रकार ज्वाद, जोय, तोय, हमजा आदि उर्दू के चिह्नों का नामकरण मिलता है।

५. व्यावहारिक उपयोगिता—

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकता की प्रायः प्रत्येक कसौटी पर देवनागरी खरी उतरती है। उक्त तर्कों के आधार पर उर्दू और रोमन वैज्ञानिकता में इससे बहुत पिछड़ी हुई हैं। उक्त वैज्ञानिक तर्कों के अतिरिक्त देवनागरी की कुछ व्यावहारिक विशेषताएँ भी हैं। इन पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। व्यावहारिक पक्ष में मुद्रण-यंत्र, शिक्षा और सुडौलता के तत्त्व आते हैं।

५.१. मुद्रण-यंत्र—देवनागरी के लिए मोनोटाइप, लाइनोटाइप, टेलीप्रिंटर तथा अनुवाद मशीनों की आवश्यकता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वरूप की दृष्टि से मात्राओं के ऊपर नीचे लगाने तथा संयुक्ताक्षर वर्णों के कारण मुद्रण-यंत्रों में कठिनाइयाँ आती हैं। छोटे आकार के अक्षरो में या तो शिरोरेख टूट जाती हैं अथवा वर्ण की मात्राएँ टूट जाती है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न भी इधर हुए हैं। पर सफलता आंशिक रूप से ही मिली है। देवनागरी की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए अन्य प्रयास भी होने चाहिए। अब छोटे प्रेसों में ७०० चिह्नों की अपेक्षा पाँच-साढ़े पाँच सौ चिह्नों से काम निकाल लिया जाता है। कुछ और परिवर्तन से संख्या और भी घटाई जा सकती है।[१] मुद्रण-यंत्रों में सुधार धीरे-धीरे होता जायगा। रोमन लिपि भी मुद्रण सम्बन्धी असुविधाओं से शून्य नहीं है। इसमें चार प्रकार के वर्ण हैं। लिखने तथा छपने के चिह्नों में अन्तर है। पूर्ण विराम के पश्चात् बड़े (कैपिटल) वर्ण से लिखना असुविधा ही उत्पन्न करता है। रोमन लिपि स्थान भी अधिक घेरती है। उर्दू में तो मुद्रण सम्बन्धी और भी अधिक कठिनाइयाँ हैं। उर्दू-मुद्रण का कार्य आज भी लिथो से होता है।

५.२. देवनागरी में ककहरा सीखने के बाद ही बच्चा उच्च स्तरीय पुस्तकें पढ़ सकता है। किसी ने कहा है कि अंग्रेज बच्चों की प्राथमिक शिक्षा जहाँ दो-ढाई

---

१. इस प्रकार के सुझावों के लिए द्रष्टव्य 'मुद्रण और देवनागरी लिपि सुधार', भाषा, सितम्बर १९६२, पृ० ३२

वर्षों में पूरी होती है, वहाँ उसी स्तर का विद्यार्थी देवनागरी से हिन्दी आदि भाषाएँ ढाई-तीन महीने में लिख पढ़ सकता है। यह भी लिपि की ही एक विशेषता कही जा सकती है।

५.३. सौन्दर्य का तत्त्व वैज्ञानिक नहीं है। यह वस्तुनिष्ठ नहीं व्यक्ति निष्ठ है। सभी लिपियाँ सुन्दर हैं। इस दृष्टि से देवनागरी और उर्दू एवं रोमन लिपियाँ एक ही स्तर पर हैं।

उक्त वैज्ञानिकता के कारण देवनागरी में यह गुण सर्वाधिक है कि जैसा लिखा जाता है। वैसे ही पढ़ा जाता है। इस सम्बन्ध में रोमन अनिश्चित है। साथ ही यह लिपि लिखने और पढ़ने में सरल भी है। वर्तनी की समस्याएँ भी इसमें नहीं है। यह नहीं कि रोमन की भाँति Write शब्द में W का उच्चारण ही नहीं होता।

६. राष्ट्र-लिपि : देवनागरी—

६.१. वर्तमान स्थिति—१२ अगस्त, १९६१ को मुख्य-मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें एक मत से यह स्वीकार किया गया कि देवनागरी लिपि को ही भारत को सर्वमान्य लिपि के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। उत्तर प्रदेश के मुख्य-मंत्री ने कहा कि चौदहों भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि को मान्यता देना राष्ट्रीय एकता में साधक होगा। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा : एक लिपि से सब बाधाएँ दूर करने में सहायता मिलेगी, जो विभिन्न भारतीय भाषाओं को विभाजित करती है। देवनागरी लिपि ही सभी भाषाओं के लिए अपनाई जानी चाहिए। इसमें कठिनाई भी नहीं होगी। एक दो को छोड़कर सभी भाषाओं की वर्णमाला समान है। यद्यपि लिपि अलग है।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अजय घोष ने कहा कि रोमन को सामान्य लिपि के रूप में व्यवहृत किये जाने का सुझाव अग्राह्य है। उनके अनुसार देवनागरी ही सामान्य रूप से व्यवहार में आने के योग्य है। मैसूर राज्य के तत्कालीन मुख्य-मंत्री श्री एस० निर्जलिंगप्पा के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की 'राष्ट्रभाषा' पत्रिका में दिनांक २१ जून, १९४९ में प्रकाशित लेख का एक उद्धरण लीजिए : "हिन्दी प्रकृति से ही और सहज रूप में राष्ट्रभाषा हो सकती है। अँग्रेजी भाषा को और रोमन लिपि को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के नाते इस देश में चलाना लाभदायक नहीं होगा। भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाली भाषा को ही राष्ट्र लिपि का रूप देना अत्यन्त अस्वाभाविक होगा। इसके साथ ही वह बहुत अव्यवहार्य होगा। क्योंकि देश में बहुत कम लोग रोमन लिपि जानते हैं। देवनागरी लिपि को मैं रोमन लिपि की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। इसलिए स्वाभाविक रूप से हमारी राष्ट्रभाषा की लिपि देवनागरी ही होगी।" श्री मो० सत्यनारायण ने भी नागरी को सामान्य लिपि के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में अपना मत दिया है :[१] "कुछ दृष्टियों से हिन्दी भाषा के प्रचार की अपेक्षा नागरी का प्रचार अधिक आवश्यक

१. 'हिन्दी प्रचार समाचार' [मद्रास], अगस्त १९५५

समझा जाना चाहिए। ...स्वरूप में भिन्न होने पर भी भारत की सभी भाषाओं की वर्णमाला तथा ध्वनि-पद्धति एक ही है। अतः देश के पढ़े लिखे लोग नागरी लिपि सीख जाएँ तो भारत में एक सामान्य लिपि होने का रास्ता खुल जायगा।" इस प्रकार के और भी कितने ही मत उद्धृत किए जा सकते हैं, जो देवनागरी को सामान्य लिपि बनाने की आवश्यकता पर बल देते हैं। संविधान ने इन्हीं या इन जैसी लिपि सम्बन्धी भावना को आदर देते हुए, देवनागरी के साथ हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया था।

राधाकृष्णन युनिवर्सिटी कमीशन के अनुबन्ध ५३ और ५४ में देवनागरी लिपि की उपयुक्तता को स्वीकार किया गया। अनुबन्ध क्रमांक ५३ का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है : संघ भाषा को व्यवहृत करने में योग्यता तथा मितव्ययता स्पष्ट रूप में उद्घोषित करती है कि राज्य में अनुशासनात्मक व्यवहार के लिए एक लिपि का रहना उपयुक्त होगा। देवनागरी लिपि का उपयोग भारत के बहुत से लोगों के द्वारा होता रहा है, अतः उसी का चुनाव योग्य माना जायगा। यह माना जाता है कि देवनागरी में मुद्रण, टंकन आदि की अनेक असुविधाएँ हैं। अतः रोमन का पक्ष समर्थन किया जाता है। इसके सम्बन्ध में अनुबन्ध क्रमांक ५४ में कहा गया है : "विश्वमान्य लिपि को अपनाकर उससे मिलने वाले लाभों पर विचार करने पर भी हम इन तर्कों को आसानी से दूर नहीं कर सकते, फिर भी भारत की सम्पूर्ण गतिविधि को तथा देश की समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमारी यह धारणा है कि संघ भाषा नागरी लिपि में लिखी जाये।"

६.२. **राष्ट्रलिपि की उपयुक्तता**—नागरी को अखिल भारतीय लिपि बनाने का प्रथम प्रयत्न शायद बंगाल से आरम्भ हुआ। १९०५ में कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश जस्टिस स्व० शारदाचरण मित्र ने अकाट्य युक्तियों और अपने निष्पक्ष अनुभव से देश के सामने सारे भारत में एक लिपि के व्यवहार, प्रचार का विचार रखा था। उसके लिए अब समय आ गया है। वह अखिल भारतीय लिपि उनकी दृष्टि में देवनागरी ही है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि लंका, ब्रह्मा, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा तक इसका प्रचार किया जाना चाहिए। इस संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्र निकाला था। इसमें भारत की मुख्य-मुख्य भाषाओं के चुने हुए अवतरण रहते थे जो नागरी अक्षरों में छपते थे। इनकी मृत्यु के पश्चात् यह कार्य बहुत आगे नहीं बढ़ाया जा सका और 'देवनागर' बन्द हो गया।

इस प्रयत्न के पश्चात् कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' और बँगला 'प्रवासी' के यशस्वी सम्पादक स्व० बाबू रामानन्द चटर्जी ने एक 'चतुर्भाषी' नाम का एक पत्र निकाला था जिसमें हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला—इन चारों भाषाओं के लेख, देवनागरी में छपते थे। पीछे यह प्रयत्न भी अधिक नहीं चला। इन प्रयत्नों के मूल में देवनागरी के विस्तार का तथ्य समाहित है। कुछ वर्षों पहले खंडवा से प्रकाशित

'हिन्दी स्वराज्य' में नागरी लिपि में अनेक भाषाओं की बातें एवं समाचार प्रकाशित किए जाते थे। इलाहाबाद से प्रकाशित 'भूगोल' में भी यह प्रयत्न किया गया है।

६.३. एक राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता—राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता देश की एकता के लिए ही होती है। प्रादेशिक भाषाओं की लिपि एक होने से मातृ भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का सीखना सरल हो जाता है। नयी लिपि का सीखना नयी भाषाओं को सीखने के मार्ग में बाधा बन जाता है। शब्द साम्य तो संस्कृत के आधार पर काफी कुछ है ही। यदि लिपि साम्य और हो जाय तो प्रादेशिक भाषाएँ न सीखते हुए भी उनको एक सीमा तक समझा जा सकता है। बंगाली, गुजराती, मराठी आदि को धीरे-धीरे बोला जाय और एक लिपि में लिख दिया जाय तो काफी समझी जा सकती हैं। इस प्रकार एक लिपि होने से राष्ट्रीय स्तर पर एकता घनिष्ठ होगी। इसीलिए बड़े-बड़े नेताओं ने एक लिपि या राष्ट्र-लिपि के सिद्धान्त का समर्थन बहुत पहले से किया है।

लोकमान्य तिलक ने कहा था[१] : यह आन्दोलन उत्तर भारत में केवल एक सर्वमान्य लिपि के प्रचार के लिए नहीं है यह तो वृहद् आन्दोलन का एक अंग है, जिसे मैं राट्रीय आन्दोलन कहूँगा। इसका उद्देश्य समस्त भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की स्थापना करना है, क्योंकि सबके लिए समान भाषा राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण अंग है।" भारत अनेक भाषाओं और लिपियों का देश है। अत: राष्ट्र-लिपि का प्रश्न यहाँ जटिल हो गया है। राष्ट्र-लिपि के प्रचार और प्रसार की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी राष्ट्र-भाषा के प्रचार की। अनेक विद्वानों ने एकमत से नागरी लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता स्वीकार की है। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने कहा था : नागरी लिपि सर्व सुलभ होने से उसे अपनाने में सबको सुविधा होगी, और सब भाषायें उसका अवलम्ब ले सकती हैं। तिलक महाराज ने इसकी आवश्यकता इस प्रकार बतलाई थी : 'यूरोप में कई देश और कई भाषाएँ हैं, पर उन सबकी एक मात्र लिपि होने से सारे सुशिक्षित लोगों के विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान तथा विभिन्न भाषाओं का अध्ययन सहज और सुलभ हो सका है। उसी प्रकार यदि भारत में भी सभी आर्य एवम् अनार्य परिवार की भाषाओं के लिए एक ही लिपि हो, तो भारतीय जनता की एकता और ज्ञान का अन्तर्प्रान्तीय आदान-प्रदान सुगम हो जावेगा।" इससे यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य भारतीय लिपियाँ समाप्त ही हो जावेंगी। अन्य लिपियाँ भी इसके साथ चलती रहेंगी। इस सम्बन्ध में श्री गाडगिल ने स्पष्ट लिखा है : "हमारा सुझाव मात्र यह है कि अपनी-अपनी लिपि सहित देवनागरी का भी व्यवहार किया जाए। अगर बंगाली, गुजराती या पंजाबी भाषाओं को देवनागरी लिपि में

१. सन् १९०५ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने एक परिषद् आयोजित किया था। इसका सभापतित्व श्री रमेशचन्द्र दत्त ने किया था। तिलक जी ने इसमें भाषण दिया था। उसका रूपांतर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'राष्ट्र-भाषा' [मई, १९५३] में प्रकाशित किया है। उससे कुछ अंश यहाँ दिया जा रहे हैं।

लिखा जाने लगे, तो मैं अनुभव करता हूँ कि दूसरे राज्यों के लाखों व्यक्ति उस भाषा विशेष से परिचित हो जाएँगे।" एक राष्ट्रलिपि की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। अब प्रश्न ये उठता है कि राष्ट्र-लिपि का स्थान किस को दिया जाये। इस प्रश्न का हल संविधान ने दे दिया है। देवनागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

६.४. देवनागरी ही क्यों ?

देवनागरी की वैज्ञानिकता पर पहले विचार किया जा चुका है। यह लिपि, लिपि-सम्बन्धी सभी दोषों से मुक्त है। अन्य भाषाओं की कुछ विशिष्ट ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए कुछ चिह्न और जोड़ देने पर यह लिपि अपने आप में पूर्ण हो सकती है। इसमें कुछ सुधार और काट-छांट करके इसको मुद्रण-टंकन आदि की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सकता है।

राष्ट्रलिपि होने के लिए वैज्ञानिक होने के साथ-साथ कुछ अन्य बातें भी आवश्यक हैं। इनका गुणों का आधार भावात्मक भी है और बौद्धिक भी। इसकी वैज्ञानिक उपयुक्तता पर पहले विचार किया जा चुका है। अन्य गुण ये होने चाहिए :

(१) लिपि स्वदेशी हो : राष्ट्रीय जीवन में स्वदेशी भावना आवश्यक होती हैं। यह एक मूलभूत एकता उत्पन्न करती है। लिपि ऐसी होनी चाहिए जो भारतीय भाषाओं की परम्परा से सम्बद्ध रही हो। साथ ही यदि स्वदेशी लिपि किसी प्रकार से वैज्ञानिक न हो तो एक बार इस भावात्मक आग्रह पर विचार किया जा सकता है। जब एक स्वदेशी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक हो तो स्वदेशी होने के गुण का तिरस्कार दुराग्रह का ही परिणाम हो सकता है।

(२) उस लिपि का विस्तार अधिक हो : देवनागरी लिपि का व्यवहार-क्षेत्र तो विस्तृत है ही, इसकी समानता अन्य कुछ लिपियों से इतनी अधिक है कि आसानी से उन क्षेत्रों में देवनागरी का व्यवहार हो सकता है। देवनागरी के प्रयोक्ताओं के आँकड़े डा० भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार दिए हैं : "भारत में जितनी भी लिपियाँ प्रचलित हैं, उनमें देवनागरी लिपि को जानने वाले की संख्या सर्वाधिक है। रोमन जानने वाले ५% से लगभग ८% के बीच में हैं। किन्तु देवनागरी जानने वालों की संख्या १५% है। इस आधिक्य के प्रमुख कारण ये हैं : (क) देवनागरी लिपि पूरे हिन्दी प्रदेश में प्रयुक्त होती है और हिन्दी भाषी जनता भारत में हिन्दीतर भाषा-भाषी जनता से अधिक है। (ख) हिन्दी के अतिरिक्त मराठी भाषा की लिपि भी यही है। (ग)......अन्य शिक्षित भारतीयों का भी एक अच्छा प्रतिशत धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य आदि में रुचि रखने के कारण देवनागरी से पूर्णतः अपरिचित नहीं कहा जा सकता है।[१]"

३. राष्ट्र के प्राचीन वैभवशाली साहित्य से इस लिपि का सम्बन्ध हो। इससे आधुनिक प्रसार को परम्परा का बल मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि

---

१. देवनागरी लिपि, स्वरूप, विकास और समस्याएँ, पृ० २२७

संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का प्राचीन साहित्य प्रायः इसी लिपि में उपलब्ध है। इसीलिए भारतीय विद्या के देशी-विदेशी अनुसन्धाता इस लिपि से परिचित हैं। विश्व के प्रायः सभी देशों में इस लिपि के जानने वाले कुछ-न-कुछ मिल जाते हैं।

(४) देश की अन्य लिपियों से साम्य और सम्बन्ध हो : ऐतिहासिक दृष्टि से भारत की सभी लिपियाँ एक ही स्रोत से सम्बद्ध हैं। सभी लिपियों का स्रोत ब्राह्मी है। इसकी दक्षिणी शैली से तमिल, कन्नड, ग्रन्थ, कलिंग, बट्टेलुत्तु आदि का और उत्तरी शैली से गुप्त, कुटिल, प्राचीन देवनागरी, नागरी, शारदा, टाकरी, डोग्री, गुरुमुखी, गुजराती, कैथी, बंगला, मैथिली, तथा उड़िया आदि विकसित हुईं। उत्तर की लिपियों में परस्पर पर्याप्त साम्य है। इसलिए आसानी से देवनागरी को अपनाया जा सकता है। साम्य देवनागरी, गुरुमुखी, बङ्गाली और गुजराती में सबसे अधिक हैं।

४. **सरलता**—यों तो लिपियाँ अपने जानने वालों के लिए सरल होती हैं। पर हिन्दी में उड़िया या दक्षिण भारत की लिपियों के समान जटिलता नहीं है। इसे सीखने में प्रायः कम समय लगता है।

इस प्रकार देवनागरी लिपि राष्ट्र लिपि होने के उपयुक्त है।

६.५. देवनागरी बनाम रोमन—

डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे कुछ भाषा-विज्ञानी तथा अँग्रेजी प्रेमी रोमन को राष्ट्रलिपि बनाने के पक्ष में हैं। पर अनेक कारणों से इसको राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन कारणों को यों गिनाया जा सकता है :

(१) यह एक विदेशी लिपि है। इसके साथ विदेशी भावनाओं का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में टर्की का उदाहरण दिया जाता है : इस देश ने अरबी लिपि छोड़कर रोमन लिपि स्वीकार करली है। पर हमारी समस्या टर्की से भिन्न है। टर्की की कोई अपनी लिपि नहीं थी। अरबी लिपि अपूर्ण है।

(२) रोमन लिपि जानने वालों की संख्या देवनागरी आदि भारतीय लिपियों की तुलना में बहुत कम है। जिस लिपि के जानने वाले अत्यल्प ही नहीं, सर्वाल्प हों, उसको राष्ट्रलिपि के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है।

(३) इसमें सन्देह नहीं कि रोमन लिपि विकसित और वर्णात्मक (alphabetic) है। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं के लिए इसका प्रयोग हुआ है और हो रहा है। पर इनमें इसका वैज्ञानिक रूप सामने नहीं आया। इन भाषाओं में उच्चारण और वर्तनी के बीच एक खाई बनी हुई है। इसमें अनिश्चित और अस्पष्ट मूल्य वाली अक्षराकृतियाँ हैं जैसे (c)। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में रोमन लिपि की वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं हुई है।

कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि भारतीय भाषाओं के लिए रोमन अक्षरों के अंग्रेजी तरीके से अलग ध्वन्यात्मक मूल्य निर्धारित किए जा सकते हैं। अँग्रेजी तो हमारे देश में किसी-न-किसी रूप में रहेगी ही। अतः दो ध्वन्यात्मक मूल्य रखने पड़ेंगे। यह असुविधा को ही जन्म देगा।

(४) भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के लिए रोमन में अलग चिह्न नहीं हैं। भारतीय भाषाओं में ५० से ऊपर ध्वनियाँ हैं, जबकि रोमन में केवल २६ अक्षर हैं। इनमें भी [X] जैसे कुछ अक्षर हैं, जो हमारे लिए अनावश्यक भी हैं। अतः अपनी भाषाओं को रोमन में लिखने पर अनेक कठिनाइयाँ और असुविधाएँ होंगी।

(५) रोमन में कुल पाँच स्वर हैं : a, e, i, o, u। हमारी भाषाओं में मोटे रूप से ११ स्वर हैं। जैसे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ। दक्षिण भारत में प्रचलित ह्रस्व ओ, ह्रस्व ए को जोड़ने पर संख्या और भी बढ़ जाती है। इस स्वर-विधान को रोमन के अनुसार व्यक्त करना कठिन होगा। डाइक्रिटिक चिह्नों की बैसाखियों से रोमन के स्वरों को खड़ा करना होगा। इनके प्रयोग से लिपि जटिल हो जाती है। संयुक्त स्वरों को लिखने में भी कठिनाई होगी। हिन्दी में अउ। अइ के साथ-साथ औ ऐ भी हैं। पर रोमन में दोनों को एक ही प्रकार से लिखा जायगा : au, ai। इससे भ्रम उत्पन्न होगा। कोई भी भारतीय भाषा स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ रूपों की उपेक्षा नहीं कर सकती।

(६) व्यंजनों की संख्या भी भारतीय भाषाओं की आवश्यकता की दृष्टि से अपर्याप्त है। रोमन लिपि में महाप्राण ध्वनियों के लिए स्वतन्त्र चिन्ह नही है। एच (h) की सहायता से इन ध्वनियों को लिखा जाता है। मिलाकर लिखने की पद्धति वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती है। छ (chh) के लिखने के लिए दो बार एच का प्रयोग किया जाता है। साथ ही क्ह/ख, प्ह/फ वैज्ञानिक दृष्टि से समान भी नहीं हैं।

(७) अनुनासिक व्यंजनों की आवश्यकता की पूर्ति भी रोमन पद्धति से नहीं होती। ङ, ञ, ण, को विशिष्ट चिन्हों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। श और ष के लिए भी रोमन में स्वतन्त्र चिन्ह नहीं हैं। इसी प्रकार ड़ और ढ़ के लिए भी रोमन में चिन्ह नहीं मिलते। दंत्य और मूर्धन्य ध्वनियों को भी विशिष्ट चिन्हों के द्वारा अलग किया जाता है।

(८) रोमन में कई प्रकार की अक्षराकृतियाँ हैं। इसकी रोमन और इटेलियन दोनों भिन्न लिपियाँ मिलती हैं। इसी प्रकार घुमावदार तथा अधिक सावधानी से लिखे जाने के कारण रोमन के छोटे और बड़े अक्षरों की दो स्वतन्त्र लिपि-पद्धतियाँ हैं। लेखन और मुद्रण के बीच एक खाई अवैज्ञानिक है। सामान्य लिपि के रूप में इसको ग्रहण नहीं किया जा सकता।

डा० घाटगे ने स्पष्ट कहा है : "इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भारत की अधिकांश प्रमुख भाषाओं के लिए सामान्य लिपि के रूप में रोमन लिपि का प्रयोग सुझाव देने योग्य नहीं है। यह एक बिल्कुल अलग बात है कि यांत्रिक सुविधाओं की दृष्टि से देवनागरी लिपि में सुधार किये जायँ या उसे सरल किया जाय।"[१] रोमन के प्रयोग से अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। जब आरम्भ में बच्चा

---

१. देवनागरी लिपि; स्वरूप, विकास और समस्याएँ, पृष्ठ ४७१

रोमन लिपि को अपनी मातृभाषा के सन्दर्भ में विशिष्ट ध्वनि-चिन्हों और उनसे सम्बद्ध ध्वनियों के अनुरूप पढ़ेगा तब उसके ध्वनि संकेतों के सम्बन्धित उच्चारण पाश्चात्य देशों में प्रचलित ध्वनि-चिन्हों से सर्वथा भिन्न होंगे। और इससे आगे चलकर अँग्रेजी सीखने में वास्तविक कठिनाई होगी। साथ ही हमें रोमन लिपि में भारतीय भाषाओं के शब्दों के लिए हिज्जे करने की आदत डालनी पड़ेगी। डा० भोलानाथ तिवारी ने इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार दिया है: "...रोमन लिपि विदेशी, कई दृष्टियों से भ्रामक एवं अवैज्ञानिक, हमारी ध्वनीय आवश्यकताओं की दृष्टि से अपर्याप्त, एवं देवनागरी आदि भारतीय लिपियों की तुलना में भारत में अल्प प्रचलित होने के कारण राष्ट्र-लिपि के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकती।[1] अँग्रेजी के लिए इस लिपि का प्रयोग बहुत दिनों से हो रहा है। पर अँग्रेज लोग भी इस लिपि से सन्तुष्ट नहीं हैं। बर्नार्ड शॉ ने इसकी अवैज्ञानिकता के प्रति अपनी खीझ अनेक बार व्यक्त की थी। मरते समय भी अपनी सम्पत्ति का भाग वे इसके लिए दे गये थे। अभी हाल में इस लिपि की कमियों से ऊब कर इङ्गलैड में एक समिति ने इसमें अनेक सुधारों का सुझाव दिया है। इन सुझावों के अनुसार रोमन में से x तथा q को निकाल दिया गया है और १९ नये अक्षर जोड़े गये हैं। हैरो के प्रायमरी स्कूल में इसकी शिक्षा भी आरम्भ कर दी गई है। इस लिपि को भारत पर लादने का प्रयत्न किया जा रहा है। अमेरिका के लोगों ने अपने लेखन की सुविधा के लिए वर्तनी में अनेक परिवर्तन किये हैं। फिर भी सारी असुविधाएँ दूर नहीं हो पाई हैं।

७. प्रस्तावित सुधार-संशोधन—

७.१. उच्चारण और हिन्दी वर्तनी[2]—उच्चारण परिवर्तनशील है। इसके स्थिरीकरण के भी प्रयत्न होते हैं। भाषा का मूल उच्चारण है, लिपि नहीं है। उच्चारण को व्यक्त करने के लिए लिपि का प्रयोग होता है। यदि लिपि और वर्तनी उच्चारण के अनुकूल हो तो कठिनाई नहीं होती। व्यवधान आने पर अनेक असुविधाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः लिपि और वर्तनी का विधान उच्चारण के अधिक से अधिक पास होना चाहिये। उच्चारण कालान्तर में बदल जाता है। तब लिपि को भी बदलना चाहिये। पर लिपि को बदलने में हिचकिचाहट होती है। उच्चारण की भाँति वर्तनी में भी स्वयंमेव कुछ परिवर्तन होता जाता है। पर यह स्वतः परिवर्तन धीमी गति से होता है। इसमें वह गति नहीं आ पाती जो उच्चारण के परिवर्तन की होती है।

हिन्दी वर्तनी में भी यह परिवर्तन हुआ है। ञ समाप्त हो गया। 'लाया' में 'य' है। अतः वर्तनी में कुछ दिनों लायी, लाये रूप चले। पर धीरे-धीरे लाई, लाए रूप विकसित हो ही गये। लायेगा के स्थान पर लाएगा लिखा जाने लगा। तैल के

१. देवनागरी लिपि; स्वरूप, विकास और समस्याएँ पृष्ठ २३६

२. विशेष रूप से देखिए, श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा का "उच्चारण और वर्तनी का सम्बन्ध : रचनात्मक संकेत" भाषा; सितम्बर १९६३, पृष्ठ ७१ और 'हिन्दी स्पेलिंग', सरिता, दिसम्बर, १९५७।

स्थान पर तेल, भैया के स्थान पर भइया लिखा जाना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। पर उच्चारण और वर्तनी की एक रूपता को और भी बढ़ाना है। शब्दान्त 'अ' हम वर्तनी में व्यक्त करते हैं, जबकि उच्चारण से वह प्रायः साफ हो गया है। केवल 'न', 'व' के साथ ही वह उच्चरित होता है। 'स्थूल' जैसे शब्दों में उच्चारण आदि स्वरागम के स्थान होता है। पर यहाँ वर्तनी में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहाँ किसी अस्पष्टता के लिए अवकाश नहीं है। उच्चारण के अनुसार लिखने पर चिह्न को चिन्ह, ब्राह्मण को ब्राम्हण लिखना पड़ेगा। 'ष' का उच्चारण हिन्दी में 'श' हो गया है—केवल संयुक्त रूप में ख ग से पूर्व इसका उच्चारण सुनाई पड़ता है। पर अभी 'ष' के स्थान पर 'श' लिखने में आगा-पीछा सोचा जा रहा है। हममें साहस होना चाहिये कि परिवर्तन को स्वीकार करें। 'ऋ' को 'रि' रूप में बोला जाता है, तो क्यों नहीं इसी प्रकार लिखा भी जाए।[1] पर यह परिवर्तन कुछ को क्रान्तिकारी लगता है। यदि उच्चारण और वर्तनी में बहुत भेद हो जाता है, तो वर्तनी को रटने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है।

इसी प्रकार हिन्दी के उच्चारण में कुछ शब्दों में मध्यवर्ती –अ– नहीं बोला जाता और उसके हटने से संयुक्त व्यंजन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। पर वर्तनी में वह –अ– चल रहा है। उच्चारण के अनुसार वहाँ संयुक्त व्यंजन ही लिखा जाना चाहिये। जैसे चलता >चल्ता, भरता >भर्ता, किसका >किस्का। ज्ञ का उच्चारण ग्य हो गया है। क्यों न वर्तनी में ग्य लिखें। दुःख का उच्चारण दुक्ख हो गया है। अतः विसर्ग के मृत उच्चारण को वर्तनी क्यों ढोये। वैज्ञानिकता की माँग है कि वर्तनी को ध्वन्यनुकूल बना दिया जाये। संघर्ष, विज्ञान और परम्परा के बीच चलता है। जब उच्चारण में परिवर्तन हो गया तो वर्तनी को डेढ़-दो हजार वर्ष पुराने रूप में चलाना युक्ति संगत नहीं है। परम्परा से चले आने वाले 'त्र' चिह्न की अब कोई आवश्यकता नहीं : त्र चलना चाहिये। ष, क्ष, त्र और ज्ञ तथा इनके आधे व्यंजन-रूपों को मिलाकर दस टाइपों की बचत कर सकते हैं। ङ और ञ का उपयोग नहीं रह गया। फिर भी ध्वन्यनुकूल लिखने पर सींग लिये सीङ्, और भाँग के लिये भाँङ् लिखने में ङ का उपयोग अवश्य है। विसर्ग का भी हिन्दी वर्तनी में कोई प्रयोजन नहीं है।

स्वर-लोप के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। मध्यस्वर लोप और मध्य-स्वर लोप कौ वर्तनी में प्रकट नहीं किया जाता। पर वर्तनी में वे स्वर चल रहे हैं। व्यंजन विपर्यय (ब्रह्मा/ब्रम्हा) को भी वर्तनी में स्थान देना चाहिये। व्यंजन का रूप भी उच्चारण में कहीं कहीं बदल गया है : महाप्राण >अल्पप्राण जैसे भूख >भूक, झूठ >झूट आदि। परवर्तनी में महाप्राण व्यंजन ही लिखे जाते हैं। कुछ शब्दों में व्यंजन समाप्त भी हो गया है : कर्त्ता >कर्ता; अर्द्ध >अर्ध, उज्ज्वल >उज्वल आदि। इस प्रकार के शब्दों को भाषा वैज्ञानिक रूप से देख कर वर्तनी को निश्चित करना

---

१. 'ऋ' और 'रि', बच्चूलाल अवस्थी, भाषा, जून १९६२।

चाहिये। इसके लिए कुछ रचनात्मक सुझाव भी दिए जा सकते हैं। एक बार रामानन्द चटर्जी ने एक सुझाव दिया था कि व्यंजनों का वर्तमान रूप हलन्त है, अकारान्त नहीं और मात्राएँ उसके आगे अलग से पूरे स्वर के रूप में लगाई जायँ : कमल = क् अ म् अ ल ; सम्भावना = 'स अ म् भ आ व अ न आ।' यह सुझाव विचित्र तो लगता है, पर विचारणीय है। भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण में इस पद्धति का बड़ा उपयोग है। आज सरकारी स्तर पर जो शब्दकोश बन रहे हैं, उनमें इस सम्बन्ध में कुछ किया जाना चाहिये।

बहुरूपता मिलने पर सर्वाधिक हिन्दी भाषियों के उच्चारण को वर्तनी में ढालना चाहिये। अहिन्दी क्षेत्रों में सभी जगह हिन्दी मातृभाषा वाले अध्यापक नहीं हैं। वहाँ के हिन्दी विद्यार्थी वर्तनी के अनुसार ही हिन्दी का उच्चारण करते हैं। वर्तनी यदि दोषपूर्ण है, तो वहाँ के हिन्दी-विद्यार्थियों का उच्चारण भी शुद्ध नहीं हो सकता। उनकी हिन्दी सदैव दूसरी ही रहेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार एक सर्वाधिक प्रामाणिक शब्दकोश तैयार कराये। उस कोश में प्रत्येक शब्द के साथ उसका बहुमान्य उच्चारण भी लिखा हुआ हो। इससे यह लाभ होगा कि कहीं-कहीं यदि उच्चारण और वर्तनी एक-दूसरे से मेल नहीं खाते, तो भी उस विशिष्ट उच्चारण को सीखने वाले के लिए उसके सामने एक निश्चित उच्चारण होगा। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कहा : "अभी चालू शब्दों के सम्बन्ध में जो मतैक्य नहीं है, वह भाषा के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता।" डा० चटर्जी का मत है : "यह सर्वथा वांछनीय है कि भाषा के शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में विभ्रान्ति न फैले।"

हिन्दी के अनुनासिक वर्णों की वर्तनी के सम्बन्ध में भी एक समस्या है। हिन्दी में अनुनासिक वर्णों का विभाजन तीन वर्गों में किया जाता है : अनुनासिक स्वर (कँवल, आँख, सिंगार, ईंधन, पुँछना, पूँछ, रेंगना) इसको अर्द्धचन्द्र और कुछ शब्दों में केवल बिन्दु का प्रयोग होता है; स्पर्श वर्ण—ङ, ञ, ण्, न्, म्, । इनमें से अन्तिम तीन का सस्वर प्रयोग भी होता है। प्रथम दो केवल संयुक्ताक्षरों में आते हैं—अङ्ग, चञ्चल आदि। तीसरे वर्ग में अनुस्वार आता है। अनुनासिक स्वर यदि व्यंजन पर खड़ी पाई के रूप में व्यक्त हों तो, अनुस्वार-बिन्दु का प्रयोग होता है : मैं, हों आदि। शेष रूप में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता है। अनुनासिक स्पर्श वर्णों की संख्या पाँच है, पर न, म ही मूल ठहरते हैं। शेष तीन इन्हीं के स्थान पर अनुस्वार के माध्यम से आते हैं। 'न', 'म' जब व्यंजन पूर्व आता है तो अनुस्वार बन जाता है।[1] और अनुस्वार ही क-वर्ग पूर्व ङ, च-वर्ग पूर्व ञ, ट-वर्ग पर्व ण त-वर्ग पूर्व न और प-वग पूर्व म हो जाता है।[2] हिन्दी में सुविधा की दृष्टि से अनुस्वार लिपि का ही प्रयोग किया जाता है। इस सुधार का सम्बन्ध चाहे उच्चारण से न हो, पर सुविधा इसमें अवश्य है।

---

१. पाणिनि, ८।३।२४

२. पाणिनि, ८।४।५८

७.२. राष्ट्र-लिपि की दृष्टि से देवनागरी में परिवर्द्धन की आवश्यकता—कुछ भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जो देवनागरी के वर्तमान ध्वनि-चिह्नों के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती हैं। राष्ट्र-लिपि की पूर्णता की दृष्टि से उन ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए चिह्नों में कुछ वृद्धि करनी पड़ेगी। सिद्धान्ततः राष्ट्र-लिपि में सभी भारतीय भाषाओं की ध्वनियों के अङ्कन की शक्ति होनी चाहिए। यह राष्ट्र-लिपि की व्यावहारिक आवश्यकता है। अलग अलग भाषाओं को लेकर इस आवश्यकता पर यहाँ विचार किया गया है।[1]

मलयालम—

मलयालम में विशिष्ट ध्वनियाँ ये हैं : ह्रस्व 'ए', ह्रस्व 'ओ', एक विशेष प्रकार का तेज 'र', प्रतिवेष्ठित मूर्द्धन्य र तथा इस 'र' के द्विज उच्चारण की दंतमूलीय 'ट' जैसी ध्वनि। इन पाँच ध्वनियों के लिए देवनागरी में चिह्न नहीं है। इनके लिए यदि देवनागरी में व्यवस्था हो जाय तो उसे देवनागरी लिपि में लिखा जा सकता है। ल की ध्वनि के लिए तो नव स्वीकृत देवनागरी में व्यवस्था हो ही गई है : ह्रस्व ए/ओ के लिए कुछ विशिष्ट चिह्न सुझाए गए हैं। अन्य विशिष्ट अक्षर मलयालम में भी सामान्य रूप से प्रयुक्त नहीं होते। वैसे वे अक्षर वर्णमाला में चल रहे हैं। र को द्वित्व करके (र्र) 'र' की विशिष्ट ध्वनि का अङ्कन किया जा सकता है। सम्भवतः य 'र्र' मलयालम में भी ध्वनिग्रामीय स्थिति में नहीं है।

तमिल—

तमिल में भी कुछ ध्वनियाँ ऐसी है, जिनके लिए वर्तमान देवनागरी में चिह्न नहीं है। एक तो 'न' के लिए तमिल में दो चिह्न मिलते है। व्यावहारिक दृष्टि से इन दोनों के उच्चारण में शायद ही कोई अन्तर रह गया है। प्राचीन काल में भेद अवश्य रहा होगा। इन दोनों की स्वतत्र ध्वनिग्रामीय स्थिति भी सदेहास्पद है। इस प्रकार अल्पप्रचलित 'न' के लिए किसी विशेष चिह्न की आवश्यकता नहीं रही। तीन ध्वनियाँ ह्रस्व 'ए', ह्रस्व 'ओ' तथा ळ हैं। इनकी आवश्यकता तो दक्षिण की प्रायः सभी भाषाओं की दृष्टि से है। कुछ 'ल' के रूप इसमें विशिष्ट हैं। अकेला ळ चिह्न इनकी पूर्ति नहीं कर सकता। इनकी व्यवस्था तमिल की दृष्टि से देवनागरी में आवश्यक है।

तेलुगु[2]—

तेलुगु में भी ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' का प्रयोग मिलता है। इनकी स्थिति इस भाषा में भी ध्वनिग्रामीय हैं। एक विशेष प्रकार का 'र' भी तेलुगु में है, जिसका प्रयोग गुर्रम (घोड़ा) जैसे शब्दों में होता है। पर इसकी स्थिति ध्वनिग्रामीय नहीं है। आज की पत्र-पत्रिकाओं की लिपि से इसका प्रयोग उठता जा रहा है। च और

---

१. इस सूची को प्रस्तुत करने में डा० भोलानाथ तिवारी के लेख, 'राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी' से सहायता ली गई है।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये मेरा लेख 'देवनागरी लिपि में तेलुगु' — देवनागरी लिपि : स्वरूप, विकास और समस्याएँ, पृ०

ज के मृदु रूप मिलते हैं उनको (t_z) तथा (d_z) के रूपों में लिखा जा सकता है। इन दोनों विशिष्ट ध्वनियों को दंतमूलीय कहा जा सकता है जो तालव्य के रूप में उच्चरित च/ज से भिन्न हैं। पर ये दोनों भी ध्वनिग्रामीय स्थिति नहीं रखते। तेलुगु में भी इन दो विशिष्ट ध्वनियों के लिए पृथक् चिह्न नहीं हैं। तालव्य च/ज को व्यक्त करने वाले चिह्नों पर विशिष्ट चिह्नों के लगाने से इनका उच्चारण प्रकट किया जाता है। इनको इसी पद्धति से देवनागरी में व्यक्त किया जा सकता है। ळ को तो नवीन स्वीकृत लिपि में स्थान मिला ही है।

कन्नड़ —

ह्रस्व 'ए', ह्रस्व 'ओ' को सम्मिलित करने से कन्नड़ का काम चल सकता है। प्राचीन कन्नड़-लिपि में तीन अन्य अक्षर भी थे जो 'र' तथा 'ल' के उच्चारण से मिलते-जुलते थे। अब उनका प्रयोग प्राय: समाप्त हो गया है। इनके लिए देवनागरी में कोई चिह्न बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। कन्नड़ की लिपि तेलुगु से अधिक भिन्न नहीं है।

मराठी—

मराठी तो देवनागरी में लिखी ही जाती है। इसमें ळ अक्षर अलग है। तेलुगु की भाँति च/ज दो-दो प्रकार की ध्वनियाँ हैं; छ/झ भी दो भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चरित होती हैं। पर इन सभी के लिए मराठी भिन्न अक्षराकृतियों का प्रयोग नहीं करती। इनके लिए देवनागरी में अलग व्यवस्था होनी चाहिए। प्रचलित ध्वनि-चिह्नों को विशेष रूप से चिह्नाङ्कित करके लिपि को मराठी के उच्चारण के अनुकूल बनाया जा सकता है।

गुजराती—

गुजराती लिपि देवनागरी से बहुत मिलती जुलती है। केवल शिरोरेख का प्रयोग उसमें नहीं होता। गुजराती लिखने के लिए इनमें किसी प्रकार की रद्दोबदल की आवश्यकता नहीं है।

पंजाबी—

गुरुमुखी में देवनागरी से अलग या अतिरिक्त चिह्न नहीं हैं। पंजाबी को तो देवनागरी में सरलता से लिखा जा सकता है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से शब्दारम्भ में पंजाबी के महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ कुछ भिन्न प्रकार से उच्चरित होते हैं। पर यह अन्तर संस्वनात्मक नहीं, ध्वनिग्रामीय नहीं। लिखने में इनके लिए अलग चिह्नों की आवश्यकता नहीं है।

बँगला—

बंगाली में देवनागरी से अलग अक्षर नहीं हैं। बंगाली में कोई विशिष्ट ध्वनि नहीं है, जिसके लिए किसी अलग ध्वनि की आवश्यकता हो।

उड़िया—

उड़िया भी देवनागरी में बिना किसी कठिनाई के लिखी जा सकती है। इसमें 'जं' का उच्चारण पहले 'य' जैसा होता था। इसके लिए अलग अक्षर चिह्न

पहले प्रयुक्त होता था, पर अब उसका प्रयोग नहीं होता। अतः अलग चिह्न की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

असमिया—

असमिया की लिपि बंगाली ही है। इसमें उच्चारण की कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं। यहाँ 'ह' का एक विशेष प्रकार का उच्चारण है जो ख (x) जैसा सुनाई पड़ता है। च और छ का उच्चारण कहीं-कहीं 'स' जैसा होता है। पर लिखने में उसके लिए अलग चिह्न की आवश्यकता नहीं है।

उर्दू—

उर्दू-लिपि का मूलाधार अरबी-फ़ारसी लिपि ही है। भारतीय ध्वनियों की आवश्यकता के अनुसार टे, डाल तथा ड़े आदि को जोड़ कर उसको विकसित किया गया है। प्राचीन नागरी की तुलना में इसमे—से, हे, ख़े, ज़ाल, ज़े झे, स्वाद, ज़्वाद, तोय, ज़ोय, ऐन, ग़ैन, फ़े, क़ाफ, ध्वनियाँ विशिष्ट थीं। अब की देवनागरी में इन ध्वनियों की व्यवस्था कर दी गई है : क़, ख़, ग़, फ़ आदि। सीन का उच्चारण अब हिन्दी स से और शीन का उच्चारण हिन्दी श से अब भिन्न नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार में ज़ाल, ज़े, झे ज़्वाद, ज़ोय, का उच्चारण प्रायः ज के समान ही होता है। इसी प्रकार ते और तोय हिन्दी 'त' से भिन्न नहीं रहे। ऐन का उच्चारण भी अब 'अ' से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से प्रयुक्त देवनागरी में उर्दू की आवश्यकता के अनुसार किसी भी परिवर्द्धन की आवश्यकता नही है। यदि अरबी के उच्चारण की लिपिगत सुरक्षा उर्दू वाले चाहते हैं तो उनके लिए अलग चिह्नों की व्यवस्था देवनागरी में की जा सकती है।

कश्मीरी—आफ़िशियल लैंग्वेज कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार कश्मीरी की लिपि शारदा है। पर अब उर्दू लिपि का ही प्रयोग होता है। कश्मीरी उच्चारण की दृष्टि से अ, आ, उ, ऊ आदि स्वरों के एक से अधिक उच्चरित रूप मिलते हैं। पर लिखने में इन अन्तरों को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं है। यह अन्तर ध्वनिग्रामीय नहीं है। व्यंजनों में भी मराठी की तरह इसमें दन्तमूलीय च, थ, ज आदि हैं। किन्तु उन्हें भी स्वतन्त्र अक्षरों द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है। उच्चारणगत इनका भेद भी ध्वनिग्रामीय नहीं है। इसके लिए देवनागरी उपयुक्त है।

सिंधी—सिंधी लिपि भी अरबी फ़ारसी लिपि पर आधारित है। इसमें अन्तर्मुख (Implosive) ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण के समय स्वर-यंत्र को नीचे कर देने के कारण भीतर जाकर बाहर आती हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है। सिंधी में ग, ज, ड, द, ब अन्तर्मुख व्यंजन हैं। भाषा-शास्त्र में इनको व्यक्त करने के लिए उलटे कॉमे का प्रयोग किया जाता है। अरबी-फ़ारसी लिपि में भी इन सभी विशिष्ट ध्वनियों के लिए अलग चिह्न नहीं थे। यदि हिन्दी में इनके अलग लेखन की आवश्यकता हो तो रोमन की भाँति उल्टे कॉमे का प्रयोग करके इनको व्यक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार देवनागरी को सभी भाषाओं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसको राष्ट्रलिपि के रूप में पूर्ण बनाना है, तो यह कहा जा सकता है कि अधिकांश ध्वनि-चिह्न तो स्वीकार कर ही लिए गए हैं जैसे उर्दू की विशिष्ट ध्वनियों के चिह्न। कुछ विशिष्ट ध्वनियाँ उच्चारणगत संरचनात्मक भेद रखती हैं, ध्वनिग्रामीय नहीं। उनके लिए अलग चिह्नों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उसमें केवल पाँच नए अक्षरों की आवश्यकता है।—ऍ ऑ, ळ, ऱ, ट़। इनको जोड़ने से सभी भाषाओं का का लेखन देवनागरी में सम्भव है। इस प्रकार राष्ट्र-लिपि देवनागरी की वर्णमाला इस प्रकार होगी—

स्वर—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, एॅ, ए, ऐ, ऑ, ओ, औ।

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, ळ, व, श, ष, स, ह, क़, ख़ ग़, ज़, ट़, ड़, ढ़, फ़, ऱ, ल, ँ, :।.

२.३. **सुधार की आवश्यकता**—विश्व की प्राय: सभी लिपियों में कुछ-न-कुछ अवैज्ञानिकता मिलती है। देवनागरी भी इसका अपवाद नहीं है। पर जहाँ तक हो सके इसकी अवैज्ञानिकता को दूर करना चाहिए। साथ ही मुद्रण और टंकन को सुविधा के अनुसार भी कुछ आवश्यक है।

संयुक्ताक्षर—सबसे पहली आवश्यकता संयुक्त अक्षरों को कम करने की है। इसके लिए पूर्ण अक्षर लिखकर उसे हलंत करने का सुझाव दिया गया है। यह सुधार हो भी काफी सीमा तक गया है। साथ ही अक्षर संयुक्त करने की एक ही पद्धति नहीं है। ट्ठ में नीचे अक्षर जुड़ा हुआ है। र्म में ऊपर की ओर अक्षर जुड़ा है। यह कठिनाई बहुत कुछ हलंत लगाने की पद्धति से हो जायगी। जहाँ कठिनाई नहीं हो, वहाँ सामान्य रूप से संयुक्ताक्षर लिखे जा सकते हैं। जैसे मुक्त, रिक्त, मग्न, विघ्न आदि। र के संयोग की तीन पद्धतियाँ हैं। ये सर्व, राष्ट्र, और प्रभाव में स्पष्ट हैं। ऐसी स्थिति में हलंत लगाकर ही एकरूपता लाई जा सकती है।

कुछ स्वर अक्षर कम हो सकते हैं—स्वराखड़ी में इ, ई, उ, ऊ की मात्राओं को जैसे व्यंजन में जोड़ते हैं, वैसे ही अ साथ जोड़ सकते हैं। गुजराती में 'अ' पर तथा ॅ मात्राएँ लगाने का क्रम है। हिन्दी में ओ, औ लिखे ही जाते हैं। अन्य स्वरों के लिए भी यह क्रम चालू किया जा सकता है। यह प्रवृत्ति गुजरात और महाराष्ट्र के क्षेत्र में चल भी रही है। गाँधी जी के पत्रों में इसी प्रकार के स्वर-चिह्न प्रयुक्त होते थे। विनोबा जी भी इसके पक्ष में हैं। इस पद्धति के लिखने पर कुछ अक्षर भी घट जायँगे। फिर भी राष्ट्रीय स्तर पर यह सुझाव सम्भवत: स्वीकृत नहीं हुआ है। पर इससे परम्परा कुछ विक्षुब्ध होगी और अलग आकृतियों का सौष्ठव समाप्त हो जायगा।

यांत्रिक सुविधा—कम्पोजिंग, टाइपिंग, टेलीग्राफिक कोड और टेलीप्रिंटर की सुविधाओं की चर्चा की जाती है। दो-चार अक्षरों के बदलने या कम करने से यंत्र की

सुविधा बढ़ने-घटने का सवाल नहीं है। एक सिद्धान्त यह भी है कि अक्षरों के अनुसार यंत्र बनाए जायँ। फिर भी यंत्र की सुविधा की उपेक्षा नही की जा सकती। पर इस सुविधा के लिए लिपि की वैज्ञानिकता और स्पष्टता को नहीं बिगाड़ा जा सकता। रोमन लिपि की मुद्रण सुकरता का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। ऊपर सुझाए हुए सुधार मुद्रण की सुविधा को ध्यान में रखकर ही दिए गए हैं।

शिरोरेखा—शिरोरेखा के विषय में भी मत-वैभिन्य मिलता है। कुछ लोग लिखने में शिरोरेखा को छोड़ भी रहे है। इससे मुद्रण की सुकरता तो अवश्य होगी, पर सौन्दर्य अवश्य कुछ कम हो जाता है। गुजराती में इसका प्रयोग नहीं होता। गुजरात में भी पहले शिरोरेखा देने का प्रचलन था। शिरोरेख हटाने से एक और लाभ है—त्वरा लेखन। कुछ विद्वान, शिरोरेख देने के पक्ष में हैं। अभी तो इसको स्वीकृत किया गया है। हो सकता है व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से कालान्तर में में यह समाप्त हो जाये।

'ख' पर विचार—देवनागरी लिपि में एक उच्चारण के लिए एक ध्वनिमात्र या चिह्न की योजना है। हमें देवनागरी की इस वैज्ञानिकता पर गर्व भी है। 'ख' में दो वर्णों का योग मिलता है। अतः इसके पढ़ने में 'र' और 'व' के उच्चारण का भ्रम हो सकता है। इन दोनों ध्वनियों का अलग-अलग उच्चारण देवनागरी में मिलता है। ख अक्षर की गड़बड़ी हिन्दी और मराठी दोनों में उत्पन्न होती है। कुछ लोगों ने 'क्ह' रूप सुझाया था। पर सुझाव बड़ा अटपटा था। 'ख' के लिए दोनों को नीचे मिला देना चाहिए : ख यह सुधार संतोषजनक है।

'इ' की मात्रा—इ की मात्रा (ि) बहुत अवैज्ञानिक है। यह उस स्थान पर नहीं लगाई जाती है, जहाँ उच्चरित होती है। 'चन्द्रिका' में ि का उच्चारण 'क' के पूर्व होता है। पर यह च के पूर्व अंकित की जाती है। अर्थात् उच्चारण-स्थान से तीन ध्वनियाँ पूर्व यह अंकित होती है। पहले यह सुझाव दिया गया था कि यह मात्रा अक्षर के बाईं ओर न लिखकर दाहिनी ओर लिखी जानी चाहिए। ी और ि के भेद को रखने के लिए यह कहा गया कि ह्रस्व इ की मात्रा ऊपर से नीचे आती हुई शिरोरेखा पार करते ही समाप्त हो जायेगी जैसे ी। पर इस सुझाव में अनिश्चितता रही। धारावाहिक लेखन में इस अन्तर को रखना कठिन है। साथ ही यह भी निश्चित नहीं है कि शिरोरेख पार करने पर यह कहाँ समाप्त होगी। इसलिए एक सुझाव और आया। यह मात्रा ्ी के रूप में रहनी चाहिए जैसे क्ी=कि। इसे अपनाया जा सकता है। या अन्य कोई मार्ग खोजना चाहिए।

क्ष, त्र, ध, भ—इन दोनों संयुक्त व्यंजनों के अलग चिह्न रखने की आवश्यकता नहीं है। ये संयुक्त व्यंजन देवनागरी में नवीन रूप ग्रहण कर चुके हैं। इनको छोड़कर दोनों के स्थान पर क्रमशः क्ष और त्र जैसे रूप चलाए जा सकते हैं। यदि आवश्यकता हो तो क्ष को रखा भी जा सकता है। पर इनके लिए स्पष्ट संयुक्त रूपों का प्रयोग करना वैज्ञानिक होगा।

साथ ही ध और भ के ध तथा भ रूप स्वीकृत किए जा चुके हैं। इस परिवर्तन से लिपि और लेखन में पर्याप्त स्पष्टता आ जाती है।

देवनागरी में कुछ चिह्नों के दो रूप प्रचलित हैं। अ/ग्र, श/श, झ/झ, ण/ण, ल/ळ। इनमें से एक को निश्चित रूप से छोड़ देना चाहिए। अब अ, श, झ, ण और ल ही प्राय: स्वीकृत हैं।

८. उपसंहार—ऊपर लिखे गए सुधारों को अपना लेने पर देवनागरी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से वैज्ञानिक राष्ट्र-लिपि बन जायगी। इसके राष्ट्रलिपि, होने के सम्बन्ध में तो अब कोई प्रश्न ही नहीं रहा। समस्त भारतीय भाषाओं की लिपियाँ न्यूनाधिक रूप से देवनागरी से साम्य रखती हैं। सम्बन्ध ऐतिहासिक भी है और आकृति-गत भी है उर्दू और रोमन लिपियाँ हमारी भावात्मक और व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकतीं।

३८

हिन्दी की बोलियाँ

१. हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार
२. हिन्दी की बोलियों का वर्गीकरण
३. वर्गीकरण का विभिन्न मत
४. बोली अथवा उप-भाषाओं पर आक्षेप-निराकरण
५. हिन्दी की बोलियाँ : साम्य और वैषम्य
६. कुछ प्रमुख बोलियों का परिचय
७. प्रमुख बोलियों की पारस्परिक विशेषताएँ
८. उपसंहार

१. हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार—

हिन्दी भाषा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इस विस्तार के ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी उस प्राचीन संस्कृत, शौरसेनी-प्राकृत, और शौरसेनी-अपभ्रंश के क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है, जो अपने समय में सबसे अधिक विस्तृत रहा। डा० सुनीति कुमार चटर्जी के शब्दों में, "यह साहित्यिक

भाषा शूरसेन प्रदेश या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर मुख्यतः बनी थी। इससे राजस्थान, गुजरात, पंजाब और कोशल तक अप्रभावित न रह सके।" इसका विस्तार मध्यकाल में सन्तों, नाथों और भक्तों ने भी किया। मुग़ल बादशाहों ने हिन्दी को घरेलू बोली के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, अपितु इसे अखिल भारतीय व्यापार की बाजारू भाषा भी बना दिया। मुसलमानी प्रभाव ने भी अपने अखिल भारतीय विस्तार के साथ हिन्दी का भी विस्तार किया। 'दक्खिनी' के रूप में हिन्दी की एक शाखा दक्षिण की यात्रा बहुत पहले ही कर चुकी थी। आर्यसमाज एवं कांग्रेस जैसी अखिल भारतीय संस्थाओं ने इसको व्यवहार की भाषा के रूप में चलाया अतः हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत होता गया। राष्ट्रीय आन्दोलनों और हिन्दी के प्रचार के लिए बनी प्रांतीय संस्थाओं ने इसका क्षेत्र और भी बढ़ा दिया। मोटे रूप से ये ही वे कारण हैं, जिन्होंने हिन्दी को ओर-छोर व्यापी बनाया।

यह तो हिन्दी का प्रभाव, प्रचार या बोध का क्षेत्र रहा। स्थानीय रूप से भी हिन्दी का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। इस प्रकार की विस्तृत भाषा में बोलीगत विभेद होना स्वाभाविक है। हिन्दी के क्षेत्र में अनेक बोलियाँ हैं जो हिन्दी से कौटुम्बिक सम्बन्ध रखती हैं। हिन्दी के विस्तार-क्षेत्र की सक्षिप्त रेखाएँ डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने इस प्रकार दी हैं[1]—

हिन्दी-भाषी प्रदेश के सीमा-नगर

उत्तर—अम्बाला (पंजाब), शिमला (हिमाचल)
दक्षिण—खंडवा, रायपुर (मध्य प्रदेश)
पूर्व—भागलपुर (बिहार)
पश्चिम—जैसलमेर (राजस्थान)

हिन्दी-भाषी प्रदेश की सीमा-भाषाएँ

उत्तर—पूर्वी नेपाली भाषा।
दक्षिण—मराठी, उड़िया भाषाएँ।
पूर्व—बँगला, असमी।
पश्चिम—गुजराती, सिन्धी तथा पंजाबी भाषाएँ

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ

१. पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाएँ—

१. बाँगरू २. खड़ी बोली ३. कन्नौजी ४. ब्रजभाषा ५. बुन्देली।

२. पूर्वी हिन्दी की उपभाषाएँ—

१. अवधी २. बघेली ३. छत्तीस गढ़ी।

---

१. 'हिन्दी भाषा : अतीत और वर्तमान', आरम्भ में।

उपभाषाओं में बिहारी, पहाड़ी, राजस्थानी वर्गों को सम्मिलित नहीं किया गया है। प्रसिद्ध विद्वान् 'केलॉग' ने इनको भी सम्मिलित किया है। आगे इन बोलियों पर विचार किया जा रहा है।

२. हिन्दी की बोलियों का वर्गीकरण—

वर्गीकरण का प्रथम वैज्ञानिक प्रयत्न डा० अब्राह्म ग्रियर्सन ने किया था। उन्होंने इस क्षेत्र में पाँच भाषाएँ मानी हैं। इन पाँच भाषाओं की उपभाषाओं को उनके अन्तर्गत रखा गया है। ग्रियर्सन के वर्गीकरण की रूप-रेखा इस प्रकार है—

ग्रियर्सन ने इन पाँचों समुदायों का भाषा कहा है। इनके अनुसार हिन्दी के पूर्वी और पश्चिमी दो वर्ग हैं। बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी अलग हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कहा कि यदि बाँटना है तो हिन्दी की १८ बोलियों के आधार पर हिन्दी के १८ घर कर दिये जा सकते हैं, पर बिहारी और राजस्थानी को अलग मान कर पाँच भाषाएँ मानना आत्मघात होगा। डा० ग्रियर्सन के उक्त मत का समर्थन 'हॉर्नली' ने भी किया था।

'बीम्स' ने इस मत को स्वीकार नहीं किया उन्होंने भोजपुरी को हिन्दी की बोली के रूप में ही स्वीकार किया।[1] बिहार की बोलियों से सम्बद्ध शिक्षित वर्ग,

---

१. 'It is convenient to range the Bhojpuri as a dialect of Hindi..." 'Outlines of Indian Philology', P. 31

परिनिष्ठित हिन्दी को ही अपना लेता है, बंगाली को नहीं। बीम्स के अनुसार तो पंजाबी भी हिन्दी के अन्तर्गत आ जाती है।

इन बोलियों में परस्पर अन्तर इतना अधिक नहीं है कि इनको अलग भाषाएँ माना जाये। अधिक अन्तर सीमान्तों की बोलियों में हो सकता है। सीमान्तों की बोलियों का अन्तर भी क्रमशः अधिक हुआ है। यदि इस क्षेत्र की पैदल यात्रा की जाय तो बोलियों की सीमा ही सुनिश्चित नहीं मिलेगी। इन सीमाओं को सुनिश्चित करने में किसी प्राकृतिक पहाड़ी या दुर्लंघ्य नदियों से सहायता मिल सकती थी, पर इस प्रकार स्थिति न होने से सीमा निर्धारित नहीं है। सीमान्तों की बोलियों के अन्तर को देखकर ही ग्रियर्सन और हॉर्नली ने सम्भवतः पश्चिम की राजस्थानी और पूर्व की बिहारी को अलग भाषा मान लिया था। केलॉग ने इस प्रश्न पर ध्यान दिया था। पर अन्ततः उन्होंने अपने व्याकरण में उक्त सभी बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत रखा था। उन्होंने सभी का व्याकरण लिखा और तुलनात्मक तालिकाएँ देकर सभी की बोलीगत स्थिति को स्पष्ट किया।[२] प्रचलित अर्थ में सभी बोलियाँ हिन्दी की मानी जाती हैं। केलॉग ने वर्गीकरण इस प्रकार दिया है—

१. राजस्थानी
- —मारवाड़ी
- —मेवाड़ी
- —मेरवाड़ी
- —जयपुरी
- —हड़ौती

२. हिमालय
- —गढ़वाली
- —कुमाऊँनी
- —नेपाली

---

१. "Again.........it (Panjabi) has intrinsically no more claim to the title than Bhojpuri or Braja Bhasha".
Outlines of Indian Philology P. 32.

२. "...While some of these, as Braja and Kanauji differ from each other but slightly, others, again as those of Rajputana in the west and of the region about Benaras and eastward, differ so widely that it may at least be regarded as an open question, whether we should not with Hoerule, Grierson and some others, regard them rather as distinct languages than as dialects...I have used the word Hindi in the most customary sense as including the speech of the whole region from the lower ranges of the Himalaya mountains to the Narmada and Vindhya mountains and from the Panjab, Sindh, Gujarat to Bengal and Chutia Nagpur.
A Grammar of the Hindi Language, P. 65.

५. खड़ी बोली—बाँगरू।

पहले वर्गीकरण की कुछ बोलियाँ इसमें छूट गई हैं। पर विवेचन में उन सब को भी सम्मिलित किया गया है। केलॉग ने यह भी स्वीकार किया है कि इन बोलियों का स्पष्ट सीमा-निर्धारण सम्भव नहीं है।[1] राजस्थानी का भौगोलिक विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

इनमें से मारवाड़ी का केन्द्र जोधपुर माना जा सकता है। यह क्षेत्र पूर्व में अरावली तक विस्तृत है। मेरवाड़ी उत्तर अरावली प्रदेश में बोली जाती है और मेवाड़ी का केन्द्र उदयपुर है, और इसका क्षेत्र दक्षिण-पूर्व अरावली प्रदेश है। पूर्वी राजस्थानी का क्षेत्र अरावली से बेतवा नदी तक है। जयपुरी का केन्द्र जयपुर है और हड़ौती कोटा, बूंदी में बोली जाती है।
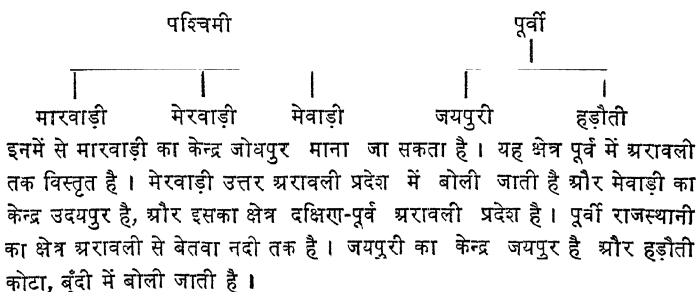
श्री किशोरीदास वाजपेयी ने रूप-रचना के आधार पर हिन्दी की बोलियों को दो भागों में बाँटा है। "हमारे कहने का मतलब यह है कि हिन्दी की बोलियाँ दो समूहों में बँटी हुई हैं। पर्वतीय बोलियाँ (गढ़वाली तथा कूर्माचली आदि) भी इन्हीं दोनों भागों में आ जाती हैं। एक भाग कृदन्त-बहुल हैं तथा दूसरा तिङन्त बहुल। दोनों समूहों में दोनों तरह की क्रियाएँ हैं, परन्तु कम ज्यादा की बात है।"[2] बोलियाँ ही नहीं, अन्य भारतीय आर्य भाषाओं को भी इसी आधार पर अलग किया जा सकता है। इनमें भी पश्चिम की बोलियाँ या भाषाएँ कृदन्त-बहुल हैं और प्रच्य बोलियाँ तिङन्त बहुल। कनौजी से ही हिन्दी की प्राच्यता आरम्भ होती है। उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले का पश्चिमी भाग ब्रज से प्रभावित है और पूर्वी भाग कन्नौजी को आरम्भ करता है। कन्नौज इसी जिले के पूर्वी भाग में है। कन्नौज से पाँचाली भाषा शुरू होती है और कानपुर, फतेहपुर, इटावा, बाँदा तथा प्रयाग के पश्चिमी क्षेत्र में

१. वही, पृ० ६६
२. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५३८

यह बोली जाती है। पांचाली से मिला हुआ 'बैसवाड़ी' का क्षेत्र है। इसमें रायबरेली और उन्नाव के जिले आते हैं। पांचाली और अवधी के बीच बैसवाड़ी है।

पश्चिमी पांचाली एक ओर ब्रज को प्रभावित करती है और स्वयं भी होती है, दूसरी ओर यह अवधी को प्रभावित करती है और स्वयं भी होती है। पांचाली, बैसवाड़ी और अवधी तिङन्त-प्रधान बोलियाँ हैं और इतनी मिलती-जुलती भी हैं कि इनके स्वरूप का स्पष्ट विवेचन-विभाजन सरल काम नहीं है। यह भी कहा जा सकता है पश्चिमी अवधी का ही एक रूप पूर्वी पाचाली है और पूर्वी ब्रज का ही एक रूप पश्चिमी पांचाली है। बाँदा जिला पांचाली के क्षेत्र में है। तुलसी का मानस पश्चिमी अवधी का महाकाव्य कहा जा सकता है। ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं बोलीगत अन्तर बढ़ना जाता है—यह स्वाभाविक भी है। इन अन्तरों के अधिक बढ़ जाने पर यह भ्रम होने लगता है कि शायद सीमांतों की बोलियाँ स्वतंत्र भाषाएँ हैं।

३. क्या ये हिन्दी की बोलियाँ नहीं ?—

दक्षिण में प्रायः ग्रियर्सन और हॉर्नेली को ढाल बनाकर यह आक्षेप किया जाता है कि सभी बोलियों को हिन्दी मानना भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत हैं। उनकी दृष्टि में यह हिन्दो वालों का स्टंट है कि वे इन बोलियों को सम्मिलित करके भौगोलिक दृष्टि से हिन्दी के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत सिद्ध करना चाहते हैं और इन बोलियों के साहित्य को हिन्दी का साहित्य बतला कर हिन्दी-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचोन और समृद्ध सिद्ध करना चाहते हैं। वास्तव में विद्यापति, जायसी, सूर, तुलसी जैसे कवि हिन्दी के नहीं, स्वतन्त्र रूप से मैथिली, अवधी या ब्रज के कवि हैं। इस प्रकार हिन्दो न तो इतने विस्तृत क्षेत्र की भाषा है और न उसका साहित्य ही इतना प्राचीन ओर समृद्ध है।

इसी आधार पर यह भी कहा जाता है कि हिन्दी के पाठ्य-क्रम में सूर, तुलसी आदि ब्रज या अवधी के कवियों को सम्मिलित नहीं करना चाहिये। इनको पढ़ाकर दक्षिण पर केवल हिन्दी ही नहीं, उसके आस-पास की अन्य भाषाओं को भी लादा जाता है। हिन्दी के नाम पर जो कुछ भी पढ़ाया जाता है, वह सभी हिन्दी नहीं है। इस प्रकार की बातें बहुधा कही जाती हैं। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व भाषा और बोली के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा कर लेना समीचीन होगा।

प्रश्न यह है कि भाषा और बोली में शास्त्रीय दृष्टि से क्या अन्तर है और दोनों में परस्पर सम्बन्ध क्या है ? सामान्य रूप से बोली की यह परिभाषा दी जाती है : "बोली किसी निश्चित क्षेत्र की उस भाषा को कह सकते हैं जिसके बोलने वालों के उच्चारण में, स्वर लहरी में, रूप-रचना एवं वाक्य-रचना में बहुत कुछ साम्य हो।"[१] भिन्नता तो अवश्य रहेगी। यदि नितान्त वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो

१. डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, सप्तसिन्धु, जुलाई १९६१, पृ० ३८

किन्हीं दो व्यक्तियों की भाषा समान नहीं हो सकती।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की बोली अलग होती है। पर बोलीगत व्यक्तिगत भेद वैज्ञानिक होते हुए भी व्यावहारिक नही हैं।

बोली-भेद अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ भेद भौगोलिक कारणों से होते हैं। जातिगत कारणों से भी कुछ भेद मिल सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से निम्न-जातियों की बोलियाँ उच्च वर्गों से भिन्न होती हैं। "साधारण रूप में एक भाषा की विभिन्न बोलियों में समानता होती है। इस प्रकार कुछ भेदों के (ध्वनि, रूप-सम्बन्धी) होते हुए भी कुछ सामान्य तत्त्व ऐसे होते हैं जो कि परस्पर सम्बद्ध कुल बोलियों में पाये जाते हैं। तो फिर वे सभी बोलियाँ मिलकर एक 'भाषा' की संज्ञा प्रदान करती हैं। इन सभी बोलियों का समष्टिगत रूप ही भाषा है जिसमें इससे सम्बन्धित समस्त बोलियाँ है।"[2] इस दृष्टि से हिन्दी की उक्त सभी बोलियाँ, बोलियाँ ही हैं, स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं।

बोली और भाषा का अन्तर एक और आधार पर स्थापित किया जाता है। बोली का प्रयोग घरेलू तौर पर चलता है। भाषा इन घरेलू बोलियों के समानान्तर उसी व्यापक क्षेत्र में उच्चतर व्यवहार के क्षेत्र में चलती रहती है। घरेलू बोलियाँ इस व्यापक भाषा से असम्बद्ध नहीं होतीं। कभी-कभी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि घरेलू बोली के शिक्षित समुदाय उस भाषा का प्रयोग घरेलू व्यवहार के लिये भी करने लगते हैं। इस प्रक्रिया में वे भावात्मक रूप से यह अनुभव नहीं करते कि उन्होंने किसी अन्य भाषा को अपना लिया है, या उनकी घरेलू बोली की क्षति हो गई है। ऐसा ही सम्बन्ध हिन्दी तथा उसकी बोलियों में मिलता है। हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियाँ घरेलू व्यवहार की हैं। ब्रजभाषा और अवधी में प्रचुर साहित्य तो मिलता है और छुटपुट रूप से अब भी उसके लेखक मिल जाते हैं, पर ये भी अब अधिकांशत: घरेलू बोलियाँ रह गई हैं। इतिहास के साक्ष्य के अनुसार किसी विशेष समय में एक विशेष बोली को साहित्यिक गौरव प्राप्त भी हो जाता है। इसी प्रकार कभी अवधी और ब्रजी को प्राप्त था। उस समय ये ही बोलियाँ या इनका मिश्रित रूप परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य थे। कालान्तर में खड़ी बोली को यह स्थिति प्राप्त हो गई। ऐसा होता ही रहता है। आज अन्य सभी घरेलू बोलियाँ हैं। इन घरेलू बोलियों के क्षेत्र में शिक्षित समुदाय और अधिकांश नगर-निवासी परिनिष्ठित हिन्दी को अपना चुके हैं या अपना रहे हैं। साथ ही समस्त शिक्षा—निम्नतम स्थिति

---

१. "Two individuals of the same generation and locality, speaking precisely the same dialect and moving in the same social circles, are never dissolutely at one in their speech habits... In a sense they speak slightly divergent dialects of the same language rather than identically the same language" Sapir, Language, 1949, P. 147

२. डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, जुलाई १९६०, पृ० ३८

से लेकर उच्चतम स्तर तक—इसी भाषा में होती है। जैसे ही बच्चा प्राथमिक पाठशाला में जाता है, उसे हिन्दी ही पढ़नी पड़ती है, हिन्दी के माध्यम से ही अन्य विषय पढ़ने पड़ते हैं और हिन्दी में ही अपने आपको अभिव्यक्त करना होता है। इस प्रकार घरेलू बोलियों का व्यवहार क्षेत्र सीमित और हिन्दी के समानान्तर हो जाता है। इन बोलियों के क्षेत्रों में प्रायः समस्त साहित्यिक या सांस्कृतिक कार्यक्रम हिन्दी के माध्यम से ही चलते हैं।

इसी स्थिति को देखकर संविधान में इन बोलियों के क्षेत्रों की कोई बोली भाषा के रूप में मान्य नहीं है। केवल हिन्दी ही इन क्षेत्रों की भाषा स्वीकृत है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली—इन सभी राज्यों के लिये संविधान ने हिन्दी को स्वीकार किया है। इन क्षेत्रों से अपनी बोलियों को संविधान में स्वीकृत कराने की माँग भी नहीं हुई। इस प्रकार घरेलू बोलियों की स्थिति बोलियों के रूप में ही रह जाती है और हिन्दी एक व्यापक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। घरेलू बोलियों के साहित्य और उनके अस्तित्व को अपने साथ लेकर हिन्दी चलती है।

कुछ भाषाओं में अधिक बोलियाँ होती हैं और कुछ में कम। इसके लिये कुछ प्राकृतिक कारण भी हो सकते हैं और कुछ राजनैतिक भी। इन कारणों से ही भाषा का विस्तार भी होता है और बोली को केन्द्रीय प्रधानता भी मिलती है। डा० भाटिया ने इस सम्बन्ध में कहा है : "किसी एक भाषा की अनेक बोलियों में से एक बोली केन्द्रीय बन जाती है जिसमें एक प्रधान और शेष गौण हो जाती हैं। किसी बोली को केन्द्रीय स्थान परम्परागत महत्त्व से, साहित्य से, भौगोलिक स्थिति से, सभ्यता-संस्कृति से प्राप्त होता है। बङ्गाल में साहित्यिक श्रेष्ठता से कलकत्ते की बोली को, महाराष्ट्र में मराठा सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र पूना से पूना की बोली को, साहित्यिक तथा धार्मिक केन्द्र के होने से मथुरा की बोली को क्रमशः बङ्गाली, मराठी, व्रज की प्रधान बोली होने का गौरव प्राप्त हुआ। मध्यदेशीय समस्त बोलियों में से खड़ी बोली (मेरठ, मुजफ्फरनगर, मुरादाबाद) जो पश्चिमी क्षेत्र की बोली मात्र थी, खड़ी बोली भाषा बन बैठी।" इस प्रकार से एक बोली के प्रधान हो जाने पर यह कहना भ्रम के अतिरिक्त कुछ न होगा कि अन्य क्षेत्रीय या घरेलू बोलियाँ उस भाषा से भिन्न हैं। या उस भाषा-क्षेत्र की वे बोलियाँ नहीं रह गई।

भाषा और बोली के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली एक और कसौटी की चर्चा की जाती है। वह कसौटी बोधगम्यता की है। वे ही बोलियाँ परस्पर या एक केन्द्रीय भाषा से सम्बद्ध मानी जा सकती हैं, जो परस्पर बोधगम्य हों। दक्षिण के कुछ विद्वान कहते हैं कि जब वे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की घरेलू बोली सुनते हैं, तो समझ ही नहीं पाते। साथ ही बोलियों का साहित्य समझने में उन्हें कठिनाई होती है। यदि दक्षिण का कोई हिन्दी भाषी कुछ सीमान्तवर्तिनी बोलियों को समझने में असमर्थ रहता है, तो यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि वे हिन्दी की बोलियाँ

ही नहीं हैं। दक्षिण भारत की हिन्दी शिक्षा-दीक्षा और वातावरण से अनभिज्ञता उसके न समझने का कारण हो सकती है। प्रश्न यह है कि हिन्दी क्षेत्र का व्यक्ति एक दूसरी बोली के क्षेत्र में जाकर उस बोली को समझ सकता है या नहीं। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो राजस्थान का व्यक्ति यदि एकदम भोजपुरी के क्षेत्र में पहुँच जाय तो उसे समझने में अवश्य कठिनाई होगी। या इन दोनों क्षेत्रों के व्यक्ति को पहाड़ी बोली को समझने में कठिनाई होगी। पर यह नहीं कि उसकी समझ में दूसरे क्षेत्र की बोली बिल्कुल न आये। इतना ही सत्य है कि कुछ रूप उसके लिए अज्ञात होंगे। शब्दावली प्राय: समान होगी, ध्वन्यात्मक दृष्टि से कुछ भेद होगा। मौलिक संरचना एक ही होगी, केवल कुछ रूप भिन्न मिलेंगे। इस प्रकार बोधगम्यता की कसौटी के आधार पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी की मानी जाने वाली बोलियाँ हिन्दी से नितान्त भिन्न हैं।

वैसे भाषा वैज्ञानिकों ने बोधगम्यता की कसौटी को पूर्ण मान्यता नहीं प्रदान की है। डा० ग्रियर्सन ने इस सम्बन्ध में लिखा है: यदि भाषा और बोली के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम पारस्परिक बोधगम्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो यह भी ठीक न होगा। क्योंकि बङ्गाल और पंजाब के बीच थोड़ा बहुत प्रत्येक व्यक्ति दो भाषाएँ समझ लेता है।[१] बीम्स ने भी भारतीय परिस्थितियों में इस कसौटी को अपूर्ण माना है।[२] इस कसौटी की अमान्यता निराधार नहीं है। हिन्दी और बंगाली में अधिकांश शब्दावली समान है: बङ्गाली भी तत्सम बहुल है और हिन्दी भी तत्सम बहुल है। इस आधार पर दोनों में पर्याप्त बोधगम्यता मिलती है। इसके आधार पर दोनों को एक दूसरी की बोली नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दोनों का व्याकरण एक दूसरी से भिन्न है। अत: बोधगम्यता सीमित हो जाती है। दूसरा उदाहरण हिन्दी और पंजाबी का लिया जा सकता है। इन दोनों में व्याकरणिक रूपों में तो पर्याप्त समानता मिलती है, पर शब्दावली भिन्न है। वैसे दोनों की शब्दावली भी एक सीमा तक समान है। फिर भी पंजाबी में कुछ ऐसे तत्सम और तद्भव शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो हिन्दी में नहीं होते। कुछ शुद्ध स्थानीय शब्द भी हैं। इसलिए बोधगम्यता शब्दावली के आधार पर सीमित हो जाती है। जो बोधगम्यता मिलती है, उसके आधार पर इन दोनों में भाषा-बोली सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। दोनों को स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में मान्यता दी जाती है। ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं, जहाँ शब्दावली और व्याकरण में तो पर्याप्त समानता मिलती है, पर उच्चारण

---

१. भारत का सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, १९५९, पृ० ४२

२. "The test which has been proposed and in fact asserted with much certainty of manner by some, is that of mutual intelligibility. But human intellect is a very varying organ."—Outlines of Indian Philology and other Philological papers, P. 32, 33.

भेद बोधगम्यता को सीमित कर देता है : उच्चारण-भेद के आधार पर एक भाषा की दो बोलियों को पृथक् नहीं कहा जा सकता। बीम्स ने इस ओर भी संकेत किया है।[1] निष्कर्ष यह है कि परस्पर बोधगम्यता के आधार पर हिन्दी की बोलियों के सम्बन्ध में निर्णय नहीं दिया जा सकता। साथ ही बोधगम्यता की कोटि इतनी नीची भी नहीं है कि सभी बोलियों को अलग भाषाओं के रूप में स्वीकार कर लिया जाये। बोधगम्यता के आधार पर जितना भेद बतलाया जाता है, उतना है नहीं। हिन्दी की बोलियों में शब्दावली प्रायः समान है। इसी कारण से सभी में सुबोधता बनी हुई है। अन्य भाषाओं में जो शब्द आए हैं, उनका स्रोत भी समान ही है। विभक्तियों और क्रियापदों को लेकर जो भेद बतलाया जाता है, वह भी इतना नहीं कि वे स्वतन्त्र भाषा कही जा सकें। वस्तुतः भाषा में भेद तो ध्वनि, पद, शब्द, वाक्य और अर्थ से होता है। कुछ भेदों को छोड़ कर सभी बोलियों के व्याकरण का मूल ढाँचा एक ही है। इन बोलियों में व्याकरणिक समरूपता का तत्त्व पर्याप्त है, जो इनको एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ मानने को बाध्य करता है।

कुछ विद्वान् ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर हिन्दी और उसकी कुछ बोलियों को परस्पर असम्बद्ध मानते हैं। पश्चिमी हिन्दी का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। पूर्वी हिन्दी का स्रोत अर्द्ध मागधी में है। इसी प्रकार पहाड़ी बोलियों का जन्म खस प्राकृत से बतलाया जाता है। पश्चिमी बोलियों के लिए भी अलग अपभ्रंशों की चर्चा की जाती है। किशोरीदास वाजपेयी ने खड़ी बोली का सम्बन्ध कौरवी अपभ्रंश से माना है। और कनौजी को पांचाली से। वस्तुतः ये शौरसेनी के ही जनपदीय रूप होंगे। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने राजस्थानी के भी अलग स्रोत की कल्पना की है : "...ऐसा प्रतीत होता है कि जो प्राकृत अशोक के समय गुजरात प्रान्त में (एवं सम्भवतः मारवाड़ प्रान्त में भी) बोली जाती थी, वह शौरसेनी या मध्य-देशीय प्राकृत से कुछ अलग या भिन्न थी। अर्थात् ऐसा हम कह सकते हैं कि, प्राकृत या मध्ययुग की आर्य भाषा गुजरात, काठियावाड़ तथा मारवाड़ प्रान्तों में मध्य-प्रदेश या शूरसेन जनपद से नहीं फैली थी—यहाँ आर्य-भाषा का प्रथम आगमन हुआ था, उत्तर भारत की ओर के किसी अन्य प्रान्त या जनपद से।[2]" इसका स्रोत किसी सौराष्ट्र-अपभ्रंश में खोजने की चेष्टा की गई है। "पर पश्चिम-राजस्थान की बोली मारवाड़ी-गुजराती मध्यदेश की भाषा से स्वतन्त्र होने पर भी, उस पर मध्य-देशीय

---

१. "There are besides instances where two forms of speech are identical or nearly so, both as to words and inflections, and yet the pronunciation of the one differs so much from that of the other as to produce on the ear the effect of a different language. Syriac and Chaldee low land Scotch and English are examples of this sort." वही, पृ० ३३

२. राजस्थानी, पृ० ४७

भाषा का गहरा प्रभाव पड़ा है ।[1]" आगे इसका स्पष्टीकरण करते हुए डा० चटर्जी ने लिखा है, "राजपूत राजाओं के कई प्रख्यात वंश के लोग गांगेय उपत्यका से राजस्थान की भूमि पर आ बसे थे, उत्तर से आये हुए इन क्षत्रिय तथा उनके साथ आने वाले ब्राह्मणादि जातियों के मनुष्यों के द्वारा राजस्थान की मौलिक स्वतन्त्र बोली पर मध्यदेश गङ्गा-यमुना के देश की भाषा का प्रभाव पड़ता आया है । मध्यदेश के सान्निध्य के कारण पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी आदि) पर मध्यदेश का इतना ही प्रभाव पड़ा कि पूर्वी राजस्थानी और पश्चिमी राजस्थानी उन दोनों में काफी पार्थक्य हो गया है । उधर मालवे की बोली के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि दर-असल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है; पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ौसी मारवाड़ी-राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा, जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ राजस्थानीपन आ गया है ।......पश्चिम राजपूताने में दो धाराओं का सङ्गम हुआ—जिनमें एक धारा ने उदीच्य से (अर्थात् सिंध प्रदेश और पंजाब की राह से) पहले ही आकर अपना आसन जमा लिया था, और दूसरी धारा जो प्रबलतर बनी मध्यदेश से आई थी ।"[2]

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सिद्ध नहीं होता कि कोई बोली मध्यदेश की बोली से अप्रभावित रही । प्राकृतों और अपभ्रंशों में कुछ स्थानीय भेद रहा होगा, पर पास-पड़ौस की भाषाओं में अधिक अन्तर नहीं था । अर्द्ध मागधी में आधी शौरसेनी थी । कौरवी, पाँचाली और सौराष्ट्री की अलग कल्पना को मान भी लिया जाय, तो ये स्वयं एक दूसरी से अधिक अलग नहीं थी । साथ ही मध्यदेशी के प्रगाढ प्रभाव ने इनको और भी समान बना दिया । शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कोई एक परिनिष्ठित भाषा दूसरी को जन्म नहीं देती । भाषा या बोली का सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा आकृतिमूलक प्रणाली से अधिक निश्चित होता है । परस्पर प्रभाव सम्पर्क और सम्बन्ध कुछ बोलियों को एक मुख्य बोली से सम्बद्ध कर देते हैं ।

दिल्ली एक मिलन बिन्दु है । इसके उत्तर में 'कुरु' जनपद है । यहाँ की बोली खड़ी बोली है । इस कौरवी की भी दो शाखाएँ हैं : खड़ी बोली या मेरठी एवं जाटू या बाँगरू । ये दोनों रूप उसी प्रकार हैं, जैसे राजस्थानी के जयपुरी और जोधपुरी । इसी खड़ी बोली का एक साहित्यिक रूप हिन्दी है, दूसरा उर्दू । एक शाखा दक्खिनी है : इसकी प्रकृति बाँगरू से मिलती-जुलती है । दूसरी ओर दिल्ली से मथुरा का क्षेत्र है : यहाँ की बोली ब्रज है । दिल्ली से थोड़ा ही चलने पर रेवाड़ी से राजस्थानी का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है । दिल्ली से पूर्व की ओर चलें तो पूर्वी बोलियों का क्षेत्र शुरू हो जाता है । मुसलमान शासकों के प्रोत्साहन और प्रयोग से उर्दू में साहित्य बनने लगा । इससे भी पूर्व ब्रजभाषा साहित्यिक रूप लेने लगी । गुरु नानक ने भी मुख्यतः ब्रजी का प्रयोग किया है । ब्रजी का बहुत विस्तार हुआ । प्रभाव भी इसका बढ़ा । इस

१. राजस्थानी, पृ० ५६
२. वही, पृ० ५७

प्रकार दिल्ली के आसपास की दो भाषाएँ सारे देश में व्याप्त होने लगीं। ब्रजभाषा में साहित्य गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार और बंगाल में भी रचा गया। उर्दू ने और भी दक्षिण की यात्रा की। अंग्रेजी शासन में खड़ी बोली का साहित्यिक संस्कार हुआ। इसका मौलिक ढाँचा उर्दू जैसा ही रहा। विदेशी शब्दों का स्थान देशी शब्द लेने लगे। इस प्रकार एक सामान्य भाषा का विकास होने लगा, जो सभी बोली रूपों पर धीरे-धीरे छा गया।

परिनिष्ठित हिन्दी मूल खड़ी बोली से भिन्न है। मूल खड़ी बोली का इस रूप में विकास हुआ। इस विकास में उर्दू ने भी योगदान दिया। इसमे द्वित्वों एवं पश्चात् बलाघात का विशेष प्रयोग था। परिनिष्ठित भाषा से यह प्रवृत्ति उठ गई—एक प्रकार से सरलीकरण हुआ, उदाहरण ये हैं : मीट्ठा/मीठा ; लात्ता/लाता ; जात्ता/जाता मेरठी के स्थान पर न बोलने की प्रवृत्ति बढ़ी। पूर्व प्रवृत्ति भी समाप्त हुई : बहण/बहन, जाण दे/जाने दे, सुण/सुन आदि। फ़ारसी में ण नहीं था। उर्दू का झुकाव सम्भवतः इसीलिए न की ओर हुआ। अन्त्य ल भी मेरठी में ड़ या ळ की तरह बोला जाता था। यह प्रवृत्ति भी नहीं रही : काड़ा/काला ; पाड़ा/पाला ; जाड़ा/जाला आदि। इस प्रकार एक नवीन रूप विकसित होने लगा। इस प्रकार मेरठी का शासकीय और साहित्यिक रूप 'उर्दू' और उर्दू का परिष्कृत रूप हिन्दी।"[1] हिन्दी ने उर्दू की व्यापकता का लाभ उठाया। यही राष्ट्रभाषा बनी। इसके विकास की परिस्थिति में अन्य बोलियाँ इसकी सहायक या समवर्ती हो गई।

४. हिन्दी की बोलियाँ : साम्य और वैषम्य—

बोलियों में शब्दावली का अन्तर नहीं है। अधिकांश अन्तर प्रत्ययों का है। संस्कृत के विसर्ग प्राकृतों की स्थिति में—ओ के रूप में विकसित हुए थे और द्विवचन रूप समाप्त हो गए थे। क्रिया का प्रत्ययांश-त, -द में परिणत हो गया। विसर्ग यदि 'अ' के साथ होता था तो -ओ हो जाता था। यह यदि 'आ' के साथ होता था, तो लुप्त हो जाता था। इस प्रकार पुत्रः आगतः >पुत्तो आगदो तथा पुत्राः आगताः > पुत्ता आगदा रूप मिलते हैं। राजस्थानी और गुजराती में इन दोनों के चिह्न मिलते हैं : लड़को गयो 'लड़का गया' तथा लड़का गया 'लड़के गये।' राष्ट्रभाषा में 'लड़का गया' एक वचन है। इसी प्रकार राम रो लड़को 'राम का लड़का' तथा राम रा लड़का 'राम के लड़के' रूप मिलते हैं। हिन्दी में आकारान्त रूप एक वचन में गृहीत हैं, बहुवचन भिन्न प्रकार से बने। ओकारान्त रूप समाप्त हो गये। ब्रजी में एक वचन रूप ओकारान्त ही रहे। पर बहुवचन की रचना हिन्दी की पद्धति से मिलती है। बिहार की या पूर्व की बोलियों में ओकारान्त रूप नहीं मिलते। इस प्रकार आकृति की दृष्टि से बोलियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है : एक ओकारान्त वाली

---

१. पं० किशोरी दास वाजपेयी. भारती भाषा विज्ञान, पृ० १५१

शाखा[1] और दूसरी इससे रहित। दूसरी शाखा आकारान्त[2] या अकारान्त हो सकती है। हिन्दी आकारान्त है और पूर्व की बोलियाँ बहुधा अकारान्त।

दूसरा वर्गीकरण भविष्य के -ग- प्रत्यय के आधार पर किया जा सकता है। यह प्रत्यय द्वितीय प्राकृतों से अलग पड़ जाता है। इसके साथ -ओ या -आ का प्रयोग होता है। राजस्थानी, ब्रजी या खड़ी बोली में ये ही रूप मिलते हैं : राज० छोरो जायगो, ब्रजी० छोरा जाइगो तथा खड़ी० छोरा जायगा। इसके बहुवचन रूप इस प्रकार हैं : राज० छोरा जायगा, ब्रजी० छोरा जांगे या जाएंगे या जामेंगे, खड़ी० छोरे जायँगे। पूर्वी बोलियों में भविष्य के -ग वाले रूप प्राय: नहीं मिलते। उन बोलियों में -ह वाले रूप मिलते हैं : जइहैं 'जायेंगे।' राजस्थानी के पुराने साहित्य में -ग वाले रूप नहीं मिलते और साहित्यिक ब्रज में दोनों ही हैं। -ह वाले रूप में साहित्यिक ब्रज में मिलते हैं : ऐहैं न प्यारे तौ जैहैं ये प्रान। हो सकता है -ग प्रत्यय कृदन्त- क्रिया का फल हो और -ह वाले रूप तिङन्त पद्धति के। इस प्रकार हिन्दी ओकारान्त न ग्रहण करके पूर्वी बोलियों के समकक्ष हो जाती है तो भविष्य रचना की दृष्टि से पश्चिमी बोलियों से साम्य रखती है।

हिन्दी की सभी बोलियों में एक समान सूत्र सम्बन्ध कारक का चिह्न -क- है।[3] इसके का, के, की रूप राष्ट्रभाषा में चलते हैं। राजस्थानी और ब्रज में 'को -या कौ मिलते हैं।' केवल जोधपुरी में रो 'को' मिलता है। पूर्वी अञ्चल की बोलियों में केवल 'क' ही मिलती है : खड़ी बोली -का, राजस्थानी -को, ब्रजी -को या कौ, पूर्वी अञ्चल -क (राम क निहोर)। जोधपुरी में जैसे तद्धित प्रत्यय 'रो' मिलता है, वैसे ही खड़ी बोली की सर्वनामिक संरचना में रा, रे, री मिलते हैं : तेरा, तेरे, तेरी। इस परिस्थिति में अन्य बोलियों में भी यह तद्धितीय प्रत्यय मिलता है : राज०—थारो, थारी, थारा ; पूर्वी अञ्चल—त्वार, तोरि आदि। जोधपुरी में तो इसका बाहुल्य है ही। ब्रज के रूप खड़ी बोली जैसे हैं। पूर्व की ओर चलने पर अन्य रूपों की भाँति इसमें से भी -आ, -ओ विभक्तियों का लोप होता जाता है।[4] ब्रज में तथा पूर्व में -उ भी मिलता है : बागु, घरु। पर और पूर्व में चलने पर यह भी समाप्त हो जाता है। हो सकता है पहले के भापारू-पों में यह चलता हो और अब समाप्त हो गया हो।

एक सम्बन्ध प्रत्यय 'न' भी है : अपना, अपने, अपनी। हिन्दी की प्राय: सभी बोलियों में यह प्रत्यय भी मिलता है। पश्चिमी धारा में अपनो, अपने, अपनी यह भी बोलियों में मिलता है।

---

१. गुजराती, काठियावाड़ी, कच्छी और सिन्धी में यही प्रवृत्ति मिलती है।

२. खड़ी बोली और पंजाबी में आकारान्त प्रवृत्ति मिलती है।

३. इसका अर्थ देने वाले रूप अन्य भाषाओं में इस प्रकार हैं : सिन्धी–जो, गुजराती–नो, पंजाबी–दा।

४. विद्यापति में 'नन्द क नन्दन कदम क तरु तर' = 'नन्द का नन्दन, कदम के तरु तले' बंगाली में भी आसार मिलता है। बंगाल में -र विभक्ति प्रमुख होती गई है।

हिन्दी को मुसलमानों ने ग्रहण करके सारे देश में फैला दिया । कलकत्ता, बम्बई जैसे व्यापारी शहरों में विविध प्रदेशों के व्यापारी इसी का प्रयोग करते हैं । इस हिन्दी से मिलती-जुलती 'क' प्रत्यय, नागरी लिपि शब्द-समूह और व्याकरणिक ढाँचे के सम्बन्ध सूत्र में गुँथी हुई हिन्दी की कई बोलियाँ हैं । इन बोलियों में से कुछ में प्रकृष्ट साहित्य भी है । आज हिन्दी शब्द अपने व्यापक अर्थ में सभी बोलियों को समेट लेता है । संकुचित अर्थ में इससे केवल राष्ट्रभाषा का बोध होता है । पर इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी की बोलियाँ उससे पृथक् हैं । संसार की सभी भाषाओं में बोलीगत विभेद मिलते हैं । बोलियों के समस्त प्रदेश में मातृ-भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी भी चलती है ।

"मुसलमानी शासन-काल में ये सब प्रदेश आत्मरक्षा के लिए एक सूत्र में बँधे, एक आत्मीयता का सूत्र सबने स्वीकार किया । इन सभी प्रदेशों ने 'नागरी' लिपि नहीं छोड़ी ।[१]" आज किसी प्रदेश को अपनी मातृ भाषा का आग्रह नहीं है । सभी हिन्दी को व्यापक साहित्य, लोक-शिक्षण तथा राज-काज की भाषा के रूप में स्वीकार करते हैं । अनेक साम्य भी इनमें हैं : कुछ वैषम्य भी है । भौगोलिक दृष्टि से सभी बोलियाँ एकत्र हैं । सभी बोलियाँ दूसरे क्षेत्रों में कम से कम कामचलाऊ रूप से समझी जाती हैं । समय-समय पर इन बोलियों के व्यापक मिश्रित रूप भी घटित होते रहे है । कबीर ने खड़ी बोली, राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी का संगम प्रस्तुत किया । व्रजभाषा भी अपने परिनिष्ठित साहित्यिक रूप मे एक मिश्रित भाषा रही । 'तुलसी गङ्ग दुवौ भए सुकविन के सरदार' लिखने वाले आचार्य ने भी मिश्रित भाषा को व्यापक माना । चंद जैसे पुराने कवि में भी छः भाषाओं का मिश्रण है । इस प्रकार जब एक बोली इस क्षेत्र की प्रमुख हुई तो सभी बोलियों ने अपना योगदान दिया : सभी का मिश्रित रूप घटित होता गया । आज की परिनिष्ठित हिन्दी के कुछ रूप एक बोली के समीप पड़ते हैं, कभी दूसरी के । इन परम्पराओं के मर्म को जो भी समझेगा, हिन्दी से उसकी बोलियों को स्वतंत्र भाषाओं के रूप में मानने की भूल नहीं करेगा । सभी भाषाओं का स्रोत संस्कृत होने के कारण, समानता तो अन्य भाषाओं में भी मिलती है, फिर बोलियों को तो अलग करना सम्भव ही नहीं है—अलग करना अनावश्यक भी है ।[२]

५. कुछ प्रमुख बोलियों का परिचय—

खड़ी बोली—इसका क्षेत्र विस्तृत है । पश्चिम रुहेलखंड, गङ्गा का उत्तरी दोआब, जिला रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर,

---

१. किशोरीदास बाजपेयी, भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १७०

२. "In the languages of the Aryan family, the existance of a well-known common origin in the sanskrit, renders it, unnecessary to enquire closely into the line which separates languages from dialects." Beams, Outlines of Indian Philology, P. 34

देहरादून का मैदानी भाग तथा अम्बाला, कलसिया, पटियाला रियासत के पूर्वी भाग, इस क्षेत्र में सम्मिलित है। ग्रियर्सन ने इसके बोलने वाले ५३ लाख माने है। प्रभाव की दृष्टि से पजाबी, राजस्थानी और उर्दू शब्दावली का प्रभाव इस पर है। पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी को घाघरा नदी अलग करती है। इसका क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी का उत्तर-पश्चिमी कोना है।

इस क्षेत्र के पश्चिम में पंजाब अथवा दिल्ली और करनाल की राजस्थानी मिश्रित उपभाषा बोली जाती है। इसके उत्तर में पहाड़ी बोलियो का क्षेत्र है। दक्षिण पूर्व में ब्रजभाषा बोली जाती है।

खड़ी बोली और ब्रज में प्रधान अन्तर क्रिया के भूतकालिक कृदन्ती रूपों और कुछ संज्ञापदों में देखा जा सकता है। खड़ी बोली में ये रूप अकान्त है और ब्रजी में औकारान्त या ओकारान्त : भलौ/भला, भारौ/भारा, गयौ/गया।

खड़ी बोली और परिनिष्ठित हिन्दी को भी एक नहीं मानना चाहिए। परिनिष्ठित हिन्दी में जहाँ पैर, है, हैं, और तथा दौड़ है, वहाँ इस खड़ी बोली में क्रमशः पेर, हे, हें, ओर, दोड़ मिलते हैं। कहा/केहा, शिकारी/सकारी, मिठाई/मठाई जैसे शब्दों के आधार पर भी भेद स्थापित हो जाता है। ड/ड़ तथा ढ/ढ़ के प्रयोग में भी अन्तर पाया जाता है : गाडी या गड्डी/गाड़ी; चढना/चढ़ना आदि।

इन ध्वन्यात्मक अन्तरों के अतिरिक्त शब्द रूपों में भी अन्तर मिलता है। कुछ रूपों की तुलनात्मक तालिका यह है : मरदों का=मरदूँ का; वेट्यूँका = बेटियों का। सर्वनामों में भी अन्तर है : मुझ=मझ; तुझ=तझ, हमारा=म्हारा; तुम्हारा= थारा; यू, या/यह, वह/ओह, वो: अपना/अपणा।

और भी अनेक अन्तर हैं जो खड़ी बोली के बोलचाल के रूप को परिनिष्ठित हिन्दी से पृथक करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध पांचाली अपभ्रंश से माना जाता है।

बाँगरू—इसे बाँगर देसी तथा जाटू भी कहा जाता है। 'बाँगर' का अर्थ है ऊँची भूमि। इसके प्रचलन-क्षेत्र में करनाल, रोहतक तथा दिल्ली के जिले आते हैं। दक्षिण पूर्वी पटियाला, पूर्वी हिसार तथा रोहतक एवं हिसार के बीच नाभा और झींद में भी बोली जाती है। इसकी सीमाएँ इस प्रकार है : उत्तर में अम्बाला, दक्षिण में गुड़गाँव, पश्चिम में पटियाला तथा दक्षिण में हिसार। हिसार जिले के आसपास का भूभाग हरियाना कहलाता है। इसका हरियानी नाम भी है। इसके बोलने वाले २२ लाख के लगभग हैं।

ध्वनियों की दृष्टि में इसमें स्वरों का उच्चारण प्राय: अनिश्चित मिलता है। जैसे रहा/रेह्या, जबाब/जुबाब, बहुत/बोहत। ए का परिवर्तन ऐ में भी मिलता है : ने/नै, ते/तै 'से'। न, ल का परिवर्तन क्रमशः ण, ळ में मिलता है। उदाहरण : अपना=अपणा, काल=काळ। द्वित्व होने पर ल का उच्चारण मूर्द्धन्य नहीं होता।

हिन्दी में जहाँ तिर्यक बहुवचन–ओं प्रत्यय ग्रहण करता है, वहाँ बाँगरू में, –आँ : घोड़ों—घोड़ाँ; दिनों = दिनाँ; खेतों = खेताँ। दिन और खेत मूल बहुवचन में, हिन्दी में, अविकृत रहते हैं, पर बाँगरू में–आँ प्रत्यय से युक्त।

इसी प्रकार सर्वनामों में भी पर्याप्त अन्तर है।

इस बोली के कुछ रूप दखिनी से मिलते-जुलते हैं। इसमें साहित्य लोक-साहित्य ही है।

ब्रजभाषा—मथुरा, अलीगढ़, आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, भरतपुर इसके क्षेत्र में आते हैं। इसको कभी ग्वालियरी भी कहा जाता था। बाद में ब्रजभाषा शब्द का प्रचलन हुआ। ब्रजभाषा पर खड़ी बोली, राजस्थानी और पांचाली का प्रभाव है। इन तीनों का संगम ही ब्रजभाषा है।

भविष्य के रूप –ग पर आधारित हैं। इस दृष्टि से यह खड़ी बोली और राजस्थानी से मिलती है। खड़ी बोली पढ़ेगा, ब्रजी पढ़ैगौ तथा राजस्थानी पढ़ेगो में समानता मिलती है। कनौजी में इहै प्रत्यय मिलता है : पढ़िहै 'पढ़ेगा'। जातिवाचक संज्ञाओं के औकारन्त या ओकारान्त रूप तो राजस्थानी से मिलते हैं और कुछ आकारान्त रूप खड़ी बोली से। उदाहरण—

राज०	**ब्रजी**	**खड़ी**
पपीहो	पपीहा	पपीहा
सुग्गो	सुग्गा	सुग्गा
छोरो	छोरा	छोरा
लड़को	लड़का	लड़का
घोड़ो	घोड़ा	घोड़ा

इस प्रकार ब्रजी पर इन रूपों में मेरठी का प्रभाव । पर ब्रजी में भूतकालिक कृदन्ती, पु० एक रूप औकारान्त या ओकारान्त हैं। इनकी दृष्टि से ब्रजी राजस्थानी के समीप हो जाती है।

ध्वनि-विधान में भी ब्रजी खड़ी बोली से भिन्न है : ड़>र, ण>न, ल>र, श>स आदि ब्रज की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं।

इस भाषा में प्रचुर साहित्य मिलता है। राजस्थान में पिंगल नाम से यह प्रचलित थी। समस्त भक्तिकाल और रीतिकाल के कवि ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करते रहे। हिन्दी की सभी बोलियों से अधिक विस्तृत क्षेत्र इसके साहित्यिक रूप का रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की परम्परा में आती है।

बुन्देलखण्डी—इसका सीमा-क्षेत्र इस प्रकार है : उत्तर में झाँसी, जालौन, हमीरपुर; उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर, भोपाल; पूर्व मे सागर, दमोह; तथा दक्षिण में होशंगाबाद नरसिंहपुर सिवनी। इस क्षेत्र की जनसंख्या लगभग ८० लाख है। इसका प्रभाव विस्तार भी आस-पास हुआ है।

मध्यकाल में इसका विकास द्रुतगति से हुआ। इस पर अध्ययन और शोध भी हुआ है। डा० शरतचन्द्र राय, डा० ग्रियर्सन, श्री आर० व्ही० रसेल एवं श्री हीरालाल आदि विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया है। इसके लोक-साहित्य का भी संग्रह हुआ है।

बुन्देली पर आसपास की भाषाओं का भी प्रभाव है। इसमें ब्रज, बघेली, और कन्नौजी बोलियों के शब्द मिलते है। ब्रज का इस पर सर्वाधिक प्रभाव माना जा सकता है। ब्रज और बुन्देली में पर्याप्त साम्य मिलता है। इसकी अनेक उप-बोलियों का उल्लेख डा० ग्रियर्सन ने किया है: बुन्देली, दक्षिणी अपभ्रंश बुन्देली, उत्तर-पूर्वी मिश्रित बुन्देली, किराडी, गाओली, बनाफरी, कोंष्ट, कुम्हारी, लोधी, कुंडरी, पँवाडी, राघोवंशी और सहेरिया।[1] पहली या प्रामाणिक बुन्देली का क्षेत्र झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, सागर, दमोह, होशंगाबाद, नरसिंहपुर और सिवनी है।

इसके लोक-साहित्य का संकलन स्व० शिवसहाय चतुर्वेदी ने मुख्य रूप से किया। बुन्देली लोक-भाषा में इधर १०-१५ वर्षों से पर्याप्त लिखा गया है। शिव-सहाय चतुर्वेदी ने टीकमगढ़ से 'मधुकर' पत्र निकाल कर (१९४१-४५) बुन्देली के प्रति रुचि उत्पन्न की।

बुन्देली की ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं : श>स; व>ब; ल>र। जिस प्रकार ब्रज उका-र, और औ-कार बहुला है, बुन्देली ओ-कार बहुला अधिकाँश द्वित्वों और संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग इसमें नहीं होता।

कनौजी—नामकरण कन्नौज प्रदेश के आधार पर हुआ है। दोआब के इटावा जिले के कुछ भाग, फर्रुखाबाद, गङ्गा के उत्तर, शाहजहाँपुर जिलों में यह बोली जाती है। कानपुर की कन्नौजी पर अवधी और बुन्देली का प्रभाव पड़ने लगता है। पीलीभीत जिले में यह ब्रजी से प्रभावित है। कन्नौजी के पश्चिम में ब्रजी, दक्षिण में बुन्देली और पूर्व में अवधी बोली जाती है। सीमाओं की बोलियों से इसका प्रभावित होना स्वाभाविक है। इसके बोलने वाले ४५ लाख के लगभग हैं।

इसका व्याकरण ब्रजी से मिलता-जुलता है। ब्रजी में जो रूप औकारान्त मिलते हैं, वे इसमें ओकारान्त हैं : गयौ>गओ। दोनों में ही व्यंजनान्त पदों के प्र० एक वचन रूपों में -उ का संयोग मिलता है। खड़ी बोली के आकारान्त विशेषण इसमें ओकारान्त ही मिलते हैं। अन्य पुरुष सर्वनाम परिनिष्ठित हिन्दी से भिन्न हैं : वहु बुहि, उहि, बौ, (एक०) तथा वे, वै, बै आदि (बहु०)।

भूतकालिक सहायक क्रियाएँ कन्नौजी में हतो, हते, हती, हतीं मिलती हैं। इनके साथ-साथ थो, थे, थी, थीं रूप भी प्रचलित हैं। भविष्यत् के रूप ह और ग दोनों पर ही आधारित मिलते हैं : मारि हौ/मारोंगो, 'मारूँगा' मारि हैं/मारैंगे 'मारेंगे' आदि।

---

१. म० प्र० की लोक-भाषाएँ, श्री वसंत, 'ऋतुराज', पृ० १५-१६

राजस्थानी, ब्रजी और खड़ी कृदन्त-प्रधान बोलियाँ हैं। कनौजी इतनी कृदन्त-बहुल नहीं है। राजशेखर ने पंजाब को सम्मिलित करके कृदन्त-बहुल क्षेत्र को 'उदीच्य कहा है—'कृत्प्रिया उदीच्याः।' पूर्व की बोलियाँ तिङ्न्त बहुल हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कनौजी को अलग बोली न मानकर, उसे पूर्वी ब्रज कहा है। ग्रियर्सन ने ब्रजी और कनौजी को पृथक् माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रज और कनौजी को अलग करने वाले तत्त्व अत्यन्त शिथिल हैं।

छत्तीसगढ़ी—मध्यप्रदेश के सरगुजा, रायगढ़, विलासपुर, रायपुर, दुर्ग एवं बस्तर जिलों की बोली को छत्तीसगढ़ी कहा जाता है। भाषाविद् इसकी गणना पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत करते हैं। इन जिलों के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ी, बालाघाट, सम्भलपुर, एवं चाँदा जिलों के भी कुछ भागों में बोली जाती है। बालाघाट जिले में छत्तीसगढ़ी को खलोटी या खल्टाही कहते हैं। छत्तीसगढ़ के मैदान के पूर्व में सम्भलपुर का उड़िया प्रदेश है। यहाँ के लोग अपने पश्चिम में स्थित छत्तीसगढ़ क्षेत्र को लटिया कहते हैं। छत्तीसगढ़ी का एक नाम लटिया भी है। बस्तर में छत्तीसगढ़ी का हल्वी रूप प्रचलित है। विशुद्ध छत्तीसगढ़ी बोलने वालों की संख्या लगभग ४० लाख है।

इस भाषा का विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। इसमें कोई प्रकाशित साहित्य भी नहीं है।

बाघेली—मध्यदेश की बोलियों में बाघेली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बघेलखण्ड की बोली है। दमोह, जबलपुर, मांडला तथा बालाघाट इस क्षेत्र में सम्मिलित किए जाते हैं। इस क्षेत्र को बघेलखण्ड के नाम से जाना जाता है। इसके बोलने वालों की सख्या ५० लाख के लगभग है। छिंदवाड़ा, सिवनी, शहडोल, बैतूल तथा मांडला जिलों में बाघेली बुन्देली, और बाघेली-गौंडी का मिश्रित रूप मिलता है।

बाघेली बोली का विकास बघेलखण्ड के सामन्ती शासकों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। जैसे बुन्देलखण्ड की बोली को ब्रज ने अपना लिया था, इसी प्रकार रीवाँ के दरबार में बाघेली भाषा एवं साहित्य के सेवियों को समाहृत किया गया था। भाषा और साहित्य के प्रकाशन को यहाँ से सुविधाएँ दी गई। श्री लाखन प्रतापसिंह 'उगरेस',[1] डा० श्रीचन्द जैन, तथा वलदेव वैदेही द्वारा कुछ शोधकार्य भी हुआ है। 'विध्य-प्रदेश के लोक गीत' एवं 'विंध्य-प्रदेश की लोक-कथाएँ' भी प्रकाशित हैं।

बाघेली पर समीपवर्ती भाषाओं और बोलियों का प्रभाव पड़ा है। अवधी का प्रभाव इस पर प्रमुख रूप से माना जा सकता है। यह भाषा बुन्देली से भी पर्याप्त प्रभावित है। वैसे अवधी से इसका पार्थक्य है। बाघेली के देखे हों, खाई हों, जाई हों, जैसे रूप अवधी में देखिबों, खाइयों, जाइयों मिलते हैं। इसमें व>ब की प्रवृत्ति मिलती है। अवधी में यह नहीं है।

---

१. 'बाघेली के लोक गीत'

डा० ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वे में इसका विश्लेषण पहले-पहल किया। उनके उपरान्त श्री शरतचन्द्र राय ने सन् १९१५ में 'दि आरोंस ऑफ़ छोटा-नागपुर', तथा आर० वी० रसेल एवं श्री हीरालाल ने सन् १९१६ में 'दि ट्राईब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रॉविंस ऑफ इंडिया' ग्रन्थों की रचना की। पर इन दोनों ग्रन्थों में बाघेली पर वैज्ञानिक विचार नहीं मिलता। डा० ग्रियर्सन ने इसकी कई उपबोलियों की भी चर्चा की है।

शुद्ध बाघेली का एक वाक्य देखिये : 'देखि हों जी, बाजार को जाई हों' (देखिये जी, क्या बाजार को जा रहे हो ?) पूर्वी अवधी का प्रभाव इसके लोक-साहित्य की भाषा पर अधिक है। एक पद्य देखिये—

गोरी के जुबनबा हुमकन लागे।
जैसे हिरनिया के सींग।

डा० बाबूराम सक्सैना ने बाघेली को स्वतन्त्र बोली नहीं माना है। उनके अनुसार वह अवधी का दक्षिणी रूप है।

मेवाती बोली—मेवाती नाम मेव जाति के आधार पर पड़ा है। पूरा अलवर, आधा भरतपुर, आधा रोहतक, पूरा गुड़गाँव, फिरोज़पुर आदि मिलकर मेवात कहलाता है। इस भाषा-क्षेत्र के उत्तर में हरयाणी, पश्चिम में मारवाड़ी तथा ढूँढ़ारी बोली जाती है। इसके दक्षिण में डाँगी और पूर्व में ब्रजभाषा है। मेवाती पर ब्रज का पर्याप्त प्रभाव है। इसकी गणना राजस्थानी बोलियों में है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने इसे एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार किया था। इसी प्रकार का मत डा० चाटुर्ज्या का है।

मेवाती की रचना किसी प्राचीन भाषा के आधार पर नहीं हुई। ब्रज, हरियाणी, उर्दू और पारसी की शब्दावली इसमें ली गई है। अनेक विद्वानों के अनुसार इस प्रदेश को बुद्ध युग में अवंतिका क्षेत्र में माना जाता है। यादव, शक, मिहिर, मुग़ल और अँग्रेज़ आदि के शासन से आक्रान्त होने पर भी इस प्रदेश की भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। मेवाती बोली का एक गद्यांश इस प्रकार है—

"एक माँखी चूस के पे कछु माल-मती हो। वा तूँ सदाँ याँई डर बणो रह हो कै सारी दुनियाँ का चोर और लूटणियाँ मेराई धन्न की चगेस में है कहा थाह जाणे कब लूट लै। या सोचवा नै अपणा माल-भत्ता लू बचाण की खातर घर को अट्टस-बुट्टस बेच एक सोना की ईंट मोल ली। वा ईंट लू वाने घर का कूँड़ा में एक अबीड़ी ठौर में गाड़ दी।"

मेवाती लोक-गीतों में भी अनेक बोलियों का मिश्रण मिलता है। मेवात के कई कवियों का साहित्य उपलब्ध है। इनमें चरणदास, दयाबाई, सहजोबाई, बिड़दसिंह, हुलासी आदि प्रसिद्ध हैं। डा० मेनारिया ने अपने 'मत्स्यराज्य की हिन्दी साहित्य को देन' नामक ग्रन्थ में इस भाषा और इसके साहित्य पर कुछ विचार किया है।

भोजपुरी—यह हिन्दी की एक प्रमुख बोली है। डा० ग्रियर्सन ने बिहारी की तीन बोलियों का उल्लेख किया है : मैथिली, मगही और भोजपुरी। इसका नामकरण बिहार राज्य के शाहाबाद जिले में स्थित 'भोजपुर' नामक गाँव के आधार पर हुआ है। इस प्रदेश के निवासी अपनी वीरता, युद्ध-प्रियता, शौर्य और पराक्रम के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। बिहार राज्य के छपरा जिले की भोजपुरी को छपरिया भी कहा जाता है। बनारस की बोली को बनारसी और बाँगर की बोली को 'बँगरही' कहा जाता है। वैसे इन बोलियों की अपनी कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं।

भोजपुरी पूर्वी उत्तर प्रदेश के नौ[1] तथा बिहार के पाँच जिलों[2] में मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। इस बोली से सम्बद्ध जनता तीन करोड़ से अधिक है। हिन्दी की अन्य बोलियों के व्यवहार करने वालों की संख्या इतनी नहीं है। उक्त चौदह जिलों के अतिरिक्त आसाम के चाय बागानों, बम्बई में 'अँधेरी' क्षेत्र में निवास करने वाले 'भइया' लोगों, तथा बंगाल में रहने वाले लाखों 'हिन्दुस्तानियों' द्वारा बोली जाती है। फिज़ी एव मारीशस टापुओं तथा ब्रिटिश गाइना और दक्षिणी अफ्रीका के निवासी प्रवासी भारतीयों के द्वारा भोजपुरी मातृभाषा के रूप में प्रचलित है।

भोजपुरी की तीन उपबोलियाँ मानी जा सकती हैं : आदर्श भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी तथा नागपुरिया। मधेसी और थारू भी उपबोलियाँ हैं। आदर्श भोजपुरी का क्षेत्र शाहाबाद (बिहार), बलिया, गाजीपुर और घाघरा (सरयू) एवं गडक के दोआब में बोली जाती है। छपरा में भी यह बोली जाती है पर यहाँ 'ड़' के स्थान पर 'र' का प्रयोग होता है : घोरा-गारी। आदर्श भोजपुरी के भी दो भेद—उत्तरी और दक्षिणी—हैं। उत्तरी में 'बाटे' का प्रयोग मिलता है : मोहन घर में बाटे (गोरखपुर)। दक्षिणी में 'बाड़े' का प्रयोग होता है : 'मोहन घर में बाड़े' (बलिया)। गोरखपुर की आदर्श भोजपुरी में भी कुछ स्थानीय भेद पाए जाते हैं। आदर्श-भोजपुरी का एक उदाहरण लीजिये[3]—

> "कपिल देव ! आजु हम तोहरा के ढेर दिन पर देखत बानी। उतना दिन तूँ कहाँ हा रहनऽहा। जब तब हम तोहरा बारे में तोहरा गाँव के लोगन से पूछत रहली हाँ, मगर केहू हाल साफ़ साफ़ न बतावत रहल हा। अब कहऽ तोहरा घर के सभी केकति अच्छी तरे बाड़ी नूऽऽ।"

पश्चिमी भोजपुरी जौनपुर, आज़मगढ़, बनारस, गाज़ीपुर के पश्चिमी भाग और मिरज़ापुर जिले के मध्यभाग में बोली जाती है। 'इडोआर्यन भाषा-परिवार के पूर्वी समुदाय की सबसे पश्चिमी सीमांत बोली यह है। इसकी अवधी से पर्याप्त समानता

१. बनारस, मिर्ज़ापुर, (चुनार तहसील), गाजीपुर, जौनपुर (केराकत तहसील), बलिया, आजमगढ़, गोरखपुर, देवरिया और बस्ती।

२. छपरा, आरा, राँची, पलामू और चंपारन।

३. भाषा, मार्च १९६३, से उद्धृत।

है।[1] इसके व्याकरण पर विस्तृत विचार जे० आर० रीड़ ने किया है। पर यह सामग्री सैटेलमेंट की फ़ाइलों में है।[2] डा० हार्नली ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में 'पूर्वी' हिन्दी के नाम से इस बोली का विस्तृत व्याकरण लिखा है। आदर्श भोजपुरी और पश्चिमी भोजपुरी में पर्याप्त अन्तर है। पश्चिमी भोजपुरी में करण कारक के लिए क्रिया के आगे 'उन' प्रत्यय का प्रयोग दिखलाई पड़ता है। आदर्श भोजपुरी में यह नहीं है। पश्चिमी में आदर सूचक 'तुँह' है : आदर्श में 'रउरा' चलता है। दोनों में सहायक क्रिया के दो रूप हैं : बानी और हवी। पश्चिमी में हवीं का 'होई' रूप मिलता है। उच्चारण के सम्बन्ध में भी भेद मिलते हैं। बलिया ज़िले में उत्तम पुरुष के रूपों के साथ सानुनासिकता मिलती है, पर पश्चिमी मे नहीं : कहलीं। कहलीं 'किया'। आदर्श मे सम्बन्ध कारक 'के' है और पश्चिमी मे का/कई का प्रयोग मिलता है। आदर्श में सम्प्रदान 'लागि' है : पश्चिमी में के बदे/वास्ते रूप चलते हैं।

नागपुरिया बिहार राज्य के छोटा नागपुर प्रदेश में बोली जाती है। इसे सदान या सद्री भी कहा जाता है। मुण्डा लोग इसे 'दिबकु काजी' कहते हैं। सद्री का अर्थ है बसे हुए लोग। ई० एच० ने ह्विटले इसका विस्तृत व्याकरण लिखा है।[3] इस उपबोली का आदर्श भोजपुरी से अनेक बातों में पार्थक्य है।

मधेसी शब्द 'मध्यदेशी' का विकसित रूप है। इसके नामकरण का कारण यह है कि यह तिरहुत की मैथिली बोली और गोरखपुर के बीच वाले प्रदेश में बोली जाती है। यह चम्पारन जिले में मातृभाषा के रूप में व्यवहृत है। यह प्रायः कैथी लिपि में लिखी जाती है। इसकी समानता अनेक बातों में मैथिली से है। सरभंग सम्प्रदाय के अनेक सन्त कवियों ने इस बोली में अपने काव्य की रचना की है।

थारू का नामकरण नैपाल की तराई में बसी हुई एक जाति के आधार पर हुआ है। जहाँ-कहीं भी ये लोग बसे हैं, इन्होंने अपने आर्य पड़ौसियों की भाषा को अपना लिया है। थारू लोग बहराइच से चंपारन जिले तक पाए जाते हैं और ये भोजपुरी की विकृत रूप बोली को बोलते हैं। गोंडा और बहराइच जिले के थारू लोग भोजपुरी भाषा का व्यवहार करते हैं, जब कि वहाँ की भाषा पूर्वी हिन्दी (अवधी) है। हॉगसन ने इस बोली पर विस्तार से लिखा है।

फीज़ी द्वीपों की भोजपुरी में अनेक फ्रेंच शब्द मिल गए हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश गाइना में भी मिश्रण मिलता है। इस बोली पर अनुसंधान किया जा सकता है।

भोजपुरी पर डा० उदयनारायण तिवारी, डा० विश्वनाथ प्रसाद जैसे विद्वानों ने शोध कार्य किया है।

---

१. ग्रियर्सन, लिं० स० इं० भाग ५, खंड २, पृ० २४८

२. रिपोर्ट आन दि सैटेलमेंट ऑपरेशंस इन दि डिस्ट्रिक्ट ऑफ आजमगढ़; परिशिष्ट २, ३ इलाहाबाद १८८१ ई०

३. नोट्स, आन दि गनवारी डाइलेक्ट ऑफ लोहरदगा, कलकत्ता १८९६

८. उपसंहार—

हिन्दी शब्द का प्रयोग सीमित और विस्तृत अर्थों में होता है। सीमित अर्थ में राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत भाषा-रूप हिन्दी कहलाती है। विस्तृत अर्थ में हिन्दी से उसकी समस्त उपभाषाएँ भी द्योतित होती हैं। कोई भी भाषा अपनी उपभाषाओं को छोड़ कर नहीं चल सकती। इन बोलियों का साहित्य 'भाषा' के साहित्य के साथ रखा जाता है। हिन्दी की बोलियों को हिन्दी से अलग मानने का भ्रम भाषा वैज्ञानिकों (विदेशी) ने फैलाया और राजनीतिज्ञों ने उस भ्रम का दुरुपयोग किया। कुछ ऐसे विद्वान् हैं, जो भाषा और बोली को अलग मान कर नहीं चल सकते। कुछ भाषाशास्त्री एक मध्यम मार्ग भी ग्रहण करते हैं। वे केवल पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की आठ बोलियों को हिन्दी परिवार में सम्मिलित करते है और बिहारी, पहाड़ी और राजस्थानी वर्गों को छोड़ देते हैं। विधान की दृष्टि से ये भू-भाग भी हिन्दी-क्षेत्र में सम्मिलित हैं। अतः इन्हें हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों के रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा।

भारतीभिः भारती सजोषा

[ऋक्० ७।२।३३]

[उपभाषाओं के साथ भारती भाषा सेवनीय है]

३९

हिन्दी भाषा पर अँग्रेजी का प्रभाव

१. पृष्ठ-भूमि

अँग्रेजी प्रभाव की छाया से पूर्व हिन्दी भाषा और साहित्य अपने विकास की अनेक शताब्दियाँ पार कर चुके थे। हिन्दी सामान्यतः इस प्रभाव से पूर्व संस्कृत, अपभ्रंश और फारसी से प्रभाव ग्रहण कर चुकी थी। संस्कृत में हिन्दी की संरचना, शब्दावली और अनेक साहित्यक विधाओं का बीज-स्रोत मिलता है। अपभ्रंशों में से शौरसेनी और अर्द्ध मागधी का सघन प्रभाव हिन्दी के आदिकाल से ही परिलक्षित होता है। अपभ्रंश भाषा, उसके छन्द-विधान और वस्तु-विन्यास के प्रभाव पर पर्याप्त शोध हो चुकी है। हिन्दी प्रदेश मुसलमान शासकों का क्षेत्र रहा था। इसी क्षेत्र में फारसी राजभाषा भी रही। इसीलिए धार्मिक और राज्याश्रित दोनों ही प्रकार के साहित्यों की भाषा फारसी-अरबी शब्दावली से युक्त हो गई। सूफी-दर्शन और साहित्य के प्रभाव से निर्गुणियाँ संतों की भाषा अछूती नहीं रही। हिन्दी ने फारसी की ध्वनियों को शुद्ध या विकृत रूप में ग्रहण किया। इन प्रभावों के विश्लेषण से हिन्दी की ग्रहणशीलता ही सिद्ध होती है। सभी देशी-विदेशी तत्त्वों को हिन्दी आत्मसात् करती चली आई है। इन सबको हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुकूल बना कर अपनी व्यंजनात्मक शक्तियों में विकास किया है। आधुनिक युग में हिन्दी अँग्रेजी के सम्पर्क में आई और अपने ग्रहणशील स्वभाव के अनुसार प्रभावित होना आरम्भ कर दिया।

हिन्दी प्रदेश अँग्रेजों के सम्पर्क में सन् १५८५ से आने लगा जब जॉन क्यूबरी, रैल्फ फिच तथा विलियम लीड्स एलिजाबेथ से अकबर के नाम पत्र लेकर उससे आगरे में मिले थे। फिर धीरे-धीरे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ते गए। अँग्रेजी साम्राज्य

का विस्तार भी होने लगा। हिन्दी प्रदेश में अँग्रेजी शासन १७७५ से समझना चाहिए जब नवाब वजीर आसफुद्दौला ने बनारस, गाजीपुर, जौनपुर और मिर्जापुर का कुछ भाग दिया था। १८५६ मे अवध को अँग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। आगे चल कर बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, मथुरा, आगरा आदि स्थानों पर पश्चिम तथा पूर्व की मिलीजुली संस्कृति विकसित होने लगी। यहाँ की भाषा भी अँग्रेजी की शिक्षा के कारण अँग्रेजी-भाषा रूपों को ग्रहण करने लगी। यहाँ के शिक्षित वर्गों के रहन-सहन तक प्रभावित होने लगे। यद्यपि अंग्रेजी प्रभाव का आरम्भ बंगाल और मद्रास में हिन्दी क्षेत्र से पहले हुआ। पर वहाँ के अँग्रेजी शिक्षित समुदाय मे अपनी प्राचीन वेश-भूषा का प्रेम बना रहा। हिन्दी-क्षेत्र का शिक्षित समुदाय अँग्रेजी वेश-भूषा से जल्दी प्रभावित होने लगा।

इस प्रकार जब अँग्रेज हिन्दी-क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ तो एक नवीन सभ्यता और समाज-व्यवस्था का उदय होने लगा। इस नवोदित वातावरण ने हिन्दी प्रदेश के मध्ययुगीन स्थैर्य को झकझोर दिया। यहाँ का जन-समुदाय एक परिवर्तित वातावरण मे साँस लेने लगा। मुद्रण-कला के आरम्भ ने भाषा के प्रसार और परिष्कार की नवीन सम्भावनाओं और दिशाओं को जन्म दिया। नवीन शिक्षा-संस्थाओं का जन्म हुआ। ईसाई प्रचारकों ने अपने कार्य के लिए हिन्दी को भी ग्रहण किया और स्वभावतः भाषा का नवीन संस्कार होने लगा। ऐसे आन्दोलनों और संस्थाओ का भी जन्म हुआ जिन्होंने भारतीय विचारधारा को नवीन परिवेश में रखना आरम्भ किया। सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों के रूप में यहाँ की चेतना एक नवीन उन्मेष का अनुभव करने लगी। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के इस संक्षिप्त विवरण से वह परिस्थिति स्पष्ट हो जाती है, जिसमें हिन्दी भाषा अँग्रेजी से प्रभावित होने लगी थी।

नवीन भाषागत आदर्शो का जन्म—

अँग्रेजी भाषा के प्रभाव से पूर्व हिन्दी में मुख्य रूप से काव्य-रचना ही मिलती थी। व्यवस्थित गद्य-विधाओं का अभाव था। इसीलिए हिन्दी-भाषा का शब्द-समूह वर्ण्य विषयों के वैविध्य के अभाव में विकसित नहीं हो पाया था। व्याकरण के नियम भी पूर्ण रूप से सुनिश्चित नहीं हो पाये थे। वाक्य-विन्यास छन्द या पद्य की आवश्यकताओं में पड़कर अनिश्चित ही था। साथ ही संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग प्रायः नहीं होता था। बोलियो की संरचना में तद्भवों का ही बाहुल्य था। विराम-चिह्नों का भी अभाव था। इन्हीं कारणों से विभिन्न भाषा-शैलियाँ भी अज्ञात थीं। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति की शक्तियाँ प्रसुप्त ही पड़ी थीं। अँग्रेजी के प्रभाव से गद्य की विधाएँ पनपने लगीं। पत्रकारिता और जीवन की नवीन परिस्थितियाँ नवीन भाषा-रूपों और भाषा-शैलियों के विकास की आवश्यकता को स्पष्ट करने लगीं। इन नवीन पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दावली के नवीन स्रोतों की खोज होने लगी। एक ओर भाषा में तत्सम, पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य होने लगा तथा दूसरी ओर अँग्रेजी शब्दों के मूल और

उनके संस्कृत के अनूदित रूप प्रयोग में आने लगे। शासन-व्यवस्था, शिक्षा-केन्द्रों तथा वैज्ञानिक विषयों से सम्बद्ध अँग्रेजी शब्दावली हिन्दी में आने लगी। यद्यपि कुछ शुद्धतावादी शुद्ध अँग्रेजी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे, फिर भी इसे एक ऐतिहासिक आवश्यकता समझने वाले विचारक भी थे। अयोध्या प्रसाद खत्री के शब्दों में : "अँग्रेजी भाषा की शिक्षा पाने से, अँग्रेजों की निर्मित वस्तुओं का इस देश में प्रचार होने से अँग्रेजी शब्द भी हिन्दी में अवश्य आयेंगे, यह इतिहास की बात है।... बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना सा कर डालना, जिससे भाषा दिन प्रतिदिन अमीर होती जाय, यह भी एक बड़ा काम है और सबसे बड़ा काम है अपनी भाषा के विषयों को दूना-चौगुना करते जाना अर्थात् जो-जो विषय भाषा में पहले कम थे, उनको मिला देना और जो विषय कभी थे ही नहीं उनको बाहर से ला भरती करना, इन सबका असर यह होगा कि भाषा की नमन शक्ति बहुत बढ़ जायेगी।......हमारे देखते ही देखते अँग्रेजी मेमों ने हिन्दुस्तानी गहनों का पहनना प्रारम्भ कर दिया, जैसे सोने की चूड़ियाँ, जड़ाऊ कंठा आदि। इसी तरह हम अपनी भाषा को अँग्रेजी भाषा के आभूषणों से आभूषित करें तो इसमें क्या क्षति है।[1]" आगे शुद्धतावादियों ने अँग्रेजी के शुद्ध शब्दों के स्थान पर अनुवादित शब्दों के प्रयोग का पक्ष-समर्थन किया।

शब्द-समूह के अतिरिक्त व्याकरण-रचना भी कुछ-कुछ प्रभावित होने लगी। फोर्टविलियम कालिज के एक प्रोफेसर लेफ्टिनेन्ट विलियम प्राइस के निरीक्षण में लल्लू लाल जी ने अपना 'ब्रजभाषा व्याकरण' अँग्रेजी पद्धति पर लिखा। यह रचना सन् १८१२ में हुई। इसके पश्चात् फादर एडम्स ने 'हिन्दी व्याकरण' प्रकाशित कराया। यह भी अँग्रेजी पद्धति पर ही लिखा गया था। कामताप्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि इसके अनन्तर लिखे जाने वाले हिन्दी व्याकरण इसी के आदर्श को मान कर बनाए। कामताप्रसाद गुरु का 'हिन्दी व्याकरण' (१९२०) भी इसी पद्धति पर लिखा गया। वाक्य-विन्यास का विवेचन तो अँग्रेजी व्याकरण पर ही आधारित है।

हिन्दी भाषा में अल्प-विराम, अर्द्ध विराम, निर्देशक, पूर्ण विराम आदि चिह्नों का प्रयोग अँग्रेजी की पद्धति पर होने लगा। कुछ का प्रयोग लल्लूजीलाल और सदलमिश्र ने अपनी रचनाओं में किया। राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु में तो इनका नियमित प्रयोग मिलता है। श्रीनिवासदास ने अपने उपन्यास 'परीक्षा गुरु' की भूमिका में अँग्रेजी से गृहीत विराम-चिह्नों के प्रयोग की चर्चा भी है। स्वामी सत्यदेव ने अपनी पुस्तक 'लेखन-कला' (१९१६) में इनके सम्बन्ध में उचित सामग्री दी। गुरू ने भी अपने व्याकरण में इनके प्रयोग के नियमों के सम्बन्ध में कुछ पृष्ठ लिखे हैं।

अँग्रेजी के प्रभाव से शैली और वाक्य-विन्यास का एक नवीन युग आरम्भ हुआ। नवीन भावों और विचारों के जटिल रूपों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन वाक्य-विन्यास आवश्यक हो गया। अँग्रेजी की शिक्षा ने जाने-अनजाने अँग्रेजी पद्धति के

१. अयोध्या प्रसाद खत्री, खड़ी बोली का पद्य (१८८८) पृ० १६-१७

वाक्य-विन्यास की प्रेरणा दी । अँग्रेजी लेखकों की शैली का अनुकरण भी होने लगा। इस अनुकरण के कारण वाक्य-विन्यास का प्रभावित होना स्वाभाविक था। हिन्दी भाषा की संरचना और उसके आदर्शों में जो परिवर्तन अँग्रेजी के प्रभाव से हुआ, उससे निश्चित ही भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में विकास हुआ। जीवन के नवीन पक्ष और ज्ञान-विज्ञान की नवीन धाराओं को अभिव्यक्त करने की नवीन पद्धतियों के आगमन ने हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाया। यह बात निस्संकोच स्वीकार की जा सकती है।

प्रभाव की विशिष्ट रूपरेखा—ऊपर अँग्रेजी के हिन्दी पर प्रभाव की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। संसार की सभी उन्नत भाषाएँ बाह्य प्रभावों के प्रति ग्रहणशील दृष्टि रखकर ही उन्नत और समृद्ध हुई हैं। अंग्रेजी का विकास भी विदेशी प्रभावों की स्वीकृति के कारण हुआ है। सोलहवीं शताब्दी से ही अग्रेजी ने हिन्दी शब्दों को अपनाना आरम्भ कर दिया था।[1] सस्कृत ने स्वयं उन स्रोतों से अपनी समृद्धि के तत्त्व ग्रहण किये। इसलिए यदि हिन्दी भी आरम्भ से अन्य प्रभावों को ग्रहण करती रही, तो यह दोष नहीं माना जाना चाहिए। हिन्दी भाषा पर पड़ने वाले अग्रेजी प्रभाव का अध्ययन इन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : शब्द समूह, मुहावरे और कहावतें, व्याकरण, वाक्य-विन्यास, विरामचिह्न, अनुच्छेद और शैली।

(क) **शब्द समूह**—किसी विजेता अल्पमत के शब्द-समूह का विजित बहुमत की भाषा में प्रवेश स्वाभाविक होता है। हिन्दी में भी अग्रेजी के मूल और अनुवादित शब्द प्रवेश पाने लगे। हिन्दी में अग्रेजी शब्दों का प्रथम प्रयोग रीवाँ-राज विश्वनाथ-सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' में मिलता है। लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या के विजय समारोह में एक नर्तकी इंग्लैंड से भी आती है। वह राम की प्रशंसा में यह गीत गाती है—

ए किंग हितकारी माई डियर वेरी।
लिबरल एन्ड बरेन विश हेरी।
गुड स्प्रेड माइ सिन टाप लाड।
गुड आलट्रैम विश्वनाथ आफ गाड।[2]

पर ये शब्द हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार ढल कर नहीं आए हैं। अग्रेजी शब्दों के प्रयोग की परम्परा में उक्त पद्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके पश्चात् हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' [कलकत्ता] के अंकों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस पत्र से पूर्व लल्लूलाल ने अपने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने अपने 'नासिकेतोपाख्यान' के भूमिका भाग में कुछ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है। पर वे शब्द अत्यल्प हैं : गवर्नर जनरल, लार्ड, कप्तान, डाक्टर, लिपटन, कम्पनी

१. मेरी एस० सरजीनसन : 'ए हिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेन वर्ड्स इन इंगलिश', पृ० २२०-२६
२. विश्वनाथसिंह : 'आनन्द रघुनन्दन', (बनारस, १९२८) पृ० १४२

आदि। उदंत मार्तंड में शासन सम्बन्धी [गवर्नर जनरल, काउन्सिल, कम्पनी, लार्ड, गवर्नमेंट, गेजेट, सुपरीम कोर्ट, पलटन, मेजर आदि] अंग्रेजी महीने के नाम तथा सामान्य शब्दों [फार्द, सेक्रटरी, मिसियर्स, रसीद आदि] का प्रयोग मिलता है। इस समाचार-पत्र में अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी अनुवाद-रूप भी बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' भी कलकत्ते से ही प्रकाशित हुआ था।[1] इसके सम्पादक श्यामसुन्दर सेन थे। इसमें अंग्रेजी के मूल और अनुवादित शब्द प्रयुक्त होते थे। कुछ अनुवादित शब्दों के अनुवादित रूप इस प्रकार थे: Politics=राजविद्या; Legislative=व्यवस्थापिका; Railway Train=कल की गाड़ी; Advertisement=विज्ञापन। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि बंगाली भाषा तत्सम बहुला भाषा है। उक्त अनुवादित शब्द रूप बंगाली में प्रयुक्त तत्समों से ही आगत है। इनमें से बहुत से शब्द आज भी प्रचलित हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी भाषा की शब्दावली पर अंग्रेजी प्रभाव पहले-पहल बंगाल में ही पड़ना आरम्भ हुआ।

अंग्रेजी प्रभाव बंगाल से आरम्भ हो कर पश्चिम की ओर चलने लगा। अब इस प्रभाव का केन्द्र बनारस बनने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५) तथा बालकृष्ण भट्ट (१८४ -१९१४) का नाम इस प्रभाव की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' (१८६९), हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७३) तथा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (१८ ३) नामक पत्रों के द्वारा इस प्रभाव का विस्तार किया। बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' ने भी योगदान दिया। नागरी प्रचारिणी सभा (स्थापना १९३) ने विभिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्दों की सूचियाँ तैयार कीं। इन सूचियों में अंग्रेजी के मूल और अनुवादित शब्दों को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' ने भी इस क्षेत्र का विस्तार ही किया।

भारतेन्दु युग में अंग्रेजी के आगत शब्दों को इन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (१) शासन सम्बन्धी शब्द जैसे जन्ट मजिस्टर, वारन्ट, अपील, पीनल कोड, कोर्ट मार्मल, डेक्री, टैक्स आदि। (२) दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के नाम जैसे बक्स, चुरुट, बिस्कुट, कोट, पतलून, बूट, हैट, लालटेन, लवेन्डर, बुरुश, हारमोनियम बाजा, अलबम, पालिस आदि। (३) अंग्रेजी द्वारा प्रवर्तित विभागों के नाम, जैसे—पोस्ट आफिस, मूनिसीप्यालिटी अस्पताल, चेम्बर आफ कामर्स, होटेल, अडीटर, पब्लिक-वर्क, जेल, कम्पनी। (४) शिक्षा सम्बन्धी शब्द: हाईस्कूल, नारमल स्कूल, कालिज, प्रिंसीपल, क्लास, यूनीवर्सिटी, फेलोसिप, कोमा, सेमीकोलन, पैरेनथीसिस, मेडीकल आदि। (५) वैज्ञानिक शब्द—ग्यास, फासफरस, ऐसिड, बैलून आदि। (६) साहित्यिक-सांस्कृतिक शब्द—क्लब, ऐसोसियेशन, सोसाइटी, मिस्टर, इजूकेटिड, मेमोरियल,

१. जून, १८५४ से प्रकाशित: ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय: 'हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक पत्र' 'विशाल भारत', मई १९३९, पृ० ५६६

ड्रामा, आपेरा आदि । (६) अंग्रेजी महीनों के नाम । इस युग में अंग्रेजी के मूल शब्दों की एक बड़ी संख्या प्रयुक्त होने लगी । पूर्व के युग में अधिकांश में न्याय और शासन सम्बन्धी शब्दावली ही प्रयुक्त होती थी । भारतेन्दुयुगीन पत्र-पत्रिकाओं में अग्रेजी के अनुवादित शब्दों की संख्या में भी वृद्धि हुई । अनुवादित शब्दों के वर्ग भी मूल शब्दों के वर्गों के समान ही हैं ।

भारतेन्दु-युग के कुछ कवियों ने भी अपनी काव्य-पंक्तियों में भी अग्रेजी शब्दों का समावेश किया । डा० केसरी नारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्यधारा' में अम्बिकादत्त व्यास की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

'पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर ।
भालू चरबी चर्चि लवेंडर की लगाई फिर ।'

स्वयं भारतेन्दु जी की रचनाओं में इस प्रकार के शब्द मिलते हैं । भारतेन्दु जी अपने पत्रों पर 'Forget me not', 'To love is heaven and heaven is love' जैसे सिद्धान्त-वाक्य लिख देते थे । भारतेन्दु जी व्यवहार में भी अंग्रेजी के शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे । उनके अन्तिम समय का एक प्रसङ्ग देखिए : "... ... ६ जनवरी १८८५ ई० प्रातःकाल के समय जब भीतर से बीमारी का हाल पूछने के लिए मजदूरिन आई तो आपने कहा कि ...जाकर कह दो कि हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित नया-नया छप रहा है, पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की, सीन हो चुकी, देखे लास्ट नाइट कब आती है ।"[1]

पं० बालकृष्ण भट्ट की 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका में भी अग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुल होता था । पर मूल शब्दों की संख्या में इतनी वृद्धि नही हुई जितनी अनुवादित शब्दों में । हास्य और व्यंग्य पूर्ण काव्य रचनाओ में भी अंग्रेजी के शब्द प्रयुक्त होने थे —

रैन्ट लो का गम करें या बिल ऑफ़ इनकम टैक्स का ।
क्या करें अपना नहीं है सैन्स राइट नाउ ए डेज़ ।
फंस गई जाने हमारी किस मुसीबत में एलास ।
नींद तक आती नहीं है होल नाइट नाउ ए डेज़ ।।[2]

पर इन रचनाओ की लोकप्रियता सामयिक थी, स्थायी नहीं । इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त तथा अन्य लेखकों की रचनाओं में बहुत से अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग मिलता है । भट्ट जी के निबन्धों से कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"शांडिल्य ने जो कुछ निरे ख्याल थ्योरी में रक्खा, उसको वल्लभाचार्य ने प्रेक्टिस करके दिखला दिया ।"[3]

---

१. अयोध्या प्रसाद खत्री, 'खड़ी बोली का पद्य' (१८८६), पृ० ३१-३२

२. वही पृ० १३ पर उद्धृत ।

३. धनञ्जय भट्ट द्वारा सम्पादित : 'भट्ट निबन्धावली', भाग २, (१६४८) पृ० ४१

"नेशन में नैशनेलिटी जातीयता और आध्यात्मिक उन्नति स्पिरिचुआलिटी सदा चलती रहती है .....।"[1]

"उतार-चढ़ी कम्पिटीशन से तो केवल दौड़-धूप स्ट्रगल को बुरी न कहेंगे।"[2]

"...ऋग्वेद में डान उषा को देवी कह कर उसकी कमनीय कोमल मूर्ति के वर्णन में कवित्व प्रतिभा को छोर तक पहुँचा दिया है।"[3]

इस प्रकार हिन्दी में अंग्रेज़ी के शुद्ध और अनुवादित शब्दों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती थी। इस वृद्धि के पीछे नवीन विषयों के ज्ञान, अध्ययन और अध्यापन की नवीन परम्पराएँ थीं। साथ ही भारतीय जीवन की नवीन चेतना और विकास के नवीन उन्मेषों ने अंग्रेज़ी शब्दों की आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी। नवीन शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित शब्द भी जनता में प्रचार पाने लगे। इस प्रगति के प्रति शुद्धतावादियों की प्रतिक्रिया भी हो रही थी। वे अंग्रेज़ी के शुद्ध शब्दों के प्रयोग को तो कुछ-कुछ रोक सके, पर अनुवादित शब्दों की धारा पर रोक न लगा सके। कुछ ऐसे विद्वान भी थे, जो इस प्रकार के शब्द-ग्रहण की प्रवृत्ति का समर्थन करते थे। फिर भी अनुवादित शब्दों के ग्रहण की प्रवृत्ति ही बलवती होती गई।

नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों ने विभिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्दों का कोष प्रकाशित करने का निश्चयं किया। इसका आधार वेब्स्टर का अंग्रेज़ी कोष बना। इसके लिए जो समिति बनाई गई, उसने निम्नलिखित सिद्धान्त स्वीकार किये :

"१. पारिभाषिक शब्दों को चुनने के लिए उपयुक्त हिन्दी शब्दों को पहले स्थान दिया जाय।

२. इन शब्दों के अभाव में मराठी, गुजराती, बंगला और उर्दू के उपयुक्त शब्द ग्रहण किये जायँ।

३. इनके अभाव में पहले संस्कृत के शब्द ग्रहण किये जायँ, तब अंग्रेज़ी के शब्द रखे जायँ और अन्त में संस्कृत के आधार पर नये शब्द-निर्माण किये जायँ।"[4]

इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों की विषयानुक्रम सूचियाँ अंग्रेज़ी कोषों के आधार पर ही बनाई गईं। साथ ही अंग्रेज़ी शब्दों के अनुवाद के लिए स्रोत निर्धारित किये गये। उपयुक्त शब्द न मिलने पर ही अंग्रेज़ी के शुद्ध शब्द रखने का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। पारिभाषिक शब्दावली की रचना में सबसे बड़ी आवश्यकता उपसर्गों और प्रत्ययों के अनुवाद की होती है। ये भाषा की वे शक्तियाँ हैं जो नवीन शब्दों के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। नीचे कुछ रसायन-शास्त्र के शब्दों के साथ उपसर्गों की अनुवादित सूची दी गई है—

---

१. धनञ्जय भट्ट द्वारा सम्पादित : 'भट्ट निबन्धावली', भाग २, (१९४८) पृ० ९

२. वही, पृ० १२५

३ वही, पृ० ८२

४. श्यामसुन्दर दास, 'मेरी आत्म कहानी', पृ० ४५-५५

Hypo=उप : Hyposulphite=उपगंधायित
Meta=मित : Metaphosphate=मित स्फुरित
Mono=एक : Monoxide=एकम्लजित
Per=परि : Persulphate=परिगंधित
Poly=बहु : Polyatomic=बहुवर्णिक

इस प्रकार के उपसर्गों की खोज की तथा उनके पारिभाषिक प्रयोग की प्रेरणा अंग्रेजी के प्रभाव से ही प्राप्त हुई। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस कार्य का आरम्भ करके बहुत बड़ा कार्य किया।

पीछे 'सरस्वती' ने इस पारम्परा को बढ़ाया। अंग्रेजी के शुद्ध शब्दों की सूचियाँ भी 'सरस्वती' के पुराने अङ्कों से प्राप्त की जा सकती हैं। अनुवादित शब्दों की सूचियाँ पहले की अपेक्षा अधिक स्फीत हो गईं और वर्गों के वैविध्य में भी विस्तार आया।[1] साहित्यालोचन के विकास और उस पर पड़ने वाले अँग्रेजी सिद्धान्तों के प्रभाव से आलोचनात्मक शब्दों का नवीन वर्ग सामने आया। अन्त में अँग्रेजी के शुद्ध और अनुवादित शब्दों के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष दिया जा सकता है : "अँग्रेजी भाषा के जो शब्द अपने शुद्ध रूप में ग्रहण किए गये, जिनका प्रयोग केवल एक दो बार ही हुआ था। और फिर उनके स्थान पर, यहाँ के ही बने हुए शब्द प्रयोग में आने लगे; दूसरा वर्ग उन शब्दों का है, जो बहुत समय तक प्रयोग में आते रहे है और अभी और भी प्रयोग में आयेंगे, किन्तु आगे चलकर उनके स्थान पर यहाँ के ही बने हुए शब्द प्रयोग में आने लगेंगे; तथा तृतीय वर्ग उन शब्दों का है, जिनका प्रयोग उस समय तक रहेगा, जब तक हिन्दी भाषा चलेगी।"[2] अँग्रेजी के शब्दों को ग्रहण करने से हिन्दी की शब्दावली विस्तृत हुई। उसकी अभिव्यंजना की शक्ति और शैली भी विकसित हुईं। यह क्रम अब तक चल रहा है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवि भी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हैं। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के वृहत् उद्योग चल रहे हैं।

(ख) शब्दावली : मुहावरे—ऊपर अँग्रेजी से गृहीत और अनुवादित शब्दों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। शब्द ही नहीं मुहावरे भी अँग्रेजी से हिन्दी ने ग्रहण किय। मुहावरों का ग्रहण प्रायः अनुवादित रूप में ही हुआ। इनको भारतेन्दु युग में ही ग्रहण किया गया जाने लगा था। भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त अनुवादित अंग्रेजी मुहावरो के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : सुप्रभात (Good-morning) नवयुग्म पर्यटन (Honey moon) विचार-बिन्दु (Point of view) दृष्टिकोण (Angle of vision) साहित्य-समालोचना (Literary criticism) विहंगम दृष्टि (A bird's eye view) सर्वतोन्मुखी (All round),

---

१. इस प्रकार की सूचियों के लिये देखिये, डा० विश्वनाथ, हिन्दी भाषा और साहित्य पर अँग्रेजी प्रभाव, पृष्ठ १५६-१६०

२. डा० विश्वनाथ, हिन्दी भाषा और साहित्य पर अँग्रेजी प्रभाव, पृष्ठ १६१

तदन्तर (After that) विशेषकर (Specially) प्रथम तो (Firstly) दूसरी ओर (On the other hand)। इस प्रकार की शब्दावली के या मुहावरों के कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं, जो अपने जैसे ही ज्ञात होते है, अनुवादित नहीं। मुहावरों के ग्रहण से भी हिन्दी की अभिव्यंजना-शैली में वृद्धि हुई है।

मुहावरों के अतिरिक्त कुछ अँग्रेजी कहावतों और लोकोक्तियों के अनुवादित रूप भी हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे थे। इन लोकोक्तियों में सर्वमान्य, सार्वभौम सत्य-निहित रहते हैं। पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक भाषा अपने अनुसार भाषा का माध्यम उन सत्यों को प्रदान करती है। अँग्रेजी की कहावतों के अनुवाद भी हिन्दी ने ग्रहण किए। पत्र-पत्रिकाओं से गृहीत कुछ कहावतों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. As is the God, so is the worshipper : जैसी रूह तैसे फ़रिस्ते।
२. More haste less speed, अति उतावली मन्द गति।
३. All that glitters is not gold. जो चमकत सो सुवरन नाहीं।
४. Unity is strength समुदाये शक्तिः
५. An idle mind is satan's workshop. निष्क्रिय मन शैतान का कार्यालय
६. The art of boring people is to tell everything. : दुनियाँ भर की बातें ठूँस देना ही स्रोताओं को उबा देने का साधन है।

इन अनुवादित कहावतों के अतिरिक्त कुछ कहावतों का ज्यों का त्यों प्रयोग भी पत्र-पत्रिकाओं में आरम्भ से होने लगा था। जहाँ अँग्रेजी शब्दों के आगमन से हिन्दी में नवीन विषयों की अभिव्यक्ति की शक्ति का उदय हुआ, वहाँ लोकोक्तियों के प्रयोग से हिन्दी की शैली और अभिव्यंजना के रूपों का विकास हुआ।

(ग) व्याकरण—हिन्दी व्याकरण की रचना के पीछे अँग्रेजी व्याकरण की कितनी प्रेरणा कार्य कर रही थी, इस पर संक्षेप में पीछे विचार किया जा चुका है। अँग्रेजी प्रभाव से पूर्व हिन्दी का कोई व्यवस्थित व्याकरण नहीं लिखा गया था। अँग्रेजों को हिन्दी भाषा को बोलने और लिखने की आवश्यकता हुई। इसीलिये उन्होंने हिन्दी के अँग्रेजी शैली में व्याकरण लिखे या लिखाये। आरम्भ में हिन्दी व्याकरण के नाम पर उर्दू की व्याकरणगत विशेषताओं का ही विश्लेषण किया गया। ड़न्कन फार्ब्स ने 'ग्रामर ऑफ हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' (१८४६) में हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में केवल चार पृष्ठ लिखे। शेष पुस्तक में उर्दू का ही विवेचन किया गया। फोर्ट विलियम कालिज से ब्रजभाषा-व्याकरण (१८११) भी प्रकाशित कराया। इसकी रचना लल्लू लाल जी ने केप्टन टेलर की सहायता से की।[1] कामताप्रसाद गुरू ने

१. टॉमस रोएबक : 'दि एनल्स ऑफ दि कॉलिज आफ फोर्ट विलियम' (१८१९) पृष्ठ २९१

डा० गिलक्राइस्ट के अँग्रेजी भाषा में 'हिन्दी व्याकरण' का उल्लेख किया है।[१] इसके पश्चात् फादर एडम्स ने अँग्रेजी ढङ्ग पर एक व्याकरण बनाया। पं० रामजसन ने 'भाषा तत्त्व बोधिनी' तथा पं० श्रीलाल ने 'भाषा चन्द्रोदय' की रचना संस्कृत के नियमों के आधार पर करना चाही। नवीनचन्द्र राय का 'नवीन चन्द्रोदय' (१८६९) भी इसी प्रकार का प्रयत्न था। पं० हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषा तत्त्वदीपिका' में महाराष्ट्री से पारिभाषिक शैली ली गई, पद्धति अँग्रेजी की रही। राजा शिवप्रसाद ने 'हिन्दी व्याकरण' (१८७५) लिखा। इसकी शैली भी अँग्रेजी व्याकरण की सी थी। इसी प्रकार के अन्य अनेक व्याकरण शिक्षा-संस्थाओं की संख्या-वृद्धि के साथ बनने लगे। इस प्रकार अँग्रेजी व्याकरण की प्रेरणा से, अँग्रेजी पद्धति पर ही हिन्दी के अधिकांश व्याकरणों की रचना हुई।

साथ ही कुछ विद्वानों ने भाषा-वैज्ञानिक आधार पर हिन्दी के व्याकरण लिखे। आगे के वैज्ञानिक प्रयत्नों के लिये ये व्याकरण प्रेरणा-स्रोत बने। इन व्याकरणों में अधिक प्रसिद्ध ये हैं : जॉनबीम्स 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ इन्डो-आर्यन लैंग्वेजिज़ ऑफ इन्डिया' (१८७२—१८७९) ; एस० एच० के लॉग 'हिन्दी ग्रामर' (१८७५) तथा हॉर्नली 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ गौडियन लैंग्वेजिज़ विद स्पेशल रिफरेंस टू ईस्टर्न हिन्दी' (१८८०) तथा रेवरेण्ड ई० ग्रीव्स का 'ग्रामर ऑफ मॉडर्न हिन्दी' (१८९६)। कामताप्रसाद गुरू ने शब्दों के वे ही भेद किये हैं जो अँग्रेजी के व्याकरणों में मिलते हैं। वाक्यों और उपवाक्यों के विवेचन की शैली तो अँग्रेजी से ही गृहीत है। विराम-चिह्नों के प्रयोग के नियम तो किसी अँग्रेजी व्याकरण से गृहीत प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अँग्रेजी और संस्कृत दोनों ही प्रणालियों से हिन्दी-व्याकरण की रचना की परम्पराएँ चलीं। पर अँग्रेजी की पद्धति अधिक लोकप्रिय होती गई। इस प्रकार हिन्दी व्याकरण की संरचना पर अँग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव माना जा सकता है।

(घ) **वाक्य विन्यास**—वाक्य रचना में पद-क्रम मुख्य होता है। हिन्दी तथा अंग्रेजी वाक्य-रचना में इस दृष्टि से अन्तर है। अंग्रेजी वाक्य का पद-क्रम यह है : कर्ता+क्रिया+कर्म तथा हिन्दी में पद-क्रम इस प्रकार है : कर्ता+कर्म+क्रिया। पर भाव-व्यजना या बल-प्रदान की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर लेखक इस क्रम को बदल भी सकता है। अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी पद-क्रम के सम्बन्ध में लेखकों ने कुछ स्वतंत्रता बरती है। भारतेन्दु जी के 'नाटक' शीर्षक लेख में पद-क्रम अंग्रेजी की भाँति है : 'नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया।' इसमें कर्म क्रिया के पश्चात् आया है। यह सम्भवतः इसलिए किया गया है कि लेखक नाटक के अर्थ पर बल देना चाहता है। साथ ही ऐसे वाक्य भी मिलते हैं : 'धोखा वह किसी को नहीं देता।'

१. हिन्दी व्याकरण (सं० १९२७) भूमिका, पृष्ठ ६

इसमें कर्म प्रारम्भ में ही आ गया है। इस प्रकार की वाक्य-रचना पर अंग्रेजी का प्रभाव माना जा सकता है। सरदार पूर्णसिंह के 'मजदूरी और प्रेम' से कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं : "विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता, सन्ध्या वंदनादि इसे नहीं आते, गिरजे-मन्दिर से इसे सरोकार नहीं, केवल सागपात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है।" इस उदाहरण में प्रत्येक उपवाक्य में कर्ता से पहले कर्म आया है क्योंकि लेखक कर्म पर कर्ता की अपेक्षा अधिक बल देना चाहता है।

पद-क्रम के अतिरिक्त हिन्दी के नवीन उपवाक्य-विधान पर भी अंग्रेजी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिस वाक्य में कर्ता को प्रथम स्थान पर रखकर जहाँ सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के साथ, एक विशेषण उपवाक्य भी लिख दिया जाता है, वहाँ अंग्रेजी से गृहीत व्यवस्था समझनी चाहिए। कामताप्रसाद गुरू के अनुसार इस प्रकार की वाक्य-रचना अंग्रेजी प्रभाव से पूर्व हिन्दी गद्य में प्रचलित नहीं थी और सर्व प्रथम लल्लू जी लाल के 'प्रेम सागर' (१८१०) में देखने को मिली। उन्होंने यह व्यवस्था सम्भवतः अंग्रेजी से ही ग्रहण की है।[१] 'फोर्ट विलियम कालिज' के विद्यार्थियों के निबन्धों में इस प्रकार का वाक्य-विन्यास मिलता है। 'प्रेमसागर' का एक वाक्य उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है, 'यह पाप रूप, यह काल आवरण, डरावनी सूरत जो आपके सम्मुख खड़ा है सो पाप है।' राजा शिवप्रसाद का एक वाक्य इस प्रकार है : "उस बड़े मन्दिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज नींव खुद गई।" (राजा भोज का सपना)। निश्चित रूप से इस वाक्य की रचना पर अंग्रेजी का प्रभाव है।

हिन्दी में ऐसी वाक्य-व्यवस्था भी मिलती है, जिसमें कर्ता और क्रिया की एक लम्बी सूची मिलती है। सरदार पूर्णसिंह का एक वाक्य देखिए : "पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना, क्या स्वाध्याय से कम है।" अंग्रेजी में भी इस प्रकार की वाक्य-रचना बहुत प्रचलित थी। हरबर्ट रीड ने वर्ड्स तथा बर्क के ऐसे अनेक वाक्य उद्धृत किए है।[२] बर्क के भाषण आरम्भ में बहुत लोकप्रिय थे। उनके प्रभाव से इस प्रकार के वाक्य प्रभावित हो सकते हैं।

प्रासंगिक उपवाक्य (Parenthetical clause) का हिन्दी में प्रयोग भी अँग्रेजी के प्रभाव से प्रतीत होता है। यह उपवाक्य वाक्य के भीतर व्याकरण के नियमों से स्वतंत्र एक छोटा सा वाक्य होता है। इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग द्विवेदी युग के लेखकों में मिलता है। साथ ही अतिरिक्त स्थितियों (extraposition) के प्रयोग भी हिन्दी में मिलते हैं। प्रेमचन्द का एक वाक्य देखिए : 'एक क्षण के

---

१. कामताप्रसाद गुरू, हिन्दी व्याकरण; (१९२७) पृ० ६०७

२. English Prose style, (1956) P. 43

अनन्तर वाटिका में एक साधु आया, सिर पर जटायें, शरीर पर भस्म रमाये ।[१] इस प्रकार की वाक्य-रचना अंग्रेजी प्रभाव से पूर्व नहीं मिलता । इससे यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि यह व्यवस्था अंग्रेजी के प्रभाव से प्रसूत है । एक प्रकार के और विधेयांशों का विवरण जे स्पर्सन ने दिया है (quasipredicative) इसके उदाहरण भी हिन्दी में मिलते हैं : "यहाँ की मूर्तियाँ बोल रही है......वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं ।[२]"

अंग्रेजी में भी ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जहाँ कर्ता और कर्म दोनों का लोप हो गया है । यह प्रक्रिया-वर्णन को स्पष्टता प्रदान करने के लिए की जाती है । हिन्दी में में भी ऐसे वाक्यों का प्रयोग मिलता है । सरदार पूर्णसिंह का एक वाक्य देखिए : "इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी :" वाक्य का यह रूप भी अंग्रेजी के प्रभाव के पश्चात् ही हिन्दी में आया ।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी के वाक्य-विन्यास पर भारतेन्दु युग से पूर्व से ही परिलक्षित होता है । आज गद्य की जो नई-नई ललित विधाएँ या आज का नवीन कथा-साहित्य इस प्रकार के वाक्य-गत प्रयोगों से भरे हुए हैं । इनमें से अधिकांश प्रयोग अंग्रेजी के प्रभाव की सूचना देते हैं । नवीन गद्य-शैली के विकास में वाक्यों के नवीन प्रयोगों का बहुत अधिक हाथ है । व्याकरण की उपेक्षा जहाँ झलकती है, वहाँ स्वच्छन्द अभिव्यंजना का सौन्दर्य निखर आता है ।

(ङ) **विराम-चिह्न और अनुच्छेद**—अंग्रेजी के प्रभाव से पूर्व विराम आदि के चिह्नों का प्रयोग हिन्दी में होता ही नहीं था । अनुच्छेदों में वक्तव्य को विभाजित करने की पद्धति भी हिन्दी ने अंग्रेजी से ही ग्रहण की । जैसा कि पहले देखा जा चुका है, विराम-चिह्नों का सर्व प्रथम प्रयोग लल्लू लाल जी जैसे फोट विलियम कालिज से सम्बद्ध लेखक करने लगे थे । तत्पश्चात् 'उदन्तमार्तंड' आदि के हिन्दी पत्रों मे इनका प्रयोग अधिक व्यवस्थित हो गया । राजा शिवप्रसाद ने पूर्णत: अंग्रेजी शैली पर इनका प्रयोग किया । भारतेन्दु जी ने प्रयोग तो किया पर कोई स्पष्ट नियम वे निर्धारित न कर पाए । नाटक-साहित्य में विशेष रुचि रखने के कारण विस्मयादि बोधकों का तो इन्होने बहुत प्रयोग किया । श्री निवासदास ने 'परीक्षा-गुरु' की भूमिका मे इन चिह्नों के प्रयोग के सम्बन्ध में निर्देश तो किया है, पर वे स्वयं पूर्ण रूप से चिह्न-विधान को नही अपना पाए । संक्रान्ति युग के लेखकों बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास तथा बालमुकुन्द गुप्त ने पूर्ण विराम और अर्द्ध विरामों का निर्भ्रान्त प्रयोग की विधि अपना ली थी । तर्क की प्रणाली के आधार पर इनका प्रयोग द्विवेदी युग से ही आरम्भ हुआ । अंग्रेजी के प्रभाव से इन चिह्नों के प्रयोग का आरम्भ भी

१ प्रेम पूर्णिमा (१९४६) पृ० १२६

२. श्यामसुन्दरदास (सम्पादित) : हिन्दी निबन्ध माला, द्वितीय भाग, (१९३३) पृ० २८-२९

और उत्तरोत्तर इनमें स्पष्टता और तर्कपूर्णता भी आती गई। इनसे भी गद्य की शैली को नवीन शक्ति प्राप्त हुई।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि हिन्दी भाषा जब मध्यकाल की स्वर्ण-शृङ्खलाओं को तोड़ कर आधुनिक युग में प्रविष्ट होने लगी, तभी अंग्रेजी प्रभाव इसकी गति-दिशा को निर्धारित करने लगा। जहाँ नवीन विषय और साहित्य के नवीन रूप हिन्दी ने ग्रहण किए, वहाँ उनके अनुकूल भाषा की अभिव्यंजना शक्ति और शब्दावली की समृद्धि अंग्रेजी के प्रभाव से आने लगी। चाहे अंग्रेजी के शुद्ध तत्सम रूपों के प्रयोग के प्रति शुद्धतावादी आन्दोलन चला हो, पर रूपान्तरित प्रभाव भाषा की रगों में होकर हिन्दी की आन्तरिक शक्तियों का विकास करने लगा। प्रत्येक भाषा इस प्रकार के प्रभावों को आत्मसात् करके ही अपनी शक्ति का विकास करती है। मध्यकाल में जिस प्रकार शासन, न्याय और संस्कृति से सम्बद्ध शब्दावली हिन्दी ने फारसी से ग्रहण की उसी प्रकार आधुनिक युग में अंग्रेजी से। भाषा में प्रयुक्त वाक्य विन्यास के विविध प्रयोगों ने प्रभावोत्पादक शैली को जन्म दिया। आज अंग्रेजी भाषा का प्रभाव अपना रूप तो बदल रहा है, पर समाप्त नहीं हो रहा। हमें अपनी पारिभाषिक शब्दों की रचना में अंग्रेजी से पद्धति और आधारभूमि मिल रही है। उस पर शब्दावली का भवन हम अपने निजी स्त्रोतों से निर्माण कर रहे हैं। व्याकरण भी एक मिश्रित आधार पर बनने लगा है। इस प्रकार अँग्रेजी प्रभाव की मुख्य दिशाओं का दिग्दर्शन एक भाषागत स्वास्थ्य की ओर ही संकेत कर रहा है।

४०

हिन्दी पर अपभ्रंश का प्रभाव

१. प्रस्तावना
२. अपभ्रंश : उद्भव और विकास
३. अपभ्रंश और हिन्दी : भाषा-वैज्ञानिक सम्बन्ध
४. हिन्दी साहित्य और अपभ्रंश
 १—अपभ्रंश साहित्य की प्रमुख धाराएँ : संक्षिप्त परिचय
 २—अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
५. अपभ्रंश और हिन्दी का आदिकाल
६. अपभ्रंश और हिन्दी का भक्ति-साहित्य
७. रीतिकालीन हिन्दी काव्य और अपभ्रंश
८. हिन्दी के काव्य रूप और अपभ्रंश

१. प्रस्तावना—

समस्त भारतीय भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ लिया है। हिन्दी ने भी कम नहीं लिया। हिन्दी की बाह्याकृति और अन्तरात्मा संस्कृत से उपजीव्य ग्रहण करके सजी-सँवरी हैं। संस्कृत के गौरव और उसके व्यापक साहित्य को दृष्टि में रख कर बहुत दिनों तक विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रंश का उपेक्षा की। इनको संस्कृत के अभिमानी पण्डितों ने गँवरू कहा फिर भी हिन्दी के क्षेत्र में ऐसी शक्तियों का उदय होता रहा जो प्राकृत और अपभ्रंश के रस और रूप को अपनाती रही। यदि तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय आर्य और अनार्य भाषाओं पर प्राचीन और मध्य-काल मे जितना प्रगाढ़ प्रभाव संस्कृत का रहा, उतना हिन्दी पर नहीं। मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से सम्बद्ध भाषाओं पर यह प्रभाव आज तक अधिक बना हुआ है। दक्षिण में तेलुगु कन्नड़ और मलयालम साहित्य और भाषाएँ संस्कृत से बहुत अधिक प्रभावित रहीं। शौरसेनी प्राकृत से सम्बद्ध भाषाएँ आरम्भ में तो संस्कृत के प्रभाव-सस्कार से वैशिष्ट्य के कारण अधिक समाहृत रहीं। पर धीरे-धीरे इनकी प्रवृत्ति स्वतंत्रता की ओर हो गई। इनमें प्राकृत और अपभ्रंश से अधिक प्रभाव ग्रहण किया जाने लगा और देशी तत्त्वों की प्रतिष्ठा होने लगी।

हिन्दी साहित्य का उदय और विकास उस समय हो रहा था जब संस्कृत साहित्य अपकर्ष की ओर जा रहा था। दर्शन और साहित्य के जीवन्त स्पर्श वाग्जाल और अलङ्कार के आडम्बर से घुटे जा रहे थे। पालि और प्राकृतों की परम्पराएँ लोकप्रिय थीं। इनका संपर्क जन-जीवन से कुछ-न-कुछ बना हुआ था। हीनयान,

वज्रयान, मंत्रयान, जैनागम—सभी वे सोपान हैं, जिनसे होकर वे प्रवृत्तियाँ लोकभाषा की ओर आ रही थीं, जो नाथ, सिद्ध और निर्गुणियों की वाणी को बल और प्रेरणा दे रही थीं। वैसे संस्कृत के वेदान्त आदि का प्रभाव भी था, पर अन्य परम्पराओं की अपेक्षा कम। दूसरी ओर लौकिक साहित्य में चरित-काव्य या प्रशस्ति-काव्य भी संस्कृत से नहीं, अपभ्रंश मे विशेष प्रभाव ग्रहण कर रहे थे। इस प्रकार हिन्दी के प्राचीन और मध्यकाल की साहित्य-धाराएँ अपभ्रंश के बहुत कुछ ऋणी रहे। यदि भक्तिकाल में संस्कृत को दार्शनिक विचार-धारा का प्रभाव आया भी तो काव्य रूप, छन्द-विधान, आदि सभी प्राकृत-अपभ्रंश प्रभाव से अनुप्राणित रहे। रीतिकालीन कवियों के विषय और रूप दोनों पर ही अपभ्रंश का अधिक प्रभाव रहा। रीतिकालीन आचार्यों के लक्षण-निरूपण पर संस्कृत का प्रभाव स्वीकार करने पर भी लक्ष्य या उदाहरण साहित्य पर अपभ्रंश और प्राकृतों का प्रभाव मानना ही पड़ता है। आधुनिक साहित्य पर यह प्रभाव अवश्य कम हो गया। आगे अपभ्रंश के प्रभाव पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है।

२. अपभ्रंश : उद्‌भव और विकास—

अपभ्रंश शब्द का उल्लेख वैयाकरणों और साहित्याचार्यों के द्वारा प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। पतंजलि ने महाभाष्य में इसकी ओर निर्देश किया है।[१] भर्तृहरि ने पतंजलि पूर्व व्याडि नामक आचार्य का मत उद्धृत किया है। उसमें भी अपभ्रंश का निर्देश है।[२] यहाँ इस शब्द से उन शब्द रूपों का बोध होता था, जो संस्कृत की तुलना में विकृत या भ्रष्ट थे। भरत ने अपभ्रंश नाम तो नहीं लिया, पर प्राकृतों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है : तत्सम बहुला, तद्‌भव बहुला और देशी बहुला।[३] इनके स्थानों का भी निर्धारण किया है : स्थानों के अनुसार ही नामकरण है।[४] कुछ विभाषाओं का उल्लेख भी भरत ने किया है।[५] हिमवत्, सिन्धु, सौवीर की भाषा को उन्होंने उकार बहुला कहा है।[६] यह विशेषता अपभ्रंश की भी मानी गई है। भरत ने स्पष्ट रूप से तो अपभ्रंश का उल्लेख नहीं किया, पर एक बीज रूप विशेषता की ओर संकेत अवश्य किया है। शक और आभीरों का उल्लेख भी विभाषाओं के साथ मिलता है। पर जिस अर्थ में अपभ्रंश को आज लिया जाता है, उस रूप के विकसित होने की सूचना प्राचीन निर्देशों में नहीं मिलती। इसके साहित्यिक रूप के विषय में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

१. महाभाष्य, १।१।१
२ वाक्य पदीय १।१४८
३. नाट्य० १७।२-३
४. वही १७।४६
५. वही १७.५०
६. वही १७।६२

संस्कृत के साहित्याचार्यों के उल्लेखों से अपभ्रंश के साहित्यिक रूप की सूचना अवश्य मिलती है। भामह ने अपभ्रंश को एक काव्योपयोगी भाषा के रूप में स्वीकृत करते हुए इसे काव्य का एक विशेष रूप भी माना है।[१] दण्डी ने अपभ्रंश के व्याकरणगत और काव्यगत अर्थ को स्पष्ट किया : व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश का अर्थ है संस्कृत से विकृत भाषारूप एवं काव्य में आभीरादि की बोलियाँ अपभ्रंश कहलाती हैं।[२] दण्डी के अनुसार वाङ्मय के चार भाग हैं। इनमें से एक अपभ्रंश है।[३] संस्कृत नाटकों में निम्नस्तरीय पात्र इसका व्यवहार करते थे।[४] अपभ्रंश के कुछ छन्दो का भी उल्लेख दण्डी ने किया है। इस प्रकार दंडी के समय (७वीं शती) में अपभ्रश का व्यवहार नाट्य और काव्य दोनों क्षेत्रों में होने लगा था। उसके अपने छन्द भी थे।

आगे की स्थिति में अपभ्रश के काव्य का आदर होने लगता है। राजवर्ग भी इससे प्रभावित होता है। वलभी (सौराष्ट्र) के राजा धरसेन के पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रबन्ध-रचना करते थे।[५] यह अपभ्रंश की प्रतिष्ठा का द्योतक प्रमाण है। कुवलयमाला कथा के लेखक उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५) अपभ्रंश और उसके काव्य को आदर की दृष्टि से देखते हैं।[६] रुद्रट ने भी अपभ्रंश के काव्य को संस्कृत और साहित्यिक प्राकृतों के काव्य के समकक्ष रखा है।[७] पुष्पदन्त (१० वीं शती) के अनुसार संस्कृत और प्राकृत के साथ राजकुमारियों को अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था।[८] अपभ्रंश को राजदरबार में भी आदर का स्थान मिला, इसका उल्लेख राजशेखर ने किया है। उन्होंने काव्य पुरुष के जघन अपभ्रंश को माना है। काव्य मीमाँसा से अपभ्रश के क्षेत्र-विस्तार की भी सूचना मिलती है।[९] नमि साधु ने यह भी लिखा है कि अपभ्रश के एक रूप का विस्तार मगध तक हो गया था। इनके अतिरिक्त मम्भट, वाग्भट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, और अमरचन्द्र ने अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार किया है और इसकी कोटि संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष मानी है। इस प्रकार अपभ्रंश लोक-भाषा से साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई।

३. अपभ्रंश और हिन्दी : भाषा वैज्ञानिक सम्बन्ध—

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास बहुत से विद्वान् अपभ्रंश से मानते है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से चाहे यह कथन अधिक सङ्गत न हो, पर परम्परा

---

१. काव्यालंकार, १।१६, २८
२. काव्यादर्श, १।३६
३. वही १।३२
४. वही १।३७
५. इन्डियन एन्टिक्वेरी, भाग १०, अक्टू० १८८१, पृ० २८४
६. अपभ्रंश काव्यत्रयी. गायकवाड़ सीरीज, सं० ३ ९, भूमिका पृ० ९७-९८
७. काव्यालंकार, २।११, २।१२
८. महापुराण, ५।१८।६
९. काव्यमीमांसा, अ. ३

की कड़ियाँ तो जोड़ी ही जा सकती हैं। अपभ्रंश ने जब साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया और व्याकरणिक नियम सुनिश्चित हो गए तब सुस्थिरता आना स्वाभाविक था। पर तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश बोलियाँ विकास-पथ पर अग्रसर होती रहीं। इसी क्रम में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ आती हैं। इनका आरम्भ-काल लगभग १००० ई० माना जाता है। इनके आरम्भ होने पर भी १३ वीं-१४ वीं शती तक परिनिष्ठित अपभ्रंश साहित्य में व्यवहृत होती रही। भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंश-रूप नवोदित भाषा-रूपों के साथ बहुत दिन तक मिलकर चलते रहे। साहित्यिक रूपों ने भी नवोदित भाषाओं को प्रभावित किया।

हिन्दी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में प्रमुख स्थान रखती है। हिन्द का क्षेत्र शौरसेनी, सौराष्ट्री और अर्द्ध मागधी अपभ्रंशों का क्षेत्र था। हिन्दी की पूर्वी बोलियों का सम्बन्ध अर्द्ध मागधी से, पश्चिमी बोलियों का सौराष्ट्री से तथा मध्यवर्ती बोलियों का सम्बन्ध शौरसेनी से माना जाता है। केन्द्रीय स्थिति और समृद्ध परम्परा के कारण शौरसेनी का प्रभाव विस्तृत और सघन होता गया। यहाँ तक कि सौराष्ट्री अपभ्रंश इससे भिन्न न रह कर इसमे विलीन ही हो गई। अर्द्ध मागधी में आधा अंश तो शौरसेनी का था ही मागधी का अर्द्धांश भी धीरे-धीरे इसी के रूप में ढलता गया। डा० अम्बाप्रसाद सुमन ने साहित्यिक ब्रजी और अवधी की हेमचन्द्रीय अपभ्रंश से तुलना की है।[1] अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष दिया है: "सूरसागर तथा रामचरित-मानस की भाषा की प्रकृति से पर्याप्त साम्य है। प्रत्ययों की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्रीय अपभ्रंश के पदों की विभक्तियों के विकसित रूप ही सूरसागर और रामचरितमानस की विभक्तियों में बहुत कुछ आये है।" आगे सुमन जी ने हेम-चन्द्रीय अपभ्रंश की प्रकृति के सम्बन्ध में लिखा है: "...उक्त विश्लेषण को दृष्टि-पथ में रखते हुए इतना निर्णय निकाला जा सकता है कि हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के नियमों की स्थापना के लिए जिस अपभ्रंश से उदाहरण चुने हैं वह अपभ्रंश साहि-त्यिक रूप प्राप्त कर गई थी और वह एक ऐसी मिश्रित भाषा थी जिसमें पंजाब, राजस्थान, गुजरात, अन्तर्वेद और कोसल प्रान्तों की जनभाषाओं का रूप समाविष्ट था। और विशेष रूप से जिसका व्याकरणिक गठन मध्य-देश अर्थात् ब्रजावध-क्षेत्र की चालू बोली के आधार पर ही कुछ प्रस्फुटित एवं विकसित हुआ था।" इस प्रकार एक साहित्यिक, मिश्रित[2] अपभ्रंश ने साहित्यिक हिन्दी के आरम्भिक रूपों को बहुत कुछ प्रभावित किया। प्रचलित भाषा प्रचलित अपभ्रंश बोलियों की परम्परा में आती है। अपभ्रंश भाषा का हिन्दी भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

हिन्दी में प्रायः वे ही ध्वनियाँ प्रचलित हैं जो मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं में मिलती हैं। ऋ के जितने विकास-रूप अपभ्रंश-काल में मिलते हैं, वे हिन्दी

१. हिन्दी भाषा, पृ० १२३

२. इसमें शब्द साहित्यिक प्राकृतों से लिए गए थे और व्याकरणिक गठन देशी-भाषाओं से प्राप्त किया था। यह मत याकोबी का है [भायाणी, संदेशरासक, पृ० ४६]

के पुराने साहित्य में भी हैं। ऋ < रि की प्रवृत्ति अपभ्रंश के समान ही है। श और ष में अभेद हो गया था। ऐ, औ का उच्चारण संस्कृत के समान संयुक्त स्वर जैसा नहीं रह गया था : इनका मूल स्वर वत् उच्चारण प्रमुख होता जा रहा था। पश्चिमी हिन्दी में इनका उच्चारण मूल स्वरों की भाँति हो गया है और पूर्वी हिन्दी में संयुक्त-स्वर जैसा उच्चारण ही चल रहा है। संयुक्ताक्षर ज्ञ का उच्चारण भी अपभ्रंश के समान ही हिन्दी में रहा।

ध्वनियों के अतिरिक्त रूप-रचना भी अपभ्रंश से ही विकसित होती चली आई है। अपभ्रंश में अनेक स्थानों पर परसर्ग-सहित और परसर्ग-रहित निर्विभक्तिक शब्दों का प्रयोग होता था। हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग उन स्थानों पर मिलते हैं। -उ विभक्ति अपभ्रंश में लोकप्रिय थी। कृदन्त-तद्भव क्रियाओं के रूपों में तथा कर्त्ता-कर्म में इसका प्रयोग हाता था। अवधी और ब्रज में यह विभक्ति चली आई। इसी प्रकार -हि, -हिं जैसी करण-अधिकरण विभक्तियों की परम्परा भी अपभ्रंश से ब्रज और अवधी तक चली आई। परसर्गो का प्रयोग भी अपभ्रंशों से विकसित होता हुआ हिन्दी तक आया। सम्बन्ध-वाचक केरअ, केर, कर आदि से हिन्दी का, के, की का विकास हुआ। अधिकरण चिह्न मज्झे, माँझ, माँह थे। इनसे ही 'में' का विकास हुआ है। इसी प्रकार अन्य कारकों का विकास भी खोजा जा सकता है। सर्वनामों के रूपों का विकास भी अपशभ्रं से जोड़ा जा सकता है। उत्तम-पुरुष एक वचन हउँ/हौं; मइँ/मैं अपभ्रश में हैं। हिन्दी तथा उसकी बोलियों में भी ये ही मिलते है। विद्वानों के अनुसार अपभ्रंश अम्हे या हमुँ से हिन्दी हम विकसित हुआ है। अवहट्ठ में भी, मोहि जैसे विकारी रूप भी मिल जाते हैं। अपभ्रंश में मुज्झ भी मिलता है, जिससे हिन्दी मुझ का विकास हुआ है। मध्यम-पुरुष एक-वचन में तुहुँ, तेहूँ, तुम, तुम्ह, तो, तुज्झ रूप मिलते हैं, जो हिन्दी से अधिक भिन्न नहीं हैं। अपभ्रश में अन्य-पुरुष का एक रूप ओइ भी मिलता है। यह हिन्दी 'वह' से भिन्न नहीं। इसी प्रकार अन्य हिन्दी सर्वनामों का बीज भी अपभ्रंश में है।

व्याकरण के अन्य रूपों की भाँति हिन्दी की क्रियाएँ भी प्रायः तद्भव हैं। संस्कृत की क्रियाएँ प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से ही हिन्दी को मिली हैं। क्रिया-रूपों के लिए हिन्दी अपभ्रंश की विशेष ऋणी है। अपभ्रंश से क्रियाएँ संहिति से व्यवहिति की ओर चलती हैं। कालरचना अपभ्रश से ही कृदन्त पर आधारित हो चली थी। हिन्दी में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। हिन्दी क्रिया-धातुओं में से भी अधिकांश के रूप अपभ्रंश में ही बन गए थे। इसी प्रकार कालरचना, संयुक्त क्रिया आदि का विधान अधिकांश अपभ्रंश से आगत समझना चाहिए।

शब्दावली में तद्भव शब्दावली अपभ्रंश की परम्परा की देन है। यहाँ हिन्दी और अपभ्रंश का भाषा-वैज्ञानिक तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं है। पर उक्त संकेतों से इतना समझा जा सकता है कि हिन्दी भाषा का रूप विन्यास अपभ्रंश के आधार पर प्रायः विकसित हुआ है। आधुनिक काल में वाक्य विन्यास आदि पर अन्य

प्रभाव भी पड़े हैं, पर मध्यकाल तक हिन्दी की बोलियाँ अपभ्रंश से पूर्णतः प्रभावित रहीं। वस्तुतः हिन्दी अपभ्रंश के विकास की आगे की कड़ी है।

३. हिन्दी साहित्य और अपभ्रंश—

३.१. अपभ्रंश साहित्य की प्रमुख धाराएँ : संक्षिप्त परिचय – ८ वीं शती से अपभ्रंश साहित्य मिलने लगता है। इस साहित्य का समृद्ध युग ९ वीं से १३ वीं शती तक है। इस काल में पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए। स्वयंभू की प्रतिभा से सभी परिचित हैं। इस साहित्य में एक ओर जैन कवियों द्वारा विरचित पुराण, महापुराण और चरिउ (चरित्र) जैसे प्रबन्ध काव्यों की परम्परा मिलती है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों के गीत, पद और दोहे मुक्तक परम्परा को समृद्ध कर रहे हैं। कुमारपाल प्रतिबोध, विक्रमोर्वशीय, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों में अपभ्रंश के स्फुट पद्य अनुस्यूत हैं और वैयाकरणों ने भी अनेक फुटकर पद्य उदाहरणों के रूप में दिए हैं। विद्यापति की 'कीर्तिलता' और अब्दुलरहमान का 'सन्देश रासक' परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट साहित्य के रत्न हैं। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जैन-भण्डारों में सुरक्षित है।

जैन-कवियों ने दूत-काव्य, रूपक-काव्य आदि भी लिखे। इनके अतिरिक्त स्तोत्र, सुभाषित, गद्य-काव्य, आख्यायिका, चम्पू, नाटक आदि विधाओं से अपभ्रंश साहित्य भरपूर है। एक धर्म विशेष से सम्बद्ध होने पर भी अपभ्रंश के कवियों में सहिष्णुता और उदारता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। मानवतावादी दृष्टिकोण साहित्य को उदात्तता प्रदान करता है। हिन्दू पुराण और काव्यों से जैन कवियों ने अनेक कथानक और अभिप्राय लिए। संस्कृत में शिव, राम, कृष्ण पर आधारित कथानकों और प्रसङ्गों को लेकर अधिकांश काव्य-रचना हुई थी।[1] पीछे धीरोदात्त क्षत्रिय राजाओं को काव्य में नायकत्व मिला।[2] यह प्रवृत्ति आरम्भ में नाटकों में विशेष मिलती है। संस्कृत में नीति, वैराग्य और शृङ्गार से सम्बद्ध मुक्तक परम्परा भी समृद्ध रही। इन समस्त संस्कृत परम्पराओं का ग्रहण अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। किसी महापुरुष, तीर्थंकर या उदात्त राजा के चरित्रों को लेकर ही प्रबन्ध-रचना की गई। सिद्धों के अपभ्रंश मुक्तकों का विषय रहस्यवाद और अध्यात्म हो गया। प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन, गुरु-महिमा गान और नैतिक जीवन को लेकर उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का भी परिचय दिया। इनके अतिरिक्त रूपक-काव्य, कथात्मक-काव्य, सन्धि-काव्य, रास-ग्रंथ, स्तोत्र भी उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश में काव्य-रूपों की भरमार थी।

जैन कवियों ने राम-कथा के प्रसङ्गों और पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। विमलसूरि और गुणभद्राचार्य ने जैन साहित्य में राम-कथा की परम्परा स्थापित की।

१. वाल्मीकि रामायण, महाभारत, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, आदि।

२. स्वप्न वासवदत्ता, विक्रमोर्वशीय, शकुन्तला, मालतीमाधव, रत्नावली आदि।

विमलसूरि ने रावण के चरित्र को उदात्त बनाने की चेष्टा की है। उसको अनेक गुणों से युक्त एक महापुरुष बना दिया गया है। हिन्दू राम-कथा की परम्परा से यह राम-कथा अनेक दृष्टियों से भिन्न है। इसी प्रकार गुणभद्राचार्य ने भी राम-कथा की इससे कुछ भिन्न परम्परा चलाई। स्वयम्भू ने आगे चलकर विमलसूरि के पउमचरिय की और पुष्पदन्त ने गुणभद्र के उत्तरपुराण की परम्परा को अपनाकर श्रेष्ठ काव्यों की रचना की।

जैन कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनकी दृष्टि सामान्य पाठक पर थी। उनका लक्ष्य उच्चवर्ग नहीं था। जनसाधारण की रुचि कथात्मक साहित्य-रूपों की ओर रहती है। चरिउ-काव्य भी धार्मिक अभिप्रायों से युक्त थे। चरिउ-काव्य अधिकांश में प्रेमाख्यानक थे। इन्हीं के साथ धार्मिक-तत्त्व समन्वित रहते थे।

अपभ्रंश कथा-काव्य या चरिउ-काव्य मूलतः धार्मिक अभिप्रायों से युक्त होते थे। लौकिक काव्यों की रचना प्रायः नहीं हुई। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का साहित्य उचित संरक्षण के अभाव में समाप्त हो गया। धार्मिक साहित्य का संरक्षण तो होता रहा, पर लौकिक साहित्य के संरक्षण की ओर ध्यान नही गया। वैसे लौकिक-काव्यों की परम्परा में विद्यापति की 'कीर्तिलता' और अब्दुलरहमान का 'संदेश रासक' आते हैं। पहले काव्य में इतिहास का आधार लिया गया है। दूसरा काव्य भी पूर्णतः लौकिक प्रबन्ध-काव्य है।

रूपक काव्यों में सौमप्रभाचार्य की 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक रचना प्रतिनिधि रचना है। इस प्रकार के रूपकों में आत्मा, मन, जीव, बुद्धि आदि को पात्ररूप में कल्पित किया जाता है। हरिदेव कृत 'मदन पराजय' भी इसी प्रकार का रूपक है। इसमें काम, मोह, अहङ्कार, अज्ञान, रागद्वेष को पात्र बनाया गया है। ये सब प्रतीक-पात्र हैं, जो कवि की दार्शनिक विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं।

अपभ्रंश में रासा-साहित्य की परम्परा भी चली। 'सन्देशरासक' की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त सभी रास-ग्रन्थों का विषय धार्मिक है। जिन प्रभरचित 'नेमिरास', और 'अन्तरङ्गरास' का उल्लेख किया जाता है। अन्य रासग्रन्थों की सूचियाँ भी मिलती हैं। इनका विषय धार्मिक और उपदेशात्मक होता है।

रास-ग्रन्थों के अतिरिक्त स्तोत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें किसी तीर्थंकर या धार्मिक महापुरुष की प्रशस्ति या स्तुति मिलती है। अभयदेवसूरि कृत 'जयतुहियण स्तोत्र', 'ऋषभजन स्तोत्र', 'धर्मसूरि स्तुति' इसी प्रकार की कृतियाँ है।

मुख्य रूप से ये ही साहित्य-रूप अपभ्रंश में मिलते है। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे-मोटे काव्य चूनरी, चर्चरी, कुलक आदि नामों से मिलते हैं। इनमें भी धार्मिक भावना का ही प्राधान्य है। मोटे रूप से अपभ्रंश के काव्य-रूपों को महाकाव्य, चरित काव्य, रूपक काव्य, खण्ड काव्य और मुक्तक जैसे शास्त्रीय नाम दिए जा सकते हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनमें काव्य के सौन्दर्य की अपेक्षा, उपदेश-परकता ही विशेष रहती है। अपभ्रंश साहित्य की अभिवृद्धि में जैनों के साथ बौद्ध

सिद्धों का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। इनकी रचनाओं का संग्रह 'दोहाकोष', 'बौद्ध गान ओ दोहा' और 'चर्यापद' नामों से हुआ है। इन्होंने दोहों के साथ राग-रागिनियों का भी प्रयोग मुक्तकों में किया है। विषय की दृष्टि से सिद्धों का साहित्य दो प्रकार का है : सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए लिखी रचनाएँ और कर्मकाण्ड, रूढ़िवादिता आदि के खण्डन के लिए उद्दिष्ट रचनाएँ।

उक्त रचनाओं में मुख्य रस तो शान्त ही मिलता है। शान्त की पृष्ठभूमि में शृङ्गार और वीर रस की योजना मिलती है। अन्ततः वीर और शृङ्गार का पर्यवसान शान्त में हो जाता है। सिद्ध साहित्य का भी मूल स्वर तो शान्त रसात्मक है। पर अप्रस्तुत रूप में तांत्रिक साधना के रूप में शृङ्गार का समावेश भी हो जाता है।

महाकाव्य अनेक संधियों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक सन्धि में कुछ कड़वक होते हैं। कड़वकों की समाप्ति पर घत्ता आता है। कड़वकों की संख्या निश्चित नहीं रहती। इनकी संख्या कहीं कम और कहीं अधिक हो सकती हैं। यह प्रणाली तुलसी के 'मानस' की दोहा-चौपाई वाली पद्धति के समान है। मंगलाचरण और प्रस्तावना की पद्धति भी सुनिश्चित मिलती है। इसमें सज्जन-वन्दना, दुर्जन-स्मरण, आत्म-विनय तथा काव्य की प्रस्तावना आदि तत्त्व रहते हैं। भाषा-सम्बन्धी भी दो प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश-साहित्य में मिलती है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करके पाडित्य-प्रदर्शन की ओर रहती है। कुछ कवि सरल-स्वच्छन्द भाषा का प्रयोग करते मिलते हैं। अधिकांश कवि दोनों धाराओं की गङ्गा-जमुनी को लेकर चले हैं। अपभ्रंश कवियों ने रूढियों का पालन भी किया है पर स्वानुभूत सत्यों के संयोग से काव्य-विधान को सजीव भी बनाया है ; साथ ही धार्मिक विषय लौकिक संस्पर्शों से सजीव हो उठते हैं। सामान्य जीवन के स्तर को कवि कभी नहीं भुलाता। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों से अपभ्रंश-कवि विरक्त है। उसे मात्रिक छन्द ही अधिक प्रिय हैं। यों, कभी-कभी वर्ण-वृत्तों का प्रयोग भी मिल जाता है। छन्दों का अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश कवियों की विशेषता है। कवियों ने नवीन छन्दों का भी प्रयोग किया है। छप्पय, कुण्डलियाँ, चन्द्रायन जैसे मौलिक मिश्रित छन्दों का प्रयोग अपभ्रंश-कवियों ने किया है। मुक्तकों में सबसे प्रमुख छन्द दोहा है। जिस प्रकार प्राकृतों में गाथा या गाहा छन्द का प्राधान्य था, उसी प्रकार अपभ्रंश में दोहे का।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, अपभ्रंश काव्य को राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। यह इस साहित्य का मूल्यांकन ही है। राजशेखर ने संस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश के कवियों की राजसभा में बैठने की योजना बतलाई है।[1] श्री मुनि जिनविजय ने 'पुरातन प्रबन्ध' का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश-काव्य में रुचि ही नहीं रखते थे, स्वयं अपभ्रंश में कविता भी करते थे। अपभ्रंश काव्य की परम्परा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकसित

१. तस्य (राजासनस्य) चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्।
पूर्वेण प्राकृताः कवयः ''। पश्चिमे नापभ्रंशिनः कवयः। [काव्यमीमांसा]

होने पर भी चलती रही। अपभ्रंश के कवि ने लोक सांस्कृतिक भूमिका और लोकसाहित्य के संस्पर्शों से गीति काव्य की भूमिका बनाई। इस क्षेत्र में संस्कृत महाकाव्यों के दवाब के कारण रुक गई थी। अपभ्रंश ने गीत-परम्परा को पुनरुज्जीवन दिया। राम साहित्य चाहे अपभ्रंश के कवि को विशेष प्रिय और उसके आदर्श के अनुकूल रहा हो, पर कृष्ण-काव्य की धारा भी अपभ्रंश में सूखी नहीं। कृष्ण को भी ९ वासुदेवों में से एक माना जाता था। 'हरिवंश' की रचना स्वयंभू ने की। इसमें प्रमुख स्थान महाभारतीय कृष्ण का है। पुष्पदन्त ने कृष्ण-कथा में विशेष रुचि ली। इन्होंने ब्रज-लीलाओं को प्रधानता दी।

यही अपभ्रंश-काव्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण है।[१] इसके बिना हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश के प्रभाव को ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सकता।

३.२. अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—

३.२.१. हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और अपभ्रंश साहित्य—अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर इतना प्रभाव पड़ा कि यह कहना कठिन हो गया कि कहाँ अपभ्रंश साहित्य समाप्त होता है और वहाँ से हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ। वस्तु और शिल्प की दृष्टि से विकास इतना क्रमिक और अविरल हुआ कि साहित्य की दो धाराओं को हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अलग करना कठिन हो गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-शब्द सागर की भूमिका में अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य की आदिकालीन परम्परा के अन्तर्गत नहीं रखा। पर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी के आदिकाल में समाविष्ट कर दिया। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न इतिहासकारों का मत इस प्रकार दिया जा सकता है—

"आदिकाल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अन्तर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि-परम्परा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आई है, जो अपभ्रंश में है जैसे कुमारपाल चरित और शार्ङ्गधर कृत हम्मीर रासो।"[२]

—रामचन्द्र शुक्ल

"अर्द्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुये है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिये।"[३]

—डा० रामकुमार वर्मा

"यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी का ही मूलरूप समझा है, तो ठीक ही किया है।"[४] —डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१. इस विवरण के प्रस्तुत करने में डा० हरिवंश कोछड़ के 'अपभ्रंश साहित्य' नामक प्रबन्ध से सहायता ली गई है।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : प्रथम संस्करण : वक्तव्य।

३. आलोचनात्मक इतिहास : द्वितीय संस्करण पृ० ६८

४. हिन्दी साहित्य।

इस प्रकार प्रमुख इतिहासकार अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य में समाविष्ट करते रहे। वास्तव में शुक्ल जी अपभ्रंश के प्रचुर साहित्य से अवगत नहीं थे।[1] उस समय तक अपभ्रंश साहित्य की पर्याप्त खोज नहीं हो पाई थी। अतः उन्होंने दोनों साहित्य-परम्पराओं को मिला दिया। डा० वर्मा के सामने आरम्भिक हिन्दी में मिलने वाले अपभ्रंश तत्त्व और परवर्ती अपभ्रंश में विकसित होते हुए हिन्दी के तत्त्व रहे। उन्होंने इन्हीं तत्त्वों के आधार पर इन दोनों परम्पराओं को मिलाया। वस्तुतः परवर्ती अपभ्रंश रूप विकास की दृष्टि से हिन्दी के बहुत समीप है। संक्रान्तिकालीन भाषा को निश्चित रूप से हिन्दी कहा जा सकता है। यदि भाषा की एकरूपता स्थापित हो जाती है, तो साहित्य रूपों का साम्य तो और भी अधिक है। साहित्य की वस्तु और व्यंजना दोनों ही हिन्दी के आदिकाल में समान रहीं। पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से ही अपभ्रंश को हिन्दी से पृथक करना होगा। यह भी सच है कि परवर्ती अपभ्रंश को हिन्दी मानना अनुचित नहीं है। इसीलिये गुलेरी जी ने लिखा था : "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। विक्रम की ७ वीं से ११ वीं तक अपभ्रंशों की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।"[2] अनेक दृष्टियों से परवर्ती अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी माना जा सकता है। संक्रान्तिकालीन अवहट्ठ को तो हिन्दी मानकर चला ही जा सकता है।

वास्तव में हिन्दी पर केवल अपभ्रंश का प्रभाव ही नहीं है, उसका उससे ऐतिहासिक सम्बन्ध है। डा० नामवरसिंह ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कथन किया है : "अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य का अंग मानना एक बात है और मूल रूप मानना बिल्कुल दूसरी बात। अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य का मूल रूप ··मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध ऐतिहासिक है। ···कुछ विद्वानों ने हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक सम्बन्ध एक ही चीज नहीं है। हिन्दी साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गर्भ से ही क्रमशः उद्भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से प्रभावित मात्र कहना अवैज्ञानिक है। इसलिये अपभ्रंश और हिन्दी के सम्बन्ध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिन्दी के कुछ काव्य रूपों, काव्य रूढ़ियों, उपमाओं और छन्दों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बात हैं। अपभ्रंश से हिन्दी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। ···मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भावधारा का नैरन्तर्य जिसे डा० द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है।[3]" वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य की

---

१. प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने १९५४ मे अपभ्रंश के ढाई सौ से ऊपर ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की : 'जिन रत्नकोश', खण्ड १, १९५४ ई०। अलग-अलग भांडारों की सूचियाँ प्रकाशित होती जा रही हैं।

२. पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा २००५ वि०, पृ० २९-३०

३. डा० नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६१-२६२

प्राणधारा ही हिन्दी साहित्य के रूप में विकसित हुई। इस प्राणधारा ने हिन्दी के आदिकाल को ही अनुप्राणित नहीं किया, उसके पश्चात भी साहित्य की विधाओं में वह समाई रही।

४. अपभ्रंश और हिन्दी का आदिकाल—

हिन्दी के आदिकाल में साहित्य-विधाओं का एक वैविध्य मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इस युग की मुख्य प्रवृत्ति वीरगाथा की है।[१] यदि इस प्रवृत्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह भी अपभ्रंश से ही विकसित मानी जायगी। वैसे भक्ति और शृङ्गार की धाराएँ भी आदिकाल से कम प्राणवान और वेगशील नहीं थीं। शुक्लजी ने भक्ति साहित्य को वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया कहा था।[२] पर यह बात आगे के विद्वानों को मान्य नहीं रही। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका प्रतिवाद किया।[३] हिन्दी के आदिकाल में सिद्धों और नाथों का साहित्य मिलता है। इस प्रकार की सामग्री को शुक्लजी ने अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में माना था।[४] जैन मर्मिगों, सिद्धों और नाथों के साहित्य की साहित्यिकता को शुक्लजी स्वीकार नहीं करते थे। पर इस अंधकार युग को प्रकाश में लाने वाली सभी साहित्य-सामग्री को डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मूल्यवान बतलाया।[५] इस सामग्री की यदि हम उपेक्षा न करें तो कह सकते हैं कि हिन्दी के आदि काल में भक्ति-धर्म समन्वित रचनाएँ हो रही थीं और राज्याश्रित साहित्य से कहीं अधिक जीवन्त धारा थी। डा० नामवरसिंह के शब्दों में : "....दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी, दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्द्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामन्तों के चरित वर्णन, युद्ध वर्णन, केलिविलास, बहुविवाह के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असन्तोष, रूढ़ि-विरोध, बाह्याडम्बर खंडन, जाति भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म-गौरव आदि से था।[६] प्रथम धारा जन-जीवन से अलग पड़ गई थी। दूसरी का सम्बन्ध जन-मन से बना हुआ था।

अपभ्रंश साहित्य में भी इसी प्रकार दो धाराएँ प्रवाहित थीं। डा० द्विवेदी ने राज्याश्रित साहित्य की प्रवृत्ति का सम्बन्ध पश्चिमी अपभ्रंशों से माना है और दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध पूर्वी अपभ्रंशों से।[७] पर दोनों ही प्रवृत्तियाँ दोनों ही अपभ्रंशों में मिलती हैं। परिमाण की दृष्टि से एक प्रवृत्ति की विशेषता और दूसरी में

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास [पाँचवा संस्करण] पृ० ३०
२. वही, पृ० ६०
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २
४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४
५ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २५
६. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६७
७. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २६

दूसरी की विशेषता मानी जा सकती है। इस विभेद से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश साहित्य मे मिलती है, उसी प्रकार का अन्तर्विरोध हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में भी मिलता है। परवर्ती अपभ्रश साहित्य में इतिवृत्तात्मकता रूढ़ होती गई। इनमें न सजीव कल्पना रही और न जीवन के ताजा अनुभव ही रहे।

४.१. रासो काव्य और अपभ्रंश— हिन्दी के आरम्भिक चरित काव्य अपभ्रंश के रूढ़ चरित काव्यों से प्रभावित रहे। हम्मीर रासो, खुमान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि परवर्ती अपभ्रंश के चरित काव्यों की परम्परा में ही आते हैं। इन सब में रूढ़ वर्णन, रूढ़ अभिप्राय और कथानक रूढ़ियाँ भरी पड़ी हैं। यद्यपि ये रासो-ग्रन्थ कालांतर में प्रक्षेपों के कारण विस्तृत होते गये है पर वही निर्जीव रूढ़िवादिता बनी रही। पृथ्वीराज रासो में अवश्य कुछ नवीन काव्य-सौन्दर्य मिलता है। अपभ्रंश में भी रासा ग्रन्थ मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो पर तो इन अपभ्रंश रासा-ग्रन्थों का प्रभाव कम है, पर अन्य रासो ग्रन्थों पर अपभ्रश का अधिक प्रभाव है।

सबसे पहले नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो को लिया जा सकता है। इसकी भाषा तो अपभ्रश से बहुत अधिक प्रभावित है ही, या उसी का एक विकसित रूप है। 'बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है.... अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य: विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1]" भाषा ही नहीं, वस्तु, भावधारा आदि भी अपभ्रंश रासा ग्रन्थों से प्रभावित है। यह लघुकाय, गीतात्मक और एक ही छन्द में निबद्ध रचना है। इस दृष्टि से इस पर 'उपदेश रसायन रास' का प्रभाव माना जा सकता है।

सामान्य रूप से रासो ग्रन्थों में भाग्यवाद, वीर शृङ्गार के मिश्रण, छन्दों की विविधता की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ध्वन्यात्मक द्वित्व शब्दावली इनकी शैली की विशेषता है। ये सारी विशेषताएँ अपभ्रंश के रासा-ग्रन्थों में भी मिलती हैं। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि आदिकालीन रासो-साहित्य अपभ्रंश साहित्य की विशेषताओं को लेकर अवतरित हुए।

अपभ्रंश की रूढ़ परम्परा का ही निर्वाह हिन्दी में नहीं हुआ, उसकी सजीवधारा भी हिन्दी के रासो-साहित्य को प्रभावित करती रही। इस जीवन्त परम्परा में 'संदेश रासक' भी आता है। सदेश रासक की परम्परा में बीसलदेव रासो आता है। यह रासो पृथ्वीराज रासो जैसे चरित प्रधान रासो ग्रन्थों से भिन्न है। यह एक प्रेम-काव्य या संदेश काव्य ही है। संदेशरासक की भाँति यह भी विरह गीत ही है। बीसलदेव रासो में बारहमासा भी है। विनयचन्द्र सूरि कृत 'नेमिनाथ चउपई' में भी बारहमासा मिलता है। बारहमासा की प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही चली आ रही थी। प्रवृत्तित: बीसलदेव रासो संदेशरासक से प्रभावित हैं।

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २०८

इसी प्रकार का एक काव्य 'ढोला मारू रा दोहा' है। यह भी एक विरह गीत ही है। इसमें भी संदेश भेजने का अभिप्राय मिलता है। इसमें संदेश वाहक कौंच पक्षी भी है और ढाढ़ी भी। इसमें लोकतत्व 'संदेशरासक' से अधिक हैं। पश्चिमी क्षेत्र में ही संदेशरासक, बीसलदेव रासो और ढोला मारूरा दोहा जैसे जीवन्त प्रेम-काव्यों का उदय हुआ। इस प्रकार अपभ्रंश के प्रबन्धों का प्रभाव आदि कालीन रासो ग्रन्थों पर मिलता है।

५. अपभ्रंश और हिन्दी का भक्ति साहित्य—

भक्ति साहित्य की निर्गुण और सगुणधाराओं पर अपभ्रंश की विचारधारा और उसके काव्य रूपों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी की इन धाराओं ने अपभ्रंश के स्रोत से प्रेरणा भी ली और सामग्री भी। इन धाराओं पर अलग-अलग अपभ्रंश का प्रभाव देखा जा सकता है।

५. १. हिन्दी निर्गुणधारा और अपभ्रंश—कबीर को इस धारा का प्रतिनिधि कवि मानकर अपभ्रंश के प्रभाव की चर्चा की जा सकती है। निर्गुण संतों के साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ ये हैं : निर्गुण राम की भक्ति, रहस्यवाद की भावना, रूपकों का प्रयोग, बाह्याडम्बर की कटु आलोचना, गुरु की महत्ता शान्तरस तथा अभिव्यक्ति के लिए दोहों और पदों का प्रयोग। अपभ्रंश के जैन सन्तों और सिद्धों के उपदेश के दो पक्ष ही होते थे : रचनात्मक और आलोचनात्मक। आलोचना बाह्य आडम्बरों की होती थी। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ हिन्दी के सन्त-काव्य में मिलती हैं।

सिद्धों की रहस्योक्तियों का प्रभाव कबीर आदि सन्तों पर पड़ा। इनमें भी सिद्धों की भाँति 'सहज', 'शून्य' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। पर कबीर में इनके अर्थ भी कुछ बदले हुए हैं और इन पर जोर भी अधिक नहीं दिया गया है। इस प्रभाव और परम्परा पालन के सम्बन्ध में डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है : "संतों का अधिकांश साहित्य उस संक्रान्ति-काल का साहित्य है जब तन्त्र और योग की पद्धतियाँ गौण होती जा रही हैं और भक्ति को प्रमुखता मिलती जा रही है। किन्तु फिर भी संतों में परम्परागत प्रभाव के कारण एक विशिष्ट काव्यशैली तथा पारिभाषिक शब्दावली रूढ़ हो गई है। और वे उसी के द्वारा इस नई चेतना को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। अतः उनकी भाषा-शैली में अर्थों के कई स्तर वर्तमान हैं, जिनमें से कुछ से स्वतः वे सन्त भी अपरिचित प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं वे शब्द या वे प्रतीक प्राचीन बौद्ध-तांत्रिक या शैव-योगी साधनाओं के अर्थों को ध्वनित करते हैं, कहीं-कहीं सन्त उन अर्थों के केवल एक अंश को स्मरण रख पाये हैं। और कहीं-कहीं वे भक्ति आन्दोलन के प्रभाव में उन शब्दों को नई व्याख्या देने के प्रयास में संलग्न प्रतीत होते हैं।[१]" इस प्रकार सिद्ध-साहित्य में प्राप्त पारिभाषिक शब्दावली तो सन्त साहित्य में प्रचलित थी, पर नवीन चेतना इनके अर्थों में परिवर्तन कर रही थी। कबीर में भक्ति और प्रेम से विह्वल हृदय की जो उद्भावना मिलती है, वह

१. सिद्ध साहित्य, पृ० ४७७

सिद्धों में नहीं मिलती। "कबीर का 'बेहद्दी मैदान' सरह के उस लोक से भिन्न नहीं है, 'जइं मण पवण न संचरैं, रवि-ससि, णाह पवेस' परन्तु ये सभी ऊपरी समानताएँ हैं।[१]"

सिद्धों की रहस्योक्तियों का प्रभाव कबीर की उलटबाँसियों पर देखा जा सकता है। वज्रयानियों ने जान बूझ कर अपनी भाषा और उक्तियों को निगूढ़ बनाया था। उसी प्रकार का प्रयत्न कबीर आदि सन्तों में भी मिलता है। ढेण्ढपाद की एक रहस्योक्ति इस प्रकार है—

बलद बिआअल गविआ बाँझे, निति सिआला सिहे सम जूझइ। बैल बियाया और गाय बाँझ रही। शृगाल सिंह के साथ युद्ध करता है। कबीर की एक मिलती जुलती उलटबाँसी इस प्रकार है—

> है कोइ गुरु ज्ञानी जगत मइँ, लटि वेद बूझै।
> पानी महँ पावक बर अन्धहिं आँखिन्ह सूझै।
> गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

इस प्रकार उलटबाँसियों की पद्धति पर सिद्धों की पद्धति का बहुत प्रभाव है। पारिभाषिक शब्दों को तो सन्तों ने ग्रहण किया ही, उक्तियों की शैली को भी सन्तों ने अपनाया।

इनके अतिरिक्त ज्ञान और साधना की अभिव्यक्ति में कुछ ऐसे उपमान मिलते हैं, जो सिद्धों और सन्तों में समान रूप से मिलते हैं। डा० धर्मवीर भारती के आधार पर इन उपमानों की सूची नीचे दी जाती है।[२] ये सिद्धों और कबीर में समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं—

उपमान	उपमेय
तरुवर	काया, चित्त, सृष्टि, विस्तार
पत्ते	प्रकृति
करभ (करहा)	मन
गाय	इन्द्रियाँ
बैल	मन, बोधिचित्त
गज	साधनारत मन, मायाग्रस्त मन
मूषक	मन
मेंढक	मन
साँप	संसार
सिंह	वासनायुक्त मन
हंस	चित्त
हरिणी	माया

१. डा० नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग; पृ० २६७
२. सिद्ध-साहित्य, पृ० ४५०-४५६

उपमान	उपमेय
हरिणमांस	ज्ञान
बाण	गुरु वचन
नौका	काया
नगरी	काया
चौपड़	ज्ञान क्रीड़ा
जुलाहा	जीव

यह सूची पूर्ण नहीं है। पर रूपकों का साम्य इससे प्रदर्शित होता है। सिद्ध साहित्य का नैरंतर्य अनेक दृष्टियों से सन्त-साहित्य में सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार का प्रभाव रूपक-योजना पर भी मिलता है। सन्तों के अनेक रूप सिद्ध-परम्परा से ही गृहीत हैं। कहीं-कहीं उपमेय-पक्ष में कुछ-कुछ परिवर्तन भी कर दिया गया है। रुई धुनने, विवाह, नौका, हरिण, चूहा, जुलाहा आदि के रूपकों में पर्याप्त साम्य मिलता है। विवाह का रूपक कबीर को बहुत प्रिय था। कण्हपा ने विवाह का रूपक इन उपमानों के आधार पर खड़ा किया है[1] भव—पटह, निर्वाण—मादल, मनपवन—बाराती, डोम्बी—वधू, और अनुत्तर—दहेज। कबीर का रूपक इस प्रकार सम्पन्न हुआ : बाराती=पांच तत्त्व, वर=राम, बधू=आत्मा, गायिकाएँ=इन्द्रियाँ, पुरोहित=चक्रस्थ ब्रह्म। दूसरे स्थान पर यह रूपक और विस्तृत हो गया है; रबाब आदि बजाने वाले=कर्मेन्द्रियाँ; कुलीनवर=जीवात्मा; मडप=शरीर; बधू=माया ज्ञानेन्द्रियाँ; गायिकाएँ=शब्द; होमाग्नि=ब्रह्माग्नि; पुरोहित=स्थित प्रज्ञ गुरु। इसी प्रकार कबीर के जुलाहे के रूपक पर तन्तिपा सिद्ध के रूपक का प्रभाव है।[2] रूपकों में सन्तों ने अनेक परिवर्तन भी किए हैं, पर मूल ढाँचा परम्परित है। सन्तों में अनेक स्थल तो अनुकरण मात्र हैं।

छन्द और पदों की शैली भी अपभ्रंश से प्रभावित है। सन्तों द्वारा प्रयुक्त साखी और पद सिद्धों के काव्य रूपों के ही विकसित रूप हैं। सिद्धों ने दोहाकोश लिखे। सन्तों ने भी दोहा का प्रयोग ही सबसे अधिक किया है। सिद्धों ने दोहों के आधार पर ही रीतियों की रचना की थी। सिद्धों के अतिरिक्त जैन परम्परा में भी पाहुड़ और सावय धम्म दोहे मिलते है। सन्तों की साखियाँ और 'सलोकु' इसी परम्परा में हैं। दोहे और चौपाई का मिला हुआ रूप ही रमैनी है। पद-साहित्य सम्भवतः पूर्वी भारत की परम्परा से सम्बद्ध है।

जीवन दर्शन में गुरु की महत्ता जैनाचार्यों और सिद्धों में मान्य थी। वही कोटि सन्तों में भी मिलती है। जाति-भेद का विरोध सिद्धों और सन्तों में समान रूप से मिलता है। प्रेमी-प्रेमिका भावना भी सिद्धों में प्राप्त होती है। कबीर आदि पर सूफियों का प्रभाव परवर्ती है, पर सिद्ध-साहित्य का बीज तो स्वीकार करना ही

१. चर्यापद, १९
२. चर्यापद, २५

पड़ता है। इस प्रकार सन्त-साहित्य की आध्यात्मिक भावना, सुधार-वृत्ति, उसका जीवन-दर्शन, छन्द-विधान, रूपक-विधान आदि अपभ्रंश में लिखे जैनाचार्यो और सिद्धों के साहित्य से बहुत अधिक प्रभावित हैं।

५.२. प्रेमगाथा और अपभ्रंश—लोक प्रचलित कथाओं में धार्मिक या आध्यात्मिक पुट देकर उनके आधार पर काव्य रचना की पद्धति अपभ्रंश में प्रचलित थी। इस परम्परा की 'भविसयत्त कहा' को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इसके साथ जैन धर्म-सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार की लोक-कथाओं को सूफी प्रेमगाथाकारों ने अपनाया और उनके साथ आध्यात्मिक संकेतों का सन्निवेश कर दिया। धनपाल ने धार्मिक सिद्धान्त जोड़कर लोकगाथा को सोद्देश्य बनाया है। जायसी ने प्रेम-दर्शन से लोककथा को अनुप्राणित किया है। अपभ्रंश में प्राप्त जैन प्रेम-कथाओं का पर्यवसान वैराग्य में होता है। सूफी प्रेमकथा अन्त में एक आध्यात्मिक रूपक बन जाती है। इन प्रेमकथाओं के अनेक अभिप्राय—समुद्र यात्रा, सिंहल,[१]—भी अपभ्रंश कथाओं में प्रायः मिल जाते हैं। साथ ही जायसी की रचना-शैली, वर्णन की पद्धति भी अपभ्रंश आख्यानों से मिलती-जुलती है। संदेश रासक से इनकी शैली मिलती-जुलती है। अन्तर विस्तार में है। संदेशरासक और पद्मावत में विस्तार अधिक है। वियोग-वर्णन में भी साम्य है। वस्तु-वर्णन में भी पर्याप्त समानता मिलती है।

दोहा-चौपाई शैली भी अपभ्रंश से मिलती-जुलती है। कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का प्रयोग उसी प्रकार जैसा है अपभ्रंश प्रबन्धों में कड़वकों के अन्त में घत्ता का प्रयोग धवल ने अपने हरिवंश पुराण में कुछ कड़वकों में चौपाई का भी प्रयोग किया है। अन्त में घत्ता, दोहा नहीं है। कहीं-कहीं घत्ता के रूप में दोहे का भी प्रयोग मिलता है।

५.३. राम शाखा और अपभ्रंश—इस शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसी हैं। अपभ्रंश में राम काव्य की एक प्रौढ़ परम्परा मिलती है। स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा जाता है। इनका पउमचरिउ अपभ्रंश का प्रमुख महाकाव्य है। स्वयंभू के सबसे छोटे पुत्र त्रिभुवन ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। अपने पिता के काव्य में इसने परिवर्द्धन किया। पिता ने ८३ संधियाँ लिखी थीं, इसने ९० संधियाँ कर दीं। इनके पश्चात् पुष्पदन्त ने उत्तर पुराण की ११ संधियों में रामकथा कही। अन्य छोटे-मोटे कवियों ने भी रामकाव्य लिखा होगा जो अप्राप्य है। पर इन काव्यों में राम को भगवान् का अवतार नहीं माना गया है। फलतः भक्ति-भावना का उभार भी जैन रामकाव्य में नहीं मिलता। इस दृष्टि से हिन्दी रामकाव्य की मूल भावना (=भक्ति) अपभ्रंश से प्रभावित नहीं है। पर तुलसी-मानस की बाह्य रूपरेखा पर स्वयंभू का कुछ प्रभाव अवश्य माना जा सकता है। राहुल जी ने तुलसी पर स्वयंभू का प्रभाव स्वीकार किया है: "तुलसी बाबा ने स्वयं रामायण को जरूर देखा होगा। तुलसी

१. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३९४

बाबा ने स्वयंभू रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है।[१]" पर नामवरसिंह का यह कथन भी अर्थ रखता है कि "तुलसी में जो भक्ति-भावना की प्रधानता है, वह स्वयंभू में बिल्कुल नहीं है और इसी भावना-भेद के कारण दोनों की राम-कथाओं के स्वरूप में भी भेद आ गया है।[२]"

चाहे मूल भावना और तज्जन्य कथा सम्बन्धी अन्तर हो, पर कुछ ऐसा साम्य भी स्वयंभू और तुलसी में मिलता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलसी ने, रामचरित मानस का परिचय एक सरोवर-रूपक से दिया है।[३] इसी प्रकार रामकथा को तुलसी ने सरिता कहा है।[४] स्वयंभू ने भी सरिता के रूपक से रामकथा का परिचय दिया है।[५] रामचरितमानस की दोहा-चौपाई शैली 'पउम चरिउ' की कड़वक शैली के समान है। स्वयंभू 'गामेल्ल भास' (ग्रामीण भाषा) का पक्ष लेता है। तुलसी भी 'भाषा' का पक्ष दृढ़ता से ग्रहण करते हैं। फिर भी चरित्र-चित्रण में ये दोनों कवि एक दूसरे से भिन्न हैं।

तुलसी के कुछ कथन संदेश रासक से भी शैली और विषय में मिलते हैं। संदेशरासककार ने एक पद्य लिखा है : मेरा हृदय समुद्र है, उसे तुम्हारे विशाल विरह-मंदर ने नित्य मथ-मथ कर उसमें से सम्पूर्ण सुख रूपी रत्न निकाल दिया है—

महु हिययं रयण निही, महियं गुरु मदरेण तं णिच्चं।
उन्मूलियं असेसं, सुहरयणं, कड्ढियं च तुह पिम्मे।
[सं० रा०, २.११६]

तुलसी की मिलती-जुलती उक्ति इस प्रकार है—

पेम अमिअ मंदरु विरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु-हित, कृपासिन्धु रघुबीर॥
[रा० मानस, २.२३८]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रामकथा के साथ सम्बद्ध मूल अभिप्राय—भक्ति-भावना पर अपभ्रंश का प्रभाव नहीं पड़ा। काव्य-रूप अवश्य ही अपभ्रंश की परम्परा का है। अलंकार-योजना भी एक सीमा तक अपभ्रंश से प्रभावित रही। कुछ काव्य-रूढ़ियों की ऐसी ही परम्परा बन जाती है।

५.४. अपभ्रंश और कृष्ण काव्य—जैन धर्म द्वारा स्वीकृत नौ बसुदेवों में से एक कृष्ण भी हैं। कृष्ण कथा कहने वाले ग्रन्थ हरिवंश पुराण कहे जाते हैं। कृष्ण कथा का सूत्रपात करने का श्रेय भी स्वयंभू को ही है। स्वयंभू ने हरिवंश पुराण की

---

१. हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृ० ५२
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६६
३. कल्याण: मानसांक, बाल० : ३७
४. वही ३६-४१
५. पउम चरिउ, १।२

भी रचना की थी। पुष्पदन्त ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। उत्तर पुराण की बारह संधियों में पुष्पदन्त ने हरिवंश-पुराण की रचना की है। इसमें ब्रजकृष्ण की लीलाओं तथा महाभारतीय कृष्ण की झाँकियाँ मिलती हैं। पुष्पदन्त ने कृष्ण-कथा बड़ी रुचि से कही है। पुष्पदन्त के आदि पुराण में भी कृष्ण-कथा है।

पर जो बात रामकथा और रामकाव्य के सम्बन्ध में कही जा चुकी है वही बात कृष्ण के सम्बन्ध में भी है। सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति अपनी है। अपभ्रंश के कवियो ने प्रसंग तो वे ही लिए हैं, पर उनका भक्तिगत संस्कार हिन्दी के कवियों ने ही किया है। कृष्ण काव्य के भावात्मक प्रसंगों पर पुष्पदन्त ने भी लिखा है और हिन्दी के भक्त कवियों ने भी। पर प्रसंग की समानता के आधार पर प्रभाव की बात सिद्ध नहीं हो जाती। उक्तियों में जो विधान का साम्य मिलता है, वह भी इसलिए है कि कुछ उक्तियाँ लोक में प्रचलित चली आई थीं। उनको दोनों ही कवियों ने ग्रहण किया। या यह भी हो सकता है कि उक्ति अपभ्रंश के कवि ने ही कही हो और वह लोक-परम्परा में पड़कर सूर आदि कवियों तक चली आई हो। वैसे अव्यक्त रूप से यह अपभ्रंश का प्रभाव ही कहा जायगा। डा० हरिवंश कोछड़ ने इस सम्बन्ध में लिखा है : "सूर के, प्राचीन अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होने की सम्भावना सूर के अनेक पदों से की जा सकती है।[1]" इस प्रकार के कुछ उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में एक दोहा इस प्रकार है—

बाँह बिछोडबि जाहि तुहुँ हउं तेवँइ को दोसु।
हिअय-ट्ठिअ जइ नीसरहि जाणउँ मुंज स रोसु।[2]

सूर ने इस उक्ति को भक्ति भावना में ढाल कर इस प्रकार कहा—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि को मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल जानूँगी तोहि।

इसी प्रकार सिद्धों ने मन की उपमा जहाज के पंछी से दी है। सूर ने अपने उद्देश्य से इस उपमान को प्रयुक्त किया है। सरह के एक दोहे में यही उपमान है—

विसअ बिसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी बोहिअ काउ जिमु, पलुटिअ तह बि पड़ेइ।

सूर ने गोपियों के मन को, जो फिर-फिर कृष्ण की ओर आकर्षित हो जाता है, जहाज के पंछी के समान बतलाया है—

१. अब मन भयौ सिन्ध के खग ज्यों फिरि-फिरि सरत जहाजन।
२. थकित सिन्ध नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत॥
३. भटकि फिर्‌यौ वोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो।
४. जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥

---

१. अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३९८
२. श्री परशुराम वैद्य द्वारा सम्पादित प्राकृत व्याकरण, पूना १९२८, पृ० १७३। अर्थात् मुंज! तुम बाँह छुड़ा कर जा रहे हो तुम्हें क्या दोष दूँ? यदि मेरे हृदय से निकल जाओ तो मैं जानूँगी कि तुम सरोष हो।

खोजने से और भी समान उदाहरण मिल सकते है। सूर के दृष्टकूटों का प्रेरणा-बीज भी सिद्धों की संधाभाषा या रहस्योक्तियों में खोजा जा सकता है। वास्तव में सूर ने सिद्ध-साहित्य को देखा-पढ़ा था, यह नहीं कहा जा सकता है। पर इस प्रकार की शैली लोक में किसी-न-किसी प्रकार प्रचलित थी। हो सकता है कि सिद्धों से पूर्व भी यह परम्परा चल रही हो। सिद्धों ने इस परम्परा को ग्रहण किया। नए रूप में इसका प्रचलन सिद्धों से आरम्भ हुआ और निर्गुण सन्तों में होती हुई यह परम्परा हिन्दी में चलती रही। इस साम्य को प्रत्यक्ष प्रभाव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। "अपभ्रंश के रामकृष्ण काव्यों और हिन्दी के रामकृष्ण काव्यों की भाव-धारा में कोई समानता नही, कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। यदि कोई सम्भव सम्बन्ध हो सकता है तो वह अत्यन्त परोक्ष और पौर्वापर्य का ही हो सकता है।[१]"

६. रीतिकालीन हिन्दी-काव्य और अपभ्रंश—

रीतिकालीन वातावरण सामन्तवादी था। सामन्तवादी वातावरण अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी मिलता है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी आश्रयदाता का पूर्ण वर्णन मिलता है। इस काव्य का नायक भी आरम्भ मे भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करता था। उद्दीपन के रूप में ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि के रूप भी अपभ्रंश में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त नायिका भेद, शृङ्गार, नखसिख, रति आदि का भी समावेश अपभ्रश के चरितकाव्यों में है। उदाहरण के लिए नयनन्दी कृत 'सुदंसण चरिउ' लिया जा सकता है। 'सन्देश रासक' का षड्ऋतु वर्णन रीतिकालीन षड्ऋतु के समान विरहाकुल है। 'नेमिनाथ चउपई' मे बारहमासा शैली मिलती है। ये सारा परम्पराएँ वैसे हिन्दी के भक्ति-साहित्य मे भी मिलती हैं, पर रीतिकालीन कवियो ने इन्हें विशेष उभार दिया। वैसे इन सबकी मूल प्रेरणा संस्कृत और गाथा-सप्तशती जैसे प्राकृत काव्य में ही मिलती है, फिर भी अपभ्रंश-काव्य से भी रीति-कालीन कवियों ने यदि प्रेरणा ली हो तो असम्भव नहीं है।

७. हिन्दी के काव्यरूप और अपभ्रंश—

दोहा अपभ्रंश का प्रतिनिधि छन्द है। मुक्तक रचनाओं में इसका प्रयोग मिलता है। सन्देश रासक और कीर्तिलता जैसे प्रबन्धों में भी बीच-बीच में दोहे का प्रयोग मिलता है। मुक्तक के रूप में दोहे के प्रयोग की परम्परा, कबीर, रहीम, बिहारी तथा अन्य नीतिकारों में प्रतिफलित मिलती है। उपदेश, शृङ्गार और नीति सम्बन्धी दोहे हिन्दी में चलते रहे। यह छन्द हिन्दी में भी बहुत दिनों तक लोकप्रिय बना रहा।

दोहा-चौपाई की मिलित पद्धति जायसी, तुलसी, कबीर, सूर सभी में मिलती है। जैसा कि पीछे निर्देश किया जा चुका है, यह पद्धति अपभ्रंश की कडवक शैली पर चली। केवल घत्ता के स्थान पर दोहे का प्रयोग किया गया। दोहे के स्थान पर कहीं-कहीं सोरठे का भी प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश कवियों में सोरठे का भी प्रयोग

१. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० २६६-२६७

मिलता है। प्रबन्धों में छन्दों का वैविध्य अपभ्रंश के समान हिन्दी में भी नहीं मिलता। सूदन का 'सुजान चरित' इसका अपवाद है। चौपाई का विकास द्विवेदी जी ने अलिल्लाह छन्द से बताया है।[1] चउपई नामक छन्द अपभ्रंश में मिलता ही है।

विद्यापति, कबीर, सूर आदि की पद-शैली के बीज सिद्धों के चर्यागीतों में देखा जा सकता है। राग-रागिनियों का प्रयोग भी सिद्धों में मिलता है।

हिन्दी का एक और प्रिय छन्द रोला है। अपभ्रंश में धनपाल के समय से इस छन्द का प्रचलन मिलता है। रोला के साथ उल्लाला जोड़ कर छप्पय बनाया गया है। छप्पय का प्रयोग भी अपभ्रंश में हुआ है। कुमारपाल प्रतिबोध में इस छन्द का प्रयोग मिलता है। स्वयंभू छन्द में इसका लक्षण भी दिया गया है। हिन्दी में छप्पय-छन्द वीरगाथाओं से लेकर रीतिकाल तक चलता रहा।

हिन्दी का एक और लोकप्रिय छन्द घनाक्षरी है। इसका स्रोत अपभ्रंश में नहीं मिलता। पृथ्वीराज रासो में भी यह प्रयुक्त नहीं हुआ है। वैसे राजस्थान के चारण-भाटों में इसकी मौखिक परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। सवैया का भी स्पष्ट प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता।

छन्द-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का भी बीज अपभ्रंश में मिलता है। अपभ्रंश ने पहली बार मात्रिक छन्दों को प्रधानता दी। वर्णिक छन्दों की उपेक्षा एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। हिन्दी ने भी मात्रिक छन्दों को स्वीकार किया। अपभ्रंश से पूर्व छन्दों के तुकान्त होने की प्रवृत्ति भी नहीं मिलती। अपभ्रंश में ही तुक को स्वीकार किया गया है। आधुनिक युग तक तुकान्त छन्द का साम्राज्य रहा। अति आधुनिक काल में ही केवल अतुकान्त छन्दों का प्रचलन मिलता है। इस प्रकार छन्द के क्षेत्र में अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव हिन्दी में मिलता है।

गेय काव्य रूपों में अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। राग, फाग, चाँचर, रसायण, कुलक आदि अपभ्रंश में प्रचलित थे। 'रास काव्य' भी एक गेय मुक्तक काव्य-रूप माना जा सकता है। ये काव्य कोमल भी हो सकते थे और उद्धत भी। इनका मिश्रित रूप भी प्रचलित रहा। पृथ्वीराज रासो मिश्रित काव्य-रूप ही है। अपभ्रंश में प्रेमपरक, युद्धपरक तथा धार्मिक रास-काव्य प्रचलित थे। हिन्दी के आदि-काल में रास-काव्य रूप प्रचलित रहे। अपभ्रंश के 'चाँचरि' गीत का प्रयोग कबीर ने किया। कबीर के नाम से अनेक चाँचरि गीत चलते हैं। इसी प्रकार कबीर के नाम से फाग और वसन्त भी चल रहे हैं। इस प्रकार लोकगीतों को साहित्यिक रूप देने की जो प्रवृत्ति अपभ्रंश के कवियों में मिलती है, वही आरम्भिक हिन्दी कवियों में भी मिलती है। यह प्रवृत्ति ही अपभ्रंश से प्रभावित मानी जा सकती है। तुलसी ने 'रामलला नहछू' की रचना लोक-शैली पर ही की थी। इस प्रकार काव्यरूपों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य अपभ्रंश का ऋणी है।[2] पदों की परम्परा सिद्धों से जोड़ी जा सकती है।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५६

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' पंचम व्याख्यान।

अनेक काव्य-रूढ़ियाँ भी हिन्दी और अपभ्रंश में समान रूप से मिलती हैं। प्रबन्ध काव्य के आरम्भ में मङ्गलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन-निन्दा, सज्जन प्रशंसा जैसे प्रसङ्ग वाल्मीकि, कालिदास आदि में नहीं मिलते। बाणभट्ट, माघ, श्री हर्ष आदि ने इनको अपने काव्य में दिया है। अपभ्रंश काव्यों में ये रूढ़ियाँ अधिक लोकप्रिय हो गईं। रामचरितमानस में भी इस परिपाटी का निर्वाह किया गया है। संस्कृत के मुक्तककारों ने मुक्तकों में अपना नाम नहीं दिया था। अपभ्रंश में सरह के दोहों में यह प्रवृत्ति मिलती है। पीछे सूर, तुलसी, कबीर, भूषण आदि सभी प्रसिद्ध कवियों ने मुक्तकों में अपना नाम देने की प्रथा को अपनाया। आधुनिक युग में ये रूढ़ियाँ प्रायः समाप्त हो गई। नखसिख सम्बन्धी रूढ़ियाँ भी बहुत कुछ स्वयंभू और पुष्पदन्त में निश्चित हो गई थीं। पीछे भी प्रायः यही रूढ़ पद्धति चलती रही।

८. उपसंहार—

हिन्दी का आदिकाल और मध्यकाल एक प्रकार से अपभ्रंश के नैरन्तर्य से सम्बन्ध रखते हैं। अपभ्रंश के स्रोत से भाषा-रूप, विषयवस्तु और काव्य-रूप हिन्दी में विकसित होते रहे। अपभ्रंश और हिन्दी का इस दृष्टि से ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा। धीरे-धीरे भक्ति सम्बन्धी विषय-वस्तु की रूप-सज्जा में हिन्दी मौलिक होती गई। काव्य-रूप और छन्द अपभ्रंश के ही बहुत दिन तक चलते रहे। राज्याश्रित कवियों के साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव कुछ अधिक दिनों तक बना रहा। आदिकालीन प्रशस्ति, शृङ्गार-काव्य और रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ अपभ्रंश की परिपाटी पर चलते रहे। आधुनिक युग में प्रभावों की दिशा बदल गई। इस युग में आकर धीरे-धीरे हिन्दी विश्व-साहित्य से सम्पृक्त होती गई।

४१

हिन्दी की व्यापकता

१. पृष्ठ-भूमि

भारत की सांस्कृतिक एकता एक ऐतिहासिक सत्य है। बाहरी भिन्नता के पीछे एकता का अविच्छिन्न सूत्र है। भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में मध्यदेश की भाषा ने योगदान दिया है। यह कार्य शताब्दियों तक संस्कृत करती रही। पीछे पालि भी व्यापक हुई। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व ही हिन्दी का न्यूनाधिक अस्तित्व प्रत्येक प्रान्त में था। अंग्रेजी काल में हिन्दी की व्यापकता को कुछ ठेस पहुँचाई गई। व्यापार, सेनाओं के आवागमन, धार्मिक यात्राओं आदि की सुविधा के लिए हिन्दी का व्यवहार सार्वत्रिक हो गया था। महाराष्ट्र में नामदेव और तुकाराम के हिन्दी भजन गाए जाते थे। महाराष्ट्र के ललित नामक गीतों में हिन्दी का प्रयोग भी होता था।[1] इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण में रचित हिन्दी-रचनाओं की खोज हुई है।[2] भोसलवंशीय शाहजी ने १६८४ से १७१२ तक तंजाऊर पर राज्य किया। इन्होंने तेलुगु भाषा की भी सेवा की और इन्होंने हिन्दी में भी दो यक्षगान लिखे :

---

१. मराठी नाटकों में हिन्दी ललित, डा० विनयमोहन शर्मा, श्री विनायक राव अभिनंदन ग्रन्थ पृ० ३२६

२. इनकी सूचना श्री भीमसेन निर्मल के 'हिन्दी की सार्वदेशिकता' नामक लेख [भाषा, सितम्बर १९६४] के आधार पर दी गई है।

'राजा वंशीधर विलास नाटक' और 'विश्वातीत विलास नाटक[1]'। इनकी भाषा राजस्थानी और मालवी मिश्रित ब्रजभाषा है। गीतों के राग कर्नाटक पद्धति पर हैं। तिरुवितांकूर (केरल) के राजा गर्भ श्रीमान स्वातितिरुनाल श्री रामवर्मा ने 'पद्मनाभ' नामक उपमान से लगभग ४० हिन्दी भजनों की रचना की। १८८० के लगभग श्री शिष्टु कृष्णमूर्ति और मंड कामटया या नरहरि नामक दो महानुभावों ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तेलुगु में अनुवाद किया। इन्होंने हिन्दी छन्दों का ही प्रयोग किया है।[2] सन् १८८४ से १८८६ के बीच मछिलीपट्टणम के निवासी श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने हिन्दी में एकाध नहीं ३२ नाटकों की रचना की है। इनकी लिपि तेलुगु ही है। इनमें से १४ नाटक आज भी प्राप्य हैं। इसी प्रकार के अन्य नाटक भी लिखे गए होंगे। स्व० पशुमूर्ति यज्ञनारायण शास्त्री ने 'आन्ध्र नट प्रकाशिका' (१९२०) ग्रन्थ में आन्ध्र के हिन्दी नाटक लेखकों का उल्लेख किया है।

दक्खिनी का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है। यह भी हिन्दी के दक्षिण में सार्वत्रिक प्रचार का द्योतक है। जहाँ-जहाँ दक्षिण में मुस्लिम जनसंख्या है, दक्खिनी का प्रयोग है। उनके सम्पर्क से गैर-मुस्लिम जनसंख्या भी हिन्दी बोलने, समझने लगी है। ऊपर जिस साहित्य की चर्चा है, वह उस समय की है, जब तक प्रचार आरम्भ नहीं हुआ था। इनकी प्रेरणा राजनीतिक भी नहीं थी।

मलयालम के एक महाकवि, कलवकत्त कुंचन नम्बिदार ने कुछ वर्ष पूर्व 'स्यमंतकम' नामक खण्ड काव्य की रचना की थी। सम्भवतः भाषा के आधार पर हास्य उत्पन्न करने की दृष्टि से इस कवि ने कुछ पंक्तियाँ हिन्दी में लिखी हैं। नीचे ये पंक्तियाँ दी जाती हैं[3]—

> जय जय राम राम सीता राम राम।
> जय जय राम राम कोदण्डा राम
> तुमारा मुलुकु कौन मुलुक
> हमारा मुलुकु काशी मुलुक
> तुमारि ठिकाणि काहे रे बाबा
> हमारी ठिकाणि सीता राम राम।
> ब्रह्मदेवो दावन दारो
> अच्छा पानी डालो डालो
> पत्ता लावो कारी लावो
> मेस्तू लावो केली लावो
> तू ही लावो हुदरे लावो

१. ये तंजाऊर के 'सरस्वती महल पुस्तकालय' में हैं।
२. तुलसीदास रामायण—प्रथम तेलुगु अनुवाद, श्रीमती निवेदिता, 'परिशोधन' मद्रास, जून-जुलाई १९५६
३ सी० के० करुणाकरन के लेख [भाषा, सितम्बर १९६१] से उद्धृत।

सुपारि लावो सरकारि लावो
पूरी दारे दस्तु लावो ।

इस प्रकार मलयालम काव्य में इतने पूर्व हिन्दी का प्रवेश हो गया । ये पंक्तियाँ केरल वासियों की समझ में नहीं आतीं । पर, किसी उद्देश्य से ये काव्य में प्रयुक्त हैं ।

२. हिन्दी : स्तर—

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रायः सभी राष्ट्रीय भाषाओं ने कुछ अतिरिक्त दायित्वों का अनुभव किया है । सभी भाषाओं ने एक प्रसुप्ति-युग के पश्चात् जैसे जागरण के किरणोज्ज्वल क्षणों में करवट बदला हो । हिन्दी का दायित्व-क्षेत्र और भी विस्तृत गया है । कारण को दोहराने की आवश्यकता नहीं है ।

आज हिन्दी शब्द तीन अर्थों में प्रायः प्रयुक्त होता है । एक अर्थ तो उसकी बोलीगत व्यापकता और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से व्युत्पन्न होता है । इस व्यापक अर्थ में हिन्दी की स्थिति अपनी समस्त बोलियों से सेवित मिलती है । इन बोलियों में राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी बोलियाँ सम्मिलित हैं । इन बोलियों की सीमा-रेखाएँ अधिक स्पष्ट नहीं हैं । निकटस्थ बोलियों में समानताएँ मिलती हैं । दूरस्थ बोलियों में मौलिक समानता तो मिलती है, पर कुछ ऊपरी अन्तर अधिक होते जाते हैं ।

दूसरे अर्थ के अनुसार हिन्दी एक प्रचलित परिनिष्ठित भाषा है । सामान्य जीवन-स्थितियों में यही रूप लिखने-पढ़ने का माध्यम है । इसका बहुत-कुछ रूप-संस्कार राजनैतिक कारणों और अन्य बोलियों और भाषाओं के सम्पर्क के कारण हुआ है । इसका सर्वमान्य रूप धीरे-धीरे स्थिर होता जा रहा है । पर इस पर पड़े क्षेत्रीय प्रभाव इसे हर क्षेत्र में एक विशिष्टता प्रदान करते हैं । जिस प्रकार अंग्रेजी, सभी क्षेत्रों में है, पर उच्चारण आदि की दृष्टि से बंगाली-अंग्रेजी, मद्रासी-अंग्रेजी, पंजाबी-अंग्रेजी जैसे भेद किए जा सकते हैं । उसी प्रकार हिन्दी भी क्षेत्रीय प्रभावों से बच नहीं सकती । पर इसका मौलिक ढाँचा प्रायः एक ही है । क्षेत्रीय अन्तर शब्दावली और उच्चारण की दृष्टि से प्रतीत होता है ।

हिन्दी का तीसरा रूप वह है जो साहित्य में प्रयुक्त होता है । छायावादी युग में सामान्य परिनिष्ठित हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी के बीच बहुत अन्तर आ गया था । इतना अन्तर न भारतेन्दु युग में रहा न द्विवेदी युग में । छायावादोत्तर युग में भी यह अन्तर समाप्त होता गया है । आज के कवि और लेखक ने तो जैसे साहित्यिक और बोलचाल की हिन्दी के अन्तर को समाप्त करने के लिए जिहाद बोल दिया है । आज की नई कविता या कहानी में प्रतीकों की उलझन हो सकती है, भाषा प्रायः बोलचाल की मिलती है । साहित्य के विशिष्ट या पारिभाषिक अंगों में निश्चित ही संस्कृतगर्भित हिन्दी का प्रयोग होता है जैसे शोध, समीक्षा आदि । इस साहित्यिक रूप और बोलचाल के परिनिष्ठित रूप में जो अन्तर है, बहुधा शब्दकोशीय है । रूप-रचना भी संस्कृत के अधिक समीप हो जाती है । नई कविता और नई कहानी के क्षेत्रों

में कुछ नवीन रूप-प्रयोग भी मिलते हैं। बोली और परिनिष्ठित हिन्दी के अन्तरों को तो स्पष्ट किया जा सकता है, पर परिनिष्ठित बोलचाल की हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी में अन्तर करना कठिन है।

३. परिनिष्ठित हिन्दी और बोलियाँ—

आज एक और चर्चा अहिन्दी क्षेत्रों, मुख्य रूप से दक्षिण में चलती है। इसका आशय यह है कि हिन्दी की समस्त बोलियाँ पृथक हैं। उनका अपना साहित्य और व्याकरण है। उनको हिन्दी के साथ जोड़ कर हिन्दी के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से अधिक विस्तृत बताया जाता है। वास्तव में इतना विस्तृत क्षेत्र हिन्दी का है नहीं। पर इन अर्द्ध-प्रसुप्त तर्कों को लेकर सत्य को आवृत नहीं किया जा सकता। वे भूल जाते हैं कि इन क्षेत्रों में बोलियाँ तो घरेलू हो गई हैं। हिन्दी ही वहाँ की प्रमुख भाषा है। घरेलू रूप में भी अधिक शिक्षित कुटुम्बों में परिनिष्ठित हिन्दी का ही व्यवहार होता है। भिन्न बोलियों के बोलने वाले पारस्परिक विचार-संवहन में परिनिष्ठित हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा-स्तरों तक इन क्षेत्रों में परिनिष्ठित हिन्दी ही व्यवहृत होती है। साहित्य या साहित्येतर गम्भीर विषयों के प्रतिपादन का माध्यम भी यही हिन्दी है। शिक्षा के विकास के साथ बोलियों का प्रयोग सीमित होता जाता है और परिनिष्ठित हिन्दी बोलियों का स्थान लेती जा रही है। इसी परिवर्तन के कारण बोलियों का विकास और समृद्धि की सम्भावना भी बहुत कम होती जा रही है। पहले बोलियाँ हिन्दी का प्रभाव आत्मसात करेंगी और हो सकता है एक दिन में उनका विलय हो जाय। यदि इनका अस्तित्व बना भी रहेगा तो व्यवहार-क्षेत्र और भी सीमित हो जायगा। इस वस्तुस्थिति का निष्पक्ष सर्वेक्षण उक्त तर्कों को निर्मूल सिद्ध कर देता है।

परिनिष्ठित हिन्दी का कार्य-क्षेत्र स्वतंत्रता के पश्चात बहुत अधिक बढ़ा है। इसमें एक लचीलेपन, सरलता और लाघव लाने की आवश्यकता है। अहिन्दी भाषियों के व्यवहार की भाषा इसे बनना है। हिन्दी अपने इस व्यापक रूप में अब सुनिश्चित होती जाती है। रूपों के स्थिरीकरण में कुछ समय लग सकता है।

साथ ही अन्य राष्ट्रीय भाषाओं की भाँति हिन्दी को सभी प्रकार की शिक्षा का माध्यम बनना हैं। वैज्ञानिक या सांकेतिक विषयों के अध्ययन-अध्यापन की सुविधाएँ इसे देनी है। इस सामान्य भाषा की एक पारिभाषिक शब्दावली का विकास करना है। अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने हैं और नवीन शब्दों की रचना भी करनी है। ये हिन्दी के प्रयोग के विशिष्ट क्षेत्र होंगे। इसके लिए तैयारी की आवश्यकता है।

४. जनभाषा हिन्दी—राजभाषा से पूर्व हिन्दी एक भाषा है। राज या राष्ट्र विशेषण इस बात का द्योतक है कि हम हिन्दी को एकात्मकता की सूत्रमयी भाषा बनाने का संकल्प करते हैं। वर्तमान हिन्दी कुरु प्रदेश से व्याप्त होकर दिल्ली के

शासकों की दृष्टि में प्रिय भाषा बनी और उसकी एक शैली उर्दू और फारसी शब्दों की बहुलता से युक्त बनी। सारे प्रशासित प्रदेश में पूर्ण राजभाषा के रूप में नहीं तो सहायक राजभाषा या व्यवहार की भाषा के रूप में यह कई शताब्दियों तक रही। राष्ट्रीय संघर्ष के काल में भी इसकी व्यापकता बढ़ी। हिन्दी की भाषागत सम्पन्नता अपनी बोलियों की व्यापक विरासत पर भी आधृत है और सम्पर्क में आने वाली अन्य विदेशी भाषाओं पर भी। भोजपुरी, अवधी, मैथिली, काशिका, ब्रज, राजस्थानी, बैसवाड़ी जैसी अनेक बोलियों का साहित्य और उनकी परम्परा हिन्दी के केन्द्र पर समन्वित होकर एक महान् भाषा की भूमिका बना रही है। भारत के समस्त पुराने सांस्कृतिक या वैचारिक संघर्ष या ऊपरी अनेकता, स्वतन्त्र भारत में विराम ले रहे हैं। एक अभूतपूर्व एकता का अनुभव किया जाने लगा है। और भारत के सभी विचारवान व्यक्ति इस एकता की सुरक्षा के लिए जागरूक भी हैं। किसी भी मूल्य पर एकता को खण्डित नहीं होने देना है और विघटन या विभाजन की शक्तियों को सदैव के लिये विदाई देनी है। इसी महायज्ञ की सिद्धि के लिये एक सूत्रमयी भाषा भी आवश्यक है—ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया है। साथ ही एकता को शुद्ध रूप से राष्ट्रीय-भावनाओं पर आधारित करने के लिये, वह एकता की भाषा इसी देश की हो—यह भी आवश्यक है।

देश की भाषा यदि दुर्बल और गरीब प्रतीत होती है, तो उसका कारण अँग्रेजी और हमारी अपनी ही मातृ-भाषा के प्रति अन्यमनस्कता हैं। वैसे तो सारे देश में गरीबों की ही संख्या अधिक है; तो क्या गरीब होने के कारण उन्हें देश से बाहर निकाल देंगे? उनको धनवान और समृद्ध बनाना है। भाषाएँ भी हमारी सहानुभूति पाकर समृद्ध हो जायँगी। स्वतंत्र होने के पश्चात् हमारी भाषाएँ नवोन्मेष करने लगी हैं। नेहरूजी ने भी अनुभव किया: "स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय भाषाओं ने जिस प्रभूत मात्रा और लगन से उन्नतिशील सम्पन्न वाङ्मय दिया है, किसी भी विश्व भाषा में इसके पूर्व इतनी बड़ी क्रांति नहीं आई थी।" अंग्रेज इस देश से चले गये। भाषाओं को पनपने का अवसर मिला। भारत की धरती की आस्था ने अंग्रेजियत से लोहा लिया था। कुछ अल्प संख्यक लोग सांस्कृतिक स्वतंत्रता-काल में भी आंग्ल प्रभाव और थोथी बुद्धिवादिता से प्रभावित हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे लोग है जो भारतीय स्वतंत्रता के पूर्व ही विलायती शासकों के सहायक थे। वे ही देश की भाषागत नव-जाग्रत चेतना पर कुठाराघात करने को उतारू हैं। इन वर्गों के निहित स्वार्थ ही इनकी दृष्टि में सर्वोपरि हैं। भाषा-सम्बन्धी भावुकता इनकी समाप्त हो गई है।

संविधान में स्वीकार किया गया था कि सन् १९६५ तक हिन्दी समस्त देश की कार्यकारी भाषा होगी। पर सरकार ने अपने इस वचन को हल्के रूप में लिया। इसके लिये कुछ तैयारी की गई। पर जितनी तैयारी इस परिवर्तन के लिये आवश्यक थी, उतनी नहीं हो पाई। उस समय के शिक्षा मंत्री स्व० मौलाना आजाद ने हिन्दी को जनभाषा बनाने के कार्य में विशेष रुचि नहीं ली। वास्तव में सरकार को

समझना चाहिये कि उसके सिर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। संकल्प की महानता, प्रयत्न की महानता की माँग करती है। हिन्दी का आन्दोलन समूचे देश को आत्म-निर्भर और समृद्ध बनाने का संकल्प है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश एक सीमित अर्थ मे ही हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में ही यह प्रवेश है। देश की समृद्धि का अर्थ इससे बड़ा है। हम दर्शन, विज्ञान, शिल्प, कला सब पर जनता का स्वामित्व चाहते हैं और इसीलिये हम जनता की भाषा की उन्नति की बात करते हैं।

देश की स्वाधीनता के बाद हमारी शक्ति का अपव्यय अखाड़ेबाजी में अधिक हुआ है। गुटबन्दी में साधना का स्तर भी गिरता जाता है।

५. राजभाषा का रूप—जब हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं को राज-संरक्षण प्राप्त हो गया है, तो इनका क्षेत्र-विस्तार स्वाभाविक हो जाता है। अँग्रेजी से इनकी कुछ प्रतियोगिता सी चली। पर धीरे-धीरे सत्य की प्रतिष्ठा होती जा रही है। भारत में देशी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। यूनेस्को विवरण के अनुसार अँग्रेजीतर भाषाओं में प्रकाशित साहित्य और हिन्दी के माध्यम से मिलने वाला अन्य साहित्य विपुल है। किसी भी देशी भाषा से हिन्दी इस दृष्टि से आगे है। विदेशी दूतावास भी हिन्दी और कुछ अन्य राष्ट्रीय भाषाओं में अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित करते है। सरकारी विज्ञापन भी हिन्दी या अन्य देशी भाषाओं में निकल रहे है।

अहिन्दी क्षेत्रो के विश्वविद्यालयों मे स्नातकोत्तर अध्यापन और शोध-विभाग खोलने में केन्द्र ने पर्याप्त योगदान दिया है। अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के अध्यापन को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जाती है। विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति देकर उनको हिन्दी के अध्ययन की ओर आकर्षित किया है। हिन्दी-क्षेत्र में सृजनात्मक साहित्य, अनु-संधान साहित्य तथा संदर्भ-ग्रन्थों की रचना और उनके प्रकाशन को सरकार आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन दे रही है। शिक्षा-मंत्रालय ने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना की है। निदेशालय ने समस्त क्षेत्रीय बोलियों में प्राप्त वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों पर ध्यान दिया है। अखिल भारतीय वैज्ञानिक शब्दावली का प्रारूप प्रकाशित किया जा रहा है। कितनी ही अनुसंधान संस्थाओं की स्थापना की गई है और पुरानी संस्थाओ को प्रोत्साहन और संरक्षण दिया गया है। तकनीकी पत्रों में भी हिन्दी के लेख छपते हैं। रेडियो और फिल्म-उद्योग भी हिन्दी के प्रसार में योगदान दे रहे हैं। फिर भी लगता है कि इस दिशा में जितना कुछ किया जाना था, नहीं किया जा सका।

राजभाषा के स्वरूप पर विचार करते-करते उसकी तत्सम बहुलता और संस्कृतनिष्ठता की बात भी आती है। कुछ लोगों का विचार है (इन विचारकों में नेहरूजी भी सम्मिलित थे) कि उर्दू या फारसी शब्दों को लेकर चलने वाली हिन्दी सरल होती है। डा० केसकर ने आकाशवाणी के कार्यक्रमों में जिस प्रकार की हिन्दी का प्रयोग कराना चाहा था, उसको कठिन बतलाया गया। उर्दू-मिश्रित भाषा को सरल मानने की बुद्धिमानी वे ही लोग करते हैं जो अहिन्दी क्षेत्रों की स्थिति से

परिचित नहीं हैं। दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत तत्सम शब्द बहुल हैं, यह कोई छिपा हुआ सत्य नहीं है। उत्तर प्रदेश को ध्यान में रखकर बनी हुई उर्दू मिश्रित हिन्दी, दक्षिण वालों के लिये निश्चित रूप से हुई होगी। बङ्गाली सज्जनों के लिये तो संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही ग्राह्य हो सकती है। वैसे यह बात सही है कि राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ढलेगी, पर यह भी सही है कि उसका संस्कृतनिष्ठ रूप ही मानकर होना चाहिये। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि हिन्दी का रूप-संस्कार व्यापक व्यवहार के द्वारा ही हो सकेगा। हिन्दी की परम्परा जनवादी रही है। उसको उसी परम्परा का अवलम्ब रहा है। उसी को क़ायम रखना चाहिये। अनावश्यक कृत्रिमता से उसकी आत्मा चीत्कार कर उठेगी।

भाषा के सरलीकरण के साथ ही साथ प्रश्न उसके अखिल भारतीय रूप का भी है। उसको लोकतंत्रीय रूप देना है। सरकारी कामकाज के लिये जिस हिन्दी का प्रयोग हो रहा है, उसे अधिक से अधिक सामान्य हिन्दी के निकट लाना है। जब सामान्य भाषा से विशिष्ट भाषा-रूप दूर पड़ने लगता है तभी भाषा के सरलीकरण की माँग उठाई जाती है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, उन्हें भी विशेष भाषा रूप के सामान्य भाषा रूप से विलग हो जाने पर कठिनाई का अनुभव होता है। आज यह अनुभव किया जा रहा है कि सरकारी हिन्दी धीरे-धीरे अधिक विद्वत्तापूर्ण और विशुद्धतावादी होती जा रही है। इसी के कारण से दुरूहता आती जाती है। साथ ही विशुद्ध हिन्दी की प्रवृत्ति इसलिये उत्पन्न होती है कि जब किसी भाषा को विशिष्ट रूप में प्रयुक्त किया जाता है, तो एक चेतन प्रक्रिया होती है। यह चेतन प्रक्रिया भाषा को कृत्रिम रूप में ढालती है और इस प्रयत्न में वह विशुद्ध होती जाती है। यह प्रक्रिया है तो स्वाभाविक, पर अधिक से अधिक संतुलन विशिष्ट और सामान्य भाषा के बीच बनाये रखना चाहिये। अब तक एक दूसरी भाषा को काम में लाते रहने वाले सरकारी कर्मचारियों के मन में भी एक अन्यमनस्कता, या विरोध का भाव विशिष्ट भाषा की दुरूहता देख कर उत्पन्न हो जाता है। भाषा को सरल बनाने की माँग को आकाशवाणी के अधिकारियों ने कुछ अधिक गम्भीरता से लिया है। उन्होंने वहाँ व्यवहृत हिन्दी को अधिक सरल और ग्राह्य बनाने का प्रयत्न भी किया है : वे सफल भी हुए हैं।

भाषा को सरल बनाने का तात्पर्य केवल शब्दों, वाक्यांशों और पदों को सरल बनाने से ही नहीं है, अपितु उसकी रचना-विधि, से भी है। इसी दृष्टि से पारिभाषिक शब्दावली या मुहावरों पर भी पुनर्विचार करना है। यह जहाँ आवश्यक है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि भाषा के विशिष्ट रूपों के प्रयोक्ता हिन्दी के इस रूप के साथ तादात्म्य स्थापित करें और अपने मन से इस भाषा के प्रति तिरस्कार-भावना न रखें।

६. सामान्य हिन्दी—

जहाँ तक सामान्य हिन्दी का प्रश्न है, इसके बोलने वालों का भी स्तर-भेद मिलना स्वाभाविक है। आज की हिन्दी-भाषी जनता की सुविधा के लिए आठ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : तकनीकी वर्ग, साहित्यिक वर्ग, राजनीतिक वर्ग, धार्मिक प्रवक्ता, अंग्रेज़ी न जानने वाले हिन्दी-भाषी, ऐसे व्यक्ति जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, कामकर और सामान्य जन। इन सभी की सामान्य हिन्दी में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। उक्त वर्गों में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, छठे और सातवें वर्ग के हिन्दी-भाषी ५ से २० प्रतिशत तक अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हैं। धार्मिक प्रवक्ता और सामान्य जन पचे-पचाए अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी न जानने वाले हिन्दी-भाषी सम्पर्क से प्राप्त अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अंग्रेज़ी का प्रभाव न्यूनाधिक रूप से सभी हिन्दी-भाषियों पर दिखलाई पड़ता है। सभी वर्गों पर फ़ारसी का प्रभाव भी न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। अहिन्दी क्षेत्रों में भी न्याय, रेवेन्यू (माल) तथा अन्य सरकारी विभागों में फ़ारसी के शब्द पाए जाते हैं। फ़ारसी के शब्द हिन्दी उपसर्गों और प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत का प्रभाव तो बहुत दूरगामी और परम्परागत है। विशुद्ध हिन्दी संस्कृतनिष्ठ होती जाती है। संस्कृत के व्याकरण का हिन्दी व्याकरण पर अधिक प्रभाव नहीं है, पर शब्दों पर बहुत अधिक है। अन्य भाषाओं की शब्दावली भी इस स्रोत से अधिक प्रभावित है। तेलुगु जैसी भाषाओं के व्याकरण पर भी संस्कृत का प्रभाव है। इन भाषा-भाषियों को हिन्दी व्याकरण के सम्बन्ध में इसीलिए कठिनाई का अनुभव होता है। इन प्रभावों के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, पुर्तगाली आदि का प्रभाव भी है। आज़ादी के बाद अन्य भारतीय भाषाओं के प्रभाव की भूमिका भी बनती जा रही है।

सरकारी हिन्दी या विशिष्ट हिन्दी—

इस पर पाणिनि की संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव शब्दावली, परसर्ग, वाक्य-रचना इत्यादि पर मिलता है। यह प्रभाव इतना अधिक है कि सामान्य भाषा के वे शब्द जो व्यवहार में खप गए हैं, इससे निकाले जाते हैं। या तो उनके स्थान पर नए गढ़े हुए शब्द प्रयुक्त होते हैं, अथवा संस्कृत शब्दों की भरती की जा रही है। दूसरी भारतीय भाषाओं के शब्द बहुत कम है। कुछ अंग्रेज़ी शब्द अवश्य आ जाते हैं। इस प्रकार सरकारी हिन्दी सामान्य हिन्दी से दूर होती जाती है। इसीलिए यह हिन्दी दुरूह भी प्रतीत होती है। पर इस दुरूहता के पीछे नवीन भाषा के प्रयोग की परि-स्थिति है। अन्यथा संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण हिन्दी दुरूह नहीं होगी। सभी भाषाओं में संस्कृत शब्दों की बहुलता पहले से ही है। संविधान में हिन्दी की शब्दावली के विकास के सम्बन्ध में अंग्रेजी का कोई उल्लेख नहीं है। पर संविधान की यह नीति भी नहीं है, कि अंग्रेज़ी का बहिष्कार किया जायगा। वास्तविक बात यह है कि अंग्रेज़ी का पर्याप्त प्रभाव भारत की सभी भाषाओं पर पड़ चुका है।

विदेशी शब्दों को लेना आवश्यक रहेगा। हिन्दी के विकास में अंग्रेज़ी के योगदान के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं का योगदान एक नवीन और महत्त्वपूर्ण बात है। इसी की ओर संविधान मे संकेत किया गया है। अब हिन्दी का विकास इन भाषाओं से निरपेक्ष हो कर नहीं होगा। उसे संविधान के अनुसार, सभी भारतीय भाषाओं और संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करना है। इसलिए उसको सभी भारतीय भाषाओं से शब्द भी ग्रहण करने हैं।

७. क्या हिन्दी का साहित्य कुछ नहीं ?—

कहा जाता है हिन्दी में बाल-साहित्य नहीं है। 'आत्मने पद' में अज्ञेय जी ने लिखा था : 'हमारा दुर्भाग्य था कि हिन्दी में बाल-साहित्य तब लगभग नहीं था। अब भी कुछ बहुत या अच्छा हो, ऐसा नही है।" यह कथन पुराना तो है, पर सत्य के निकट है। वैसे इस दिशा में प्रगति है। अनुवाद हो रहे है : 'रॉबिन्सन क्रूसो', 'गुलीवर्स ट्रैवल्स' आदि। अनेक देशों की लोक-कथाओं के बाल संस्करण प्रकाशित हो चुके है। अब मौलिक बाल-साहित्य काफ़ी हो गया है। काव्य, नाटक, कहानी—सब लिखे गए है। 'पराग', 'चन्दामामा' जैसी बाल-पत्रिकाएँ भी हैं। लेकिन हिन्दी के विशाल क्षेत्र को देखते हुए पत्रिकाएँ अवश्य कम हैं। सरकार और प्रकाशकों से प्रोत्साहन पाकर बाल-साहित्य विकास कर रहा है। इस क्षेत्र में उचित शोध, समीक्षा और निर्देशन भी अपेक्षित है।

इसी प्रकार एक और उपेक्षित विधा रही है—संस्मरण-जीवनी-आत्म-कथा आदि। पर अब इस उपेक्षित दिशा में भी अनूदित और मौलिक साहित्य प्रकाशित होने लगा है। विज्ञान, समाज-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य भी प्रचुर होता जा रहा है।

वास्तविक बात यह है कि हमारा शिक्षित वर्ग अपने साहित्य का मूल्य करना सीखा नही है। विदेशी साहित्य से ही वह अपने अवकाश को सजाता है। इस वर्ग के लोग प्रायः ही यह कह दिया करते हैं कि भारतीय भाषाओं में है क्या। अंग्रेज़ी की तुलना में तो यह बात कुछ दूरी तक ठीक भी है। पर क्या उसी आधार पर हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की उपेक्षा कर देनी चाहिए ? जो लिखना भी चाहते हैं, वे अंग्रेज़ी की ओर बढ़ते है। यदि ऐसे लेखक कुछ कृपा अपनी भाषाओं पर भी कर दिया करें तो दारिद्रय स्वयं ही दूर हो जायगा। अंग्रेज़ी के लेखन के द्वारा भारतीय लेखकों का अंग्रेज़ी साहित्य में क्या स्थान बनता है, यह तो वे जानें, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान का प्रसार जनता तक तो नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी विषय और प्रेरणा तो दे सकती है पर शिक्षा और ज्ञान-प्रसार का माध्यम नहीं बन सकती।

हिन्दी में अब पत्र-पत्रिकाओं की दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। विविध विषयों की पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनके आँकड़े भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। केन्द्रीय सूचना-विभाग से आँकड़े मिलते रहते हैं। सन् १९६० ई० में अन्य भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं से तुलना करें तो चित्र इस प्रकार बनेगा :

दैनिक-हिन्दी	उर्दू	अंग्रेजी	मराठी	गुजराती	कन्नड़	मलयालम
११६	७५	५०	४२	३५	३०	३०
तमिल	तैलुगु	पंजाबी	बांगला	उड़िया		
२६	१४	१३	७	५		

वैसे प्रचार संख्या में अंग्रेजी दैनिक पत्र ही सबसे अधिक हैं। इनकी प्रचार संख्या १९६० में ४१·४७ लाख थी। हिन्दी दैनिकों की प्रचार-संख्या ३५·८३ लाख थी। मासिक पत्रों की तुलनात्मक तालिका इस प्रकार है—

विषय	अंग्रेजी	हिन्दी	बाङ्ला
विविध	१६२	११३	७
समाचार	२२६	४५८	१८३
साहित्य-संस्कृति	६०	१९६	११७
धर्म-दर्शन	१३९	१२०	४४
महिला	८	७	५
बालक	४	३३	७
सिनेमा	३०	३८	१८
खेल-कूद	९	१	५
रेडियो सङ्गीत	७	५	४
शिक्षा	२८	१७	६
विज्ञान	३३	४	१
चिकित्सा स्वास्थ्य	८८	२७	४
कला	७	×	४
समाज कल्याण	४३	८४	६
वाणिज्य उद्योग	१३३	२२	१
वित्त अर्थ	२२	६	१
बीमा बैंक सहकारिता	२१	८	१
श्रम	४०	१९	६
विधि प्रशासन	८५	११	[illegible]
कृषि	४१	२३	२
ऐंजिनियरिंग	५८	१	×
परिवहन संचार	३६	१	×
बाज़ार भाव आदि	६३	५६	×
ज्योतिष	३	९	×
कथा कहानी	२	४९	२

इस तालिका से एक बात तो निश्चित रूप से स्पष्ट है कि हिन्दी के पत्रों की प्रगति सन्तोष-जनक है। माँग बढ़ने पर और भी विषयों पर अनेक पत्रिकाएँ निकलती

जायँगी। इन तथ्यों को देखते हम यदि हिन्दी के साहित्य में केवल रेलवे टाइम टेबुल ही देखें, तो जैसे हम घोषणा कर रहे हों : माफ़ कीजिए हमने हिन्दी साहित्य पढ़ा ही नहीं है।

पत्र-पत्रिकाओं की ही वृद्धि नहीं हो रही है, विविध प्रकार का साहित्य भी हिन्दी में बन रहा है। जहाँ आवश्यक है, अनुवाद किया जा रहा है। मौलिक साहित्य भी किसी प्रकार कम नहीं बढ़ रहा है। हिन्दी 'नई कहानी' विश्व के कथा-साहित्य में अपना स्थान बनाने जा रही है। सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त सभी आधुनिक विद्याओं और विज्ञानों पर भी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। कुछ ही दिनों में सरकारी और प्रकाशकीय प्रयत्नों से साहित्य के सभी रिक्त अङ्गों की पूर्ति होने लगेगी।

८. समृद्धि और विकास—

८.१ वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली—संविधान के अनुच्छेद ३४४ के अनुसार १९५५ में नियुक्त राजभाषा आयोग ने यह स्पष्ट घोषणा की कि भारतीय भाषाओं के विकास के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य पारिभाषिक शब्दावली तैयार करना है। शब्दावली की कमी ही भारतीय भाषाओं की दुर्बलता कही जा सकती है। एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन भी आयोग ने किया : नई शब्दावली तैयार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि संघ की भाषा तथा दूसरी सभी प्रादेशिक या राष्ट्रीय भाषाओं में यथा सम्भव एकरूपता रहे। इस दिशा में केन्द्र तथा राज्यों के सभी प्रयत्नों में समुचित समन्वय की आवश्यकता है। संसद की राजभाषा समिति ने विज्ञान और प्रोद्योगिकी (टैक्नॉलजी) के क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाओं में एकरूपता होनी चाहिये। साथ ही यह शब्दावली अँग्रेजी और अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के अधिक से अधिक निकट होनी चाहिये। शिक्षा मंत्रालय ने इस कार्य के पर्यवेक्षण और समन्वय के लिये वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की जिसमें वैज्ञानिकों और प्रोद्योगविदों के अतिरिक्त एक या दो भाषाविद भी हैं। आयोग का यह भी कार्य था कि नई शब्दावली के अनुसार मानक पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराये : शब्दकोश तैयार कराये : तथा विदेशी भाषाओं की वैज्ञानिक पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराये। विश्वविद्यालयों और विद्वत्-सस्थाओं से भी इस सम्बन्ध में सम्पर्क रखना आवश्यक समझा गया।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने लाखों पारिभाषिक शब्द तैयार किये हैं। निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार इन शब्दों को मानक रूप दिया गया। शिक्षा मंत्रालय भी इस कार्य में संलग्न है। राज्य सरकारें और शैक्षिक निकाय भी इस दिशा में कार्य-शील हैं। इन प्रयत्नों से मानविकी, विज्ञान व प्रोद्योगिकी तथा प्रशासन और विधि की शब्दावली पर्याप्त मात्रा में तैयार हो चुकी है। किसी भाषा के संकल्पनामूलक शब्दों को ले लेना तो सम्भव और अपेक्षित नहीं है, पर जिन शब्दों को संसार की विकसित भाषाएँ आत्मसात कर चुकी हैं, उनको इस शब्दावली में अवश्य स्थान मिलना चाहिये। ये शब्द वजन और माप की इकाइयों के सूचक हो सकते हैं या

आविष्कारकों के नाम पर आधारित, या अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं। रेडियो या रेडार जैसे शब्दों के अनुवाद की आवश्यकता नहीं है। अनूदित शब्दों में भी अधिकाधिक एकरूपता की आवश्यकता है। संकल्पनामूलक और गुण-धर्म सूचक शब्द बनाने में संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं से सहायता लेनी पड़ेगी। इससे किसी भाषा के स्वतंत्र विकास को बाधा नहीं पहुँचेगी। यूरोप की विभिन्न भाषाओं की वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का मूल आधार एक होने पर भी सभी भाषाएँ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होती रही हैं। अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी विविधता में एकता स्थापित हो सकेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में तत्त्वों और यौगिकों के चिह्न, भौतिकीय मात्रिक और नियतांक, गणित में व्यवहृत चिह्न और संकेत, वनस्पतियों और प्राणियों के लैटिन द्विनाम सम्मिलित हैं। इनको अङ्गीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दावली में यथासम्भव एकता रहनी चाहिये, पर पूर्ण एकरूपता सम्भव नहीं है। विदेशों से इस प्रकार के शब्द ज्यों के त्यों नहीं लेने चाहिये जो एक सामान्य प्रत्यय या प्रतिबोध के आधार पर बनते हैं। अँग्रेजी में, 'कंडक्ट' से अनेक शब्द बनते हैं: कंडक्शन, कंडक्टर, कंडक्टेन्स, सुपर-कंडक्टर, कंडक्टिविटी आदि। इनको इसी रूप में लेने से भाषा बदल जायगी।

हिन्दी में तथा अन्य भाषाओं में तकनीकी या वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करने का कार्य गतिशील है। इसमें समय लग सकता है, पर कार्य की सिद्धि के प्रति हमें आशावान रहना है। नवीन शब्द बन रहे हैं या खोजे जा रहे हैं। परीक्षण और संशोधन भी चल रहा है। नवीन स्रोतों को भी खोजा जा रहा है। पारिभाषिक शब्दावली अधिकाँश श्रेण्य भाषाओं से व्युत्पन्न या उसी आधार पर बने होते हैं। योरोपीय भाषाओं की वैज्ञानिक शब्दावली ग्रीक और लैटिन धातुओं पर अधिकाँशत: आधारित है।

८.२ संस्कृत और हिन्दी—

यह सर्वमान्य है कि नवीन शब्द गढ़ने में हमें संस्कृत से सहायता लेनी पड़ेगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि विविध विषयों के लिये नवीन शब्दावली की आवश्यकता भी होगी ही। संविधान के अनुसार नवीन शब्द तभी बनाना पड़ेगा, जबकि पहले से हिन्दी में, अन्य भारतीय भाषाओं में वह शब्द नहीं होगा और अँग्रेजी के उस शब्द के ग्रहण करने से कोई लाभ न हो। अँग्रेजी का ऐसा शब्द लाभदायक नहीं होगा जो उस क्षेत्र में इतना अधिक घुलामिला न हो। ऐसा शब्द उस क्षेत्र में नया ही पड़ेगा। ऐसे अंग्रेजी शब्द को यदि ले लिया जायगा तो उसके घुलाने-मिलाने के लिये भी उतने ही अभ्यास की आवश्यकता होगी, जितने संस्कृत शब्द के लिये। ऐसी स्थिति में संस्कृत से ही शब्द ग्रहण करने पड़ेंगे। अँग्रेजी का ऐसा शब्द जो किसी नवीन संधारणा का प्रतीक हो और घुलमिल भी गया हो, ले लेना चाहिये। पर यह विश्वास नहीं होना चाहिये कि हिन्दी में नये शब्द गढ़ने की क्षमता ही नहीं है। शब्द-संग्रह में समंजन की बड़ी भारी आवश्यकता है। अँग्रेजी के सभी शब्दों के

समानार्थी देना कभी-कभी हास्यास्पद भी हो जाता है। इस शब्द-ग्रहण के सम्बन्ध में उदारता से काम लेना चाहिये। इसी से शब्दावली समर्थ और उपयुक्त हो सकेगी। पर यह अवश्य ध्यान में रखना है कि अँग्रेजी शब्द-ग्रहण से हिन्दी की मौलिक प्रकृति को ठेस न लगे।

अँग्रेजी शब्द-ग्रहण करने में अब तक शिक्षा-मंत्रालय की यह नीति रही है कि अँग्रेजी से केवल अन्तर्राष्ट्रीय शब्द ही ग्रहण किए जायँ। अन्तर्राष्ट्रीय शब्द प्रायः वे हैं जो इकाइयाँ बनाते हैं, व्यक्तियों के नामों के आधार पर प्रसिद्ध प्रक्रियाओं के नाम बताते है अथवा जो कई यूरोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। रसायन या जीव-विज्ञान आदि से सम्बन्धित जटिल संधारणाओं वाले अँग्रेजी शब्द भी ग्रहण किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के सम्बन्ध में मंत्रालय की नीति स्पष्ट और विवेकपूर्ण है।

अन्य भारतीय भाषाओं में भी खोजबीन कम हुई है। डिजाइन शब्द के लिये अभिकल्प शब्द गढ़ा गया है, जबकि बँगला में परिकल्प चलता है। यदि बँगला शब्द को ग्रहण कर लिया जाता तो दुविधा उत्पन्न नहीं होती। साथ ही डिजाइन शब्द से सभी परिचित भी हैं। नये शब्द के गढ़ने की आवश्यकता भी उतनी नहीं थी।

नवीन शब्द गढ़ने में हिन्दी प्रत्यय और उपसर्गों का प्रयोग इतना लाभकारी नहीं होता, जितना संस्कृत प्रत्ययों और उपसर्गों का प्रयोग। इसका कारण यह है कि अर्थ के विशेषीकरण की बहुत बड़ी क्षमता उनमें है। बहुत से हिन्दी प्रत्यय और उपसर्ग फारसी से भी आये हैं। इनमें इतनी शक्ति रहती नहीं है क्योंकि हिन्दी की प्रकृति इन प्रत्ययों की शक्ति के विस्तार में बाधक होती है। हिन्दी का सीधा सम्बन्ध संस्कृत से अब रहा भी नहीं। बीच में अपभ्रंश और प्राकृत आ जाती हैं। संस्कृत और आज की हिन्दी एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भिन्नता छोटी-मोटी बातों में ही नहीं है, मूल प्रकृति में भी अन्तर है। हिन्दी की प्रकृति वियोगात्मक है। इसमें रूप-तत्त्वों का निर्वाह शब्द समूह से होता है : जैसे 'हो गया है', 'मोहन के लिये'। संस्कृत संयोगात्मक भाषा है जिसमें रूप-तत्त्व, परसर्ग, प्रत्यय आदि के योग से रूप सम्पन्न होते हैं। अधिकाँश पारिभाषिक शब्द संस्कृत की पद्धति से बनाये जाते हैं। इसमें विशेष आपत्ति भी नहीं है, यदि हिन्दी की प्रकृति अक्षुण्ण रह सके। इस प्रकार की अनेक समस्याएँ तो सामने आती हैं, पर इनका समाधान भी धीरे-धीरे मिलता जाता है। हिन्दी अनेक स्रोतों से समृद्ध होने लगी है।

नवीन शब्द मिश्रित भी बन जाते हैं। अँग्रेजी के शब्दों के साथ हिन्दी के शब्द मिलकर उनका पूर्ण भारतीकरण कर देते हैं जैसे वल्कनीकरण, मीटरी, बोलूता, कैलोरीमापी, जलग्राफ आदि। पर आरम्भ में मिस्त्रियों और सम्बद्ध व्यक्तियों को ये शब्द अटपटे से लगते हैं। उनकी जबान पर जो शब्द चढ़े हुए हैं, उनकी दृष्टि से ऐसे शब्द अजीब तो लगते हैं, पर उनसे अधिक शक्तिशाली और गत्यात्मक अवश्य हैं।

८.३. दक्षिण भारत और हिन्दी—

गाँधी जी को भी हिन्दी प्रचार की दृष्टि से दक्षिण का ध्यान था। जहाँ इन्होंने एक प्रचार सभा मद्रास में स्थापित की और बड़े-बड़े लोगों को यहाँ कार्य करने के लिए भेजा वहाँ बार-बार दक्षिण से हिन्दी सीखने की उन्होंने अपील भी की। गाँधीजी का एक उद्धरण लिया जा सकता है : "मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन द्रविड़ भाई-बहन गम्भीर भाव से हिन्दी का अभ्यास करने लग जायेंगे। आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवाँ हिस्सा भी हिन्दी सीखने में करें, तो बाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज उनके लिए बन्द हैं, वे खुल जाएँ, और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जाएँ जैसे पहले कभी न थे। ···मैं हिन्दी के जरिए प्रान्तीय भाषाओं को दबाना नहीं चाहता, किन्तु उनके साथ हिन्दी को भी मिला देना चाहता हूँ, जिससे एक प्रान्त दूसरे के साथ अपना सजीव सम्बन्ध जोड़ सके।...मेरी इस बात से आप कोई भयभीत न हों कि हिन्दी सीखने वाले हर एक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा के अलावा कोई एक प्रान्तीय भाषा भी सीखनी चाहिये। ···लेकिन आपने तो अपने दिन की आँखों में एक डर सा बैठा लिया है, और किसी तरह यह महसूस करने लगे हैं कि आप हिन्दी में अपने भाव प्रकट नहीं कर सकते। यह हमारी मानसिक काहिली है···। समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा या जबान की जरूरत है, जिसे आज ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों और बाकी के लोग जिसे झट सीख सकें। इसमें शक नहीं कि हिन्दी ऐसी ही भाषा है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्रदान करें।[१]" बापू ने जो आशा प्रकट की थी, वह कार्यान्वित हो भी रही है। हिन्दी जानने और बोलने वालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

श्री नागप्पा का एक उद्धरण दक्षिण में हिन्दी के प्रसार की स्थिति को स्पष्ट कर देगा।[२] "इतना सब होते हुए भी दक्षिण भारत में एक हिसाब के अनुसार (दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विवरण के अनुसार) इन डेढ़ सौ वर्षों में जितने लोगों ने दक्षिण भारत में अंग्रेजी पढ़ी उससे दस गुनी जनता ने इन चालीस वर्षों में हिन्दी पढ़ी है। देश की भिन्न-भिन्न राज्य परिषदों, विधान परिषदों और सभाओं में हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं में बोलने वालों की संख्या बढ़ रही है।" दक्षिण भारत में सुदूर ग्रामों में भी हिन्दी के उत्साही विद्यार्थी मिल जाते हैं। यद्यपि दक्षिण में अच्छे हिन्दी-अध्यापकों का अभाव कुछ खटकने वाली चीज है, पर उत्साह अध्यापकों और विद्यार्थियों दोनों में ही दिखलाई पड़ता है। सभी क्षेत्रों 'मे हाई स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य रूप से भी पढ़ाई जाती है—चाहे उसकी अवधि कम हो और स्तर नीचा हो। क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति से हिन्दी की उन्नति का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। यदि

१. 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी' से उद्धृत।
२. 'भाषा', मार्च १९६६, पृ० २७-२८

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में कुछ कमी है तो इसीलिए कि अभी शिक्षा में क्षेत्रीय भाषाओं को उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य हिन्दी भाषी जनता को हिन्दी में उपलब्ध हो रहे हैं। इस क्षेत्र में प्राइवेट प्रकाशक भी हमारी बधाई के पात्र हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ रही है। सरकारी रूप से भी कुछ संस्थाओं में अनुवाद-कार्य चल रहा है। इसके विपरीत हिन्दी के ग्रन्थ प्रान्तीय भाषाओं में भी उपलब्ध हो रहे हैं। आज का विश्वविद्यालय-स्नातक तुलसी, सूर, प्रेमचन्द, प्रसाद के नाम तो जानता ही है। अंग्रेजी पत्रिकाओं में हिन्दी के पक्ष में, विपक्ष में लेख प्रकाशित हो रहे हैं—यह हिन्दी के प्रति एक बौद्धिक जागरूकता का परिचायक है।

यह सब तो हो रहा है, पर अभी एक आत्म-विश्वास की कमी है। साथ ही नौकरी आदि के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ और संशय दक्षिण की जनता को उद्वेलित कर रहे हैं। उनको सरकार को नए सिरे से कुछ आश्वासन देने या कार्यान्वित करने हैं। वैसे आज जो स्थिति है, उसको देखते हुए कहा जा सकता है कि अगले १०-२० वर्ष में दक्षिण की जनता शत-प्रतिशत हिन्दी बोलने-समझने लगेगी। अन्य क्षेत्रों में जिस प्रकार अंग्रेजी का स्तर गिर रहा है, उसी प्रकार दक्षिण के विद्यार्थियों का भी पुराना स्तर नहीं रहा। मद्रास एक सीमा तक अंग्रेजी के स्तर की रक्षा कर रहा है। अंग्रेजी के स्तर के गिरने का कारण चाहे दोषपूर्ण अध्यापन, स्पेलिंग, व्याकरण की अधिक अनियमितता हो, चाहे आज के विद्यार्थी की अंग्रेजी में अनास्था हो, पर सत्य यह है कि अपनी मातृभाषा की ओर जनता का व्यक्त या अव्यक्त आकर्षण बढ़ रहा है। थोड़ा और प्रोत्साहन और सुअवसर मिलने पर विद्यार्थी वर्ग में अपनी भाषा और सार्वत्रिक भापा के प्रति विश्वास दृढ़ हो जायगा। आज की वस्तु-स्थिति इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर रही है। अहिन्दी क्षेत्रों में, विशेपतः दक्षिण में हिन्दी अध्यापकों का भी एक विशेष उत्तरदायित्व है।

दक्षिण में हिन्दी-विरोधी स्वर प्रबल है। ६ अगस्त, १९५५ को डा० लक्ष्मण स्वामी मुदलियार ने मद्रास विधान सभा में वक्तव्य देते हुए कहा था—दक्षिण में दो हजार हिन्दी पंडितों को भेजने का निर्णय कर भारतीय संघ अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा को सारे देश में गौण कर रहा है। अंग्रेजी को वह इसलिए हटाना चाहता है कि वह बालकों के लिए अस्वाभाविक है। तमिलनाड, मालाबार, और आन्ध्र के बालकों के लिए अंग्रेजी हिन्दी की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। इसी प्रकार के अन्य स्वर भी सुनाई पड़ते हैं जो थोथी बुद्धिवादिता तथा सत्य की अवहेलना पर आधारित हैं। ये सभी अपनी मातृभाषा के नहीं, अंग्रेजी के पोषक हैं। पर हम उन स्वरों को भी अनसुना नहीं कर सकते जो भारतीयता में पले हैं और यथार्थ को स्वीकार करके चलते हैं। उनका विश्वास है कि भारत के सर्वाङ्गीण विकास के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक है। राजाजी, मुदलियार, अय्यर, आयंगर चाहते क्या हैं? ये अद्‌भुत प्रतिभाएँ आजीवन अंग्रेजी में पलीं, इसलिए अपनी अन्तिम सांस भी उसी में लेना चाहती हैं, तो लें, लेकिन इस छोटे वर्ग के लिए हम अपनी भावी पीढ़ी के मंगल को क्यों बलिदान करें।

श्री नागप्पा ३० वर्षों से मैसूर में हिन्दी-प्रचार का अद्भुत कार्य कर रहे हैं। उनका विचार है कि यही उचित समय है जब हिन्दी-प्रचार का भावी कार्य-क्रम शुरू कर देना चाहिए। उसमें एक नवीनता लानी चाहिए। अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी को भी अवसर मिलना चाहिए। कम से कम इतना तो होना चाहिए कि हमारी भावी पीढ़ियाँ हिन्दी और अंग्रेजी में से किसी को चुन सकें। यहीं-कहीं तमिलनाड के निष्पक्ष विचारक श्री जी० श्रीनिवासन का स्वर सुनाई पड़ता है। उन्होने बतलाया कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा तिरुचिरापल्लो से एक हिन्दी पत्रिका निकल रही थी। उसमें २० वर्ष पूर्व एक नारा दुहराया जाता था : जय तमिल, हिन्दी की भी जय हो। 'भारती' के दिनों में तमिल प्रेमी के लिए हिन्दी और तमिल दोनों उसकी आँखें थीं। दक्षिण में और भी राजभाषा के समर्थक और प्रेमी हैं। पर आज उनका स्वर दबा दिया गया है। ये स्वतंत्र विचारक मातृभाषा के साथ-साथ हिन्दी का समर्थन करते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्तर की शिक्षा-संस्थाओं में दक्षिण की एक भाषा का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए। इस कार्य को हाथ में लिया भी जा रहा है। पर एकदम संतोषजनक प्रगति अभी नहीं हुई। अध्यापक आदि मिलने की भी कुछ कठिनाई हो सकती है, पर व्यवस्था करनी ही होगी। इससे उत्तर और दक्षिण में सौहार्द्र बढ़ेगा और राष्ट्र की राजभाषा को भी बल मिलेगा। २३ अगस्त १९५५ को हनुमन्थैया जैसे लोगों को यह कहने का अवसर मिला कि हिन्दी के समर्थक इस हद तक हम पर लदना चाहते हैं कि देश की एकता संकट में पड़ जाए। ऐसी बातों का उत्तर तर्क से नहीं कार्य से ही दिया जा सकता है। उत्तर के लोग दक्षिण की किसी एक भाषा को स्वीकार करके चलें, उसे सीखें। १९५५ में हिन्दी प्रदर्शनी के उद्घाटन के समय स्व० डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था : "जहाँ तक हो सके अपनी मातृभाषा को सीखने के अतिरिक्त दूसरी भाषा को सीखने का बोझ भारत के समस्त जनों पर समान मात्रा में बाँट देना चाहिए। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका कर्तव्य है कि कम-से-कम एक भारतीय भाषा सीखें। मेरी दृष्टि से यह और भी अच्छा हो यदि एक दक्षिण भारतीय भाषा हो।" यह कार्य सरकार कर सकती है। हिन्दी वाले इसे स्वीकार करते हैं। २६ अप्रेल, १९६३ को डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने राजभाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए थे : उन्होंने कुछ स्पष्ट संकेत दिए थे : हिन्दी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए, हिन्दी वालों को कुछ करना होगा। उनके मान्य ग्रन्थों और लेखकों को अनुवाद कर पुस्तकाकार और पत्र-पत्रिकाओं में उनकी परिचयात्मक उपलब्धि देनी होगी। उनकी रुचि के साहित्य का अनुवाद भी उनकी पत्र-पत्रिकाओं में छपवा कर उनके हृदय के निकट पहुँचाना होगा। निकट आने पर मनोविकार स्वयं मिट जायेंगे। इस सम्बन्ध में तीव्र और दीर्घ भाषणों की नहीं कार्य की आवश्यकता है। भाषा और साहित्य सम्बन्धी इन दोनों मनीषियों के संकेत को ग्रहण करके चलने से निश्चित ही उत्तर और दक्षिण समीप आयेंगे।

४२

राष्ट्र-भाषा : हिन्दी

१. राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता—

भारत में भाषा समस्या का वर्तमान रूप स्वतंत्रता के पश्चात् उत्पन्न हुआ। संसार भर के देशों में एक राजभाषा होती है। इस नियम के कुछ अपवाद भी संसार में मिलते हैं—रूस, कनाडा, स्विटज़रलैंड, यूगोस्लाविया आदि। ब्रिटिश शासकों ने एक-भाषी राष्ट्रवाद के उभार को दबाने के लिए लार्ड कर्जन के समय में बंगाल का विभाजन किया था और पूर्वी बंगाल को असम में मिला दिया था। यह एक कृत्रिम द्विभाषी प्रान्त बनाने का ही प्रयत्न था। इसी प्रकार तेलुगु-भाषी जनता को तीन भागों में बाँटा गया। उड़िया जनता को भी बाँटा गया : विशाल हिन्दी-भाषी क्षेत्र में तथा शेष उड़िया-भाषी क्षेत्र को पश्चिमी बंगाल में मिला दिया गया। पुराने मद्रास और मध्यप्रान्त एवं बरार राज्यों का गठन भी इसी आधार पर किया गया। १९१८ में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में इस व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार किया गया। यह भी अनुभव किया गया कि विभिन्न भाषाई सम्प्रदाय वालों की अलग-अलग राजनीतिक इकाई होती है। साइमन कमीशन ने इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए माना कि भारत का क्षेत्रीय मानचित्र बनाने में जाति, धर्म, वित्तीय हित और भौगोलिक विशिष्टता के साथ-साथ भाषा भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कुछ दिनों बाद, गोलमेज़ सम्मेलन के समय सिन्ध बम्बई-प्रेसीडेंसी से अलग कर दिया गया और उड़ीसा मुख्य भाषाई दृष्टिकोण से एक पृथक प्रान्त बना दिया गया। वास्तव में सिन्ध का निर्माण मुस्लिम जन-संख्या को तुष्ट करने के लिए किया गया। उड़ीसा का निर्माण उस समय ज़ोर पकड़ने वाले हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य के प्रतिकार के लिए किया गया।

कांग्रेस ने इसी चाल की प्रतिक्रिया में भाषाई सिद्धान्त को स्वीकार किया। प्रदेश कांग्रेस समितियों का गठन धीरे-धीरे भाषाई आधार पर किया था। १९२६ में कांग्रेस ने प्रान्तों के भाषाई पुनर्गठन का सिद्धान्त स्वीकार किया। सर्वदलीय सम्मेलन ने इस सिद्धान्त को धकेला। पर कांग्रेस ने सन् १९३७ के कलकत्ता अधिवेशन में, १९३८ के कांग्रेस कार्य समिति के वर्धा अधिवेशन में और १९४५ के चुनाव घोषणा-पत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तभी यह भी कहा जाने लगा कि राष्ट्र के व्यापक हितों में भाषाई नीति का परित्याग कर दिया जाना चाहिए। फिर भी प्रधान मंत्री नेहरू ने १९५५ में संसद में घोषणा की कि उन्होंने पुराने मद्रास राज्य को मद्रास और आंध्र नामक दो राज्यों में विभक्त किया। १९४९ में ही संविधान घोषित होने से पूर्व, राज्यों के भाषाई पुनर्गठन का निर्णय किया था।

भाषाई आधार पर देश के पुनर्गठन पर विचार करते समय नए राज्यों की आर्थिक क्षमता की अपेक्षा राजनीतिक स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में भाषा की एक विशिष्ट व्याख्या अपेक्षित है। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में पर्याप्त विकसित हो। उसके साहित्य उस भाषा-भाषी जनता की संस्कृति प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। इसी दृष्टि से भारत में बोली जाने वाली अनेक उपभाषाएँ राजनीतिक पुनर्गठन की आधारभूत विशिष्ट भाषा के रूप में स्वीकृत नहीं होतीं। संगठन की दृष्टि से ऐसे क्षेत्रों को जहाँ अनेक उपभाषाएँ हैं और जिनका क्षेत्रफल बहुत कम है, अलग राज्य बनाने का हठ कोई भी नहीं करेगा।

वैसे भारत के सभी राज्य आदर्श एक-भाषी राज्य नहीं हैं। कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जो बहुत समय से द्विभाषी रहे हैं। राज्य पुनर्गठन आयोग ने भाषाई अल्पसंख्यकों की संख्या घटाने का कार्य किया, यद्यपि अपने उद्देश्य में उसे पूर्ण सफलता नहीं मिली। पर इस सिद्धान्त की पूर्णतः अवहेलना नहीं की जा सकती है।

भाषा-वैज्ञानिकों के मत से मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं को जानने वाला व्यक्ति अधिक सक्षम है। किसी राजनीतिक व्यवस्था में जहाँ विभिन्न जातियाँ और सम्प्रदाय एक-दूसरे के निकट लाए गए हैं, भाषाई समागम की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। परस्पर विचार-विनिमय के लिए एक सामान्य भाषा का स्वरूप प्रतिष्ठित हो, यह राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है। दूसरी भाषा में हम जितनी ही रुचि लेंगे, उतना ही हमारा दृष्टि-क्षितिज विस्तृत होगा। परस्पर एक दूसरे को समझने के लिए व्यापक धरातल प्राप्त होगा।

भारत में भाषा के प्रश्नों को अनेक दृष्टियों से उलझाया गया। भारतीय भाषा के सामने विदेशी भाषा का समर्थन करके कुछ बुद्धिवादियों ने सत्ता को पकड़े रहने या उसको बटोरने का प्रयत्न किया। हिन्दी की प्रतिस्पर्द्धा में देशी नहीं, विदेशी भाषा को अड़ाने की बुद्धिमानी की जा रही है। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को राजनीतिक संघर्ष के रूप में परिणत किया जा रहा है। शासन को अनेक बार यह विश्वास दिलाया

गया कि यह देश अभी किसी भारतीय भाषा या हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। कहीं भाषागत भावावेश की फूत्कारों का परिचय दिया गया है। पर इस नाजुक समय पर भावावेश और दलबन्दी की मनोवृत्ति से भाषा के प्रश्न को बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। आज यदि सावधानी से काम नहीं लिया गया तो अंग्रेज़ी के चंगुल से हिन्दी या अन्य राष्ट्रीय भाषाओं का निस्तार कठिन हो जायगा। इस प्रश्न की पृष्ठभूमि में उठने वाली गांधी जी, मालवीय जी, टंडन जी, राहुल जी तथा शिवपूजन की आवाज़ों का अपमान न होने देना सभी का कर्तव्य है। इन आवाज़ों में मात्र भावात्मकता नहीं है, तर्क है, सचाई है। इन आवाज़ों में मूक जनता बोल रही है। उन आवाज़ों के पीछे जनमत नहीं है जो हिन्दी को देश के लिए घातक और अंग्रेज़ी को देश की हितैषिता से सम्बन्धित मानते हैं।

२. देशी भाषाएँ बनाम विदेशी भाषाएँ—

हमारी राष्ट्रीय भाषाओं का संघर्ष अंग्रेज़ी से है। इस क्षेत्र में कुछ देशी शिक्षाशास्त्री विदेशी भाषाओं के प्रयोग को अनिवार्य मानते हैं। वैसे अब यह तो शायद बहुत ही कम लोग कहते हैं कि सदैव ही हमारी शिक्षा-दीक्षा और राजकाज विदेशी भाषा में होगा, पर अभी बहुत दिनों तक अंग्रेज़ी का दामन छोड़ने में अभी उनको बड़ा सङ्कट नज़र आता है। इन पुरानी पीढ़ी के अंग्रेज़ी के समर्थक ये तर्क देते हैं : १. कुछ विषयों का अध्ययन-अध्यापन यदि अंग्रेज़ी में नहीं होगा तो इन विषयों में ज्ञान का स्तर बहुत गिर जाएगा। २. न हमारी भाषाओं के पास उच्चस्तरीय पाठ्य-पुस्तकें ही हैं और न उपयुक्त शब्दावली ही। ३. विश्व की वर्तमान गतिशीलता में हम पिछड़ जायँगे। ४. राष्ट्रीय एकता खण्डित हो जायगी—अंग्रेज़ी के बिना। ५. हम और हमारी भावी पीढ़ी कूप-मंडूक बने रहेंगे। इनमें से अधिकांश दलीलें आत्मविश्वास की कमी और हीनता की भावना से उत्पन्न हैं। सरकारी तौर पर पाठ्य पुस्तकों की व्यवस्था भी की जा रही है। पारिभाषिक शब्दावली भी बन रही है। यह हो सकता है कि अभी इन कार्यों में प्रगति कुछ कम हुई हो। प्रगति कम होने में सरकार भी उत्तरदायी है और हमारा आत्म-विश्वास का अभाव भी। कुछ दलीलें तीन भाषा-सूत्र से समाप्त हो जाती हैं। इस सूत्र के व्यापक रूप से ग्रहण कर लेने पर न एकता सङ्कट में पड़ेगी और न हम कूप-मंडूक ही होंगे। संसार के सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत से इस बात को स्वीकार करते हैं कि मौलिक चिंतन और मौलिक अभिव्यक्ति मातृभाषा से ही सम्भव हैं अन्यथा हमारे विद्यार्थियों के अधिकांश समय और उनकी शक्ति का अपव्यय दूसरी भाषा को सिद्ध करने में होगा। फिर भी इतनी दक्षता प्राप्त नहीं होगी। इस सम्बन्ध में एक बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था : "हमें अपनी भाषाओं की विविधता के असुविधाजनक तथ्य को साहस के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि गमले में पौधा उगाने के लिए तो विदेशी मिट्टी काम में लाई जा सकती है, पर खेती के लिए नहीं। उसी तरह विदेशी भाषा सीमित संस्कृति के लिए उपयोगी हो सकती है,

विशाल संस्कृति के लिए नहीं। जीवन के पोषण के लिए हमें ऐसी ही संस्कृति की आवश्यकता है जो वृहत् और स्थायी हो और यह विदेशी भाषा के माध्यम से सम्भव नहीं। मुझे मालूम है कि इस बात के खिलाफ़ यह तर्क दिया जाएगा, आप उच्च शिक्षा *भारतीय भाषाओं के माध्यम* से देना चाहते हैं, पर उसके लिए पाठ्य-पुस्तकें कहाँ हैं ? मैं जानता हूँ कि पाठय-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं पर जब तक उच्च शिक्षा हमारी भाषाओं के माध्यम से नहीं दी जाएगी तब तक पाठ्य-पुस्तकें आएँगी कहाँ से ? यदि सिक्कों का चलन बन्द कर दिया जाए तो हम टकसाल के चलते रहने की आशा नहीं कर सकते।"[१] इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना पाप होगा या उसकी आवश्यकता नहीं है। वास्तविक बात यह है कि मौलिक चिंतन पर आधारित व्यापक संस्कृति का भवन भारतीय भाषाओं के आधार पर बनेगा। सभी भाषाओं के प्रति हमें प्यार होना चाहिए और उनकी समृद्धि हमारा कर्तव्य-धर्म। पंडित नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा था : ".. हमारे लिए यह परम सौभाग्य और गर्व की बात है कि भारत में अनेक महान् भाषाएँ है और वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। हमें इन सभी भाषाओं को समृद्ध बनाना चाहिए तथा अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के प्रति विरोध की भावना नहीं रखनी चाहिए। सभी भाषाएँ युगों-युगों से विकसित होकर भारत की मिट्टी में ही पनपी और बढ़ी हैं। इनमें से किसी एक भाषा की क्षति सारे भारत की क्षति है।"[२]

अँग्रेजी समझी और बोली तो सभी प्रदेशों में जाती है, पर उसके जानने वालों की संख्या भारत में अधिक नहीं है। सभी अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी जानने वालों की संख्या अँग्रेजी जानने वालों की संख्या से कहीं अधिक है। सारे देश में अंग्रेजी *जानने वालों का अनुपात २-४ प्रतिशत से अधिक नहीं।*

एक आत्मघात का स्वर भी सुनाई पड़ता रहता है। हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के उपरले स्तर के लोग पिछले पन्द्रह वर्षों से बराबर यह प्रसारित करते आ रहे हैं कि हमारी भाषाएँ कमजोर हैं। प्रकारान्तर से देश और जनता को ही कमजोर बताया जा रहा है। जो गौरव हिन्दी या अन्य भाषाओं को मिलना चाहिये वह नहीं मिल पा रहा है। यदि हम बड़े नहीं हो पाते—संकीर्ण स्वार्थों के दलदल में ही फँसे हैं—तो अपनी भाषा को भी हम छोटी बनाते हैं। भाषा का छोटापन और बड़ापन तो हमारे ऊपर निर्भर है।

परिस्थिति के यथार्थ को हम अनदेखा कर रहे हैं। विदेशी भाषा के अनुकरण ने हमें अपने देश में ही अजनबी बना दिया है। अपनी भाषा को मान न देने वाली प्रवृत्ति ने हमारे मन में घर कर लिया है। हमने विदेशी भाषा को मान दिया है और अपने पड़ौसियों की भाषा और संस्कृति की अवहेलना की है। हजारों मील दूर के लोगों ने हमारी बात सुनी पर वे पड़ौसी न सुन पाये जिन्हें हमारे बहुत निकट

---

१. भाषा, सितम्बर, १९६३, पृ० ४० से उद्धृत।

२. वही, पृ० ११४ से उद्धृत।

होना चाहिये था और जिनके साथ हमारे धार्मिक और साहित्यिक सम्बन्ध बहुत पुराने हैं।

हमारे देश में भाषा सीखने की कठिनाई का एक हौवा खड़ा कर दिया गया है। हममें भाषा सीखने का उत्साह ही नहीं है। अधिक भाषाओं का ज्ञान युद्ध और शान्ति की परिस्थितियों में सहायक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि भारतीय युवक दो-चार भाषाएँ सीख लें तो सद्भाव राष्ट्रीय स्तर पर अवश्य बढ़ेगा।

स्वराज्य के बाद सबसे बड़ी घटना भारतीय भाषाओं के जागरण की है। भाषाओं का जागरण ही परस्पर सद्भाव उत्पन्न करता है। स्वराज्य से पूर्व बंकिम, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और तिलक ये ही कुछ नाम अखिल भारतीय क्षितिज पर दिखलाई पड़ते थे। भाषाओं के जागरण के साथ इस प्रकार का एक मंच तैयार होता जा रहा है। आज प्रत्येक भाषा में यह जानने की ललक पैदा हो रही है कि अन्य भाषाओं में क्या है। ऐसे पत्र प्रायः प्रत्येक भाषा में निकल रहे हैं जिनमें सभी भाषाओं के लेखकों और उनकी कृतियों का परिचय मिल जाता है। हिन्दी में यह प्रवृत्ति और अधिक प्रबल है। इस प्रकार भाषाओं के जागरण से देश की एकता पुष्ट ही होती जा रही है।

पर यह सब आपोआप हो रहा है। हमारी मनोवृत्ति हीनता लिए हुए है। संसार भर में शिक्षित व्यक्ति की पहचान यह होती है कि अपनी मातृभाषा में दक्षता से काम कर सके। भारत एक ऐसा देश है जहाँ शिक्षित व्यक्ति वह समझा जाता है जो मातृभाषा में दक्ष हो या नहीं, अँग्रेजी में दक्ष अवश्य हो। इसका परिणाम यह होता है कि अपने साहित्य की महत्ता पर हमारा ध्यान कम जाता है। इसीलिये श्रेष्ठ साहित्य के प्रणयन को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

जो लोग यह समझते हैं कि अंग्रेजी भाषा भी भारत की आत्मा की भाषा हो सकती है, वे भ्रम में हैं। अनुवाद केवल विचारों का ही सम्भव है। एक देश की भावनाओं का दूसरी भाषा में अनुवाद सम्भव नहीं है। अनुवादों के आधार पर कोई देश अपने मौलिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। एक प्राचीन सभ्य जाति की विचारधारा में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनको सफलतापूर्वक उसी जाति की भाषा में उतारा जा सकता है।

३ विद्वानों व नेताओं में हिन्दी का महत्त्व—

इसमें सन्देह नहीं कि अँग्रेजी के द्वारा देश की शारीरिक एकता समृद्ध हुई है। किन्तु भाषात्मक एकता के लिये अँग्रेजी पर निर्भर रहना बेकार है। दिनकर जी ने लिखा है : "भारत के हार्दिक भाव केवल भारतीय भाषाओं में लिखे जा सकते हैं और भारतीय भाषाओं द्वारा ही वे तेजी से फैल सकते हैं।" एक गोष्ठी में जैनेन्द्रजी ने कहा था : राष्ट्र, राष्ट्र की जनता एवं राष्ट्र की आत्मा को यदि पुष्ट बनाना है तो अँग्रेजी के माध्यम से यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। यदि अँग्रेजी बनी रही तो हमारा प्रजातंत्र खोखला हो जायगा।

हिन्दी की सहज और स्वाभाविक स्थिति को शासन की ढुलमुल नीति ने राजनीतिक प्रश्न बना दिया है। गोखले, गाँधी, तिलक, पटेल, सुभाष सभी ने स्वतंत्र भारत के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में कल्पित किया था। अँग्रेजी की राष्ट्र-भाषा के रूप में कल्पना करना बुद्धि का दिवालियापन है। राष्ट्र की अन्य भाषाओं से हिन्दी का कोई विरोध नही। ये तो सभी अँग्रेजी से दमित की गई थीं। वास्तविक विरोध तो राष्ट्र की सभी अपनी भाषाओं का अँग्रेजी से हैं। अँग्रेजी की उस हिमायत से है जो उसे राष्ट्रीय राज-काज और व्यवहार की भाषा के रूप में हिन्दी के स्थान में या हिन्दी के समकक्ष सदैव के लिए प्रतिष्ठित करना चाहती है। देश की निष्पक्ष जनता का घोर विरोध उनसे है जो चिरकाल के लिये अँग्रेजी को देश पर लादना चाहते हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू के देशी भाषाओं और अँग्रेजी के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट थे। उनके कुछ उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं[1]—

"...मुझे एक लम्बे समय से यकीन रहा है और आज भी है कि भारत की आम जनता की वास्तविक उन्नति और जन-जागरण अँग्रेजी के जरिये नहीं हो सकता। इस बात का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि अँग्रेजी को हटा दिया जाये या रखा जाये। लेकिन इतना साफ है कि आम जनता के बीच सामान्य सम्पर्क की भाषा अँग्रेजी नहीं हो सकती। इसलिए यह जरूरी है कि हम हिन्दी के बारे में विचार करें—इसलिए नहीं कि हिन्दी बङ्गला या मराठी या तमिल से श्रेष्ठ है, ऐसी बात कतई नहीं है, बल्कि इसलिए कि इस काम के लिए हिन्दी ही सबसे उपयुक्त है।"[2]

".. अँग्रेजी एक महान् भाषा है और अँग्रेजी से हमें बड़ा लाभ हुआ है। फिर भी कोई राष्ट्र विदेशी भाषा के आधार पर महान् नहीं बन सकता। क्यों? क्योंकि कोई विदेशी भाषा जनता की भाषा नही हो सकती। हमने जो जाना और सीखा है उससे लाभ उठाना चाहिए। लेकिन अँग्रेजी को दूसरा दर्जा देने के अलावा और कोई चारा नहीं है, इसका प्रयोग सीमित संख्या के लोगों में जारी रहेगा।"

"हिन्दी विकसित होगी और एक महान् भाषा बनेगी, बशर्ते कि देश हिन्दी के बारे में दो बातों का ध्यान रखे : हिन्दी समावेश करने वाली भाषा बने, बहिष्कार करने वाली नहीं। तथा अनिच्छुक लोगों पर इसे थोपा न जाये।..."[3]

इस प्रकार सामान्य जन के विकास की दृष्टि से, सच्चे अर्थों में जनतंत्र के विकास के लिए और देश की भावात्मक एकता की दृष्टि से विदेशी भाषा को एक व्यापक राष्ट्रीय प्रयोग के लिए नही अपनाया जा सकता। वह दिन दूर नहीं है जब समस्त

---

१. ये उद्धरण 'नया साहित्य', अप्रेल, १९६५, मुख पृष्ठ से उद्धृत हैं।

२. लोकसभा, २४ अप्रेल, १९६३

३ संविधान सभा, १३ सितम्बर, १९४९

भारत एक स्वर से देशी भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार करेगा। जब तक जनता का कोई भाग अँग्रेजी के पक्ष में रहेगा, तब तक वह अँग्रेजी चलाए रह सकता है। पर आने वाली पीढ़ियाँ देशी भाषाओं की माँग अवश्य करेंगे। इसीलिए नेहरू जी ने स्पष्ट कहा था—

> "कोई भी राज्य दूसरे राज्य से या केन्द्र से अँग्रेजी में पत्र व्यवहार कर सकता है। इसमें समय की कोई सीमा नहीं है। मैं कह चुका हूँ कि वह स्थिति तब तक जारी रहेगी जब तक गैर हिन्दी क्षेत्रों के लोग इसे चाहते हैं।...[1]"

> "मेरा ख्याल है कि किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए और एक अनिश्चित काल तक—मैं नहीं जानता कब तक—अँग्रेजी को सहयोगी भाषा के रूप में जारी रखना होगा...क्योंकि मैं नहीं चाहता कि गैर हिन्दी क्षेत्रों के लोग यह महसूस करें कि उनके लिए आगे बढ़ने के कुछ दरवाजे बन्द हो गए हैं।.. हिन्दी का धीरे-धीरे विकास होगा, लेकिन मैं चाहूँगा कि अँग्रेजी तब तक बनी रहे, जब तक लोग इसकी जरूरत समझें।"

विगत पीढ़ियों की बात जाने दीजिए, वर्तमान पीढ़ी की मनोवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह दिन अब बहुत दूर नहीं है, जब मातृभाषा के प्रति प्रेम और विश्वास जगेगा।

४. राजनीतिक आन्दोलन और हिन्दी—

इस शताब्दी में हिन्दी तथा अन्य राष्ट्रीय भाषाओं ने सभी दृष्टियों से अप्रत्याशित उन्नति की है। कारण यह है कि इस शताब्दी में इन सभी भाषाओं को जटिल परिस्थितियों का सामना करते हुए प्रगतिशील विचारधारा का वहन करना पड़ा है। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में हिन्दी का जो रूप था, वह आज की हिन्दी से नितान्त भिन्न था। उस समय हिन्दी सब दिशाओं में अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ रही थी, उसका गद्य साहित्य शैशवकालीन मुद्राओं में था, आज वही भाषा सभी उन्नत भाषाओं के समकक्ष है। सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से हिन्दी ने एक महान् देश के दीर्घकालीन सफल स्वाधीनता आन्दोलन का भार और दायित्व वहन किया है। साथ ही वह इस बहुभाषी भू-खंड को एक विशाल गण-राज्य के रूप में एक सूत्र में पिरोने की सम्भावनाओं से युक्त है। वैसे न्यूनाधिक रूप में यह प्रगति प्रत्येक राष्ट्रीय भाषा ने की है। फिर भी हिन्दी एक सार्वदेशिक भाषा के रूप में वैधानिक रूप से स्वीकृत हो चुकी है और इस रूप में विकसित होने के कुछ कारण हैं—

---

१ लोकसभा, अगस्त १९५९

(१) अन्य भाषाओं के विकास का आधार साहित्यिक गतिविधि रही है। हिन्दी के विकास के साधन साहित्यिक और साहित्येतर सामाजिक, धार्मिक और व्यापारिक आदि हैं।

(२) अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ क्षेत्र-विशेष के आन्दोलनों से ही सम्बद्ध रहीं, जबकि हिन्दी अहिन्दी क्षेत्रों की हलचलों से भी सम्बद्ध रही। ब्रह्म समाज कलकत्ते में तथा आर्य-समाज बम्बई में उत्पन्न हुए। पर इन दोनों ही संस्थाओं ने हिन्दी को प्रोत्साहन ही नहीं दिया, उसे एक स्वर से अखिल भारत की भाषा मान लिया।

(३) इस अवधि में ऐसा कोई भी आन्दोलन नहीं हुआ जिसके प्रवर्तकों और कार्यकर्ताओं ने इसे राष्ट्र व्यापी रूप देना न चाहा हो। और अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ हिन्दी के उपयोग को आवश्यक न समझा हो। यही परिस्थितियाँ है जिन्होंने हिन्दी पर अखिल भारतीयता की छाप लगा दी।

५. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हिन्दी का प्रसार—

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी हिन्दी की व्यापकता के लिए उत्तरदायी है। बुद्धोत्तर भारत में भारतीय आर्य भाषाओं की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ विकसित हुई, पर हिन्दी उन शाखाओं की उत्तराधिकारिणी बनी जो अखिल भारतीयता की ओर चलीं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस ऐतिहासिक स्थिति पर स्पष्ट मत प्रकाशित किया है: "हिन्दी वस्तुत: बहुत प्राचीन काल से आरम्भ होकर आज तक चली आने वाली एक लम्बी शृङ्खला के अन्त में आती है। ...ईसा पूर्व की पाँचवीं शती में मध्यदेश में प्रतिष्ठित यह उत्तरी-पश्चिमी पंजाब की बोली प्राचीन भारत की श्रेण्य (classical) भाषा बन गई। ...इसके उपरान्त हमारे सामने वह समय आता है जब मध्यदेश की भाषा विकसित होकर शौरसेनी प्राकृत बन गई थी और यह शौरसेनी प्राकृत सब प्राकृतों से अधिक परिमार्जित समझी जाती थी। ...नवीन अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि पाली मगध की भाषा नहीं है, बल्कि मध्यदेश की भाषा का ही एक रूप है और यथार्थत: शौरसेनी प्राकृत का ही एक पूर्व रूप है। ...ईसवी सन् की पाँचवीं शती के बाद यह मध्यदेशीय शौरसेनी प्राकृत शौरसेनी अपभ्रंश बन गई। ...पंजाब और सिन्ध से लेकर नैपाल और बंगाल तक उसका जो महत्व था, वह केवल संस्कृत और कुछ प्राकृतों के ही बाद आता था।[१]" इस प्रकार मध्यदेशीय भाषा की एक दीर्घ और व्यापक परम्परा रही। इसी परम्परा का ऐतिहासिक उत्तराधिकार हिन्दी को प्राप्त हुआ।

---

१. भारतीय साहित्य, अंक १, वर्ष १, पृ० २७, २८

मध्यकाल में भी हिन्दी के विस्तार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती गई। राजपूतों के प्रोत्साहन ने राजस्थानी और पिंगल (ब्रज) को भौगोलिक विस्तार दिया। १४ वीं तथा १५ वीं शती में भ्रमणशील साधु-संतों ने एक मिश्रित भाषा को प्रचार और उपदेश के लिए अपनाया। इसमें विभिन्न बोलियों का मिश्रण था। यह मिश्रित भाषा एक व्यापक क्षेत्र की भाषा बन गई। इसमें ब्रज, खड़ी बोली, पूर्वी और पंजाबी के तत्व प्रमुख रूप से थे। इसी समय में कुछ मुसलमान या साहसकर्मी और सिपाही अपने हिन्दू प्यादों और सहायकों के साथ दक्षिण की ओर जाने लगे। वहाँ उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए और मराठी, तेलुगु या कन्नड़ बोलने वाली स्थानीय जनता के बीच शासक बन कर रहने लगे। ये लोग अपने साथ हिन्दी दक्षिण ले गए और एक अभूतपूर्व विस्तार हिन्दी को मिला।

आधुनिक युग में ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी हिन्दी को ग्रहण किया और शासन के कार्यों में एक सीमा तक उर्दू गृहीत रही, जिसका मूल ढाँचा हिन्दी का ही है। साथ ही राष्ट्रीयता की जागृति के समय में भी हिन्दी को सभी क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त होता रहा। इस सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत द्रष्टव्य है। "यों ईस्वी सन् १८५७ में बंगाल में केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिन्दी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रीय भाषा बनने योग्य है'—इस विषय पर निबन्ध लिखा। १८८२ में राजनारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुकर्जी ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिए हिन्दी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालत की। सन् १९०८ में जब बंगाल में बंगभंग के बाद स्वदेशी आन्दोलन का आरम्भ हुआ जिसके साथ हमारे स्वाधीनता संग्राम की नीव डाली गई, उस समय काली प्रसन्न काव्य-विशारद जैसे बंगाली नेताओं ने हिन्दी के पक्ष में प्रयत्न किया कि हिन्दी के सहारे जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आकांक्षा फैल जाय।[1]"

इस युग के प्राय: सभी जन-आन्दोलनों की विचारधारा का वहन हिन्दी ने किया। इसी संदर्भ में नेताओं ने हिन्दी को एक सार्वदेशिक भाषा के रूप में अपनाया। स्वतन्त्रता के पश्चात् तो इसकी व्यापकता को वैधानिक दृष्टि से स्वीकार कर लिया गया। इसकी घोषणा राजभाषा के रूप में हुई। हिन्दी का क्षेत्र ४ राज्यों में माना गया : उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार। इन राज्यों की अन्य कोई भाषा राष्ट्र की १४ भाषाओं में परिगणित नहीं है।

---

१. 'हिन्दी की महत्ता तथा उसका दायित्व', विशाल भारत, मार्च, १९५०।

६. स्वतन्त्रता आन्दोलन और हिन्दी—

स्वतन्त्रता आन्दोलनों के समय से ही अहिन्दी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएँ या प्रचार सभाएँ हिन्दी के प्रचार में सहयोग दे रही हैं। इनमें "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जन आन्दोलनों से सम्बद्ध नेताओं ने हिन्दी-प्रचार को भी राष्ट्रीयता का एक अंग माना। महात्मा गाँधी ने हिन्दी प्रचार को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बनाया। १९१८ में उन्होंने ही दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा की स्थापना की। हिन्दी प्रचार कांग्रेस की ही नीति बन गई। सन् १९२५ के कानपुर कांग्रेस अधिवेशन में हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास हुआ। इन्हीं सब परिस्थितियों ने आधुनिक युग में हिन्दी को व्यापक और शक्तिशाली बनाया।

आधुनिक युग में हिन्दी के विकास की अनेक विशिष्टताएँ देखी जा सकती हैं। सबसे पहली बात यह है कि हिन्दी में साहित्यिक गद्य भाषा का विकास हुआ। इस विकास के पीछे देश की आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में बोली भेद समाप्त हो गया और सम्पूर्ण साहित्य-परम्परा भाषा की एकरूपता को लेकर चली। उर्दू और हिन्दी के कवि जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसका मूलाधार खड़ी बोली ही है। गद्य भाषा का ही विकास नहीं हुआ, गद्य की सभी नवीन विधाओं का विकास हिन्दी साहित्य में होने लगा। १८९४ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने हिन्दी को समृद्ध किया और शोध कार्य को अग्रगति प्रदान की। हिन्दी क्षेत्र में अनेक विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हुई, जहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य की उच्चतर शिक्षा की सुविधाएँ दी जाती थीं।

हिन्दी को उचित स्थान प्राप्त करने में अंग्रेजी से सामना करना पड़ा। नवीन बौद्धिक वर्ग के बीच अंग्रेजी भाषा प्रचलित रही है। इसी कारण से उच्चतर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनी रही। प्राकृतिक विज्ञान तथा तकनीकी विज्ञान के क्षेत्र में तथा व्यापारिक पत्र-व्यवहार में अंग्रेजी का प्रयोग होता रहा। विज्ञान की भाषा के रूप में हिन्दी का विकास अवरुद्ध रहा। तकनीकी शब्दावली का विकास भी हिन्दी में न हो सका।

कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हिन्दी क्षेत्र को स्वतंत्रता के पश्चात् प्राप्त हुईं। इस क्षेत्र में उद्योग का विकास हुआ। भिलाई जैसे सहभागिता में स्थापित कारखाने बने। अनेक स्वतंत्र रियासतों और राज्यों का हिन्दी-क्षेत्र मे विलयन हुआ। उदाहरण

के रूप में भोपाल, ग्वालियर, रामपुर आदि को लिया जा सकता है। हिन्दी के क्षेत्र का विकास हुआ। नयी चेतना का साथ देने के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित होने लगीं। १९५८ में १९५७ की अपेक्षा हिन्दी समाचार पत्रों की संख्या १३·२ प्रतिशत बढ़ गई। इस दृष्टि से हिन्दी का स्थान भारतीय भाषाओं में प्रथम है।

शिक्षा का विकास भी इस क्षेत्र में पर्याप्त हुआ। सागर, जबलपुर, उज्जैन, रायपुर, गोरखपुर, मगध, भागलपुर, मेरठ, कानपुर आदि बड़े नगरों में विश्वविद्यालय खुले। अन्य कुछ स्थानों पर भी खुलने जा रहे हैं—जैसे भोपाल आदि में विश्वविद्यालयों की स्थापना का निर्णय लिया जा चुका है।

७. आधुनिक युग में हिन्दी की समृद्धि के विभिन्न उपकरण—

इस प्रकार आधुनिक युग में आर्थिक विकास, प्रशासनिक संगठन तथा एकीकरण, साहित्य, प्रेस, तथा शिक्षा-विकास हिन्दी के भावी विकास में योगदान दे रहे हैं। आज साहित्यिक भाषा तथा बोलचाल की भाषा का भेद दूर करने के लिए साहित्यिक या लेखक कृत संकल्प है। तकनीकी शब्दों का विकास शासन के आश्रय में तेजी से हो रहा है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर २६ नवम्बर, १९५९ को संविधान द्वारा हिन्दी को स्वतंत्र भारत की राजभाषा घोषित किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ में कहा गया है : "हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक और वांछनीय हो वहाँ उसके भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत के तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि करना संघ का कर्तव्य होगा।" इस प्रकार हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं को उनके शतियों पुराने इतिहास में प्रथम बार, सच्चे अर्थों में राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ।

८. डा० सुनीति कुमार का मत—

डा० सुनीति कुमार जैसे भाषाविद् ने हिन्दी का इस रूप में स्वागत किया। उनका स्वर आज की हलचल में भी गूँज रहा है : "मेरा विचार है कि अँग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को समस्त भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करना जनता के समय और शक्ति को नष्ट करने वाला केवल अनावश्यक अलंकार न

होगा। भारतीय राष्ट्र को एकता को प्रतीक स्वरूप एक ऐसी भारतीय भाषा की हमें आवश्यकता है जिसे सर्वापेक्षा अधिक संख्यक भारतवासी सहज ही में समझ सकें। भारत की वर्तमान दशा पर विचार करने से राष्ट्रभाषा या जातीय भाषा के रूप में स्वीकृत होने की योग्यता हिन्दी में ही सबसे अधिक है। संस्कृत के बाद अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा के रूप में हम हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय भाषा के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते।...हिन्दी में यह गुण है कि यह अति सरल भाषा है; इसी कारण समस्त भारत में इसका प्रचार इतनी सरलतापूर्वक हो सका है। एक बात और है। यह बहुरूपी भाषा हिन्दी एक बड़े आदर्श की प्रतीक या चिह्न बन गई है। हिन्दी भाषा अखण्ड भारत की एकता के आदर्श का मुख्य प्रतीक है। भारत के बाहर जैसे बर्मा में भारतीय भाषा से लोग हिन्दी को ही समझते हैं, इसी प्रकार, द्रविड़ भाषी दक्षिण भारत में उत्तर भारत की जिस भाषा को सबसे अधिक लोग बोल सकते हैं, वह हिन्दी ही है।"[१]

---

१. 'भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ।'

के रूप में भोपाल, ग्वालियर, रामपुर आदि को लिया जा सकता है। हिन्दी के क्षेत्र का विकास हुआ। नयी चेतना का साथ देने के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित होने लगीं। १९५८ में १९५७ की अपेक्षा हिन्दी समाचार पत्रों की संख्या १३·२ प्रतिशत बढ़ गई। इस दृष्टि से हिन्दी का स्थान भारतीय भाषाओं में प्रथम है।

शिक्षा का विकास भी इस क्षेत्र में पर्याप्त हुआ। सागर, जबलपुर, उज्जैन, रायपुर, गोरखपुर, मगध, भागलपुर, मेरठ, कानपुर आदि बड़े नगरों में विश्वविद्यालय खुले। अन्य कुछ स्थानों पर भी खुलने जा रहे हैं—जैसे भोपाल आदि में विश्वविद्यालयों की स्थापना का निर्णय लिया जा चुका है।

७. आधुनिक युग में हिन्दी की समृद्धि के विभिन्न उपकरण—

इस प्रकार आधुनिक युग में आर्थिक विकास, प्रशासनिक संगठन तथा एकीकरण, साहित्य, प्रेस, तथा शिक्षा-विकास हिन्दी के भावी विकास में योगदान दे रहे हैं। आज साहित्यिक भाषा तथा बोलचाल की भाषा का भेद दूर करने के लिए साहित्यिक या लेखक कृत संकल्प है। तकनीकी शब्दों का विकास शासन के आश्रय में तेजी से हो रहा है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर २६ नवम्बर, १९५९ को संविधान द्वारा हिन्दी को स्वतंत्र भारत की राजभाषा घोषित किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ में कहा गया है : "हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक और वांछनीय हो वहाँ उसके भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत के तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि करना संघ का कर्तव्य होगा।" इस प्रकार हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं को उनके शतियों पुराने इतिहास में प्रथम बार, सच्चे अर्थों में राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ।

८. डा० सुनीति कुमार का मत—

डा० सुनीति कुमार जैसे भाषाविद् ने हिन्दी का इस रूप में स्वागत किया। उनका स्वर आज की हलचल में भी गूँज रहा है : "मेरा विचार है कि अँग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को समस्त भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करना जनता के समय और शक्ति को नष्ट करने वाला केवल अनावश्यक अलंकार न

होगा। भारतीय राष्ट्र को एकता को प्रतीक स्वरूप एक ऐसी भारतीय भाषा की हमें आवश्यकता है जिसे सर्वापेक्षा अधिक संख्यक भारतवासी सहज ही में समझ सकें। भारत की वर्तमान दशा पर विचार करने से राष्ट्रभाषा या जातीय भाषा के रूप में स्वीकृत होने की योग्यता हिन्दी में ही सबसे अधिक है। संस्कृत के बाद अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा के रूप में हम हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय भाषा के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते।...हिन्दी में यह गुण है कि यह अति सरल भाषा है; इसी कारण समस्त भारत में इसका प्रचार इतनी सरलतापूर्वक हो सका है। एक बात और है। यह बहुरूपी भाषा हिन्दी एक बड़े आदर्श की प्रतीक या चिह्न बन गई है। हिन्दी भाषा अखण्ड भारत की एकता के आदर्श का मुख्य प्रतीक है। भारत के बाहर जैसे बर्मा में भारतीय भाषा से लोग हिन्दी को ही समझते हैं, इसी प्रकार, द्रविड़ भाषी दक्षिण भारत में उत्तर भारत की जिस भाषा को सबसे अधिक लोग बोल सकते हैं, वह हिन्दी ही है।"[1]

---

१. 'भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ।'